॥ आभारप्रदर्शन ॥

आ ग्रन्थ प्रकाशनमां जे जे ज्ञानभक्त-दानवीर-धार्मिक सद्गृहस्थो ए स्वलक्ष्मीनो सदुपयोग करवा निमित्ते आर्थिक सहाय आपी छे ते सर्वनो अमे आभार मानीए छीए

विज्ञापन

श्री विक्रमनृप प्रतिबोधक-शासनप्रभावक-पूज्यपाद श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरि भगवन्ते बनावेल संमतितर्क ग्रन्थनो अभ्यास करवाने इच्छनारा अभ्यासको सहु सरलरीते समजी शक अभ्यास करी शके ते माटे ते मूल ग्रन्थना पतिपद्य विस्तारथी विवेचन करवा पूर्वक आ मूल ग्रन्थनी लघु टीका बनाववामां आवी छे परवादिकृत युक्तिसमूहनु सचोट खण्डन करवामां आवेल होवाथी आ ग्रन्थनी महार्घता अने शासन प्रभावकता स्वभाविक सिद्ध थाय छे.

प्राप्तिस्थानम्—१ श्री रतिलाल दुलाभीदास—अमदावाद
स्वामिनारायण मादी घर न १७

२ बालचंदलाल गीरधर-जैन प्रकाशनमंदिर
३ ९/४ दोशीवाडानी पोल-अमदावाद

३ जिनदास धर्मदासपेढी—मधुवा बन्दर
तथा कदम्बगिरि (बोदाना नेस) (सौराष्ट्र)

मुद्रणस्थानम्

भावनगरस्थ महोदयमुद्रणालये गुलाबचन्द लल्लुभाई इत्यनेन
सम्पूर्णग्रन्थोऽयं मुद्रितः।

प्रस्तावना-विषयानुक्रमणिकादि सर्वं अहमदाबादस्थ गांधीमार्गस्थित नवप्रभातमुद्रणालये पण्डित मफतलाल झवेरचन्द्रेण मुद्रितम्

प्रस्तावना

तमःस्तोमं स हन्तु, श्री सिद्धसेनदिवाकरः
यस्योदये स्थितं, मूकैरुलूकैरिव वादिभिः ॥ १ ॥ प्रद्युम्नसूरि

राजकुमार शुद्धोदन बौद्ध गौतमे ननामी उपाडी जता माणसोने अने तेनी पाछळ रोककळ करता तेना कुटुंबीओने जोई पोताना सेवकने पुछ्युं आ शुं छे ? सेवके कह्युं 'कुमार ! जुवान-जोध साजो सारो एक श्रेष्ठिपुत्र अचानक मरण पाम्यो छे तेना मृतकने तेना सगाओ श्मशाने लइ जाय छे.' गौतम विचारे चडयो 'मानवमात्रनी आ दशा ? सौनुं मृत्यु अचूक. मरण पछी शुं थतुं हशे ? बाळ किशोर युवान वृद्धावस्था मरण आ बधुं कोनुं ? दुनीयानां अनेक परावर्त्त-नोनुं कारण शुं ?' शुद्धोदन खुबखुब विचारमा उंडो उतर्यो पण तेनो ताग तेने न लाध्यो. तेणे फरी विचार्युं 'आ वैभव, पुत्र, स्त्री अने संपत्तिना मोहमय वातावरणमा मने आनो उकेल क्यांथी जडे आने माटे तो नीरव शांतिवाळुं स्थान जोइए. तेणे एक मधराते सुतेला पुत्र स्त्री अने वैभव-भर्यो राजमहेल छोडयो अने ते पगपाळो चाली नगर बहार आव्यो. दूरदूरना केड आश्रमोमां कोइ 'ॐ नमः शिवाय' तो कोइ 'हरे राम हरे कृष्ण हरे राम हरे हरे' करता तापसोनो अवाज तेने काने पडयो. गौतम आश्रमे आश्रमे फर्यो अनेक तापसो अने वर्षो सुधी तपत्याग अने ध्यान करनारओनो संसर्ग सेव्यो पण तेने जन्म शुं ? मरण शुं ? मरण पछी शुं स्थिति ? विगेरेनो उकेल न लाध्यो. गौतम एकलो पड्यो. वर्षो सुधी आनो तेणे विचार कर्यो अने शोधी काढ्युं के 'दुनीयानी देखाती बधी वस्तु क्षणविनश्वर छे ते क्षणे क्षणे नाश पामे छे दीवानी कलगी, भिन्न छता आपणने सदृशताने लइने एक लागे छे, तेम सदृशताने लइने दुनीयाना पदार्थोमा आपणने एकता लागे छे. बाकी बधुं क्षणविनश्वर छे गौतमनो वाद—विचार क्षणक्षयमां स्थिर थयो. तेणे क्षणक्षयने केन्द्रमा राखी बधी वातोनो उकेल आण्यो. राजकुमार गौतमना क्षणक्षयना विचारमाथी बौद्धदर्शन प्रगटयुं.

कारुणिक कपिले आ दुनियानी घटमाळनो उकेल पुरुष अने प्रकृति ए बे तत्त्वनी शोध द्वारा आण्यो अने ते बे तत्त्व उपर निर्भर रहेल तेनो तत्त्ववाद सांख्यदर्शनरुपे प्रगटयो.

मीमांसक दर्शनकारने मानवमात्र मतिविभ्रम, प्रमादादिथी अपूर्ण शक्तिवाळो भास्यो अने तेथी तेणे वेदोने अपौरुषेय मान्या अने ते वेदो द्वारा अनेक वस्तुओना उकेल शोधी पोताना तत्त्ववादने तेणे स्थिर कर्यो.

वैशेषिक अने नैयायिक दर्शनकारोए आ बधी वस्तुओना उकेल माटे अपारशक्तिसंपन्न ईश्वर, आरम्भपरमाणुवाद विगेरेनो आश्रय लई तत्त्वनी व्यवस्था घडावी

कोइए योगथी, कोइए भक्तिथी तो कोइए 'ब्रह्म सत् जगन्मिथ्या' विगेरेथी आत्मसंतोष मान्यो आम भारतमां कोइए कोईनुं मृत्यु देखी जगत्नी विचित्रताना उकेलमां समग्रजीवनकाळ परोव्यो कोईए पृथ्वी पाणी आकाश विगेरे तत्त्वोने देखी तेनी गवेषणा आरंभी तो कोइए आपणे क्यांथी आव्या अने क्यां जइशुं तेनी विचारणामां वर्षो काढी जुदा जुदा उकेलो आप्या पण आ बधा पाछळ एकरूप बुद्धि न होवाने लई आ बधा उकेलो-वादो कदलीफळाकार विवादमां परिणम्या अने तेने सफळ देखवानी साची वात पण एकबीजाना खंडनमंडनमां उतरी अंगतस्पर्श परिच्छिन्न भारतना तत्त्वनारसिकजन कोइए अंगथी तो कोइए सर्वांगथी पोताना तत्त्वमां परिपूर्ण मान्यो

जैनदर्शने तत्त्वगवेषक बुद्धिथी अन्यान्य सर्वदर्शनोने अनेकांतदृष्टिथी पोतानामां समावी लीधां अने क्षणिकवाद, नित्यवाद विगेरे बधा वादो आपेक्षिक बुद्धिथी विचारवामां आवे तो कोई खोटा नथी हाथी थांभला जेवो छे, सुपडा जेवो छे के दोरडा जेवो छे कहेनारा अंधोने सर्वतः हाथीने अवलोकनार कहे के पगथी हाथी थांभला जेवो छे कानथी सुपडा जेवो छे अने पुछडाथी दोरडा जेवो छे तेम जगत्ना तमाम पदार्थो अने पर्यायो क्षणविनश्वर छे मोह न पामशो तेमज तेम पण न मानशो के कंई नाशी एटले कोईनुं जतुं रह्युं तमारुं बाळपण, युवापण वृद्धपण अने मनुष्यपणुं मळे जाय आवे पण तमारो आत्मा तो अमर अने नित्य छे तेनो निस्तार करवो के अधःपात करवो ते तमारा हाथनी वात छे

जैनदर्शननी आ सर्वग्राही दृष्टि ते तेनो अनेकांतवाद छे, स्याद्वाद छे आ स्याद्वाददृष्टिने लई सर्वदर्शनो जैनदर्शनमां समाय छे अने सर्वदर्शनोमांथी स्याद्वाददृष्टि जैनदर्शन अनुरूप तत्त्व शोधे छे आम भारतमां तमाम दर्शनो एकदृष्टि अने सर्वदर्शनोने समन्वय करनार जैनदर्शन सर्वदृष्टि-अनेकांतदृष्टि छे

कोई पण पदार्थने तेनी बधी संभवती बाजुने तपासवी ते अनेकांतदृष्टि छे. आ अनेकांतदृष्टिनी साची समज नय, सप्तभंगी, ज्ञान, अने ज्ञेयनी पुरी समज आवे तो ज आवी शके तेम छे आ नय, सप्तभंगी, ज्ञान अने ज्ञेयनी पुरी समज आगम ग्रंथोमां ठेर ठेर छुटी छुटी अनेक ठेकाणे आपवामां आवी छे. छतां पण आ संबंधी व्यवस्थित विचारणा करनार जैन दर्शनमां कोई पण स्वतंत्र के प्रथम ग्रंथ होय तो आ सम्मतितर्क ग्रंथ छे जैनदर्शनना आकर तत्त्वने कसोटी उपर चडावी निर्मळ सुवर्ण रूपे जगत्ना समक्ष तत्त्वज्ञोने आगळ रजु करनार तेनो अनेकांतवाद-स्याद्वाद छे आ अनेकांतवादने सफळ रीते पू. आ सिद्धसेनदिवाकरसूरिए आ ग्रंथमां रजु कर्यो छे जेने लई आ ग्रंथ अने तेना कर्ता पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरि धर्मशासनप्रभावक मनाया छे

भिक्षापात्र ऊपर रही उघाडे पगे अने उघाडे माथे जगत् ऊपर विचरनारा जगत्ना जीव-मात्रनुं कल्याण इच्छनारा आपणा सर्वे मुनिओ धर्मप्रभावक महात्माओ छे. तेमनो वेष, आचार, उपदेश अने आकृतिए केइ मानवगणोने तार्या छे. अने केइने बोधिबीज उत्पन्न कर्या छे पण जेना कार्यनी वर्षोसुधी स्मृति रहे अने जेने याद करी हजारो मानवोनो निस्तार थाय ते पुरुषो जैनदर्शनना विशिष्टप्रभावक महात्माओ छे.

पू. आचार्य सिद्धसेनदिवाकरसूरि एवा विशिष्ट धर्मप्रभावक महात्मा छे के जेमने अने तेमना सम्मति ग्रंथने तेमना पछीना थयेला ग्रंथकारोमांथी भाग्ये ज कोइए तेमने याद कर्या न होय. काव्य, व्याकरण, न्याय, धर्मोपदेश अने बीजा अनेकविध सेंकडो ग्रंथोनुं सर्जन आपणा मुनिमहात्माओने हाथे सर्जायुं छे. आ सर्जननो उपकार अने सौरभ केवळ जैन शासनमां नहि पण जैन जैनेतर बधे विस्तरी छे. छतां नवी दृष्टि अने विषयने आरपार पारखी ग्रंथ निर्माण करनार महात्माओमां पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरि, पू. आ. हरिभद्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्रसूरि अने पू. उ. यशोविजयजी महाराज विगेरे मुख्य छे. पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजे जैनदर्शनना स्याद्वाद–अनेकांतवादने जगत्ना चोकमां झळहळती रीते अने अकाट्यरीते रजु करी एक बीजा तत्त्ववादोनो समन्वय करी सौने जणाव्युं के अनेकांतवादना आसरा विना व्यवहार के तत्त्ववाद कोई स्थिर थशे नहि. तपत्याग अने ध्यान क्रियाना उत्तरोत्तर विकासना पगथाररूप गुणस्थाकोनुं स्वरूप जैनग्रंथोमा ठेर ठेर हतुं छतां ते स्वरूपमां जगत्भरना आध्यात्मिकविकासने संग्रही दृष्टिओना स्वरूपने रजु करवामां पू. आ हरिभद्रसूरि प्रथम पंक्तिए छे काव्य व्याकरण साहित्य विगेरे सर्व शास्त्रोनुं महाकाय निर्माण करनार कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्रसूरिए एवुं ग्रंथ निर्माण कर्युं के जैन-दर्शनमा तो तेमना ग्रंथो प्रभावक रह्या पण जैनेतरोए पण हंमेशने माटे तेमना बधा ग्रंथोने तेमना पोताना ग्रंथोमां प्रमाणित कर्या अने तेमनी साक्षिओ धरी कलिकाल सर्वज्ञरुपे संबोध्या. तत्त्व-भरपुर कठीन न्यायग्रंथोथी माडी राम स्तवन अने सज्झाय सुधीनुं अनेकविध साहित्य निर्माण करनार उ. यशोविजयजीए तमाम तात्त्विक मतभेदोनी संकलना करी अने नव्यन्यायना अनेक ग्रंथोनुं निर्माण करी जैनेतरविद्वान समाजने पण बताव्युं के जैनमुनिमहात्माओ साहित्यना सर्वक्षेत्रमां सर्वकाळे सदा मोखरेज रह्या छे.

आ. पू. आचार्य हरिभद्रसूरि–कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्रसूरि अने उ. यशोविजयजीमहाराज जे जैनशासनना महाप्रभावक पुरुषो छे तेमणे पण तेमना साहित्यसर्जनमां पू. सिद्धसेनदिवाकर-सूरिनो महान उपकार गण्यो छे.

अनेकांत जयपताका शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, पंचवस्तु अने धर्मसंग्रहणी विगेरे ग्रंथोमां १४४४ ग्रंथ प्रणेता पू. आ. हरिभद्रसूरिजीए पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरिना सम्मतितर्क न्यायावतार अने बत्रीसीओमांनी अनेक वस्तुओने साक्षिपाठरुपे संग्रही छे पंचवस्तुमां तेमणे

बधार्मुं छे के—

सुयकेवलिणा भजो मणिभ
'आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेण
दुसम-णिसादिवायर कप्पत्तणओ तदक्खणं ॥ १ ॥
पंच ५४३ गा-१०-४८

दुषम (कालरूपी) निशामां दिवाकर-सूर्य जेवा होइ दिवाकर नामवाळा अने प्रतिष्ठित यशवाळा श्रुतकेवली आचार्य सिद्धसेने कह्युं छे '

कलिकालसर्वज्ञहेमचंद्रसूरि महाराज सिद्धहेमशब्दानुशासनमां 'अनुसिद्धसेनं कवयः' कही सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजने श्रेष्ठ कवि तरीके स्तव्या छे अने तमणे अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकामां

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था, अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः, स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥

'क्यां महाअर्थवाळी सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी स्तुतिओ अने क्यां नहि शीखेल आलापकवाळी मारी स्तुतिओ होवा छतां गजराजना मार्गमां रहेल स्खलित गतिवाळो तेनो बाळक शोक करवा योग्य नथी' जणावी तेमनी द्वात्रिंशिकानी रचना करतां पू सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी द्वात्रिंशिकाओने सामे राखी छे

उ. यशोविजयजी महाराजश्रुं अनेकविध साहित्य [१]सन्मतिप्रकरणमा ग्रंथे कांडोने अनुसरी सर्जायुं छे अने तेमणे तो तेमना बधाय ग्रंथोमां सिद्धसेन दिवाकरसूरिने स्तव्या छे अने आथी तेमना तत्त्वदृष्टिना साक्षात् गुरु सिद्धसेनदिवाकरसूरिज होय तेम तमणे तेमनी भूरिभूरि स्तुति करी छे

आ उपरांत आपणे त्यां बधला नाना मोटा बधाए ग्रंथकारमहाराजाओए तेमना गुणानुवाद गाया छे. महाकाय स्याद्वादरत्नाकर जेवा न्यायशास्त्रना ग्रंथनिर्माता [२]वादिदेवसूरि [३]शीलांकाचार्य, [४]वादिवेतालशान्तिसूरि, [५]प्रद्युम्नसूरि, मल्लिषेणसूरि, अभयदेवसूरि, मुनिरत्नसूरि विगेरे अनेके तेमना ग्रंथोमां तेमनी स्तुति करी छे

दिगंबर संप्रदायना [१]गंधहस्ति [२]विद्यानंद, [३]वादिराज, [४]शिवकोटि, [५]लक्ष्मीभद्र, [६]अनन्तवीर्य, अने [७]अकलंके तेमना ग्रंथ निर्माणमां पू. सिद्धसेनदिवाकरसूरिना आ सम्मति ग्रंथ

१ पुंजाभाइ ग्रंथमाळा मुद्रित सम्मति प्रस्तावना पृ० ३८-३
२ श्रीसिद्धसेनदिवाकरमुख्या भविका । ते यूयं भावि भवन्तु कृपावन्ता ।
बैसां विमल कलां वितिथा निवारणम् । यासां विस्तिर्वि वचुप्रतिमोऽपि भारत ॥ ४ ॥
३ ग्रन्थानुयोगाः पूर्वेषि कमनश्रीकरः । सर्वज्ञमतजैनानां सम्मतिरिति
कथा च महासम्मति
५ तत्त्वार्थेन च हन्तु श्री सिद्धसेनदिवाकर जल्पोदये सिद्धं मुनीन्द्रसम्मति वारिधि

अने द्वात्रिंशिकानो ठेर ठेर उपयोग कर्यो छे अने केटलाक ग्रंथो उपर तो टीका टिप्पणो करी तेनी प्रत्ये आदर बताव्यो छे. धवलटीकामां पण सम्मतिनो ठेर ठेर उपयोग थयो छे.

आम पू आ. सिद्धसेनदिवाकरसूरि अने तेमना सम्मतिग्रंथने तेमना पछीना थयेला तत्त्वगवेषक ग्रंथकारोए परस्पर संयुक्त रीते स्तवेल छे

विक्रमनी आठमी शताब्दिथी सम्मति दर्शनप्रभावक ग्रंथ छे.

शास्त्रोमां ठेर ठेर जणाव्युं छे के मुनिए निर्दोष आहार व्होरवो छतां पण दर्शनप्रभावक शास्त्रोना अभ्यासी मुनिने तेवो निर्दोष आहार व्होरवानो योग न मळे तो अनेषणीय आहार व्होरीने पण दर्शनप्रभावकशास्त्रोनुं अध्ययन करवुं आ वात निशीथभाष्यमां

'दंसणपभावगाणं सत्थाणठाते सेवतिजाउ.'

कही जणावेल छे. विक्रमनी आठमी शताब्दिमां थयेल जिनदासगणिए नंदीसूत्र उपर चूर्णि रची छे, आ चूर्णिमां पण निशीथभाष्यनी पेठे दर्शनप्रभावकशास्त्रोना अभ्यासीने अकल्पित आहार सेवनमां प्रायश्चित न लागे ते जणाव्युं छे अने तेमां दर्शनप्रभावक शास्त्रो कोने गणवां ते जणावतां सिद्धिविनिश्चय अने सम्मतिप्रकरणनो तेमणे उल्लेख कर्यो छे

दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छियसंमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पिअं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायच्छित्ती भवतीत्यर्थः

(निशीथचूर्णी)

'कारणवश जो यतनाथी सिद्धिविनिश्चय सन्मति वगेरे दर्शनप्रभावक शास्त्रोने शीखनार साधु अकल्पित वस्तुनुं सेवन करे तो पण ते शुद्धज छे प्रायश्चित्त तेने नथी लागतुं.'

—आथी ए स्पष्ट छे के विक्रमनी आठमी शताब्दिथी तो सम्मतितर्क ग्रंथ दर्शनप्रभावक शास्त्र तरीके जैनशास्त्रोमां ठेरठेर उल्लेखित करायेल छे.

सिद्धसेनदिवाकरसूरिजीवनपरिचय.

आ दर्शनप्रभावक सम्मतिप्रकरणना रचयिता सिद्धसेनदिवाकरसूरि क्यारे थया तेमनो जीवनवृत्तांत शो हतो ते माटे आपणी पासे बे साधनो छे १ तेमनी कृतिओ अने २ तेमनो पछीना थयेला ग्रंथकारोए करेल साहित्य.

सिद्धसेन दिवाकरसूरिना रचित ग्रंथोमा हाल २४ ग्रंथो छे तेमा २१ बत्रीसी अने न्यायावतार कल्याणमंदिर ए २३ संस्कृत कृतिओ छे. अने प्राकृतभाषामां रचेल सम्मतिप्रकरण छे. आ चोवीस ग्रंथो पैकी पाचमी अने एकवीशमी बत्रीसीमा [1] प्रांत भागमां सिद्धसेन शब्दनो उल्लेख छे. बाकीना कोइपण ग्रंथमा सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो उल्लेख नथी के तेमना जीवन संबंधी बीजी विशिष्ट माहिती नथी.

---

१ इति निरुपमयोगसिद्धसेन प्रयलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः" । ५, ३१

महाशान्तिभर्ता महासिद्धसेन । महार्चिर्धनेशो महाज्ञामहेन्द्रो ॥ २१ ३१

बत्रीस बत्रीसीओ तेमणे बनावी हती ते वातनी साक्षि कथावली अने अनेक प्रबंधो पुरे छे, सम्मतिप्रकरण पृ. आ. सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो छे ए वात १४४४ ग्रंथ प्रणेता हरिभद्रसूरिए 'आयरिय सिद्धसेणेण सम्मइए' कही पचवस्तु १०४८मां निर्देशेल छ. तथी आ संबंधमां कोई बीजो विवाद नथी

२ सिद्धसेन दिवाकरसूरिना वृत्तान्त संबंधी माहिती आपनार ते पछीना ग्रंथकारोना करेल साहित्यमां नीचे मुख्य साहित्य छे

१ प्रभाचंद्रसूरिकृतप्रभावकचरित्रगतवृद्धवादि प्रबंध पृष्ठ ८९-१०१
वि सं १३३४

२ भद्रेश्वरसूरिकृतकथावली (लिखित) विक्रमनी अगियारमी शताब्दि

३ प्रबन्धकोष पृ १५—२१

४ प्रबन्धचिंतामणि वि स १३६१ पृ. १३—१८
(मेरुतुंगाचार्यकृत)

५ चतुर्विंशतिप्रबंध „ १४०५ पृ २५—३६
(राजशेखरसूरिकृत)

६ शुभशीलगणिकृतविक्रमचरित्र

७ महोपाध्यायधर्मसागरगणिकृतपट्टावली

१ पू. आ सिद्धसेनदिवाकरसूरि क्यारे थया आ संबंधमां आजे जुदा जुदा मतो छे. पं कल्याणविजयजी प्रबंधचिंतामणिनी प्रस्तावनामां पू. आ सिद्धसेनदिवाकरसूरिनो विक्रमनी चोथी अने पांचमी शताब्दि वच्चेनो काळ जणावे छे

२ पंडित लालचंद भगवानदास तथा मोहनलाल दलीचंद भगवान महावीरना निर्वाण पछी ४७० वर्षे विक्रम संवत चाल्यो अने ते लगभगमां सिद्धसेन दिवाकरसूरि थया तेनी मान्यता धरावे छे

३ मुनि जिनविजय जैन साहित्य संशोधक अंक १ मामां सिद्धसेन दिवाकरसूरिने विक्रमनी पांचमी शताब्दिमां मुके छे

४ डॉ. सतीशचंद्रनो मत इ स ५३३ मी आसपास सिद्धसेन दिवाकरसूरि थया तेवी मान्यता धरावे छे

५ डॉ. हर्मन जेकोबी इ. ६७० आसपास पू. सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो सत्ता समय माने छे.

६ डॉ. पी एल. वैद्यनो मत इ. स ७ मी आसपास सिद्धसेन दिवाकरसूरिनो सत्ता समय माने छे

आ संबंधमां अमारुं मानवुं एम छे के-आजथी ९००-१००० वर्ष पहेलां थयेला ग्रंथकारोए जे काळ निर्देश कर्यो होय तेनाथी मात्र विविध अनुमानोना जोरे जुदा जुदा निर्णय उपर आवी काळनी व्यवस्थानी फेरबदली करवी ते व्याजवी नथी. आथी अमे तो प्रभावकचरित्र, प्रबंधकोश, प्रबंधचिंतामणि, विक्रमचरित्र विगेरे जैन ग्रंथो सिद्धसेन दिवाकरसूरिने विक्रमादित्यना समकालीन माने छे अने ते दरेक ग्रंथोमां विक्रमादित्यने तेमणे प्रतिबोध कर्यानो उल्लेख छे तेनेज अनुसरवुं व्याजवी मानीए छीए.

आजथी २४७९ वर्ष पूर्वे भगवान महावीरनुं निर्वाण अपापापुरीमां थयुं. तेज वखते उज्जैनमां चंडप्रद्योत मृत्यु पाम्यो चंडप्रद्योतनी गादीए पालक आव्यो. आ पाळक अने तेना वंशजोए ६० वर्ष राज्य कर्युं. त्यारबाद ९४ वर्ष नवनंदोनो अमल चाल्यो. अने १५६ वर्ष मौर्यवंशीओनो अवंतीमां अमल रह्यो. भगवान महावीरना निर्वाण बाद २९३ वर्षे अवंतीमां संप्रति महाराजानुं स्वर्गगमन थयुं. त्यारबाद एक वर्ष अराजकता फेलाई. पण त्यारपछी १४ वर्ष वीरनिर्वाण ३०८ सुधी मौर्यशासन ज अवंति उपर रह्युं. परंतु त्यारबाद अराजकता फेलातां सुगवंशीय पुष्यमित्रनो अमल शरु थयो. आ अमल वि.नि. ३४८ सुधी चाल्यो. ते अमल नरम पडता बळमित्र अने भानुमित्रनुं ६० वर्ष वीरनिर्वाण ४०० सुधी अवंतीमा शासन चाल्युं. वीरनिर्वाण ४००मां नरवाहने अवंतिनो कबजो लीधो, आ नरवाहने एकधारुं वीरनिर्वाण ४४० सुधी राज्यशासन चलाव्युं. त्यारपछी त्यांनो राजा दर्पण थयो. दर्पणने गर्दभी विद्या साध्य होवाथी ते गर्दभभिल्ल तरीके ओळखायो. आ गर्दभभिल्ल तुवरवंशनो हतो. विद्या अने सत्ता ए बे एने न पची तेथी ते व्यभिचारी अने मदोन्मत्त बन्यो. तेणे बीजा कालकसूरिना व्हेन सरस्वती साध्वीने उपाडी. संघे अने कालकसूरिए घणुं समजाव्युं छतां ते न मान्यो त्यारे शक जातिने लावी. वीर नि. ४५३ मा वर्षे गर्दभभिल्लने पदभ्रष्ट कर्यो. गर्दभभिल्ल शूळथी मृत्यु पाम्यो अने अवंति उपर शकोनो दोर चाल्यो. ते व्यवस्थित न चालवाथी मालवगणना संगठनथी शकोने हांकी काढनामा आव्या अने गर्दभभिल्लना पुत्र विक्रमने महानिर्वाण ४५७ मां राज्याधिष्ठित कर्यो. विक्रमे १३ वर्षनो एवो सुंदर राज्यदोर चलाव्यो के प्रजा खुब प्रसन्न थइ. पृथ्वीने तेणे पू. सिद्धसेन दिवाकरसूरिना उपदेशथी अनृणी बनावी आम महावीर निर्वाण बाद ४७० वर्षे विक्रम संवत प्रवर्त्यो.

भगवान महावीरनुं निर्वाण अने चंडप्रद्योतनुं मृत्यु	०
पाळकना वंशजोनो अमल	६०
नवनन्दोनो अमल	९४
मौर्यसत्ता	१५६
पुष्यमित्र	३०
बलमित्र भानुमित्र	६०

नरवाहन	४०
गर्दभसिंह	१३
शक	४
विक्रमनो राज्य अमल	१३
	नि ४७०

आ रीते विक्रम संवतनी शरुआत महावीरनिर्वाण ४७० वर्षे थई. आ विक्रमना राज्य अमलमां सिद्धसेन दिवाकरसूरि हता. एटले तेमनो काळ विक्रमनी प्रथम शताब्दि एटले महावीर निर्वाणनी पांचमी शताब्दि ज स्थापवी लागे छे. आ सिद्धसेन दिवाकरसूरिना जीवन परिचय माटे जुदा जुदा प्रबन्धो छे, तेमां तेमनो परिचय आ प्रमाणे आप्यो छे.

सिद्धसेन दिवाकरसूरि परिचय

विद्याधरगच्छीय स्कंदिलसूरि गौडदेशमां पधार्या त्यां कोशलनो मुकुंद नामनो ब्राह्मण आव्यो. तेणे 'भोग रोगमये, सुख धर्ममये'नु पद सूरिना मुखथी सांभळ्युं अने तेने वैराग्य थयो. तेणे स्कंदिलसूरि पासे दीक्षा लीधी. दीक्षा वखते तेनी उम्मर वृद्ध हती. तेणे उच्चस्वरे गाथा गोखवा मांडी. लोको हसवा लाग्या अने कह्युं घरडे घडपण कांई महाराज! भणशे! मुकुंदे (पासमन्दिर) नामना चैत्यमां एकवीश उपवास कर्या अने सरस्वती सिद्ध करी. मुकुंद ते दिवसे वृद्धवादीश्वरि तरीके जैन जगत्मां प्रसिद्ध थया.

विक्रम राज्य उपर आरूढ थया बाद तेणे मोटा मोटा विद्वानो पोतानी सभामां राख्या हता. कालीदास कवि अने सिद्धसेन जेवा महाकविओ तेनी सभामां हता. आ सिद्धसेन कात्यायन गोत्रीय हतो. तेना पितानुं नाम देवर्षि अने मातानुं नाम देवश्री हतुं. तेमने एक बहेन हती तेनुं नाम सिद्धश्री हतुं. आ सिद्धसेन वैदिक धर्मनो उपासक हतो. वादविद्यानो शोखीन हतो. कोईपण विद्वानुं नाम सांभळे तो तेनी साथे ते चर्चा करतो अने तेने नमावतो.

एक वखत वृद्धवादी महाविद्वान् आचार्य छे एवुं तेणे क्यांयथी सांभळ्युं, सिद्धसेन तेमने मळवा उपड्यो, भृगुपुर जातां रस्तामां ते वृद्धवादीने मळ्यो अने तेणे कह्युं 'हुं तमारी साथे वाद करवा इच्छुं छुं.'

वृद्धवादीए कह्युं जंगलमां आपणा वादना जय पराजयनो निर्णय कोण करशे? सामे बेठेला गोवाळोने सिद्धसेने बताव्या अने तेमने मध्यस्थ राखी जंगलमां वाद आरंभ्यो. सिद्धसेने संस्कृतमां घणी घणी दलीलो करी. समयज्ञ वृद्धवादीए

'नवी मारीयइ नवी चोरीयइ परदारगमण निवारियइ थोडां थोडुं दाइयइ' पाडतो रास आरंभ्यो गोवाळीयाओ पण ताळीओ दइ रासमां जोडाया अने बोल्या महाराज! तमे जीत्या. आ स्थळे पाछळथी तेनी याद माटे ताळारास गाम वस्युं.

---

१ दिगम्बर मान्यता

वृद्धवादी भरुच आव्या राजसभामां सिद्धसेन साथे विद्वानोनी मध्यस्थतामां वाद आरंभायो त्यां पण सिद्धसेन हार्या. एकवचनी सिद्धसेन वृद्धवादीना शिष्य थया. अने त्यां तेमनुं नाम कुमुदचंद्र पाड्युं. विद्वान् कुमुदचंद्र थोडाज वखतमां जैनशैलिना अने जैनशास्त्रोना पारगामी थया. गुरुए तेमने आचार्यपदे स्थाप्या. अने फरी तेमनुं नाम सिद्धसेन स्थाप्युं. आ पछी सिद्धसेनसूरि परिवार सह विहरवा लाग्या.

एकवार सिद्धसेन दिवाकरसूरि अवंतीमां पधार्या. विक्रमादित्ये उत्सवपूर्वक पधारता सूरिनी परीक्षा करवा मनमां नमस्कार कर्या, पण हाथ जोडया विना ते सामे आवी उभो. गुरुए धर्मलाभ उच्चार्यो. विक्रम राजा बोल्यो ' महाराज ! विना नमस्कारे धर्मलाभ.

सूरिए कह्युं 'धर्मलाभ रत्न करतां अधिक छे. अर्थीनेज ते अपाय छे. तमे मनथी वंदना करी तेथीज तमने धर्मलाभ आप्यो छे.'

राजा आश्चर्य पाम्यो अने तेणे गुरुने क्रोड सोना महोर आपवा मांडी

[धर्मलाभ इति प्रोक्ते दुरादुद्धृतपाणये ।
सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः॥]

परंतु कंचनकामिनीना त्यागी गुरुए न लीधी राजाए आपेलुं दान पाछुं न लेवाय तेम कही ते धन तेणे जिर्णोद्धारमां खर्च्युं.

एक वखत सिद्धसेन दिवाकरसूरि चित्तोड तरफ विचरता हता त्यां एक थांभलो जोयो आ थांभलो नहोतो पाषाणनो, नहोतो लाकडानो के नहोतो माटीनो. सूरिए बारीकाइथी जोयुं तो ते कोइ लेपथी बनावेलो लाग्यो. सूरिजीए बुद्धिबळथी तेनी वनस्पतिओ पारखी अने विरुद्ध औषधिओ द्वारा काणुं पडाव्युं तो ते थांभलाना पोलाणमा सुंदर हस्तलिखित प्रतोनो सारो समूह देखायो आचार्य महाराजे एक प्रत हाथमां लीधी. थोडुं वांच्युं त्यां प्रत अदृश्यपणे झुंटवाइ गइ अने थांभलानुं छिद्र पुराइ गयुं. सूरि विचारमां पड्या अने मान्युं के दैवीसंकेत आमां आगळ वधवानी ना पाडे छे. पण तेमणे थोडुं वांच्युं तेमां तेमने सुवर्णसिद्धि अने सर्षपमांथी सैन्य बनाववानी ए बे विद्या याद रही गइ

सूरिमहाराजे चित्तोडथी विहार आगळ आरंभ्यो अने ते कुर्मारपुर नगरमां पधार्या. त्यांना राजा देवपाळे सुंदर सामैयुं कर्युं राजा परम गुरुभक्त बन्यो. एक वखत कामरु देशना राजा विजयवर्माए कुर्मारपुरने घेरी लीधुं देवपाळ पासे धान्य संपत्ति अने लश्कर खुटयुं क्यारे कुर्मारपुर पडशे तेनो भरोसो न रह्यो एटले आंसु साथे राजा सूरिमहाराजने पगे लागीने कहेवा लाग्यो 'महाराज ! तीडोनां टोळां जेवुं शत्रु सैन्य मारा नगरनो नाश करशे तेम लागे छे. हुं शत्रुने पहोंची शकुं तेम नथी.' गुरुए आश्वासन आप्युं अने सुवर्णसिद्धिथी द्रव्य अने सर्षपविद्याथी सैन्य सर्जी विजयवर्माने तेने देशे पाछो मोकल्यो.

आपी देवपाल गुरुने परम उपकारी मानवा लाग्यो ते बोल्यो 'नाथ ! आप म्हरेसर दिवाकर सुल्य छो मारो दुःखभयनो अंधकार तम सरे अवसरे दुर करी्यो छे. आ पछी देवपाळ सिद्धसेन सूरिने दिवाकरपदथी नवाज्या अने सिद्धसेनसूरि सिद्धसेनदिवाकरसूरि तरीके स्याद्वाद मसिद्धि पाम्या

राज्यमा अति संसर्गे अत दिवसे सिद्धसेनसूरि धमगुरुने बदले राजगुरुना ठाठथी रहेवा लाग्या तेपालखीमां बेसी रोज राज्यसभाए जाय अने पालखीमां बसी आवे आ वात तेमना गुरुमहाराज वृद्धवादिए सांभळी त्यार तेमने घणु दुःख थयुं 'शासननी प्रभावना करे तेवो विद्वान् आम शासननी अपभ्राजनामां केम पडी जाय छ!' ए विचार वृद्धवादिसूरि गच्छथी जुदा पडया अने कुर्मारपुर आव्या सुखासन उपाडनारा समये मोढनी जग्याए कावळी ओढी पोते गोठवाई गया वय मोटुं जुवान हता एटले सबसडाट चालता वृद्धवादि वृद्ध होवाथी कपता हता आथी पालखी धडीक नीची ऊंची थवा लागी एटले अंदर बेठल सिद्धसेन अकळाया अने बोल्या

'भूरिभारभराक्रान्तः स्कंधः किं तव बाधति ?'

' ह वृद्ध घणो भार वेंचवाथी शुं तारो खभो दुःखे छे ?'

वृद्धवादिए आ वचन सांभळी विचार्यु के संस्कृतनो समर्थ विद्वान् एकभारावममां कमो उपयोग न्यून करयो छे 'बाधते' प्रयोगने बदले बाधति बोल्ल छे तमणे कंपता भगाळे कह्यु

'न तथा बाधते स्कंधः यथा बाधति बाधते'

(तमारा जेवा समर्थ विद्वान् बाधते न बदले बाधति प्रयोग उचारे छे तेथी मने जेटलुं दुःख थाय के तेटलुं दुःख खमा उपरना भारथी थतुं नथी)

सिद्धसेन चमक्या उपयोग न्यूनता माटे तेमने शरम उपजी सुखासनमांथी हेठे उतर्या अने वृद्ध सामे नजर नांखी तो गुरुमहाराजने जोया सिद्धसेन शरमाया गुरु पासे तेथे प्रायश्चित्त लीधुं अने तपस्यागमां जोडाया गुरु थोडा वखत बाद स्वर्गे संचर्या गच्छना नायक सिद्धसेन शासन प्रभावना करता पृथ्वी पावन करवा लाग्या [वृद्धवादिसूरिए सिद्धसेनदिवाकरने पालखी उपाडी 'भूरिभारभराक्रान्त' पद कही प्रतिबोध कर्यो तेनो उल्लेख उपदेशप्रासाद विगेरेमां छे]

प्रभावकचरित्र विगेरेमां तो आ संबंधमां आ प्रमाणे लख्युं छे

"वृद्धवादीसूरिए सांभळ्युं के सिद्धसेन राजमंदिरना मोहमां पडी पालखी तथा हाथी विगेरे वाहनो उपर सवार थइ राजमंदिरे जाय आवे छे तेथी तेमने समजाववा गुरुमहाराज कुर्मारपुर नगरे गया

सिद्धसेन राजमार्ग ऊपर पालखीए बेसी जवानो तैयारी करे छे अने लोको तेनी बिरुदावली पोकारे छे ते वखते वृद्धवादीसूरिए कह्युं

'विद्वान् ! मारी एक शंका दूर न करो !' एम कही नीचेनुं पद

' अणफुल्ली फुल्ल म तोडहु मन आरामा म मोडहु
मणकुसुमेहिं अच्चि निरंजणु हिंडह काइं वणेण वणु ॥२॥ '

कह्युं. सिद्धसेने पद्यने समजवा खुब प्रयत्न कर्यो पण ए अपभ्रंश पद्यनो अर्थ तेमने न समजायो त्यारे आडो उत्तर आपी कह्युं के 'तमे बीजुं काइ पुछो' पण वृद्धवादिए कह्युं के 'एनेज फरी विचारो अने जवाब आपो ' सिद्धसेने अनादरथी ए पद्यनो असंबद्ध जेवो तेवो खुलासो कर्यो पण ते खुलासो गुरुए कबुल न राख्यो त्यारे सिद्धसेने कह्युं तमेज तेनो अर्थ करी बतावो. वृद्धवादिए कह्युं आ पद्य एम कहे छे के—

जीवनरुप नानकडां कोमळ फुलवाळा मानवदेहना जीवनांशरुपी फुलोने तमे राजसत्कार अने अभिमानथी न तोडो, मनना यम नियम आदि बगीचाओने भोगविलासद्वारा न भांगो. मनना सद्गुणोरूप पुष्पो वडे निरंजन जिनेश्वरदेवनी पूजा करो. एक वनथी बीजे वन शा माटे भटको छो.

(बीजो अर्थ)

अथवा अणु एटले अल्प धान्य, ते अल्प विपयपणाथी मानवदेहनां पुष्पो समजवां. ते अल्प पुष्पी नरदेहना शीलांग महाव्रत रुप पुष्पोनो विनाश कर नहि. मनरुप आरामने मरडी नाख, एटले चित्तना विकल्पजाळनो संहार कर. तथा मुक्तिपदने प्राप्त थयेला निरंजन वीतराग देवनी पुष्पोथी अर्चा न कर. अर्थात् गृहस्थने उचित छकाय जीवनी विराधना रुप देवपूजामां प्रयत्न न कर. कारण के ते सावद्य छे. कीर्त्तिनी कामनाथी संसार रुप अरण्यमां शा माटे भ्रमण करे छे, अर्थात् मिथ्यावादने तजी जिनेश्वरे कहेल सत्यमां आदर कर. ए बीजो अर्थ बताव्यो.

(त्रीजो अर्थ)

अथवा तो कीर्त्तिना स्याद्वाद वचन रुप पुष्पोने तोड नहि. तथा मनना अध्यात्मोपदेश रुप आरामने तोडी न नाख, अर्थात् खोटी व्याख्याथी तेनो विनाश न कर. वळी रागादि लेपरहित निरंजन मननी, सुगंधि अने शीतळ सदुपदेश रुप पुष्पोथी पूजा कर. अर्थात् मनने श्लाघ्य बनाव. तथा संसार रुप अरण्यना स्वामी परम सुखी होवाथी ते तीर्थंकर छे, तेमना शब्द–सिद्धांत सूत्रमां भ्रांति शा माटे लावे छे ? कारण के तेज सत्य छे. माटे तेमांज प्रेम–भावना राखवी जोइए. ए त्रीजो अर्थ बताव्यो.

आ सांभळी सिद्धसेननुं मगज विचारे चड्युं. खरेखर आ पंक्तिओ मारे माटेज घटे छे. वृद्ध सामे धारीने जोयुं तो तेने ते वृद्ध बीजा कोइ नहि पण पोताना गुरु वृद्धवादीज लाग्या. ते गुरुने नमी पडया अने कह्युं के 'में आपनी अवज्ञा करी तेनी क्षमा आपो. गुरुए कह्युं दुनीयाना

थीवा मामसो तो मूले पण तमारा जेवा महा विद्वान पण भूले छो धीमानी आ वात करवी ! तमे सर्वोत्तम्‌ सद्व्याननें पुष्ट करी मारा आपला बालवचनने पचावो. थांमलाआयी प्राप्त थयेल पुस्तक शासनदेवीए हरी लीधुं ए योग्यज थयुं कारण के अत्यारे तेने पचावनार योग्य स्वामी जो क्यां छे ? गुरुनो आ उपदेश सांभळी सिद्धसेने कह्युं ' हे प्रभो ! जो भूलथी शिष्यो माडे रस्ते न जाय तो प्रायश्चित्त विधायक शास्त्र शा काममां आवे ! माटे हवे तमे प्रायश्चित्त वडे मने शुद्ध करो' गुरुए पहेलुं प्रायश्चित्त आपी छेवटे तमने पोतान आसने बेसाडया अने गुरु स्वर्गे सिधाव्या

संस्कृत भाषाना महान्‌ विद्वान्‌ सिद्धसेनने एक वखत एवो विचार आव्यो के 'नमो अरिहंताणं,' विगेरे सूत्रोने सुंदर संस्कृत भाषामां बनाव्यां होय तो कहुं सारुं ! श्रमणसंघना स्थविरो चोकी उठया अने बोल्या 'बाल, स्त्री अने मन्दना माटे आ सिद्धांत आपणा पूर्वजोए मगर्षतोए प्राकृतमां गुंथ्यो छे तेना उपर अनादरनो विचार केम कराय ! आ चिंतवन भयंकर पातक छे आ पापनी शुद्धि माटे, शास्त्र पारांचिक प्रायश्चित्त कहे छे.' सिद्धसेनदिवाकरसूरिने पोतानी उतावळनुं मान आव्युं तेमणे पारांचिक प्रायश्चित्त स्वीकारी गच्छ छोडयो सात वर्ष सुधी वेशे चारित्र पाळ्युं अने स्याद्वाद शैली शासनप्रभावना करता अवंति तरफ चाल्या.

अवंतिना सीमाडामां ते वखते कुडंगेश्वरनु भव्य मंदिर हतुं ते मंदिर पासानुं धाम हतुं पूजारी अने भक्तवर्ग आवे ते पोताने तो अवधूत जेवा वेशमा सिद्धसेन त्रिम समय पग करी बेठा पूजारीओए उठाडवा घणो प्रयत्न कर्यो पण ज्यारे ते अवधूत न उठयो एटले राजा आव्यो अने तेणे कह्युं 'अवधूत ! महादेवनी अवज्ञा न होय, तने तो नमस्कार, होय सिद्धसेन बोल्या 'हुं नमस्कार करीश पण आ देव मारा नमस्कार नहीं सहन करी शके !'

राजाए कह्युं ' एम ते होय ? करोने नमस्कार !'

सिद्धसेने कल्याणमंदिरनुं स्तोत्र आरंभ्युं पृथ्वी कंपवा लागी धूमाडाना गोटेगोटा नीकळ्या लाग्या भेघक्रोमे लाग्यु के अंदरथी अग्नि नीकळशे अने अवधूतने मारती जाशे देवनी आशातना नुकसान कर्या विना बोर्गी रहे ! त्यां तो तरतो श्लोक बोलतां लिंग फाटयुं अने तेमांथी पार्श्वनाथभगवाननी प्रतिमा प्रगटी

राजा आश्चर्य पाम्यो अने पूछयुं के 'आ शुं थयुं ?' त्यारे सिद्धसेन दिवाकरसूरिए राजाने अवंति सुकुमालनुं वधुं वृत्तान्त कह्यो अवंतिपार्श्वनाथनो इतिहास समजाव्यो विक्रम सिद्धसेनदिवाकरनो भक्त बन्यो अने तेणे तो गाम मंदिरना निभाव माटे आप्यां श्रमणसंघ सिद्धसेनदिवाकरसूरिना आ शासन प्रभावनाथी प्रसन्न थयो अने तेणे तेमने गच्छनायक तरीके पूर्वनी पेठे स्थाप्या सूरिए आम प्रायश्चित्त पुरु कर्युं

एक समये सिद्धसेन फरी वर्षो बाद अवंति आव्या अने पहेरेगीरने

दिदक्षुर्भिक्षुरायातो वारितो द्वारि तिष्ठति ।
हस्तन्यस्तचतुश्लोकः किमागच्छतु गच्छतु ॥१२४॥

'हाथमां चार श्लोको लइ एक भिक्षु तमारा दर्शननी इच्छाथी आवेलो छे अने दरवानोए रोकवाथी दरवाजा उपर उभो छे, कहो के ते आवे अगर जाय ?

राजाए सिद्धसेनदिवाकरने पोतानी पासे बोलाव्या अने तेणे तेमना चार श्लोको सांभळ्या.

" अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् " ॥ १ ॥
" अमी पानकुरंकाभाः सप्तापि जलराशयः ।
यद्यशोराजहंसस्य पंजरं भुवनत्रयम् " ॥ २ ॥
" सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः " ॥ ३ ॥
" भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा ।
ददासि तच्च ते नास्ति राजंश्चित्रमिदं महत्" ॥ ४ ॥

"हे राजन् ! आ अपूर्व धनुर्विद्या तुं क्यांथी शीख्यो के जेमां मार्गण (बाण के याचक) समूह पासे आवे छे अने गुण (धनुष्यनी दोरी अथवा यश) दूर दिगंत सुधी जाय छे. १

आ साते समुद्रो जळपान करवामां कुरंक जेवा छे. तेथी जेना यशरुप राजहंसने त्रणे भुवन पांजरा तुल्य छे, अर्थात् त्रणे भुवनमां जेनो यश गवाई रह्यो छे. २

हे राजन् ! तुं सर्वदा सर्व इच्छितने आपनार छे, एम पंडितजनो जे तारी स्तुति करे छे, ते मिथ्या छे; कारण के शत्रुओने तें पीठ नथी आपी अने पररमणीओने वक्षस्थळ नथी आप्युं. ३

हे राजन् ! अनेक शत्रुओने सदा कायदा प्रमाणे तुं एक भय ज आपे छे, छतां ते तारी पासे उपस्थित नथी, आ एक मोटा आश्चर्यनी वात छे. अर्थात् तुं सदा निर्भय छे. ४'

आ सांभळी राजाए चार हाथी चार देश विगेरे घणुं घणुं आपवा मांडयुं पण तेमांनुं कांइ गुरुए न लीधुं अने कह्यु मात्र एटलुं के ॐकारनगरमां चार द्वारवाळो सुंदर जैनप्रासाद बंधावो. विक्रमादित्ये ते नगरमां सुंदर जैनप्रासाद बंधाव्यो अने तेनी प्रतिष्ठा सिद्धसेनदिवाकरसूरि द्वारा करावी तेमनो ते परम भक्त बन्यो.

आ पछी सिद्धसेन भरुच गया. आ वखते भरुचमां बलमित्रनो पुत्र धनंजय राज्य करतो हतो तेणे सुंदर सामैयु कर्युं. दैवयोगे भरुचने शत्रुओए घेरी लीधुं बलमित्र मुंझायो. ते विद्यासिद्ध

अने शक्तिसंपन्न सिद्धसेनसूरिने शरणे गयो तेमणे सर्षपविद्याथी सैन्य सर्जी तेने बचावी लीधो. बलमित्रे त्यारे कह्युं 'भगवंत खरेखर आप सिद्धसेन ते सिद्धसेनज छो.'

विक्रमादित्य सिद्धसेनदिवाकरसूरि पासे शत्रुंजयनुं माहात्म्य सांभळ्युं अने भव्य संघयात्रा काढी श्रादीश्वरभगवंतने भेटी शत्रुंजयनो उद्धार कर्यो हतो आ सघ केवो भव्य हतो अने तेवो केटलुं साधन हतुं तेनुं वर्णन आज पण शत्रुंजयमाहात्म्यमां वंचाय छे यादगार संघयात्रा पैकीनी संघयात्रामां आ विक्रमराजानी संघयात्रा मुख्य गणाय छे

आ प्रमाणे प्रभावना करता सिद्धसेन दिवाकरसूरि प्रतिष्ठानपुर गया सूरिए योग्य शिष्यने गच्छनो भार सोंप्यो अने पोते अनशन करी स्वर्गगामी बन्या

थोडा वखत बाद एक चारण विशाळा नगरीमां आव्यो अने सिद्धसेन दिवाकरना बेन सिद्धश्री साध्वी हता तेमनी आगळ बोल्यो

स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे ।

'हाल दक्षिण देशमां वादिओ चमकी रह्या छे'

साध्वी बोली उठ्यां 'सिद्धसेन दिवाकर होय त्यां वादिओ चमके एम बने केम ! तेमणे ते श्लोकनुं उत्तरार्ध रच्युं

नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनः दिवाकरः

'वादी सिद्धसेन जरूर स्वर्गगामी थया होवा जोइए.'

आ पछी सिद्धश्री साध्वी पण अनशन करी स्वर्गगामी बन्यां

प्रबन्धचिंतामणि प्रबन्धकोश विक्रमचरित्र विगेरेमां सिद्धसेन दिवाकरसूरिना जीवनचरित्र संबंधमां केटलाक तफावत जरूर छे पण प्रसंगोनी साम्यता तो जरूर छे.

केटलाक ग्रंथमां वृद्धवादिसूरिसाथेनो वादविवाद, 'नमोऽर्हत् सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः' नी माफक सर्वसूत्रोने संस्कृतमां करवानी इच्छा, विक्रमराजाना महाकाळ मंदिरमांथी प्रगट थयेल अवंतिपार्श्वनाथना मंदिरनो इतिहास, देवपाल राजानो प्रसंग, विक्रमनुं धन विगेरे प्रसंगोने विस्तृत रीते विस्तारवामां आव्या छे. अने कोईकमां संक्षिप्त रीते संग्रहित करवामां आव्या छे. केटलाक स्थळे प्रसंगोना क्रममां फेरफार छे परंतु विग्रह अने प्रसंगोने अनुसरी बधे साम्यता छे

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरसूरिनुं चरित्र प्रभावक चरित्र विगेर ग्रंथोमां आपवामां आव्युं छे त्यां चरित्रकार जणाव्युं छे के आ चरित्र अमे पूर्वपुरुषो पासेथी सांभळीने, प्राचीन ग्रंथो जोइने अने प्राचीन प्रशस्ति अने शिलालेखो उपरथी तारवीने आप्युं छे. आम आजथी ८ वर्ष पहेलांना आचार्य प्रभाचंद्रसूरिए तैयार करेल तेमना चरित्रनेज आपण सांगोपांग मानवुं जोइए

जैन परंपरामां केवळज्ञान अने केवळदर्शनमां उपयोग क्रमिक मनातो हतो आनुं समर्थन विशेषावश्यकभाष्य विगेरे ग्रंथोमां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण विगेरे पूज्य आचार्यो ए कर्युं छे. आ समर्थनमां पण तेमणे आगम ग्रंथोनाज हवाला आप्या छे सिद्धसेन दिवाकरसूरिए आ क्रमिकवादनुं निरसन करि अभेदनुं समर्थन कर्युं छे. छता प्राचीन परंपराथी जुदी वस्तु कहेवाथी तेमनी प्रत्ये केटलोक अणगमो जाग्यो परंतु तेमना ग्रंथथी जैनशासनना सर्वस्वरूप स्याद्वाद झळक्यो अने ते प्रतिष्ठावंत थता स्वयमेव सिद्धसेनसूरि प्राचीन वस्तुथी जुदी वस्तुने रजु करनार होवा छतां प्रभावक मनाया. आथीज पाछळना विद्वान ग्रंथकारोए आ वादना खराखोटापणानो निर्णय न करता सिद्धसेनदिवाकरसूरि अने जिनभद्रगणि भगवंत बन्नेने समर्थ कही तेमना बन्ने प्रत्ये पूज्यता बतावी 'तत्त्वं केवलिगम्यं' कही समेटी छे.

आम आ सिद्धसेनदिवाकरसूरि आशासनप्रभावक महापुरुष छे. तेमनी पछी थयेला जैनशासनना एकेएक ग्रंथकार अने एकेएक महात्माओए तेमना जैनशासन उपरना निःसीम उपकारने स्तव्यो छे. जैनशासनना आंतरतत्त्व स्याद्वादने तेमणे जगत्‌ना चोकमां अकाट्य तरीके पुरवार करी बतावेल छे. अने जैनतर्कशास्त्रना प्रस्थापक तरीके तेओ सर्वदा माटे आलेखायेला छे न्यायावतार सन्मतितर्क कल्याणमंदिर अने एकवीस बत्रीसीओ एम २४ ग्रंथो आजे तेमना विद्यमान छे.

न्यायावतार छे तो ३२ श्लोकप्रमाण पण सिद्धसेन दिवाकरसूरिए ३२ श्लोकमा समग्र न्यायशास्त्र उतार्युं छे. तेना ऊपर सिद्धर्षिनी २०७३ श्लोक प्रमाण टीका अने भद्रसूरिकृत १०५३ श्लोक प्रमाण टिप्पण छे.

आ सन्मतिप्रकरण ग्रंथ १६७ गाथा प्रमाण छे. पण १६७ गाथामा समग्र तत्त्ववाद भर्यो छे. आना उपर अभयदेवसूरिकृत तत्त्वबोधविधायिनी वादमहार्णवनामनी बृहट्टीका २५००० श्लोक प्रमाण छे. आ टीकामां अभयदेवसूरि सुधीना समग्र वादविवादोनी विचारणा करवामां आवी छे. अने स्याद्वाददृष्टिथी तमाम वस्तुने संगत करवामां आवी छे, आ सन्मति-प्रकरण उपर मल्लवादीनी पण टीका हती. पण ते आजे उपलब्ध नथी. सन्मतिप्रकरण नय, ज्ञान अने ज्ञेयनी विचारणा करनार त्रण काडथी विभक्त छे. आना संबंधी विशिष्ट माहिती आ ग्रंथना रहस्यार्थमा वाचकोने आपवामा आवी छे एटले अहि तेनुं विशेष वर्णन करता नथी.

कल्याणमंदिर स्तोत्र ए आ ग्रंथकारनुं बनावेल अद्भूत स्तोत्र छे. 'अनुसिद्धसेनं कवयः'नी उपमा कलिकाळसर्वज्ञ हेमचंद्रसूरि सिद्धसेन दिवाकरसूरिने आपवा प्रेराया होय तो ते आ स्तोत्रने लईनेज लागे छे. आ स्तोत्र पार्श्वनाथ भगवाननी स्तुतिरुपे छे पण तेमां महाकविनी प्रतिभा पदेपदमां झळक्या विना रही नथी.

आ स्तोत्र अनेक जातना अलंकारो अने पदना लालित्यथी एटलुं बधुं सरस शोभे छे के कोईपण प्रसिद्ध काव्यग्रंथोथी ते खुब चढे तेवुं छे.

२१ द्वात्रिंशिकाओ मात्रे उपलब्ध छे. आ द्वात्रिंशिकाओमां अनुष्टुभ्, उपजाति, वसंततिलका, पृथ्वी, शिखरिणी, मंदाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, आर्या अने शालिनी विगेरे विविध छंदोमां रचायेली छे. आ द्वात्रिंशिकाओमां वैदिक, बौद्ध अने जैनदर्शनना दार्शनिक विचारोनुं निरूपण छे.

आ संमतिप्रकरण उपर 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' कही कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्रसूरिए जेम स्तव्या छे ते मल्लवादिसूरिए आ ग्रंथ उपर टीका रची हती तेम १४४४ ग्रंथप्रणेता हरिभद्रसूरि अने उपाध्याय यशोविजयजीनी अवतरणीना उल्लेखथी जणाय छे

'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ' (हरिभद्रसूरि)

'इहार्थे कोटिशः भंगा निर्दिष्टा मल्लवादिना

मूलसंमतिटीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम्   (अष्टसहस्री उ. यशोविजय)

जैनदर्शननी दिगंत प्रभावना करनार आ महापुरुषनो एके सांगोपांग ग्रंथ मात्र मळतो नथी हाल द्वादशार नयचक्र तेमनो बनावेलो ग्रंथ मुद्रित थाय छे ते मुद्रित थतां तेमना जीवन उपर सारो प्रकाश मळशे

मल्लवादिए बौद्धो उपर विजय मेळव्यो हतो अने तेनो समय वि स ४१४ नो मनाय छे संमति प्रकरण उपर तमनी रचेली टीका केटला प्रमाण हती अने केवी हती तेनुं विशेष समर्थन मळतुं नथी पण बृहट्टिप्पणकारे ते टीका ७०० श्लोक प्रमाण हती तेनुं उल्लेखित कर्युं छे

सन्मति प्रकरण उपर हाल उपलब्ध थाय छे ते अभयदेवसूरिनी २५० ० श्लोक प्रमाण तत्त्वबोधविधायिनी वृत्ति छे १६७ गाथाना सन्मति प्रकरणमांथी महाकाय महान ग्रंथ बनाववामां अने भारतीय तमाम दर्शनशास्त्रनी सूक्ष्म गवेषणा करनार ग्रंथ तरीकेनुं बहुमान संमतितर्कने मळ्युं छे ते अभयदेवसूरिनी वृत्तिने लइने छे. सिद्धसेनदिवाकरसूरिए अनेकांतवादीनो परामर्श अने न्यायदर्शनोनी अनेकांतवादमां व्यवस्थित संकलना करी छे, पण आ टीकाकारे तो पोताना काळसुधीना भारतीयदर्शनोना समग्र वादोनुं निरूपण करी जैनदर्शने अनेकांतवादे जेम विचार्या छे आ अभयदेवसूरि विक्रमनी अगियारमी शताब्दिना पूर्वार्धमां थया छे केमके तपागच्छनी पट्टावलीमां वादिवेताल शांतिसूरिए प्रमाणशास्त्रना गुरु तरीके अभयदेवसूरिने जणाव्या छे आ शांतिसूरिनो स्वर्गवास वि सं १ ९६ मां थयानुं प्रभावकचरित्रकार जणावे छे तेथी वि सं १ ९ लगभग अभयदेवसूरि थया तेम बोधक थाय छे

आ संमति प्रकरण ग्रंथ उपर विद्यमान जो कोई टीका होय तो २५००० श्लोक प्रमाण एक ज तत्त्वावबोधिनी टीका छे. तेना उपर लघु के, मध्यम बीजी कोई टीका न होवाथी आ ग्रंथनु वांचन करवानी हिंमत न्यायशास्त्रना सारा अभ्यासी सिवाय भाग्येज बीजो कोइ सामान्य विद्वान् धरी शके छे. आ ग्रंथ उपर कोइ सरळ मध्यम टीका थाय तेवी परमपूज्य शासनसम्राट् आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजजीनी इच्छा हती अने ते करवानी आज्ञा तेमना नव्य न्यायना प्रकाण्ड अभ्यासी पू. आ. विजयदर्शनसूरिजीने करी के संमतितर्क उपर मध्यमवृत्ति रचो के जेथी सेंकडो अभ्यासीने उपकार थाय. अने हंमेशनी त्रुटि पुरी थाय

पूज्यापादश्री गुरुमनी आज्ञाने शिरसावंद्य करी दर्शनसूरि महाराजे समतिप्रकरणनी पू. आ. अभयदेवसूरिनी टीकानो साद्यंत मनन पूर्वक अभ्यास करी तथा तेना उपयोगी अनेक ग्रंथोनो अभ्यास करी टीका बनावी आमां तेओश्रीए मूळकारना आशयने अने बृहत् टीकाकारना विवरणने पूर्ण न्याय आपे ते रोते संक्षिप्त विवरण करी आ महाप्रभावक ग्रंथने सुलभ बनाववा प्रयत्न कर्यो छे. अने तेने ज लइने अभयदेवसूरिनी तत्त्वावबोधिनी टीका वादमहार्णव नामधारक छे तेमां आ टीका अवतारिका समान होइ तेमणे टीकानुं सन्मतिमहार्णवावतारिका राखेल छे. जे टीकाने अंते आपेली प्रशस्तिमां बालोपकारिणी शब्द ख्याल आपे छे. सन्मति प्रकरण माटेनी आवश्यक वृत्ति पुरी पाडी पू. आ. दर्शनसूरि महाराजे जैनसमाज उपर महान उपकार कर्यो छे.

सन्मतितर्क महार्णवावतारिकाकारना गुरुदेव

आ टीकाना रचयिता पू. आ. दर्शनसूरीश्वरजी महाराज छे. तेओश्रीनो अल्पपरिचय पण तेमना गुरु अने सकल जैनशासनना शिरताज आचार्यदेव विजय नेमिसूरीश्वरजी महाराज साहेबना परिचय विना अपूर्ण ज रहे तेम छे.

नेमिसूरियुग

तपागच्छनी परंपरामां पूज्य आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज ७४ मी पाटे आवे छे

पूर्वकाळमां हरिभद्रयुग, हैमयुग विगेरे अमुक समयने ते ते काळना प्रभाविक पुरुषना नामथी साहित्यकारोए अने इतिहासकारोए ते काळनी समग्र प्रवृत्ति उपर ते प्रभावक पुरुषनो प्रभाव होवाथी ते काळने ते ते महापुरुषना युग तरीके ओळख्यो छे तेम वर्तमानमां पण

वि सं १९६४ पछीनो आचार्यश्रीनो काळ विजयनेमिसूरियुग कहीए तो वांधा जेवुं नथी

पू आ विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज, पूज्य आचार्य विजयसेनसूरीश्वरजी महाराज, पू आचार्य विजयदेवसूरीश्वरजी महाराज अने पू आचार्य विजयसिंहसूरीश्वरजी सुधीनो बधो काळ हीरसूरियुग तरीके प्रसिद्ध छे जो के पू विजयहीरसूरिजीना काळ करतां पण सवाइ जैनशासन प्रभावना पू विजयदेवसूरिजी म ना काळमां जैन मंदिरो, विद्वानो अने पू श्रमण मुनिओनी बाहुल्यताथी थइ होवा छतां ते बधामां मुख्य प्रभाव तो पू विजयहीरसूरीश्वरजी महाराजनोज हतो तेम आ काळमां बीजा बीजा आचार्योना हाथे केटलांक विविध शासनना सुविहित कार्यो थया छतां आ बधामां प्रेरणा अने विचार स्फुरणना मूळ तो पू आचार्य विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजज छे

योगोद्वहन

प्रसिद्ध वात छे के, पू आ विजयसिंहसूरीश्वरजी महाराज पछी योगोद्वहनपूर्वक आचार्य पदवीनी परिपाटि तूटाई हती एटलुंज नहि पण योगोद्वहनपूर्वक आचार्यपद लेवानी प्रथा पण पडी भूली हती दीर्घदृष्टा स पूज्य आचार्यदेवे विचार्युं के जो आ रीति विसरी तो योगोद्वहन विधिज घटे दीवसे नाश पामशे अने श्रद्धा तथा ज्ञानभक्तिमां शिथिलता आवशे आथी योगोद्वहन तथा पंचप्रस्थाननी आराधनापूर्वक संघना अतिआग्रहथी भावनगरमां वि सं १९६४मां स पूज्य गुरुदेव आ काळना प्रथम आचार्य थया

योगोद्वहनपूर्वकनी पूज्यश्रीनी आचार्यपदवीनुं परिणाम ए आव्युं के योगोद्वहन विना कोइ पण कार्य शुद्ध नथी ए मान्यता समाजमां दृढ बनी अने जैन समाज तेना श्रद्धा अने संस्कार क्षेत्रोमां सुदृढ मक्कम बन्यो एटलुंज नहि पण जे कोई योगोद्वहन विना आचार्यपद लेनारा हता तेमनी परंपरामां पण योगोद्वहन दाखल थयां अने तेओ पण योगोद्वहननी महत्ताना पूजक बन्या 'गुरोस्तु मौनव्याख्यानं छिनत्ति शिष्यसंशयान' आ पदने स पूज्य आचार्यदेवे कोइनी कांई पण टीका कर्या वगर समग्र शासनमां प्रवर्ताव्युं अने शासनना मुख्य महत्ताना बीजरूप योगोद्वहन क्रियाने विना विवादे सर्वसंमत बनावी

ज्ञान

आजथी सो वर्षे पाछळ जोईए के स पूज्य आचार्यदेवना दीक्षाकाळ वखते कल्पसूत्रो विग्रह वांची शके तथा मुनिओ पण महाविद्वान् गणाता सामान्य प्रकरणज्ञान, टबा, स्तवन, सज्झाय विगेरेनुं ज्ञान आजे ते काळना मुनिओने माटे पर्याप्त गणातुं स. पूज्य आचार्य

अजोड व्यक्तित्त्व.

स्व. पूज्य आचार्यदेवनी आंखमां कोइ अपूर्व ब्रह्मचर्यनुं तेज हतु. तेमनी सामे वधु वखत एकीटसे जोइ शकातुं नहि. प्रथमदर्शनेज तेमनी आस आवनारने नखशिख ओळखी लेती. तेओ आवनार शुं कहेवा मागे छे अने शा आशये आव्यो छे ते प्रथम दर्शनेज पारखी लेता. अर्थात् तेमनी चक्षु आरपार उतरी पूर्वपश्चात् सर्वने निहाळी शकती.

तेमनी जीवननी एके प्रवृत्ति एवी नथी के आरंभ्या पछी छोडवी पडी होय के आरंभेली प्रवृत्ति निष्फळ गइ होय कोइ पण प्रवृत्तिने तेओ आरभता पहेलां ते संबंधी खुब खुब विचार करता अने आरंभ्या पछी कीडी सामे कटक जेटली ते तैयारी राखता. तेमना जीवनकाळ दरमियान एवा घणाए प्रसंगो आव्या छे पण जेमां तेमणे झुकाव्युं तेमां कोइ दिवस निष्फळता सांपडीज नथी. तेमनो प्रभावज एवो हतो के तेमनुं नाम सांभळतांज अर्धुं कार्य उकली जतुं. तेमज ए पण साथेज छे के शासननी सर्वमुखी कोइ एवी प्रवृत्ति नथी बनी के जेमां तेमनी दोरवणी मळी होय ते सांगोपांग सफळ न थइ होय

तेमनो अवाज, तेमनी आकृति अने तेमनो स्वभाव आ सर्व नायकताने सूचवनारां हतां. तेमना अवाजमा सत्तावाहिता होवा छता उंडी समज हती. तेमनी आकृति सामाने तेजथी आजती होवा छतां सौम्यभरी हती. तेमनो स्वभाव हसमुख छतां पूर्वापरनी सर्व वस्तुनो अवगाहक हतो.

आणंदजी कल्याणजीनी पेढीना प्रतिनिधिओ, समाजना अग्रगण्यो विगेरे सौना ते आधारभूत, समग्र शासनना हितचिंतक अने समग्र शासनना रक्षक होवाथी समाज तेमने शासनसम्राट् तरीके ओळखतो ते खरेखर व्याजबीज हतु.

तेमनो जन्म, दीक्षा, पदप्रदान, तेमना हाथे थयेलां शासनप्रभावनाना कार्यो विगेरे बधी विगतो तो महाकाय ग्रंथथीज कही शकाय तेम छे. पण अहिं तो मात्र तेमनु आछुं दर्शन आप्यु छे. अने ते ए के स्व. आंचार्यदेव नेमिसूरीश्वरजी महाराज आ काळना शासनसम्राट् युगप्रधान के शासनना कोहीनूर जे कहो ते बधा हता.

स्व. परमपूज्य आचार्यदेवनु शिष्यमंडळ.

स्व पूज्य आचार्यदेवनो आजे पण शासन जेनाथी उन्नत शिर रही शके तेवो वहोळो विद्वान् शिष्यसमुदाय छे. दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यासी खडनखंडखाद्य अने आ टीका जेवा महाकाय ग्रथोनी वृत्तिना रचयिता शास्त्रविशारद पू. दर्शनसूरीश्वरजी महाराज. आ काळे सौने आदर्शरुप बने तेवा, परम गुरुभक्त, भद्रिक, शिल्प ज्योतिष अने [illegible] ज्ञाता पू.

क्षमाविजयजीए महावीर भगवानना स्तवनमां गायुं छे के 'झेरथुं झेर निवारण मणि सम तुज आगम तुज बिंबजी' आ स्तवनमां तेमणे जणाव्युं छे के हे भगवंत कलिकालनुं झेर निवारवामां तमारुं आगम अने तमारा बिंब ए बे मणिसमान छे स्व पू आचार्य देवे तेमना काळमां शास्त्रपठनपाठन अने जिनबिंबनी अंजनशलाका प्रतिष्ठाथी कलियुगनुं झेर निवारवामां अपूर्व फाळो आपी जैनशासनने उज्ज्वळ कर्युं छे अने फरी हैमयुग, हीर युग विगेरे युगनी स्मृति साथ कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्रसूरि अने जगद्गुरु विजयहीरसूरिजीनी स्मृति आ काळमां तेमना दर्शने ताजी करावी छे

जगतना अनेक झंझावातो, दुष्काळना ठेर ठेर तोफानो, मतवादनो सुसवाटो पवन आ बधुं छतां जैनशासन उपर एकछत्र आणा प्रवर्तावावानुं आ काळमां जो कोइना भाग्ये सरजायुं होय तो आ महापुरुषने फाळे हतुं

तीर्थोद्धार

कापरडा, कदंबगिरि शेरीसा विगेरे तीर्थोना उद्धारने देखनाराने ख्याल आवशे के स्व पूज्य आचार्यदेव केवल तीर्थ मंदिरनो उद्धार करावनार न हता पण शासननी प्रभावना करे अने हजारो वर्ष सुधी चिरंजीव रहे तेवां तीर्थोने अस्तित्वमां लावी प्रभावना करनार पण हता. शेरीसा तीर्थना संबंधमां शास्त्रोमां ठेरठेर उल्लेख छे पण कोण जाणे क्यारे ते नाम-शेष बन्युं! आ तीर्थनो उद्धार अने महिमा स्व पूज्य आचार्यदेवना प्रतापपुंजनुं परिणाम छे शत्रुंजयनी स्मृति करावे तेवुं कदंबगिरि तीर्थ स्व पूज्य आचार्यदेवनी तीर्थभक्ति अने शासनना रागने जणावे छे कापरडा तीर्थनो उद्धार तीर्थभूमि रूपी छुपा सुधीनी स्व. पू. आचार्यदेवना जमीरन याद करावे छे. आ एक बे ज नहि पण ठेर ठेर स्व. पूज्य आचार्य देवना हस्तके थयेल तीर्थोना उद्धार अने जिनमंदिरो उभा उभा आजे पण तेमनी जीवन-गाथाने उच्चारी रह्यां छे.

संघयात्रा

छ'री पाळता नाना मोटा संघ तो घणाए आ काळमां नीकळ्या आपणे जोया हशे पण जे संघमां हजारो माणसो, सेंकडो गाडीओ अने सेंकडोनी संख्यामां मुनिराजो होय तेवा संघो तो स्व पूज्य आचार्यदेवनी सान्निध्यतामां नीकळेल शेठ मायाभाइ मनसुखभाइ अने शेठ नगीनदास करमचंदना संघ ज क्वचित् नीकळ्या छे. संघना दर्शनार्थे पचीस पचास गाउथी उलटी माणसमेदनी, राजाओ महाराजाओद्वारा थतां संघना सामैयां अने साधर्मिक भक्तो हस्तक थता संघना आदरसत्कारे तो कोइने धर्मबीज, कोइने समकित अने कोइने विरतिपणुं आपी जीवन तार्यां छे.

स्वपर न्यायशास्त्रना अनेक ग्रंथोनुं तेमणे अध्ययन कर्युं. पंचवाद, माथुरी पंचलक्षणी, विवेचना, सिद्धांतलक्षण, वैशेषिकदर्शन उपस्कार, मुक्तावली दिनकरी रामरुद्री टीकाओ साथे श्रीहर्षकृत खंडखाद्य, व्युत्पत्तिवाद विवेचना सांख्य तत्त्वकौमुदी तत्त्वसंग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह चित्सुखी विगेरे छए दर्शन शास्त्रोनुं अध्ययन कर्युं आ साथे आपणा पूर्वाचार्यकृत उ-यशोविजयजी कृत न्यायालोक, खंडखाद्य, नयप्रदीप, नयरहस्य विगेरे ग्रंथदयाक अष्टसहस्री, संमतितर्क शास्त्रवार्तासमुच्चय वृत्ति आदि अनेक स्वदर्शन शास्त्रना न्याय ग्रंथोनुं मननपूर्वक विशद अध्ययन कर्युं.

आ दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यास बाद स्व. पू. गुरुदेवे कह्युं के संमतितर्क उपर तत्त्वबोधिनी टीका छे परंतु ते विस्तृत होवाथी सामान्य अभ्यासीओने भणवा माटे बहुज कठीन पडे छे. अने महाकाय ते वृत्तिने देखी सामान्य धीरजवाळा दूर खसे छे. तो सन्मतितर्क उपर एक सुंदर मध्यम वृत्ति बनावो जेथी अनेकने ग्राह्य बने. आ गुरुदेवना गुरुवचनने शिरसा वंद्यकरी संमतितर्कनी टीका बनाववानो टीकाकारे संकल्प कर्यो अने तेमना जीवनकाळमांज ते ग्रंथ बनावी ते संकल्प सफळ कर्यो.

वि. सं. १९६९ मां कपडवंजमां पू. मुनिदर्शनविजयजीने गुरुदेवे स्वहस्ते पन्यास पदारूढ कर्या अने सं १९७३ मां सादडी गामे मारवाडमा उपाध्यायपद अर्पी तेमने गुरुदेवे उपाध्याय तरीके स्थाप्या. वि. सं. १९७९ मा खंभातमां गुरुदेव भगवते स्व. पूनित हस्ते आचार्यपद अर्पी आचार्यदारूढ कर्या त्यारथी आचार्य विजयदर्शनसूरिजीना नामे प्रसिद्ध छे.

पू. आचार्य दर्शनसूरि महाराजे आ संमतितर्क ग्रंथ टीका उपरांत आज बीजा पण महाकाय घणा ग्रंथोनुं निर्माण कर्युं छे.

१ स्याद्वादना स्वरूपने स्पष्ट करतो साडा त्रण हजार श्लोक प्रमाण टीका नव्यन्यायनो स्याद्वादबिन्दु ग्रंथ तेमनी नव्यन्यायनी उडाणतानो सुंदर परिचय आपे छे.

२ प. पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजना बनावेल महा आकार ग्रंथ खंडखाद्य अपरनाम महावीर स्तव उपर तेमनुं स्वोपज्ञ विवरण छे. आ विवरणने स्पष्ट करती २५००० श्लोक प्रमाण तेमणे टीका रची छे. जे आज दश वर्ष पहेला प्रसिद्ध थइ गई छे.

३ पर्युषणा कल्पलता ८०० श्लोक प्रमाण रची पर्युषण पर्वना आदिना त्रण व्याख्यानोना विषयोनुं अतिविशद निरुपण कर्युं छे.

४ तत्वार्थ विवरण गुढार्थ दीपिका, आ ग्रंथ टीकाकार महाराजे पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजे तत्त्वार्थ सूत्र उपर विवरण रच्यु छे. तेने स्पष्ट करनार छे. आम न्याय व्याकरण अने धर्मशास्त्र विगेरेना टीकाकार उडा अभ्यासी अने सतत ' [illegible] संयम आचरणमां मस्त रहेनार महात्मा छे

विजयोदयसूरीश्वरजी महाराज, व्यवहारदक्ष अने कोईना पण तेज्मां अंजाया सिवाय स्पष्ट अने सत्य कहेनार, न्याय विशारद, कविरत्न पू. मंदनसूरीश्वरजी महाराज, मवसर माव, सरल परिणामी पू. विजयविज्ञानसूरीश्वरजी महाराज, प्राकृत अने गुजराती भाषामां अनेकविध साहित्यनुं सर्जन करनार पू. विजयपद्मसूरीश्वरजी महाराज, साहित्य अने काव्यना अखंड अभ्यास साथे विविध काव्यो गुंथनार पू. विजयामृतसूरीश्वरजी महाराज, न्याय साहित्य अने व्याकरणना प्रखंड अभ्यासी अने भने शास्त्रोना विपुलपाय प्रकरणविज्ञ व्याख्यान वाचस्पति पू. लावण्यसूरीश्वरजी महाराज, प्राकृतभाषाना मकाण्ड विद्वान पू. विजयकस्तुरसूरीश्वरजी महाराज, भक्ति अने आगम तथा प्रकरण ग्रंथोना सारा अभ्यासी पू. पं. सुमित्रविजयजी गणिवर, व्यवहारदक्ष विविधग्रंथाभ्यासी पू. पं. मेरुविजयजी गणिवर, न्याय, व्याकरण साहित्य, संगीत तथा गुजराती भाषाना सारा अभ्यासी पू. पं. दक्षविजयजी तथा पू. पं. सुशीलविजयजी गणिवर, न्यायना अखंड अभ्यासी बुद्धिवैभवी जयानंदविजयजी महाराज, न्याय साहित्य अने गुजरातीना सरस अभ्यास साथे रोचक लेखनशैलीवाळा पू. पं. धुरंधरविजयजी महाराज, तथा साहित्य व्याकरण न्यायना सारा अभ्यासी पू. महिमाप्रभविजयजी महाराज विगेरे अनेक विद्वानो जैनशासनने शोभावी रह्या छे

सन्मतितर्क महार्णवावतारिकाना टीकाकार

आचार्यदेव विजय दर्शनसूरीश्वरजी महाराज बालब्रह्मचारि अने नानी वये दीक्षा लइ आजीवन स्वपर दर्शनशास्त्रना अभ्यासमां जीवन वीतावनार परम भद्रिक महापुरुष छे

आ टीकाकार महात्मानुं वतन अनेक महात्माओने उत्पन्न करनार सौराष्ट्रमां स्वर्गभूमि समान मदा रम्य मधुमती–महुवा नगर छे तेमना पितानुं नाम कमळशी अने मातानुं नाम धनी हतुं. कसळचंद, हेमचंद अने जीवराज एम त्रण भाईओ पछी तेमनो जन्म वि. स. १९४१ना पोष सुद १५ ना दीवसे थयो हतो. संसारअवस्थामां तेमनुं नाम सुंदरजी पाडवामां आव्युं हतुं सुंदर योगवाळा सुंदरजी बाल्यकाळ वितावे त्यां तो शासनसम्राट् आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना परिचयमां आव्या अने भागवती प्रव्रज्यानी भावना भावी बराबर सोळ वर्षनी वये वि. सं. १९५९ मां अषाढ सुद १०ना रोज भावनगरमां समये दीक्षा लीधी अने पू. शासनसम्राट् आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराजना शिष्य थया त्यां तेमनुं नाम दर्शनविजय पाडवामां आव्युं प्रतिमासंपन्न महाविद्वान् पू. आचार्यदेवे दर्शनविजयजीने भणाववा माटे खुब रस आपवा मांडयुं अने तेमने न्याय व्याकरण साहित्य अने धर्मशास्त्रनो विविध अभ्यास कराव्यो. आम छतां न्यायशास्त्रना अभ्यासमां ते खुब खुब ऊंडा उतर्यां अने

स्वपर न्यायशास्त्रना अनेक ग्रंथोनुं तेमणे अध्ययन कर्युं. पंचवाद, माथुरी पंचलक्षणी, विवेचना, सिद्धांतलक्षण, वैशेषिकदर्शन उपस्कार, मुक्तावळी दिनकरी रामरुद्री टीकाओ साथे श्रीहर्षकृत खंडखाद्य, व्युत्पत्तिवाद विवेचना सांख्य तत्त्वकौमुदी तत्त्वसंग्रह, सर्वदर्शनसंग्रह चित्सुखी विगेरे छए दर्शन शास्त्रोनुं अध्ययन कर्युं आ साथे आपणा पूर्वाचार्यकृत उ-यशोविजयजी कृत न्यायालोक, खंडखाद्य, नयप्रदीप, नयरहस्य विगेरे ग्रंथदशक अष्टसहस्री, संमतितर्क शास्त्रवार्तासमुच्चय वृत्ति आदि अनेक स्वदर्शन शास्त्रना न्याय ग्रंथोनुं मननपूर्वक विशद अध्ययन कर्युं.

आ दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यास बाद स्व. पू. गुरुदेवे कह्युं के संमतितर्क उपर तत्त्वावबोधिनी टीका छे परतु ते विस्तृत होवाथी सामान्य अभ्यासीओने भणवा माटे बहुज कठीन पडे छे. अने महाकाय ते वृत्तिने देखी सामान्य धीरजवाळा दूर खसे छे. तो सन्मतितर्क उपर एक सुंदर मध्यम वृत्ति बनावो जेथी अनेकने ग्राह्य बने. आ गुरुदेवना गुरुवचनने शिरसा वद्यकरी संमतितर्कनी टीका बनाववानो टीकाकारे संकल्प कर्यो अने तेमना जीवनकाळमांज ते ग्रथ बनावी ते संकल्प सफळ कर्यो.

वि. सं. १९६९ मां कपडवंजमां पू. मुनिदर्शनविजयजीने गुरुदेवे स्वहस्ते पन्यास पदारूढ कर्या अने सं १९७३ मां सादडी गामे मारवाडमा उपाध्यायपद अर्पी तेमने गुरुदेवे उपाध्याय तरीके स्थाप्या. वि. सं. १९७९ मा खंभातमा गुरुदेव भगवते स्व. पूनित हस्ते आचार्यपद अर्पी आचार्यदारुढ कर्या त्यारथी आचार्य विजयदर्शनसूरिजीना नामे प्रसिद्ध छे.

पू. आचार्य दर्शनसूरि महाराजे आ संमतितर्क ग्रंथ टीका उपरांत आज बीजा पण महाकाय घणा ग्रंथोनुं निर्माण कर्युं छे.

१ स्याद्वादना स्वरुपने स्पष्ट करतो साडा त्रण हजार श्लोक प्रमाण टीका नव्यन्यायनो स्याद्वादबिन्दु ग्रंथ तेमनी नव्यन्यायनी उडाणतानो सुंदर परिचय आपे छे.

२ प. पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजना बनावेल महा आकार ग्रथ खंडखाद्य अपरनाम महावीर स्तव उपर तेमनुं स्वोपज्ञ विवरण छे. आ विवरणने स्पष्ट करती २५००० श्लोक प्रमाण तेमणे टीका रची छे जे आज दश वर्ष पहेलां प्रसिद्ध थइ गई छे.

३ पर्युषणा कल्पलता ८०० श्लोक प्रमाण रची पर्युषण पर्वना आदिना त्रण व्याख्यानोना विषयोनुं अतिविशद निरुपण कर्युं छे.

४ तत्वार्थ विवरण गुढार्थ दीपिका, आ ग्रंथ टीकाकार महाराजे पू. उपाध्याय यशोविजयजी महाराजे तत्त्वार्थ सूत्र उपर विवरण रच्युं छे. तेने स्पष्ट करनार छे आम न्याय व्याकरण अने धर्मशास्त्र विगेरेना टीकाकार उडा अभ्यासी अने सतत परिश्रमी संयम आचरणमां मस्त रहेनार महात्मा छे

शिष्य प्रशिष्य परिवार—

पू. टीकाकार दर्शनसूरि महाराज स्वर्गस्थ गुरुदेवना विद्वान् नव आचार्योमां प्रथम आचार्य, विद्वान् अने प्रतिभासंपन्न महात्मा छे. एमना एक गुणविजय नामना विद्वान् शिष्य हता ते वि सं १९८१ मां कालधर्म पाम्या तमेवे इस पाठशाला बनाव्युं हतुं एमज तेमने पू. प. जयानंद विजयजी महाराज पू. प. मित्रंकरविजयजी महाराज विगेरे सारा विद्वान् शिष्यो छे जयानंदविजयजी बुद्धिमशी अने न्यायशास्त्रना ऊंडा अभ्यासी छ के टीकाकार महाराजनी साथे हंमेशां रहे छे अने तमनी साहित्यप्रवृत्तिमां हंमेशा मददनीश रहे छे पू. पं. मित्रंकरविजयजी पण सारा उपदेशक अने साहित्यशास्त्रना सारा बोधक छे.

टीकाकारनुं व्यक्तित्व अने स्थान—

पू. आ. दर्शनसूरिजी महाराज न्याय, साहित्य अने धर्मशास्त्रना समर्थ विद्वान् होवा उपरांत महाकाय प्राचीन अने नव्य न्यायग्रंथोमां निर्माण करनार अने प्रकाण्ड विद्वान् अभ्यासी छे जैनसमाजमां आजे ज सारा गणाता विद्वानो छ तमां तेओ अग्रेसर गणनापात्र विद्वान् छे. अने न्यायशास्त्रमां त प्रथम पंक्तिना महा विद्वान छ

उ. यशोविजयजी म पछी सन्मतितर्कना अभ्यासीओ जैनसमाजमां विरलज थया छे. प. पू. आचार्यदेव विजयनेमिसूरीश्वर महाराज तमना शिष्य मंडलने जुदा जुदा शास्त्रोना पारगामी बनाव्या तेमां दर्शनसूरि महाराज दर्शनशास्त्रमां खुबज ऊंडा उतर्या एटलुं ज नहि पण तत्त्वन्याय समार्थ विवरण प्रथमाध्याय महाराज अने संमतितर्क जेवा ग्रंथो उपर वृत्ति रची पुस्तकाना विद्वानोनी स्तुति करावी छे सन्मतितर्क जेव अमत्कारि दृष्टिनो मौलिक ग्रंथ छे. आ मूळ ग्रंथ अभ्यासकान समजाय तवो दुर्गम छे माम छतां तेना उपरनी महाभाष्य वृत्ति तेमी कठिनाय बांचवा तेन नमस्कार करी तनी मध्ये छोडेथी पूज्यता बतावी छे पण तन अवगाहवानी वृत्ति केटली मुश्केल नथी आ सन्मतितर्क महाशास्त्रनारिका सर्व अभ्यासी ओना प्रथमां जगवा सोपान पंक्ति बांधनार वृत्तिकार आजना अभ्यासको उपर महान् उपकार कर्यो छ अने सेंकडो वर्षथी सन्मतितर्क माटेनी खोटली मध्यम वृत्तिनी खोट पूरी पाडी छे

पू. आ दर्शनसूरि महाराज विद्यमान आचार्योमां गणनापात्र आचार्य छे विद्यमान विद्वानोमां न्यायना प्रथम पंक्तिना महा विद्वान तथा स्वपरशास्त्रना मननपूर्वक यथार्थ व्याख्याकार होवाथी अने सारा शासननी सेवाथी पर रहेनार अने सदा पठनपाठनमां व्यस्त रहेनार निरीह महात्मा तरीके प्रसिद्ध छे

आ ग्रंथने सुंदर छेवार पणमां सुवाच्य अक्षरोमां छपावी प्रसिद्ध कर्यो छ तो वांचक दर्शन शास्त्रनो अभ्यास करी समकित निर्मल करी दर्शननी प्रभावना करे. एज

मफतलाल झवेरचंद गांधी.

संमति तर्क रहस्य.

लेखक पं. श्री जयानंदविजयजी गणि ।

सुगृहीत नामधेय पूज्यपाद आचार्य वर्य श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि प्रणीत संमतितर्क मूळ ग्रंथ त्रण कांडमां विभक्त करायेल छे. प्रथमकांड ५४ गाथा प्रमाण छे. द्वितीयकांड ४३ गाथा प्रमाण छे. अने तृतीयकांड ६९–७० प्रमाण छे. आम मूळ ग्रंथ १६७ पद्योनो छे.

संमति तर्क प्रकरण मूळ ग्रंथ आम अल्पकाय होवा छतां आ ग्रंथ जैनशासनमां अद्वितीय प्रभावक ग्रंथ गणायो छे. अने आ [1]प्रभावक ग्रंथ भणवा माटे साधु कारणवश आधाकर्मिआहार सेवन करे तो पण तेने प्रायश्चित्तनो भागी गण्यो नथी. तत्त्वार्थ तथा सम्मतितर्क भणवामा अखण्ड रंग लागे तो ते ग्रन्थनानिरन्तर एकचित्ते अभ्यासीने आधाकर्मादि दोष लागतो नथी तेम पञ्चकल्पादि ग्रन्थमा पण कह्यु छे. तेनु कारण संमति प्रकरणमां नय–निक्षेप सप्तभंगी ज्ञान अने ज्ञेयनी विशद युक्तिपूर्ण विचारणा करी अनेकांतवादने प्रतिष्ठापित कर्यो छे.

आ संमति प्रकरण उपर शासनशिरोमणिप. पू. नवांगीटोकाकार भगवन्त श्री अभयदेवसूरि महाराजनी रचेल २५००० श्लोक प्रमाण तत्त्वावबोधविधायिनी नामनी वृत्ति छे. परतु आ वृत्ति जैनशासनमां 'वादमहार्णव'ना नामे ज प्रसिद्ध छे. केमके तेमां पूज्यपाद अभयदेवसूरि महाराजना वखत सुधीना जे कोइ वादो हता, तेनो विस्तारपूर्वक विचार करवामा आव्यो छे. आ वादो अतिविस्तृत अने काठिन्यपूर्ण होइ सामान्य अभ्यासी पण अवगाही तेनो परिचय मेळवी शके ते माटे सरळ भाषामां नियुक्त आ वादोमां सहेजे प्रवेश करी शकाय ए हेतुथी संमततिर्कमहार्णवावतारिका नामनो आ ग्रंथ अमारा पूज्य गुरुमहाराज श्री विजयदर्शन-सूरीश्वरजी महाराजाए बनाव्यो छे.

आ ग्रंथ निर्माणनुं मुख्य प्रयोजन संमतितर्कमहार्णवमा प्रवेश करवो ते छे. आ ग्रंथ सुगम छतां तेनुं अवगाहन जैनेतरदर्शनसम्बन्धि न्याय ग्रन्थोना तथा जैनतर्कशास्त्रना थोडा घणा परिशीलन विना करी शकाय तेम नथी

हवे जेओने बिलकुल सस्कृत भाषानो परिचय नथी तेओ पण आ ग्रथमां शो विषय छे. तेनुं टुंक दिग्दर्शन पामी शके ते आशयथी मूळ ग्रंथने लक्ष्यमां राखी अहीं टूंकमा तेनो निर्देश करवामा आवेल छे.

मंगल

शरुआतमां शासन प्रभावक आचार्य भगवन्तश्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज शासन-नी स्तुतिरूप मंगळ करे छे, तेओ आ जैनशासनने चार गुणोवाळु वर्णवे छे.

---

[1] दसणगाही—दसणनाणप्रभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय समतिमादि गेण्हतो इत्यादि (निशीथचूर्णि उद्देशक १)

आ शासन जिनेश्वर भगवन्त रचित होवाथी स्वतः सिद्ध छे, बीजा हेतु निरपेक्ष प्रामाणिक छे, १, पदार्थवस्तुने प्रतिपादन करनार छे २, जैनशासनने वरेले भावेकोने अनुपम सुख आपनार छे ३, अने एकांतवाद रूप मिथ्यामतोने दूर करनार छे ४,

उद्देश

ग्रंथकार ग्रंथनो उद्देश जणावतां कहे छे के आ ग्रंथ हुं एटला माटे बनावुं छुं के आगमोनो अभ्यास करवामां रस विनाना माणसो पण आ ग्रंथने एकाग्रचित्तथी मनन कर्या पछी आपो आप श्रुतधरोनी उपासना करवा लागी जाय, अर्थात् आ ग्रंथ वांच्या पछी तेमने शास्त्रोनुं चिंतन करवानी आपोआप इच्छा थडे

अभिधेय

तीर्थंकर भगवानोना वचनोमा अर्थतत्त्वने प्रतिपादक द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय अभिधेय छे. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आ बे-नयना मुख्य भेदो छे बीजा नयो पण द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक नयना भेदो छे आ ग्रन्थमां ते मुख्य बे नयनी अपेक्षाए स्याद्वादतत्त्वनुं निरूपण करवामां आवशे

अर्थात् ग्रंथनो मुख्य प्रतिपाद्य विषय अनेकान्तवाद छे आ अनेकान्त-नयोना स्पष्टी करणथी ज स्पष्ट थइ शके तेम छ, आ नयो अनेक होवा छतां ते बधानो समावेश द्रव्यार्थिक अने पर्याय थिक आ बेमां थाय छे आथी आ ग्रंथनो मुख्य विषय द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय छे अने तेने अनुसरी ज्ञान अने ध्येयनी विचारणा छे

प्रथमकांड

कोई एक वस्तुने तेनी बधी बाजुथी तपासवुं ते अनेकान्त छे एटले एकज वस्तुमां रहेल बधाये परस्पर विरोधि धर्मोनो अपेक्षाभेदथी विचार करी ते धर्मोनो एक वस्तुमां समावेशरूप कथंचित् तत्त्वनुं निरूपण ते अनेकान्त छे अने कोई एक वस्तुने तेनी बीजी बाजुनो अपलाप कर्या विना विचारणा करवी एटले स्वविरोधिधर्मनी उपेक्षा करी एक धर्मनी विचारणा ते नय छे. अनेकांतमां बधा नयो संकलित थाय छे, आ नयो अनंत छे केमके वस्तुमां अनंत धर्मो छे.

आ अनंत धर्मोमाना बीजा धर्मने अपलाप कर्या विना एकधर्मने प्रतिपादन करनार वचनमार्ग अनन्त होवाथी नयो अनन्त छे सिद्धान्तमां कह्युं छे के 'जावइया वयणपहा ताव इया चेव हौति णयवाया' जेटला वचनमार्गो तेटला नयवादो छे आ बधा नयोनो समुच्चय रीते विचार करीए तो ते बधा बे मागमां वेंचाइ जाय छे एक अभेददृष्टिमां अने बीजी भेददृष्टिमां, अभेदलक्षि द्रव्यार्थिक नय अने भेदलक्षि पर्यायार्थिक नय कहे छे

कोइ एक मानवनो विचार भेददृष्टि तरफ वळी करवामां आवे त्यारे हिन्दुस्तान-नो, गुजरातनो, मुंबईईलाकानो, अमदावादमां अमुक पोळनो अमुक शेरीनो अमुकनो पुत्र एम विचाराय छे. तेज मनुष्यने अभेद दृष्टिथी विचारवामां आवे त्यारे उलटा क्रमे विचाराय. अमुकशेरीनो अमुक पोळनो अमदावादनो मुंबइ इलाकानो गुजरातनो हिन्दुस्ताननो मानव जीव अने छेवटे आत्म प्रदेशमय ज्ञानमय सत्. आम वस्तु एकनी एक होवा छतां एकज वस्तुमां कोईनी दृष्टि भेदरूपे परिणमे छे, तो कोइनी दृष्टि अभेदरूपे परिणमे छे आ अभेद अने भेद वस्तुमां छे.

आ बधी विचारणाओना प्रकारोने जैनशास्त्रमां नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द सम-भिरूढ अने एवंभूत आ सात प्रकारना नयोमां समावेश करेल छे. संमतितर्क ग्रंथमां आ सात नयोने छ नयोमां संकलित करेल छे. अभेददृष्टिरूप द्रव्यार्थिक नयमां संग्रह अने व्यवहार नयने लीधा छे. अने पर्यार्थिक नयमां ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ अने एवंभूत ए चार नयोने संकलित कर्या छे.

वस्तुमात्रमां सामान्य (अभेद) अने विशेष (भेद) बे धर्म छे. सामान्यग्राहि दृष्टि ते अभेददृष्टि-द्रव्यार्थिकनयमां समाय छे, अने विशेषग्राहि दृष्टि ते भेददृष्टि–पर्यायार्थिक नयमां समाय छे.

सत्तारूप तत्त्वने अखंडपणे ग्रहण करनार प्रथम दृष्टि ते संग्रहनय छे, अने ते सत्ताने जीव अजीव आदिरूपे विभाग करी तेना भेदोमां ज्यारे दृष्टि प्रवर्ते त्यारे ते व्यवहार नय कहेवाय छे.

आ संग्रह अने व्यवहारनय ए द्रव्यार्थिकनयना भेद छे. भिन्न भिन्न सर्व वस्तुमां भेद ते कल्पनामूल होवाथी असत्, अने अभेद ते पारमार्थिक होवाथी केवळ सत्‌रूप अखण्ड तत्त्वने ग्रहण करनारी दृष्टि ते संग्रह नय छे, आ संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे. अने व्यवहार चलाववा मथती जीव अजीव विगेरे विभागने करती दृष्टि ते व्यवहार नय छे आ व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे

आम कोई पण पदार्थना सामान्य तत्त्वने अवलंबी जाति के गुण आदिनी विशेषताथी गमे तेटला पेटा विभागो करवामां आवे छतां तेमा काळने अवलंबी फेरफार न करवामां आवे त्यां सुधी ते बधा विभागो व्यवहार नयमां समाय छे. अर्थात् सत् रूप अखंड तत्त्वने जीव मनुष्य आर्य विगेरे भेदे खंडित करी व्यवहार चलाववा माटेनी दृष्टि ते ते पदार्थमां काळने अवलंबीने भेदमा न पेसे त्या सुधी ते व्यवहार नयनी मर्यादामां छे, केमके आ बधा भेद होवा छतां ते दृष्टि परिमित अभेदस्पर्शी छे. अने तेथीज ते द्रव्यार्थिक नय कहेवाय छे.

भद तरफ वळेली आ दृष्टि ज्यारे कालकृत भेदमां प्रवेशे छे अने भूत भविष्यकाळने अर्थनो असाधक मानी वर्तमानकाळ पुरतुं ज तत्त्वने स्वीकारे छे त्यारे ते ऋजुसूत्रनयनी मर्यादामां आवे छे, आ ऋजुसूत्रनयथी पर्यायार्थिक नयनी शरुआत थाय छे, ते एवंभूत सुधी जाय छे, ऋजुसूत्र नयना मानेल वर्तमानकालीन तत्त्वमां पण लिंग वचन पुरुष आदि वडे भेद माननार दृष्टि शब्दनय बने छे, अने शब्दनये मानेल समान लिंग अने समान वचनवाळा पर्यायशब्दोमां पण व्युत्पत्ति वडे भिन्नअर्थ माननार दृष्टि ते समभिरूढनय छे, अने व्युत्पत्तिथी भेद स्वीकारेल पदार्थ पण क्रिया काळ पुरतो ज सत् छे एम माननार भेद दृष्टि ते एवंभूत नय छे आ शब्द समभिरूढ अने एवंभूत त्रणे वास्तविक जोइए तो ऋजुसूत्र सूत्रनी शाखाओ छे ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ अने एवंभूत आ चार नयो पर्यायार्थिक नयमां समाय छे

आम द्रव्यार्थिक नयमां संग्रह अने व्यवहार पक्षान्तरे नैगम संग्रह अने व्यवहार समाय छे पर्यायार्थिक नयमां ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ अने एवंभूत समाय छे

जेमां कोई पण विशेष न होय तेवुं वचन ते सत्–अस्ति छे, अने आ प्रमाणे माननार शुद्ध द्रव्यास्तिक नय छे, अने जेमां कोई पण सामान्य न होय एवुं छेल्लुं अविभाज्य विशेष वाचक वचन ते शुद्ध पर्यायास्तिक नय छे आ बन्नेनी वच्चे आवनार बधा विभागो सामान्य विशेषना प्रतिपादक होवाथी द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक मिश्रित छे

सत् अस्ति आ शुद्ध द्रव्यास्तिक अने जीव मुक्त संसारी–अजीव परमाणु स्कन्ध गुण आ बधा मर्यादित सामान्यना बोधक साथे तेमां विशेषना–विभागनो अने भेदनो स्पर्श होवाथी द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक कहेवाय छे अने छल्लो अविभाज्य विशेषवाळो पदार्थ एक व्यक्ति सिद्ध ते शुद्ध पर्यायार्थिक छे. अंतिम विशेष सिवायनो बधी वस्तुओ अनुक्रमे सर्वव्यापक सत्ता सामान्य सुधीमां सामान्य उपयोग थतो होवाथी द्रव्यास्तिकनयनो विषय छे अने ए बधा विषय पर्यायगत होवाथी पर्यायास्तिकनयने पण ग्राह्य बने छे मात्र अंतिम विशेषमां सामान्य उपयोग नथी. अने सर्वव्यापक सत्ता सामान्यमां विशेष उपयोग नथी

॥ चार निक्षेपामां द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयनी विचारणा ॥

नाम स्थापना द्रव्य अने भाव आ चार निक्षेपामां नाम स्थापना अने द्रव्य आ त्रण निक्षेपा सुधी द्रव्यार्थिक नयनी प्रवृत्ति छे नाम मात्रथी इन्द्र होय ते नाम इन्द्र इन्द्रनुं चित्र होय ते स्थापना इन्द्र, भविष्यमां इन्द्र थनार होय अगर पहेलां इन्द्र हतो ते द्रव्य इन्द्र, आ त्रणे निक्षेपामां कोईने कोई जातनो द्रव्य साथे संबंध होवाथी द्रव्यास्तिक नयना विषयमां समाय

छे, अने इन्द्रासनमां वीराजमान इन्द्र ते भाव इन्द्र, ते भाव निक्षेपारूप छे, ते पर्यायार्थिक नयमां समाय छे. कारण के भाव इन्द्रमां वर्तमानमां इन्द्रपदना अनुभवनी–लिंग वचनना भेदनी,-व्युत्पत्ति भेदनी अने क्रियाकालनी आ वधी विशेषताओ होवाथी विशेषताने लई भेद ज मुख्य छे.

॥उत्पत्ति स्थिति अने नाशरूप पदार्थलक्षणमां द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयविचरणा॥

उत्पत्ति स्थिति अने नाश ए पदार्थनुं लक्षण छे 'उप्पाय–ठ्ठिइ भगा हदि दवियलक्खणं.

द्रव्यास्तिक नयनो विषय सामान्य छे. अने पर्यायास्तिक नयनो विषय विशेष छे, जगत्‌ना कोई पण पदार्थमां विशेष विनानुं सामान्य नथी अने सामान्य विनानु विशेष नथी. तेज रीते उत्पत्ति अने नाश–स्थिति विनानां नथी, अने स्थिति–उत्पत्ति अने नाश विनानां नथी, आथी पदार्थ मात्रमा द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक बन्ने घटी शके छे, छतां द्रव्यास्तिकनु वक्तव्य पर्यायार्थिकनी दृष्टिमां अवस्तु छे, अने पर्यायार्थिकनुं वक्तव्य द्रव्यास्तिकनी दृष्टिमां अवस्तु छे, केमके द्रव्यास्तिक अभेद तरफ ढळे छे, अने पर्यायास्तिक भेद तरफ ढळे छे, उत्पत्ति स्थिति अने नाश त्रणेनु भिन्न स्वरूप छतां एक बीजा साथे मळीने रहे छे, तेम द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक बन्ने नयोनुं भिन्न स्वरूप होवा छतां बन्ने दृष्टि पदार्थ प्रतिपादनमां वपराय त्यारेज पदार्थनुं साचुं प्रतिपादन गणाय. आ बन्ने दृष्टि सापेक्षपणे प्रवर्ते त्यां सुधी नय छे. निरपेक्षपणे प्रवर्ते त्यारे ते दुर्नय बने छे अने आ दुर्नय ते मिथ्यात्व छे.

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अने तेना पेटा भेदो आ बधा नयो पोत पोताना विषयनी मर्यादामां रही प्रवृत्ति करे त्यां सुधी नय छे. अने ते सर्व अपेक्षा पूर्वक वस्तुगत एक अंशप्रतिपादक होवाथी सम्यक् नय छे, पण ज्यारे ते प्रतिपक्षनयनुं खंडन करे त्यारे ते मिथ्या नय छे. हाथीनो एक अवयव पग थांभला जेवो देखी हाथी थाभला जेवो छे ते कहे त्या सुधी ते नय साचो छे.एटले सुनय छे, पण हाथी थाभला जेवोज छे, दोरडा जेवो नथी, ते कहेनारा जुठा छे, तेम कहेनारनुं एकान्त वचन दुर्नय छे, कोइपण माणस जेम स्व-पुत्रनो पिता तेम स्वपितानो पुत्र–बीजा पुरुषनो मामो काको भत्रीजो पण होइ शके छे, आ वस्तुस्थिति समज्या विना विद्यमान एवा बीजा धर्मनो निषेध करी केवल एकज धर्मप्रतिपादक पुरुषनुं निरपेक्ष वचन–एकान्त वचन दुर्नय छे, बीजा धर्मनुं खण्डन मण्डन करवामा उदासीन भाव पूर्वक एक धर्मप्रतिपादक पुरुषनु सापेक्ष वचन सुनय छे.

टुकमां द्रव्यास्तिकनु वक्तव्य भेदरहित अभेद छे, अने पर्यायास्तिकनुं वक्तव्य अभेद-रहित भेद छे, अने ते वक्तव्य भेद थाय त्याथी शरु थाय छे.

भेद शुं छे ?

पदार्थ मात्र कथंचित् भेदाभेद उभयात्मक छे, अभिन्न सामान्य स्वरूप सत् उपर व्यवा-येली अनेक भेदोनी परंपरामां सदृश परिणाम प्रवाह कोई पण एक शब्दनो वाच्य बनी व्य-वहार पामे ते व्यंजन पर्याय, अने तेमां जे क्रमिक भेदो अविभाज्य लागे ते अर्थपर्याय, जेमके जीवना पुरुष पुरुष एवा सदृश परिणाम प्रवाहमां निर्विकल्प बुद्धि थाय छे ते व्यंजन पर्याय, अने तेज पुरुषमां बाल युवान आदि अनेक विकल्पो नजरे पडे छे ते बधा पुरुषरूप व्यंजन पर्यायना अर्थ पर्यायो छे आ बाल विगेरेना पण स्तनंधय विगेरे तेना अर्थपर्यायो छे अने बाल ए व्यंजन पर्याय छे

पुरुषनी साथे बाल युवान वृद्धत्व विगेरे तेना पेटा भेदो कथंचित् भिन्नाभिन्नपणे रहेला छे बाल युवान वृद्धत्वनुं स्वरूप जुदु होवाथी ते पृथक् छे अने ते बधा पुरुष साथे संबद्धावेल होवाथी अभिन्न छे आ बधी भिन्नाऽभिन्ननी विचारणा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकना विषयरूप छे अने तेथीज एकज गणातो पदार्थ स्वपर्याय परपर्याय विगेरेने लई अनंत बने छे.

कोई पण परमाणु के जीव अखंड होवाथी व्यक्तिरूपे भले एक होय छतां व्यंजन पर्याय अने त्रणे काळना अर्थपर्याय अनंत होवाथी ते अनंतरूपे भासमान थाय छे आम विशेष्यभूत द्रव्य एक होवा छतां विशेषणभूत पर्यायोना भेदने लीधे जुदुं जुदुं मानवाथी पर्यायोनी जेटली संख्या तेटली संख्यावाळु द्रव्य बने छे

आम एकज पदार्थ अनंतधर्मोने लई अनंत बने छे आ पदार्थमां रहेल कोई पण एक धर्म अने तेना विरोधि धर्मनी अपेक्षाए प्रथम त्रण भङ्ग थाय छे, आ त्रण भंग पण एकनयनी अपेक्षाए थाय छे, अने ते ब धर्मना संयोगथी बीजा चार भङ्ग थाय छे, छेल्ला चार भंग ते नय त्रण नयना संयोगथी थाय छे प्रथम भंगमां जे धर्मनी मुख्यता होय ते धर्मनी सप्तभंगी कहेवाय छे, आ रीते नयनयोभया घटित सप्तभङ्गी बने छे.

आम नयवाद अने अनेकांतवादनी विचारधारा अनंत छतां सुयोग्य अने व्यवस्थित छे ते विचारणा साचुं वस्तुदर्शन मेळवनारी मानसने बहुश्रुत अने स्थिरबुद्धिक बनावे छे

अहि अतिगौरव भयथी अति विस्तार कर्यो नथी ?

(भद्रशिष्य)

अष्टम द्वारे

जो हेउवाय पक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ । सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंत विरा-हिओ (हओ) अन्नोत्ति । का० ३ गाथा ४५

मूलणिमेणं पज्जवणयस्स, उज्जुसुयवयणविच्छेदो । तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा, सुहुमभेया । का-१ गा-५ ॥ द्वारवारे

हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ । जइ तं तहा पुरिल्लो दाइंतो केण जिव्वन्तो ॥ का-३ गा. ५८

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य आचार्यश्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीतसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकायाः विषयानुक्रमणिका ॥

। प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ।

अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः

॥ इति प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

॥ अथ द्वितीयकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

। अथ तृतीयकारिकार्थानुक्रमणिका ।

। अथ चतुर्थगाथार्थाऽनुक्रमणिका ।

। अथ पञ्चमगाथाऽनुक्रमणिका ।

। अथ षष्ठगाथाऽर्थाऽनुक्रमणिका ।

। अथ सप्तमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

। अथाष्टमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

। अथ नवमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

अथ सम्मतितर्कद्वितीयकाण्डमहार्णवावतारिकाख्यटीकाविषयानुक्रमणिका

गाथाः विषयाः पृ० पं०

॥ इति द्वितीयकाण्डस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥
॥ अथ तृतीयकाण्डस्य साऽऽरभ्यते ॥

८ गुणस्य सर्वथा द्रव्याद्भिन्नत्वेऽन्वयव्यतिरेकयोर्गुरुत्वयोश्चाप्यविनाभूतत्वयोरसम्भवस्तत् उपपादितः । २८०—२

९ वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकं, तत्र द्रव्यमनुगतं, व्यावृत्ताश्च पर्यायाः क्रमभाविसह-भाविभेदेन द्विविधाः, तत्र क्रमभाविनः पर्याया इति सहभाविनो गुणा इति संज्ञेति निगमितम् । २८०—१०

१० उक्तार्थे महावीरस्तवस्य 'स्वद्रव्यपर्ययगुणानुगता हि तथा' इति श्लोकटीका-वचनसंवादो दर्शितः । २८०—१६

११ आत्मनि क्रमभाविपर्यायाः सुखादयः, सहभाविपर्याया ज्ञानादय इत्यत्र तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककारसंवादः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रसंवादश्च दर्शितः । २८०—१७

१२ गुणपर्याययोः कथञ्चिद्भेदमभिप्रेत्यैव "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" इति सूत्रसंगमना । २८०—२५

१ —१ द्रव्यं पर्यायाश्चेत्येव विभागो युक्तो न तु द्रव्यं गुणः पर्यायश्चेति, गुणस्य पर्यायाद् भिन्नत्वे तृतीयो गुणास्तिकनयोऽपि प्रभुक्तः स्यादिति प्रतिपादन-परतया दशमी गाथाऽवतारिता । २८०—३०

२ 'दो उण णया भगवया' इति गाथासटीकत्वमवतरणसमानार्थकम् । २८१—५

११—१ भगवता गुणार्थिकनयो न नियमितः किन्तु पर्यायार्थिक एवेत्यर्थकतया "जं च पुण अरिहया" इत्येकादशी गाथाऽवतारिता तथैव व्याख्याता च । २८१—१०

१२—१ "वण्णपज्जवेहिं" इति सूत्रे पर्यायशब्देन गुण एव किं नोक्तः स्यादित्याशङ्कासमाधानपरतया "परिगमणं पज्जाओ" इति गाथाऽवतारिता । २८१—१७

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैः परिच्छेद्यः पर्यायः, अनेकरूपतया वस्तुनो ज्ञाने गुण इत्येवं तुल्यार्थौ गुणपर्यायशब्दौ, तथापि भगवतः पर्यायार्थिकनयप्ररूपणेन देशनेति पर्यायशब्देनैवाभिधाने गुणपर्यायशब्दयोर्व्युत्पत्तिनिमित्तभेदेऽप्यस्ति प्रवृत्तिनिमित्तमेकमेवान्न पर्यायशब्दत्वमिति । २८१—२

१३—१ पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मवाचक एव गुणशब्दश्च सहभाविधर्मवाचक एवेति गुणार्थिकनयोऽप्यपर्यालोचनतोऽपरिहार्य एवेत्याशङ्कापरतया 'जंपंति अत्थि समये' इति त्रयोदशीगाथाऽवतारिता । २८२—१०

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र "एगगुणकालए दुगुणकालए" इति सिद्धान्ते गुणशब्द-प्रयोगाद् रूपादिपरिणामो गुणविशेष इति गुणार्थिकनयोऽपि विधेय इति पक्षः । २८२—१६

१४—१ तन्निराकरणपरतया 'गुणसद्दमंतरेणावि' इति चतुर्दशी गाथाऽवतारिता । २८२—२१

२ तत्र गुणत्वावच्छिन्नवाचकगुणशब्दमन्तरेणापि पर्यायविशेषसंख्यावाचकः सः, संख्यानशास्त्रधर्मो गुणः, तद्वाचको गुणशब्दः प्रयुक्तो, न तु गुणार्थिकनयाभिप्रायकः। २८२-२६

१५-१ उक्तार्थदृढीकरणार्थतयाऽवतारिता "जह दससु दसगुणम्मि य" इति पञ्चदशीगाथा। २८३-९

२ तत्र दशसु द्रव्येषु दशगुणिते एकस्मिन् द्रव्ये च गुणशब्दाधिक्येऽपि दशत्वं तुल्यं यथा, तथा प्रकृतेऽपि, "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" इति तत्त्वार्थसूत्रे सहभाविधर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहारात्पर्यायशब्दस्य क्रमभाविपर्यायार्थकस्यापि गोबलीवर्दन्यायेन भेदप्रतिपादकत्वं न दोषावहमिति न गुणाधिक्यम्। २८३-११

३ गुणपर्याययोर्भेदः काल्पनिकः, स वास्तवतदभेदाविरोधी, कल्पनाबीजं तु व्युत्पत्तिविशेषाधानम्, अत एव "गुणाणमासओ दव्वं" इत्युत्तराध्ययनवचनं "दव्वनामे गुणनामे पज्जवणामे" इत्याद्यनुयोगद्वारवचनं च सङ्गतमिति। २८३-२०

४ नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं इत्यादि भगवतीवचनं गुणार्थिकनयप्रतिपादकमित्याशङ्का व्यपाकृता। २८३-२६

१६-१ द्रव्यपर्याययोरेकान्ताभेदवादिमतोपदर्शकतया "एयंतपक्खवाओ" इति षोडशी गाथाऽवतारिता। २८४—३

२ तद्विवरणम्, तत्र द्रव्याद्येकान्तभेदवादः पूर्वमेव यद्यपि निरस्तः, तथापि द्रव्यैकान्ताभेदवाददार्ढ्यार्थं उदाहरणमात्रमुपदर्श्यत इति। २८४—७

१७-१ "पिउ-पुत्त-णत्तु-भाणिज्ज" इति सप्तदशी गाथाऽवतारिता, तत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं गुणकर्मादिकं नास्ति, यथा पितृपुत्रादयो न पुंसो भिन्नाः, पितृत्वादिकं पुरुषवृत्त्यपि तदभिन्नं तथा द्रव्यवृत्तयो रूपादयो गुणाः कर्मापि च द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वाद् द्रव्यमेव। २८४-१२

१८-१ 'जह संबंधविसिट्ठो' इत्यष्टादशगाथाऽवतरणम्, तत्र अतिरिक्तगुणाभावेऽपि चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धतश्चाक्षुषादिप्रत्यक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेनैकस्मिन् द्रव्ये रूपरसादिव्यपदेशगोचरत्वं, एकस्यानेकसंज्ञाकरणमात्रेण नानात्वं न, एकस्यापि गीर्वाणनाथस्य शक्रेन्द्रादिशब्दैर्व्यवह्रियमाणत्वेन नानात्वप्रसङ्गादिति। २८५— १

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यथा स पुरुषः पुरुषत्वेनाभिन्नोऽपि पितृपुत्रादिसम्बन्धं निमित्तीकृत्य पुत्रपित्रादिव्यपदेशं प्राप्नोति तथा द्रव्यमिन्द्रियगतं रूपादिविशेषणं लभते, एतद्भावार्थ आवेदितः, शङ्कान्तरं व्युदस्तम्। २८५-९

१९-१ एकान्तद्रव्याद्वैतवादाप्रामाण्यज्ञापनाय स्याद्वादसिद्धान्तवाद्युक्तिरूपतया "होज्जाहि दुगुणमहुरं" इत्येकोनविंशतितमगाथाऽवतारिता। २८५-२२

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र कुम्भो जीवद्रव्यं न, जीवोऽपि कुम्भद्रव्यं न भवति, तस्माद्द्रव्यद्रव्यं परस्पराधाराधारकौ मतस्त इत्यर्थो गाथायाम दर्शितः । १०१–९

३ अजीवो जीवापेक्षया नाजीव इत्युपगमे नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थगमकत्वेनाजीवस्य जीवत्वं प्रसक्तमित्याशङ्काया निराकरणम् । १०१–११

४ अनेकान्तस्य कात्स्न्येनैकान्तत्वेन वस्तुमतसद्धर्मात्मापक्षत्वमाशङ्क्य परिहृतम् । १ १–२

३२–१ 'उप्पाओ दुवियप्पो' इति द्वात्रिंशत्तमगाथाया अवतरणद्वयं, तत्र भगवता द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावयवस्य प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यपुर्कं जगदाभ्याख्यि त्रिपद्या तत्रोत्पादः किमेकविध एव उत प्रकारान्तरमोऽप्यस्याशङ्कासमाधानायेयमिति प्रथमावतरणम् । १ १–२३

२ उत्पादव्ययौ विभिन्नप्रतीतिसाक्षिका आधारत्वादिवदतिरिक्ता एव, न त्वापद्यम सम्बन्धादिरूपाः, धर्मेऽभावात्, उत्पादादीनां घटत्वादिना प्रतियोगित्वं मुक्त्वा विना वानुयोगित्वं, द्रव्ये तु पर्यायोपहितत्वेन प्रतियोगित्वमित्यादिकं व्यवस्थाप्योक्तयुक्तिसिद्धातिरिक्तोत्पादः किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तरकोऽप्यस्तीत्याशङ्कासमाधानायेयमिति द्वितीयावतरणम् । २ १–२९

३ उक्तगाथाविवरणं, प्रायोगिकवैस्रसिकभेदेनोत्पादस्य द्वैविध्यम्, तयोर्लक्षणम्, तत्राद्यो मूर्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयवादोऽपरिशुद्धः, तल्लक्षणं दर्शितं, उत्पादस्य प्रयोगजन्यत्वसिद्धिश्च कृता । १ २–२४

३३–१ द्वितीयमेवरूपविस्रसाजनितोत्पादस्य द्वैविध्यप्रतिपादकतया 'साभाविओवि समुदयकओव्व' इति त्रयस्त्रिंशत्तमा गाथाऽवतारिता । २ ३–११

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र वैस्रसिक उत्पादः समुदयकृतः ऐकत्विकश्चेति द्विविधः, तत्र समुदयजनितत्वं मूर्त्यवयवनियतत्वं, आद्योऽभ्रघनद्युरादीनामुत्पादो घटादीनामप्रयत्नोत्पादम, स्वाभाविकस्योत्पादे हेत्वनपेक्षणामपि प्रायोगिकोत्पादे हेत्वपेक्षाध्रौव्यादभावादिप्रसङ्गवार्ता प्रवृत्तिरूपणा, प्राधान्येनोक्तद्वैविध्यव्यवस्थितेः कालादिहेतुपञ्चकसामग्र्या कार्यनियतत्वं प्रौव्यविषयाऽसत्त्वमेव । २ ३–१६

३ विस्रसापरिणामिनो वस्तुनः स्वभावत एव विनाशशीलत्वमित्योत्पादशीलत्वमपि, घटादेर्निनाश्योरिव स्थितेरपि स्वाभाविकत्वमिति तस्य कारणान्तराऽनपेक्षत्वेन स्वाभाविकप्रयुक्तत्पादादित्रयमिति । ३०३–२९

४ आकाशादीनां त्रयाणां परप्रत्यय ऐकत्विक उत्पादोऽनियमेन, अत्रापि स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विक इत्यनेकान्तः, अस्य भावो दर्शितः । २ ४—२

५१-१ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुभयवादस्वीकारस्यार्थतया 'ते उ भयणोवणीया' इत्येक पञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३५०-१९

२ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ भजनोपनीतौ सम्यग्दर्शनमनुत्तरं भवतः, यदा त्वन्योन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ भवतस्तदा न सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते, यस्मात् भवदुःखविमोक्षं प्रत्येकं द्वावपि न पूरयत इत्युपपाद्य दर्शितम् । ३५०-१९

३ कारणात्कार्यं कथञ्चिद् भिन्नमभिन्नं कथञ्चित्तथाऽनयोरुभयरूपमिति दर्शितम्।३५१-१०

५२-१ उक्तार्थोपमदर्शनतया 'नत्थि पुढवीविसिट्ठो' इति द्विपञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३५१-१२

२ उक्तगाथाविवरणम्, यस्मात्कारणीभूताया मृत्तिकाया भिन्नः कार्यभूतो घटो नास्ति तस्माद्धेतोर्घुम्यतेऽनन्य., तत्र हेतुरुपपादितः, पृथुबुध्नोदराद्याकारस्तासम्बन्धव्यक्तिस्वरूपेण पूर्वं घटो नासीत्, तस्मात्कारणीभूतमृदात्मकरूपतोऽन्यो घट इत्युपपादितम्, भावार्थश्च दर्शितः । ३५१-१५

५३-१ सदाद्येकान्तवादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमपेक्षयोपदर्शनतया 'कालो सहाव णियई' इति गाथाऽवतारिता । ३५२-११

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र कार्यमात्रम्प्रत्यसाधारणकारणं काल एवेति कालवादिमतम्, स्वभाव एवेति स्वभाववादिमतं, नियतिरेवेति नियतिवादिमतं, पूर्वकृत मेवेति पूर्वकृतकर्मवादिमतं प्रधानस्य पुरुष एवेति पुरुषवादिमतमेकान्तात्मकं स्वस्वागमप्रसिद्धमेकान्तपूर्वकं प्रकटितम् । ३५२-१४

३ उक्तवचनैकान्तवादानां मिथ्यात्वं प्रकटितम्, एकैकमात्रस्य कारणत्वकथनेन।३५२-१९

४ समुदितानां कालस्वभावादीनां कारणत्वाभ्युपगमस्य सम्यक्त्वं, तत्रापि विवक्षितो हेतुः प्रधानीभूतोऽन्ये गुणीभूता इत्यादि प्रदर्शितम् । ३५३-१

५४-१ नास्त्येवात्मेत्यादयः षडेकान्तवादाश्चार्वाकादिभिः प्रकल्पिता मिथ्यात्वाः, त एव स्यात्पदाश्रिताः सम्यक्त्वा इति प्रतिपादनार्थतया 'नत्थि ण णिच्चो' इति चतुःपञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३५३-१६

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र यथाऽऽद्येभ्यो मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिरुत्पद्यते तथा भूतेभ्यः कायाकार आत्मोत्पद्यते, न तु तदव्यतिरिक्त आत्मा समस्तीति नास्त्यात्मेति चार्वाकमतम् । ३५३-२१

३ 'सुम्मी भवेयमिति' 'आत्मनि सति परलोकेति' पदाभ्यां नित्यात्माभ्युपगमस्य दृष्टं कर्म कर्तारं कल्पयितुं, क्षणिकात्मवादिनस्तु नैवमिति नैरात्म्यदर्शने मोक्षसाधनमिति न नित्य आत्मेति क्षणिकवादिबौद्धमतम् । ३५३-२८

रूपमनानारूपग्राह्यग्राह्यत्वमिति शुक्लाद्येकावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे शुक्ला-
पेक्षयस्यैकप्रदाद्युपलम्भप्रसङ्गाभावात् तत्र चित्रत्वमव्याप्यमिति । १७८-१४

९ एतस्मै चित्ररूपमतिरिक्तं नास्ति, किन्तु व्यासज्यवृत्तिचित्रत्वजातिमत्पता चित्ररूपव्यवहार इति । १७९-७

१० यत्रावयविनि नानाशुक्लादिरूपाण्यनुभूयन्ते तत्रैकं चित्ररूपमप्युपभूयत इति तत्प्य-भ्युपेयमित्येकानेकचित्ररूपसद्भावः तत्र शुक्लादिरूपसमावेशो देशनियतधर्मः, चित्ररूपसमावेशस्तु अनियतधर्मः, विभिन्नसामग्रीतस्तदुभयप्रदः इत्युपगमे सर्वं चतुरस्रम् । १७९-८

११ अनयैव दिशा ह्रस्वत्वादिभिन्नेऽप्यवयविन्यनेकपरिमाणवत्त्वमुपपादितम् । १७९-१९

१२ चित्ररूपमेव स्वसामग्रीप्रभवं, तत एव चित्रतदितररूपोभयपन्नमाणत्वस्य, न त्वेकान्तनैयायिकपरिकल्पितकार्यकारणभावादिकं युक्तमित्यादि विचारितम् । १७९-२१

१३ अर्थसमावेशित्वेनैकानेकस्वभावचित्ररूपस्य न कस्यचित्कार्यतावच्छेदकमिति नैयायिकाद्याशङ्का । १८०-१

१४ चित्रावयविनि नैकं चित्ररूपं किन्त्वव्याप्यवृत्तिनानारूपाणीति नव्यनैयायिकमतं युक्त्या व्युदस्यैकानेकस्वरूपचित्ररूपाभ्युपगमः स्याद्वादिना प्रामाणिक इति दर्शितम् । १८०-१५

१५ नव्यनैयायिकाभ्युपगतस्याव्याप्यवृत्तिनानारूपस्य खण्डनमतिदिष्टं, स्याद्वादियुक्तिनिकरो दर्शितः । १८०-२

१६ चित्रावयविनि व्याप्यवृत्त्येव नानारूपाणीति मतस्य खण्डनमतिदिष्टम्, तत्र "भामपव्यापित्वेऽप्येकावयवघटिते" इत्यादि सम्मतिटीकावचनसंवादः । १८१-२२

१७ रूपान्तरसंयुक्ताव्योकत्वं व्युदस्तम् । १८१-२७

१८ यथैकानेकतया रूपस्य चित्रत्वं तथा वस्तुमात्रेऽपि, यथा ग्रामे तथा ग्रामके ग्रामेऽप्येकानेकस्वभावत्वं, तथास्थापि एकाकारतायाः ससन्तानाम बहीनां विषयतानामनुभवात्, नैयायिकैरप्येतन्निराकरणं कर्तुमशक्यम्, अत्र "चित्रमेकमनेकं च" इति व्याख्यावचनसंवादः । १८२-९

११-१ अनिपुणाः पुनः प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितार्थकस्याप्यागमस्यान्धपरम्परान्यायेन प्रामाण्यमामनन्तोऽन्यागमावधारणस्पर्धाः एवैतस्मैतत्रानर्थाय 'पाडेक्कनयपहमयं' इत्येकपक्षिगाथाव्याख्यातिः । १८२-२१

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र एकैकमनुद्भावितनयमयमस्य—वेदान्त—मीमांसा—वैशेषिक—नैयायिक—चार्वाक—बौद्धदर्शनसाम्यमपीत्य प्रत्यक्ष वयमिति धर्ममात्रस्तुत

५ न सुनयमेवेयेत्यनभाय व्याख्यातम्, सप्तमात्रेणाशक्तितायमनिश्चिपितेति । १८५-२८

६ "अत्यगई" इत्यादुत्तरार्धपमनतार्यं व्याख्यातं, नयवादस्य मनउीनेत्यस्योसपत्वे 'नत्थि नएण विहूणं' इत्याद्युचितमद्दृतनम् । १८६—७

१५-१ अधीतपत्रेणायमभ्यादन निपुणा पिच्छरो यत्नो विषयः, अन्यथा शासनमाहित्म्यकारितं स्यादित्याशयतया "तम्हा अहिगयसुत्तेण" इति पश्चाश्चिमगाथाऽवतारिता ।१८६-११

२ तद्विवरणे तत्र प्रमादर्यो वर्णीयानिति हेतोः अधिगमसूत्रम् अर्थविषयकप्रमा णतयमयस्वरूपानधारणं रयत्नेन भाव्यं यस्मादाचार्यधीरस्मा भासनामनं विडम्बयन्तीति भावनामित्यर्थो व्यक्तीकृतः । १८६-१०

१६-१ अनिश्चितशास्त्रार्थस्य बहुश्रुतत्वादिदर्शनं् बहुतात्पर्यानतवोधाय सिद्धान्त- प्रत्यनीकत्वमित्यर्थकतया "जह जह बहुस्सुओ" इति षट्पष्ठितमगाथाऽवतारिता । १८६-३०

२ तद्विवरणम्, तत्र श्रुतपक्षप्राहितया यथा यथा बहुश्रुतत्वमत्याभिमान् मन्दमतिप्रमुखीनां शास्त्रज्ञत्वेन सम्मतः शासनस्यानभिज्ञैर्विनेयवृन्दैः परिवृतश्च समयेऽविनिश्चितार्थः अविनिश्चितागमैरप्ययम तथा तथा सिद्धान्तविघातको भवतीति । १८७—२

३ अत्र "सम्मद्दिट्ठि पणीयं" इति मिथ्यात्वगाथाद्वयं तदर्थश्च सतात्पर्य उपदर्शितः । १८७-१२

१७-१ "चरणकरणप्पहाणा" इति पञ्चिमगाथया अवतरणद्वयम्, शास्त्रमधीत्य तदर्थोऽवधारणीय, अवधृतस्यार्थस्य ममाननपामिप्रायतः परिभावनीयत्वमिति, व्याख्यान एव भवनमात्र एतस्मिन्नभिप्रायात् चरणकरणानुष्ठानस्य निश्चयशुद्धः सारोऽभिमतः स्यादिति च क्रमेण दर्शितम् । १८७-२२

२ तद्विवरणं तत्र चरणं 'वयसमणधम्म' इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, 'पिण्ड विसोही समिई' इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, तदुभयानुष्ठानपराश्चैकलीनाः स्वसमयपरसमयवक्तव्यापाराः चरणकरणस्य सारं निश्चयशुद्धं न जानन्ती- त्येकोऽर्थः दर्शितो दर्शितः । १८८—२

३ उक्तगाथानिर्गतार्थः, स्वसमयपक्षे परसमयपक्षे च हेतुप्रदर्शनेन अयं स्वसमयः अयञ्च परसमय इत्येवस्मिन् यद्विज्ञाने शून्यव्यापारा इत्यस्यार्थ उक्तः । १८८-११

४ चरणकरणयोस्सारं निश्चयशुद्धं न जानन्तीत्यस्यार्थोऽप्युपदर्शितोपपादितः । १८८-१९

५ 'सम्मत्तं तमेव सच्चं' इत्यागमात् यदर्हद्भिरुक्तं तदेव सत्यमित्येवार्थोऽत्र सम्य ग्दर्शनमहत्त्वाय इत्याशङ्का परिहृतम् । १८८-२५

६ अत्रागमविरोधाशङ्केत्याख्यायाशङ्का तत्र य यथोदितचरणकरणमभ्यासेन द्वारेण प्रधानाचार्याभिमतस्वसमयपरसमयवक्तव्यापारा न भवन्ति ते चरणकरण- सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येवेत्यर्थः, तत्र "तं सव्वनयविसुद्धं" इत्यादिना प्रमाणम् । १८८-२९

॥ इति श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

॥ श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकान्तर्गतसाक्षिभूतग्रन्थनामावलिः ॥

सम्मति॰महा॰पत्राङ्कानि

सम्मति॰महा॰पत्राङ्कानि

॥ आचाराङ्गसूत्रादिटीकान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

आचाराङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२१	८० प्र
१	१२	८५ द्वि
३	४५	१४७ प्र
१	३१	१७१ द्वि

सूत्रकृताङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२१-२२-२३-२४-२५	२११
३	५३	२११

स्थानाङ्गटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६६	२५० प्र
३	४७	३९० द्वि
३	४९	३९१ प्र

व्याख्याप्रज्ञप्तिटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	३७	१८ द्वि

दशवैकालिकटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	५२	३२ द्वि
१	१८	४० प्र

उत्तराध्ययनबृहद्वृत्तिः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३-६	२१ प्र
३	४७	६७

अनुयोगद्वारटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	२४७

विशेषावश्यकभाष्यम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ	
३	५२	२१०४	८६४
३	४९	२१९५	८९९

विशेषावश्यकबृहद्वृत्तिः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	५२	३३
१	४७	३३
१	३	१३४६

विशेषावश्यक-कोट्याचार्यवृत्तिः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४७	२४
३	५२	२४
१	३	९७६

॥ श्वेताम्बरपूर्वाचार्यकृतग्रन्थान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

द्वादशारनयचक्रम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३१	३
३	४७	७
१	२८	३९
३	६९	९५
१	४	१३४
१	३	३०४

प्रमाणमीमांसा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४९	१५-प्र. पृ. १अ. ३१ सू

(सभापान्तर) स्याद्वादमञ्जरी

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	३१०

अष्टाविंशतिश्लोकटीकायां

काण्ड	पृष्ठ	गाथा	
तत्त्वार्थभाष्यबृहद्वृत्ति (पत्राकार)			
१	२१ २८	१-अ ६३	पत्र पृ ३५-अ
पञ्चवस्तु			गाथा
३	४५	१५०	९९३
३	५३	१५७	१०४९
३	६६	१४३	९४७
उपदेशपदम्			
३	५३	१४० प्र पृ	
३	४५	३७२ प्र पृ.	
द्रव्यानुयोगतर्कणा			
काण्ड	गाथा	पृष्ठ	
१	३२	४६	
१	३२	७२६	

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	४१	५५
१	४०	११८
२	३५ ३६	१४९
३	१ ११ १३ १४ १५	२३
३	१२	२१
३	३२	१५४
२	३३	१५५
३	३३	१५८
२	३४	१६१
२	३८ ३९	१५७
३	३९	२३१
३	४१	१५३
३	४९	६३
३	६७	२

॥न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायग्रन्थगतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचि॥

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
अनेकान्तव्यवस्था		
१	४	१० द्वि
१	५	५४ प्र
१	८	१८ प्र.
१	९ १० ११	७८ द्वि
११	२ थी १६-२१	२९ प्र
१	२२-२३	२९ द्वि
१	२४-२५-२६	३ प्र
१	२७-२८	३० द्वि
१	३५	२६ द्वि
१	३६	६९ प्र
१	३७	७० प्र
१	३८	७० द्वि
१	३९	७१ प्र
१	४	७१ द्वि
१	४१	५७द्वि ७२ प्र
१	५३-५४	६५ द्वि
३	५३	७४द्वि
३	७-८	७५ प्र
३	९ १ ११	७५ द्वि
३	१२	७६प्र. ८० द्वि
३	१३ १४	७६ प्र
३	१५	७६ द्वि
३	१७-१८	८१ प्र
३	१९ १ -२१	८२ द्वि

॥न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायमन्यगतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचि ॥

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६७	६२
३	२८	६२

ग्रन्थचतुष्टयान्तर्गतोऽस्पृशद्गतिवादः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४४-४५	३५ प्र

२९२ पत्रमुद्रित धर्मपरीक्षा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३	९९
१	२८	२८
३	२७	२६२
१	४७	९५
३	४८-४९	९९

उपदेशरहस्यम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	५४	४० द्वि
३	२७	४१ द्वि
३	४५	६१ प्र
३	६६	६१ द्वि
३	६७	४३ प्र

अध्यात्ममतपरीक्षा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४९	३६ प्र

तत्त्वार्थविवरणाऽऽद्याध्यायः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
२	३२-३३	१७ प्र
१	२१	२९ द्वि
१	२८	३० प्र

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३७	५३ प्र
१	३	६९ प्र
१	९	७१ प्र
१	८	७५ प्र
३	२५	८३ प्र

द्रव्यगुणपर्यायरासः

काण्ड	सं० गाथा	ढाल	गाथा
३	६७	१	२
३	१०थी१५	२	११-१२
१	३२	४	५
१	४१	४	१३
३	६७	४	१४
३	४९	५	६
३	३७	९	१२
२	३५-३६	९	१४
३	४१	९	१८
३	३२	९	१९
३	३३	९	२०-२३
३	३८-३९	९	२१
३	३४	९	२६
१	४७	१३	१०
१	३२	१४	६
३	३९	१४	१६

॥ दिगंबराचार्यकृतग्रन्थसाक्षिभूत-सम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

कसायपाहुड–जयधवलाटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३-५	२१८
१	४	२२०

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	२४५
१	११-१२-१३	२४८
१	१७ थी [illegible]	२४९

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६	१९ द्वि
१	२५ २८	१५ ९६ द्वि
३	३७	४३ द्वि
३	४७	८९ प्र
३	५३	९२ द्वि

अष्टसहस्री

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३५	५४ प्र
१	३६	२ ८ द्वि
१	३७	२१ द्वि
१	३८ ३९-४	२११ प्र
१	४१	२११ द्वि
१	४७	९३ प्र
२	३२	४ प्र
३	३५	९१ द्वि
३	५	१९५ द्वि
३	२८	३०९ प्र
३	३९	१६८ प्र
३	४१	१११ प्र
३	४३ ४४	३ ८ द्वि
३	४५	३ ९ द्वि

॥ महावीरस्तवकल्पलतिकासमलङ्कृत-महावीरस्तवमूलगतसम्मतिगाथा ॥

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	८ २८	२६६ ३१६ प्र
३	६	३२५ द्वि
१	२५ २९	३१९ १३२ प्र
३	३५	४१९ द्वि

ज्ञानार्णवसमन्वितज्ञानबिन्दुपत्राङ्कानि

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	८ ३५	१०६ द्वि
२	३—४	१०८ द्वि
२	५	१ ९ द्वि
२	६थी ९	१११ प्र
२	१० ११	१११ द्वि
२	१२	११२ प्र
२	१३ १४	११२ द्वि
२	१५	११३ प्र
२	१६ १७	११३ द्वि
२	१८-१९-२०	११४ प्र
२	२१-२२	११४ द्वि
२	२३-२४	११५ प्र
२	२५ २६	११५ द्वि
२	२७थी ३०	११६प्र
२	३१	११७प्र
२	३२ ३३	११७ द्वि

गुरुतत्त्वविनिश्चयः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२८	१२ द्वि
३	२७	१७ द्वि
३	५४	१८ प्र
३	६६	७२ द्वि

प्रतिमाशतकम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	५	२९३

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६७	६२
३	६८	६२

ग्रन्थचतुष्टयान्तर्गतोऽस्पृशद्गतिनादः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४४-४५	३५ प्र

२९२ पत्रमुद्रित धर्मपरीक्षा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३	९९
१	२८	२८
३	२७	२६२
१	४७	९५
३	४८-४९	९९

उपदेशरहस्यम्

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	५४	४० द्वि
३	२७	४१ द्वि
३	४५	६१ प्र
३	६६	६१ द्वि
३	६७	४३ प्र

अध्यात्ममतपरीक्षा

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४९	३६ प्र

तत्त्वार्थविवरणाऽऽद्याध्यायः

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
२	३२-३३	१७ प्र
१	२१	२९ द्वि
१	२८	३० प्र

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३७	५३ प्र
१	३	६९ प्र
१	९	७१ प्र
१	८	७५ प्र
३	२५	८३ प्र

द्रव्यगुणपर्यायरासः

काण्ड	सं०गाथा	ढाल	गाथा
३	६७	१	२
३	१०थी१५	२	११-१२
१	३२	४	५
१	४१	४	१३
३	६७	४	१४
३	४९	५	६
३	३७	९	१२
२	३५-३६	९	१४
३	४१	९	१८
३	३२	९	१९
३	३३	९	२०-२१
३	३८-३९	९	२१
३	३४	९	२६
१	४७	१३	१०
१	३२	१४	६
३	३९	१४	१६

॥ दिगवराचार्यकृतग्रन्थसाक्षिभूत-सम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

कसायपाहुड–जयधवलाटीका

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३-५	२१८
१	४	२२०

काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	४७	२४५
१	११-१२-१३	२४८
१	१७ थी २१	२४९

સર્વતંત્રસ્વતંત્ર-શાસનસમ્રાટ્-સૂરિચક્રચક્રવર્તિ તપાગચ્છાધિપતિ જગદ્ગુરુ-મહાનાચાર્ય
શ્રીમાન્ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ સાહેબશ્રીજી



જન્મ—સંવત્ ૧૯૨૯ કાર્તિક શુદ ૧ શનિવાર મહુવા (મધુમતી) દીક્ષા સં. ૧૯૪૫ જેઠ શુદ ૭ ભાવનગર
ગણિપદ—સં. ૧૯ કાર્તિક વદ ૬ પંન્યાસપદ માગશર શુદ ૩ વળા (વલ્લભીપુર)
આચાર્યપદ—સં. ૧૯૬૪ જેઠ શુદ ૫ ભાવનગર
સ્વર્ગવાસ—સં. ૨ ૫ આસો વદ)) દીવાળી મહુવા

॥ श्रीगुर्वष्टकम् ॥

विशेषाधारत्वात्त्वमसि पुरुषेषूत्तम इतो,
महिम्नः सामान्यं तव तु समवेता अपि सुराः ।
गुणाधारो द्रव्यात् पृथगपि सुकर्माऽस्यऽभवनः
नमामस्त्वां देवालयमपि गत मद्धृद्दयगम् ॥ १ ॥

गुरुस्त्वत्तो भीतो गुरुवर ! गतो देवसदनं,
गतं त्वां तत्रापि मथितमवलोक्यातिचकितः ।
स्वयं शिष्यो भूत्वा किमु तव कविं भीपयति यत्,
ननु त्वां काव्योपि श्रयति नमनं तेऽस्तु चरणे ॥ २ ॥

हरस्त्वं शिष्याणा हरसि हृदयध्वान्तमनिशं,
विरञ्च्युक्तिं किन्ते वचनमतिशेते न गहनम् ।
सुकल्पव्यासैव प्रभवति तदीया कृतिरियं,
परा कल्पातीता गुरुवर नमस्तेऽस्तु सततम् ॥ ३ ॥

गणेशास्ते शिष्या वदनमपि भारत्यधिगता,
नयग्रामोऽणौ ते मनसि रमतेऽनेकपथगः ।
प्रमाणस्वातन्त्र्यं तव मतिगतं भाति विमलम्,
नमामस्त्वां नित्यं गुरुवरमभीष्टालिफलितम् ॥ ४ ॥

गुणौधैर्व्यासे ते हृदि परिमिते कीर्तिरमिता,
गताऽब्धीनां पारं तदनुगमनास्तेऽपि च गुणाः ।
प्रतापस्तैः सर्वैर्जगदपि परिव्याप्य च गतो,
गुरो चित्रं तैस्त्वां भृतमपि नमस्यामि चकित' ॥ ५ ॥

गुणान् वक्तुं शक्तस्स तव सुगुरो यः श्रुतधरः,
यतः कालोऽनन्तो जिनवचनगीश्चारु भजना ।
अमेयोऽवाच्यो वा गुणगणगतस्ते यदि गुणो,
विशिष्याऽनाख्येयो गुणिगुणनमस्योऽसि च तदा ॥ ६ ॥

त्वमेव त्वां स्तोतुं गुरुवर समर्थोऽसि नितरां,
गुणग्रामो यत्ते न च परपरिच्छेद्य इयता ।
न सादृश्यं पूर्णं त्वयि जगति कस्यापि कृतिनो,
नमामस्त्वां पूर्णामृतसुखमयं पूर्णमवरम् ॥ ७ ॥

न सूरीणां स्वर्णोऽविषयघटना काऽपि विमुखा,
सती त्वां व्याप्नन्ती भगति सबला मुक्तिसुभगा ।
वरेण्या वाणी ते निखिलभवगा मानमथिता,
हितार्थी सैवैका स्तुतिरपि गुरो ते परिणता ॥ ८ ॥
इदं स्तोत्रं पूर्वस्कमहितकर्मादिकधरं,
पठेत्प्रातः सायं त्रिकरणपटुर्यो नियमतः ।
सरस्वत्या वासः स भवति सभायां सुमहितो,
न तस्याग्रे कोऽपि प्रभवति विपश्चिद्विवदितुम् ॥ १ ॥
शुचिर्भित्वं स्वच्छं हृदयभवने स्थाप्य च गुरोः,
पठेद्धीमान् भक्त्या सुसमयमभिव्याप्य परितः ।
इदं स्तोत्रं तस्यानधिगतिविहीनार्थप्रचुरा,
नयग्रामाख्येव प्रसरति सदा गीर्मितिचिता ॥ २ ॥

॥ इति गुर्वष्टकम् ॥

॥ श्रीगुर्वष्टकटिप्पणी ॥

विशेषाधारत्वादिति, विः पक्षी पक्षिवाचीयो गरुडः । शेष सहस्रफणः शेषनागः । तौ विशेषौ वाहनतया शय्यात्वेन तया आधारौ यस्य विष्णोः स विशेषाधारः तस्य भावो विशेषाधारत्वं, तस्मात् । पुरुषेषु आत्मसु मध्ये उत्तमः उत्कृष्टो यथा विष्णुः पुरुषोत्तम इति गीयते तथा हे गुरो ! त्वं विशेषाणां सर्वतन्त्रस्वतन्त्रत्वप्राचीनजैनतीर्थोद्धारकर्तृत्वादीनामनन्यपुरुषव्याप्तत्वानामाधारत्वात्पुरुषेष्वात्मसु मध्ये उत्तम उत्कृष्टोऽसि । ननु विष्णुरुपेन्द्रत्वात्सुरोऽयं तु मनुष्य इति कथं पुरुषोत्तम स्यादित्याशङ्कायामाह—इतो मतिभिः भव्यप्राणोऽनुभूयमानायत्ततोऽ पूजितमविद्यादिकार्यैकत्वनवाचस्यन्माहात्म्यात् त्रिभुवनव्यापिनः । समवेताः तत्त्वलोकमभिव्याप्य स्थिताः । सुरा देवाः, अपि, किमुत उपेन्द्रास्य एक्यो देवः सर्वे देवाः । लोके मनुष्यादिपञ्चगतिषु देवगतेः प्राधान्यम् । देवा अपि सामान्यं साधारणं भवत्पेक्षयाऽन्यगुणयोगि, तदाम्येषां कथैव केऽस्यपिना योऽस्यपठे । तथा च पुरुषोत्तमाद्विष्णोरपि सुरात्त्वमुत्तम इति । अन्योऽपि विशेषस्त्वयि समस्तीत्याह—गुणाधारो द्रव्यात्मकापि, द्रव्याल्लक्ष्मीस्तस्मात् पृथगपि विभिन्नोऽपि तस्याभित्वादिरहितोऽपि । गुणाधारः आत्मगुणानां सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणां भेदसहित्यमेत्रस्वत्वाऽपिष्यग्भावसमन्वयेनाभयस्त्वमसि, विष्णुस्तु लक्ष्मीस्वामी भूत्वा तत्सक एव मायिकगुणस्य सत्वास्यस्याधारो न तु मोक्षमार्गस्य । तथा शुकर्मा द्रव्यात्त्रिभोऽपि त्वं योमननिरुत्त्वकर्मभाक्षी, असि, विष्णुस्तु नैवं योमनकर्मभाक्षी किन्तु

रक्षःप्रभृतिशत्रुहननाद्यशुभकर्मवानेव। तथा अभवनः, भवनं गृहं न विद्यते यस्य सोऽभवनः अनागारः त्वमसि, विष्णुस्तु लोकविशेषवैकुण्ठादिनिवासी गृहवानेव, अतः सर्वथा विष्णोरुत्कृष्टस्त्वमसि। नियतगृहनिवासित्वाभावात्सर्वगतज्ञानाविष्वग्भूतत्वेन सर्वगतं त्वां सुरालयगतमपि देवालयगतमपि। मद्धृदयगंमद्धृदयस्थितं, नमामः प्रणमामः।

ननु व्यापकत्वेन भवद्धृदयगतत्वं न भवत्कर्तृकप्रणतिकर्मत्वप्रयोजकं, तथा सति पुरुषान्तराणामपि सर्वज्ञानां तत्त्वं स्यादिति चेत्, सत्यम्, अत एव स्वऽभ्यस्तवैशेषिकदर्शनगतसप्तपदार्थाध्यापनकर्तृगुरोरुपदिष्टपदार्थस्मृतिविषयतया मद्धृदयगतत्वं परमोपकारित्वेन प्रणतिप्रयोजकमित्यभिप्रायेण विशेषाधारत्वादित्यत्र विशेषपदार्थस्य सामान्यमिति सामान्यपदार्थस्य समवेता अपीत्येतद्घटकतया समवायपदार्थस्य गुणाधार इति गुणपदार्थस्य द्रव्यादिति द्रव्यपदार्थस्य सुकर्मेति, कर्मपदार्थस्याभवन इत्यभावपदार्थस्य च सन्निवेशनेन तादृशसप्तपदार्थनिरूपणात्मकं वैशेषिकदर्शनं प्रथमस्तुतिपद्ये प्रकटितम्। एतत्सन्निवेशस्य स्तुतावित्थमुपयोगः। अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्त्तित इति वचनात्स्वतो व्यावृत्ता नित्यद्रव्याणां व्यावर्त्तकत्वान्नित्यद्रव्यवृत्तयो यावन्ति नित्यद्रव्याणि तावत्सङ्ख्यका विशेषाः, इति विशेषाधारत्वात् हे गुरो! यदि त्वं पुरुषोत्तमः तदाऽन्येऽपि जीवाः पुरुषोत्तमाः स्युः। इतो महिम्नः एतादृशसादृश्यलक्षणमहत्त्वात्सामान्येन सममनुयोगित्वप्रतियोगित्वाऽन्यतरसम्बन्धेन समवायवत्त्वलक्षणसमवेतत्त्वधर्मेण सादृश्यात्सुरा देवा अपि समवेताः सामान्यं स्युः। यथा सुरास्तावन्मात्रेण सामान्यं न, तथा भवानपि विशेषाधारत्वतोऽन्यनित्यद्रव्यसाधारणान्न भवितुमर्हति पुरुषोत्तमः। गुणा रूपरसादयश्चतुर्विंशतिविधा द्रव्येष्वेव वर्तन्त इति तदाधारस्त्वं कथं द्रव्यात्पृथक्, द्रव्यभिन्नस्य गुणाधारत्वासम्भवात्। एवं कर्माऽपि पञ्चविधं मूर्त्तद्रव्येष्वेव वर्तत इति सुकर्मा त्वं कथं द्रव्यात्पृथक्, भवनं भावोऽभवनोऽभावः, सोऽपि भावरूपस्त्वं कथमित्येवं विरोधोऽत्रभासत इति विरोधभासकतया वैशेषिकदर्शनमुपयुज्यते, तत्परिहारस्तु पूर्वमर्थभेदाश्रयणात्कृत इति विरोधाभासश्चमत्कृतिमादधातीति ॥ १ ॥

सुराचार्यासुराचार्याभ्यां विशिष्टत्वादपि त्वं नमस्योऽसीत्याह—

गुरुरिति। हे गुरुवर! त्वत्तो भीतो गुरुः बृहस्पतिः, देवसदनं स्वर्गं, गतः। तत्रापि स्वर्गेऽपि, गतं त्वा, मथितं विशिष्टविद्यादिगुणयोगादिन्द्रप्रभृतिदेववरसम्माननासम्भावितम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, अतिचकितः अतः परं किं करणीयमित्येवं कांदिशीको जातः, भीत्या स्वर्गं गतस्यापि भीतिस्समुपस्थितैवेति तत्त्राणोपाय एतस्य शिष्यभवनमेवेत्याकलय्येन किमु, तव स्वयं शिष्यो भूत्वा। कविं असुराचार्यं शुक्रं, भीषयति, यत् यस्मात्कारणात्। ननु निश्चितम्, काव्योऽपि शुक्रोऽपि, त्वां श्रयति गुरुत्वेन त्वां स्वीकरोति, एवं सत्येव बृहस्पतितो

न भय यस्य, अभिनवशिष्याभ्यां सुरासुराचार्याभ्यां सेविते ते चरणे तव पदकमले, नमन्तं प्रणामः, अस्तु भवस्थितिस्पर्शः ॥ २ ॥

शिवप्रशस्यामपि त्वं विशिष्ट इति त्वां स्तौमीत्याह—

हर इति । तमोगुणयुक्तो महादेवः पराभिमतो महाप्रलये जगदेव संहरतीति हर इति गीयते । त्वं पुनः शिष्याणामन्तेवासिनां हृदयध्वान्तमात्मगतमनादिकालीनमज्ञानसन्तमसान्धकारम्, अनिशं सर्वदा जिनोक्तमोक्षमार्गज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणालौकिकालोकाविर्भावनेन हरसि विनाशयसीति हरः । हे तव, गहनं जिनोक्तागमार्थसङ्घटितमूर्तिकत्वेन मन्दमत्यगम्यं विशिष्टस्वभ्यवसितमात्रगम्यं, वचनम्, विरञ्च्युक्ति विरञ्चिर्ब्रह्मा, तस्योक्तिं वचनं पराभिमतं वेदलक्षणागमं किमातिशेते अपि त्वतिशेत एव, ब्रह्मकृतिविशिष्टा न तव कृतिरित्याह—

सुकल्पस्यान्तेऽपि, तदीया ब्रह्मसम्बन्धिनी कृतिः वेदरचना ब्रह्मनिर्मितो वेद इति यावत्, ब्रह्मदिनं कल्प इत्युच्यते इति सुकल्पस्यान्ते ब्रह्मैकदिवसमात्रस्थायिन्येव, दिवसान्तरे पुनरन्यैव वेदकृतिः, या या ब्रह्मणः कृतिः सा सर्वापि कल्पमात्रस्थायिन्येव, इय मस्यस्तोऽन्त्यभूयमाना तव कृतिः परा उत्कृष्टा कल्पातीता । कल्पः कल्पना तमतीताऽतिक्रान्ता कथमिव मित्थं सम्भावा यतः परैः कल्पनाद्यैरपि वाक्यैर्न लभ्यते, एतस्मात्कारणात् हे गुरुवर ! ते तव, नमः त्वाहृतिस्य नमस्कारः, सततं सर्वदाऽस्तु ॥ ३ ॥

पराभिमतो महेश एक गणेशपुत्रक एव, त्वं पुनरनेकगणेशपुत्रक इत्यादिहेतोरपि तव उत्कर्षः स्तुत्यर्ह इत्याह–गणेशा इति । ते तव शिष्याः पट्टधराः गणेशाः गणधराः, तस्य महेशस्य पत्नी पार्वती देहार्धीभूता, तव तु भारती सरस्वती वदनमपि मुखमप्यधिगता मुखद्वारा हृदयाश्रिता अपिना शरीरे मुखस्याचयवस्य प्राधान्यमपि तदाश्रितस्य सर्वाश्रितत्वमिति भारतीस्वरूप एव त्वं सदृश इति मतिपादितं भवति । नयग्रामः नैगमसङ्ग्रहादिसप्तविधनयसमुदायः, अनेकरूपकः विभिन्नमार्गगामी, ते तव, अणौ सूक्ष्मे, वेदानुपरिमाणस्य जैनमतेऽनभ्युपगमेऽपि न क्षतिः । अनन्तधर्मात्मके मनस्यपि कथाचिदपेक्षयाऽनुगतं सम्भवत्यपि, मनसि अन्तःकरणे, एतत्ते अपेक्षाभेदेन विरोधपरिहारसम्प्रत्युक्तमनुसरति यत एव-परिहृतविरोधा नयास्तव हृदयङ्गतास्तत एव तव मतिगतं तत्त्वज्ञानमर्थं, प्रमाणरत्नत्वं प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्विविधस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानात्मकपञ्चविधज्ञानात्मकस्य प्रमाणस्य यत्स्वतन्त्रसिद्धस्वपरव्यवसायात्मकलक्षणप्रामाण्योपयते मानन्तधर्मात्मकवस्तुग्राहित्वलक्षणं स्यातत्त्वं, विमतं परोक्षैकान्तवादोपलक्षणमसारितं, भाति प्रकाशते, नित्यं सर्वदा, अमीष्वालिकलितं पारमार्थिकेष्वसमधिविभूषितं, गुरुवरं त्वाम्, नमामः प्रणमामः ॥ ४ ॥

कीर्तिप्रतापादिगुणगणैकान्तावासो भवान् गुणिगणेन नमस्करणीय इत्याह–गुणौघैरिति गुणौघैर्गुणसमूहैः, व्याप्ते सर्वतः परिवृते, परिमिते परिच्छिन्नप्रमाणे, ते हृदि तव हृदये, अमिता मातुमशक्यया, कीर्तिर्यशः, अब्धीनां समुद्राणां, पारंगता चतुःसमुद्रानुल्लङ्घ्य देशान्तरं गता, चतुःसमुद्रपर्यन्तव्यापिनी तव कीर्तिः, तेऽपि च त्वद्धृदयव्यापिनोऽपि गुणास्तदनुगमनाः कीर्त्यनुगमनाः, कीर्त्या सह तव गुणा अपि समुद्रपारंगता इति यावत्, तैः सर्वैः त्वत्कीर्तित्वद्गुणैः समं, तव प्रताप प्रकृष्टतेजः, जगदपि त्रिभुवनमपि, परिव्याप्य सर्वतो व्यापनं कृत्वा, गतश्च, एतावताऽभिव्याप्तं पूर्वस्थानमपरित्यज्यैव गता न तु पूर्वदेशं विहायेति सूचितम्। अत एव हे गुरो! चित्रमाश्चर्यं यथा स्यात्तथा चकितः किमन्योऽप्येवमीदृशोऽभूदस्ति भावी वेत्येवं विचाराकलितचित्तोऽहं, तैः पूर्वोपदर्शितगुणकीर्त्यादिभिः, भृतं परिपूर्णम्, अपि, त्वा नमस्यामीति ॥ ५ ॥

सर्वानेकान्ततत्त्वाभिज्ञ एव जिनोपदिष्टकालादिसच्चिनस्त्वद्गुणग्रामान् वक्तुं समर्थो नान्य इत्याह–गुणानिति। हे गुरो। तव गुणान् स वक्तुं वदितुं यथार्थतया प्रतिपादयितुमिति यावत्, शक्तः समर्थः, यः श्रुतधरः विशिष्टश्रुतधर इत्यर्थः, एवकारोऽत्र द्रष्टव्यः, यो हि यज्जानाति स एव तत्प्रतिपादयितुमीशः, ऋते विशिष्टश्रुतधरात्त्वद्गुणगणाभिज्ञो नास्त्येव। नन्विदानीं विशिष्टश्रुतधरो नास्ति ततोऽज्ञाता गुणा न स्तवनार्हा इत्यत आह–यतः कालोऽनन्त इति यद्यप्यतीता विशिष्टश्रुतधरा नेदानीं सन्ति, इदानीन्तनास्त्वस्मत्सदृशा न विशिष्टश्रुतधराः, भविष्यत्काले तु भविष्यन्ति बहवः श्रुतधराः ये भवतो गुणान् स्वज्ञानविषयीकृतान्वक्तुं स्वकाले समर्था एव तथा भूतं भवन्तमनागतं च सर्वमतीता अपि श्रुतधरा ज्ञातुं प्रगल्भा एव, वस्तुत इदानीमपि श्रुतधरा क्षेत्रान्तरे विहरन्त्येव, अथवा ननु यदीया गुणा अनन्ता न विशिष्टश्रुतधरैरपि युगपदेव वक्तुं शक्या इत्यत आह–यत इति, यदि कालोऽनन्तो न भवेत्, न भवेयुः श्रुतधरैरपि तव गुणा अनन्ता वक्तुं योग्याः, यदा तु कालोऽप्यनन्तः तदुपलक्षिताः श्रुतधरा अप्यनन्ताः, तदा तव गुणाः श्रुतधरवचनगोचराः संभावयितुं शक्या इति भावः। ननु कालस्य क्षणस्वरूपस्यैकस्यानन्तत्वं नास्ति तत्प्रवाहस्यानन्तत्वेऽपि बौद्धमेव तस्यैकत्वं न वास्तविकं, वचनं च परार्थमेव भवति तत्र परो न श्रुतज्ञानी तस्य स्वयमेवास्मद्गुणगणज्ञत्वेन तत्प्रत्यस्मद्गुणगणकथनस्य श्रुतज्ञानिकर्तृकस्यानुपयुक्तत्वात्, किन्त्वश्रुतज्ञानी, स चानन्तेनापि कालप्रवाहेण कल्पितेन श्रुतज्ञानिवचनादस्मद्गुणस्तोमं ज्ञातुं न समर्थ इत्यस्मद्गुणस्तवनं श्रुतज्ञानिकर्तृकतया सम्भावितमपि निष्प्रयोजनमेवेत्यत आह–जिनवचनगीश्चारुभजनेति, जिनवचनात्मिका वाणी समीचीनस्याद्वादस्वरूपेत्यर्थः, न खलु जिनमते किमप्येकान्तेनैकस्वरूपमेव वस्तु, तेनोक्तदिशा श्रुतभङ्गेऽपि तव गुणाम्

यद्वा समर्थोऽसमर्थोऽपि, त्वद्गुणस्तुतिः श्रुतपरकतृत्वं भवति न भवति चेत्येवं त्वयाऽऽह एवात्रापि पदं निपतेत तेन श्रुतपरेणापि वक्तुमशक्यास्त्वद्गुणा इति भावः। एतदेवाभिप्रायानुसन्धानेनाह—अमेयोऽप्राप्यो वेति। यदि ते तव, गुणगणगतः गुणगणे वर्तमानः, गुणः पुरुषोत्तममनन्ताभिख्यानिनन्दनो गुणविशेषः, अमेयो मातुमशक्यः, एतावानस्य महिमेत्यादिरूपेण परिच्छेत्तुमशक्य इति यावत्, वा अथवा परिच्छेदातीतत्वात् अवाप्यः सकलवचनाविषयः, केनापि वचनेन निर्देष्टुं न शक्य इति यावत्, अत एव विशिष्यानाम्येयः स्वासाधारणरूपेणाप्याप्तुमशक्यः, अस्ति कश्चिद्गुणविशेषोऽमेयोऽनिर्वचनीय इति सामान्यतः प्रतिपादयितुं शक्य एव, तदा गुणगणगतगुणविशेषेण निर्वचनीयेन स्तोतुमशक्यतादशायामपि च पुनः गुणिगुणनमस्योऽसि गुणिनां गुणवतां पुरुषाणां ये लोकप्रसिद्धा गुणास्तैः सर्वैः नमस्कारार्होऽसीत्यर्थः ॥ ६ ॥

तत्किमहं गुणविशेषाकलितगुणगणयथावद्वर्णनद्वारा स्तुतिविषयो न भवाम्येव, नैवम्, यथा सर्वज्ञः स्वासाधारणरूपस्य सर्वज्ञव्यतिरिक्तजनाविषयोऽपि स्वसंवेद्यः, ज्ञानं परप्रकाश्यमपि स्वप्रकाश्यम्, तथा त्वमपि परकृतस्तुतिगोचरस्त्वाऽऽगीनोऽपि स्वकर्तृकस्तुतिगोचरो भवसीत्याह—त्वमेवेति। हे गुरुवर! धर्मोपदेशदानेन शिष्याणां परमपुरुषार्थमार्गसम्यग्ज्ञानादिनिदानानां श्रेष्ठ! भवता गुरोर्बृहस्पतेरपि वरेण्य! त्वां स्वस्वरूपं, स्तोतुं स्तुतिकर्म कर्तुं, त्वमेव नितरामतिशयेन, समर्थः शक्तिमान्, असि भवसि। कथमन्यो मां स्तोतुमसमर्थः? यत् यस्मात् ते तव, गुणग्रामः गुणसमूहः, इयत्ता एतावन्न्यूनाधिकव्यवच्छिन्नप्रकारेण परपरिच्छेद्यो न च, तन्निभपुरुषपरिच्छेदगोचरो न भवति स्वमतिगोचर यावत्प्रकारेण स्तुतिरूपेऽपि तद्विशिष्टप्रकाराणां वैशिष्ट्यपरगमकस्ततान्यपरिस्पष्टत्वेन न्यूनोक्तिप्रसङ्गाभावात्, यावन्तो वैशिष्ट्यपुरुषप्रधानपदगो गुणास्त्वयि समवेतास्ते नान्यत्र समवयन्तीति तावद्गुणगणतत्समसाधारणपर्यायैव त्वयि सादृश्यं न कस्यापि, एकैकोऽपि गुणो निमित्तस्वरूपगतो नान्यत्रेति तेनापि सादृश्यं न त्वयि परस्येति नोपमयाऽपि त्वद्वर्णने परस्य कर्तुं शक्यमित्याह—न सादृश्यमिति। जगति कस्यापि कृतिनः सादृश्यं त्वयि न पूर्णमित्यन्वयः, अर्थस्तु व्यक्त एव, अपूर्णं सादृश्यमुपमानोपमा तु न विशिष्टविशिष्टेपादाने पटीयसीति न सा स्तुतिरित्यभिसन्धिः, महान्त स्वमुखेन स्वगुणवर्णनादिरिक्तां स्वस्तुतिं न कुर्वन्तीत्यभिप्राय यदि समर्थोऽपि त्वं स्वस्तुतिं न करोषि अन्यस्तु तथा कर्तुमसमर्थ एवेत्येवं स्तुतिगोचरत्वाभावमनन्तमपि त्वामेवगुणवैशिष्ट्यमुपादाय सर्वातिशायिनं प्रणमाम इत्याह—नमाम इति पूर्वोक्तगुणसमयम्बरं पूर्ण त्वां नमाम इत्यन्वयः, कतिपयकालानन्तरमेवोक्तगुणसम्पन्नत्वं भविष्यसीति निर्णयवन्तो वयं प्रणमाम इत्यभिसन्धिमभवरार्थस्तु व्यक्त एव, अनरमित्यत्र न वरो विद्यते यस्मादिति विग्रह इति ॥ ७ ॥

[illegible] શાસનસમ્રાટ [illegible] સર્વતંત્રસ્વતંત્ર [illegible] જગદ્ગુરુ [illegible]

આચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજશ્રીજીના પટ્ટાલંકાર

આચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયદર્શનસૂરીશ્વરજી મહારાજશ્રી



જન્મ-સં. [illegible] સુદ ૧૧ મહુવા [illegible] દીક્ષા-સં. [illegible] ભાવનગર

ગણિપદ-સં. [illegible] (કપડવંજ)

પંન્યાસપદ-સં. [illegible] ઉપાધ્યાયપદ [illegible]

[illegible] આચાર્યપદ-સં. [illegible] વૈશાખ [illegible]

ॐ अर्हं नमः ॥

प्रशमोदीशामिसकलजनतापापहारिनिर्मलवाणी–विलासायानल्पलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः ।

न्यायव्याकरणसिद्धान्तादिपारावारसमवगाहनसमुपलब्धानर्घतत्त्वमणिसन्दृब्धादभ्रग्रन्थ–
मालेभ्यः शासनसम्राट् सूरिचक्रचक्रवर्तिश्रीविजयनेमिसूरिसद्गुरुभ्यो नमः ।

तत्पट्टभुवनभानु–न्यायवाचस्पति–शास्त्रविशारदबिरुदविभूषित–तपागच्छभट्टारकाऽऽचार्य–
श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत " सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीका "–
समलङ्कृतं श्रीविक्रमादित्यादिमहाभूपतिप्रतिबोधक–महातर्कवादि–
शिरोमणि–श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्संदृब्धं सम्यग्दर्शनविशुद्धिकृ–
द्रव्यानुयोगगहनकुशाग्रबुद्धिगम्यानल्पामलतत्त्वप्रतिपादक
स्याद्वादसिद्धान्तोपनिषद्विचारश्रेणिप्रौढश्लाघायकं—

श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

मङ्गलाचरणम्

न जात्वस्तं यायी न जलदनिरुद्धामलविभो,
गवा भेत्ता नित्यं नृहृदयगुहावर्त्तितमसां ।
सदा राह्वग्रस्योऽखिलभविकजोद्बोधनपरः,
जयत्यर्हन् सूर्योऽतिशयमहिमा पार्श्वजिनराट् ॥ १ ॥

यदीयस्याद्वादामितनयतरङ्गालिललिता–
गमाब्धिस्यान्मात्रामलपदपृषत्सङ्गतिवशात् ।
विहृप्यद्वाद्यालिस्वमतिजनितत्तन्नयविषं,
स्तुवे द्राक् पीयूषीभवति तमहं वीरजिनपम् ॥ ॥ २ ॥

काम्बोजवाजीव हयेषु सर्वे,–र्षिष्विद्धतेजा शमितारिवर्गः ।
श्रीसूरिसम्राड् गुरुनेमिसूरिः, शुभाशिषं मेऽत्र तनोतु कार्ये ॥ ३ ॥

सिद्धान्तपाथोनिधिसिद्धसेन–दिवाकरस्यातिप्रभावकस्य ।
श्रीसम्मतिग्रन्थकृतिः क्व सूक्ष्म-बुद्ध्यैकगम्या परवाद्यदूष्या ॥ ४ ॥

द्रव्यानुयोगाख्यतरार्थभासा, क व्याख्यधीर्मे विषमेऽपि तत्त्वे ।
सत्यप्यहं वच्मि गुण स एव, सर्वैः प्रणीता किल येन वृत्ति ॥ ५ ॥
सद्युक्तिविक्षिप्तकुवादियुक्ति', तस्यैव पूज्याभयदेवसूरेः ।
यस्मिन्नमार्गेऽपि समीकृतेऽच्छे, यत्नेन यान्त्यल्पधियोऽपि शीघ्रम् ॥६॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

अथ पुन पुनर्जन्मजरामृतिरूपापारनीरनिकरपूरित बहुभयकरपरिभवपाताळोत्थ मनल्पमोहमहावर्तदुरुत्तरमनेककुग्राहग्राहनिकरदुरवगाहमिथ्यात्वकालकूटसम्मूर्च्छितमनवरतोप भाषमाणमनोरथमहोर्मिमालाव्याकुलं कषायवडवानलज्वालाकराल व्याधिव्यसनकच्छपालय परम्परां शोकोत्पादकं महागम्भीरं संसारसमुद्रमुपनिपतितानां भव्यजनानां दुरुत्तरत्वादपारं दुरवगाहनमहानावमेकमिमागमाऽऽक्षेपतरणार्थमज्ञानतमःसम्यग्दर्शनमधरणमेव । तदुक्तम्-

“ द्वार मूल प्रतिष्ठान-माधारो भाजनं निधिः ।
धर्महेतोर्द्विषट्कस्य, सम्यग्दर्शममिष्यते ॥ १ ॥” इति ।

न सणिओ आसि तया यदुस्सुओ, न या वि पत्तस्तिपरो न वायगो ।
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ, समिक्खय पन्नाइ वरं खु दंसणं ॥२॥ इति च ।

न चैव तर्हि योतायमानसम्यग्दर्शनोत्पत्तौ सत्यां तदुत्तरं तदनन्तरमेव भवमहोदधेरुत्तरणं क्रियमिति न भवतीति वाच्यम्, न हि मृदुद्रव्यमात्रेण दण्डमात्रेण वा घट उत्पद्यमानो साक्षे दृष्टः, अपितु एकैकं कारणं निश्चितकारणान्तरसापेक्षमेव कार्योत्पादनसमर्थमित्यत्रापि कारणा न्तराऽभावात् । तथा च तन्निरतकारणसद्भावे सति सम्यग्दर्शनसद्भावे मोक्षस्तत्र तदितरकारण सत्त्वेऽपि तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकवत्तान्मोक्षाऽसाधारणकारणं सम्यग्दर्शनमिति सिद्धम् । एवमेव सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रयोरप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मोक्षं प्रत्यसाधारणकारणं ज्ञेयम् । तथा च यथा क्षितिसलिलादिपुरस्सरा मिथः सापेक्षभावं गता एव क्षितिसलिलादयोऽङ्कुरका कार्यं प्रति कारणं तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि परस्परसापेक्षतां गतान्येव मोक्ष प्रति कारणमित्याशयः । ननु पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकाभ्यामस्तु सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य च कारणत्वम्, न च चारित्रस्यापि तत् युक्तम्, मरुदेवामातुर्द्रव्यचारित्ररूपकारणाभावेऽपि मोक्षात्मककार्योत्पत्तिश्रवणेन व्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्, मैवम्, यतो न द्रव्यचारित्रत्वेन मोक्ष प्रति चारित्रस्य हेतुत्वम्, किन्तु सम्यक्चारित्रत्वेनैव, तद्धर्मावच्छिन्नेनैव सह मोक्ष स्यान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । तच्च च परमयथाख्यातस्य सर्वसंवररूपस्य भावचारित्रस्य शैलेशीकरणकाले सद्भावादेव तस्याः मुक्तिभावात्, तथा च तदा तस्या भवस्थितिक्षय ईदृशीयुक्त्या द्रव्यचारित्रग्रहणस्याभावस्येऽप्यायुषोऽन्तःकालतया द्रव्यचारित्रस्य ग्रहण

कालाभावेनाऽभावेऽपि नोक्तदोषः । ननु मोक्षं प्रति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन चारित्रत्वेनैव दर्शनादीनां कारणत्वमस्तु, किं तत्र सम्यग्पदोपादानेन कारणतावच्छेदकगौरवापादकेनेति चेद्, मैवम्, तथा सति मिथ्यादर्शनमपि मिथ्याज्ञानमपि तत्त्वश्रद्धाविकलचारित्रमपि च मोक्षकारणं स्यात्, न चान्वयव्यतिरेकानुविधानाऽभावान्मिथ्यादर्शनादिकं मोक्षकारणमभ्युपगन्तुं युक्तमिति तद्वारकतया सम्यग्विशेषणस्य सार्थकत्वेन सम्यग्दर्शनादेः सम्यग्दर्शनत्वादिनैव मोक्षं प्रति कारणत्वं युक्तियुक्तम्, न तु दर्शनत्वादिना, दर्शनत्वस्य मोक्षकारणत्वाभाववति भव्याभव्यपुरुषीयमिथ्यादर्शनेऽपि ज्ञानत्वस्य च तादृशपुरुषीयमिथ्याज्ञानेऽपि चारित्रत्वस्य च जिनोक्ततत्त्वश्रद्धाविकले तादृशपुरुषीयद्रव्यचारित्रेऽपि वृत्तित्वेन मोक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणत्वातिरिक्तवृत्तितया कारणताऽतिप्रसक्तत्वेन कारणतानवच्छेदकत्वादिति । अनुमानञ्चात्र तत्तन्नयभेदेन सम्यग्दर्शनादित्रयं मोक्षासाधारणकारणं मोक्षाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वाद्, यद् यदभावप्रयोजकाभावप्रतियोगि तत्तदसाधारणकारणम्, यथा घटस्य दण्डः, तथा चेदं तस्मात्तथेति नयविवक्षयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सम्यग्दर्शनत्वादिना मोक्षम्प्रति सम्यग्दर्शनादित्रयमपि कारणम्, घटत्वावच्छिन्नम्प्रति मृद्दण्डचक्रचीवरादिकमिव, न च सर्वसंवरचारित्रलक्षणचरमकारणमात्रेणैव कार्ये सिद्धे तत्पूर्ववर्तिनः क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य केवलज्ञानस्य चाऽन्यथासिद्धिः, व्यवहितत्वादिति वाच्यम् । चरमकारणस्य तत्पूर्ववर्त्तिनः कारणत्वरक्षणार्थमेव यत्र व्यापारविधया कल्पनं न च तत्र व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिः, अन्यथा दण्डादेरपि चक्रभ्रमणक्रिययाऽन्यथासिद्धिस्स्यात्, स्याच्च परामर्षेण व्याप्तिज्ञानस्यान्यथासिद्धिः, एवं क्षायोपशमिकसम्यक्क्रियायाः केवलज्ञानोत्पादन एवोपक्षीणत्वात्तस्यास्तेन मोक्षकार्यं प्रत्यऽन्यथासिद्धिस्स्यादिति तदुभयस्य कारणत्वे सिद्धे व्यापार एव कारणं न व्यापारी, व्यापार्येव कारणं न व्यापार इति विनिगन्तुमशक्यत्वात्, सर्वसंवरचारित्रकाले क्षायिकसम्यग्दर्शनकेवलज्ञानयोरपि विद्यमानत्वेन फलोपयोगितया मुख्यत्वाऽविशेषात् । आधुनिकदर्शनादिष्वपि मोक्षानुकूलनिर्जराविशेषप्रयोजकविशेषाश्रयत्व सम्यक्त्वं प्रत्येकमव्याहतमिति त्रयाणां तुल्यवत्कारणत्वं नयार्पणया नानुपपन्नम् । एतेन कारणीभूतसम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्तावपि तत्त्रयेण तद्भवे मोक्षफलं भवत्येवेति नैव नियमः, ऐदंयुगीनकालस्यातिविषमत्वेन सम्यग्दर्शनादित्रये सम्यग्यतमानानामपि तत्तत्पुंसां तत इदानीं मोक्षानवाप्तेरितीदानीं सम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्त्यर्थं प्रवृत्तिर्निष्फलैवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, मोक्षफलोत्पत्तिर्हि न साक्षात्सम्यग्दर्शनादित्रयेण, किन्तु समुदिततत्त्रयसाध्यविशिष्टकर्मनिर्जराद्वारैव, स्मृतिफलोत्पत्तिरनुभवतत्संस्कारद्वारेव, मीमांसकमते स्वर्गफलोत्पत्तिर्यागतः प्रधानाऽपूर्वद्वारेव चेति तादृशनिर्जराद्वारसम्पत्तौ सम्यग्दर्शनादित्रयप्रवृत्तेरिदानीमपि तत्साफल्यस्यानपायत्वात्, उक्तनिर्जराद्वारसम्पत्तौ ततः पूर्वकालीनसम्यग्दर्शनादित्रयस्यैव परमकाष्ठापन्नक्षायिकसम्यग्दर्शनादित्रयरूपेण परिणति-

भावे कालान्तरे मुक्तिफलोत्पत्तेः । प्रमाणार्पणया तु पर्यालोच्यते, सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्राणां त्रयाणां न्यस्ताऽसाधारणधर्मरूपेण सम्यग्दर्शनत्वादिना न मोक्षं प्रति कारणत्वम्, तथा सति कारणतावच्छेदकभेदेन कारणताभेदप्रसक्त्या मोक्षं प्रत्येक कारणत्वं सिद्धं न स्यात्, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेनैव, कारणत्वमपि न नैयायिका भ्युपगतकार्यनियतपूर्ववर्तित्वलक्षण मखण्डरूपम्, तृणत्वमणित्वारणित्वादिप्रत्येकधर्मेण वह्नित्वावच्छिन्नम्प्रति कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचारस्यादिति तमिद्दूषयन्नन्यमपस्या कार्ये वैजात्यमभ्युपगम्य विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नम्प्रति तृणत्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नं प्रति मणित्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नं प्रत्यरणित्वादिना च कारणत्वाभ्युपगम विशेषरूपेणा नेककार्यकारणभावप्रसङ्गतो यावत्सु वह्निजनकव्यनुगता या शक्तिस्तद्रूपेण नियतकार्यकारण भावापेक्षया गौरवभारम भरत्वावत्सग्रस्य प्रमाणपथातीतत्वात्, किन्त्वखण्डशक्तिरूपमेव, सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य सम्यक्चारित्रस्य च शक्तेरभिन्नस्वविषयाऽवच्छेदकम्, कारणताज्ञाने तदवच्छेदकज्ञान कारणमिति नियमेन मम मते धर्मविषयाऽवच्छेदकज्ञानमपे क्षितम्, अस्मन्मते त्वभिन्नशक्तिविषयेत्ययं विशेषः सर्वत्र कार्यकारणभावे ज्ञेयः । न चैकस्या नेकाभिव्यञ्जकत्वमनुभवपथाऽतीतमिति वाच्यम्, "क्रियाभिव्यज्यते जातिः संख्यामात्रा येन केनचित् । गोत्वं लाङ्गूलशृङ्गादिसंस्थानवशतो यथा" इति स्याद्वाद रत्नाकरप्रथमपरिच्छेदाऽष्टमसूत्रविवरणात् क्वचित्सास्नातः क्वचिच्च विलक्षणलाङ्गूलात् क्वचिच्च विलक्षणशृङ्गाद्युदादभिव्यज्यमानस्यैकस्य गोत्वस्यानुभवगोचरत्वादेव, तस्य च मिन्यञ्जकस्य सम्यग्दर्शनत्वादेः प्रत्येकवर्तिनस्सम्यग्दर्शनादित्रितयधर्मस्याखण्डशक्तिरूप कारणत्वापेक्षया न्यूनाधिकत्वेऽपि न क्षतिः, अखण्डकारणताया अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानति रिक्तवृत्तित्वनियमात् । ननु शक्तिमत्त्वेन कारणत्वे कारणताज्ञाने तदवच्छेदकज्ञानस्यापेक्षि तत्वेन कारणतावच्छेदकविधयाऽखण्डशक्तिज्ञानाच्छक्तिरूपकारणताज्ञानम्, तज्ज्ञाने च तज्ज्ञान मित्यात्माश्रय इति चेत्, नैवम्, प्रतियोगिताज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्व-मित्यत्रापि घटाभावीयप्रतियोगितायाः प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वरूपत्वपक्षे आत्माश्रयदोष परिहाराय घटत्वत्वेन घटत्वात्मकावच्छेदकज्ञानं प्रतियोगितात्वेन घटत्वात्मकप्रतियोगिता ज्ञानं प्रति कारणमिति यथा नैयायिकैस्स्वीक्रियते तथाऽस्माभिरपि शक्तित्वेनावच्छेदकीभूत शक्तिज्ञानं कारणतात्वेन शक्त्यात्मककारणताज्ञानं प्रति कारणमित्यभ्युपगमेनोक्तदोषाभावात् । तथा च मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वावच्छिन्नशक्तिरूपं कारणत्वं परस्परसापेक्षसम्यग्दर्शनादिषु त्रिष्वे कमेवेति स्थितम् । अत एव "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति तत्त्वार्थप्रथमसूत्रे मार्गपदोत्तरप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेण मोक्षं प्रति मार्गत्वा-ऽपरपर्यायकारणत्वे एकत्वज्ञापनार्थं मार्गपदोत्तरप्रत्ययप्रयोगो विहितः, अन्यथा प्रसति बाधके विशेष्यविशेषणपदयोस्समानवचनकत्वमिति नियमान्मार्गपदोत्तरबहुविभक्तिप्रसङ्ग-

स्स्यादिति। ननु सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समूहस्यैकस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमभ्यु-
पगमो न युक्तः, घटत्वावच्छिन्नम्प्रति दण्डत्वेन मृत्त्वादिना च प्रत्येकरूपेण दण्डमृदादीनां
कारणत्वे सिद्धे तत्समूहस्यान्यथासिद्धत्ववत् सम्यग्दर्शनत्वेन सम्यग्ज्ञानत्वेन सम्य-
क्चारित्रत्वेन च प्रत्येकरूपेण सम्यग्दर्शनादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वे सिद्धे तत्समूह-
स्याप्यऽन्यथासिद्धत्वादिति चेत्, मैवम्, परस्परनिरपेक्षैकैककारणमात्रेण स्वरूपयोग्येनापि
तत्र फलोपधानरूपकारणत्वाभावान्मोक्षकार्योत्पत्त्यभावेन मोक्षम्प्रति परस्परसापेक्षवत्तत्कारण-
समूहस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वात्, अत एव "नैकं कारणं किन्तु सामग्री वै
जनिका" इति सिद्धान्तस्सङ्गच्छते। न च क्षायिकसम्यग्दर्शने सति केवलज्ञानमुत्पद्यते, तेन
च सर्वसंवराख्यचारित्रमिति तेषां व्यापारव्यापारिभावेनैव मोक्षकारणत्वम्, न साक्षादिति
तत्समूहस्यापि न तदिति वाच्यम्, व्यापारकाले व्यापारिणो नाशो नावश्यकः, व्यापार-
लक्षणे द्वारिनाशविशिष्टत्वाऽप्रवेशादिति सर्वसंवराख्यचारित्रकाले समुदिततत्त्रितयस्यैव
मोक्षफलोपयोगितया व्यापारान्मुख्यत्वाविशेषात्प्रमाणविवक्षया तत्समूहस्यैव मोक्षकारण-
त्वात्। "तिण्हं समायोगेण निव्वाणं लब्भति" इत्युक्तेः। यद्यपि मोक्षानुकूलसम्पूर्णशक्ति-
स्सम्यग्दर्शनादित्रयपर्याप्तसमुदायत्वावच्छेदेन परस्परसापेक्षसमुदितज्ञानादिषु त्रिष्वेव
पर्याप्ता, तत्र फलोपधानसामर्थ्यसद्भावात्, तथापि सम्यग्दर्शनत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छेदेनाप्ये-
कैकेषु सम्यग्दर्शनादिषु "वीसुं ण सव्वहच्चिय, सिकतातेल्लं व साहणाऽभावो। देसो-
वगारिया जा, सा समवायम्मि संपुण्णा ॥ ११६४ ॥" इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेः
प्रत्येकावस्थायामपि देशोपकारित्वाद्देशतो मोक्षानुकूलशक्तिसद्भाव इति तच्छक्तिशालि-
सम्यग्दर्शनं शिथिलबन्धनबद्धं महामिथ्यात्वोदये कदाचिद्विनश्यत्यपीति मोक्षाभिलाषुकै-
स्तच्छुद्धिः सन्देहविषौषधिकल्पा मिथ्यात्वमहार्णवतारणतरिका मिथ्यावासनाग्रहम-
न्त्रकल्पा कर्त्तव्या, सा च यथार्थदृढाभ्यस्तेभ्यः प्रमाणनयकरणकपद्द्रव्यगुणपर्याय-
विचारप्रधानकद्रव्यानुयोगशास्त्रेभ्यः। उक्तञ्च—"दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं
तु" इति। अयं स्वसमयः प्रमाणनयैरनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयो
नयान्तरनिरपेक्षनयगोचरैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वादित्येवं स्वसमयपरसमयपरिज्ञानेनेतरव्य-
वच्छेदेनानेकान्ततत्त्वावबोधमन्तरेण चरणकरणप्रधाना गीतार्थगुर्वाज्ञाऽनधीनप्रवृत्तिकाश्चरण-
करणयोस्सारमपि निश्चयशुद्धं वाह्यदृष्टयो नैव जानन्ति, किन्तु परसमयतत्त्वाऽप्रामाण्यज्ञापन-
पूर्वकानेकान्तात्मकस्वसमयतत्त्वप्रामाण्यनिश्चयार्थं प्रमाणनयाधीनद्रव्यगुणपर्यायविषयकनिर-
न्तरयत्पर्यालोचन तदात्मकान्तर्दृष्टिविबुद्धजना एव जानत इति सुधारसातिशायिभगवन्मु-
खाब्जनिर्गततत्त्वामृतरसपिपासुभिः स्वपरसमयतत्त्वं बहुश्रुतगीतार्थगुरुभगवन्मुखेन पठित्वा
श्रुत्वा वा सतात्पर्यं विभाव्य विनिश्चित्य च तत्सारभूतद्रव्यानुयोग एव दृढीकर्त्तव्यः, येन
सम्यग्दर्शनं विशुद्धतरं स्यात्। तच्चाग्रे ग्रन्थकार एव स्पष्टीकरिष्यति।

यानि च द्रव्यानुयोगशास्त्राणि भगवत्सुधर्मगणधरश्रुतधरादिप्रणीततत्त्वशास्त्राणि अन्य तीर्थिकमतज्ञापनागोचरातीतपदार्थसिद्धिसाधनानि द्रव्यानुयोगविषयानन्तगहनपदार्थरत्न भृतत्वेनाऽलब्धपारावारत्वप्रामभ्येन च समुद्रकल्पानि मन्दमेधोभिर्दुरवगाहानि यथार्थतया दुःखप्रत्यार्थाधिगमानि च, यथा समुद्रं दृष्ट्वा तत्प्रोपायमजानतां पुंसां सुखेन बाहुभ्यां प्रतरामीति नैव चित्तवृत्तिर्भवति, अविज्ञाताऽऽकृत्या प्रतरणप्रवृत्ता अप्यस्थमात्र गता दुस्तरोऽयमिति मत्वाऽ- विदिभाः प्रतिनिवृत्ता नैव तत्पारं प्राप्नुवन्ति तद्वत्प्रकृतेऽपीति बुद्धा तदनुग्रहार्थमर्थरत्नघन- समुद्रोपमद्रव्यानुयोगविषयतत्त्वरत्नानां संक्षेपतस्संग्राहक अखिलनयसमर्थागर्भं महार्थकं सुसपूर्णकल्पप्रकरणपारम्यनिमयमननयोग्य "सम्मतितर्काख्यप्रकरणम्" नदीतरणादिव प्रतरदनिधानमुद्रन्धिसाम्यस्यापायतया कालसंहननायुर्मेधादल्पप्रज्ञकानामपि विनीतान्ते वासिनां प्रमाणनयमहापारगम्भीरतत्त्वविज्ञानलाभपूर्वकनिरन्तरप्रयाणाऽनुपममक्तिमदु मानमभीचीनापूर्वोल्लासशालिमानसानां सुखसम्पादभावं सुखस्याथीधिगमभावेनैव तस्याव बोधपाटवाधानसमर्थनेनैन प्रयत्नेनानर्घ्यानन्तार्थरत्नान्यवेऽन्नामायमवाप्नुवन्त्विति इच्छया कर्तुं कामो जिनपादपद्मभ्रमरहुरुनिम्मीमांसापरकचकपासुधामभ्यगम्यस्तवदर्शोनवादिवृन्दानां तेषां हस्त्येचिकया द्रव्यानुयोगप्रधानशास्त्रसमुद्रावगाहोऽप्यमूल्यरत्नोपमतत्त्वार्थाधिगमोऽपि च सुलभ एवेति मन्वानः कलिकालविमलपर्यायदर्शनादिभगवदर्शोसंगमप्रपारमदस्य गुहाप्याप्तमहाविष्णारा भक्तरसिमकरतेनाशाश्वयपार्थनामा तार्किकशिरोमणिरावचार- श्रीसिद्धसेनदिवाकरः सकलजगतीजयपरमार्हत्प्रामनरसैकलीनतापिकीर्तितसकलैक प्याश्रयतया समुल्लयेणेव यथार्थपत्योपदृष्टसुधारसेण प्रफुल्लितसकलकारणमिव प्रवर्धितामोद विस्तारं प्रसन्नाननं प्रफुल्लमावमानीय अन्तरात्मना अलङ्कतवसौरभ्याऽऽघ्रापानन्द परिवृतः अर्हशासनार्हचा शासनपर्विकेस्ततः एकितलमखो लोक इति न्यायेन च सुधामधुरया गिरा शासनार्थोदेशमस्मयै नमो विरयम्ब" इत्युक्तिपूर्वकमिलोकमनमनमस्कारं शासनमेव मवचकारुण्यार्ह स्तुत्यर्हम्, ऐं पुमीनास्यन्वपरमार्थहितावहस्य तस्य च यथार्थगुणसम्पत्तये स्वभक्तागुणोपर्वरञ्जनकवचारगर्भाया विशिष्टमत्यभिव्यक्तिरूपा कृताया तस्यवेदाऽपायाप गमादिरिविचानिरुपर्द्धया परस्परमपि तद्द्वारा स्तुत एवेति निमित्तन् तत्पावनपरम्परेकहेतु तत्स्तुत्याऽनुपरमापलक्षणया कृताधमारमानमभिमन्यमानस्वदमाप्राणानवा पानपवित्र निरवद्धितप्रामाण्यकत्वपरमतया प्रामाण्यप्रापकत्वसम्मतजिनधर्मप्रमुखादिगुणस्तुत्यमरस्मकमाप्तमहत्वे शरस्य तदभिधानोऽमूलाधूतत्वममायोस्तावतः प्रारिप्सितसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितविघातनिरर्थक तास्तेऽप्रत्यक्षमयया प्रारिप्सितसमाप्तिप्रतिबन्धकनिमित्तविघातद्वारा प्रथमसमाप्तादि फलकम्, उत्तमसम्यकप्रहसमरपरध्यानमूलस्य महानुभावेच्छिष्यपापि च संसाराम्भिनिमग्न स्माणिचमादिपीयूपगदरमपीतशासनमरफल्पमरणमरोऽव्यायिनापार्थपुम मतममाप्ते भावंगर्भ शासनविषयमरिप्सितमोक्षलाभशालिपिलप्रमादप्रमाथ्यानस्य शासनाभिपरायपविषयकदु

मानजिज्ञासाग्रहणधारणादिप्रज्ञोदयक्रमेणाऽविघ्नैतच्छास्त्रपारगमनादिफलकं, तर्कप्रज्ञानुसारिशिष्यस्यापि च "अभ्यासाद्धयभ्यासोऽभिवर्धते" इति न्यायात् प्रज्ञादीनां गुणानामभ्यासात्तत्तत्पुरुषेषु तत्तत्काले तरतमादिभावेन प्रकर्षदर्शनात् कस्मिँश्चित्पुरुषविशेषे मिथ्याज्ञानादेस्समूलकाषं कषणात् सर्वोत्कृष्टप्रकर्षकाष्ठापन्नज्ञानोत्पत्तेः नूनं जगति सम्भाव्यत एव विश्वविश्वाशेषतत्त्वयथार्थवेत्ता सर्वज्ञो भगवान्। किञ्च यस्य यस्स्वभावस्स प्रतिबन्धेन प्रतिबद्धस्सन् न स्वकार्यसाधनप्रभविष्णुः, प्रतिबन्धाभावे चानिर्गलतया स्वकार्यं साधयत्येव, यथा वह्नेर्दाह्यदाहकत्वस्वभावस्सूर्यकान्तमण्यभावविशिष्टचन्द्रकान्तमणिना प्रतिबद्धो न दाह्यं दहति, तदभावे च दाह्ये सति तद्दहत्येव तथा सर्वज्ञेयावभासित्वं चिदात्मनः स्वभाव एव, छद्मस्थात्मनि तत्प्रतिबन्धस्तु ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मात्मकप्रतिबन्धककृत एवेति प्रतिबन्धकीभूतसकलघातिकर्मापगमे सत्याविर्भूतेन तेन स्वभावेनानन्तपर्यायालिङ्गितजीवाजीवादिनिखिलजगत्तत्त्वप्रकाशनात्सुतरां सिद्धमेव भगवतस्सर्वज्ञत्वमिति। तदुक्तम्–

> " ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञस्स्यात्–दसति प्रतिबन्धके।
> दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात्, कथमप्रतिबन्धकः॥ १॥ इति।"

तथा च कस्यचित्पुंसो ज्ञानं सकलार्थसाक्षात्कारि तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि, यथाऽपगततिमिरादिप्रतिबन्धं चाक्षुषज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, सकलार्थग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं च कस्यचित्पुंसो ज्ञानं, तस्मात्तथा, न चात्र हेतुर्विशेषणासिद्ध्याऽसिद्धः, आगमद्वारेणाशेषार्थग्रहणस्वभावत्वस्य ज्ञाने प्रसिद्धत्वात्, नापि विशेष्यासिद्ध्याऽसिद्धः, सकलार्थग्रहणस्वभावे ज्ञाने प्रतिबिम्बस्वभावे आदर्शे मलमिव रागादय एव प्रतिबन्धकाः, तेषामात्यन्तिकक्षयस्य सम्यग्दर्शनज्ञानवैराग्यादीनां परमप्रकर्षेण सिद्धेः, यदुत्कर्षतारतम्याद् यस्यापचयतारतम्यं तस्य परमप्रकर्षे तदत्यन्तं प्रक्षीयते, यथोष्णस्पर्शस्य परमप्रकर्षे शीतस्पर्श इति नियमात्। तथा चोक्तयुक्तिप्रयुक्तिपूर्वकानुमानतस्सकलार्थसाक्षात्कारसङ्घटितमूर्त्तिसर्वज्ञजिनसिद्धेस्तत्प्रणीतं शासनमपि निश्चितप्रामाण्यादियथार्थगुणमित्येवं निश्चिन्वतस्सबहुमानमङ्गलश्रवणतश्चित्तप्रसादोत्पत्त्या परीक्षापूर्वकतदभिहिततत्त्वश्रवणमननिदिध्यासनद्वारा श्रुतप्रज्ञाजनकपठ्यमानैतत्प्रकरणनिर्विघ्नाध्ययनपरिसमाप्त्यादिफलकमित्यतश्शिष्टाचारानुमितकर्त्तव्यताकं तन्मङ्गलं शास्त्रं प्रणेतुकामः स्वशास्तुर्माहात्म्यज्ञापनार्थं ग्रन्थघटकीभूतं करोति।

> " सिद्धं सिद्धत्थाणं, ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
> कुसमयविसासणं, सासणं जिणाणं भवजिणाणं॥ १॥"

'सासणं' यथावस्थितार्थप्रतिपादकं द्वादशाङ्ग्यात्मकं शासनं 'सिद्धं' इदं शासनम्–अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञानजनकत्वात् प्रमाणमेवेत्या-

कारको यो जिनप्रणीतत्वव्यतिरिक्तोऽस्त्वनपेक्षप्रामाण्यनिश्चयस्तद्विषयभूतम्। न चात्रोक्तोऽस्य सिद्धिः, श्रौतज्ञानमुत्पद्यमानं स्वप्रकाशकत्वात् स्वमिव तद्गतप्रामाण्यमपि गृह्णाति, तस्य नियमेन स्वतो ग्राह्यत्वादिति तस्मिन् श्रौतज्ञाने प्रामाण्यज्ञाने सति तत्प्रतिबन्धेन तदुत्तरं संशय विपर्ययलक्षणं नैवाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीत्यतोऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानं स्वतः प्रामाण्य ज्ञानं तद्विषयभूत यत्प्रामाण्य तद्विशिष्ट यच्छ्रौतयथार्थज्ञान तज्जनकत्वाद्धेतोश्शासनपक्षे सत्त्वात्। तथाग्रे विवेचयिष्यते। इत्थमत्र तत्त्वम्–इद शासन प्रमाणमेवेति प्रामाण्यनिश्चये एवकारेणाऽप्रामाण्य तत्र व्यवच्छिद्यते, तेन च सर्वांशे शासनस्य प्रामाण्यमावेदितं भवति, अन्यथा किञ्चिदंशे यथार्थज्ञानजनक किञ्चिदंशेऽयथार्थज्ञानजनकमपि यदि जिनशासनं स्यात्तदाऽपि यदंशे यथार्थज्ञानजनकं तदंशे प्रमाण भवत्येवेति नान्यागमतो वैशिष्ट्यमस्य स्यात्, ईदृश प्रामाण्यनिश्चयश्च सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वात् यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वाद्वा, न तु यथार्थज्ञान-जनकत्वात्, किञ्चिदंशे ययथार्थे किञ्चिदंशे च यथार्थे तादृशज्ञानजनकेऽपि तस्य सत्त्वात्, तदेव यथार्थज्ञानं सर्वथा यथार्थज्ञानरूपं यथार्थज्ञानमात्र वा यदप्रामाण्याऽसहचरितप्रामाण्य विशिष्टं, तदेव च प्रामाण्यमप्रामाण्याऽसहचरितं, यदप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयः, अप्रामाण्यसहचरिते तु प्रामाण्ये अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितज्ञानविषयत्वेनाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयत्वाऽसम्भवात्। यद्यपि सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वात् यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वाद्वेत्यपि हेतुः सम्भवति, तथापि सर्वथात्व–यथार्थज्ञानमात्रत्वाद्यवगमार्थमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टत्वावगमस्यापेक्षणीयत्वेन तस्यैव हेतुघटकत्वेन प्रवेशः, ईदृशविचारानादरे तु यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वस्यैव प्रामाण्यव्याप्यत्वावगमादेव प्रामाण्यनिश्चयस्य सम्भवेनाऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यस्य यथार्थज्ञानविशेषणतयोपादान विफलमेवेति बोध्यम्। ननु शासनं सिद्धशब्दलक्षणत्वतो निश्चितप्रामाण्यकमित्यत्र कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–'जिणाण' जिनानाम्, रागादीन् जितवन्त इति जिनाः, तेषां जिनानाम्। अस्य शासनमित्यनेनान्वयः, तथा च शासनस्य कृदन्तत्वात् योगे जिनानामित्यत्र कर्तरि विहिताया षष्ठ्या अर्थस्य कर्तृत्वस्याधेयत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थ जिनाभिन्नस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्वयात्, जिनकर्तृकं, जिनप्रणीतमिति यावत्। यो हि रागद्वेषाज्ञानादिदोषपरायत्तस्तस्मिन्नस्पष्टे पुंसि भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणाऽपाटवरचनाकौशलादिसम्भावनया तत्प्रणीतं वचनं सन्दिग्धप्रामाण्यक स्यात्, जिनास्तु सर्वथा रागद्वेषमोहपराजयावाप्तकेवलज्ञानपरमात्मसाक्षात्कार इत्येव भवन्तीति तत्र भ्रमप्रमादादयो न केऽपि दोषाः सम्भवन्तीत्यतस्तत्प्रणीतं शासनं सिद्धमेवेति। नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमेवेति कुत इत्याशङ्कायामाह–'सिद्धत्थाणं' सिद्धार्थानां, अत्र षष्ठ्या प्रतिपादकत्वार्थकत्वेन प्रमाणान्तराऽविसंवाद्यर्थप्रतिपादकमित्यर्थः। अस्य हेतुविधया विशेषणत्वात् जिनप्रणीतत्वमन्यथानुपपद्यमानस्य प्रमाणान्तराविसंवादिसूक्ष्मव्यवहितदूरान्तरितार्थप्रतिपादकत्वाद्धेतोरिदं शासनं जिन-

प्रणीतमेवाभ्युपगन्तव्यमिति भावः। ननु जिनास्सर्वथा रागादिजयोद्भूतानन्तार्थसाक्षात्कारशालित्वात् सर्वज्ञा इति तत्प्रणीतमेवाविसंवादिवचनविशेषरूपं शासनं निश्चितप्रामाण्यकमिति कुतः, बुद्धादीनामपि तदनुगैः सर्वज्ञतयाऽभिमतत्वेन तत्प्रणीतानामपि शासनानां निश्चितप्रामाण्यशालित्वादित्याशङ्कानिवृत्तये बुद्धादिशासनानामसर्वज्ञप्रणीतत्वमेवेति प्रतिपादनार्थमाह–'कुसमयविसासणं' कुसमयविशासनम्, कुसमया मिथ्यावासनावासितचित्तवृत्तिपरवादिप्रणीतप्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकतत्तद्दर्शनान्तरसिद्धान्तास्तेषां दृष्टेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेन विशासनं विध्वंसकम्, तथा च दर्शनान्तरसिद्धान्तानां बाधितार्थप्रतिपादकत्वेनोन्मत्तवचोवदप्रामाण्ये सिद्धे कुसमयविशासनमिति विशेषणेन सर्वज्ञविशेषसिद्धेस्तत्प्रणीतमेव शासनं निश्चितप्रामाण्यमिति सिद्धम्। प्रयोगश्चात्र–इदं शासनं निश्चितप्रामाण्यकं जिनप्रणीतत्वात् यन्नैवं तन्नैवं तीर्थान्तरशासनवत्, न चास्य हेतोरसिद्धिः, अन्यथाऽनुपपद्यमानप्रामाणिकातीन्द्रियाद्यर्थप्रतिपादकत्वहेतोस्तस्य सिद्धेरिति। अथ सर्वज्ञप्रणीतं शासनं, तत्प्रणीतत्वाच्च तत्प्रमाणमिति युक्तमुक्तम्, रागादीन् जितवन्त इति जिना इति त्वयुक्तमुक्तम्, सामान्ययोगिनि तस्य घटमानत्वेऽपि अनादिसंसिद्धे शासनादिसर्वजगत्स्रष्टरीश्वरे तस्याघटमानत्वात्, तत्र सहजत एव रागादिलक्षणक्लेशशत्रुरहितत्वस्य सद्भावात्, न पुनर्विपक्षभावनापरिपाकवशादेव तस्य रागादिक्षयः, येन तत्र रागादीन् तत्प्रतिपक्षवैराग्याभ्यासादिस्वव्यापारेण जितवन्त इति वचः सार्थकं जिनार्थप्रतिपादकत्वेन स्यादिति नित्येश्वरवादिनो ये मन्यन्ते तन्मतनिरासायाह–'भवजिणाणं' भवजिनानाम्। भवशब्देन भवकारणीभूता रागादयोऽत्रोपचाराद्विवक्षिताः, तान् जितवन्त इति भवजिनाः, तेषां शासनम्, तत्प्रणीतं तदिति यावत्, न तु पूर्वोक्तलक्षणेश्वरप्रणीतम्, दृढतरनिरन्तराभ्यस्तानित्यत्वादिद्वादशभावनाद्यात्मक कर्मक्लेशादिजयोपायमन्तरेण स्वभावत एवेश्वरे कर्मक्लेशादिविगमस्याऽसम्भवात्। उपचाराश्रयणे किं प्रयोजनमिति चेत्, उच्यते, न ह्यविकलकारणे रागादावध्वस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य जयः कर्तुं शक्य इति प्रतिपादनमेव, अथाखिलतत्त्वसाक्षात्कारे सति भवस्थजिना जीवन्मुक्तास्सन्तो योगिनः कंचन कालं भवेऽवतिष्ठन्ते इत्येवं न, किन्तु तदव्यवहितोत्तरसमय एव परममुक्तिमवाप्नुवन्तीति तत्र शरीराऽभावे वक्तृत्वासम्भवेन शासनप्रणेतृत्वोपपत्तिर्नेति ये मन्वते तन्मतनिरसनायाह–'ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं' स्थानमनुपमसुखमुपगतानाम्, तिष्ठन्ति कर्मक्षयोत्पन्नानन्तज्ञानाद्यष्टगुण शालिशुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम्, लोकाग्रलक्षणम्, न विद्यते उपमा यस्य तदनुपमम्, अनुपम सुखं यस्मिन् तत्तथा, तादृशं स्थान 'उप' इति कालसामीप्येन गतानां–प्राप्तानाम्, भवोपग्राहिकर्मणां यावता कालेन क्षयस्स्यात्तावत्प्रमाणोऽल्पीयान् कालो व्यवधानभूतो येषां तेषामिति भावः, यद्वा 'उप' इत्युपसर्गः प्रकर्षवाची, तेन तादृशस्थानं प्रकर्षेण गताना-

मिति, यद्यपि वेद्यमानतीर्थकरनामकर्मादिमत्त्वेन भवजिनास्तत्स्थानं नाऽऽरूढवन्तस्त थाप्यत्र 'परार्थे प्रयुज्यमाना शब्दा वतिमन्तरेणाऽपि तमर्थं गमयन्ति' इति न्यायादनुभूय मानतीर्थकरनामकर्मोदयसद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्यर्थः कर्तव्यः, तेषाम्, तेन शासन-प्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव, यद्वा "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः" इत्येतन्मतनिरासार्थमाह सूरि –"ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं" अनुपमसुखं स्थानं "उव"इति प्रकर्षेण–अपुनरावृत्त्या गतानाम्–उपगतानामिति सङ्क्षिप्तार्थः। विस्तृतार्थस्त्वयम्–अत्र 'शासनम्' इति मुख्यं विशेष्यम्–शास्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते जीवाजीवादयः पदार्थाः प्रमाणान्तराऽबाधितत्वेन यथार्थस्वरूपतयाऽनेनेति शासनं द्वादशाङ्गमित्यर्थः। तत्किं परापेक्षया प्रामाण्य विशिष्टं किं वा स्वमहिम्नैवेत्यत आह–सिद्धमिति, यथा कनकं स्वयमेव पवित्रमिति तस्य विशुद्धत्वे नान्यापेक्षा, तद्वद् शासनमपि स्वमहिम्नैव निश्चितप्रामाण्यम्, न तु हेत्वन्तरा-पेक्षया, यथाऽन्यपुरुषप्रणीतस्य सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमाविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादिहेत्वन्तरापेक्षयाऽस्य परापेक्षनिश्चितप्रामाण्यम्, नात्र तथा, अस्य घातिकर्मक्लेशादिमलकलङ्कदोषापगताप्तपुरुषजिनप्रणीतत्वेनैव प्रामाण्यं हेत्वन्तरानपेक्षमिति। अथास्य शासनस्य जिनप्रणीतत्वमेव नास्तीति तत्र प्रामाण्यं निरवकाशमिति विप्रतिपन्नं प्रति किं मानमिति चेत्, उच्यते, इदं शासनं गुणवत्पुरुषप्रणीतम् अन्यथाऽनुपपद्यमानाबाधितार्थप्रतिपादकत्वात्, लौकिकसत्यवाग्वदित्यनुमानमस्ति, न चात्र व्यभिचारशङ्का विधेया, यतो यदीदं शासनं गुणवत्पुरुषप्रणीतं न स्यात् तदन्यथाऽनुपपद्यमानाऽबाधितार्थप्रतिपादकमपि न स्यात् उन्मत्तपुरुषवाक्यवदित्यनुकूलतर्कसद्भावात्। न चात्राऽऽश्रयासिद्धिरिति वाच्यम्, द्रव्यपर्यायापेक्षया कथञ्चिन्नित्यानित्यत्वादिस्वरूपतया शासनप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः प्रत्यक्षप्रमाणेन तथैव प्रतीतेः, न च नित्यानित्यत्वयोर्विरुद्धत्वादुभयधर्माक्रान्तवस्तुग्राहिणी सा प्रतीतिर्भ्रान्तेति वाच्यम् न्यायमते भ्रान्तज्ञाने धर्मिप्रकारांशावच्छेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्यवदिव शाखामूलावच्छेदेनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसंयोगतदभाववदिव वा बौद्धसिद्धान्तसिद्ध चित्रज्ञाने नीलाकारस्य पीताकारस्य वा साङ्ख्यमतसम्मतगुणत्रयात्मकप्रकृतौ सत्त्वादित्रयात्मकत्वस्येव वा तत्तदुपाधिभेदेन तयोर्विरोधाभावात्। एतच्चाग्रे निरूपयिष्यते। तथा चोक्तानुमानेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वसिद्धौ च एतच्छासनकृद्गुणवत्पुरुषः स एव जिनः, तदन्यपुरुषान्तराऽसम्भवात्, तदसम्भवश्चाग्रे प्रतिपादयिष्यते। तदेवं शासनस्य जिनप्रणीतत्वसिद्धौ तत्र हेत्वन्तरानपेक्षमेव स्वतः प्रामाण्यं सावकाशमेव। यद्वा वाक्यरचनाम्प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तस्य यथार्थत्वे तस्याः प्रामाण्यम्, अयथार्थत्वे चाऽप्रामाण्यमित्यतश्शासनस्य प्रामाण्ये आप्तवक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणस्य परामर्शोऽवश्यम्, अन्यथा प्रामाण्यमेव न स्यादिति वक्तृज्ञानात्मकगुणाधीनत्वाच्छासनस्य प्रामाण्यं परत इति मीयते तदापि तत्रोक्तानुमानमेवेति।

मीमांसकास्तु ज्ञानमात्रे उत्पत्तौ स्वत एव प्रामाण्यमनधिगताऽबाधितार्थविषयकज्ञानत्वलक्षणं तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारतानिरूपकज्ञानत्वलक्षणं वा, ज्ञानोत्पादकसामग्र्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तरानपेक्षत्वात्, वेदागमस्याऽप्यपौरुषेयतया नित्यत्वेन "शब्दसामान्यस्य ज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यमभ्युपगतं चोदनायाश्च शब्दत्वात्तस्य सम्भवत्येवातीन्द्रिये धर्मे चोदनायाः प्रामाण्यम्" इति शाबरभाष्यप्रभाटीकोक्तेरनधिगताबाधितार्थावगाहिज्ञानजनकत्वात् प्रामाण्यम् आप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावात्स्वतः । यतो नाप्तवक्तृगुणसङ्क्रान्त्या वेदागमे प्रामाण्यम्, शब्दोच्चारणमात्र एवाप्तस्य व्यापारात् । शब्दः पुनरविसंवादिनीं वस्तुप्रतीतिं विदधानः स्वमहिम्नैव प्रमाणभूतः, नातोऽस्मिन्नाप्तप्रणीतत्वाभावादप्रामाण्यम्, यतः शब्दस्थलेऽपि विज्ञानोत्पादकत्वमेव प्रामाण्योत्पादकम्, नाप्तप्रणीतत्वम्, अतस्तदभावो न दोषाय, प्रामाण्यप्रयोजकाभावो ह्यप्रामाण्यमाक्षिपति, नाप्तप्रणीतत्वाभाव इति नानुमानादिवेद्यत्वेन परतः प्रामाण्यम्। अनुमानप्रयोगस्तु प्रामाण्यव्यवहारसाधनार्थमेव, न तु प्रामाण्यसिद्ध्यर्थम्, सिद्धेऽप्यर्थे इच्छादिना व्यवहारार्थं हेतूपन्यासो लोकेऽवलोक्यत एव। अत एव "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति वाचस्पतिवचनं सङ्गच्छत इत्याहुः । तन्न विद्वन्मनोरञ्जकम्, वेदे प्रामाण्यस्याप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावेन स्वतस्त्वे तत्राप्रामाण्यस्यानाप्तवक्तृदोषाऽपेक्षा नास्तीति तदपि स्वतस्स्यादिति विपर्ययस्य सुवचत्वापत्तिस्स्यात् । अथाऽप्रामाण्यम्प्रति वक्तृदोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्तः, अत एव "तदन्तर्गतो दोषो मिथ्याभावस्य हेतुः" इत्युक्तमिति चेत्तदप्यपेशलम्, प्रामाण्यम्प्रति वक्तृगुणानामपि तयोस्तुल्यत्वात् । तथाहि–पुरुषगुणे सति वाक्यप्रामाण्य दृश्यते, तस्मिन्नसति च तन्नानुभूयत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुरुषगुणकृतं वाक्यप्रामाण्यमवगम्यते, तद् यद्यनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकोभयसद्भावेऽपि पुरुषगुणप्रयोज्य नेष्यते तर्ह्यप्रामाण्यमपि पुरुषदोषाधीनं न स्यात्, गुणान्वयव्यतिरेकयोरिव दोषान्वयव्यतिरेकयोरप्यन्यथासिद्धत्वात्, न च दोषस्थलीयावेव तावनन्यथासिद्धाविति वक्तुं शक्यम्, विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्, विशेषाऽभावात्, इष्यते च पुरुषदोषाधीनमप्रामाण्यं भवद्भिः, तद्वत्पुरुषगुणकृतं प्रामाण्यमप्येष्टव्यम्, यतो लोकेऽपि वचनप्रकारेषु गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वादेव गुणाधीन प्रामाण्यम्, तदभावे च दोषाधीनमप्रामाण्यमिति व्यवस्थोपलभ्यते, प्रयोगश्चात्रैवम्–वेदवचनं वक्तृगतयथार्थज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवत् श्रोतृयथार्थबोधजनकत्वात् उभयसम्प्रतिपन्नाप्तवचनवत्, न चात्र वेदस्याऽपौरुषेयत्वात्तद्वचनं स्वत एव प्रमाणमित्युक्तसाध्य मास्तु हेतुरस्त्विति व्यभिचारशङ्का कर्त्तव्या, यदि तद् वक्तृयथार्थज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवन्न स्यात्तर्हि श्रोतृयथार्थबोधजनकमपि न स्यात्, उन्मत्तपुरुषवाक्यवत्, इष्यते च श्रोतृयथार्थज्ञानजनकम्, तस्मात्तद् वक्तृयथार्थज्ञानाऽऽत्मकगुणाधीनप्रामाण्यवदित्यनुकूलतर्कसद्भावात् । लिङ्गसादृश्यादिभ्रान्तज्ञानरूपदोषाभावमात्रान्नानु-

मित्युपमितौ भ्रमे इति विप्रलम्भादृष्टादिविषयकयथार्थज्ञानमपि गुणस्यहेतुत्वदर्शनात्प्रमाणमपि दोषाभावमात्राच भवतीति तत्र यथार्थवाक्यार्थज्ञानमपि गुणो हेतुरिति यथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणवत्पुरुषोच्चरितत्वेन वेदे प्रामाण्यं परतोऽभ्युपगन्तव्यम्। अपौरुषेये वेदे अकर्तृकत्वेन दोषनिराकरणेनैव प्रामाण्यमस्त्विति चेद्, तर्हि तत एव गुणनिराकरणात्प्रामाण्यमपि स्यात्। गुणनिराकरणप्रामाण्यम्प्रति सामर्थ्यं न क्वापि दृष्टमौचर्यमिति चेद्, तर्हि दोषनिराकरणेः प्रामाण्यम्प्रति क्व सामर्थ्यमनुभूतमित्युच्यताम् ?। लोकवचसीति चेद् ? तुल्यमुभयत्र। लोकवचनामप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तिस्तत्सहकारिणीयमविधिरित्यप्रामाण्यं दोषाधीनत्वेन परत इति चेद्, नैवम्, प्रामाण्य प्रत्यपि गुणा एव कारणम्, दोषनिवृत्तिस्तु स्वभावसिद्धेति प्रामाण्यमपि गुणाधीनत्वेन परत इति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्, दोषाभावप्रयुक्तो गुणानामभ्यर्थनीयसद्भावो न तु स्वकार्योपयोगिता गुणाः, येन तादृशगुणजन्यं प्रामाण्य परतस्स्यादिति चेद्, तर्हि गुणोत्साहप्रयुक्तो दोषाणामभ्यर्थनीयसद्भावोऽस्त्विति स्यादप्रामाण्यमपि स्वत इत्यपि स्वीक्रियताम्, न च गुणाभावस्यैवाऽप्रामाण्यं प्रति प्रयोजकत्वेन परप्रयोज्यत्वात्परतस्त्वमेव तस्य सिद्ध्यतीति वाच्यम् भावकारणप्रयोज्यत्वे सत्येव परतस्त्वस्वीकारात्, गुणाभावस्य च भावरूपत्वाभावात्, अन्यथा दोषाभावप्रयोज्यत्वमादाय प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसाधनं तथापि न सङ्गच्छेत, प्रामाण्यस्य दोषाभावरूपपरप्रयोज्यत्वात्। अथैवं सति वेदानामपौरुषेयतया गुणदोषयोरुभयोरभावे तद्धेतुकयोः प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरभावात्तृतीयराशेरासम्भवाभिरत्वभावस्यापत्तिरस्यादिति चेद्, किं न नस्तु नो? सत्तत्वमावभास्मानं स्वपुत्रास्मत, यः क्रियामीयामकर्तृकत्वं पृच्छयेपि। तस्मादाप्तवक्तृगुणहेतुकं प्रामाण्यमनाप्तवक्तृदोषहेतुकमप्रामाण्यं यथा लोकवचसि तथैव वेदेऽप्यस्तिबरैव मार्गश्रेयस्तरोऽभ्युपगमनीय इति तस्याप्तवक्तृगुणहेतुकत्वे सत्येव प्रामाण्यं सिद्धं स्यात्, नान्यथा। वेदे विपरीताभ्युपगमे को दोष इति चेद्, उच्यते, दोषाऽऽश्रयपुरुषप्रणीतत्वाद्प्रामाण्यमिव गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वादेव प्रामाण्यमपि लौकिकवाक्येषूपलभ्यम्, लौकिकवाक्यसमश्च वेदवाक्यम्, य एव लौकिकास्त एव वैदिका इत्यतोऽवश्यस्वरूपाविज्ञानानुचार्यमाणत्वप्रयोज्यपुरुषाभवधारणप्रमाणान्यपेक्षार्थप्रतिपादकत्वादिलक्षणसमानधर्मकत्वे सत्यपि पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकानुविधान सत्यपि च तत्र गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वानभ्युपगमे प्रामाण्यहेतुभूताप्तोच्चरितत्वस्याऽभावेन प्रामाण्याभाव एवाऽऽपद्येत भवेत्। ननु वर्णा नित्या एव "य एव पूर्वमुच्चरितो गकारः स एवायं गकारः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञाबलात्सिध्यन्ति, तथा च वर्णसमूहात्मकपदसमूहविशेषवाक्यसमूहविशेषरूपस्य वेदस्य नित्यत्वेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वाभावाच परतः प्रामाण्यमिति चेद्, न, उच्चरितो गकारो विनष्टो गकारः, इदानीं पूर्वश्रुतो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल इत्यादिप्रतीत्योत्पादविनाशप्रतीतीनां वर्णानामनित्यत्वेन स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञायास्तज्जातीयत्वेन रूपेण

व्यक्त्यभेदावगाहित्वेन सेयं दीपज्वालेति प्रत्यभिज्ञाया इव प्रामाण्येऽपि व्यक्तित्वेन व्यक्त्य-भेदावगाहित्वेन यत्प्रामाण्यं तस्याभावात् । अयमल्पो महान् कर्कशो मधुरश्शब्द इति भेदप्रतिभासकबाधकप्रत्ययस्य सद्भावेन तस्याः प्रामाण्याभावाच्च, न च पुरुषे तुरगवर्त्ति-वेगाध्यारोपाद्वेगेन पुरुषो यातीति प्रत्ययवद्वर्णस्य तद्व्यञ्जकध्वनेश्च भेदाग्रहाद् ध्वनिगतो-त्पत्त्यादिधर्मस्य गादावारोपादुत्पन्नो गकार इत्यादिप्रतीतेर्ध्वनिनिष्ठोत्पत्त्यादिविषयकत्वेन भ्रमत्वम्, एवं व्यञ्जकध्वनिगताल्पत्वमहत्त्वादिधर्माणां गादिवर्णेष्वध्यारोपात्तत्प्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वमिति स न भेदसाधनक्षम इति वाच्यम्, गादिवर्णानां निस्स्वरूपत्वावाप्तिप्रसक्तेः, यतो यः कदाचिदप्यन्यथा प्रतीयते तस्यैवान्यदाऽन्यथा प्रत्ययने भ्रान्तत्वम्, यथैकत्वेन प्रतीयमानस्येन्दोर्द्वित्वेन प्रत्ययने । तदुक्तम्—

> यो ह्यन्यरूपसंवेद्यस्संवेद्येतान्यथाऽपि च ।
> स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

न चात्र कदाप्यल्पमहत्त्वादिधर्मानध्यासिततया गादिस्स्वप्नेऽपि केनचित्प्रतीयत इति । न चाभिव्यञ्जकस्य प्रदीपादेरल्पमहत्त्वे तदभिव्यङ्ग्यस्य घटपटादेरल्पमहत्त्वादिप्रतिभासोऽपि दृष्ट इति । किञ्चाल्पत्वादिधर्माणां ध्वनिधर्मत्वपक्षे श्रोत्रेण तद्ग्रहणमपि न स्यात् । उक्तञ्च न्यायमञ्जर्याम्—

> ध्वनिधर्मत्वपक्षे तु श्रोत्रेण ग्रहणं कथम् ।
> नहि वायुगतो वेगः, श्रवणेनोपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

किञ्च मालाऽनेन कृतेत्यादौ सन्दर्भविशेषविशिष्टपुष्पस्वरूपायां मालायां विशेष्यस्य पुष्पादेरसिद्धत्वेऽपि सन्दर्भरूपतद्गतविशेषणस्य पुरुषकर्तृकत्वमादायैव तद्विशिष्टपुष्परूपायां मालायां पुरुषकर्तृकत्वस्य व्यवहारवत् तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन विशेष्यीभूतवर्णानां नित्य-त्वाऽभ्युपगमेऽप्यर्थप्रत्ययानुकूलरचनाविशेषरूपानुपूर्वीविशेषरूपविशेषणस्य पुरुषविशेषकर्तृ-कत्वमादायैवानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णात्मकवेदस्यापि पुरुषविशेषकर्तृकत्वमुपपन्नं स्यादेव। यतो न हि पुरुषप्रयत्नमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टश्श्रुतो वा, दृष्टस्य श्रुतस्य च तत्त्वस्याऽनु-सारिणी कल्पना प्रमाणभावं भजते, न यथा तथा कल्पना । एवं सत्यपि वेदे पदानां रचना स्वाभाविकीति चेत्, तर्हि पटेऽपि तन्तूनां रचना नैसर्गिकी भवेदिति साप्यकर्तृका स्यात्, पटरचनां दृष्ट्वा तत्कर्तृत्वमनुमीयत इति चेत्, तर्हि वेदरचनायामपि तुल्यमेतत्, उक्तञ्च—

> " पदनित्यत्वपक्षेऽपि, वाक्ये तद्रचनात्मके ।
> कर्तृत्वसम्भवात्पुंसो वेदः कथमकृत्रिमः ॥ १ ॥

पटादिरचनां दृष्ट्वा, तस्य चेत्साऽनुमीयते ।
वेदेऽपि रचनां दृष्ट्वा, कर्तृत्वं तस्य गम्यताम् ॥ २ ॥ इति ॥”

सेति कर्तृविस्पर्धः । ननु वैदिकी रचना पौरुषेयी न भवति दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षण त्वात्तन्वरीश्वरविद्यनुमानतो रचनाया अपौरुषेयत्वसिद्ध्या तद्विशिष्टपर्यायात्मकवेदोऽप्यपौ रुषेय एव सिद्ध्यतीति चेत्, नैवम्, विशिष्टा रचना दृश्यमाना तत्करणाऽसमर्थमेव कर्तारं निराकुरुते, न पुनः कर्तृमात्रमपि, न खलु पुराणकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचना प्रतीयमाना कर्तृमात्रं निराकुर्वती प्रसिद्धा, तत्करणाऽसमर्थस्यैव शिल्पिनस्तया निराकरणात्, न हि कर्तृमात्रव्यतिरेकानुविधायिनो धर्माः कर्तारं विना घटन्ते, ततो वैदिकी रचना पौरुषेयी न भवतीत्याद्यनुमानमयुक्तमेवोक्तम्, दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य हेतोरुक्तनीत्या तथाऽसिद्धत्वात्, सिद्धत्वे वा तद्विलक्षणस्यैव कर्तुरनुमीयमानत्वेन कर्तृमात्राऽनिषेधकत्वात् । ततो वेदः पौरुषेयो वचनरचनात्वात् भारतादिवदित्याद्यनुमानेन वेदस्य पौरुषेयत्वमभ्युपगन्तव्यम् । अपि च वेदवाक्यादन्यपरत्वे तदर्थज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गेन न स्वतस्तस्य तदुत्पादकव्यापारः, किन्तु पुरुषकृतसङ्केतग्रहजन्यविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पादनव्यापारः, ते च पुरुषास्सर्वे एव भवता प्रमादाज्ञानकरणापाटवविप्रलिप्सादिदोषवन्त एवाभ्युपगता इति तत्कृतसङ्केतग्रहजन्यसंस्कारो न यथार्थ इति तत्सव्यपेक्षवेदजन्यार्थज्ञानमयथार्थं स्यादिति निष्फलवेदस्याभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्—

असंस्कार्यतया पुंभिस्सर्वथा स्यान्निरर्थता ।
संस्कारोपगमे व्यक्तं, गजस्नानमिदं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

एतेन मासचक्षुरूपसङ्क्रान्त्या वेदागमे प्रमाणत्वम्, शब्दोच्चारणमात्र एवास्य व्यापारात्सिद्ध्यादि यदुक्तं निरस्तम्, यथाऽगृहीतसङ्केतस्य पुंसोऽर्थप्रतिपत्त्यसम्भवेन स्वार्थेन साकं गृहीतसङ्केत एव शब्दःशब्दप्रतीतिं जनयति, तत्र सङ्केतग्रहणं यदा प्रयोजकवृद्धस्य गामभ्याजेनां शुक्लां दण्डेनेत्यभिधानादनन्तरमेव प्रयोज्यवृद्धस्तेन तामानयति तदा पार्श्वस्थोऽव्युत्पन्नसङ्केतो बालोऽयं देवदत्तो यथानयनविषयकप्रतिपत्तिमान् तद्विषयकशब्दादि प्रहाराद्यनुकूलचेष्टावत्त्वादित्येवं तत्प्रतिपत्तिमनुमिनोति, तत्प्रतिपत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या तत्र शब्दस्य सामर्थ्यार्थतया शक्तिं च परिकल्पयति, ततश्च यदा मां भव पठमानवेत्युक्ते प्रयोजकवृद्धेन प्रयोज्यवृद्धो गां भयति पठमानयति तदा तत्पदयावापोद्वापाभ्यां तत्पद तस्मि न्नर्थे तत्पदस्य शक्तिं निमिनोति, इत्येवं प्रकारेण सम्भवति, तथा च शब्दस्यार्थासिद्धत्वे पुनः पुनरुच्चारणस्यैवाभावतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सङ्केतग्रहाभावेनार्थप्रतिपत्त्यजनकत्वात् प्रेक्षा वद्भिरनुच्चार्यमेव स्यादाद्यम्, उच्चार्यते च परावबोधाय तत्, ततो गवानयनाद्यर्थविषयक प्रमापकपरावबोधकत्वं शब्दस्य नित्यत्व एवोपपद्यते, न त्वनित्यत्वे, प्रत्युच्चारणं शब्द

भेदे सम्बन्धग्रहणाऽसम्भवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य च शब्दस्य नैवार्थप्रत्यायकत्वम्, तथात्वे सर्वस्यापि शब्दस्य सर्वार्थप्रत्यायकत्वं स्यादित्यतः परार्थवाक्योच्चारणान्यथाऽनुपपत्तेर्निश्चीयते धूमादिवद्गृहीतसम्बन्धोऽर्थप्रतिपादकश्शब्दो नित्यः, नित्यत्वे च तस्यैव शब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणे बहुश उपलभ्यमानत्वात्सम्भवति सम्बन्धग्रहणमर्थप्रत्यायकत्वञ्चेति। अत एव मीमांसादर्शनसूत्रकार आह—"नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" ॥ अ. १, पा. १, सू. १८ इति। तद्भाष्यम्–नित्यश्शब्दो भवितुमर्हति। कुतः–दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनमुच्चारणम्, तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम्, उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानऽर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्। अतो न परार्थमुच्चार्येत। अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थावगम इति युक्तमित्यादि"। नित्यत्वे च तस्य कैमुतिकन्यायप्राप्तमेवापौरुषेयत्वमिति चेत्, तदत्यन्ताऽसङ्गतमेव, अनेकासां धूमव्यक्तीनामेकैकशस्स्वसाध्येन सहावार्ग्दशा व्याप्तेर्ग्राहयितु ग्रहीतुं चाशक्यत्वेन गृहीतव्याप्तिकायाश्च धूमव्यक्तेः पक्षधर्मत्वाभावेनानुमित्युच्छेदभयेन तस्या अपि नित्यविभुत्वापत्तेः। स्यादेतत् अनित्यानामपि तत्तद्वह्निधूमव्यक्तीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां धूमत्वेन वह्नित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहसम्भवेन नैवमस्माकं प्रतिबन्दिबिभीषिकेति चेत्, तर्ह्यत्रापि विनाशिनीनामपि गवार्थव्यक्तीनां गोशब्दव्यक्तीनां च गोत्वेन गोशब्दत्वेन चानुगतीकृत्य सङ्केतग्रहणे का भवतां क्षतिः, सामान्यविशिष्टयोरविवक्षितविशेषयोर्व्यक्त्योरनुमेयानुमापकभावस्येव वाच्यवाचकभावस्यापि समकक्षत्वादिति। एतेन गोशब्दोच्चारणे सति सर्वगोविषयकः प्रत्ययो युगपज्जायते, ततश्च गोशब्दादिराकृतिवचन इत्यवगम्यते, व्यक्तिवचनत्वे तु तेन तद्व्यक्तिमात्रप्रत्यय एव भवेत्। विना प्रयोगबाहुल्येन सकृच्छ्रूयमाणस्य गवादिशब्दस्याऽनित्यत्वेनाभिमतस्याकृत्या वाच्यभूतया सह संज्ञासंज्ञिभावलक्षणसम्बन्धः कथयितुं ग्रहीतुं वा न शक्यते। अङ्गुल्यादिनाऽऽकृतिविशेषनिर्देशपूर्वकमनित्यस्यापि शब्दस्य सम्बन्धस्य कथनं ग्रहणं वा कुतो न सम्भवतीति चेत्, उच्यते, एकस्मिन् गोपिण्डे पार्थिवत्वद्रव्यत्वादिरूपाणां बह्वीनामाकृतीनां सद्भावाद्विना प्रयोगबाहुल्येन गोशब्दवाच्या गोत्वरूपामाकृतिं पार्थिवत्वादितो विभक्तां गोशब्दादिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां नावगमयेदिति नित्ये शब्देऽभ्युपगम्यमाने तस्य बहुकृत्व उच्चारणश्रवणसम्भवादन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदाकृतिविशेषावगमकत्वं सुलभमित्यर्थकं "गोशब्द उच्चारिते सर्वगवीषु युगपत्प्रत्ययो भवति। अत आकृतिवचनोऽयम्" इत्यादिभाष्योपेतम् "सर्वत्र यौगपद्यात्" अ. १, पा. १, सूत्र १९। इति मीमांसादर्शनसूत्रमपि निरस्तमवसेयम्। का पुनराकृतिः का व्यक्तिरिति। द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः। असाधारणविशेषा व्यक्तिः। अ. १, पा. ३, सू. ३०। इति शाबरभाष्यवचनादाकृतिपदग्राह्या या जातिस्तत्र शक्त्यभ्युपगमे गोपदशक्यतावच्छेदकं गवेतराऽसमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वलक्षणं गोत्वत्वं

स्यात्, एवं घटपदादावपि ज्ञेयम्, तस्य चानेकपदार्थघटितत्वेन सखण्डरूपतया तत्तत्स जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्त्यभ्युपगमे गोपदस्यैकपदार्थविवक्षया गोत्वजातेरखण्डरूपतया लघुरूपत्वेन तदपेक्षया गौरवास्पदत्वेनायुक्तत्वात्। न च व्यक्तीनामानन्त्यात् गोमुखादि व्यक्त्या प्रतिव्यक्तिसङ्केतकरणाऽसम्भव इति वाच्यम्, जातिविशिष्टायां व्यक्तावविशिष्टविशेष-रूपाणामत एवोदासीनरूपाणां सङ्केतकरणस्य तद्ग्रहस्य च सम्भवात्, आकाशादिशब्दार्थ येषां च शब्दानामर्थेषु जातिर्नास्ति तत्र तेषां केवलायां व्यक्तावेव सङ्केतकरणम्। उक्तञ्च—

> येषामर्थेषु सामान्यं, न सम्भवति तैः पुनः।
> उच्यते केवला व्यक्ति,-राकाशादिपदैरिव ॥ १ ॥ इति ॥

न च पूर्वं शब्दाच्छक्तिद्वारा जात्यवगमः पश्चाद्व्यक्तिं विना जात्यनुपपत्तेरर्थापत्त्या व्यक्त्यवगम इति क्रमिकप्रतीत्यनुभव इति वाच्यम्, विरम्य शब्दव्यापाराभावात्। किञ्च व्यक्तेरवाच्यत्वे विभक्त्यर्थेन क्रियाकर्मत्वादेस्तत्राऽनन्वयस्त्वात्। न च तत्रानन्तर [illegible] एवेति वाच्यम्। श्रुतिभक्तीनां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति [illegible]। न चायमपि समीचीनो मार्गः, यतो जातिव्यक्त्योर्नैकान्तभेदः, किन्तु कथञ्चिदेव, सामान्यविशेषात्मकस्यैव वस्तुनः सर्वेषां प्रतिपत्तौ प्रतिभासनादिति तदात्मके वस्तुन्येव पूर्वोक्तरीत्या सङ्केतग्रहः, न त्वेकान्तभिन्नजातिविशिष्टव्यक्तौ, न च तन्मात्रेण शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वमपि, किन्तु स्वाभाविकशक्तिसङ्केतग्रहाभ्यामेव, अन्यद् स्वाभाविकशक्तिमन्तरेणार्थप्रत्ययोत्पादकत्वाभावात्। नहि घटः पुरोवर्तको दृष्ट इति स्वतोऽशक्तरूपस्य कस्यापि कार्योत्पादकत्वादर्शनात्। उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः" । ४ । ११ । इति । इदमत्रावधेयम्, यद्यपि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः तथापि न श्रवणमात्रादेव शब्दाच्छाब्दबोधो भवति। शब्दत्वाव-च्छिन्नस्पर्शोपस्थितिद्वारा शब्दज्ञानस्य शब्दज्ञानत्वेनैव कारणत्वम्, न तु शब्दश्रवणत्वेन, तेन तत्पदानामर्थोपस्थितावपि सङ्केतग्रहो योऽपेक्षणीयः सोऽपि न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपः, अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः एतत्पदजन्यबोधविषयोऽयमर्थो भवत्वित्येवं रूपस्य इदं पदम् अमुमर्थं बोधयतु-एतदर्थविषयकबोधजनकमिदम्पदम्भवत्वित्येवं रूपस्य वेच्छाविशेषकत्वस्य सङ्केतस्य विषयताविशेषसम्बन्धेन शब्दगतत्वेऽपि श्रोत्रेन्द्रियाग्राह्यत्वेन तज्ज्ञानस्य श्रोत्रे-न्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपत्वाभावात्, किन्त्वनुमानात्मकमपि प्राथमिकं संकेतग्रहणं श्रोत्रेन्द्रिय-जन्यप्रत्यक्षभिन्नमेव, निरुक्तसङ्केताभिव्यञ्जकमानतयाऽभिमतस्य वाच्यवाचकभावस्यापि वा वाच्यतासामर्थ्यरूपशक्तित्वस्य पदगतवाचकतासामर्थ्यरूपशक्तित्वस्य वा श्रोत्रेन्द्रि-याग्राह्यत्वेन तदभिव्यक्तिर्निरुक्तसङ्केतग्रहात्मिका न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षात्मिका, किन्तु तदन्यज्ञानरूपैव, न हि प्रत्यक्षयोग्याभिव्यक्तिधर्मेण भवतु योग्यं नान्यदित्यस्ति नियमः,

शक्तिः कारणत्वं कारणतावच्छेदिका वा शक्तिरिति पक्षद्वयेऽप्यतीन्द्रियायाश्शक्तेरभिव्यञ्जकत्वादेव वह्निजनकतान्यूनवृत्तीनामपि तृणत्वारणित्वमणित्वादीनां वह्निजनकतावच्छेदकत्वोपचारात्, न च कारणतातदवच्छेदकान्यतररूपाया अतीन्द्रियायाश्शक्तेरभिव्यक्तिः प्रत्यक्षात्मिका, किन्तु ज्ञानान्तररूपैव, अथाप्यभिव्यक्तिरिति व्यपदिश्यते, शाब्दबोधे च यथा स्मरणलक्षणं सङ्केतग्रहणमपेक्षितं, तथा वाच्यवाचकभावग्रहणमपि स्मरणलक्षणमपेक्षितमिति। नन्वेवं तर्हि श्रूयमाणाच्छब्दात्तद्गतशक्तिबलाच्छाब्दप्रत्ययोत्पत्तेस्सैव कारणं तत्रास्तु किं सङ्केताभ्युपगमेनेति चेद्, मैवम्, जिनानुगैः सर्वे शब्दास्सर्वार्थवाचका इति नियमाभ्युपगमादेकस्मादपि शब्दादशेषार्थप्रतीतेः प्रसङ्गस्स्यात्, न च सा भवतीत्येकैकशब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वेऽपि सङ्केतसहकृतस्यैव शब्दस्य स्वयोग्यताऽपरपर्यायशक्तिमाहात्म्यतः प्रतिनियतार्थप्रतीतिजनकत्वेन प्रतिनियतार्थप्रतीतिव्यवहारोपपादनाय सङ्केताभ्युपगमस्यापि साफल्यात्। अत एव न शक्तिबलाद् गवादिशब्दादश्वादिप्रतीतिः, न वाऽव्युत्पन्नस्यापि पुंसः सर्वगोशब्दाऽविच्छिन्नवृत्तिगोशब्दत्वावच्छिन्नगोशब्दात्सदृशपरिणामलक्षणगोत्वावच्छिन्नगोव्यक्तिबोधः, सङ्केतो ह्ययमर्थोऽस्य शब्दस्य वाच्यः, अस्य चार्थस्याय शब्दो वाचक इत्येवंरूपो वाच्यवाचकयोर्विनियोगः, स येन पुंसाऽऽवापोद्वापद्वारा निश्चितस्तस्यैव पुंसः पुनर्गोशब्दश्रवणे तत्स्मृतौ शब्दः स्वशक्तिद्वारा स्वार्थं प्रतिपादयति, नापरस्य पुंसः, नान्यार्थञ्च। प्रतिनियतसङ्केतानुसारिणो नियताच्छब्दात्प्रतिनियतार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्, एतेन न शब्दस्वरूपं नियतार्थप्रतिपत्तिहेतुः, तस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वादित्यपि निरस्तम्, नियतसङ्केतसहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वाऽसिद्धेः। ततो वाच्यवाचकोत्पत्तिसमयसम्भूष्णुशक्तिस्वभावस्य कथञ्चिन्नित्यानित्यस्य वाच्यवाचकाभ्यां कथञ्चिद्भिन्नस्य सामान्यविशेषोभयस्वभाववस्तुगोचरोपचरितसङ्केताभिव्यक्तस्य वाच्यवाचकभावसम्बन्धस्य बलेन ताल्वादिसंयोगजन्यानां शब्दानामर्थावबोधलक्षणशाब्दबोधानुकूलसामर्थ्यं स्वाभाविकमुररीकृत्य तेषां प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम्। न पुनरनित्याना शब्दानामेकान्तभिन्नसामान्यविशिष्टेऽनुल्लिखितशाबलेयादिविशेषेऽर्थे आवापोद्वापद्वारा निश्चितसङ्केतमात्रवशेनार्थावबोधजनकानाम्, न वा नित्यानामपि शब्दाना नित्यवाच्यवाचकभावसम्बन्धाभिव्यञ्जकसङ्केतबलेन जातिमात्रावबोधकानामर्थापत्त्या व्यक्त्यवगमकानामिति। अस्थिरस्यापि शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावसम्बन्धस्य गुणीभूतजातिविशिष्टप्रतिनियतार्थसङ्केतग्रहबलेन ग्रहस्तु वह्निधूमव्यक्त्योरनित्यत्वेऽप्यविवक्षितव्यक्तिविशेषस्य वह्नित्वावच्छिन्नस्याऽविवक्षितव्यक्तिविशेषरूपे धूमत्वावच्छिन्ने ऊहाख्यतर्कबलेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रह इव सम्भवत्येवेति न तत्र कोऽपि दोषः। इत्यलं पल्लवितेन, ग्रन्थगौरवभीत्याऽधिकं यन्नोक्तं तद्ग्रन्थान्तरादस्मत्संदृब्धस्याद्वादबिन्दुतश्चावसेयम्, तदेवं शब्दानामनित्यत्व-

सिद्धा सृष्टिकर्तुरीश्वरस्य च निराकृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च तत्कर्तृकत्वाभावेन घाति कर्मक्लेशादिसकलदोषापरामृष्टपुरुषविशेषप्रणीतत्वेनैव हेत्वन्तरानपेक्षणेन स्वतस्सिद्धं शासनस्य प्रमाकरणस्वरूपं प्रामाण्यम्, इदन्तु मतद्वयापेक्षज्ञानारम्भकगुणमन्यत्वविषयायां तु परतः प्रामाण्यमपि, अत एव ज्ञानस्याप्तपरमकृष्णशासनप्रतिपाद्यार्थविषयकज्ञाने प्रमात्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तिर्ज्ञानकारणगतगुणापेक्षणात् परत इत्युच्यते, एवमेव प्रत्यक्षज्ञानादावपि प्रामाण्यस्य ज्ञानकारणगतगुणापेक्षया अप्रामाण्यस्य च ज्ञानकारणगतदोषापेक्षयोपजायमानत्वादुभयमप्युत्पत्तौ परत इति । ननूत्पत्तौ परतः प्रामाण्ये किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते, प्रामाण्यं ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनं ज्ञानत्वाविरोधे सति कार्यविशेषत्वात्, अप्रामाण्यवत् । यदि पुनः प्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्राधीनं भवेत्तदा निर्विवादाप्रामाण्य पार्थिवेन्दुद्वयसंवेदनमपि प्रमाणतामास्कन्देत्, ज्ञानहेतोस्तत्रापि सत्त्वात्, न च यथोक्तसंवेदनानुत्पत्तिप्रसक्तिस्स्यात्, कारणाभावे कार्याभावस्यावश्यम्भावनियमात् । अथ तत्र ज्ञानहेत्वतिरिक्तदोषोऽभ्युपेयत इत्यप्रामाण्यमिति चेत्तर्हि प्रमात्मकज्ञानेऽपि ज्ञानहेत्वतिरिक्तगुणोऽप्यभ्युपगम्यताम्, युक्तेस्तौल्यात्, प्रामाण्य विज्ञानमात्रोत्पादकनिखिलहेत्वतिरिक्तहेत्वपाय विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानत्वात्, यदित्थं तदित्थं, सम्यग्ज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानाप्रामाण्यवत्, तथा चेदं तस्मात्तथा । न चात्र हेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, मिथ्याज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि प्रामाण्यव्यावृत्तेरुभयसम्प्रतिपन्नत्वात् । तथा चोक्तानुमानेनापि ज्ञाने परतः प्रामाण्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्येति । अथ प्रत्यक्षज्ञानकारणचक्षुरादीन्द्रियेष्वन्वेषणेऽपि गुणानुपलम्भात् ते न सन्तीति चेत्, अत्र चक्षुरादीन्द्रियं किमतीन्द्रियशक्तिरूपं किं वा काचगोलकादिरूपं गृह्यत इति विकल्पद्वयम्, नाद्यः गुणवद् दोषाणामप्यभावप्रसङ्गात्, अतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य प्रत्यक्षेणाग्रहणे तद्गतगुणानामिव तद्गतदोषाणामप्यनुपलम्भस्य तुल्यत्वात् । नापि द्वितीयः, यतोऽत्रापि गुणानुपलम्भः किं स्वप्रत्यक्षेण किं वा परप्रत्यक्षेणेति विकल्पद्वयम्, तत्र नाद्यविकल्पो युक्तः, दोषाणामप्यनीक्षणेनाभावप्रसङ्गात् स्वस्यादर्शनप्रत्यक्षेणापि स्वचक्षुर्गोलकादिमात्रस्यैवोपलम्भात् । नापि द्वितीयविकल्पो युक्तः, परप्रत्यक्षेण काचकामलादिदोषा इव नैर्मल्यादिगुणा अपि परपुरुषीयचक्षुर्गोलकादावीक्ष्यन्त एवेति न तदनुपलम्भात्तदभावो युक्तः । अथ तदुत्पत्तिस्यापि बालस्य नैर्मल्यादिस्वरूपेण नयनादीन्द्रियप्रतीतेर्नैर्मल्यादीनां गुणरूपत्वाभाव इत्युच्यत इति चेत् तर्हि जन्मकालीनतिमिररोगव्याप्तस्य तत्कालोत्पन्नबालस्य तिमिरादिदोषाक्रान्तेन्द्रियप्रतीतेरिन्द्रियस्वरूपातिरिक्तदोषाणामप्यभावः कथं न स्यात्? कथञ्चैवं रूपादीनामपि कुम्भादिगुणस्वभावता, उत्पत्तेरारभ्य कुम्भे तेषां प्रतीयमानत्वाविशेषात् । तदेवं परचक्षुर्गोलकादौ दोषाणामिव गुणानामपि परप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वाद्गुणमात्रस्यैव परिहाय मिथ्यापातेन दोषा इव गुणा अप्यभ्युपगन्तव्याः । अन्यथा

" सुव्यक्तं गुणमात्सर्य,-मकारणमिदं तव ।
दोषैकपक्षपातित्वं, किं ब्रूमस्तत्सखेऽधुना ॥ १ ॥ "

इत्युक्तं सत्यापितं स्यात् । ननु गुणविप्रतिपन्नं प्रत्यनुमानमेव तत्साधकं शरणभूतमिति तत्कीदृशमिति चेत्, तदपि शृणु सावधानीभूय, विवादाध्यासितेषु ज्ञानहेतुषु गुणाः सन्ति, अन्यथाऽनुपपद्यमानसम्यग्ज्ञानजनकत्वात्, यद्वा प्रमा ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्या ज्ञानत्वे सति कार्यविशेषत्वात् अप्रमावत् । यदि च ज्ञानसामान्यकारणमात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेत् । अस्ति हि तत्र ज्ञानसामान्यहेतुः, अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यादित्यनुमानेन सामान्यतस्तादृशभिन्नकारणजन्यत्वसिद्धौ चाक्षुषादिप्रमा चक्षुरादीन्द्रियवृत्तिगुणजन्या प्रमाविशेषत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, भ्रान्तज्ञानवदिति व्यतिरेक्यनुमानेन तादृशगुणजन्यत्वसिद्धौ तद्घटकतया गुणसिद्धिः, यद्वा प्रमा कारणवृत्तिगुणजन्या कार्यविशेषात्मकत्वात्, यद्यत्कार्यविशेषात्मकं तत्तत्कारणवृत्तिगुणजन्यं, मालाकारनैपुण्यगुण सञ्जातस्रग्वत्, यद्वा प्रमात्वं जन्यत्वसम्बन्धेन गुणव्याप्यं तत्कार्यमात्रवृत्तित्वात्, यद्यत्कार्यमात्रवृत्ति तज्जन्यत्वसम्बन्धेन तद्व्याप्यम्, यथा धूमत्वं जन्यत्वसम्बन्धेन वह्निव्याप्यमित्याद्यनुमानप्रकारा गुणसाधनेऽवबोद्धव्याः । यद्वा प्रमात्व ज्ञानसामान्यकारणभिन्नकारणजन्यतावच्छेदकं ज्ञानवृत्त्यनित्यधर्मत्वात् अप्रमात्ववदिति सामान्यानुमानेन तादृशसाध्यसिद्धौ दोषजन्यतावच्छेदकत्वबाधेन परिशेषानुमानेनेन्द्रियादिगतगुणजन्यतावच्छेदकत्वं प्रमात्वस्य सिद्ध्यति । किञ्च सविकल्पकज्ञानं कार्यं यथार्थायथार्थभेदेन द्विविधमेवावलोक्यते, न तु तृतीयप्रकारम्, तत्राद्यं गुणवत्कारणोत्पाद्यम्, द्वितीयन्तु दोषवत्कारणोत्पाद्यम्, ज्ञानकार्यस्य द्वैविध्ये च सति तत्कारणेनापि द्विविधेनैव भाव्यमित्युक्तकारणातिरिक्तं कार्यवत्कारणमपि नोपलभामह इति सम्यग्ज्ञानलक्षणं कार्यं गुणवत्कारणादेवोपजायत इति सिद्धम् । एतेन यथार्थज्ञानं स्वरूपावस्थितेभ्य एव कारणेभ्यो जायत इति न तत्कारणगतगुणकल्पनायै तत्प्रभवतीति निरस्तम्, गुणदोषविरहितस्य तृतीयकारणस्यासम्भवात् । ननु क आह तृतीयकारणमस्तीति, किन्तु नैर्मल्यादिकं नयनादीन्द्रियाणां स्वरूपमेव, न पुनः स्वरूपातिरिक्तो गुण इति चेत्, कुतो नैर्मल्यादेर्नयनादिस्वरूपतावगतिः, नयनादितः पार्थक्येन तस्यानुपलम्भात्सेति चेत्, तर्हि तिमिरादिदोषा नयनादिस्वरूपाः पृथक्तयाऽनुपलम्भात् नैर्मल्यादिवदित्यपि सिद्ध कथं न स्यात् ? । किञ्च तत्र स्वरूपशब्दवाच्यार्थः को भवदभिलषित इति वाच्यम्, अथ किमत्र वक्तव्यम्, तादात्म्यं तन्मात्रत्वं वेति चेत्, तर्ह्याऽऽद्यविकल्पे नैर्मल्यादेर्गुणत्वाऽनिषेधः, तादात्म्यस्य गुणत्वेन सहाविरोधात्, अन्यथा रूपादेरपि गुणत्वं न स्यात् । अथ रूपादिकं घटादिधर्म्यतिरिक्तमेवेति तद्गुणरूपमेवेति चेत्, तर्हि नैर्मल्यादावपि तुल्यमेतदित्यपि विचार्यताम् । नापि द्वितीयो विकल्पो युक्तः, यावद्द्रव्यभावि यदेव तदेव तन्मात्रस्वरूपम्, न च तथा नैर्मल्यादिकम्, चक्षुरादावनुवर्त्तमानेऽपि

नैर्मल्यादेर्निवर्तमानत्वादिति तस्य तन्मात्रत्वाऽनुपपत्तेः । एतेन नैर्मल्यादिगुणकार्यस्य यथार्थप्रत्ययस्य दोषाभावमात्रेणापि चरितार्थत्वे सति किमतिरिक्तगुणकल्पनयेत्यपि निरस्तम्, गुणाभावमात्रेणापि काचकामलादिदोषकार्यमयथार्थप्रत्ययं सेत्स्यतीति किमतिरिक्तदोषकल्पनयेति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। किञ्च दोषाभावोऽपि न तुच्छरूपोऽभ्युपगन्तुमर्हः, स्वरूपेणाभावस्य तुच्छत्वेन मीमांसकैरनभ्युपगमात्, किन्तु पर्युदासवृत्त्या गुणात्मक एवेति गुणाभावे स तदात्मकः कथं स्यात् । अथाभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेनाभ्युपगमात् दोषरहितचक्षुरादिस्वरूप एव दोषाभावः, स एव यथार्थबुद्धिमुत्पादयतीति तत्कारणं तथाऽभ्युपेयते इति चेत्, तर्हि भूतलस्वरूपस्यापि घटाभावस्य तद्विषयकप्रत्ययंप्रति घटाभावत्वेन कारणत्ववत् तत्प्रति दोषाभावत्वेन तस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यात्, तत्त्वेनैव गुणत्वेन कारणत्वे साधकतर्कोऽपि किम स्मृतिमोचरीक्रियते । " संविदेव भगवती वस्तूपगमसाधनी " इत्युक्तेर्लोकप्रतीतितोऽपि गुणा अभ्युपगन्तव्याः, सा चैवम्-कश्चित्काचकामलादिदोषकलुषितलोचनस्तथाविधौषधप्रयोगसमासादितनिर्मलतरचक्षुर्गुणः केनचित् परमसुहृदा पृष्टो ब्रूते, मे लोचने पूर्वं काचकामलादिदोषग्रस्ते समभूताम्, अधुना त्वौषधप्रयोगेण निर्मलतागुणसमासादिते सम्पन्ने इति, न तु विस्मृत्यापीदं वक्ति, यदुत पूर्वं दोषविकृते मे लोचने अभूताम्, इदानीं पुनस्तयोरौषधप्रयोगेण तिमिरादिदोषाभावमात्रं तुच्छं सञ्जातमिति । एतेन " इन्द्रियादिस्वरूपमेव अन्यनिरपेक्षमर्थाऽविसंवादिज्ञानोत्पादकम्, अञ्जनादीनां च दोषापगमे व्यापारः, न गुणाधाने " इति मीमांसाश्लोकवार्तिकतात्पर्यटीकावचनमप्यपहस्तितम्, तथा च गुणवच्चक्षुरादिसामग्रीत उत्पद्यमाने ज्ञाने प्रामाण्यमिति गुणवत्, दोषवच्चक्षुरादिसामग्रीतश्चोत्पद्यमाने तद् अप्रामाण्यमिति दोषमेवोत्पद्यत इति सिद्धं ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं च द्वितयमपि ज्ञानकारणगतगुणदोषरूपं परमपेक्ष्योत्पद्यत इत्यत उत्पत्तौ परत इति । निश्चीयते तु तदुभयमभ्यासदशायां स्वतः, यतस्तत्प्रतिपादोद्वारं परतः प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा निश्चित्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न, किन्तु प्रथमज्ञाने स्वतस्तन्निश्चित्यैव, अनभ्यासदशायां तु परत इति । नन्वनभ्यासदशायां न ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयस्तर्हि ततः प्रवृत्तिः कथमिति चेत्, प्रामाण्यसंशयादेवेति जानीहि । अथ प्रवृत्तिं प्रति न संशयः कारणमित्यपि न च वाच्यम्, यतः कदाचित्फलप्राप्त्या वशीकृतान्तःकरणाः कृषीवला अपि सस्यसम्पत्त्यादिफलनिश्चयाभावेऽपि तत्सम्भावनयैव कृष्यादौ फलबुद्ध्यैव प्रवर्तमाना दरीदृश्यन्ते, सम्भावनाया अपि सन्देहविशेषत्वात्, ननु यदि प्रामाण्यसंशयादपि प्रवृत्तिस्तर्हि पश्चात्तन प्रमारमकसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यनुमानादिलक्षणात् संवादकज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयस्य किं प्रयोजनम्, प्रवृत्त्यर्थं हि प्रामाण्यनिश्चयः कर्तव्यः, सा च सन्देहादपि जातेति चेत्, उच्यते, तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्य तद्विषयसन्देहापगम एव प्रयोजनं सुप्रतीतमिति किं प्रयोजनान्तरनिरूपण

प्रयासेन। तस्यापि किं प्रयोजनमिति चेत्, स्थाने प्रश्नः, किन्तु संशयापगमस्याभ्यासलक्षणमेव प्रयोजनं किं न परामृशसि। यदा ह्येकदा संवादकज्ञानात्प्रामाण्यं निश्चितं भवति तदा सुखेनैवान्यदाऽभ्यासात्स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयपूर्विका प्रवृत्तिस्सिद्ध्यति प्रतिपत्तृणामिति। एतेन प्रथमे प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयाऽभावे ततः प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति तन्निश्चयात्प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ सत्यां तया संवादकज्ञानम्, तस्माच्च प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, ततः प्रवृत्तिरिति दुर्निवारश्चक्रकावतारः। किञ्च संवादकज्ञानमप्यनिश्चितप्रामाण्यं न प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयोत्पादने समर्थमिति तस्यापि प्रामाण्यनिश्चयोऽन्यस्मात्संवादकज्ञानादित्यभ्युपगमेऽनवस्था, प्रवर्तकज्ञानाच्चेत् तर्ह्यन्योऽन्याश्रयः। संवादकज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यनिश्चयाभ्युपगमे च प्रवर्त्तकज्ञानस्य तथाभावे किं कृतः प्रद्वेषः। यदाह भट्टः—

"यथैव प्रथमं ज्ञानं, तत्संवादमपेक्षते।
संवादेनापि संवादः, परो मृग्यस्तथैव हि॥ १॥
संवादस्याथ पूर्वेण, संवादित्वात्प्रमाणता।
अन्योऽन्याश्रयभावेन, प्रामाण्यं न प्रकल्पते॥ २॥
कस्यचित्तु यदीष्येत, स्वत एव प्रमाणता।
प्रथमस्य तथाभावे, प्रद्वेषः केन हेतुना?॥ ३॥"

इत्यपि निरस्तम्। यदि हि संवादकज्ञानादेकान्तेन प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यं निश्चित्यैव ततः प्रवृत्तिः प्रतिज्ञायते, तदा स्याच्चक्रकदूषणावतारः, न चैवम्, अनभ्यासदशायां प्रामाण्यसन्देहकादपि प्रथमज्ञानात्प्रवृत्तिभावात्, तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्तु प्रवृत्त्यनन्तरभाविसंवादकज्ञानात्। ननु तत्रापि पूर्वज्ञानेन प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योऽन्याश्रय इत्युक्तं प्रागिति चेत्, सत्यमुक्तम्, न च युक्तमुक्तम्, अभ्यासदशायां संवादकज्ञानस्य स्वत एव, अनभ्यासदशायां तु संवादकज्ञानान्तरादेव प्रामाण्यनिश्चयात्। न चैवं तर्हि तत्रापि संवादकज्ञानान्तरापेक्षायामनवस्थेति वाच्यम्, संवादकज्ञानान्तरैरनभ्यासदशापन्नैरेव भाव्यमिति नियमाऽभावात्। एतेन नोदकाहरणरूपार्थक्रियाज्ञानेनार्थनिश्चयद्वारा पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि स्वप्नावस्थायामर्थव्यभिचारेण तेनाऽर्थनिश्चयासम्भवात्। नापि तज्जन्यसुखोत्पत्त्या पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, अयथार्थादपि स्वप्ने चन्दनलेपादिज्ञानात्सुखोत्पत्तेः, स्वप्नकालीनाऽऽमोदकादिभक्षणजन्यस्वास्थ्यसुखोत्पत्तेश्चार्थव्यभिचारित्वात्। तथैव संवादकज्ञानादपि पूर्वज्ञाने न प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि स्वप्नकालेऽर्थव्यभिचारित्वादेवेत्यपि निरस्तम्, जाग्रत्प्रत्ययत्वे सत्यर्थक्रियाज्ञानजनकं संवादकज्ञानजनकं वा ज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणे कृते सति स्वप्नकालीनेऽर्थक्रियाज्ञाने संवादकज्ञाने च व्यभिचारप्रदर्शनस्यायुक्तत्वादेवेति। ननु प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यसन्देहे सत्यपि प्रवृत्तौ प्रेक्षावत्त्वं न स्यादिति चेत्, सत्यम्, यस्यैव

छद्मस्थपुंस एकदा प्रेक्षावरणकर्मणः क्षयोपशमस्तस्यैव पुंसः कालान्तरे तदुदयः, पुनश्च कालान्तरे तत्क्षयोपशम इति अस्थिरीभूतस्य प्रेक्षावरणकर्मक्षयोपशमस्यानियतभावेन तत्कार्यस्य प्रेक्षावत्त्वस्याप्यनियतभावात् । तथा च यः कश्चिच्छद्मस्थात्मा एकदा प्रेक्षावरणक्षयोपशमविशेषादवाप्तप्रेक्षावत्त्वव्यपदेशः सुनिश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात् क्वचित्प्रवर्तते सोऽप्यन्यदा तथाविधक्षयोपशमाभावात्स्या समासादिताप्रेक्षावत्त्वव्यपदेशः संशयादेरपि क्वचित्प्रवर्तत इति न कश्चित्प्रतिनियतः प्रेक्षापूर्वकारी तदितरो वा । तथा चोक्तम्—

" प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया, कदाचित्कस्यचित्क्वचित् ।
अप्रेक्षाकारिताप्येव,–मन्यत्राशेषवेदिनः ॥ १ ॥" इति ।

तदेवं सिद्धमभ्यासदशायां प्रवर्तकज्ञानं संवादकज्ञानानपेक्षणात् स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, अनभ्यासदशायां तु पादूयोर्ध्वः पूर्वस्मिन् ज्ञाने प्रमापकमवतीर्णस्तादृश एवासौ येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तत्सजातीयसंवादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परत इति । तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे–

" तदित्थं ज्ञप्तिमाश्रित्या–नभ्यस्ते विषये स्फुटम् ।
प्रामाण्य परतः सिद्ध,–मभ्यस्ते स्वत एव तु ॥ १ ॥ " इति ।

एतेन संवादकज्ञानं समानजातीयं किं वा भिन्नजातीयम्, समानजातीयमप्येकसन्तानप्रभवं किं वा भिन्नसन्तानप्रभवम्, भिन्नजातीयमपि किमर्थक्रियाज्ञानमुतान्यदित्यादि विकल्पोपायकल्पो निरस्तः, प्रामाण्यनिश्चयवदप्रामाण्यनिश्चयोऽप्यभ्यासदशायां बाधकज्ञानमनपेक्ष्य जायमानत्वात्स्वतो भवतीत्यभिधीयते, अनभ्यासदशापन्ने तु ज्ञाने पूर्वानुभवविषयी कृतस्य रजतस्य प्रतिषेधं बोधयतो नेदं रजतमित्याकारकस्योत्तरकालभाविबाधकज्ञानस्याऽपेक्षया प्रादुर्भवत् परत इति । अत्र मीमांसकास्त्वेवं मीमांसयन्ति–यदि हि ज्ञानं स्वगतं प्रामाण्यं स्वतो निर्णेतुं न शक्नुयात्, तर्हि जगति निश्चयास्पन्दतामस्य एव स्यादित्यान्ध्यमेवाशेषस्य जगतः सम्पद्येत, न हि स्वतोऽनिश्चीयमानोऽर्थः परतो निर्णेतुं पार्यते, परस्यापि तद्वदेवाऽसामर्थ्यात् । अतो यत्र क्वापि वा स्वतो ग्राह्यत्वमङ्गीकरणीयं तदपेक्षया सर्वतः सर्वज्ञानेष्वेव प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यत इत्यभ्युपगमनम् । तत्र स्वतो ग्राह्यत्वं यावदाश्रयज्ञानग्राहकग्राह्यत्वम्, तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वमिति यावत् । एतादृशं स्वतो ग्राह्यत्वं मीमांसकानां त्रिष्वपि मतेषु सममेव, तत्र भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं घटोऽयमित्यादिज्ञाने जाते तेन ज्ञाततानाम कश्चित्सविषयः पदार्थो घटे उत्पद्यते, घटस्तेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्ष ज्ञानोत्पत्तेः, अत एव सा प्रत्यक्षा, न चोक्तमत्यक्षज्ञानं ज्ञानस्य वैशिष्ट्यमवभासयते, मनसा बहिरसङ्गुणाग्राहकत्वात् मनसश्च बहिरस्वातन्त्र्येण घटरूपविषयाग्राहकत्वात्, किन्त्वतिरिक्त ज्ञाततायाः, तथा च घटत्ववद्घटज्ञातत्वे सति घटत्वप्रकारकज्ञाततात्वविषयकप्रमात्मकप्रत्यक्षानुमानरूपलिङ्गज्ञानेन ज्ञाततापक्षे घटत्ववद्घटनिष्ठत्वकघटत्वप्रकारकज्ञानमनुमीयते,

तया चानुमित्या घटत्ववद्घटविशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रकारेणैव घटज्ञानं विषयीक्रियत इति सा प्रामाण्यमादायैव पर्यवस्यतीति स्वग्राहकेणैव प्रामाण्यग्रहः, येनैव प्राथमिकज्ञानग्रहस्तेनैव तद्गतज्ञानत्वधर्मवत्तन्निष्ठप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति यावत्, तत्र तदप्रामाण्यग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीपदेन परामर्शघटितसामग्रीपरिग्रहे तज्जन्यानुमित्यात्मकज्ञानविषयत्वात्प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं सम्पद्यते, तत्रापि किं बीजमिति चेत्, उच्यते, धात्वर्थक्रियाजन्यफलशालित्वमेव कर्मत्वम्, तच्च घटं जानातीत्यादौ ज्ञानक्रियाकर्मत्वं घटे धात्वर्थज्ञानात्मकक्रियाजन्यज्ञाततालक्षणफलाभ्युपगममन्तरेण नोपपद्यत इत्येवमभ्युपगतज्ञाततालिङ्गेन ज्ञानं तद्गतप्रामाण्यञ्चानुमीयते, यतो ज्ञानं क्रियात्मकम्, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञानाख्यज्ञातृव्यापारमन्तरेण ज्ञातताख्यफलाऽनिष्पत्तेरिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या तदनुमानात्। तथा च येनानुमानेन ज्ञानमनुमीयते तेनैव ज्ञानत्ववत्तद्गतप्रामाण्यमपीति न परतः प्रामाण्यनिश्चयावकाशः, किन्तूक्तनीत्या तदप्रामाण्याऽग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वलक्षणस्वतस्त्वोपपत्तेस्स्वतः प्रामाण्यनिश्चय इति कुमारिलभट्टमतमपि न युक्तियुक्तम्, लक्ष्यभेदेन लक्षणभेदात् 'चैत्र ओदनं पचति, काष्ठं छिनत्तीत्यादौ भवतूक्तलक्षणं कर्मत्वम्, परन्तु धात्वर्थज्ञानस्थले तस्य सविषयकत्वेन विषयत्वलक्षणमेव कर्मत्वमित्येतावन्मात्रस्वीकारेण घटादौ कर्मत्वस्योपपन्नत्वात् ज्ञानविषयत्वातिरिक्तज्ञाततायां प्रमाणाभावात्, अन्यथा अयं मया ज्ञात इत्यनुभववत् अयमिष्टः अनुमितोऽयमित्याद्यनुभवोऽपि भवतीति तद्बलादीष्टताऽनुमितताऽपि च पदार्थान्तर भट्टैस्स्वीकर्तव्यं स्यात्। किञ्च प्रामाण्यस्य स्वतो ग्रहेऽनभ्यासदशोत्पन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, ज्ञानग्रहे तद्गतप्रामाण्यस्यापि निश्चयात्, तस्याऽनिश्चये वा न स्वतः प्रामाण्यग्रहः, ज्ञानाग्रहे च धर्मिज्ञानाभावात् प्रामाण्यसंशयोऽपि न स्यादिति। न वा ज्ञानमतीन्द्रियम्, न वा ज्ञानाख्यव्यापारोऽपि ज्ञातताख्यफलात्मकलिङ्गज्ञानेनानुमेयत्वादऽतीन्द्रियः, घटमिच्छामीतिवद् घट जानामीति प्रत्यक्षस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। घटत्वेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्षस्यापि घटत्वप्रकारकप्रत्यक्षविषयो घट इत्यर्थकत्वेनातिरिक्तज्ञाततावगाहित्वाभावात्। किञ्च न हि क्रियास्वभावं ज्ञानम्, अपि तु फलस्वभावमेव, अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्त्तिनी प्रत्यक्षैव, भाट्टानां मते प्रत्यक्षश्चात्मा, तत्किमनेनापराद्धं, यदेतदीयक्रियाया अप्रत्यक्षत्वमुच्यते, अधिकं ग्रन्थान्तरादवसेयम्। नन्वेवं तर्हि अयं घट इत्याकारकज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे घटत्वेन घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायस्समुत्पद्यते, तत्र च घटत्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेष्यित्वावच्छेद्यघटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारिताप्रकारेण ज्ञानस्य भानम्, तदेव च प्रामाण्यग्रहप्रयोजकमित्युक्तानुव्यवसायेनैव ज्ञानस्येव तद्गतप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति तदप्रामाण्याग्राहिका यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री व्यवसायात्ममनःसंयोगादिरूपा तज्जन्यो ग्रहोऽनुव्यवसायः, तद्विषयत्व प्रामाण्ये उपपद्यत इति तस्य स्वतो ग्राह्यत्वोपपत्तिस्स्यादेवेति

स एव प्रमाणभूतः पक्षोऽस्तु किं परतःप्रामाण्यनिश्चयाभ्युपगमेनेति मुरारिमिश्रमतमप्ये-
कान्तरूपं न युक्तम्, अनभ्यासदशापन्नानुव्यवसायानन्तरं प्रामाण्यमन्देहस्य सर्वानुभव-
सिद्धत्वात्, निश्चिते प्रामाण्ये सति सन्देहाऽयोगात्। तस्मादनभ्यासदशायां यादृशोऽर्थः
पूर्वस्मिन् विज्ञाने प्रथमप्रवृत्तोऽर्थ्यवसितस्तादृश एवासौ येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तत्समान-
संवादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परतः प्रामाण्यनिश्चयः, अभ्यासदशायां तु प्रमेयाव्यभि-
चारित्वाज्ज्ञानं स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, संवादकज्ञानाऽनपेक्षणादित्युक्त प्राङ्। जैनमते
ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेऽपि तद्गतं प्रामाण्यं ततः कथञ्चिद्भिन्नमिति तद्ग्रहोऽपि न नियत इत्यतः
स्वप्रकाशेऽनभ्यासदशापन्नग्रामे ज्ञानाभासेऽपि प्रामाण्यं न भासत इति तत्संशय उपपद्यत
इति। अत्राह प्रभाकरः—शुक्तादिदं रजतमित्यादिज्ञानमपि दोषवशात् गृहीतग्रहणाद् रजत-
मिति स्मरणम्, इदमिति च प्रत्यक्षमिति यथार्थज्ञानद्वयात्मकमित्यतः सर्वज्ञानस्य यथार्थ-
त्वादेव कस्यचिज्ज्ञानस्य प्रामाण्यं कस्यचिदप्रामाण्यमिति विभाग एवानुपपन्नस्तर्हि तद्द्वय-
निश्चयस्स्वतः परतश्चेति वार्ता सुतरामसम्भविनी, ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशात्मकत्वेन ज्ञातृ-
विषयरूपत्रिपुटीविषयकत्वात् व्यवसायाऽनुव्यवसाययोरैक्यात् 'घटमहं जानामी'त्याकार-
व्यवसायेनैव स्वप्रकाशात्मकेन प्रामाण्यग्रहणं सञ्जायत इति ज्ञानस्यस्वेन तद्गतप्रामाण्यस्यापि
तेनैव ज्ञानेन निश्चयात् स्वतः प्रामाण्यनिश्चयस्यैव सर्वस्मिन् ज्ञाने सद्भावात्, तन्नैव मते
तत्प्रामाण्यग्राहकस्य व्यवसायज्ञानग्राहकसामग्रीपदेनेन्द्रियसन्निकर्षादिघटितसामग्रीपरिग्रहात्तज्जन्य-
व्यवसायात्मकज्ञानविषयत्वात् स्वतो ग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य उपपादयेदेवेति चेत्, उच्यते
समाधिः, न तावत्सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेवोक्तविभागोऽनुपपन्नः, याथार्थ्याऽयाथार्थ्यप्रभे-
दद्वयं तद्विरोधात्, तथाहि—विपरीतमवगतं मयेति लौकिकी ज्ञानविषयिका प्रतीतिः,
अन्यथाऽवगतमित्यन्यथाख्यातिरिति च जैनयिकी प्रतीतिर्यथार्थां न भवति प्रश्न यदि
यथार्थैस्युतर्हि तत्रैव रजतमित्याकारकप्राथमिकज्ञानस्य तन्निरवधीभूतस्याऽयथार्थत्वम्, प्राथ-
मिकज्ञानविशेष्यकायथार्थत्वप्रकारकप्रतीतेश्च यथाकृतविषया यथार्थत्वम्, यदि न यथार्थे
स्युस्तर्हि तदा प्राथमिकज्ञानस्य यथार्थत्वं प्राथमिकज्ञानविशेष्यकायथार्थत्वप्रकारकज्ञाना-
रिमकायास्तस्याश्चाऽयथार्थत्वमिति यथार्थाऽयथार्थविभागोपपत्तेस्सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव
विभागोऽनुपपन्न इति न युक्तियुक्तम्। ननु विपरीतमवगतं मयेति विपरीतज्ञानविषयिका
अन्यथाऽवगतं मयेत्यन्यथाख्यातिविषयिका वा प्रतीतिर्नास्त्येवेति नोक्तप्रमाणकाथ,
केवलं तादृशशब्दप्रयोग एव, न च स वस्तुसाधक इति चेत्, नैवं वद यतो विपरीत-
ज्ञानविषयिका अन्यथाख्यातिविषयिका वा प्रतीतिस्सर्वेषामनिगामन मतस्येव, न चानुभवे
परीक्षकाणां विवादस्सम्भवति, अन्यथा यत् यज्ज्ञानं तत्सर्वं स्वप्रकाशरूपमिति वदतोऽपि
वचनं नेव प्रतीयेत् तथा च ज्ञानमात्रस्योच्छित्तिप्रसक्तिस्स्यात्। न चोक्तज्ञानव्यवहारो
नास्तीति वक्तुं शक्यम्, सतोऽपलापे तद्वद् सर्वस्येव सतोऽपह्नुतिप्रसङ्गात्। अन्यस्यज्ञान-

व्यवहारः, तथाप्युक्तव्यवहारविषये ज्ञानेऽन्यथाख्यातित्वमस्ति न वेति विप्रतिपद्यामहे इति चेत्, मैवम्, यतो विप्रतिपत्तिर्विधिनिषेधोभयकोटिका भवतीति भवदभ्युपगतनिषेध-कोटौ तत्प्रतियोगिनोऽन्यथाख्यातित्वस्य कुत्रापि सत्त्वमस्ति न वेत्युच्यताम्, अस्तीति ब्रूम इति चेत्तर्हि पर्यवसितं विवादेन, यत्रैव सत्त्वं तस्यैवायथार्थत्वेनोभयवादिसिद्धत्वात्। नास्तीति चेत्तर्हि कुत्राप्यसतो निषेधः कर्तुमशक्य एव, यतो न हि प्रेक्षावद्भिरमतश्शश-शृङ्गस्य निषेधः क्रियते। अथ तत्र महिष्यादौ प्रसिद्धमेव शृङ्गं शशीयत्वेन रूपेण निषिध्यते तद्वदत्रापीच्छादौ प्रसिद्धमेवान्यथात्वं व्यधिकरणप्रकारत्वलक्षणं ख्यातौ निषिध्यते, नन्वेवं तर्हि शुक्ताविदं रजतमित्याकारकस्येदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितरजतत्वनिष्ठप्रकारतानि-रूपकस्य ज्ञानस्याभावे रजतार्थिनः मरुमरीचिकादाविदं जलमिति ज्ञानस्याभावे च जला-र्थिनः प्रवृत्तिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते, इदं रजतमिति सम्यग्ज्ञानद्वयं, विभिन्नकारण-जन्यत्वात् विभिन्नगोचरत्वाच्च, तत्रेन्द्रियकारणजन्यमिदमिति प्रत्यक्षं पुरोवर्तिशुक्तिकाश-कलविषयकम्, तत्र दोषवशात्तद्गतशुक्तित्वविशेषस्याऽग्रहः। साधारणभास्वररूपदर्शनोद्बुद्ध-संस्कारजन्यं रजतमिति स्मरणं हट्टपट्टादिव्यवस्थितरजतविषयकम्, न च तत्तोल्लेखाभावा-त्कथं तत्स्मरणमिति वाच्यम्, गृहीतग्रहणस्वभावेऽपि तस्मिन् स्मरणे दोषवशाद्गृहीततत्तांश-प्रमोषाद्रजतमात्रग्रहणस्यैव स्मृतिरूपत्वात्, तस्मादेव च स्मरणात्प्रवृत्तिरिति चेत्, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, पुरोवर्त्तिनं यमुद्दिश्य प्रवृत्तिस्तद्विषयकज्ञानादेव साऽनुभूयत इत्य-न्यविषयकज्ञानादन्यत्र प्रवृत्त्यसम्भवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। अथोक्तज्ञानमपि प्रवृत्तौ नियामकमभ्युपगम्यत एवेति चेत्, तर्हि शुक्त्यादौ रजतादिभेदग्रहेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः, प्रवृत्तिकारणीभूतोक्तज्ञानद्वयस्य सत्त्वात्। न च दोषाधीनः पुरोवर्त्तिनि स्वतन्त्रोपस्थित-रजतभेदाग्रहः प्रवृत्तिनियामक इति नोक्तदोषः, अयम्भावः-इदं रजतमित्यस्य ज्ञानद्वय-रूपत्वेऽपि तत्र द्रष्टुः शुक्तिरजतयोरसंसर्गग्रहो नास्ति, तावतैव रजतमर्थमर्थयमानोऽपि इदंशब्दवाच्ये पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तते, न च ज्ञानद्वयरूपत्वे कथं विशिष्टव्यवहार इति वाच्यम् ज्ञानयोरपि मिथोऽसंसर्गग्रहाभावात्, तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्त्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च दोषप्रयुक्तभेदाग्रह एव प्रवर्त्तक इति वाच्यम् रजते नेदं रजतमिति ज्ञान-मन्यथाख्यातिप्रसङ्गभीत्या न भेदग्रहरूपमिति भेदाग्रहस्य सत्त्वात्तत्रापि प्रवृत्त्यापत्तेः।

अथ रजतभेदासंसर्गाग्रहाभाव एव तदर्थ इति नोक्तदोष इति चेत् तर्हि सत्यरजतस्थले विशिष्टज्ञानस्य हेतुताया भवतापि क्लृप्तत्वाद् रङ्गगोचररजतार्थिप्रवृत्तावपि तत्कल्पनाया एवोचितत्वात्, न च सत्यादिप्रवृत्तौ तत्कारणम्, विसंवादिप्रवृत्तौ तूक्तलक्षणभेदाग्रहः कारणमिति वाच्यम् संवादिविसंवादिभेदेन कार्यकारणभावद्वयापेक्षया लाघवतर्कसहकारेण प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनौचित्यात्। किञ्च निरुक्तभेदाग्रहस्य प्रवृत्तिं प्रति

कारणत्वाभ्युपगमे स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टभेदाग्रहस्य निवृत्तिं प्रति कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवञ्च रजतरङ्गयोरिमे रङ्गरजते इति ज्ञाने जाते भवन्मते रजते रजतभेदाग्रहस्यान्यथा ख्यातिप्रसङ्गमपाकर्तुमभ्युपगन्तव्यत्वेन रजतप्रवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितेष्टरजतभेदाग्रहस्य सत्त्वेन रजतगोचरप्रवृत्तेः रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टरङ्गभेदाग्रहस्य दोषवशादभावेन रङ्गगोचरनिवृत्तेश्च युगपदेव रजते प्रसङ्गः, एवं रङ्गेऽपि रङ्गभेदाग्रहस्यान्यथाख्यातिप्रसङ्गमपाकर्तुमभ्युपगन्तव्यत्वेन रङ्गभेदाग्रहस्य रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य सद्भावाद्रङ्गगोचरनिवृत्तेर्दोषवशाद्रजतभेदाग्रहस्य भावेन रजतगोचरप्रवृत्तेश्च युगपदेव प्रसङ्गः, एवमनुमितिम्प्रति परामर्शस्य विशिष्टज्ञानत्वेन कारणत्वे अयोगोलके वह्निमदित्यनुमित्यनुरोधेन वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकमित्यन्यथाख्यातिरापद्येत, भेदाग्रहस्य कारणत्वे तु ह्रदे वह्निव्याप्यधूमभेदाग्रहात् ह्रदो वह्निमानित्यन्यथाख्यातिरकामेनाप्यभ्युपगन्तव्येति । तादृशभेदाग्रहस्य प्रवृत्तिनियामकत्वे च सिद्धे विवादापन्नं रजतसंवेदनं पुरोवर्तिशुक्तिशकलगोचरमेव, तत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, यत् यत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तं तत् तद्गोचरमेव, यथा सम्यग्रजते रजतज्ञानम्, पुरोवर्तिन्येव शुक्तिशकले प्रवृत्तिनिमित्तं चेदं ज्ञानं, तस्मात्तद्गोचरमेवेति । किञ्च नेदं रजतमिति बाधकप्रत्ययानन्तरं यदेव शुक्तिशकलं कलधौतरूपेण यथा प्राक् प्रत्यकलि तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानमात्मलाभमनुभवदनुभूयत इति तद्बलेनापि शुक्तिशकले इदं रजतमिति ज्ञानमसम्बद्धरूपमेव काचकामलादिदोषदूषितनेत्रादिसामग्र्या पूर्वरजतानुभवजनितसंस्कारप्रबोधसमवस्मरणद्वारा जायमानमभ्युपेयमिति । तदेवं सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति प्रभाकरमतमपि न युक्तियुक्तमिति सिद्धम् । कुमारिलाद्यभ्युपगतख्यातित्रयेऽप्यधिकं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यत इति । एतेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वात्प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति शून्यवादिमतमपि निरस्तम्, सर्वं ज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वायथार्थत्वान्यतरविरोधात्, तथाहि—सर्वज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वे सर्वान्तर्गतं तज्ज्ञानमपीति तस्य यथार्थत्वात् सर्वं ज्ञानमयथार्थमित्यसङ्गतं स्यात् । अयथार्थत्वे च तद्विशेष्यीभूतस्य सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वप्रसक्त्योक्तमसङ्गतं स्यादिति । किञ्च शून्यतासाधकं किञ्चित्प्रमाणमस्ति चेत्कथं सर्वशून्यता, प्रमाणस्यैव वस्तुरूपत्वात्, कथञ्च सर्वज्ञानमयथार्थमिति वचोऽपि शोभां लभेत ? शून्यतासाधकप्रमाणाभ्युपगमेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वाभावात्, सर्वान्तर्गतस्य शून्यतासाधकयथार्थज्ञानस्य सद्भावात् । ननु सर्वज्ञानमयथार्थमित्यभ्युपगच्छन् कथं शून्यतासाधकप्रमाणस्य यथार्थत्वं स्वीकुर्यादिति चेत्, तर्हि शून्यतासिद्धिः कथम्, यथार्थप्रमाणनिबन्धनत्वादिष्टार्थसिद्धेः, अथ शून्यतासाधकप्रमाणं नास्तीति चेत्तर्हि कथं शून्यता सिद्ध्येत्, प्रमाणमन्तरेण कस्यापि वस्तुनस्सिद्ध्यभावात्, उक्तञ्च शून्यतानिरासेऽप्यत्र—

" शास्ता शास्त्रं शिष्यः, प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः ।
सन्ति न शून्यं ब्रुवतस्तदभावाच्चाऽप्रमाणं स्यात् ॥ १ ॥

प्रतिषेद्धृप्रतिषेधौ स्तश्चेच्छून्यं कथं भवेत्सर्वम् ? ।
तदभावेन तु सिद्धा, अप्रतिषिद्धा जगत्यर्थाः ॥ २ ॥" इति ।

तस्मात्किञ्चिज्ज्ञानं प्रमाणं किञ्चिच्चाप्रमाणमिति विभाग एव परमार्थभूतोऽभ्युपगन्तव्य इति निष्कर्षः । अत्र यौगाः सङ्गिरन्ते—उक्तनीत्याऽस्तु प्रमाणाप्रमाणविभागः, परन्तु स्वतः परतः प्रामाण्याऽप्रामाण्यनिश्चयविभागो न प्रमाणपद्धतिप्रतिष्ठामश्नुते, स्वप्रकाशज्ञानासिद्ध्या स्वतः प्रामाण्यनिश्चयाऽयोगेन परत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य सद्भावादिति चेत्, मा त्वरध्वम्, यतस्स्वप्रकाशज्ञानप्रतिष्ठापनमग्रे द्वितीयकाण्डे करिष्यामः । इत्यलं प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन, प्रकृतमनुसरामः । ननु जिनप्रणीतद्वादशाङ्गात्मकशासनस्य निश्चितप्रामाण्यं परपुरुषगतप्रमात्मकतदर्थविषयकशाब्दबोधजनकत्वनिश्चयविषयत्वलक्षणमेव,न च तदुपपद्यते, अतिमधुरस्यापि स्वातिनक्षत्रजलस्याशीविषमुखपतितस्य विषरूपेणेव सद्गुर्वनपेक्षमिथ्यादृष्टिपरिगृहीतस्याज्ञानङ्कप्रविष्टस्य सम्यक्श्रुतस्याप्ययथावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजनान्मिथ्यारूपेण परिणतिभावेन मिथ्यादृशां तदर्थविषयकाप्रमात्मकशाब्दबोधजनकत्वादिति चेत्, मा त्वरस्व, उच्यते समाधिः, समुद्रदोषात्समुद्रनिहितच्छिद्रत्वविशिष्टघटो न भ्रियते इति न, किन्तु स्वीयछिद्रत्वदोषादेव, एकचन्द्रमसि द्विचन्द्रज्ञानं यज्जायते तन्न चन्द्रदोषात्, किन्तु पुरुषीयदृष्टिदोषादेव, तद्वत्प्रकृतेऽपि भवाब्धिसमुद्दिधीर्षुसद्गुरुनिरपेक्षाणां मिथ्यादृष्टीनां केषांचित्स्वपक्षनिषद्धोद्धुरानुबन्धानां स्वतस्सिद्धान्तावलोकनतो यन्मिथ्याज्ञान जायते तदपि न सम्यक्श्रुतस्य प्रमात्मकज्ञानजननाऽसामर्थ्यदोषबलादप्रामाण्यदोषबलाद्वा, किन्तु पूर्वभवीयमिथ्यावासनाजनिताऽयथार्थसङ्केतानुसन्धानसहितस्वीयमिथ्यात्वदोषप्राबल्यादेवेति तज्ज्ञानमज्ञानमेव,उक्तदोषविगमेन सम्यग्दर्शनाशयशुद्धौ तत्सहकृतं श्रुतमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञानं जनयति, यथा स्वीयदृष्टिदोषनाशे नैर्मल्यगुणसहकृतं चक्षुरेकश्चन्द्र इति प्रमात्मकं ज्ञानं जनयति, न च तत्र पश्चादिदं ज्ञानं प्रमा न वेति संशयः, न वेदं ज्ञानमप्रमात्मकमेवेति विपर्ययज्ञानं भवति, अत एवोत्पत्तौ प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतोऽपि सिद्धान्ते गीयते, उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—
" तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति । " १ ॥ २१ ॥ इति ॥

अत्र ' तदुभयमिति ' प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चेत्यर्थः, " परत एव " इति कारणगतगुणदोषापेक्षयैवेत्यर्थः । तदुभयमपि बहिरर्थापेक्षयैव, न तु ज्ञानापेक्षया, तदपेक्षया ज्ञानमात्रस्य प्रमाणैकरूपत्वात् । तदुक्तमाप्तमीमांसायां—

" भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं चेति च ॥ १ ॥ " इति ॥

भावेति सामान्यशब्दोऽपि बहिरित्यभिधानाज्ज्ञानस्वरूपे वर्तत इति । " स्वतः परत चेति " अभ्यासदशायां संवादकबाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भवन् प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः स्वतो भवतीत्यभिधीयते, विपर्यासाद्यभ्यासजन्यक्षयोपशमस्यैव तत्र व्यापारकत्वात् । अनभ्यासदशायां तु संवादकबाधकज्ञानापेक्षया जायमानोऽसौ परतः, एवं प्रामाण्याप्रामाण्यप्रदर्शनमप्यसिद्धेरित्यक्षरार्थः । तदस्मत्कृतेऽप्युक्तादयपद्धतौ श्रुतसम्यक्त्वविषयक ज्ञाने समुद्ध्वे स्वतः प्रामाण्यज्ञान च नाप्रामाण्यसंशयविपर्ययाविति श्रुतस्योक्तलक्षण निश्चितप्रामाण्यं निर्बाधस्यैवेति । नन्वेवं तर्हि सम्यक्श्रुतज्ञानवता परोपकारैकधुरीणसुगुरुणा सिद्धान्तोक्तविधिना यथार्थरूपेण पाठितानां मिथ्यादृष्टीनां किं प्रमात्मकमेव श्रौतज्ञानं जायते किम्वाऽन्यथेति चेत्, प्रमात्मकमेवेति जानीहि । न चैवं तर्हि तेषां ज्ञानस्य सज्ज्ञानत्वप्रसक्त्या सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतस्तेषां पूर्वपूर्वभवीयमिथ्यावासनावासितानामेकान्तदृष्टीनां सद्गुरुप्रोक्तमिदमित्थमेवेति सम्यक्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावान्मिथ्यात्वदोषप्रावल्यादेव प्रमात्मकेऽपि तस्मिन् श्रौतज्ञाने इदं ज्ञानं प्रमात्मकं न वेत्याकारक एतज्ज्ञानविशेष्यकप्रामाण्यतदभावप्रकारकोऽप्रामाण्यसंशयः, यद्वेदं ज्ञानमप्रमात्मकमेवेत्याकारकमेतज्ज्ञानविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारक विपर्ययात्मकमप्रामाण्यज्ञानं तदानीं जायते, प्रमात्मकश्रौतज्ञानेऽप्रामाण्यसन्देहे तद्विषयेऽप्यसत्यत्वसन्देहाद्विपर्ययात्मकाप्रामाण्यज्ञान वा तद्विषयेऽपि यथाद्विपरीतत्वज्ञानात्तज्ज्ञानमज्ञानमेवेति सम्यग्ज्ञानाभावान्न सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्गः । निरस्तार्थैकान्तपरमार्थदृष्टिबुद्ध्या जिनोक्ततत्त्वामृतरसनिपायिमद्गुरुभगवत्प्रोक्तं यथार्थमधीयाना अपि मिथ्यादृष्टय एकान्ततत्त्वमेव सत्यं मन्यन्ते, न त्वनेकान्ततत्त्वमित्यनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकश्रुतजन्यज्ञाने प्रमात्मकेऽपि प्रामाण्यं सन्दिहन्ति, विपर्ययन्ति वा, न तु सम्यग्दृष्टय इव श्रुतस्य जिनप्रणीतत्वेन तज्जात ज्ञानं प्रमात्मकमेवेति निश्चिन्वन्ति, अत एव " चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मं तु सेसए भयणाए " इति सिद्धान्तवचोऽपि सङ्गच्छते, तथा च प्रामाण्यवत्यपि श्रौतज्ञाने संशयविपर्ययान्यतरलक्षणं यदप्रामाण्यज्ञानं तद्विषयतथात्वमसत्त्वमनुत्पाद्य न मिथ्यादृष्टिज्ञानं शुद्धम्, ज्ञाने हि शुद्धिर्न केवलप्रमात्वलक्षणा, तथा सति मिथ्यादृष्टीनां निस्सीमकृपासुधासिन्धुसुगुरुणाऽध्यापितानां यथार्थज्ञान जाते तत्र तदाकारप्रसक्त्या शुद्धसम्यग्ज्ञानाविशिष्टत्वं स्यात्, किन्त्वप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यलक्षणा, सा च सम्यग्दृष्टीनां श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञाने सति तदुत्तरं नैव तत्र संशयविपर्ययान्यतरलक्षणाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीति तत्र सङ्घटते, मिथ्यादृष्टीनां तु श्रौतज्ञाने 'स्वतः प्रामाण्यज्ञानमेव न भवति, अन्यथा

तत्प्रतिबन्धकेन तदुत्तरमुक्तलक्षणाप्रामाण्यज्ञानमेव न भवेत्, भवति च तदिति तेषामप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानस्यैव श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानात्मकस्याभावेन न तद्विषयप्रामाण्यलक्षणा शुद्धिस्संगतेति तादृशशुद्ध्यभावान्मिथ्यादृष्टिज्ञानं न सम्यग्ज्ञानम्, तज्ज्ञानगतप्रामाण्यस्याप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितं श्रौतज्ञाने यत् स्वतः प्रामाण्यज्ञानं तद्विषयत्वात्। ननु सिद्धान्ते स्वप्रकाशात्मकतयैवाभ्युपगते ज्ञाने प्रामाण्यं स्वतः परतश्च गृह्यत इति परतो ग्राह्यतायां यदा सम्यग्दृष्टेः श्रुतजन्यज्ञाने प्रामाण्यज्ञानं न जातं तदानीमप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयत्वस्य तज्ज्ञानगतप्रामाण्येऽभावात्तज्ज्ञानं शुद्धं न स्यादिति चेत्, मैवम्, यज्जिनैः प्रणीतं तत्तथ्यमेवेति श्रद्दधतः सम्यग्दृष्टेः श्रुताद्यज्ज्ञानं जायते तद्यथा स्वं गृह्णाति तथा स्वगतप्रामाण्यमपि गृह्णात्येव, तज्ज्ञानगतप्रामाण्यस्य नियमेन स्वतो ग्राह्यत्वात्, परतो ग्राह्यत्वं तु प्रामाण्यस्य तत्रैव यत्र प्रामाण्यशङ्कावतारः, प्रकृते तु नैवम्, भेषजस्य रोगप्रशमने पूर्वं रेचनकृतरोगिकोष्ठाशयशुद्धिर्यथा सहकारिणी तथोक्तशुद्धिविशिष्टज्ञानोत्पत्तौ श्रुतस्य सम्यग्दर्शनलक्षणाशयशुद्धिस्सहकारिणीति तदभावे सत्यप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितश्रौतज्ञानार्जकत्वेऽपि तत्सत्त्वेऽप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टज्ञानार्जकत्वेन श्रुतात्मकशासनस्योक्तलक्षणनिश्चितप्रामाण्यं निर्वहत्येवेति भावः। अत्रेदमवधेयम् 'सासणं' इत्यत्र विशेष्यात्मकशासनपदोत्तरसिप्रत्ययार्थस्यैकत्वस्य साक्षात्सम्बन्धेन शासनपदार्थेऽन्वयाऽभ्युपगमे एकस्मिन्नेव शासने 'जिणाणं' इति बहुवचनमहिम्नाऽनेकजिनप्रणीतत्वमनिष्टमापद्येतेत्यतो 'वेदाः प्रमाणम्' इत्यत्र विशेषणीभूतप्रमाणपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदकं प्रमितिकरणत्वं यावच्छब्दनिष्ठमेकमेवेति तत्रान्वयवत् "जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः" इत्यत्र विशेषणीभूतपदार्थपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदकं पदवाच्यत्वं जात्याकृतिव्यक्तिष्वेकमेवेति तत्रान्वयवच्च तस्य प्रत्येकजिनप्रणीतस्वीयतत्तच्छासनसमूहनिष्ठे एकस्मिन् शासनपदार्थैकदेशे सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके शासनत्वेऽन्वयः, तथा चैकत्वविशिष्टशासनत्वेन रूपेण सजातीयं यच्छासनमतीतानागतवर्त्तमानं तत्सर्वं सकलरागादिदोषाऽपरामृष्टजिनाभिहितानेकान्तात्मकार्थविषयकनिश्चितप्रामाण्यकयथार्थप्रतीतिजनकत्वात् "सिद्धं" इतिपदलब्धनिश्चितप्रामाण्योपेतमिति सिध्यति। अत एव "तत्त्वपर्यालोचनायां तु सूत्रार्थोभयरूपत्वादागमस्यार्थापेक्षया नित्यत्वात् सूत्रापेक्षया चानित्यत्वात् कथञ्चित् कर्तृसिद्धिः" इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनाद् द्वादशाङ्ग्यात्मके शासनेऽर्थापेक्षयाऽनादिभूतेऽपि शब्दरचनापेक्षया सादिरूपे "जिणाणं" इति पदलब्धार्थेन जिनप्रणीतत्वेनैव सिद्धप्रमाणभावे 'न प्रामाण्यप्रसाधनाय प्रमाणान्तरगवेषणा कार्या' इति दर्शितम्। कालत्रयावच्छिन्नशासनानां बहुत्वेऽपि 'सासणं' इत्यत्रैकवचनं तु तत्तच्छासनोक्तार्थेषु सर्वजिनानामवैमत्यतो वर्त्तमानतीर्थकरप्रणीतशासनस्याप्यतीतानागततत्तज्जिनप्रणीतप्रणेष्यमाणत-

" भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्न चेति च ॥ १ ॥ " इति ॥

भावेति सामान्यशब्दोऽपि बहिरित्यभिधानाज्ज्ञानस्वरूपे वर्तत इति । " स्वतः परत-श्चेति " अभ्यासदशायां संवादकबाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भवन् प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः स्वतो भवतीत्यभिधीयते, विषयोऽस्याप्यनन्यपक्षपोषकस्यैव तत्र व्यापारकत्वात् । अनभ्यासदशायां तु संवादकबाधकज्ञानापेक्षया जायमानोऽसौ परतः, पूर्वं प्रामाण्या-प्रामाण्यप्रकाशसामर्थ्यसिद्धेरित्यक्षरार्थः । तदत्र प्रकृतेऽप्युक्तास्वपद्धतौ श्रुतजन्यपदार्थविषयक ज्ञाने उत्पन्ने स्वतः प्रामाण्यज्ञाने च नाप्रामाण्यसंशयविपर्ययाविति श्रुतस्योक्तलक्षण निश्चितप्रामाण्य निर्बाधस्यैवेति । ननु तर्हि सम्यक्श्रुतज्ञानवता परोपकारैकधुरीणगुरुणा सिद्धान्तोक्तविधिना यथार्थरूपेण पाठितानां मिथ्यादृष्टीनां किं प्रमाणात्मकमेव श्रौतज्ञानं जायते किंवाऽन्यथेति चेत्, प्रमाणात्मकमेवेति जानीहि । ननु चैवं तर्हि तेषां ज्ञानस्य सज्ज्ञानत्वप्रसक्त्या सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतस्तेषां पूर्वपूर्वभवीयमिथ्या-ज्ञानभावासितानामेकान्तदृष्टीनां सद्गुरुप्रोक्तमिदमित्थमेवेति सम्यक्सूत्रार्थज्ञानाभा-वान्मिथ्यात्वदोषप्राबल्यादेव प्रमाणात्मकेऽपि तस्मिन् श्रौतज्ञाने इदं ज्ञानं प्रमाणात्मकं न वेत्या-कारक एतज्ज्ञानविशेष्यकप्रामाण्यतदभावप्रकारको प्रामाण्यसंशयः, यद्वेदं ज्ञानमप्रमाणात्मक-मेवेत्याकारकमेतज्ज्ञानविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारकं विपर्ययात्मकमप्रामाण्यज्ञानं तदानीं जायते, प्रमाणात्मकश्रौतज्ञानेऽप्रामाण्यसन्देहे तद्विषयेऽप्यसत्यत्वसन्देहाद्विपर्ययात्मकाप्रामा-ण्यज्ञाने वा तद्विषयेऽपि यथार्थविपरीतत्वज्ञानात्तज्ज्ञानमज्ञानमेवेति सम्यग्ज्ञानाभावात् सम्य-ग्दृष्टित्वासङ्गः । निरस्तार्थैकान्तपरमार्थदृष्टिसुदृशा जिनोक्ततत्त्वामृतरसनिपायिसद्गुरुमुखपद्म-श्रुतं यथार्थमधीयाना अपि मिथ्यादृष्टय एकान्ततत्त्वमेव सत्यं मन्यन्ते, न त्वनेकान्तत्व-मित्यमेकान्ततत्त्वप्रतिपादकश्रुतजन्यज्ञाने प्रमाणात्मकेऽपि प्रामाण्यं सन्दिहन्ति, विपर्ययन्ति वा, न तु सम्यग्दृष्टय इव श्रुतस्य जिनप्रणीतत्वेन तज्जातं ज्ञानं प्रमाणात्मकमेवेति निश्चिन्व-न्ति, अत एव " चोद्दस दस य अभिन्ने, नियमा सम्मं तु सेसए भयणा " इति सिद्धान्त-वचोऽपि सङ्गच्छते, तथा च प्रामाण्यवत्यपि श्रौतज्ञाने संशयविपर्ययान्यतरलक्षणं यदप्रामाण्य-ज्ञानं तद्विषयत्वलक्षणमसत्कल्पत्वमेव न मिथ्यादृष्टिज्ञाने तत्त्वम्, ज्ञाने हि सम्यक्त्वं केवलप्रमा-त्वलक्षणा, तथा सति मिथ्यादृष्टीनां निस्सीमकृपासुधापाथोनिधिगुरुमुखाऽध्यापितानां यथा-भूतार्थज्ञाने जाते तत्र तदात्मत्वप्रसक्त्या तद्वत् सम्यग्ज्ञानातिरिक्तत्वं स्यात्, किन्त्वप्रामाण्य-ज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यलक्षणा, सा च सम्यग्दृष्टीनां श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामा-ण्यज्ञाने सति तदुत्तरं नैव तत्र संशयविपर्ययान्यतरलक्षणाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीति तत्र सङ्गच्छते, मिथ्यादृष्टीनां तु श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानमेव न भवति, अन्यथा

भगवता " श्रीवर्द्धमानात् त्रिपदीमवाप्य, मुहूर्त्तमात्रेण कृतानि येन । अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्मुहूर्त्तमात्रेण विनीतशिष्य-सुखग्रहणगुणनधारणनिश्चयाद्यर्थं पद–वाक्य–प्रकरणा–ऽध्याय–प्राभृतादिनियतक्रमेण रचितं द्वादशाङ्ग्यात्मकश्रुतमेव शासनमिति तस्य शब्दरूपतया पौद्गलिकत्वेन विशरारुस्वभावत्वात्तदानीमेव विनष्टं तत् नैतावत्कालपर्यन्तं स्वस्वरूपेण सत्तामनुभवितुमर्हतीति कथमिदानीं तदेवास्तीति श्रद्धेयमिति चेत् यद्यपि गणधरभगवता सूत्ररूपेण ग्रथितं द्वादशाङ्ग्यात्मकं वचनमिदानीं नास्त्येवेति सत्यमेतत्, तथापीदानीं तदनुवादे श्रुतज्ञाननिधानाचार्यभगवदनुक्रमेण पुनः पुनस्तदुच्चारणात्मकेऽनूद्यस्य भगवद्वचनस्य गणधरवचनस्य वाऽभेदोपचारादाप्तागमत्वं ज्ञेयम्, आगच्छत्याचार्यपरम्परया वासनाद्वारेणेत्यागमः शासनद्वादशाङ्ग्यपरपर्याय इति व्युत्पत्तेः । अभिहितञ्च–तत्त्वार्थविवरणे " इदानींतनतदनुवादेप्यनूद्याभेदोपचारात्तथात्व " इत्यादि । नन्वेवं तर्हि आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम इति व्युत्पत्त्याऽऽप्तवचनाज्जातं श्रोतुरर्थज्ञानमागम इत्यपि सिद्धान्ते गीयते, तत्कथमिति चेत्, उच्यते, मुख्यवृत्तिमाश्रित्यैव तत्राभिधीयते, अत्र तु श्रोतृज्ञानकारणत्वादाप्तवचनस्य तद्रूपद्रव्यागमे कारणे भावागमरूपकार्योपचारं कृत्वैवागमत्व प्रोक्तमिति, अत एव तातपादश्रीवादिदेवसूरिभिः—

" आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ ४ । १ ।
उपचारादाप्तवचनञ्च ॥ ४ । २ । " इत्युक्तमपि सङ्गच्छते ।

ननु मुख्यार्थबाधे उपचारः प्रयोजने सति क्रियत इत्यत्रोपचारप्रयोजन किमिति चेत्, उच्यते, शिष्याणामविच्छिन्ननिराबाधश्रद्धोत्पादनफलमेव लक्षणाबीजमिति जानीहि ।

नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमित्यत्र किं मानमित्यत आह—" सिद्धत्थाणं " इति । सिद्धाः प्रमाणान्तरसंवादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधादयस्तेषामित्यर्थः, अत्र षष्ठ्यर्थः प्रतिपादकत्वम्, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सिद्धार्थात्मकस्य स्वनिष्ठप्रतिपाद्यतानिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्य चाश्रयत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्वयः, इदञ्च हेतुविधया विशेषणम्, तथा चेदं शासनं प्रमाणान्तरसंवादियथोक्तनष्टमुष्ट्यादिसूक्ष्मान्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तिहेतोर्जिनप्रणीतमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा परकल्पितदर्शनान्तरम्, न चात्र व्याप्तिनिश्चायकदृष्टान्तान्वेषणं कर्त्तव्यम्, मीमांसकाभ्युपगतार्थापत्ताविवास्मिन्ननुमाने साध्यधर्मिण्येव व्याप्तिनिश्चयात्, न चैवं तर्ह्ययं हेतुस्सपक्षसत्त्वरूपाभावात्सद्धेतुर्न स्यादिति वाच्यम्, निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिनियमादेव हेतोर्गमकत्वोपपत्तेर्बौद्धाभ्युपगतस्य त्रिरूपस्य नैयायिकाद्यभ्युपगतस्य पञ्चरूपस्य च तत्राकिञ्चित्करत्वात्, अत एव श्रीमद्वादिदेवसूरिभगवद्भिः–निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो

तच्छासनप्रतिपाद्यत्वाभिमताऽन्यूनानतिरिक्तार्थाभिधानप्रतिपादकत्वेन रूपेण तच्छा-
सनेऽस्याप्रामाण्यशङ्कैवेति, अत एव महनीयमाहात्म्यगणधरश्रीगौतमस्वामिप्रभृतिपरम्परा
तद्वचनेषु मयैव नोच्यते किन्त्वर्थतोऽतीततीर्थकरैरप्येव प्रोक्तम्, उपलक्षणन्यायेनानागत-
तीर्थकरैरप्येवं वक्ष्यते चेत्येतमर्थमुपदर्शयितुं "समर्थं" इतिपदं श्रीमहावीरभगवता प्रोक्तमिति।
"जिणाण" इत्यत्र शासनस्यावच्छेदकस्य तच्छासनस्य तज्जिनप्रणीतत्वप्रतिपादनाय
बहुवचनमिति। ननु शासनपदार्थैकदेशे शासनत्वे जिनप्रत्ययार्थैकत्वान्वये कर्तृत्वे सति
"पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इति व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत्,
तद्युक्तदृष्टान्तद्वये सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्र च दीयतां दधि, उक्तदृष्टान्तद्वय पदार्थैकदेशे
जिनप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वयाभ्युपगमात्। सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्रापि च सम्पन्नत्वाश्रयानेक
व्रीहिव्यक्तित्वस्य बाधेन व्रीहित्व एव व्रीहिपदोत्तरविभक्त्यर्थैकत्वस्यान्वयस्वीकारात्।
अथ तत्रापि स्वाश्रयवृत्तिसम्बन्धेन जिनप्रत्ययार्थैकत्वस्य जिनप्रत्ययप्रकृत्यर्थे एवान्वयस्वीका-
राभ्युपगम्य व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपीत्थमेव गतिरिति विभाव्यताम्।
तथा चोक्तदृष्टान्तद्वयेऽपि यथाक्रमं स्वाश्रयप्रमाकरणत्व-पदवाच्यत्व-व्रीहित्वादौव वस्तु
गत्या नानाविधप्रमाकरणपदवाच्यव्रीहिव्यक्तित्वस्याऽन्वयस्वीकारवत् प्रकृतेऽपि स्वाश्रय
शासनत्वादौव परमार्थतस्तत्तद्भावावच्छिन्नभिन्नभिन्नजिनप्रणीततच्छासनेष्वेकत्वस्यान्वय
स्वीकारात्तत्र सर्वत्र निर्विघ्नप्रामाण्योपपत्तेर्न काऽपि क्षतिः। एतेन शासनत्वस्यात्रानुक्तिवत्
मानजातिरूपस्यात्मविशेषावच्छेदेन शासनत्वरूपेणानुपस्थितेस्तत्र न जिनप्रत्ययार्थैकत्वस्या-
न्वय इत्यप्यपारेका निरस्ता, शासनत्वेन रूपेणोपस्थित शासनपदार्थ एव स्वाश्रयपरम्परा
परम्परासम्बन्धेन तस्यान्वयस्वीकारादिति। अथ तत्केषामित्यत आह—"जिणाणं" इति
जिनानामिति, रागद्वेषादिरूपानरातीन् जयन्ति समूलकाषं कषन्तीति जिनाः, तेषाम्,
यथा कृष्णस्य कृतिरित्यत्र "कर्तृकर्मणोः कृति" २-३-६५ इति पाणिनीयसूत्रेण कर्तरि
षष्ठी तच्छासनस्यापि कृदन्तत्वात्तद्योगे 'जिनानाम्' इत्यत्रापि कर्तरि षष्ठी, तथा च
षष्ठ्यर्थस्याश्रयत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थजिनान्वितस्य कर्तृत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासने
ऽन्वयाद्यथा कृष्णस्य कृतिरित्यस्य कृष्णनिष्ठकर्तृतानिरूपककृतिरित्यर्थपर्यवसानमपि कृष्ण
कर्तृककृतिरित्यर्थः' तद्वद् जिनानां शासनमित्यस्य जिननिष्ठकर्तृत्वनिरूपकं शासनमित्यर्थ
पर्यवसानेऽपि जिनकर्तृकं शासनम्, अर्थतो जिनप्रणीतं शासनमित्यर्थः। यद्वा जिनानामित्यत्र
सम्बन्धार्थे षष्ठी, सम्बन्धश्च ज्ञापकज्ञाप्यभावात्मकः, तथा च स्वनिष्ठज्ञापकत्वनिरूपितज्ञाप्य
त्वसम्बन्धेन जिनसम्बन्धि, जिनप्रणीतमिति यावत्, अर्थतस्तदुपदिष्टत्वादिति भावः।
ननु "नाऊण जिणवरमयं गणहारी काउ तस्सञ्जोवसमं" इति सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति
जिनानामपि तीर्थकरसमयप्रतिपादनमपि "उप्पज्जइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इति मातृ
कात्रयपदमात्रस्मारकगणधरपुरःसरज्ञानावरणक्षयोपशमेन चतुर्दशपूर्वविदा श्रीगणधर

येन पुरुषधौरेयेण करणं तत्कर्तृकतया च प्रामाण्यं स पुरुषधौरेयस्तेनैव वचनविशेषेण लिङ्गभावमापद्यमानेन सर्वज्ञतया सिद्ध्यति, तथाहि अस्मदादिभिः पृथिव्याः काठिन्यादिकं साक्षात्कृत्य कठिना पृथ्वीत्यादि वचनमुच्चार्यते, न चास्मदादिकर्त्तारमन्तरेणैव तादृशवचनविशेष उपजायते, वैशिष्ट्यं चोक्तवचनस्य स्वविषयाविसंवादित्वाऽऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मैः, तथाविधश्चोक्तवचनं स्वप्रतिपाद्यार्थसाक्षात्कार्य्यस्मदादिज्ञानप्रभवं यथा तथा नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभसुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्यादीनां स्वस्वप्रतिनियतकार्यकारणत्वेन स्वस्वप्रतिनियतकारणकार्यत्वेन च प्रतिपादकं प्रकृतशासनमपि स्वविषयाऽविसंवादित्वाऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मविशिष्टं स्वप्रतिपाद्यनष्टमुष्टाद्यर्थसाक्षात्कारिपुरुषधौरेयज्ञानप्रभवम् । अनुमानप्रयोगश्च यो यद्विषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेषः, स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवः, यथाऽस्मदादिप्रवर्त्तितः पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेषः, नष्टमुष्टिविशेषादिविषयाविसंवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चायं शासनलक्षणोऽर्थ इति । यथैव नष्टमुष्ट्यादयोऽर्थाश्शासने प्रतिपादितास्तथैव ते प्रमाणान्तरेणोपलभ्यन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शासनस्याविसंवादित्व, सम्यगर्थपरिज्ञानसामग्रीवैकल्यतो विसंवाद आपाततः कस्यचित्स्फुरन्नपि नाविसंवादप्रतिरोधी, तस्य शासनवचनाऽसत्यार्थत्वाप्रयुक्तत्वात् । चन्द्रैकत्वप्रत्यक्षस्य भ्रान्तद्विचन्द्रप्रत्यक्षेण विसंवादवत्, अतीन्द्रियैर्नष्टमुष्ट्यादिभिस्सममविनाभूतस्य लिङ्गस्याप्यस्मदाद्यक्षाविषयत्वान्न लिङ्गप्रभवत्वमपि तत्प्रतिपादकशासनस्येत्यलिङ्गप्रभवत्वं, यो हि लिङ्गमतीन्द्रियं साक्षात्कर्तुमीशः स नष्टमुष्ट्यादिकमपि साक्षात्कर्तुं समर्थ इति तत्साक्षात्कारिज्ञानप्रभवत्वमेव तस्येति । उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे वक्तुरज्ञानदुष्टाभिप्रायवचनाकौशलादिदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्वविपर्यस्तबुद्धित्वगृहीतविस्मरणत्वादिदोषैः प्रतिपुरुषं हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्चिरोच्छेदे एतावन्तं कालमागमनमेव न भवेदत उपदेशपरम्पराप्रभवत्वादेवान्तराऽन्तरा विच्छिन्नस्यापि नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादकस्यास्य सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता पुरुषविशेषेणाभिव्यक्तस्यैतावत्कालमागमनमिति भवत्यनुपदेशपूर्वकत्वम्, अनियतदिक्प्रमाणफलकालादीनां ग्रहोपरागादीनां रसकल्कादिभेदतः कर्षादिमात्राभेदतो बालमध्यमाद्यवस्थाभेदतो मूलपत्राद्यवयवभेदतो विभिन्नानेकयोगसम्पर्कजानल्पविजातीयरोगोपशमनशक्तिशालिनीनामौषधीनाञ्च शासनप्रतिपाद्यानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां युगसहस्रेणाऽप्यसर्वज्ञैरस्मदादिभिर्ज्ञातुमशक्यानां प्रतिपादकस्यास्य शासनस्यानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वमपि सिद्धिपथमवतरत्येवेत्युपदर्शितार्थनिकरसंसूचनाभिप्रायवान् सूरिराह—कुसमयविसासणम् इति—अत्र समयानां विशासनं समयविशासनं, कुरिव समयविशासनं कुसमयविशासनमिति समासः, कुपदमत्र लक्षणया पृथिवीग्रामनार्थकम्,

हेतुरिति ॥ १ । ११ ॥ न तु त्रिलक्षणकादिरिति ॥ १ । १२ ॥ तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवादिति ॥ १ । १३ ॥ इति निरुक्तिं सङ्गच्छते । उक्तञ्च पात्रस्वामिनाऽपि—

" अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥ " इति ।

एतच्चाग्रे विवेचयिष्यते । ननु जिनप्रणीतत्वाच्छासनं यथा निश्चितप्रामाण्यं तथा सुगतकपिलादिप्रणीतत्वादपि तच्छासनं तथाभूतं किम् स्यादित्याशङ्कानिरासपर्यवसितमाह—यद्वा जिनशासनविपक्षभूत यच्छासनं तद्गतप्रामाण्यनिरासे सत्येव तत्प्रामाण्यं निराबाधं निर्णीयेत, अनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकजिनशासनप्रतिपक्षभूतैकान्ततत्त्वप्रतिपादक बौद्धकापिलादिशासन मिथ्यात्वस्वप्रामाण्यनिरासपूर्वकतत्प्रामाण्यनिश्चयार्थं शासनविशेषणमाह "कुसमयविशासनम्" इति । कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वेन समया बुद्धकपिलादिप्रणीत सिद्धान्ताः कुसमयाः, तेषां विशासनं विपरीतं शास्यते स्वेष्टविषये विरोधाद्युद्भावकत्वेनाऽप्रामाण्य ज्ञाप्यतेऽनेनेति विशासनम्, कुसमयविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारकं एवं कुसमया अप्रमाणभूता इत्याकारकं यत्कुसमयेष्वप्रामाण्यज्ञानं तत्कारकमित्यर्थः । तथा च बौद्धकापिलादिशासनं न निश्चितप्रामाण्यकं स्वेष्टविषये प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, यद्वचनं स्वेष्टविषये प्रमाणबाधितार्थविषयकं तद्वचनं न निश्चितप्रामाण्यकम्, असम्बद्धप्रलाप्युन्मत्तवचनवत्, किन्तु प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणाबाधितविभागापेक्षतत्पदार्थवर्ग विविक्तवस्तुप्रतिपादकत्वात् शाखावच्छिन्नकपिसंयोगप्रकारकमूलावच्छिन्नतदभावप्रकारक वृक्षविशेष्यकप्रतिपत्तिजनकशाखावच्छेदेन वृक्षः कपिसंयोगी न तु मूलावच्छेदेनेति वाक्य वज्जिनशासनमेव निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । यद्वा ननु दूरान्तरितसूक्ष्मबादरव्य वहिताद्याः सर्वेऽपि पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा ज्ञेयत्वात्प्रमेयत्वाद्वस्तुत्वाद्वा घटादिव दित्यनुमानेन ज्ञानप्रकर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात् महत्परिमाणाणुपरिमाणादि प्रकर्षतारतम्यवदित्याद्यनुमानेन वा सर्वज्ञस्य सिद्धावपि सर्वज्ञ आगमकर्ता भगवानेव सर्वज्ञो विविदिषयेऽवपरिचयस्येयेति नियमासिद्धौ न सर्वज्ञत्वात्मके पुरुषधौरेये आगमप्रणेतृत्वं सिद्धिपथमुपयाति, न च सर्वज्ञस्यागमप्रणेतृत्वसिद्धिमन्तरेण सर्वज्ञप्रणीतत्वमागमस्य प्रकृतस्य सिध्यति, न च सर्वज्ञप्रणीतत्वमन्तरा निश्चितप्रामाण्यकत्वमस्य स्वतः सिद्धस्य मागमस्योपपत्तिपद्धतिमेतीति । यदि केनापि हेत्वन्तरेणागमप्रणेतृत्वमपि सर्वज्ञस्य सिद्धत्वेन तदा न हेतुरसिद्धत्वम्य एव केनचिद्वचनेन, ज्ञातस्यैव हेतोः साध्यसाधनपटिष्ठत्वात्, तथा च तादृशहेतुतत्परिकरभूतव्याप्त्यादिप्रतिपादकवचनसन्दर्भलक्षणप्रकरणस्यापेक्षितत्वे तदुद्भावना यासोऽनायासेनैव सिद्धः प्रतिपन्नमौनव्रतके न निरोद्धुं शक्य इति चेत् मैवं, प्रकरणान्त रेण सर्वज्ञसाधने स्याद्देवैव तथालम्भः, न त्वेवम्, किन्तु यस्य शासनविशेषणस्य वचनस्य

क्षयो दृश्यते तत्तत्पुरुषेष्विति सर्वथाऽपि कस्मिँश्चिदपि पुरुषधौरेये रागादिक्षयस्सम्भाव्यत एवेति यः पुमान् पूर्वं रागादिमान् स्यात् तस्मिन्नुक्तोपायेन तद्विगमो युक्त एवेति को न स्वीकुरुते ?, ध्वंसस्य सहेतुकत्वात्, पुरुषविशेषे ईश्वरे तु सर्वथा रागात्यन्ताभाव एव, न तु पूर्वं रागः पश्चात् तद्ध्वंस इति रागत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्यानादिसंसिद्धस्य तत्र कालत्रयेऽपि सत्त्वे बाधकाभाव एव, रागादिकालीनत्वाभावविशिष्टेश्वरात्मकतदीयस्वरूप सम्बन्धस्य सत्त्वेन सम्बन्धिनोऽत्यन्ताभावस्यापि तत्र सत्त्वात्, तादृश एव कर्मक्लेशाद्य-भावः पूर्वोक्तपातञ्जलसूत्रे अपरामृष्टपदेन विवक्षितः, न तु कर्मक्लेशादिध्वंसरूप इति चेत्, मैवम्, ईश्वरात्मकस्य धर्मिण एवासिद्धौ तद्धर्माणां तादृशरागात्यन्ताभावादीनां सुतरा कल्पयितुमशक्यत्वात् । विमतं क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेनेश्वर-धर्मिसिद्धिरिति चेद्, यदि कार्यत्वेन हेतुनेश्वरस्साध्येत तर्हि तस्य रागादिदोषवत्त्वमपि स्यादेव, दृष्टानुसारिणी कल्पना न तु यथा कल्पना तथा तत्त्वव्यवस्था, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेन तत्त्वाऽव्यवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थकेन दृष्टानुसारिणी हि कल्पना न तु कल्पनानु-सारिणी दृष्टिरिति न्यायेन सर्वस्य कुम्भकारादेः कर्त्तुर्दोषग्रस्तस्यैव दृष्टत्वेनेश्वरस्यापि तद्वत एव सिद्धेः, यो यो विषमकारी स स दोषवानिति व्याप्तिमूलकात् 'ईश्वरो दोषवान् विषम-कार्यकारित्वात् अस्मदादिवदित्यनुमानादपि हीनमध्यमोत्तमभावेन प्राणिभेदान् विदधति त्वन्मतसिद्धे ईश्वरे रागद्वेषादिदोषवत्त्वसिद्धेश्च, न चोक्तानुमाने ईश्वर एव व्यभिचार इति वाच्यम्, यतः पक्षीभूते तत्र न व्यभिचारप्रदर्शनं युक्तम्, पक्षे पक्षसमे वा न व्यभिचार इत्यभियुक्तोक्तेः । व्यभिचारस्थलान्तरन्तु नास्त्येव । दोषवत्येव विषमकार्यकारित्वस्य लोकेऽनुभूयमानत्वेन दृष्टविरुद्धकल्पनाया अप्रामाणिकत्वेनात्र व्यभिचारशङ्काऽपि न युक्ति-युक्तेति । न चात्र पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवदित्यनुमानाद् वह्निसिद्धौ पक्षधर्मता-बलाद् यथा पर्वतीयस्यैव वह्नेस्सिद्धिस्तथोक्तानुमानादपीश्वरसिद्धौ पक्षधर्मताबलान्निर्दोष-स्यैवेश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति तेन न रागादिदोषवत्त्वस्य प्रसङ्ग इति शङ्क्यम्, क्षित्यङ्कुरादि-रूपे पक्षे ईश्वरमात्रसाधनेनैव तस्यानुमानस्य चरितार्थत्वेन तत्र निर्दोषत्वादिधर्मस्यापि साधने उदासीनत्वात्, पर्वते वह्न्यनुमानस्य पक्षधर्मताबलात्पर्वतीयवह्निसाधकत्वेनैव चरितार्थत्वा-त्तद्गतोष्णत्वादिधर्मसाधने उदासीनत्ववत्, न चोत्कर्षसमा जातिरियम्, सा च साध्याऽव्या-पकस्य दृष्टान्तगतस्य धर्मस्य पक्षे आपादनलक्षणा, यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र कृतकत्वहेतुना यदि घटवच्छब्देऽनित्यत्व साध्येत तर्हि तेनैव हेतुना शब्दे सावयवत्वमपि स्यात्, अत्रानित्यत्वापेक्षया सावयवत्वस्याऽव्यापकत्वम्, गन्धादावनित्यत्वस्य सत्त्वेऽपि सावयवत्वाऽभावात्, तथाऽत्रापि सकर्तृकत्वापेक्षया दोषवत्कर्तृकत्वस्याप्यव्यापकत्वमेव, क्षित्यादौ सकर्तृकत्वस्य सत्त्वेऽपि दोषवत्कर्तृकत्वस्याभावात्, तस्यैव च दोषवत्कर्तृकत्वस्य क्षित्यङ्कुरादौ भवताऽऽपाद्यमानत्वादिति वाच्यम्, निर्दोषस्य कर्तुः क्वचित्सिद्धौ सत्यामेव

समयपदञ्च सम्यक्प्रमाणान्तराविसंवादित्वेनेयन्ते परिच्छिद्यन्ते इति समया इति व्युत्पत्त्या प्रमाणान्तराविसंवादिपरिच्छेद्यविषयपरम्, ते च विषयाः प्रकृते नष्टमुष्टिचिन्तालाभालाभ सुखासुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौषधशक्त्याद्या, विद्यासनमित्यत्र विश्वसर्गश्च विविधार्थकः, विविधश्च प्रकृते अन्यपदार्थकारणत्वेनान्यपदार्थकार्यत्वेन चानेकप्रकारमित्येव स्वरूपम्, शासनपदञ्च प्रतिपादकपरम्, उपमानभूतं पृथिव्याद्यासनञ्च पृथ्वीकाठिन्यादिप्रतिपादकवचनविशेषरूपम्, उपमानोपमेयभूतयोः पृथ्वीशासनसमयविद्यासनयोः सादृश्यञ्च प्रकृते स्वविषयाविसंवादित्वानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वस्वविषयसाक्षात्कारिज्ञानविषयप्रमभवस्वरूपमाधारणधर्माभ्याम्, तत्र पृथ्वीकाठिन्यादिप्रतिपादकवचनविशेषे उपमानभूतपृथ्वीशासने निरुक्तधर्मद्वयं सिद्धं वादिप्रतिवादिनोः, उपमेयीकृते प्रकृतशासने तु पूर्वोक्तयुक्त्या स्वविषयाविसंवादित्वानुपदेशान्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वं सिद्धम्, स्वविषयसाक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवत्वन्तु विप्रतिपन्नम्, तदपि सिद्धेनोक्तधर्मेण स्वाविनाभूतेन सिध्यत्स्येवेति साध्यसाधनभावेन 'इममचविभासय'मित्यनेन सूचितमनवत्स्यवरणोपदर्शितमवनिद्धरम्यमिति। अथ " कर्म-क्लेश-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः " [योगद० पा १, सू. २४] इति पतञ्जलिलक्षणलक्षितः "ज्ञानमप्रतिघं यस्य, ऐश्वर्यञ्च जगत्पतेः। वैराग्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारित्वमाप्रसिद्धज्ञानैश्वर्यवैराग्यधर्मैतच्चतुष्टयविशिष्ट ईश्वर एव शासनप्रणेता, तेनानादिसर्वज्ञेन सर्वजगत्स्रष्ट्रा प्रणीतत्वाच्च तत्प्रमाणम्, न तु रागद्वेषादीन् शत्रून् जितवन्त इति जिना इति व्युत्पत्तिसिद्धलक्षणलक्षितः सामान्ययोगी तत्प्रणेतेति ये पातञ्जलनैयायिकादयो मन्यन्ते तन्मत निरासायाह- भवजिनाण' भवजिनानाम्। भवन्ति नारक-तिर्यग्-नरामरपर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः संसारः, तद्धेतुत्वाद्रागद्वेषादयो भवशब्देनोपचाराद् विवक्षिताः, तान् जितवन्त इति भवजिनास्तेषाम्, उपचाराश्रयणे किं बीजमिति चेत्, उच्यते, न हि कल्पकारणं रागादयस्ते तत्कार्यस्य संसारस्य क्षयः सम्भवो विभातुमिति प्रतिपादनमेव। यतो दृढतमनिरन्तराभ्यस्तानित्यत्वादिविशदभावनाचारमकेन रागादिक्षयोपायेनैव पुरुषविशेष निरस्तरागादिमयत्वस्यात्, न तु स्वभावत एव, न ह्युपायव्यतिरेकेणोपेयसिद्धिः, अन्यथोपेयस्य निर्हेतुकत्वेन देशकालस्वभावप्रतिनियमो न स्यादिति सर्वप्राणिनामीश्वरत्वं न वा कस्यचित्स्यात्। तदुक्तं धर्मकीर्तिनाऽपि—

> " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
> अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति

तत्र रागादिक्लेशविगमः स्वभावत एवेश्वरस्येति युक्तमिति। अथ यस्य देशतः क्षयो दृश्यते तस्य सर्वथाऽपि क्षयः, हिमकरनिकरनिरोधकघनपीननीरदमालावत्, देशतो रागादि

व्याधिदुःखाभिभूतान्, यदभिहितम् "सृजेच्च शुभमेव ... केषांचिज्जन्तूनां परमसुखभाक्त्वेन केषाञ्चिदानिदुःखभाक्त्वेन ... कारुण्यं नाममात्रावशेषं स्यात्। उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

" क्षुद्रग्रामे निवासः क्वचिदपि सदने रौद्रदारिद्र्यमुद्रा,
जाया दुर्दर्शकाया कटुरटनपटुः पुत्रिकाणां सवित्री।
दुःस्वामिप्रेष्यभावो भवति भवभृतामत्र येषां ...,
शम्भुर्दुःखैकदग्धान् सृजति यदि तदा स्यात्कृपा कीदृशस्य ॥ ..."

अत एवेश्वरस्यापरम्पारलीलेति तथैव जगत्सर्जने प्रवर्तन इत्यपि ... दोषविलासरूपत्वेन दोषाक्रान्तत्वं स्यात्तस्य, रवेर्जगत्प्रकाशने स्वभावतः ... जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, यत ईश्वरे स स्वभावः ... यधिकरणरूपप्रतिनियतस्वस्वासाधारणधर्मविशिष्टकार्यजननात्मकः ... थाऽनियतदेशकालकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः कथमुद्धरणीयस्स्यात्, तादृशस्वभावो ... तत्तत्प्राणिविविधकर्मण्येवाऽभ्युपगम्यताम्। तथा च चेतनानधिष्ठितेनापि ... कर्मणैव तत्तत्स्वभावबलात्त्रिलोकीकार्यं भविष्यतीति किमीश्वरकल्पनापरिश्रमेण। ... श्वरस्य यथेच्छं जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि निरस्तम्, इच्छाया मोहजन्यत्वेनेश्वरे रागादिमत्त्वं स्यात्। जगद्विधायकेश्वरनिरसनं विस्तरेणास्मत्कृततत्त्वार्थविवरणटीकायां ... तत एव तद्विस्तरार्थिनाऽवलोकनीयम्, ग्रन्थगौरवभीत्या नेहाधिकं प्रपञ्च्यत इति, ... लोके रागादिमन्त एव कर्त्तारो दृष्टा इति तादृशस्यैव जगत्कर्तुरीश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति ... तस्य विपक्षभावनाभ्यासेन रागादिजये सत्येव शासनप्रणेतृत्वं सिध्यति, नान्यथेति भवः संसारः तद्धेतुत्वाद्रागादिकं जितवन्त इति भवजिना इति सिद्धम्। " भवजिनानाम् ", इत्यत्र भवे जिनाः भवजिनास्तेषाम्, लुप्तसप्तम्या आधेयत्वार्थकत्वेन भवस्थजिनानाम्, भवस्थकेवलिनाम्, यद्वा भवे वर्त्तमाना भववर्त्तमानाः, भववर्त्तमानाश्च ते जिना भवजिना इति मध्यमपदलोपिसमासस्तेषामित्यप्यर्थो ज्ञेयः। अथ यद् यस्य कारणं तद्विपक्षासेवनेन सर्वथा तन्निवृत्तौ तत्कार्यस्याप्यभावः, यथा विकृतिभावापन्नश्लेष्माद्यात्मककारणस्य तद्विपक्षौषधोपचारतः सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतविशिष्टशिरोऽर्त्याद्यभावः तथा भवकारणस्य रागादेस्तद्विपक्षदृढावस्थापन्नसुविशुद्धाऽध्यात्मभावनातस्सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतस्य भवस्याभावस्स्यादिति तल्लक्षणमुक्त्यवाप्तौ सत्यां सर्वथा रागादिनिवृत्तिलक्षणरागादिजयवतां जिनानां शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, मुक्त्यवस्थायां जिनानामशरीरत्वेन शासनस्य च शब्दात्मकत्वेन तत्कारणताल्वादिसंयोगादेरभावात्, अथ सर्वथा रागादेर्न निवृत्तिरिति मुक्त्यवाप्तेः प्रागेव जिनानां शासनप्रणेतृत्वान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि ... श्लिष्टत्वेन

दोषवत्कर्तृकत्वस्य सकर्तृकत्वाऽव्यापकत्वमपि सम्भवेत्, तदेव त्वयापि न कथञ्चित्सिद्धं, सर्वस्य कर्तुर्दोषवत एव दृष्टिगोचरत्वादिति दोषवत्कर्तृकत्वस्य सकर्तृकत्वव्यापकमेवेति व्यापकधर्मोपादनादुपलब्धयाया उत्कर्षसमाया जातेरप्राप्तेः, रागद्वेषादिदोषाभावे तत्र सदोषत्वव्याप्यविषमकर्तृत्वमपि न स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यम्भावात् । प्राणिगतविविधकर्मप्रेरित ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोति, न स्वेच्छयेति विषमफलकारित्वेऽपि न सदोषत्वप्रसङ्ग इत्यपि न च वाच्यम्, जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वायोगात्, न चेश्वरप्रेरितं कर्म ईश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यम्, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, अथातीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्तमानं कर्म तत्फलाय प्रेरयतीत्यनादित्वात् प्रेर्यप्रेरकभावस्य नानुपपत्तिरित्यपि नाशङ्कनीयम्, यतोऽतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता, न च तदपीश्वरेण प्रेरितं सदीश्वरं प्रेरयतीत्यपि वाच्यम् उक्तान्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । अथ ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितं तदेवेश्वरं वर्तमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्, न, मानहीनाया मूलक्षयावहाया अनवस्थायाः प्रसङ्गात् । किञ्चेश्वरस्य कर्मप्रेरितत्वाभ्युपगमे कर्माधीनप्रवृत्तिकत्वं स्यादिति तस्य कर्मपरतन्त्रत्वापत्त्या स्वतन्त्रतैव हीयेत, एवञ्च रथ्यापुरुषवदनीश्वरतैव स्यात् । किञ्चेश्वराभ्युपगमोऽप्यत्र पक्षे न घटते, यतः कर्मैव तत्तत्फलभोगापेक्षततत्फलप्रदानोद्युक्तं विचित्रां त्रिलोकीं करिष्यति । ननु चेतनं चेतनानधिष्ठितं न क्रियायां प्रवर्तत इति नियमात्कर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितमेव कर्म विविधकार्यकरणे समर्थं नान्यथेति चेत्, नैवम्, उक्तनियमे प्रमाणाभावात् । ननु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रम्, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, तथाप्यनिमित्तत्वविषयकर्माणि कारयितुरीश्वरस्य रागादिदोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्मकारयितृत्वे चोक्ताऽन्योन्याश्रयानवस्थादोषतादवस्थ्यात् । अपि च न हि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते, स्वार्थे प्रवृत्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तते, तथा च ईश्वरः स्वार्थरागादिमान् प्रवर्तकत्वात् सम्मतपुरुषवदित्यनुमानेन रागादिमत्त्वं सिध्यति, तत्सिद्धौ चेश्वरस्याऽनीश्वरत्वप्रसङ्गः । न चोक्तानुमाने कारुणिके व्यभिचार इति वाच्यम्, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यभिलाषस्य । तथा च कारुणिके स्वदुःखनिवृत्तिरूपस्वार्थसद्भावेन व्यभिचारो नेति भावः । अथोदासीन एवेश्वरः प्रवर्तक इति तु व्याघातदोषग्रस्तत्वान्नैव युक्तम्, एतेन क्रीडार्थं ईश्वरो जगत्सर्जने प्रवर्तत इत्यपि निरस्तम्, क्रीडाया स्वदोषत्वव्याप्यत्वेन तदर्थं प्रवर्तकत्वे तस्य सदोषत्वप्रसङ्गात्, या या क्रीडा सा सा दोषजन्येति व्याप्त्या ईश्वरक्रीडाभिमता सतीति विशेषणदानमप्यनीश्वराप्रसिद्ध्याऽसम्भवदुक्तिकम् । क्रीडायां कम्पत्वविशेषणमपि नोचितम्, इतराव्यावर्तकत्वात्, तथाविधाया निजक्रीडाया अप्यनीश्वराप्रसिद्धेरसिद्धत्वात् । एतेनेश्वरः करुणयैव प्रवर्तत इत्यपि पक्षो निरस्तः, यतः कारुण्यप्रयुक्तप्रवृत्तिमतस्तोऽनुपमसुखाभिमतान् प्राणिनो विदध्यात्, न तु विविधाधि

व्याधिदुःखाभिभूतान्, यदभिहितम् "सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पाप्रयोजितः" इति। केषांचिज्जन्तूनां परमसुखभाक्त्वेन केषाञ्चिच्चातिदुःखभाक्त्वेनोत्पादने विषमप्रवृत्तिप्रसङ्गतः कारुण्यं नाममात्रावशेषं स्यात्। उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

"क्षुद्रग्रामे निवासः क्वचिदपि सदने रौद्रदारिद्र्यमुद्रा,
जाया दुर्दर्शकाया कटुरटनपटुः पुत्रिकाणां सवित्री।
दुःस्वामिप्रेष्यभावो भवति भवभृतामत्र येषां वतैतान्,
शम्भुर्दुःखैकदग्धान् सृजति यदि तदा स्यात्कृपा कीदृगस्य ? ॥१॥" इति

अत एवेश्वरस्यापरम्पारलीलेति तयैव जगत्सर्जने प्रवर्त्तेत इत्यपि वार्त्तम्, लीलाया दोषविलासरूपत्वेन दोषाक्रान्तत्वं स्यात्तस्य, रवेर्जगत्प्रकाशने स्वभाववदीशस्य स्वभावादेव जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, यत ईश्वरे स स्वभावः प्रतिनियतदेशकालाद्यधिकरणकप्रतिनियतस्वस्वासाधारणधर्मविशिष्टकार्यजननात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः। अन्यथाऽनियतदेशकालकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः कथमुद्धरणीयस्स्यात्, तादृक्स्वभावो विचित्रविपाके तत्तत्प्राणिविविधकर्मण्येवाऽभ्युपगम्यताम्। तथा च चेतनानधिष्ठितेनापि तत्तज्जीवकर्तृकेन कर्मणैव तत्तत्स्वभावबलात्त्रिलोकीकार्यं भविष्यतीति किमीश्वरकल्पनापरिक्लेशेनेति। एतेनेश्वरस्य यथेच्छं जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि निरस्तम्, इच्छाया मोहजन्यत्वेनेश्वरे रागादिमत्त्वं स्यात्। जगद्विधायकेश्वरनिरसनं विस्तरेणास्मत्कृततत्त्वार्थविवरणटीकायां विहितमिति तत एव तद्विस्तरार्थिनाऽवलोकनीयम्, ग्रन्थगौरवभीत्या नेहाधिकं प्रपञ्च्यत इति, तदेवं लोके रागादिमन्त एव कर्त्तारो दृष्टा इति तादृशस्यैव जगत्कर्तुरीश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति तस्य विपक्षभावनाभ्यासेन रागादिजये सत्येव शासनप्रणेतृत्वं सिध्यति, नान्यथेति भवः संसारः तद्धेतुत्वाद्रागादिकं जितवन्त इति भवजिना इति सिद्धम्। "भवजिनानाम्"-इत्यत्र भवे जिनाः भवजिनास्तेषाम्, छसप्तम्या आधेयत्वार्थकत्वेन भवस्थजिनानाम् भवस्थकेवलिनाम्, यद्वा भवे वर्त्तमाना भववर्त्तमानाः, भववर्त्तमानाश्च ते जिना भवजिना इति मध्यमपदलोपिसमासस्तेषामित्यप्यर्थो ज्ञेयः। अथ यद् यस्य कारणं तद्विपक्षासेवनेन सर्वथा तन्निवृत्तौ तत्कार्यस्याप्यभावः, यथा विकृतिभावापन्नश्लेष्माद्यात्मककारणस्य तद्विपक्षौषधोपचारतः सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतविशिष्टशिरोऽर्त्याद्यभावः तथा भवकारणस्य रागादेस्तद्विपक्षदृढावस्थापन्नसुविशुद्धाऽध्यात्मभावनातस्सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतस्य भवस्याभावस्स्यादिति तल्लक्षणमुक्त्यवाप्तौ सत्यां सर्वथा रागादिनिवृत्तिलक्षणरागादिजयवतां जिनानां शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, मुक्त्यवस्थायां जिनानामशरीरत्वेन शासनस्य च शब्दात्मकत्वेन तत्कारणताल्वादिसंयोगादेरभावात्, अथ सर्वथा रागादेर्न निवृत्तिरिति मुक्त्यवाप्तेः प्रागेव जिनानां शासनप्रणेतृत्वान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि रागलेशाश्लिष्टत्वेन

तेषां सर्वथाऽप्यस्त्वं नेति तत्प्रणीतशासनस्य नैकान्तिकं प्रामाण्यं स्यात्, कपिलादि प्रणीतशासनस्येवेत्याशङ्कयाह सूरिः–" ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं " इति। अवस्थावा- पात्यघातिभेदेन कर्म द्विविधम्, तत्राद्यस्य ज्ञानावरणीयादिभेदेन चतुर्विधस्याऽऽत्मीया- नन्तज्ञानादिचतुष्टयावारकस्य मध्ये प्रथमभेदमिमात्य शुक्लध्यानस्य—

" सवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं, सवियारमरागभावस्स ॥ ८० ॥ " इति ॥

ध्यानशतकग्रन्थस्थगाथोक्तलक्षणेन पृथक्त्ववितर्कसविचारकषायभेदेन भावः पूर्वपरनिबन्धेन निःशेषमोहनीयकर्मणोऽचिन्त्यसामर्थ्यस्य महावैद्यपोपमस्य क्षये कृते तदनन्तरं तस्य ।

" जं पुण सुनिप्पकंपं, निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पायट्ठिइभंगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥
अवियारमत्थवंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं ।
पुव्वगयसुयालंबण-मेगत्तवितक्कमवियारं ॥ ८२ ॥ "

इत्युक्तलक्षणेनैकत्ववितर्कोऽविचाराख्यद्वितीयभेदेनाकषायछद्मस्थवीतरागगुणस्थानम् भिकेन क्षीणमोहगुणस्थानान्त्यसमये ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रये युगपत्क्षपिते सति तदनन्तरं

" सुक्कज्झाणाइ दुगवोलीणस्स ततियमपत्तस्स एताए ।
झाणंतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाणं समुप्पज्जइ ॥ १ ॥ "

इति सिद्धान्तवचनात् ध्यानान्तरकाले सयोगिगुणस्थानप्रथमसमयेऽनन्तज्ञानादिचतु- ष्टयावाप्तावपि द्वितीयभेदरूपाघातिकर्मणो मनोवचनादिनो यावत्स्थितिस्थायिन शरीरनिबन्धनि, अत एव न मुक्तिः, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावत् कथञ्चिद्भवता भव्यजनप्रतिबोधनार्थमस्तत्समयपिपासया, ततः परं ।

" निव्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं, तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ ८३ ॥ " इति

इति ध्यानशतकवचनात्सयोगगुणस्थानस्यान्त्यान्तर्मुहूर्तकाले मुक्तिगमनकारणस्य शुक्लध्यानस्य सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्त्याख्यतृतीयभेदे तेन भगवता ध्याते सति तदनन्तरं

" इस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति ।
अत्थइ सेलेसिगओ ततियमेत्त तओ कालं ॥ "

विशेषावश्यकभाष्यवचनात् अ इ उ ऋ लृ पंचह्रस्वस्वरकालमानपर्यन्तमयोगिगुणस्थाने

तस्सेव य सेलेसिं, गयस्स सेलेसु व निप्पकंपस्स ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडि-वाइं झाणं परमसुक्कं ॥ ८४ ॥

इति ध्यानशतकग्रन्थवचनात् "वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइं सेलेसिकालम्मि" । ३०६९। इति विशेषावश्यकभाष्यवचनाच्च सर्वयोगनिरोधादूर्ध्वं शैलेशीकाले व्युपरतक्रियाऽप्रतिपात्याख्यचतुर्थभेदेनाशेषभवदुःखविटपिदावानलकल्पेनाशेषभवोपग्राहिकर्मक्षये कृते सत्येव तस्य भगवतो मुक्तौ गमनमिति भवोपग्राहिकर्मकार्यभूतशरीरमुखादेर्भवस्थसयोगिजिने सद्भावेन न तस्य शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, न वा रागादिलेशसद्भावाभावादाप्तत्वक्षतिरिति नाममुख्ये शासनप्रणेतरि जिने अयथार्थवाक्यकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य सर्वथैव निवृत्तेस्तत्प्रणीतशासनस्याऽप्रामाण्यमपीति । अवयवार्थस्त्वेवम्–तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्ताऽनन्तज्ञानसुखरूपाध्यासिताश्शुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानं लोकाग्रलक्षणं विशिष्टक्षेत्रम्, न विद्यते उपमा इन्द्रियविषयाद्यनपेक्षतया स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन च सर्वसुखातिशायित्वाद्यस्य तदनुपमम्, अनुपमं सुखमखण्डानन्दरूपं यस्मिंस्तत् तथा, तत् 'उप' इति कालसामीप्येन गतानाम् प्राप्तानाम् । यद्वा 'उपोढः प्रकर्षेण प्राप्तो रागो येन स उपोढरागः, तेन इत्यर्थकं 'उपोढरागेण' इति यद्वाक्यं तद्गतोपशब्दवत् 'उप' इति उपसर्गोऽत्र प्रकर्षवाची, तेन स्थानमनुपमसुखं प्रकर्षेण गतानामिति । यद्यपि वेद्यमानतीर्थकरनामकर्मादिसद्भावेन भवजिनभगवन्तो लोकाग्रलक्षण विशिष्टस्थानं न समुपागतास्तथापि "परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि तमर्थं गमयन्ति" इति न्यायादनुभूयमानतीर्थकृन्नामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्युक्ताः, तेषाम्, तेन शासनप्रणेतृत्वं तस्यामवस्थायां तेषामुपपन्नमेव" यद्वा तिष्ठत्यनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽत्रस्थितो भवति स्वात्मा यत्र तत्स्थानम्, व्यवहारनयतो लोकाग्रलक्षणं सिद्धिक्षेत्रं "वत्थु वसइ सहावे सत्ताओ चेयणा व जीवम्मि" इति वचनान्निश्चयनयतः क्षीणकर्मणो जीवस्य यथावस्थितस्वरूपं "इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं" इति सिद्धान्तवचनात्तदनुपममुपमातीतं प्रकर्षेणापुनरावृत्त्या गतानां प्राप्तानामिति । एतेन

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्त्तारः परमं पदम् ।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः" ॥१॥ इति

"यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥"

इति च केषाञ्चिन्मतं निरस्तम्, बीजे दग्धे अङ्कुराभाववच्छुक्लध्यानाग्निनाऽखिलकर्मणि दग्धे कर्मरूपकारणाभावेन भवागमनात्मककार्याभावात् । उक्तञ्च—

"न गुणो तस्स पहुत्तं, बीयाभावादिहङ्कुरस्सेव ।
बीयं च तस्स कम्मं, न च तस्स तयं तओ निच्चो ॥१॥" इति

किञ्च तदागमनं रागादिसद्भावे सत्येव भवेत्, नान्यथा, तथा चानुन्मूलितरागादि दोषत्वात्तद्वचसोऽप्रामाण्यमेव स्यात्, अथोन्मूलितसर्वथारागादिदोषो मुक्तात्मेति चेत्, तर्हि कुतः पुनस्तदागमनमिह, कारणीभूतरागाद्यभावेन तत्कार्यागमनानुपपत्तेः । अत एव "मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिताः" इति परकल्पितमतमपि निरस्तम्, यद्देशा वच्छिन्नयद्गुणोपलम्भिस्स तत्परिमाणनियतपरिमाणकः, यथा कपालद्वयावच्छि-न्नोपलभ्यमानगुणको घटः कपालद्वयपरिमाणनियतपरिमाणकः । शरीरात्मकदेशावच्छेदे नैवात्मगुणसुखदुःखादिगुण आत्मेति स तत्परिमाणनियतपरिमाणवानित्यनुमानेनात्मा स्वकर्मनिरूपितप्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धाश्रयतच्छरीरावगाहनमात्रप्रदेशसङ्कोचविकासाभ्या-मसङ्ख्यातप्रदेशावगाहनाकः स्वशरीरावच्छिन्नभोगभाक्त्वात्, यदेवं तदेवं यथा घटः, इत्यनुमानप्रदीपितपर्यवसन्नस्वरूपेणाऽऽत्मनो व्यापकत्वाभावसिद्धिरित्यव्यापकस्य तस्या-ऽवग्रहस्पर्शिकत्वेऽपि बन्धनविनिर्मोक्षमुक्तोर्ध्वगमनस्वभावेरण्डबीजवत् घनसुषिरलेप सम्बन्धपरित्यागप्रयुक्तसंसरिमितत्वस्वभावतातुम्बवत् सर्वकर्मसङ्गपरिमुक्तस्योर्ध्वगमनस्वभा वत्वेन "अविग्गह जीवो ओगाहे अविग्गहेण फुसमाणो गच्छइ" इत्यादि सिद्धान्तोक्त प्रकारेण लोकाग्रस्थानगतस्थानस्थितिकारणकर्माऽभावेन सर्वदा तत्रैवाऽवस्थानमिति । अथवाऽवच्छेदकतासम्बन्धेनाऽऽत्मविशेषगुणं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन शरीरस्य कारणत्वेन तदभावान्न मुक्तौ बुद्धिसुखादिविशेषगुणास्त्यन्तोच्छेदलक्षणमात्मनस्त्वभ्युपगन्तुर्नैयायिक मतनिरासार्थमाह सूरिः ' ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं " इति । स्थितिः-स्थान स्वरूपप्राप्तिः, तदनुपमसुखम् 'उप' इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां प्राप्तानाम्, अनेकान्तमागमानन्तनिखिलजगद्विषयककेवलज्ञानोपदर्शितजैनेतरव्यवस्था परमसमयोपवादनिखिलवेदनीयकर्मक्षयाविर्भूतमनन्तसुखरूपमात्मनः कथञ्चिदनन्यभूतं स्वरूपं प्राप्तानामिति यावत् । यो यो गुणो येन येनाभिभूते तदपाये सति स स आविर्भवति, यथा रविप्रकाशगुणो मेघेनाच्छादितः सर्वथा तदपाये सति सर्वांशनिरावृतः प्रकटी भवति तथाऽऽत्मीयानन्तसुखरूपपरमात्मनगुणोऽपि यावत् मुक्तिस्थानवेदनीयकर्मणाऽऽ वृतस्तावत्स्वरूपात्यतिरिक्तवेदनीयकर्मक्षये मुक्तौ तस्या स्वत एव सर्वांशप्रकटीभवतीति तत्र चैव साऽभ्युपगन्तव्या, यतस्तच्चन्दनवनितादिभोगोपभोगजन्यव्यावहारिकसुखं प्रत्येका त्मनः संयोगादेः कारणत्वेन मुक्तौ तदभावात्तदभावेऽपि न पारमार्थिकानन्तसुखस्याप्यभावः, तस्य निरावरणात्ममात्रजन्यत्वात् । न च यत्नादपि तस्य विनाशः, तद्विरोध्युत्तरविशेष गुणाभावेन नाशकाऽसम्भवात् । न चैवं तर्हि तस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्त्वं न स्या दिति वाच्यम् स्वरूपतो ध्रौव्यम्, प्रतिक्षणभेदेन पूर्वापरक्षणविशिष्टस्य तस्य विनाश

उत्तरोत्तरसमयोत्पत्त्या तद्विशिष्टस्य तस्य चोत्पत्तिरित्येवमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणस्य सत्त्वस्याऽक्षतेः, "षड्गुणहानिवृद्धिभ्यां, यथाऽगुरुलघुस्तथा। पर्यायः क्षणभेदाच्च, केवलाख्योऽपि सम्मतः"। १। इत्युक्तेः। अत्र क्षणभेदात् केवलज्ञानपर्यायोऽपि भिन्न एव प्रदर्शितो यथा तथा स्वस्वरूपतो ध्रुवस्वभावमप्यनन्तसुखं तत्तत्क्षणविशिष्टं भिन्नमेव, विशेषणभेदेन तद्विशिष्टस्यापि कथञ्चिद्भेदादित्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं सत्त्वं तस्योपपन्नमेव। न चात्र विशेषणस्यैव नाशोत्पादाविति वाच्यम्, यतः शिखायां विनष्टायां शिखी विनष्ट इति प्रतीतेरप्यनुभूयमानत्वेन विशिष्टस्यापि तथात्वमभ्युपगन्तव्यम्, अधिकमत्रास्मत्सन्दब्धस्याद्वादबिन्दुतोऽवसेयमिति ॥ एतेन दुःखकारणीभूतस्य पापस्येव सुखहेतुपुण्यस्यापि तत्राभावाद्दुःखस्येव सुखस्याप्यभाव एव युक्त इत्यारेकापि निरस्ता, व्यावहारिकसुखं प्रत्येव पुण्यस्य कारणत्वेन कृत्स्नकर्मक्षयजन्यसिद्धत्वपरिणतिवन्मुक्तात्मनो वैषयिकसुखविलक्षणाया वेदनीयकर्मक्षयजन्यालौकिकनिराबाधमाद्यनन्तसुखपरिणतेर्भावादिति। मुक्तात्मनि घातिकर्मचतुष्कक्षयसमुत्पन्नानन्तज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यलक्षणानन्तचतुष्कगुणा अघातिकर्मचतुष्कक्षयनिष्पन्नानन्ताऽक्षयस्थित्यमूर्त्तमात्राव्याबाधसुखाऽगुरुलघुभावलक्षणगुणास्संस्थानवर्णादिप्रतिषेधात्मका अन्येऽपि च गुणा विद्यन्त इत्यात्यन्तिकाशेषविशेषगुणोच्छेदलक्षणा मुक्तिर्न युक्तियुक्तेति सिद्धम्। एतेन

" यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ॥ १ ॥
अङ्गनाऽऽलिङ्गनाज्जन्य- सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं, दुःखं निरय उच्यते ॥ २ ॥
त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां, दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्, को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥ ३ ॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा, परेशो नाऽपरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु, न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥ ४ ॥ "

इत्यपि निरस्तम्। वीतरागजन्मादर्शनात् सरागस्यैव जन्म, रागस्य च कारणं पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनम्, पूर्वानुभवश्च जातमात्रस्यास्मिन् जन्मनि न सम्भवतीति तदर्थं पूर्वजन्माभ्युपगन्तव्यम्, तदपि सरागस्यैवेत्येतद्भवीयाद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनकं स्तन्यपानं मदिष्टसाधनमिति मत्कृतिसाध्यमिति च यत्स्मरणं तत्कारणपूर्वभवानुभवद्वारा तत्पूर्वजन्म एव तत्पूर्वपूर्वजन्मप्रथमप्रवृत्तिकारणरागानुबन्धानुरोधेन सिध्यत्प्रवाहतोऽनाद्येव

ध्यानं सिध्यति, तच्च च आत्मानं विनाऽनुपपन्नं तत्पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरभवानुयायिनमेकम-द्यतनीयाऽऽद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनकतदहिकस्मृतिपूर्वभवीयतत्समानविषयानुभवकर्तारमा त्मानं साधयति । एतत् विशेषयिष्यते चाग्रे । एवञ्चाऽऽत्मनोऽनादित्वे सिद्धे आत्माऽनन्तः भावत्वे सत्यनादित्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घट इत्यनुमानादस्यानन्तत्वमपि सिध्यति, तस्य चानन्तकालमनुपरतगत्यात्मकभवपरिभ्रमणम् यथाऽनुपपन्नं भवकारणतया भवाद्योऽ-नादिकर्म साधयतीत्यनादिकालसम्बद्धाऽऽत्मकर्मणोरनादिकालसम्बद्धसुवर्णद्रव्ययोरग्नि संयोगेनेव शुक्लध्यानाग्निना सर्वथा पृथग्भावे सति इह शरीरे परित्यज्य स्वकर्मवशतस्त्रिभागहीनचरमशरीरपरिमाणमपरिमाणवत्तया समयमप्येकमगत्वैवोर्ध्वं गतः

" अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया ।
इह बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥ १ ॥ "

इति प्रज्ञापनासूत्रवचनात् केवलाकाशास्तिकायरूपालोके यस्यादिप्रदायककर्मास्तिका-याऽभावेन प्रतिस्खलनमाप्तो लोकमूर्धनि प्रतिष्ठितो—*निरावृतस्वभावमात्राविर्भूतानन्तज्ञानानन्तवीर्या*-नन्दादिस्वरूपमुक्तिमवाप्नोतीति पूर्वोक्तयुक्तिभिर्भवसंयुक्तात्मकर्मणोरनादित्वस्य नाना विधमिथ्यात्वादिकारणवशोपनतविविधकर्मपरिणतिकृतचतुर्गत्यात्मकसंसारमनन्तकालमपरिभ्र मणस्य च परमशुक्लध्यानादिनाऽऽत्मसम्बद्धाशेषकर्मवियोगलक्षणकर्मक्षये सति कर्मकारणा-भावात् संसारपरिभ्रमणात्मककार्यनिवृत्त्याऽऽत्मनोऽक्षयानन्तज्ञानदर्शनादि गुणावाप्त्या मुक्तेश्च सिद्धौ "न देहातिरिक्त आत्मेति देहविनाशो मुक्तिः" इति चार्वाकमतं न युक्तमिति सिद्धमित्यलं पल्लवितेन । एतेन

" दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२॥"

इत्यपि मतमपास्तमवसेयम् । ग्रन्थगौरवभीत्याऽत्र यथोक्तं तद् बृहट्टीकातोऽवबोद्धव्य-मिति प्रथमकारिकार्थः परिपूर्तिं प्राप्त इति ।

" यदत्र न ग्रन्थमहत्त्वभीत्यो—क्तं तदु यदत्रेऽप्यधिकं न चैव ।
तट्टीकयाऽप्यर्थमपेक्ष्यसूरे—र्जानन्तु विस्तारकथीयमज्ञाः ॥ १ ॥ "

अथ भगवान् समस्तपरमिमहामोहमल्लस्य सर्वथा पराजय तदानन्तरीयकज्ञानावरण दर्शनावरणान्तरायाख्यघनघातिकर्मत्रयपराजयमवाप्य नाशेषविषयगोचरकेवलज्ञानक ल्पविधिदामामभ्यमवाप्नोति, न च तदुत्पत्तिं विना तस्य कमनीयाशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्य

सपर्यामकृत्रिमानुपममक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायका अनेन भगवता सनाथा भवामेति सन्मतिमाबिभ्राणा विरचयन्ति, न च शचीपत्यादिकृतपूजाविरहे स स्याद्वाददेशनागिरः प्रयुङ्क्ते इति हेतुहेतुमद्भावोत्पद्यमानगाथान्तर्गतजिनादिततत्पदसंसूचितापायापगमातिशयज्ञानातिशयपूजातिशयवागतिशयचतुष्करूपस्वार्थपरार्थसम्पत्तिशालिभगवत्प्रणीतश्रुतमयेष्टदेवतासोल्लासस्तुतिविघ्नस्तसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितविशेषस्य सूरिस्सर्वेऽपि व्यवहाराः प्रयोजनव्याप्ताः, नान्तरेण प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्ती, पशवादयोऽप्यभिसन्धाय प्रयोजनं प्रवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते चेति श्रोतुः प्रस्तूयमाने शास्त्रे निर्विघ्नप्रवृत्त्यर्थं तत् सप्रयोजनमादौ वाच्यम्, तदुक्तं मीमांसाश्लोकवार्तिके "अनिर्दिष्टफलं सर्वं, न प्रेक्षापूर्वकारिभिः। शास्त्रमाद्रियते तेन, वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥ १ ॥ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य, कर्मणो वापि कस्यचित् । यावत्प्रयोजनं नोक्तं, तावत्तत्केन गृह्यते ॥ २ ॥" इति । तदपि चेदनभिमतप्रयोजनेन सप्रयोजनं वक्त्रा विरच्येत तदा जननीपाणिपीडनोपदेशवत्तत्र चतुराणामतितरामनादरस्स्यात्, प्रवृत्तिकारणीभूतस्य बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्याभावादिति तत्राभिमतं प्रयोजनं वाच्यम्, तदपि शक्योपायं न चेत् प्रदर्श्येत तदा विषादिसर्वविघ्नशामकतक्षकनागराजशिरोरत्नादानोपदेशवत् प्रेक्षावद्भिस्तदुपदर्शकं शास्त्रमनादेयं स्यात्, प्रयोजने सत्यपि तत्साधनानुष्ठानं मत्कृतिसाध्यमित्याकारकस्य प्रवृत्तिकारणकृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानस्याभावादित्यनुगुणोपायं प्रयोजनं वाच्यम्, येन यद् दृष्ट्वा तत्प्राप्त्याशावशीकृतस्वान्तप्रेक्षावद्भिः प्रवृत्तिस्सादराऽऽदृता शीघ्रं स्यात्, अभ्यधायि च ।

" शास्त्रस्य हि फले ज्ञाते, तत्प्राप्त्याऽऽशावशीकृताः ।
प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते, तेन वाच्यं प्रयोजनम् ॥ १ ॥ " इति ॥

एवं शास्त्रमभिधेयशून्यं चेत्, तदोन्मत्तादिवाक्यवदानर्थक्यं सम्भावयन् प्रेक्षावान् श्रोतुं न प्रवर्तेतापीत्यभिधेय सुखोपादेयमस्यावश्यं वाच्यम् । एवं शास्त्र सम्बन्धरहितं चेत्तदापि—

" जरद्गवः कम्बलपादुकाभ्यां, द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि ।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा, राजोरुमायां लशुनस्य कोऽर्थः ? ॥१॥ "

इत्यादिनिराकाङ्क्षवाक्यवत् तथाऽसम्बद्धदशदाडिमादिवाक्यवत्प्रेक्षाकारिणामवज्ञास्पदं स्यादित्यादौ सम्बन्धोऽप्यसङ्गतिदूरीकरणार्थं वाच्यः, एवमजिज्ञासिताभिधेयकत्वेनानधिकारिकं चेत्तदा प्रेक्षावद्भिर्नाद्रियेत, प्रेक्षावत्त्वक्षतेरित्यस्य शास्त्रस्य कोऽधिकारीत्यपि वाच्यम्, यदभ्यधायि—

" विषयश्चाधिकारी च, सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ, मङ्गलं नैव शस्यते ॥ १ ॥ " इति ॥

जन्म सिध्यति, जन्म च जन्मवन्तं विनाऽनुपपन्नं तत्पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरभवानुयायिनमेवानु मीयाऽऽयतत्यपायाविप्रकृतिजनकत्वाद्विषयस्मृतिपूर्वमभीष्टसमानविषयकानुभवकर्त्तारमा त्मानं साधयति । एतद् विशेषयिष्यते चाग्रे । एवञ्चाऽऽत्मनोऽनादित्वे सिद्धे आत्माऽनन्त भावत्वे सत्यनादित्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घट इत्यनुमानात्तस्यानन्तत्वमपि सिध्यति, तस्य चानन्तकालमतुर्गत्यात्मकभवपरिभ्रमणमन्यथाऽनुपपन्नं सचस्कारणतया प्रवाहतोऽ नादिकर्म साधयतीत्यनादिकालसम्बद्धाऽऽत्मकर्मणोरनादिकालसम्बद्धसुवर्णदृम्पयोरग्नि संयोगेनेव शुक्लध्यानाग्निना सर्वथा पृथग्भावे सति इह शरीरं परित्यज्य स्वकर्मक्षयकृत त्रिभागहीनचरमशरीरपरिमाणसमपरिमाणतया समयमप्येकसमयेनैवोर्ध्वं गतः

> " अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया ।
> इह बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥ १ ॥ "

इति प्रज्ञापनावचनात् केवलाकाशास्तिकायरूपालोके गत्यादिसहायकधर्मास्तिका याद्यभावेन प्रतिस्खलनाल्लोकमूर्द्धनि प्रतिष्ठितो–निरावृतस्वभावमात्राविर्भूतानन्तज्ञानन्तवि मन्तादिस्वरूपमुक्तिमवाप्नोतीति पूर्वोक्तयुक्तिभिर्निश्चयसंयुक्तात्मकर्मणोरनादित्वस्य नाना विधमिथ्यात्वादिकारणप्रयोजनविविधकर्मपरिणतिकृतचतुर्गत्यात्मकसंसारसन्ततात्मपरिभ्र मणस्य च परमशुक्लध्यानादिनाऽऽत्मसम्बद्धाशेषकर्मवियोगलक्षणकर्मक्षये सति कर्मकारणा भावात् संसारपरिभ्रमणात्मकतत्कार्यनिवृत्त्याऽऽत्मनोऽशेषकर्मक्षयजन्यानन्तज्ञानदर्शनादि गुणावाप्त्या सुखेन सिद्धौ "न देहातिरिक्त आत्मेति देहविनाशो मुक्तिः" इति चार्वाकमतं न युक्तमिति सिद्धमित्यलं पल्लवितेन । एतेन

> " दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥
> जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
> दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२॥"

इत्यपि मतमपास्तमवसेयम् । ग्रन्थगौरवभीत्याऽत्र यथोक्तं तद् दृष्टीकातोऽवबोद्धव्य मिति प्रथमकारिकार्थः परिपूर्त्तिं प्राप्त इति ।

> " यदत्र न ग्रन्थमहत्त्वमीरितो,—क्तं तद् यद्येऽप्यधिकं न चास्य ।
> तद्दीकयाऽवर्णनमपेक्षसूरे–र्ज्ञानन्तु विस्तारकथीद्धमज्ञाः ॥ १ ॥ "

अथ भगवान् जगत्प्रवर्विमहामोहमल्लस्य सर्वथा पराजय तज्जन्यान्तरीयकज्ञानावरण दर्शनावरणान्तरायाख्यघनघातिकर्मत्रयपराजयमाकलय्य नाशेषविषयमोचरकेवलज्ञान लक्ष्मीनिधिरज्ञानानमन्यथाप्नोति, न च तदुत्पत्तिं विना तस्य कमनीयात्मोभयमहाप्रातिहार्य

वावस्त्रन्दे" । ३ । ३ । ३३ । इति पाणिनीयसूत्रस्य प्राप्तेः घञ्प्रत्ययान्तविस्तारशब्दस्यैव प्रयोक्तुमुचिततया नात्राप्प्रत्ययान्तस्य विस्तरशब्दस्य प्रयोगस्समीचीन इति चेत्, मैवम्, यतश्शब्दार्थयोरभेदपक्षं समाश्रित्य विस्तरशब्दप्रयोगो विहितः, भेदपक्षेऽपि शब्दार्थयोः पारमार्थिकस्सम्बन्धोऽस्तीति प्रतिपादयितुमेवाभेदविवक्षामाश्रित्यार्थविस्तारेऽपि शब्द-विस्तरत्वं समारोप्य घञोऽप्राप्तिं सम्पाद्याबन्तस्यैव प्रयोगः कृत इति, तस्य विहाट इति विशेषेण हाटयति दीपयति श्रोतृबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् प्रकाशयतीति विहाटः, विपूर्वात् हट्धातोर्दीपनार्थकाद् घञ्प्रत्ययः "हलश्च" ३ । ३ । १२१ । इति पाणिनीयसूत्रेण, स चासौ जनश्च चतुर्दशपूर्वविदादिश्रुतस्थविरलोको विहाटजनः, तस्य पर्युपासनम् परित उपा-स्तिरिति पर्युपासनम्, सेवा, आस् उपवेशने इति धातोः पर्युपात्मकोपसर्गद्वयवशतः सेवार्थे वर्त्तमानाद् भावार्थे ल्युट् प्रत्ययः । पर्युपासनपदेनात्र कारणे कार्योपचारात् सेवाजनितव्या-ख्यानं लक्षणया बोध्यम्, कारणीभूतसेवासम्पादनेन चतुर्दशविदादिसकाशात् तदीयव्या-ख्यानप्रवर्तनस्य कारयितुं शक्यत्वात् । तत्र विहाटजनव्याख्याने सहकर्णाभ्यां वर्त्तत इति सकर्णः त्रिकरणयोगसोल्लासश्रवणैकमात्रधानीकृतकर्णव्यापारः तद्व्याख्यातार्थसुखग्रहण-धारणनिश्चयादिकरणपटुमन्दबुद्धिरपि "जह होइ तमत्थमुन्नेस्सं" यथा इति येन प्रकारेण भवति तं तथाभूतमर्थमुन्नेष्ये लेशतः प्रतिपादयिष्ये । यद्वा "उत्" उपसर्ग उत्कृष्टार्थद्योतक इत्युत्कृष्टतया नेष्ये प्रापयिष्ये, स्वप्रतिपादनमहिम्ना तमर्थं श्रोतृजनबुद्धिविषयीकरणद्वारा तदीयहृदयंगमं करिष्ये । प्रतिपादयित्रा विदुषा प्रतिपादितोऽप्यर्थो यदि श्रोतृजनबुद्धौ नावतरति तदा प्रतिपादयितुरेव जाड्यमवगम्यते, "वक्तुरेव हि तज्जाड्यं, यतः श्रोता न बुध्यते" इति न्यायात्, अतश्शास्त्रीयदिव्यचक्षुस्सुगुरुनिस्सीमकृपासुधाश्रुतसमुद्रान्तर्निमग्न-ताऽवाप्ताऽनर्घ्यगम्भीराविसूक्ष्माऽनल्पतत्त्वरत्नसुस्पष्टीकरणप्रकारेण अतिकुण्ठितबुद्धयोऽपि श्रोतृजना यमर्थमर्हच्छासनपरमरहस्यभूतं श्रुत्वा सतात्पर्यं विभाव्य विनिश्चित्य च द्रव्यानु-योगविषयकागमाऽतिगहनसूक्ष्मतरानप्यर्थान् सुखेन ग्रहीतुं धारयितुं निश्चेतुमतिपटुप्रज्ञा इत-रसकलशास्त्रेषु प्रामाण्याप्रामाण्यविवेककर्त्तारश्च भवन्ति तमर्थमनेन प्रकरणेनाहमपि प्रतिपाद-यिष्ये इति भावः । अथाभिधेयसम्बन्धयोस्सामर्थ्याद्गम्यमानत्वेन प्रयोजनार्थितयैव शास्त्र-श्रवणादौ श्रोतृजनस्य प्रवृत्तेः प्राधान्येन प्रवृत्त्यङ्गभूतं प्रयोजनमेव मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयितु-मुपन्यस्तयाऽनया गाथया तद् यथा व्यञ्जितं तथोच्यते, तत्र प्रयोजनं द्वेधा कर्त्तुश्श्रोतुश्च, पुनर्द्विविधम् अनन्तरं सान्तरं च । तत्र कर्त्तुरनन्तरं प्रयोजनं आगममलारहृदयस्समयपर-मार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तथार्थव्युत्पादनं गाथयैव साक्षान्निर्दिष्टम् । श्रोतुस्त्वेतत्प्रकरणार्थप्रतिपत्तिस्तदन्तर्गततया प्रतीयते, सान्तरप्रयोजनन्तु द्वेधा प्रधानम-प्रधानञ्च, तत्राप्रधानं कर्त्तुस्सत्त्वानुग्रहख्यात्यादिकम्, प्रधानन्तु "सर्वज्ञोक्तोपदेशेन यः सत्त्वानामुपग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम्" ॥ १ ॥ इत्युक्तेः परम-

यथा च प्रागीयमोहमप्रयोजकज्ञानविषयीभूतप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धाभिधायकत्व कारणमनुपपन्नमस्मिन् प्रकरणेऽस्ति न वेति प्रश्नावसरे तदर्थकामस्य सम्यग्दर्शनप्रकर्षा कृत्स्नशास्त्रार्थसङ्ग्राहिकामादिवाक्यरूपां गाथामाह—

" समयपरमत्थवित्थर-विहाडजणपज्जुवासणसयण्णो ।
आगममलारहियओ, जह होइ तमत्थमुन्नेसुं ॥ २ ॥ "

अत्र " आगममलारहृदयः " इत्येतच्छब्दप्राधान्यादागमार्थप्रतिपत्तिसमर्थहृदयस्येदंशुश्रूषा मस्य श्रवणस्य प्रसिद्धत्वाद्गुरिद्याद्यपरवदनन्यार्थेनाप्रसुं समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णो यथा भवति तदर्थमुच्येते इत्येतद्विपीयते । समयस्यार्हदागमस्य प्रमाणान्तराबाधितत्वेन यथार्थतया तदर्शनान्तरोक्तार्थापेक्षया परम उत्कृष्टो योऽर्थस्तस्य यो विस्तरो रचनाविशेषः तस्य विहाटः भोद्घुविद्यार्थप्रकाशको यो जनमतुर्वंशपूर्वविदादि लोकः तस्य पर्युपासनं सेवानिश्चितप्रपासनं तत्र सकर्णः तदाख्यातार्थयथार्थविचारण समर्थो यथा भवति तथा तदर्थमुच्येते लेशतः प्रतिपादयिष्ये इत्युक्तमेवेतस्य सङ्क्षेपार्थः । पदार्थस्तूच्यते " आगममलारहियओ " इति-आगममलारहृदयः, तत्राविच्छिन्नगुरुपारम्पर्येण वासनाद्वारेणागच्छतीत्यागमः, यद्वा आ समन्ताद् गम्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेत्यागमः, शास्त्रम्, आङ् पूर्वकाद् गम् धातोः " गमश्च " ३-३-४७ इति पाणिनीयसूत्रेण सप्प्रत्यये आगमशब्दनिष्पत्तिः । मलमिव आरा ग्रामनगरविभागो यस्याऽसौ मलारः, गौर्मल्ली, आगमे तदद् कुण्ठमागमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थं हृदयं यस्य स तथा, अहनि शमरमक्तिबहुमानप्रभवसुगुरुप्रदीयमानागमप्रतिपाद्यगम्भीरार्थहृदयानुकूलप्रज्ञाविहीनत्वेना तिमन्दधीरिति यावत् । " समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपज्जुवासणसयण्णो " इति, समय परमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्णः, सम्यङ् प्रमाणान्तराऽविसंवादित्वेनैयन्ते निर्णीय न्तेऽर्था अनेनेति समयः, यद्वा सम्यङ् अवैपरीत्येनाप्यन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति करणप्रत्यये समयः । सम्यक् याथात्म्येनायन्ति अयन्ते वा ज्ञानस्यार्थान् अनेनेति वा समयः, अथवा सम्यङ् अयते परिच्छिनत्ति जीवादयर्थान् यस्तु समयः, सम्यगयन्ति यच्छन्ति जीवादयोऽर्थास्स्वस्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति वा समयः, अर्हत्प्रवचनानुसारि शास्त्रम् । परमः प्रमाणान्तराबाधितप्रमाणगोचरपदार्थस्वरूपः, अर्यते परिच्छिद्यते ज्ञान विषयीक्रियत इत्यर्थः । परमश्चासावर्थश्च परमार्थः, प्रमाणान्तराबाधितत्वया वास्तविकोऽर्थः, समयस्य परमार्थः समयपरमार्थः, तस्य विस्तरो रचनाविशेषः, विस्तीर्यत इति विस्तरः, "स्तृञ्" आच्छादने क्रैयादिको धातुः । ततः " ऋदोरप् " । ३ । ३ । ५७ । इति सूत्रे णाप्प्रत्ययः । मन्वर्थस्य विस्तारमभिरप्यर्थे शब्दसम्बन्धिनः प्रथनस्याभावात् अर्थविस्तार स्यैव गृहीतत्वात् " निरूप्य स्तृणातेर्यञ् स्यादशब्दविषये प्रथने इत्यर्थकस्य " प्रथने

मादरणीयमेव प्रेक्षावद्भिः विषयाधिकारिसम्बन्धप्रयोजनात्मकानुबन्धचतुष्टयशालित्वात्, यन्नैव तन्नैवं, यथोन्मत्तवाक्यमिति । तत्रानुबन्धत्वं नाम प्रवृत्तिजनकज्ञानजनकज्ञान-विषयत्वं प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वं वा, तत्सङ्गमनञ्चैवम्–प्रवृत्तिरत्र शास्त्राध्ययन-विषयिका, तज्जनकज्ञानमिदं शास्त्राध्ययन मदिष्टसाधनमित्याकारकं ज्ञानं मत्कृतिसाध्य मित्याकारकं ज्ञानञ्च, तच्च विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमेन तत्र विशेषणी-भूतस्य मदिष्टस्येष्टत्यस्य च ज्ञाने सत्येव भवतीति तज्जनकज्ञानमस्य शास्त्रस्या ध्ययनेऽहमधिकारीति ज्ञानम्, एतच्छास्त्राध्ययनस्यैतच्छास्त्रवाच्यार्थज्ञानं साक्षात् मोक्षश्च परम्परया फलमितीष्टज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमधिकारिणि प्रयोजने च वर्त्तते, अस्य शास्त्रस्य द्रव्यानुयोगविषयप्रतिपादनपरत्वात्तदभिधेयस्य सामान्यतो ज्ञाने सत्येवेदं शास्त्रं मत्कृतिसाध्यमिति ज्ञानं भवति, तथा शास्त्रस्याभिधेयेन सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव-सम्बन्धस्य ज्ञाने सत्येवेदं शास्त्रं मदिष्टसाधनमिति ज्ञानं सम्भवतीति प्रवृत्तिजनककृति साध्यत्वप्रकारकप्रकृतशास्त्रविशेष्यकज्ञानजनकमभिधेयज्ञानं प्रवृत्तिजनकेष्टसाधनत्वप्रकारक-प्रकृतशास्त्रविशेष्यकज्ञानजनकञ्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धज्ञानम्, एवं प्रयोजनेन तत्त्वज्ञानेन सहास्य शास्त्रस्य जन्यजनकभावसम्बन्धज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमभिधेये सम्बन्धे च वर्त्तत इति । अत्राक्षेपपरिहारौ ग्रन्थगौरवभियाऽनुक्तौ बृहट्टीकातोऽवसेयौ, इति द्वितीयकारिकार्थः परिपूर्णभावं नीत इति ॥ २ ॥

अथ भेदप्रभेदविशिष्टमूलभेदोपेतं नयस्वरूपं सूक्ष्मेक्षिकया यावन्नावगच्छति ताव-त्तस्य पुंसो नयविषयकसमीक्षाया अभावेनाविचारितरमणीयतयाऽयुक्तं युक्तं युक्तमप्ययुक्तं प्रतिभासेत, एवञ्चार्थानां युक्तायुक्तत्वविभागोऽपि प्रमाणगोचरचारी न स्यात्, अन्यथा प्रतिपत्तेः, तदेवाह भाष्यसुधाम्भोधिः–" अत्थं जो न समिक्खइ, निक्खेवनयप्पमाणओ विहिणा । तस्साऽजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं वा पडिहाइ ॥ २२७३ ॥ " इति । एवं " दुष्टांशच्छेदतो नांही दूषयेद्विषकण्टकः " इति न्यायात् स्याद्वादप्रमाणसम्राट्पदस्थानीयर्जुसूत्रनयस्यैकान्त-त्वावगाहिदुष्टांशं बहुव्यवहारोच्छेदकं विषकण्टककल्पेन न्यायनयेनादिव्युत्पत्त्याधायकेन यदि तत्तन्नयविधिज्ञो न स्यात्तदा कथं निराकुर्यात्, किञ्च जैनागमेऽपि यदज्ञानद्वेषादि-दोषकलुषितेन केनापि जमाल्यादिनेव दोषबुद्धयाऽनन्तांशात्मकस्य वस्तुन एकाद्यंशमन्यथा परिगृहीतं तदपि विशेषतो नयज्ञानं विना नयोक्तिभिर्यथार्थतया कथं स्थापयेत् । एवं

" नत्थि नयेहिं विहूणं सुत्त, अत्थो य जिणमए किंचि ।
आसज्ज उ सोयार नए, नयविसारओ बूया ॥ २२७७ ॥ "

इति भाष्योक्तेः दृष्टिवादे कालिकश्रुते च एतत्सूत्रमेतन्नयापेक्षया एतत्सूत्रञ्चैतन्नयाऽ-पेक्षया अयमर्थ एतन्नयापेक्षया अयमर्थश्चैतन्नयापेक्षयेत्यपि तत्तन्नयज्ञानं विना कथ जानी-

पर्यमाप्तिरूपमवसेयम् । वीतरागप्रणामनतस्यामुत्तरप्रणामित्वेन मङ्गलत्वः परानुग्रहैकलीन-धियानां तस्याऽप्रयम्भावात्, यतो न हि शास्त्रपरमरहस्यवेदिनस्माप्तास्तत्परम्परया वा निःश्रेयसार्थे न भवति तत्प्रतिपादनायोरमहन्ते, प्राक्प्रणामे, श्रोतुस्तत्प्रयाणं हेयोपादेयो पेक्षणीयेष्वर्थेषु हानोपादानोपेक्षालक्षणम् । प्रधानस्तु संसारकारागृहव्यवकारणीभूतं निखिलं हेयार्थतत्त्वं ज्ञपरिज्ञया हेयत्वेन विज्ञाय तस्य त्रिकरणयोगतः प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्या-ख्यानेन प्रत्याख्याय च मुक्त्यङ्गकारणीभूतं निरवद्ययोगादेयतत्त्वं प्रशमबुद्धया यथार्थभावेन गृहीत्वा उपेक्षणीयार्थेषु सर्वं स्तवकुमनस्तुत्यादिकृतनिन्दाताडनादिजनोपरि रागद्वेषाऽकरण लक्षणमाध्यस्थ्यमाश्रयोपेक्ष्य च सम्यगृहीतसम्यग्ज्ञानक्रियासमक्रम मामस्य सम्यगाराधनां कृत्वा तदुपरोधरोधमोपमभवसुखवदस्पाससमास्सीमावेनाविकलकारणमामग्र्यवाप्त्या मुक्तिलक्षणं योग्यम्, उक्तञ्च—

> " सम्यग्भावपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः।
> क्रियाऽऽसक्ता अविघ्नेन, गच्छन्ति परमां गतिम् " ॥ १ ॥ इति ।

तत्र सर्वेषां बुद्धिमतामविगानेनामीष्टमनुगुणोपायञ्चेति निष्प्रयोजनस्यानभिमतप्रयो जनत्वाच्चेह सुतरामेव व्युत्पत्ते । अभिधेयसम्बन्धौ तु सामर्थ्यात्स्थितौ, तथाहि—

शासनमसारहृदयनिहितमयपरमार्थविस्तरविहाटनपर्युपासनसकर्मतामयोगकद्रव्यानु योगविषय एतत्प्रकरणप्रतिपाद्योऽर्थोऽभिधेयः, अनेनाभिधेयशून्यत्वारेका निरस्ता, असम्य गभिधेयस्य सज्ञानद्वाराऽभ्युदयनिःश्रेयसोपयोगित्वाभावस्य मोक्षार्थिनोपादेयतयाऽनुपादेय त्वाशङ्का दूरत एव निरस्ता, सम्बन्धस्त्वभिधेयेन सहास्य शास्त्रस्य वाच्यवाचकभाव लक्षणोऽनुक्तोऽपि भूयमाणवचनव्युत्पाद्यतदर्थविषयकत्वाद्वयोरन्यथानुपपत्तिवशादेव गम्यते । सम्मतितर्कप्रकरणमुपायः, तदर्थज्ञानमुपेयः, स च प्रयोजनाभिधानादेवाभिहित इत्युपायोपेयभावसम्बन्धोऽप्यत्र ज्ञेयः । एतत्प्रकरणोक्तार्थसन्दोहोऽपि न स्वकपोलकल्पना शिल्पिनिर्मितः, किन्तु चतुर्दशपूर्वविद्गणधरश्रीगौतमस्वाम्यादिगुरुपरम्पराऽऽयात इति गुरुपर्वक्रमसम्बन्धोऽपि, एतत्प्रकरणवाच्यार्थतद्विषयज्ञानयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धोऽपि वाच्योप इति सम्बन्धरहितत्वाशङ्काऽनुत्थानोपहतैवेति । अस्याध्ययनेऽधिकारी चैतत्प्रकरणा भिहितद्रव्यानुयोगगतपविज्ञासुरुक्तप्रयोजनकामश्चेत्यनधिकारित्वाशङ्काऽपि दूरापास्ता, तस्मा देतत्प्रकरणप्रतिपाद्यद्रव्यानुयोगगतमर्थिभिः साम्प्रतमिति प्रेक्षावतामनतिरिक्तमाननमेव स्व समयपरसमयपदार्थाऽपदार्थविवेचने समुद्दीप्तप्रज्ञानां तथार्पितयोगानां पुंसां सम्यग्दर्शनं दृढं भवति, निक्षेपप्रमाणनयसप्तभङ्ग्यादिप्रतिपादनैकान्तवस्तुज्ञानं च यथार्थं विविदिषतं भवति, तेन च चरणकरणयोस्सारं विविदिषा चारित्रपरिणतिर्विशुद्धा भवतीत्येवं विविधफलोत्ता लक्षमन्यगुणप्रतिपिपादयिषयास्य तर्कमर्मता यथार्थाभिधानं सम्मतितर्काख्यं प्रकरणं

विनाशकं विश्वविश्वभावोद्योतकारि विवेकादिभावचक्षुष्मदपूर्वानन्दप्रदमुपकार्योपकारानपेक्षं भावतीर्थं कुर्वन्ति, चिकीर्षाजन्यप्रवृत्तिं प्रत्येवाभिमतप्रयोजनमुद्देश्यतयाऽपेक्षितम्, चिकीर्षायाश्च रागरूपत्वेन वीतरागभगवतां तदभावेन तज्जन्यप्रवृत्त्यभावेऽपि स्वभावत एव प्रवृत्तिभावाश्च तत्र प्रयोजनमपेक्षितम्, न हि स्वभावः पर्यनुयोगार्ह इति। ननु सूर्यस्य स स्वभावोऽनादिसंसिद्ध इति तद्वत् निश्चयनयेनात्मनोऽनादिसंसिद्धः चेतनास्वभाव इति तद्वद्वा किं तीर्थप्रवर्त्तनस्वभावस्तथाविधः किं वा कादाचित्क इति चेत्, उच्यते, कर्मोपाधिजन्यत्वेन सोपाधिकत्वाज्ञानादिरसः, किन्त्वचिन्त्यप्रभावपुण्यप्रकृतिरूपतीर्थकरनामकर्म यदा वध्यते तदैव शक्तिरूपेणोत्पद्यमानत्वेन कादाचित्क इति शक्तिरूपेण विद्यमानस्य स्वभावः

" उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिं पूइओ होइ।
तं तित्थयरं नामं, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ १ ॥ "

इति वचनादशेषघातिकर्मक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानकालभावी यस्तीर्थकरनामकर्मविपाकोदयस्तेनैवाभिव्यज्यते, अत एव तीर्थकरनामकर्मस्थित्यवधिस्थितिकस्य स्वभावः, " तं च कहं वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदेसणाए उ " इति वचनात् सद्धर्मदेशनया तीर्थकरनामकर्मविनाशे तद्विनाशभावादिति। एतेन

" तस्मिन् ध्यानसमापन्ने, चिन्तारत्नवदास्थिते।
निस्सरन्ति यथाकामं, कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥ १ ॥ "

इत्यपि मतमपहस्तितम्, यतो यदि भगवत्स्याद्वादधर्मदेशना कुड्यादिभ्यो निस्सृता स्यात्तर्हि आप्तोपदिष्टा न स्यात्, तथात्वे च सा विश्वसनीयाऽपि न स्यात्, रथ्यापुरुषीयदेशनावत्, अस्ति च सा विश्वसनीया, तस्मादाप्तोपदिष्टैवेति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां सिद्ध्यति। उक्तञ्च

" कुड्यादिनिस्सृतानां तु, न स्यादाप्तोपदिष्टता।
विश्वासश्च न तासु स्यात्, केनेमाः कीर्तिता इति ॥ १ ॥ " इति

न च भगवदतिशयप्रभावादेव भीत्त्यादिनिस्सृतायां भाषायां भगवन्मुखोच्चरितत्वमारोप्यत इति वाच्यम्, " अन्यत्र प्रमितं ह्यारोप्यते " इत्यतोऽन्यधर्मिणि भगवन्मुखोच्चरितत्वस्य प्रमित्यभावेन कुड्यादिनिस्सृतभाषाया तदारोपाऽसम्भवात्, नाद्यावधि कुड्यादिनिस्सृता भाषापि सिद्धेति तत्र तदारोपोऽपि कथं सिद्धस्स्यात्? न चास्मदागमोक्तत्वात्सा सिद्धेति चेत्तर्हि भाष्यमाणैव भाषेतिलक्षणाऽनाक्रान्तत्वाद्भाषारूपतामेवातिक्रमेत। किञ्च सा व्यक्तवर्णपदवाक्यरचनात्मकस्पष्टाक्षराऽपि न स्यात्, तां प्रति पुरुषकर्तृकताल्वकण्ठाद्यभिघातसंयोगस्य हेतुत्वात्, अन्यथा तयोः कार्यकारणभावे तत्रैव व्यभिचारस्स्यात्। अथ कुड्यादिनिस्सृतभाषाभिन्नतादृशभाषां प्रत्येव ताल्वादिसंयोगस्य हेतुत्वमिति नोक्तदोष इति चेत्तर्हि

यम् । व्यतिक्रान्ते यद्यपि मतिमतां मतिमान्द्यं दृष्ट्वा पश्चात्सर्वनयविचारनिषेधः कृतस्तथा-प्युपसम्प्रदायाश्रितैर्न व्युत्पत्तिमिच्छन्त्य नयमतपरिज्ञानमसमर्थं श्रोतारं पुनरागाम समनुज्ञा-तमाचार्यपरम्पर्यं श्रेयान् वा नयान् तदभ्यपगमो न स्यात्तदा कथं मूलादिस्तेषां सर्वमूलं नयज्ञा-नमिति शिष्याणां मूलनयतद्विकल्पनयव्युत्पादनार्थं परमकारुणिकस्सूरिस्तृतीयां गाथामाह—

यद्वा मतिश्रुतप्रभस्याप्यन्तेवासिनोऽशेषश्रुतवचनगतमतिगम्भीरार्थयथार्थप्रतिपत्ति प्राप्तिपटुतासम्पूर्णविशारदिम्णाऽपपरयतार्थाध्ययनयोग्यतासंपादनार्थं प्रकरणारम्भो विहितस्सूरिणा, तादृशी योग्यता च सामान्यविशेषात्मकद्रव्यपर्यायाद्यगाहिमूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक नयद्वयतद्विकल्पस्वरूपसम्प्रदायशुद्धतात्त्विकपरिज्ञाने सत्येव सम्भवत इति तस्य विशेषतः तत्कारयितुकामः सूरिरिमां गाथामाह—

" तित्थयरवयणसंगह–विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जव–णओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥"

'तित्थयरवयणसंगह—विसेसपत्थारमूलवागरणी' तीर्थकरवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तार-मूलव्याकरणी–तीर्थकरस्य वचनं तीर्थकरवचनं तस्य सङ्ग्रहविशेषौ सामान्यविशेषौ द्रव्य पर्यायाख्यौ, तयोः प्रस्तारः सङ्ग्रहविशेषप्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्तारौ ज्ञातारौ वा, के त इत्याशङ्कायामाह—दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य" इति, द्रव्यास्तिकश्च पर्यवनयश्च, सामान्यप्रस्तारस्य सङ्ग्रहादिरूपस्य मूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकनयः, विशेषप्रस्तारस्य तु ऋजुसूत्रादिरूपस्य मूलव्याकरणी पर्यायास्तिकनयः, एतद्व्याख्यानमते सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहे विशेषग्राहिणस्तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावात् सङ्ग्रहव्यवहाराख्यौ द्वौ भेदौ ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्याश्चत्वारो भेदास्तु मूलभेदयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनय योरिति प्रतिपादनायाह—" सेसा वियप्पा सिं " शेषा विकल्पा अनयोः, द्रव्यास्तिक नयस्य द्वौ भेदौ पर्यायास्तिकनयस्य तु चत्वारो भेदा इति संपिण्डितार्थः । विस्तरार्थस्त्वेवम्-तीर्यते सम्यग्दर्शनैर्भवोदधिरनेन अस्मात् अस्मिन्निति वा तीर्थम् द्वादशाङ्गम्, यद्वा तदस्ति सम्याश्रितो यत्र संसारसागरं तरीतुम्, " तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थयरे तित्थं ? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थंकरे, तित्थं पुण चाउवण्णे समणसंघे पढम गणहरे वा " इति सिद्धान्तोक्तगुणगुणिनोरभेदात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामात्मकश्च तुर्विधः संघः प्रथमगणधरो वा, तत्कुर्वन्ति तत्करणशीला वा तीर्थकराः । ननु प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरभिमतप्रयोजनवत्तया व्याप्तेति किं प्रयोजनमुद्दिश्य ते तीर्थकरणे प्रवर्तन्ते ? इति चेत् न किमपि, कृतकृत्यत्वेनाऽनीहप्रवृत्तिकारित्वात्तेषाम्, सूर्यस्येव प्रकाशप्रदाने, यथा दिनमणिस्स्वभावत एव तमिस्राव्याप्तलोकरविनाशकं जगदुद्योतकारकमभिप्रवृत्तिविज्ञानमन्तरं प्रकाशं करोति तथा भगवानपि तिमिरनाशकोऽपि जगज्जन्तुहितायाभिमताप्तमिथ्यात्वादितमोऽन्धकार

ज्ञाता वा, सङ्ग्रहप्रस्तारस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयात्मकस्य, नैगमस्य सङ्ग्रहव्यवहारानन्तर्भावे तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहारात्मकस्य वाऽऽद्यो वक्ता ज्ञाता वा द्रव्यार्थिकनयः। विशेषप्रस्तारस्य चर्जुसूत्रशब्दादेराद्यो वक्ता ज्ञाता वा पर्यायार्थिकनयः, तदेवाह–दव्वट्ठिओत्ति, द्रु गताविति धातुः, ततश्च द्रवति ताँस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति चेति तद् द्रव्यम्, यद्वा द्रवति गच्छति ताँस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, कर्त्तरि यत्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यमिति भावः, अस्तीति मतिर्यस्यास्ति स आस्तिको द्रव्ये आस्तिको न तु पर्याये, तन्मते परमार्थभूतपर्यायाभावादिति द्रव्यास्तिकः, द्रव्य–आस्तिकयोस्समासः। यद्वा द्रव्यमेवार्थो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थः, द्रव्यार्थ एव द्रव्यार्थिकः। स्वार्थिकोऽत्र ठन् प्रत्ययः। अथवा द्रव्ये वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितः न तु पर्याये इति द्रव्यस्थितः। अयं हि नयो द्रव्यमेव मृदादिलक्षणं निखिलस्थासकोशकुशूलकपालघटाद्याकारानुयायि वस्तु सन्मन्यते, तस्यैव तदाकारानुयायिनः स्थासोऽपि मृत् कोशोऽपि मृदित्येवमनुगतप्रतीतिविषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धत्वेनापारमार्थिकत्वात्। तदुक्तं नयोपदेशे—

> " तिर्यगूर्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः।
> सत्यं तेष्वन्वयि द्रव्यं, कुण्डलादिषु हेमवत् ॥ १ ॥" इति

इदं हि मतमशुद्धसङ्ग्रहनयमूलभूताशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य, शुद्धद्रव्यार्थिकनयस्तु शुद्धसङ्ग्रहनयमूलत्वेन मृद्द्रव्यहेमद्रव्यादिकमपि तस्य सत्सामान्यापेक्षया भेदरूपत्वेन कल्पनाशिल्पिनिर्मितमेव मनुते, वस्तुतो वस्तुभेदाभावात्, किन्तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसिद्धं ब्रह्मैव सत्, स्वस्वपर्यायानुगतहेममृद्द्रव्यादिष्वपि सर्वेषु सत्सदित्यनुगतप्रतीतेः, यदेवाबाधितकालत्रयानुगतप्रत्ययगोचरीभूतं तदेव सत्, नान्यत्, अत एवैतन्मते त्रिकालाबाधितत्वं पारमार्थिकसत्त्वं गीयत इति। पज्जवणओ–इति–परि समन्तात् अयनं अवः–पर्यवो-विशेषः, नयन नयः, वस्त्वेकांशपरिच्छेदः, पर्यवाणां नयः पर्यवनयः, अत्र लुप्तषष्ठ्या विषयत्वार्थकत्वेन पर्यवविषयको ज्ञानात्मको नयः पर्यवनयः, पर्यवाभ्युपगन्ता नयः पर्यवनय इति यावत्, लुप्तषष्ठ्या वा प्रतिपादकत्वार्थकत्वेन पर्यवप्रतिपादको वाक्यात्मको नयः पर्यवनय इति। ननु गुणविषयकस्तृतीयो गुणार्थिकनयोऽप्यत्र किमिति नोक्त इति चेत्, उच्यते, गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिक इत्यत्र पर्यायशब्दस्य पर्यायसामान्यवाचित्वात्तेन क्रमभाविपर्यायसहभाविगुणोभयाभिधानात्पर्यायार्थिकनयेनैव चरितार्थत्वात्। एतेन अर्थः सामान्यविशेषात्मा अन्यथाऽनुपपद्यमानाऽबाध्यमानानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, न चात्र हेत्वसिद्धिः, तत्तद्घटेषु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुगतप्रत्ययस्य ताम्रो मार्त्तिकः सौवर्ण इति पटादिभ्यो

किमपि व्यभिचारस्थलं न स्यात्, यस्मिन् यस्मिन्ननुमाने व्यभिचारो यत्र तदन्यतरविशेषण दानस्य सुलभत्वात्, तस्मादुभयपक्षप्रतिपन्नसदाचाराम्नायाऽनुपपत्त्या भगवन्मुखोच्चरितैव सेत्य-भ्युपगन्तव्यम्, किञ्च स्याद्वादभाषायां भगवतोऽचिन्त्यपुण्यसंभारतया तन्मुखोच्चरितत्वाभ्यु-पगमे न किमपि प्रतिबन्धकमिति तत्र कुम्भादिभिस्तुल्यत्वस्य तत्र च भगवद्विषयकारणकत्वस्य तादृशदेशनायां भगवन्मुखोच्चरितत्वोपचारस्य च कल्पनायां बीजाभावाच्च तथा विकल्पस्या युक्तिमती। किञ्च लोके दृश्यमानमेवाचिन्त्यशक्तिकमभवद्विषयप्रमाणाविषयतरं भवति, न स्वप्नम्, तथा च पुरुषमुखोच्चरितैव भाषा लोकेऽनेकार्थबोधिनी दृश्यत इति भगवद्वि-षयप्रमाणात् भगवन्मुखोच्चरितैव भाषाऽनन्तार्थबोधिनी भवति। सामान्यपुंसां भाषायोपक्रमे कचित्कदाचित्परिमितार्थबोधेऽपि पुरुषधौरेयपुमामपायापगमाऽतिशयहेतुकज्ञानादिविषयात्म-विषयमपरिमितनिश्शेषार्थभाषास्कारवदिति कल्पनैव युक्तिमती, दृष्टानुसारिणी कल्पनैव प्रा माणिकी न स्वप्नानुसारिणीति न्यायात्, अधिकमस्मत्कृतत्वस्यार्थविवरणगूढार्थदीपिकाख्य टीकातोऽवसेयम्। एतेन केवलज्ञानावाप्तौ कृतकृत्यत्वात् किमर्थं तीर्थकरत्वे प्रवर्त्तन्ते तीर्थकरा इत्यप्याशङ्का निरस्ता, यदि ते मुक्तात्मवत्सर्वथा कृतकृत्यास्स्युस्तदा नैव प्रवर्त्तेरन्, न चैवम्, अद्यापि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयस्यावशिष्टत्वात्, तदन्तर्गततृतीयभवाराधितविंशति स्थानकतपोवसतिकाचितप्रशस्ततीर्थकरनामकर्मोदयादेव तीर्थकरत्वे प्रवर्त्तन्त इति । उक्तञ्च—

"तीर्थप्रवर्त्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।
तस्योदयात्कृतार्थोऽप्य—र्हँस्तीर्थं प्रवर्त्तयति ॥ १ ॥

तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थप्रवर्त्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥" इति ॥

तीर्थकराणां वचन आचाराङ्गादिद्वादशविधं तीर्थकरवचनम्, न चाऽऽचाराङ्गादिवचनस्य गणधरगणधरप्रणीतत्वाभेदमिति वाच्यम्, यतः तच्छब्दतो गणधरप्रणीतमप्यर्थतोऽ-र्हत्प्रणिर्दिष्टमेव, यदभिहितं 'अत्थं भासइ अरिहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं' इति, तस्य सङ्ग्रहविशेषौ, सम्यक् गृह्यते अनुगतबुद्ध्या ज्ञायत इति सङ्ग्रहः पूर्वोत्तरपर्यायानुगतबुद्धि जनकमूर्ध्वतासामान्यशब्दवाच्यं द्रव्यम्, न तु सदृशपरिणामलक्षणतिर्यक्सामान्यशब्द वाच्यम्, तस्य व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भावात्, विशिष्यते व्यावृत्तबुद्ध्या ज्ञायत इति विशेषो व्यावृत्तबुद्धिविषयो विशेषशब्दवाच्यस्तदभावविरूपभावविभेदभिन्नाः पर्यायाः, सङ्ग्रहश्च विशेषश्च सङ्ग्रहविशेषौ द्रव्यपर्यायौ, तयोः प्रस्तारः प्रस्तीर्यते विस्तीर्यते येन भगवाद्भिना सङ्ग्रहादि केनासौ प्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी, "मूलमाद्य शिफार्धयोः" इत्यमरकोशवचनान्मूलं आद्यम्, व्याक्रियते-व्याख्यायतेऽनेनेति व्याकरणं व्याख्यानम्, तदस्यास्तीति व्याकरणी, मूलं चासौ व्याकरणी मूलव्याकरणी, आद्यव्याख्याता, व्याख्यानञ्च न ज्ञानादृत इति ज्ञाप

इत्युक्तं सङ्गच्छते। अथ "मूलव्याकरणी" इत्यस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्वित्वाद्द्विवचनेन भाव्यमिति चेत्, मैवम्, प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेरेकवचनस्यैवोचितत्वात्। अत एव चकारद्वयं सूत्रे निर्दिष्टम्, तथा च सिद्धमेतद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयाविति। तदुक्तम्—

"तदित्थं न्यायतः सिद्धौ, द्रव्यपर्यायगोचरौ।
द्वावेव नैगमादीनां, मूलभूतौ नयाविह ॥ १ ॥" इति ॥

एतेन नामादिचतुष्टयद्वारतो द्रव्यक्षेत्रादिचतुष्टयद्वारतश्च तन्मूलनयचतुष्टयप्रसञ्जनं प्रत्युक्तम्, नामादीनां द्रव्यक्षेत्रादीनां च द्रव्यपर्याययोरेवान्तर्भावादिति, "सेसा वियप्पा सिं" शेषास्तु सङ्ग्रहाद्यृजुसूत्रादयो विकल्पा भेदा अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः। 'सिं' इति "बहुवयणेण दुवयणं" इति प्राकृतशैल्या द्विवचनस्थाने बहुवचनम्। यद्यपि परमार्थदृष्ट्या वस्तुमात्रं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वान्यथानुपपत्तेः, अत एव यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्यनुमानेनानेकान्तात्मकमेव सिद्धं तथाप्येकान्तार्थाऽवगाहित्वेन द्रव्यार्थिककुनयो द्रव्यातिरिक्तान् पर्यायान् निरस्यैकान्तद्रव्यग्राहकः, एवमेकान्तार्थावगाहित्वेन पर्यायार्थिककुनयः पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यनिरासेनैकान्तपर्यायग्राहकः, द्रव्यार्थिकसुनयस्तु द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायान्न निराकरोति न वा स्वीकुरुते, किन्तु तत्रोदासीनवृत्त्या द्रव्यग्राहकः, पर्यायार्थिकसुनयोऽपि गजनिमिलिकान्यायेन पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यौदासीन्यवृत्त्या पर्यायग्राहकः। तद्भेदजिज्ञासायामाद्यस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदाः, तदुक्त वादिदेवसूरिपादैः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—"आद्यो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्त्रेधेति । ७ । ६ । एतत्प्रकरणकारमतमाश्रित्य भाष्ये—

"जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहे, विशेषग्राहिणश्च तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावकरणात्तन्मतेन सङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदौ, द्वितीयस्य चोभयमतेऽपि ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या विकल्पा वाच्याः, यदप्यभाणि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे "पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्च" ॥७-२७॥ इति। भाष्येऽप्युक्तम्—"संगहववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स" ॥ ७५ ॥ इति, सैद्धान्तिकमते—"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रोक्त्या ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वप्रतिपादनात्तस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याश्चत्वारो भेदाः, पर्यायार्थिकनयस्य च त्रयो भेदाः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या इति। तार्किकानुसारिमतेनोक्तपक्षे

न भवतीति च व्यावृत्तस्वरूपस्याभासमानस्य प्रतिभासविप्रतीतेः, तथा चैतदनुमानविरुद्धौ यौ द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यविशेषौ तद्ग्राहिणावतिरिक्तनयौ किमिति नोक्ताविति शङ्का निरस्ता, तयोर्द्रव्यपर्यायान्तर्भावात्, तथाहि—ऊर्ध्वतासामान्यतिर्यक्सामान्यभेदेन सामान्यं द्विविधम्, तत्र पूर्वापरपर्यायेष्वनुगतप्रतीतिविषयीभूतं त्रिकालानुयायिस्वरूपं तदूर्ध्वतासामान्यं द्रव्यरूपमेव, तस्यैव तद्रूपत्वात्,

"पूर्वोत्तराखिलविवर्तसमूहवर्ति, द्रव्यस्वभावमिति युक्तिवशात्प्रसिद्धम् ।
सामान्यमन्वयविधिः पदमूर्ध्वताख्यम्, येन प्रमुक्तमिह किञ्चन नास्ति वस्तु ॥"

इत्युक्तेः । तिर्यक्सामान्यं तु प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणं शब्दसङ्केतोपयोगित्वेन व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भूतम्, " स्थूलाः कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जन पर्यायाः" इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि पर्याय एवान्तर्भूत इति नैताभ्यामधिकनया-वकाशः । एवं भेदोऽपि पर्यायात्मा अभेदश्च द्रव्यात्मेति न ताभ्यामप्यतिरिक्तनयावकाश इति । अत्र छन्दोभङ्गभयात् 'पर्यायास्तिक' इति वक्तव्ये 'पर्यवनय' इत्युक्तम्, तेन पर्यायास्तिकेत्यस्याप्ययमर्थः, पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, स एव 'अस्तीति मतिरस्य स पर्यायास्तिकः, यद्वा पर्याय एवार्थः पर्यायार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः, यद्वा पर्याये न तु द्रव्ये स्थित इति पर्यायस्थितः । तत्र पर्यायास्तिकनयमतमेवम्—ऋजुसूत्रपर्यायार्थिकनयेन क्षणमात्रस्यैव सत्त्वाभ्युपगमे एको बद्धः, एको मुक्तः, एकः सुखी, एको दुःखी, एको रङ्कः, एको धनाढ्य इत्यादिभेदव्यवस्थोच्छिन्ना स्यात्, सा काल्पनिकीति चेत्, तर्हि अत्रैव सदित्यपि कल्पनाशिल्पिनिर्मितस्वसिद्धान्तस्यानादरप्रसङ्गेन काल्पनिकं किं न स्यात्? । नन्वभेदप्रतीतेः स्खलद्बाधितत्वात्तद्विषयीभूतोऽभेद एव युक्तो न तु भेद इति चेत्, तर्हि बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिः स्यात्, यत आत्मनो बद्धत्वे मोक्षस्य तद्भिन्नधर्मत्वात्तदनुपपत्तिः, पूर्वं बद्धः पश्चान्मुक्त इति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदापत्तिरिति नैकस्य स्थिरस्य बन्धमोक्षाविति । कालत्रयवर्ति न किञ्चिदपि वस्तु सत्, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्, किन्तु वस्तुस्वरूपं क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेव सत्, अत एवोत्पत्तेरुत्पाद-व्ययोरर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभिमतत्वात् साम्प्रतवस्तुमात्रं तत्कालीनमिति नीयते, तस्मात्पर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगतार्थबाधने द्रव्यार्थिकनययुक्तय इव द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतविषयबाधने पर्यायार्थिकनययुक्तयोऽपि तुल्यवदेवोज्जृम्भन्त इति नैकत्र पक्षपातः कार्यः, किन्तु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयोपग्रह एव विधेय इति तत्त्वम्, अत एवान्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायां कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः—

" य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिन! शासनं ते ॥ २६ ॥ "

इत्युक्तं सङ्गच्छते । अथ "मूलव्याकरणी" इत्यस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्वित्वाद्द्विवचनेन भाव्यमिति चेत्, नैवम्, प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेरेकवचनस्यैवोचितत्वात् । अत एव चकारद्वयं सूत्रे निर्दिष्टम्, तथा च सिद्धमेतद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयाविति । तदुक्तम्—

"तदित्थं न्यायतः सिद्धौ, द्रव्यपर्यायगोचरौ ।
द्वावेव नैगमादीनां, मूलभूतौ नयाविह ॥ १ ॥" इति ॥

एतेन नामादिचतुष्टयद्वारतो द्रव्यक्षेत्रादिचतुष्टयद्वारतश्च तन्मूलनयचतुष्टयप्रसञ्जनं प्रत्युक्तम्, नामादीनां द्रव्यक्षेत्रादीनां च द्रव्यपर्याययोरेवान्तर्भावादिति, "सेसा वियप्पा सिं" शेषास्तु सङ्ग्रहाद्यृजुसूत्रादयो विकल्पा भेदा अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः । 'सिं' इति "बहुवयणेण दुवयणं" इति प्राकृतशैल्या द्विवचनस्थाने बहुवचनम् । यद्यपि परमार्थदृष्ट्या वस्तुमात्रं परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वान्यथानुपपत्तेः, अत एव यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्यनुमानेनानेकान्तात्मकमेव सिद्धं तथाप्येकान्तार्थाऽवगाहित्वेन द्रव्यार्थिककुनयो द्रव्यातिरिक्तान् पर्यायान् निरस्यैकान्तद्रव्यग्राहकः, एवमेकान्तार्थावगाहित्वेन पर्यायार्थिककुनयः पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यनिरासेनैकान्तपर्यायग्राहकः, द्रव्यार्थिकसुनयस्तु द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायान् निराकरोति न वा स्वीकुरुते, किन्तु तत्रोदासीनवृत्त्या द्रव्यग्राहकः, पर्यायार्थिकसुनयोऽपि गजनिमिलिकान्यायेन पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यौदासीन्यवृत्त्या पर्यायग्राहकः । तद्भेदजिज्ञासायामाद्यस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदाः, तदुक्त वादिदेवसूरिपादैः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे—" आद्यो नैगमसङ्ग्रहव्यवहारभेदात्त्रेधेति । ७ । ६ । एतत्प्रकरणकारमतमाश्रित्य भाष्ये—

"जो सामन्नग्गाही, स नेगमो संगहं गतो अहवा ।
इअरो ववहारमितो, जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः सामान्यग्राहिणो नैगमस्य सङ्ग्रहे, विशेषग्राहिणश्च तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावकरणात्तन्मतेन सङ्ग्रहव्यवहाराख्यभेदौ, द्वितीयस्य चोभयमतेऽपि ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या विकल्पा वाच्याः, यदभ्यधायि प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे "पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्च" ॥७-२७॥ इति । भाष्येऽप्युक्तम्–"संगहववहारा पढमगस्स सेसा य इयरस्स" ॥ ७५ ॥ इति, सैद्धान्तिकमते–"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रोक्त्या ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकत्वप्रतिपादनात्तस्य नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याश्चत्वारो भेदाः, पर्यायार्थिकनयस्य च त्रयो भेदाः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या इति । तार्किकानुसारिमतेनोक्तसूत्रे

ऋजुसूत्रनयेन वर्तमानावस्थरूपेऽपि द्रव्योपचारः क्रियत इत्यौपचारिकद्रव्यार्थाभ्युपगमेऽपि न पर्यायार्थिकनयचतुर्भेदक्षतिः, तेन नयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपकरणात्, मुख्यत्वेनैव च विभागो युक्त इति । अत्र वैशेषिकमते भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्वविवक्षां कृत्वा भावः षड्विधः अभावश्च चतुर्विध इति विभागवद् द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोर्नयत्वव्याप्यत्वविवक्षां कृत्वैव द्रव्यार्थिकः तदवान्तरकृतविवक्षाभेदतो द्विविधस्त्रिविधश्चतुर्विधो वा, पर्यायार्थिकनयश्च चतुर्विधस्त्रिविधो वा इति विभक्तविभागः कृतः । वैशेषिकमते भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्वेऽपि तदविवक्षायां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यत्वविशेषत्वसमवायत्वाभावत्वानां पदार्थत्वव्याप्यत्वे सति पदार्थत्वव्याप्याव्याप्यत्वलक्षणविभाजकत्वात्स्वरूपेण यथा पदार्थविभागोऽङ्गीक्रियते तथाऽर्हन्मतेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोर्नयत्वव्याप्यत्वेऽपि तदविवक्षायां तु सङ्ग्रहत्वनैगमत्वादिसप्तधर्माणां नयविभाजकत्वात्स्वरूपेण मूलसप्तनयविभाग एव युक्तः । उक्तागमेनैव "से किं तं नए ? सत्त मूलनया पण्णत्ता तं जहा—णेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूए, इति सूत्रं सङ्गच्छते, न तु भावाभावद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रागभावध्वंसाभावात्यन्ताभावान्योन्याभावा इत्येव पदार्था इतिवद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नव नया इति मूलनयविभागो युक्तः, किन्तु द्रव्यत्वगुणत्वादीनां सप्तधर्माणां मिथो विरोधिधर्मत्वप्रयुक्तभावत्वाभावत्वयोर्न द्रव्यत्वगुणत्वादिभिस्सह मिथो विरोधिधर्मत्वमिति तद्घटितधर्मैर्विभागाभाववन्नैगमत्वसङ्ग्रहत्वादिसप्तधर्माणां मिथो विरोधिधर्मत्वात्स्वरूपेण मूलनयविभागसम्भवेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोर्नैगमत्वसङ्ग्रहत्वादिधर्मैस्सह मिथो विरोधाभावात्तद्घटितनयधर्मेण मूलनयविभागाभाव एव युक्तः, अत एव न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायैस्तत्कृततत्त्वार्थविवरणे "एतेन नवनया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिको नैगमः सङ्ग्रहश्चेत्यादिविभागो येनाभासस्य दिक्पटदेशीयस्य देवसेनस्य निरस्तो द्रष्टव्यः, भेदप्रभेदानां सहोक्तौ विभागवाक्यविघातात्, "न हि भवति मूर्तामूर्तपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांस्येकादश द्रव्याणीति विभजतो वैशेषिकपाशस्य चतुर्दशभुवनग्रामे प्रवेशमेकस्थं प्रक्षिप्य षोडशधा विभजतो भाऽर्हतपाशस्य नोपहासः' इत्युक्तं सङ्गच्छते ॥ ३ ॥

अथ "सेसा वियप्पा सिं" इत्यनेनेतरप्रकारककारमतेन सङ्ग्रहप्रस्तारमूलव्याकरणिद्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयाख्यौ द्वौ विकल्पौ प्राप्तौ, अत एतोत्तरगाथायास्तत्कमेदद्वयस्यैव शुद्धाशुद्धस्वभावप्रदर्शनं कृतं, तत्राद्यो भेदः शुद्धस्वभावः, द्वितीयस्त्वशुद्धस्वभाव इति प्रतिपादयितुं चतुर्थीं गाथामाह सूरिः—

> दव्वट्ठियमयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
> (पडिरूवे) पडिरूवं पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः शुद्धा सङ्ग्रहप्ररूपणाविषयः, सङ्ग्रहस्य सङ्ग्रहनयस्य प्ररूपणा-अभिधायकपदसंहतिः तद्विषयः, अत्र विषयेण विषयिग्रहणं कर्तव्यमिति तद्वाच्यार्थविषयकं यज्ज्ञानं तद्रूपा, अशुद्धां तामाह-'पडिरूवे' इत्यादि । घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सह सङ्कीर्णा या सत्ता तल्लक्षणे प्रतिरूपे वचनार्थनिश्चयो व्यवहारस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य पुनरिति प्रकृतिं स्मारयतीति अशुद्धा प्रकृतिरिति सङ्क्षिप्तार्थः, विस्तृतार्थस्त्वेवम् "दव्वट्ठियनयपयडी" द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिः प्रागुक्तार्थस्य द्रव्यास्तिकनयस्य "संसिद्धिप्रकृती त्विमे स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरकोशवचनात् प्रकृतिस्स्वभावः 'सुद्धा' शुद्धा विशेषाऽसंमिश्रा विशेषानवगाहिनीति यावत् । सा केत्यत आह-'संगहपरूवणाविसओ' इति, सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इति । सङ्गृह्णाति सामान्यरूपतया सर्वं वस्तु क्रोडीकरोतीति सङ्ग्रहः । यद्वा सर्वेऽपि भेदास्सामान्यरूपतया सङ्गृह्यन्तेऽनेनेति सङ्ग्रहः, सर्ववस्त्वभेदग्राहिनयः सङ्ग्रहनय इति यावत्, तस्य प्ररूपणा-घटाद्यर्थो वक्त्रा प्ररूप्यते प्रतिपाद्यतेऽनया सा प्ररूपणा-इति व्युत्पत्तिसिद्धाऽभिधायकपदसंहतिः, तस्या विषयः प्रतिपाद्यः, अत्र सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इत्यनेनोपचारतो विषयेण विषयिणोऽभिधानात् सङ्ग्रहप्ररूपणाऽभिधेयार्थविषयकं ज्ञान ग्राह्यम्, अन्यथा कः प्रस्तावः शुद्धद्रव्यार्थिकेऽभिधातुं प्रक्रान्ते सङ्ग्रहप्ररूपणाविषयाऽभिधानस्य ?, यतः शुद्धद्रव्यार्थिकनयो ज्ञानात्मक इति तत्प्रकृतिश्शुद्धा सङ्ग्रहनयज्ञानात्मिकेत्यभिधातुं युक्तम्, न तु सङ्ग्रहप्ररूपणाविषय इति, ननु सङ्ग्रहनयाभिप्रायतस्सङ्ग्रहप्ररूपणाऽभिधेयः सदात्मकभाव एवेत्यत्र का युक्तिरिति चेत्, उच्यते, यानि सुबन्तानि तिङन्तानि वा पदानि वाक्यानि वा तदर्थमात्रस्य भावस्वरूपव्यतिरिक्तत्वे शशशृङ्गकल्पत्वापत्त्या सुबन्तार्थत्वं तिङन्तार्थत्वं वा न स्यादिति तयोः सन्मात्रस्वरूपभावरूपत्वमेवेति, ननु यत्र तिङन्तक्रियापदं न श्रूयते तत्र का गतिरिति चेत्, उच्यते, तत्रास्तिभवतीत्यादिक्रियाऽध्याहार्या, अत एव वैयाकरणैः "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति मन्यते, उक्ताशयेनैव "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" इति पातञ्जलभाष्येऽपि (अध्याय २, पा. ३, सू. १, वार्तिक ११) इत्युक्तं सङ्गच्छते । शशशृङ्गादेर्ज्ञानाभावाज्ज्ञानविषयत्वं सद्रूपताव्याप्यमिति सद्रूपत्वे सत्येव पदार्थानामवगतिर्भवितुमर्हति, नान्यथा, सद्रूपत्वपरित्यागे घटपटादिवस्तुमात्र निस्स्वरूपं स्यादित्यस्त्यर्थः सत्तालक्षणोऽर्थः सर्वशब्दानाम्, तथा चान्तर्णीताशेषविशेषं सन्मात्रमेवाध्यक्षस्य शब्दस्य वा विषय इति सिद्धम् । नन्वेवं घटत्वेन घटोऽयं पटत्वेन पटोऽयमित्याद्याकारमपि ज्ञानमनुभूयते, न च घटत्वं पटत्वादिकं वा सत्तात्मकम्, तस्य तद्व्याप्यत्वेन विशेषरूपत्वादिति चेद्, घटत्वपटत्वादिविशेषोऽपि सन्नेव अन्यथा शशशृङ्गादेरिव तस्य ज्ञानविषयत्व न भवेत् अतस्सर्वविशेषात्मकः सन्नेव कदाचिद् घट इति कदाचिच्च पट इत्यादिरूपेण प्रतिभासते, यथैकमेव पानकद्रव्य मधुरादिरसमयं मधुरादितत्तद्रसात्मना प्रतीयते तद्वत्प्रकृतेऽपि । न च घटपटादेः सद्रूपत्व-

तिरिक्तस्वरूपस्याऽभावे घटः पटादिभिन्नः पटश्च घटादिभिन्नः, अयं ब्राह्मणः अयं राजन्य इत्यादिभेदव्यवहार उपपन्नस्स्यादिति वाच्यम्, यत एकस्मिन् चन्द्रमसि तिमिरदोषोपप्लुत-दृशो द्वित्वप्रतिभासवत् भेदप्रतिपादकस्वस्वानामनन्यवासनावासितचित्तानां भेदप्रतिभासेना-भिन्नमपि भिन्नवदाभासत इति पदार्थभेदावभासो भ्रान्त एव, न तु यथार्थ इत्येवं सर्वभेदा-पलापी सर्वं सन्मात्रतया संगृह्णन् संग्रहः शुद्धा द्रव्यास्तिकनयप्रकृतिरिति व्यवस्थितम्। एतेन द्रव्यार्थिकनयशुद्धप्रकृतिसंग्रहनयविषयप्ररूपणापरस्य चिदानन्दस्वरूपब्रह्मवादस्य द्रव्यार्थिकांशः, तन्मते हि ब्रह्मभिन्नस्याशेषजगतो नामरूपात्मकस्य मिथ्यात्वम्, ब्रह्मण-स्त्वद्वितीयसच्चिदानन्दात्मकस्य त्रिकालाबाधितस्वरूपतया सत्यत्वम्, यतो ब्रह्मैव तेन तेन घटाद्यात्मनाऽवभासते, तथा च सर्पमालाद्यादौ सर्वत्रेदंस्वरूपस्येव घटपटमठादौ सर्वत्र ब्रह्मात्मकसद्रूपस्यानुगामित्वात्तदेव परमार्थसदिति घटपटादिरूपस्य जगतः सत्ता ब्रह्मसत्तैव, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति संग्रहनयमूलकत्वं वेदान्तदर्शनस्येति। भर्तृहरिस्वीकृतशब्द-सन्मात्रस्वरूपब्रह्मवादोऽपि शुद्धसंग्रहनयमूलक एव, वैयाकरणाग्रणीभिरप्येतद्वादावलम्बि-त्वेन, एतन्मते शब्दब्रह्मस्वरूपेण सर्वस्यैक्यात्। उक्तञ्च वाक्यपदीये ग्रन्थे प्रथमकाण्डे "अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥२॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत, सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥३॥"
इति। अत एव नयोपदेशे "मतं द्रव्यार्थिकस्यशुद्धादर्शनं ब्रह्मवादिनां। तथैके शब्दसन्मात्रं चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ ११ ॥" इत्युक्तं सङ्गच्छते। अथानेन द्रव्यार्थिकनयस्य संग्रहनय-प्ररूपणाविषयविषयकज्ञानरूपा शुद्धा प्रकृतिरुक्ता, अस्याऽशुद्धा प्रकृतिः केत्याशङ्कायां तामुपदर्शयितुमुत्तरार्धमाह "पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो" प्रतिरूपे पुनः वचनार्थनिश्चयः तस्य व्यवहारः, प्रतिरूपं प्रतिबिम्बं घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सङ्कीर्णा सत्ता, स्वरूपमचेति यावत्, तस्मिन्प्रतिरूपे यो वचनार्थनिश्चयस्स व्यवहारः-व्यवहारनयः तस्य द्रव्या-र्थिकस्य पुनरिति प्रकृतिं स्मारयतीति प्रकृतिः। वचनार्थनिश्चय इत्यस्यायमर्थः—उच्यत इति वचनम्, हेयोपादेयोपेक्षणीयविषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादनार्थमुच्यमानं घटोऽस्तीत्यादिवाक्यम्, तस्य घट इति विशेषस्वरूपतयाऽस्तीति सामान्यस्वरूपतयाऽभि-धेयो व्यवहारक्षमो योऽर्थः तस्य निश्चयो-निश्चयनं निश्चयः-निर्णयः, व्यवहरणं व्यवहरतीति वा व्यवहारः, लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नयो व्यवहारनयः। तथा च निवृत्तिप्रवृत्त्यु-पेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकवचनार्थनिश्चयो व्यवहारनयस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्याऽशुद्धा प्रकृति-रितिभावः। पडिरूवं इत्येवं प्रथमान्तत्वे तु प्रतिरूपं प्रतिबिम्बं विशेषेण घटादिनाऽशुद्ध-द्रव्येण सङ्कीर्णा सत्तेति यावत् पुनःशब्देन प्रकृतिः स्मार्यत इति सा प्रकृतिः-स्वभावः। अत्रापि विशेषेण विशेषितत्वेन कार्यमिति घटपटादिद्रव्यसङ्कीर्णसत्ताग्राहिज्ञानात्मिका

प्रकृतिः, कस्य प्रकृतिः किं नयस्वरूपा च सा, स नयश्च किंस्वरूप इत्याशङ्कामुक्तार्थस्पष्टीकरणेन समाधत्ते-वचनार्थनिश्चयस्तस्य व्यवहार इति, तस्यार्थः पूर्ववदिति। यथाभूततावद्विषयाऽभ्युपगमे सति प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणो लौकिकव्यवहारः प्रवर्त्तते तथाभूततावद्विषयकज्ञानमेव तथाभूतव्यवहारनिदानमभ्युपगन्तव्यम्, तत्र प्रवृत्तिलक्षणो व्यवहार उपादेयतावच्छेदकरूपेणोपादेयविषयको भवतीति तत्रोपादेयतावच्छेदकीभूतो यो धर्म इष्टसाधनतावच्छेदकधर्मपर्यवसितस्तद्रूपेणोपादेयस्येष्टसाधनस्य ज्ञानं कारणम्, एवं निवृत्तिलक्षणो व्यवहारो हेयतावच्छेदकधर्मेण हेयविषयको भवतीति तत्र हेयतावच्छेदकीभूतो योऽनिष्टसाधनतावच्छेदकीभूतधर्मपर्यवसितः तद्रूपेण हेयस्य द्विष्टसाधनस्य ज्ञानं कारणम्, एवमुपेक्षालक्षणो व्यवहार उपेक्षणीयतावच्छेदकधर्मरूपेणोपेक्षणीयविषयको भवतीति तत्रोपेक्षणीयतावच्छेदको धर्म इष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वान्यतरानवच्छेदकधर्मपर्यवसितस्तद्रूपेणोपेक्षणीयस्येष्टसाधनानिष्टसाधनान्यतराऽनात्मकस्य ज्ञानं कारणम्। एवञ्च सङ्ग्रहनयविषयः केवलसत्त्वैव, न वस्तु, तस्याः सत्ताया एकस्या एकरूपत्वस्यैव युक्तत्वेन हेयरूपत्वे निवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न प्रवृत्त्यादिरूपः, एवमुपादेयरूपत्वे प्रवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न निवृत्त्यादिलक्षणः, एवमुपेक्षणीयरूपत्वेऽप्युपेक्षालक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न तदन्यो व्यवहारः। वस्तुत एकोऽपि व्यवहारस्तत्र न भवेत्, तदवच्छेदकस्य कस्यचिद्धर्मस्य धर्मिभिन्नस्य द्वैतापत्तिभियाऽभ्युपगमाऽसम्भवात् इति लोकव्यवहारसिद्ध्यर्थं परस्परतो विभिन्नस्वभावा हेयोपादेयोपेक्षणीयस्वरूपा भावास्तत्तद्धर्मावच्छिन्नास्सन्तो व्यवहारोपयोगिशब्दप्रभवसवेदने प्रतिभासन्त इत्यभ्युपगन्तव्यमिति व्यवहारनयाभिप्रायः। यश्च "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति नियमः प्रागुक्तः सोऽपि नाभ्युपगम्यते। न च यत्रान्यत्क्रियापद न श्रूयते तत्रापि "अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" इति भाष्यवार्तिकवचनविरोधस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तस्य यत्र किञ्चित्क्रियापदमध्याहर्त्तुं शक्यते तादृशस्थलविषयकत्वेनामार्वत्रिकत्वात्, यत्र तु स्थले कस्यापि क्रियापदस्य नाध्याहारस्सम्भवति तत्र तु क्रियां विनाऽपि वाक्यपरिसमाप्तिर्भवत्येव, यथा 'त्रयः कालाः' इत्यादौ, अत्र सन्तीत्यध्याहारे भूतभविष्यत्कालयोस्तत्रानन्वयापत्तेः, आसन् इत्यध्याहारे वर्त्तमानभविष्यत्कालयोस्तत्रानन्वयापत्तेः, भविष्यन्तीत्यध्याहारे भूतवर्त्तमानकालयोरन्वयस्तत्र न स्यादिति तत्र क्रियापद विनैव वाक्यपरिसमाप्तिस्तदन्यत्रापि यत्र क्रियापदं न श्रूयते तत्रापि क्रियापदं विनैव परिसमाप्तिः परिकल्पनीयेति।

यच्च सङ्ग्रहनयमूलप्रकृतिकवेदान्तदर्शने घटपटमठादौ सर्वत्र सन् सन्नित्यनुगतप्रतीतिविषयत्वाद् ब्रह्मात्मकसत्त्वैव पारमार्थिकीत्याद्यर्थक प्रागुक्तं तदप्यसङ्गतमेव, यतः प्रतीतिमात्रस्य विशेष्यीभूतधर्म्यंशे प्रामाण्यमेवाऽविगानेन तत्त्वज्ञैस्समस्तैरभ्युपगतं, प्रकारांशे तु

प्रमात्मकप्रतीतौ प्रामाण्यं तदितरत्र तदितरदिति विशेष्यविषया भासमानघटपटादयस्सत्य एवाभ्युपगन्तव्याः, स्वसिद्धान्तगतमिथ्याभिनिवेशवशात् तत्र प्रकारांशविषया भासमाना प्रमात्मकसत्ता त्वप्रामाणिक्येव, पित्तमण्डूकवसाञ्जनादिदोषवशादेव श्वेतवस्तुमात्रे प्रतीयमानपीतत्ववत्। अत्र श्वेतवस्तुमात्रेऽनुगतत्वेन प्रतीयमानमपि पीतत्वं बाधितम्, दोषनिवृत्तौ यन्मया प्राक् पीतत्वेनोपलब्धं तन्न पीतमित्युत्तरकालबाधकप्रत्ययभावात्। अत्र सत्ता तु कालत्रयेऽप्यबाधिता, कदाऽपि तत्र बाधकप्रत्ययाभावादिति कालत्रयावच्छिन्नाबाधितप्रत्ययस्यैव पारमार्थिकीति चेत्, तर्हि धर्म्यंशे ज्ञानमात्रस्य सर्वैरपि प्रेक्षावद्भिरविगानेन प्रामाण्याभ्युपगमात् घटः सन् घटस्सन्नित्यादिप्रतीतौ धर्मिभूतघटपटादयोऽपि पारमार्थिका अभ्युपगन्तव्याः। अथ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिश्रवणमनननिदिध्यासनप्रयुक्तसुदृढतापनामेयभावनाजन्यब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारे सर्वेषां वस्तूनां मिथ्यारूपतयैव प्रतीयमानत्वात् ते परमार्थतः सत्याः, किन्तु व्यवहारत इति चेत्, नैवम्, पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां स्वद्रव्येण चोत्पादव्ययध्रौव्यानुभवादिप्रमाणेन यदेवोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तदेव सदिति साधितत्वेन साधयिष्यमाणत्वेन चोत्पादादिधर्मत्रयाक्रान्तभावानामबाधितप्रतीतिविषयत्वेन तेषामेव परमार्थतः सद्रूपत्वात्। एकान्ताभिन्नैकस्वरूपे ब्रह्मतत्त्वे उक्तलक्षणसत्त्वाऽघटमानत्वेन तस्याऽसद्रूपत्वात्। मेवमेव केऽपि भावाः शाश्वताः किन्तु काञ्चनकामिन्यादिसंयोगवदनित्या इति ज्ञेयबुद्ध्या सम्यग् विज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया सर्वथा तत्परित्यागकरणेनैकत्वादिभावनाप्रकर्षध्यानादिबलेन सच्चिदानन्दलक्षणब्रह्मस्वरूपावाप्तावपि तस्य ज्ञेयपरिच्छित्तिभेदेन प्रतिकर्म तद्विषयकज्ञानपरिणतिभेदभावादुत्पादादित्रयलक्षणयुक्तत्वादेव सत्स्वरूपत्वमभ्युपगन्तव्यम्। न च व्यवहारोऽप्याप्तपुरुषव्यवहृतोऽप्रामाणिकः, अन्यथा कथितपिताऽप्रामाणिकव्यवहारमभिधानम् प्रवर्तेत निवर्तेत वेति व्यवहारस्यैव विलोपेन अयमिदीदं स्यादिदं स्याद्युक्तकृतव्यवहारसिद्धिभावो निमित्तभावाः परमार्थभूता एवाभ्युपगन्तव्याः। किञ्च प्रमात्मकसत्ताविप्रतिपन्नान् प्रति तत्साधकाऽनुमानमेव प्रमाणतया प्रदर्शनीयम्। तत्र पक्षसाध्यहेत्वादिपरिकरपरिकरितत्वेनानेकवदितमिति तस्य प्रामाण्ये द्वैतापत्तिः। अप्रामाण्ये प्रमात्मकसत्त्वाऽसिद्धिः, उक्तञ्च—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्, द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धि-र्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्? ॥१॥" इति एवं प्रमाद्वैतवादे

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात्, बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥१॥" इत्याद्यापत्तिश्च ज्ञेयेति।

यद्वा "प्रतिशब्दस्य वीप्सायां कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्याद् द्वितीयार्थ-

वाक्यमपि" इत्युक्तेरर्थमर्थं प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रत्यर्थमिति च समस्तरूपमिव, वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदित्यत्र वृक्षं वृक्षं प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रतिवृक्षमिति च समस्तरूपमिव वा, रूपं रूपं प्रतीति-वाक्यस्वरूपम्, प्रतिरूपमिति तु समस्तरूपम्, तत्र प्रतिशब्दो वीप्सायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्तते, तेनायमर्थः-रूपं रूपं प्रति वस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयस्स व्यवहारो व्यवहारनयः, तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः स्वभाव इति। तस्य विवेचनमेवं सम्मतितर्के कृतम्-प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारे हेतुः, न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यतः 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्कामुपगच्छन् लक्ष्यते, अतः 'किमस्ति' इत्याशङ्कायां 'द्रव्यम्' इत्युच्यते, तदपि किम्? पृथिवी, साऽपि का? वृक्षः, सोऽपि कः? चूतः, तत्राऽप्यर्थित्वे यावत् 'पुष्पितः' 'फलितः' इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद्व्यवहारसिद्धिरिति। व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयति, तथैव संव्यवहारसम्भवात्, अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वर्थसंज्ञां बिभ्रत् अशुद्धा द्रव्यार्थिकप्रकृतिर्भवतीति। अत्रायम्भावः-यावता विशेषोपगमेनाबालगोपालप्रावारणो व्यवहारस्समर्थितो भवति तावानेव विशेषसन्तानो व्यवहारविषय इति निर्णीयते। इत्थञ्च व्यवहारयोग्यान्तिमविशेषाभ्युपगमरूपो व्यवहारो नयस्सूत्रे प्रविशति, एवमेव चास्य द्रव्यार्थिकत्वं सुश्लिष्टं भवति, व्यवहारो हि नानारूपतया सत्तां व्यवस्थापयतीति वचनेन व्यवहारस्य महासामान्यरूपसत्ताभ्युपगमोऽस्तीति न भ्रमितव्यम्, महासामान्यं हि सत्त्वमेकमेव, तस्य च नानारूपत्वं बाधितमेव किन्त्वनेन वचनेन महासत्ता नास्त्येव, परन्तु स्वरूपसत्त्वं प्रतिव्यक्तिनियता नानेति प्रतिपाद्यते, अत एव स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिसप्तभङ्ग्याः सत्तारूपास्तित्वप्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य सङ्ग्रहमूलकत्वं सत्ताप्रतिपक्षरूपनास्तित्वात्मकविशेषप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य व्यवहारमूलकत्वं "एवं सत्तवियप्पो" इत्यादिव्याख्याने प्रतिपादयिष्यमाणं सङ्गच्छत इति। अनुगतव्यवहारस्त्वनयाप्यवृत्त्यैव विशेष्यः। यद्यपि विशेषमात्राभ्युपगन्त्रा व्यवहारेण किमपि सामान्यमनुगतं वस्तुभूतं नाङ्गीकृतमिति यथा सर्वानुगतं महासामान्यं सत्तास्वरूपं न तदभिमतं तथा द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यमपि परापरसामान्यस्वरूप घटत्वाद्यपरसामान्यस्वरूपं न वस्तुभूतमभिमतम्, तथापि लौकिकः सर्वोऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिफलको व्यवहारस्तेनोपपादनीय इति यादृशं द्रव्यत्वादिकमनुगतप्रतीतिनियामकं तेनाश्रयणीयं तादृशं महासामान्यमपि तेनाभ्युपगन्तव्यम्, द्रव्यत्वादिकञ्चातद्व्यावृत्तिरूपमपोहशब्दाभिधेयं काल्पनिकं यथा तदभिमतं तथा महासामान्यं सत्त्वमपि, अन्यथा सत्-द्रव्यं पृथिवी वृक्ष आम्र इत्यादि सामान्यविशेषाश्रयणप्रवृत्तं व्यवहरणं कथं तस्य सङ्गतं स्यात्। इयांस्तु विशेषः, सङ्ग्रहनये यन्महासामान्यं सत्त्वं तदेव वस्तु, तत्स्वरूपमेव, न तु तदाश्रयः सत्, धर्मधर्मिभावानापन्नमेव तत्, तदेव चावान्तरद्रव्यत्वादिरूपेणानुगतेन व्यक्तिस्वरूपैर्विशेषैश्चात्ममापन्न इत्येतावता सर्वात्मकं, सर्वाणि चान्यानि

व्यवहारसमर्थकानि, न तु वस्तुतस्तत्त्वान्यानि सन्तीति । व्यवहारनये तु यावन्तो व्यवहारपथस्थका विशेषा व्यवहारपथमुपगच्छन्ति ते सर्वे वस्तुभूता एव, सामान्यानि च सर्वाण्यवग्रहमात्रविकल्पानि कल्पितान्येव व्यवहारफलकानि, न तु स्वरूपतो वस्तुभूतानीति, तथा च वस्तुभूतं महासामान्यं परमार्थतो नाभ्युपगतं सत्तालक्षणमिति तदनभ्युपगमोऽपि सङ्गतः, अपोद्धलनतदभ्युपगमेन सद्द्रव्यमित्यादिविभजनाऽपि साधुसङ्गता, एवं परापरसामान्यादिविभजनमपि, यत स्सामान्याधारभूता व्यक्तिलक्षणविशेषा वस्तुभूता इति तद्धर्मतया तान्यपि सामान्यानि वस्तुभूतानीति व्यवह्रियन्ते, इदृशविचारमभाश्रयतोऽवान्तरसामान्याभ्युपगमस्तु व्यवहारस्येति भावनीयम् । अत्र सत्ताऽपेक्षया द्रव्यत्वमपरसामान्यम्, पृथिवीत्वापेक्षया परसामान्यम्, पृथिवीत्वमपि द्रव्यत्वाऽपेक्षयाऽपरसामान्यं वृक्षत्वापेक्षया च परसामान्यम्, वृक्षत्वसामान्यमपि पृथिवीत्वापेक्षयाऽपरसामान्यं आम्रत्वापेक्षया च परसामान्यमित्येवं परापरसामान्यानि तदवच्छिन्नलक्षणपर्यन्तविशेषानपि प्रवृत्त्युपयुक्तानभ्युपगच्छति व्यवहारनय इत्युक्तं भवति । यतो न हि परापरसामान्यविभजनाक्रमेणान्त्यविशेषाऽभ्युपगमो व्यवहारनयस्य समस्ति, तथा सति व्यवहारस्वरूपमेवासौ जह्यात्, किन्तु सर्वेषां विभक्तानां परापरसामान्यानामन्त्यम विशेषरूपतयैवैत्यप्राप्तिमविशेषाभ्युपगमस्य पर्यवसानमिति । ननु नैगमनयोऽपि सत्तालक्षणं महासामान्यमेकं द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकं परापरसामान्यं तदाश्रयविशेषांश्चाभ्युपगच्छति, अत एव सामान्यविशेषग्राहिणो य द्रव्यार्थाभ्युपगमापेक्षया द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यत्वाविरुद्धत्वमिति तल्लक्षणं सिद्धान्तविदो विदन्ति, तथा च कोऽनयोर्विशेष इति चेत्, उच्यते नैगमस्य नैकविधत्वात् यो नैगमस्सत्तामात्रं महासामान्यं मनुते तस्य सङ्ग्रहनयेऽन्तर्भावः, यस्तु तदतिरिक्तपरापरसामान्यानि तदाश्रयव्यक्तीश्चोरीकरोति तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावः कर्तव्यः । अत एवास्यां गाथायां नैगमो न पृथग् जगृहे, सङ्ग्रहव्यवहाराभ्यामतिरिक्तत्वस्यासिद्धेः । तथा च "सत्तारूपमेकलक्षणं सामान्यमेकमचेतनं द्रव्यम्, अनेकं च चेतनं द्रव्यमपरोऽस्तीति द्रव्यार्थिकः, अयं हि व्यवहारनयाभिप्रेतार्थाभ्युपगमस्वरूपो बोद्धव्यः, वक्ष्यति चाचार्यः—'य इमिर्न हरिमयं एयं ववहियस्स वयणं' ॥ इति तद्गाथोक्तेर्व्यवहारनयविषयप्ररूपणा परमार्थव्यवहारमूलभूतो द्रव्यार्थिकनयोऽयम् इति प्रतिपादितं भवति । वेदान्तदर्शनविभूषणमपि नयेनैकतया विषयीकृतस्यात्मनो मदकार्येण सङ्गतविषयभेदकल्पनलक्षणसमन्वयात् व्यवहारप्रवृत्तिरूप साङ्ख्यदर्शनस्य विषयितमिति तात्पर्यम् । अत एव "असद्भावात् व्यवहाराश्रयात्, ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम् । चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् । १११ ॥ इति नयोपदेशोक्तं सङ्गच्छते । येषां च मते पृथक् नैगमनयो विद्यते तन्मते यद्यपि परसामान्यपरापरसामान्यापरसामान्यानि तदाश्रयविशेषांश्चाभ्युपगच्छति नैगमो नयस्तथाऽप्यसौ भिन्नसामान्यतदाश्रयव्यक्त्योर्भेदमानमनुते, यतः सत्तासामान्यं द्रव्यत्वादिकं च तदाश्रयेभ्योऽभिन्नं तथा तदाश्रयव्यक्तिरप्यनेकसत्तावत्तासम्बन्धेषु पारस्परिकानुगतधर्माभावात् सत्स्वं द्रव्यं द्रव्यमित्या

यनुगतप्रतीतिर्न स्यादिति भिन्नेष्वभिन्नबुद्ध्यन्यथानुपपत्तेस्स्वाश्रयेभ्यस्सत्ताद्रव्यत्वादिकं भिन्नमेव, सत्ताद्रव्यत्वादितस्स्वाश्रयव्यक्तीनामभेदे तद्वत्तामामप्येकत्वापत्त्येयं व्यक्तिर्भिन्नेत-द्व्यक्तेरियमपि भिन्नेत्यादिभेदव्यवहार उच्छिन्नस्स्यादिति दृश्यमानभेदव्यवहारान्यथाऽनुप-पत्त्या ततस्तासामपि भेद एवेति नैगमनयाऽभिप्रायः, तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—

" सदिति भणिएऽभिमन्नइ दव्वाइत्थंतरं ति सामन्नं ।
अविसेसओ मईए सव्वत्थाणुप्पवित्तीए ॥ २१९० ॥
गोत्ताइओ गवाइसु निययाधाराणुवित्तिबुद्धीओ ।
परओ य निवित्तीओ सामन्नविसेसनामाणो ॥ २१९१ ॥" इति

व्यवहारनयस्त्वेवं नैवाभिमनुते, विशेषाणामेव वस्तुत्वेन व्यवस्थापनपरत्वात्तस्य, अत एव विशेषतो व्यवह्रियते निराक्रियते सामान्यं येनेति व्यवहार इति तस्य व्युत्पत्तिस्सि-द्धान्ते गीयते, तन्मते विशेषव्यतिरिक्तं नास्ति सामान्यम्, योग्याऽनुपलब्धेः, खपुष्पवत्, विशेषास्तु सन्ति स्वप्रत्यक्षग्राह्यत्वात्, घटादिवत् । किञ्च जलाहरण-व्रणपिण्डीप्रदानादिको लोकव्यवहारो घट-निम्बपत्रादिविशेषैरेव साक्षात् क्रियमाणो दृश्यते, न सामान्येन, तस्मात्तदर्थान्तरभूतं सामान्यं नास्त्येव, लोकव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात्तस्य, यदभ्यधायि तत्त्वसुधावर्षिभाष्यकारेण—

" उवलंभववहाराभावाओ निव्विसेसभावाओ ।
तं नत्थि खपुप्फं पिव संति विसेसा सपच्चक्खं ॥ २२१४ ॥
जं च विसेसेहिं चिय संववहारो वि कीरए सव्वं ।
जम्हा तम्मत्तं चिय फुडं तदत्थंतरमभावो ॥ २२१५ ॥" इति

इत्येवं नैगमव्यवहारयोर्भेदः सिद्धान्तविदा व्यावर्ण्यते इति ॥ ४ ॥

एतावत्प्रबन्धेन सामान्यप्रस्तारार्थकसङ्ग्रहप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी द्रव्यार्थिकनयः, सङ्ग्रहव्यवहारौ तद्विकल्पाविति प्रतिपाद्याधुना विशेषप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी यः पर्याया-र्थिकनयस्तस्य वृक्षस्वरूपस्य मूलमृजुसूत्रनयः शब्दसमभिरूढैवम्भूतनयास्तु तच्छाखा-प्रशाखाप्रतिशाखारूपास्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरभेदा इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—

मूलनिमेणं पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥ इति गाथासूत्रम् ।

पज्जवणयस्स पर्यायनयस्य, 'मूलनिमेणं' आद्याधारः, स क इत्यत आह—"उज्जुसुय-वयणविच्छेदो" ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो लक्षणया विच्छिद्यमानवचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्जु-

ऋजुनयः, 'तस्स उ' तस्य तु—ऋजुसूत्रतरोस्तु 'सद्दाईया साहपसाहा सुहुमभेया' शब्दादिकाः शाखाः—प्रशाखाः सूक्ष्मभेदाः, यथा तरोश्शाखा स्थूला प्रशाखा ततस्सूक्ष्मा प्रतिशाखा ततोऽपि सूक्ष्मतरा तद्वत् शाखात्मकशब्दनयः स्थूलः, प्रशाखात्मकस्समभिरूढनयस्ततस्सूक्ष्मः, प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनयस्ततोऽपि सूक्ष्मतर इति सङ्क्षेपार्थः। विस्तरार्थस्त्वेवम्—मूलनिमेणं—अत्रानेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे 'मूलनिमाणं' इतिपाठः। मूलमेव आद्यमेव निर्माणं आधारो मूलनिर्माणं, मूलभूताधारः आधाराधारः पर्यायनयस्यर्जुसूत्रवचनविच्छेदः। ऋजु वर्तमानक्षणमात्रवर्ति वस्तु तस्यैव वर्तमानतयाऽपरिचितविलक्षणस्वस्वरूपव्यवस्थितत्वेन सद्रूपत्वात्, अतीतानागतयोस्तु विनष्टानुत्पन्नतया परस्वरूपत्वेनासद्रूपत्वात्, तदेव सूत्रयति सर्वक्रियाकारितया सत्त्वेन परिच्छिनत्ति निश्चिनोतीति, नातीतं, न चाप्यनागतम्, तत्र सत्त्वव्यापकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्य निवृत्त्या तद्व्याप्यस्य सत्त्वस्याऽपि निवृत्तिरिति तयोरसत्त्वेन कुटिलत्वादित्यृजुसूत्रम्, तस्योच्यत इति वचनम् उच्यमानं पदं वाक्यं वा तस्य विच्छेदः, अन्तः सीमेति यावत् 'कदमिहितो भावो द्रव्यवत्सकप्पत' इतिन्यायात् कदमिहितो भावो द्रव्यवत् कदमिहितद्रव्यवद्भावत इत्यर्थकात् यथा "अमुतरसस्य माध्वीकम्" इतिकुसुमाञ्जलीयोदयनाचार्यवचने अमुतरसेति पदस्य रस्यमानममृतमित्यर्थः, एवमेव प्रतिमाशतकद्वितीयपद्यस्योपाध्यायी "नामादित्रयमेव" इत्यत्र नामादिपदस्य नामादिनिक्षेपपरत्वात् कदमिहितन्यायात् निक्षिप्यमाणं नामादित्रयमित्यर्थः कृतः। तद्वद् वचनविच्छेद इत्यस्यापि विच्छिद्यमानं वचनमित्यर्थः। अत्रानेनोपचाराद्विच्छिद्यमानवचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्जुसूत्राख्यो नयबोधो ग्राह्यः। तस्य च स्वविषयं प्रतिपादयतः पूर्वापरपर्यायाऽस्पर्शके वर्तमानैकपर्याय एव वचनं विच्छिद्यते समाप्यते। वर्तमानपर्यायस्यातीतानागतात्मकपरपर्यायाऽसंस्पर्शित्वेन तन्मात्रस्यैव बोधजनकत्वात्, उक्तञ्च ऋजुसूत्रनामिमतमर्थं प्रकृत्यविद्भिः—

"पलालं न दहत्यग्नि-र्दह्यते न गिरिः क्वचित्।
नाऽसंयतः प्रव्रजति, भव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥ १ ॥" इति।

ऋजुसूत्रनयमते यः पलालरूपपूर्वपर्यायः सोऽग्निना न दह्यते, दहनक्रियाकाले पलालपर्यायस्य विनष्टत्वात्, यश्च भस्मभावरूपवर्तमानपर्यायोऽग्निना दह्यते स न पलालभावमनुभवति। अयम्भावः—क्रियाजन्यफलशालित्वेन कर्मत्वं भवति, क्रियाजन्यफलशालित्वञ्च क्रियाकाले विद्यमानस्यैव, तथा चाग्निना दहनक्रियाकाले यदेव विद्यमानं तस्यैव क्रियाजन्यफलशालित्वात्कर्मत्वावबोधकद्वितीयाविभक्तिप्रकृतिप्रतिपाद्यत्वम्, पलालस्य त्वग्निना दाहसमये न स्वस्वरूपेणावस्थानमिति तत्र दहनक्रियातो भस्मीभावलक्षणविकारस्य फलरूपस्याऽभावेन तत्कर्मत्वमेव न सम्भवति, यतो भस्मीभावमनुभवति

तद्दहनक्रियाकाले वर्त्तमानमेव दहनक्रियाकर्म, तच्च न पलालः, तदानीमपलालभावाद्दिति नाग्निः पलालं दहतीति सिद्ध्यति । एवं गिरावपि ज्ञेयम् । यः पूर्वक्षणावच्छिन्नोऽसंयतस्स न प्रव्रजति, तदानीमसंयतभावात्, यश्च प्रव्रजति स नासंयतः, तदानीं संयतभावात्, एवं यो भव्यो न स सिद्ध्यति, भव्यत्वपर्यायकाले सिद्धिपर्यायाऽभावात्, यश्च सिद्ध्यति स न भव्यः, सिद्धत्वपर्यायकाले भव्यत्वपर्यायविनाशात्, न चैवं तर्हि व्यवहारबाधः स्यादिति वाच्यम्, सर्वस्मिन् नये क्वचिदंशे तद्बाधाऽवश्यंभावादिति । "तस्स उ सद्दाईआ, साहपसाहा सुहुमभेया" इति तस्य ऋजुसूत्रतरोः, तुरवधारणार्थः, तेन तस्यैव न द्रव्यार्थिकस्य शब्दादयो गुणिभूतार्थप्रधानीभूतशब्दद्वारा श्रोतुः प्रतीतिजनका, अत एव शब्दनयत्वेन प्रतीताः शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नयाः शाखाप्रशाखाप्रतिशाखा इव स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरभेददर्शित्वात्सूक्ष्मो भेदो विशेषो येषां ते सूक्ष्मभेदाः । यथा हि तरोः स्थूलाश्शाखाः, ततस्सूक्ष्मास्तत्प्रशाखाः, प्रतिशाखास्तु ततोऽपि सूक्ष्मतराः, एवमृजुसूत्रतरोस्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतराः शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपा यथाक्रममशुद्धशुद्धशुद्धतराश्शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यास्त्रयो नया ज्ञेयाः । तथाहि "तटम्तटीतटं 'गुरुर्गुरवः' एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पिता" वर्त्तमानैकक्षणमात्रवृत्तिर्मेरुः क्षणमात्रवर्तित्वलक्षणस्वसत्ताकाले भवतीति व्यवह्रियते, स एव स्वोत्तरक्षणापेक्षया बभूवेति व्यवह्रियते, स्वपूर्वसमयापेक्षया स एव भविष्यतीति व्यवह्रियत इति बभूव भवति भविष्यति सुमेरुः । जलाहरण करोति कुम्भः, क्रियते कुम्भश्चैत्रेण, "संतिष्ठते अवतिष्ठते, इत्यादौ त्रिलिङ्गवृत्तिशब्दवाच्यमेकवचनान्तबहुवचनान्तशब्दवाच्यमुत्तममध्यमप्रथमपुरुषवाच्यञ्च विभिन्नकालबोधकशब्दवाच्यञ्च भिन्नकर्तृकर्मबोधकशब्दवाच्यञ्च विभिन्नोपसर्गबोधकशब्दवाच्यञ्चैकमेव वस्तु ऋजुसूत्राभ्युपगत लिङ्गसङ्ख्यापुरुषकालकारकोपसर्गभेदेन भिन्न शब्दनयो वृक्षाच्छाखामिव सूक्ष्ममभिमन्यते । तदुक्तम्—

" विरोधिलिङ्गसङ्ख्यादि-भेदाद्भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥" इति ।

शब्दनयाभ्युपगतं घटकुटकुम्भादिशक्रपुरन्दरशचीपत्यादिपर्यायभेदेऽप्यभिन्नमर्थमुक्ततत्तत्सञ्ज्ञाभेदैर्व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयुक्तस्वस्ववाच्यभिन्नभिन्नार्थं शाखातः प्रशाखामिव सूक्ष्मतर समभिरूढनयोऽध्यवस्यति तदाह—

" पर्यायशब्दभेदेन, भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।
नयः समभिरूढः स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चये ॥ १ ॥" इति ।

समभिरूढनयेन घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियाया कुटतीति व्युत्पत्तिनिमित्तकुटनक्रियायां शक्नोतीति व्युत्पत्तिनिमित्तशकनक्रियायां पुरन्दारयतीति व्युत्पत्तिनिमित्तपुर-

हारणक्रियायां सत्यामसत्यां च घटशब्दवाच्य एको घटः, कुटशब्दवाच्य एकः कुटः, शक्रशब्दवाच्य एकश्शक्रः, पुरन्दरशब्दवाच्य एकः पुरन्दर इति यदभ्युपगत तत्रैवम्भूत नयोऽभ्युपैति, तन्मते हि स्वव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाऽऽविष्टस्यैव तत्तच्छब्दवाच्यता, नान्यदा, यतः परमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगः काल एव वोपयोगेन्द्रः, तदुपयोगानन्तरं तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, यथाऽऽद्युपरमात्, तत्पूर्वं तदभावात्, पुरदारणकाल एव तदुपयोगकाल एव वा पुरन्दरः, अन्यदाऽपुरन्दरः, प्रतिक्षणाऽतिक्रामि त्वात् वस्तुनो बुद्धिविषयो बुद्धिस्थो वा योऽर्थः स क्षणस्थायी, अयम्भावः—यस्मिन् क्षणे यस्य पदार्थस्य तदुपयोगस्य बुद्धिविषयो भवति बुद्धौ वा तिष्ठतीति योऽर्थो यस्मिन् क्षणे बुद्धिविषयो बुद्धिस्थो वा, तस्मिन्नेव क्षणे सोऽर्थः, अन्यदाऽनर्थः, इत्येवं प्रशाखावत्। प्रतिशाखाविष यत्वमतममेवम्भूतनयोऽध्यवस्यति । यदुक्तम्—

" तत्क्रियापरिणामोऽर्थ-स्तथैवेति विनिश्चयात् ।
एवम्भूतेन नीयेत, क्रियान्तरपराङ्मुखः ॥ १ ॥ " इति

तत्र विवेचयिष्यते चात्र । एतच्च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तं प्रत्युत्पन्नग्राहित्वं पर्याय नयत्वमात्रपर्यवसन्नमभिप्रेत्य द्रष्टव्यम् । तथा च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्युत्पन्न ग्राहित्वस्य सकलपर्यायनयानुगतत्वेन पर्यायनयस्वस्वरूपत्वमेव, एवञ्च शाखाप्रशाखोपशाखितस्य ऋजुसूत्रस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वेन क्रमाणां शब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानामुपदर्शने पर्याय नयस्यैव शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपतयोपदर्शनं पर्यवसितम्, तथा च पर्यायार्थिकनयवृक्षे मूलस्थानीय ऋजुसूत्रनयः शाखास्थानीयः शब्दनयः, प्रशाखास्थानीयस्समभिरूढनयः, प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनय इति चतुष्टयात्मकः पर्यायार्थिकनय इति भावः । यद्वा विशेषणभेदाऽप्रयुक्तऋजुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदाभावाधारविषयकप्रतीतिविषयत्वम् , विशेषण भेदाप्रयुक्तो यः ऋजुसूत्रनयविषयप्रत्युत्पन्नवस्तुप्रतियोगिको भेदस्तदभाववद्विषयकप्रतीति-विषयो यस्य तत्त्वमित्येवं पर्यवसितार्थमिह शब्दादीनामृजुसूत्रभेदत्वं परिभाव्यते, तथा च शब्दनयविषयस्य ऋजुसूत्रनयविषयाद्भेदो लिङ्गसङ्ख्यापुरुषकालकारकोपसर्गलक्षणविशे षणभेदप्रयुक्त एव । एवं समभिरूढनयविषयस्यापि संज्ञालक्षणविशेषणभेदादेव भिन्नत्वम् । एवमेवम्भूतनयविषयस्यापि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियालक्षणविशेषणभेदप्रयुक्त एवोक्तभेदः, न तु स्वत इति विशेषणभेदाऽप्रयुक्तऋजुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदाभाववद्विषयकप्रतीतिविषयत्वं शब्दादिनयानां सिद्धमिति । न चैवं व्यवहारस्य निरुक्तदिशा पारिभाषिकं संग्रहभेदत्वं सिध्यति यतस्तद्रूपत्व एव सङ्ग्रहनयविषयात्सामान्याद् व्यवहारनयविषयस्य विशेषस्य भेदेन तत्र विशेषणभेदाऽप्रयुक्तत्वेन तादृशभेदाऽऽधारविषयकप्रतीतिविषयत्वमेव व्यव हारनयस्येति । नन्वेवमृजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्युत्पन्नग्राहित्वस्य पारिभाषिकस्य

वाऽनन्तरोक्तस्य सकलपर्यायनयभेदेषु वृत्तित्वेन नयविभाजकर्जुसूत्रत्वधर्माक्रान्तानां शब्दादिनयानां त्रयाणामृजुसूत्रनयात्मकमूलस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वाभ्युपगमे तेषां नयविभाजकोपाधिव्याप्यविभाजकोपाधिमत्त्वेन नयप्रभेदत्वापत्तेः "सत्त मूलणया पन्नत्ता" इति सूत्रविरोधप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, शब्दादिनयभिन्नत्वे सति प्रत्युत्पन्नग्राहित्वमृजुसूत्रत्वमिति लक्षणलक्षितस्यैवर्जुसूत्रत्वस्य नयविभाजकधर्मतयाऽभ्युपगमात्, तस्य च शब्दादिनयेष्वभावेन तद्व्याप्यत्वस्य शब्दनयत्वादावभावात् शब्दनयादीनां नयप्रभेदत्वापत्त्यभावात्, तथा च नोक्तसूत्रव्याघातः। पूर्वोक्तपारिभाषिकलक्षणस्यर्जुसूत्रत्वस्य प्ररूपणं तु शब्दादिनयानामृजुसूत्रशाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वप्रदर्शनार्थेति॥ अयञ्च सर्वोऽपि ऋजुसूत्रवचनविस्तारो बाह्यार्थाभ्युपगमपरो द्रष्टव्यः, स च सौत्रान्तिकाख्यतथागतमतविशेषस्य वैभाषिकाख्यतथागतमतविशेष्यस्य च मूलकारणम्। ननु अनयोः किं वैलक्षण्यमिति चेत्, उच्यते, तयोः क्षणिकबाह्यार्थाभ्युपगमापेक्षया साम्यमेव, परमाद्यस्य ग्राह्यग्राहकयोर्विभिन्नक्षणे निष्पत्तिः, ज्ञानज्ञेयस्वलक्षणयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धाभावेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्था 'यदाकारं ज्ञानं तत् तज्ज्ञानकर्मेति व्याप्तिसहकृताद् घटपटादिज्ञानं घटपटादिकर्मकं प्रतिनियततत्तदर्थाकारत्वादित्यनुमानात् सिद्ध्यतीति साकारविज्ञानवादः। अत एवैतन्मते "प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः" इत्युक्तेः प्रत्यक्षतो नार्थसिद्धिः किन्त्वनुमानादेव, यदाकार ज्ञान तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः। द्वितीयस्य तु मते "अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते" इत्युक्तेर्ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एवोत्पत्तिः प्रतिनियततत्तदर्थोत्पादकसामग्रीप्रभवत्वादेव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थेति निराकारविज्ञानवादः। तन्मते निर्विकल्पप्रत्यक्षादेव बाह्यार्थसिद्धिः, न तु सविकल्पप्रत्यक्षात्, तस्याऽसद्विषयकत्वेनाप्रामाणिकत्वात्, नन्वेव तर्हि नीलादेः क्षणिकत्वेन दानादौ च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यभावेन नीलादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षान्नीलादेरिव क्षणिकत्वांशस्य दानादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षाद्दानादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यांशस्यापि सिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इतिवचनात्तदंशे सविकल्पप्रत्ययानुत्पादात्तदंशे प्रामाण्याभावात्तदसिद्धेः। यद्वा ऋजु बाह्यार्थाऽपेक्षया ग्राहकसंवित्तिभेदविकलमविभागं बुद्धिस्वरूपमकुटिलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः शुद्धपर्यायास्तिकनयः। अयञ्च बहिरर्थसंस्पर्शरहितक्षणिकविज्ञप्तिमात्राभ्युपगमपरयोगाचाराख्यशौद्धोदनिमतविशेषप्रवर्त्तक इति। अथवा एकत्वानेकत्वसमस्तधर्मकलापविकलतया तदपि विज्ञानं विचारश्रेण्या शून्यरूपमृजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः, अयञ्च माध्यमिकदर्शनावलम्बी सर्वभावशून्यताप्रतिपादनपरो माध्यमिकसंज्ञकबौद्धमतविशेषप्रवर्त्तको ज्ञेयः, "सवनयमयं जिणमयमणवज्जमच्चंतं" इति भाष्योक्तेः अशेषांशविशिष्टार्थग्राहित्वात् सर्वनयात्मकं भगवद्दर्शनम्, इतरांशनिरपेक्षैकैकांशप्रतिपादकतद्दर्शनानि च वस्त्वेकैकांशपरि-

न्येवमुक्तनयचतुष्टयमपाकरोतीति ग्रन्थकार एवाग्रे प्रतिपादयिष्यति। यथा च तद्दर्शनमूलकारण स्याद्वादनयः प्रकृतिस्तस्मादाविर्भूतस्याद्वादनयदर्शनं विकृतिरिति पूर्वोक्तमनुसृत्य ऋजुसूत्रनयस्य सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकभेदभिन्नबौद्धदर्शनप्रकृतित्वं प्रतिपाद्य ऋजुसूत्रनयस्य पूर्वापरभावस्थितकारणकार्यद्वयकार्यकारणभावाभ्युपगमपरसौत्रान्तिकाख्यतथागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, शब्दनयस्य च एकसमयस्थविषयज्ञानरूपपदार्थद्वयकार्यकारणभावाभ्युपगमपरवैभाषिकाख्यतथागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, समभिरूढनयस्य च परमार्थभूतबाह्यार्थो नास्त्येव, विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात् स्वाभिन्ननीलपीताद्याकारमवभासत इति परमार्थभूतबाह्यार्थाऽभावाच्च तद्ग्राहकं ज्ञानम्, अयं नील इत्यादिबहिर्वेदनमात्रस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम इति बाह्यनिरपेक्षक्षणिकमात्राकारवादाभ्युपगन्तृयोगाचाराऽभिधबौद्धो-त्तिमतविशेषप्रकृतित्वम्, एवम्भूतनयस्य च विज्ञानमपि विचार्यमाणमेकानेकरूपत्वाऽभ्यागाच्छून्यतारूपमिति शून्यताभ्युपगमपरमाध्यमिकदर्शनबौद्धमतविशेषप्रकृतित्वं सम्मतिटीकायां यथा प्रतिपादितं तथोच्यते–" अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थवादिनौ ऋजुसूत्र-शब्दौ यथाक्रमम्, वैभाषिकेण निरन्वयाऽनिरन्वयस्वरूपस्य पुद्गलस्याभ्युपगमात्, शब्दनयेऽनुप्रवेशस्तस्य। अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वे ज्ञानार्थलक्षणयौगपद्यरूपव्यञ्जनपर्यायप्रधानत्वादिति द्वितीयोऽपि हेतुर्नयान्तराश्रितस्योपाध्यायैरुक्त इति। बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रं समभिरूढो योगाचारः। एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवम्भूतो व्यवस्थित एवम्भूतो माध्यमिक इति," अत्र तार्किकमते सैद्धान्तिकमतेऽपि च पूर्वपूर्वनया बहुबहुविषयका उत्तरोत्तरनयास्त्वल्पविषयकाः, तथाहि सकलार्थविषयकसङ्ग्रहात् तार्किकमते सत्ताव्यतिरिक्तसामान्यविशेषविषयकस्य व्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, तादृशव्यवहाराच्च वर्तमानक्षणमात्रस्वार्थाभ्युपगमपरस्यर्जुसूत्रस्याल्पविषयकत्वम्। सैद्धान्तिकमते च सन्मात्रविषयकस्य सङ्ग्रहस्य भावाभावपदार्थविषयकनैगमादल्पविषयकत्वं, समस्तसत्तासमूहाभ्युपगमपरत्वेन बहुविषयकात् सङ्ग्रहात् विशेषार्थमात्राभ्युपगन्तृव्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, कालत्रयवर्तिविशेषार्थविषयकव्यवहाराद्वर्तमानक्षणमात्रपर्यायाभ्युपगच्छत ऋजुसूत्रनयस्याल्पविषयकत्वम्, लिङ्गसंख्यापुरुषादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमुपगच्छत ऋजुसूत्राल्लिङ्गसंख्यापुरुषादिभेदेन भिन्नमर्थमभ्युपगच्छन् शब्दनयोऽल्पविषयकः, संज्ञाभेदेऽप्यभिन्नमर्थं स्वीकुर्वतः शब्दनयात् प्रतिसंज्ञमर्थभेदस्वीकर्तृसमभिरूढनयोऽल्पविषयकः, ततोऽपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयुक्तार्थभेदावगाहकस्त्वेवम्भूतनयोऽल्पविषयकः, यत इन्द्रादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतैश्वर्यादिक्रियायां सत्यामसत्यां चेन्द्राद्यात्मकेऽर्थे इन्द्रादिशब्दव्यपदेशं यथा समभिरूढनयोऽभ्युपैति न तथैवम्भूतो नयः, एतन्मते स्वव्युत्पत्तिनिमित्तभूतक्रियापरिणतिकाल एव शब्दवाच्यार्थसत्ताऽभ्युपगमेन तादृशक्रियापरिणमनाभावकाले भिन्नक्रियासद्भावेनार्थभेदसद्भावादिति। तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

" सन्मात्रविषयत्वेन, संग्रहस्य न युज्यते ।
महाविषयता भावा-ऽभावार्थान्नैगमान्नयात् ॥ १ ॥

यथा हि सति संकल्प-स्तथैवासति विद्यते ।
तत्र प्रवर्त्तमानस्य, नैगमस्य महार्थता ॥ २ ॥

संग्रहाद्व्यवहारोऽपि, सद्विशेषावबोधकः ।
न भूमविषयोऽशेष-सत्समूहोपदर्शिनः ॥ ३ ॥

नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो, वर्त्तमानार्थगोचरः ।
कालत्रितयवृत्त्यर्थ,-गोचराद्व्यवहारतः ॥ ४ ॥

कालादिभेदतोऽप्यर्थ-मभिन्नमुपगच्छतः ।
नर्जुसूत्रान्महार्थोऽत्र, शब्दस्तद्विपरीतवान् ॥ ५ ॥

शब्दात्पर्यायभेदेना-ऽभिन्नमर्थमभीप्सतः ।
न स्यात्समभिरूढोऽपि, महार्थस्तद्विपर्ययः ॥ ६ ॥

क्रियाभेदेऽपि चाभिन्न-मर्थमभ्युपगच्छतः ।
नैवम्भूतः प्रभूतार्थो, नयः समभिरूढतः ॥ ७ ॥

पूर्वः पूर्वः प्रभूतार्थो, नैगमादिनयेष्विह ।
परः परस्तु सूक्ष्मार्थ-स्तदित्थं सिद्धिमाययौ ॥ ८ ॥ " इति ।

द्रव्यार्थिकनये सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धसन्मात्रस्यैव विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य ग्रहणात् सङ्ग्रह एव शुद्धः, प्रकृतगाथायां "द्रव्यार्थिकनयाऽशुद्धप्रकृतिर्नैगमनयोऽपि" इत्यनुक्तेः पूज्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरमतेन सङ्ग्रहव्यवहारनयाभ्यां नैगमनयो न पृथग्भूत इति न चर्चार्हः। सामान्यविशेषविमिश्रणाद्व्यवहारस्संग्रहापेक्षयाऽशुद्धः । अत एव सम्मतिटीकायां सर्वमेकं सदविशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः, अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसांख्यदर्शनाश्रित इत्युक्तम्, पर्यायार्थिकनये तु यन्नयापेक्षया योऽल्पविषयको नयस्स तन्नयापेक्षया शुद्ध इत्युत्तरोत्तरनया अल्पाल्पविषयकाश्शुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः, पूर्वपूर्वनयास्त्वशुद्धाऽशुद्धतराऽशुद्धतमाः, बहुबहुविषयकत्वात्, तथाहि-एतत्प्रकरणकारमते ऋजुसूत्रनयस्य पर्यायार्थिकनयभेदत्वात् स तावदशुद्धः, कालकारकलिङ्गादिभेदेऽप्यर्थाभेदाभ्युपगमपरत्वात्, शब्दनयस्तु शुद्धः, तन्मतेन कालादिभेदेन वस्तुनो भेदाभ्युपगमात् । ततोऽपि समभिरूढः शुद्धतरः, तन्मते पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नस्यार्थस्याभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायभेदेनापि भेद-

स्वीकरणात् । ततोऽपि एवम्भूतनयस्तूद्गतमः, अयं नयश्चेष्टानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाल एव वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छतीत्येतन्मते क्रियाऽनाविष्टस्याऽपि वस्तुनो भेदप्रतिपादनादिति । तत्रापि श्रीसिद्धसेनदिवाकरमतेऽर्थनयास्सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यास्त्रयो नयाः । सैद्धान्तिकमते नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्याश्चत्वारो नयाः, उपसर्जनीभूतशब्दप्रधानीभूतार्थाभ्युपगमपरत्वेन शब्दगतधर्मभेदेनार्थभेदाऽस्वीकर्तृत्वात् । उभयमतेऽपि शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्या नयास्त्रयश्शब्दनयाः, ते हि शब्दप्रधानतया शब्दगतधर्मभेदेनार्थभेदं स्वीकुर्वन्तीति यथा शब्दस्यार्थे इत्यभ्युपगमपरत्वाच्छब्दमेव प्रधानमिच्छन्ति, अर्थं तु गौणम्, शब्दवशेनैवार्थप्रतीतेः । उक्तञ्च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

"तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः ।
त्रयः शब्दनयाः शेषाः, शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥ १ ॥" इति

एते च नयाः परस्परसापेक्षाश्चेत्तदा सुनयाः, अन्यथा तु मिथ्यानयाः, एतच्चाग्रे प्रतिपादयिष्यते, सर्वं व्यवस्थितमेतत्, तस्य तु सप्तादयश्शाखाप्रशाखाप्रतिशाखाः शतम् भेदा इति ॥ ५ ॥

अथ नयैरिव निक्षेपैरपि वस्तुभेदविवक्षया अन्यथानुपपत्तिकर्तृत्वविचारितरमणीयतयाऽपरमार्थभूतोऽर्थः परमार्थतया परमार्थश्चापरमार्थतया प्रतिभासेतेत्यतो नयानुयोगद्वारवन्निक्षेपानुयोगद्वारमपि व्याख्यातम्, निक्षेपाश्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन चतुर्विधा इति, तत्रापि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ मूलव्याकरणिनाविति दर्शयन्नयोर्व्यापकत्वं प्रदर्शयितुमाह—

'णामं ठवणा दविए-त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो ।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स, परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥"

अस्या उत्तरार्द्धं भाषणार्थोऽनुप्रयोगात्—"भावो उ पज्जवट्ठिअ, परूवणा एस परमत्थो" इति दृश्यते । अथवा वस्तुनिबन्धनाध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्य अधुनाऽध्यारोपितानध्यारोपितनाम-स्थापना-द्रव्य-भावनिबन्धनव्यवहारनिबन्धनतामनयोरेव प्रतिपादयन्नाहाऽऽचार्यः—णामं ठवणा इत्यादि । नामस्थापनाद्रव्यैतन्निक्षेपत्रयं द्रव्यार्थिकनयस्य भावस्तु पर्यायार्थिकनयस्य निक्षेपः, एष एवोभयनयप्रविभागः परमार्थ इति निष्कर्षः अवयवार्थस्त्वेवम्—"णामं ठवणा दविए त्ति" नामस्थापनाद्रव्यमिति 'एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो' एष निक्षेपो द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिमतः । यद्वा द्रव्यार्थिकस्यैवमन्यत् मतेनेति ध्येयः । द्रव्यमात्रग्राहिणस्तस्य नयस्य नामस्थापनाद्रव्याणां कालत्रयानुगामित्वेन द्रव्यरूपतया तन्निक्षेपग्राहित्वेऽपि भावस्य वर्तमानपर्यायत्वेन द्रव्यानात्मकतया तदग्राहित्वात् । अत एवाह "भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा" इति । भावो

भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनयस्य, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः, प्ररूप्यते इति प्ररूपणेति व्युत्पत्तेः, तत्र कर्मणि प्रपूर्वकरूपिधातोर्युप्रत्ययः। पर्यायमात्रग्राहिणस्तस्य भावस्य पर्यायरूपतया तन्मात्रग्राहित्वेऽप्युक्तनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावानात्मकत्वेन तदग्राहकत्वात्। यद्वा नामस्थापनाद्रव्यमित्येष निक्षेपो "वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्त्तव्यमन्यथाऽनुक्त–समत्वात्तस्य कुत्रचित्॥ १॥" इति वचनात् सर्वं वाक्यं सावधारणं भवतीति नियमेन द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्यैवाभिमतः, न पर्यायास्तिकनयस्य, नामादिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावानात्मकत्वात्, पर्यायास्तिकनयस्य तु भावलक्षणपर्यायमात्रग्राहित्वात्। भावो भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनयस्यैव, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः। न द्रव्यार्थिकनयस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनवलम्बित्वादिति। तत्र यस्य कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारार्थमभिधानं निमित्तसव्यपेक्षं निमित्तानपेक्षं वा यत्सङ्केत्यते तन्नाम, यथा स्वर्गाधिपस्य स्वर्गाधिपत्यलक्षणैश्वर्यात्मकनिमित्तापेक्षया इन्द्र इत्यभिधानं अयमिन्द्र इत्येवं सङ्केत्यते, अर्थात् यस्य नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तविशिष्टोऽर्थो यो भवति तत्र तन्नाम यदि सङ्केत्यते तदा निमित्तसव्यपेक्षं तत्, एवं सङ्केतद्वारा यन्नामवाच्यतया व्यवहर्त्तव्यो योऽर्थो व्युत्पत्तिनिमित्ताऽऽकलितो न भवति तत्र तादृशनिमित्तमन्तरेणैव तन्नाम व्यवहारार्थं सङ्केत्यते तदा निमित्तानपेक्षं तत्, यथा गोपालदारके इन्द्रशब्दपर्यायान्तरशक्रपुरन्दराद्यवाच्ये अयमिन्द्र इति सङ्केतमात्रेणारोपितमिन्द्रनाम इन्द्रनामनिक्षेपः। अत्रेदमवधेयम्–गोपालदारकस्येन्द्रपदवाच्यत्वे तत्रेन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकं नेन्द्रत्वं, भावेन्द्रवर्त्तिनस्तस्य गोपालदारकेऽभावात्, नापि गोपालदारकत्वं, यस्मिन्गोपालदारके इन्द्रपदवाच्यता नास्ति तत्रापि गोपालदारकत्वस्य सद्भावात्, गोपालसम्बन्धित्वदारकत्वोभयघटितमूर्त्तिकस्य तस्य मखण्डस्य किञ्चित्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावात्, किन्तु यस्मिन् गोपालदारके इन्द्रपदसङ्केतः क्रियते तद्गोपालदारके जन्मतो मरणपर्यन्तमुपचयापचयतोऽनेकशरीरभेदतस्तदनुगतं सामान्यमेव चैत्रत्वादिसामान्यवत्समस्ति तदेव तत्रेन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकं, तच्च नामेन्द्रत्वशब्देनाभिधीयत इति। सङ्केतकरणं क्वचिदभेदेन यथाऽयं घटः, अत्र घट इत्यस्य घटशब्दवाच्य इत्यर्थकत्वेन तस्याभेदसम्बन्धेनेदंपदार्थेऽन्वयकरणादभेदेन सङ्केतकरणम्। क्वचिद्भेदेन, यथा 'अस्य चायं शब्दो वाचक इति, अत्र वाचकशब्दस्य बोधजनकत्वप्रकारकेच्छाविशेष्योऽर्थः तदेकदेशे बोधे षष्ठ्यर्थस्य विषयत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्मिँश्च विषयत्वे इदंप्रकृत्यर्थस्य घटत्वावच्छिन्नस्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा च घटत्वावच्छिन्ननिष्ठविषयतानिरूपकबोधजनकत्वप्रकारकेच्छाविशेष्यो घटशब्द इति बोध इत्येवं भेदेन सङ्केतकरणम्, इच्छा चात्र घटविषयकबोधजनको घटशब्दो भवत्वित्याकारिका 'सैव च सङ्केतः' तत्करणं च तद्विषयकप्रतिपाद्यगतबोधानुकूलो व्यापारः, स चायमस्य वाचक इत्याकारक आप्तोपदेशरूपः, अथवा घटशब्दवाच्यो घट इत्याकारको

घटशब्दजन्यबोधविषयत्वप्रकारकेच्छाविशेष्यो घट इत्याकारकप्रतिपाद्यगतबोधानुकूलव्यापारात् सङ्केतकरणं, तदेच्छा घटपदात् घटो बोद्धव्य इत्याकारिका। तत्रापि वस्तुनः कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकतया समानासमानाकारपरिणत्यात्मकेऽपि तस्मिन् न प्रतिव्यक्तिनियतस्वलक्षणाऽसमानपरिणामस्सङ्केतोपयुक्तः, तस्याननुगतत्वेन तत्सङ्केतितशब्दश्रवणे तदर्थविषयककर्मक्षयोपशमसहकृतसङ्केतज्ञानसमुद्बुद्धवाच्यवाचकभावसम्बन्धस्मरणप्रभवार्थस्मृतिद्वारा तज्जातीयान्यतदन्यशाब्दबोधानुपपत्तिप्रसङ्गात्, न च प्रत्येकं सर्वासु व्यक्तिषु सङ्केताद्युक्तविधया शाब्दबोध इति वाच्यम्, व्यक्तीनामानन्त्येन तावतीषु सङ्केतकरणस्याशक्यत्वात्, किन्तु समानपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्यानुगतत्वेन तदात्मके तद्विशिष्टे वा सङ्केतः कर्तुं शक्य इति समानपरिणाम एव सङ्केतोपयुक्तः, परपुरुषोच्चारितशब्दश्रवणेनापि समानपरिणतिविशिष्टस्यैवार्थस्य शाब्दबोधे प्रतिभासमानत्वात् स एव शब्दार्थः, यच्छब्दप्रतीतौ प्रतिभाति स एव शब्दस्यार्थ इत्यत्र प्रामाणिकानामविवादात्, न त्वसमानपरिणामोऽत्यन्तविलक्षणस्तस्यार्थः। ननु समानपरिणामस्यानुगतत्वेन तद्विशिष्टे वस्तुनि सङ्केतकरणसौकर्यात् भवतु तदभिधायि नाम, किन्तु तद्द्रव्यार्थिकनयाभिमतनिक्षेपरूपं कथम्, शब्दरूपस्य नाम्नः कृतकत्वेन द्रव्यधर्मस्य नित्यत्वस्य तत्राभावेन द्रव्यरूपत्वाभावेन द्रव्यार्थिकनयविषयत्वाभावादिति चेत्, उच्यते, दूरादागतोऽयं शब्द इत्यादिप्रतीतिसिद्धक्रियावत्त्वादिहेतुना शब्दस्य पौद्गलिकत्वस्यैव सिद्धेः, अत एव वायुवहनसंहरणद्वाराऽनुपातश्रेण्यादिप्रतिघातादिकं सङ्घटते, इदमुक्तं भवति-धूमवद्वायुना नयनं, धूमवद्गुहादौ पिण्डीभवनं, तोयवद् द्वाराणुविधानं, पर्वतनितम्बादिषु वायुवत्प्रतिघातादिकञ्च शब्दस्य पौद्गलिकत्वे सत्युपपन्नं भवति, गुणत्वे च तस्य वायुवहनसंहरणादीनां क्रियाविशेषाधारकत्वेन तदनुपपत्तिस्स्यात्, गुणे क्रियानङ्गीकारात्, यदाह भगवान् भाष्यकारः—

" जं ते पोग्गलधम्मइआ, सकिरिया वाउवहणाओ ॥ २ ६ ॥

धूमोव्व संहरणाओ, दाराणुविहाणओ विसेसेणं ।
तोयं व णितंबाइसु पडिघायाओ य वाउव्व ॥ २०७ ॥ " इति ॥

अत एव " वारसहिं जोयणेहिं सोयं अभिगेण्हए सद्दं " इति पारमर्षवचस्सङ्गच्छते। तथा च पुद्गलरूपतया नित्यत्वेन तत्र द्रव्यत्वमस्त्येव, शब्दस्य वा स्वस्वरूपेणापि किञ्चित्कालस्थायितया घटादेरिव द्रव्यरूपत्वमेव, पर्यायस्यैकक्षणमात्रस्थायित्वलक्षणत्वेन तद्रूपत्वाभावात्। किञ्च शब्दस्य कृतकत्वेऽपि यस्मिन् यस्मिन्नर्थे सङ्केतद्वारेण शब्दो नियुज्यते तस्मिन् तस्मिन्नर्थे प्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत इत्यनुगतत्वेन द्रव्यसाधर्म्याद्द्रव्यार्थिकनयाभिमतनिक्षेपरूपं शब्दात्मकं नामेति प्रतिपत्तव्यम्, किञ्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धो नित्यः, अन्यथा वाच्यस्यावाच्यत्वं वाचकस्य चावाचकत्वं कदाचित्स्यात्, न चैवं तर्हि सङ्केतादे

विनापि तज्ज्ञानेन शाब्दप्रतीतिस्स्यादिति किमन्तर्गडुना तेनेति वाच्यम्, सङ्केताभिव्यक्तस्यैव तस्य पदार्थस्मृतिद्वारा शाब्दप्रतीतिजनकत्वात्, तथा च सम्बन्धस्य कथञ्चित्सम्बन्धिद्वयाऽभिन्नत्वेन सम्बन्धिनः शब्दस्योक्तसम्बन्धद्वारा नित्यत्वमिति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नामनिक्षेपश्शब्द इति सिद्धम् । ननु भवतु नामनिक्षेपसिद्धिस्तथापि तन्नाम वस्तुस्वरूपमेवेत्यत्र किं मानमिति चेत्, उच्यते, नाम वस्तुस्वरूपमेव तत्प्रत्ययहेतुत्वात्, स्वधर्मवत्, नामायत्तात्मलाभास्सर्वव्यवहारा इति तद्धेतुत्वाचेत्यनुमानमेव । "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः" इति वचनादेकशब्दवाच्यत्वेन नामनामवतोः कथञ्चिदभेदतश्शब्दस्यार्थात्मकत्वादेव स्तुतौ रागः स्तुत्यस्य, द्वेषश्च निन्दायां द्वेष्यस्येति, भगवन्नामनिक्षेपस्य भगवद्रूपत्वादेव च तन्नामस्तुतिरपि भगवत्स्तुतिरेवेति तयाऽऽरोग्यबोधिलाभसमाधिमरणादिफलोत्पादो दृश्यत इत्येतद्दृष्टान्तबलात् सर्वस्य नाम्नः स्ववाच्यार्थस्वरूपत्वं ज्ञेयम् । यद्वस्तु भावभूतार्थलक्षणाऽसद्घटितं भावपदार्थेन सहाभेदबुद्धिलक्षणेनामुकोऽयमित्यभिप्रायेण सद्भूताकारेण पुस्तचित्रकर्मादावसद्भूताकारेणाक्षादौ चेत्वरकालं यावत्कथिकं वा स्थाप्यते प्रतिनिधीयते तद्वस्तु स्थापना, णिजन्तात्स्थाधातोः कर्मणि युप्रत्ययः । भावभूते सर्ववस्तुनि स्वाकारसदृशाकारवत्त्वतद्रहितत्वलक्षणसद्भावासद्भावान्यतररूपतया स्थापनायाः प्रवर्त्तमानत्वात् द्रव्यधर्मसद्भावादेकत्वाध्यवसायकृतमेव तस्या द्रव्यार्थत्वमिति द्रव्यार्थिकनिक्षेपः स्थापना । एतेन कल्पनाशिल्पिनिमित्तत्वेन तत्तद्वस्तुस्थापना तत्तद्वस्तुतो भिन्नैवेति न मुख्यार्थस्वरूपेत्याशङ्काऽपि निरस्ता, यतो घटाकारोऽपि घट एव, तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वाऽयोगात्, मुख्यार्थमात्राभावादेव तत्प्रतिकृतित्वोपपत्तेः, अत एव जिनप्रतिमा जिनसदृशीति सिद्धान्ते गीयते, अक्षादावभिप्रायसम्बन्धं प्रतिमादौ चाकारसम्बन्धं पुरस्कृत्योपास्यमाना जिनादिस्थापना एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायेन स्थाप्यस्मृतिद्वारा स्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकलक्षणमात्राभिवृद्धेस्तज्जनित निर्जराविशेषस्य विधायिनी, तथा च सूत्रबोधितबलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताकतद्गतगुणस्मृतिजनकसंस्कारोद्बोधकाभिप्रायाकारान्यतरसम्बन्धवत्त्वं तत्स्थापनात्वमिति फलितं भवति । ननु नामस्थापनयोः को विशेष इति चेत्, उच्यते—यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां कुण्डलाङ्गदादिभूषितः सन्निहितशचीवज्रादिराकार उपलभ्यते, न तथा नामेन्द्रादौ, एवं यथा तत्स्थापनादर्शनाद् भावः समुल्लसति, नैवमिन्द्रादिनामश्रवणमात्राद्, यथा च तत्स्थापनाया लोकस्योपयाचितेच्छापूजाप्रवृत्तिसमीहितलाभादयो दृश्यन्ते, नैवमिन्द्रनामादावित्येवमन्यदपि वाच्यमिति । "सब्भावमसब्भावे ठवणा" इत्यार्षवचनाच्छास्त्रे सद्भावासद्भावाभ्यां स्थापना द्विधा गीयत इति तल्लक्षण तदुभयलक्षणं च किमिति चेत्, उच्यते, स्थाप्यमानस्येन्द्रादेरनुरूपाङ्गोपाङ्गचिह्नवाहनप्रहरणादिपरिकरो य आकारविशेषो प्रदर्शनात् साक्षाद्विद्यमाने-

न्द्रादिरिवेन्द्रादिर्लक्ष्यते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रभावविनाकाकृतिविनिर्मुक्तो योऽक्षरादाकारादिरिन्द्रोऽयमिति विनोऽभिमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्सोऽसद्भावस्थापना। उक्तञ्च—

> "लेप्पगहत्थी हत्थित्ति एस सब्भाविया भवे ठवणा।
> होइ असब्भावे पुण हत्थित्ति निरागिई अक्खो ॥ १ ॥" इति ॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षणं तु क्रमेणावसेयम्। द्रवति पूर्वापरपर्यायावयवव्याप्तिस्थितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानुगामितया त्रिकालानुयायि यत्तद्द्रव्यम्। तत्र भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः। यद्वा अनुभूतपर्यायमनुभविष्यत्पर्यायमेकमेव द्रव्यम्, तेनानुभूतपर्यायसम्बन्धेन तच्छब्दाभिधेयमभिधीयते, तथाविधानुभविष्यत्पर्यायसम्बन्धेन, यथा अतीतघृतसम्बन्धो घटो 'घृतघटः' इत्यभिधीयते, भविष्यत्घृतसम्बन्धोऽपि तथैवाभिधानगोचरचारी। अयम्भावः—यद्वस्तु भूतकाले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणत तद्वस्तु भूतपर्यायकारणत्वात् कारणे कार्योपचारं कृत्वा वर्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्रत्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽपि घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणंस्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद्वर्तमानकाले भविष्यत्पर्यायापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यद्देवेन्द्रत्वपर्यायः साधुर्भव्यात्मा वा द्रव्येन्द्रः, उक्तञ्चोपदेशपदे—

"वेमाणिओववाओत्ति दव्वदेवो जहा साहू" ॥ २५ ॥ इति ॥ अन्यत्राप्युक्तम्—

> "मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति।
> साहू य दव्वदेवो, एमाइ सुए जओ भणियं ॥ १ ॥" इति ॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायार्हो घृतघट इति वा। द्रव्यपर्यायास्तिकमतेन घटोपयोग एव भावघट इति वर्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम् आगतेन च परिणंस्यदतो द्रव्यं तच्छब्दवाच्यं द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवह्रियते, घृतमपि घृतघटोपयोगारम्भकभावघटकारणत्वादिति। भवति विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेणोत्पद्यते इति भावः। अथवा भूतिर्भावः भवनं वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्तमानपर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनः परिणमनं भावः। यदभिहितम्—

> "भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः।
> सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥ १ ॥" इति।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपयोगिभिरिन्द्रादिवस्तुस्वरूपपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात् वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्तुगतज्ञानात्मकोपयोगो भावः, अन्त्यादिमपक्षमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेपः, तस्य प्रतिक्षण-मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति । 'एस परमत्थो' एषः—एष एव नयनिक्षे-पानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभागः, परमार्थः परम हृदयमागमस्य, एतद्विषयाऽ-व्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो विद्यते, सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य नयान्तरस्याभाव इति । अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्याख्यास्त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां मतेन सङ्ग्रहव्यवहारयोः पूज्यपादश्रीदेवसूरीणां मतेन तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराणां द्रव्यार्थिक-नयभेदत्वाचद्वचैरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयानां पर्यायार्थिकनयभेदत्वात्तद्वत्तैरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगतः । अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिक-नयस्यैव भेद इत्यभ्युपगमे "उज्जुसुअस्स एगे अणुवउत्ते एगं दवावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ" इत्यनुयोगद्वारसूत्रविरोधस्स्यादिति चेत्, मैवम्, यतोऽसौ नयोऽतीतं विनष्टत्वेनानागत-ञ्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति, किन्तु वर्त्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीयं, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्, तथा चातीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्वं नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागत-वर्त्तमानभेदभिन्नस्वकीयपरकीयभेदभिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतसदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामा-न्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमान्नास्य नयस्य तुल्यांशध्रुवांश-लक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यासद्घटितभूतभाविपर्यायकारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युप-गमोऽपि, उक्तसूत्रं तु 'अणुवओगो दवं' इति द्रव्यलक्षणमाश्रित्याऽनुपयोगांशमादाय वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरमताद्यनुसारिणस्समादधते । सैद्धान्तिकास्तु नोक्तं समीचीनं मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य, न चेदेवं, तर्हि शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रसङ्गात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरा-वश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिपर्यवसायित्वादिति । तथा च सैद्धान्तिक-मतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमताः, पर्यायार्थिकनयस्य भाव एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—" भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" इति । अत एव चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां भावग्राहित्वं हेतुतयोद्भावितम्, अत एव नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिक भेदत्वादेषाम् । स्यादेतद् द्रव्यार्थिकनयेन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैवा-

म्युपगन्ता स द्रव्यार्थिक इत्यस्याभावाभावस्वरूपस्य हानिस्स्यात्, भावस्य पर्यायरूपस्य तेन स्वीकारेण तत्प्रतिक्षेपाऽकरणात्। अथ लोके यस्य प्राधान्यं तनैव व्यवहारः, यथा राजाऽयम् इति सामन्तादयोऽप्यागताः, एवञ्च सति द्रव्यार्थिकनयो द्रव्यं प्रधानतयैवाभ्युपगच्छतीति तत्र न द्रव्यार्थिकत्वहानिरिति तेनैव स व्यवहर्तव्यः स्यादेव, भावन्तु गौणतयाऽभ्युपगच्छतीत्येवाथवा स भावनिक्षेपाभ्युपगन्तेति चेत्, हन्त तर्हि शब्दादित्रिनयाः पर्यायं प्रधानतयाभ्युपगच्छन्तीति पर्यायार्थिकनयस्यैव भेदरूपा इति तत्स्वरूपेणैव व्यपदेष्टव्याः, द्रव्यं गौणतयाऽऽदरीकुर्वन्तीति स्वीकृत्य द्रव्यनिक्षेपाभ्युपगन्तारश्च स्युः । एवञ्च सति "भावं चिय सद्दणया" इत्यादिप्रागुक्तभाष्यवचनमप्यसम्बद्धमापाद्यः । अथ यद्यपि द्रव्यार्थिकनयपर्यायार्थिकनययोर्यथाक्रमं गौणतया पर्यायद्रव्याभ्युपगमः, तथापि तत्र द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायौ मिथोऽभिन्नौ एकत्वमापन्नाविच्छतीति द्रव्याद्व्यतिरिक्तं पर्यायमभ्युपगच्छन् स पर्यायार्थिकाद्भिन्नः परिकल्पितः । पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायौ परस्परं भिन्नावेवेच्छतीति द्रव्याद्भिन्नं पर्यायं मनुते, अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद्भिन्न इष्यते, तथा चानयोर्भिन्नत्वेन न पुनरैक्यमिति, अत्रानुमानमेवम्—द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकाद्भिन्नः द्रव्यपर्याययोरत्यन्त-मभेदाभ्युपगन्तृत्वात्, पर्यायार्थिकनयश्च द्रव्यार्थिकनयाद्भिन्नः तयोरत्यन्तं भेदाऽभ्युपगन्तृत्वात्, अत एव मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ, द्रव्यार्थिकेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तेनैकत्व-प्रत्ययात्, पर्यायार्थिकनयेन तु तयोरेकान्तेनान्यत्वप्रत्ययात्, तथा च द्रव्यार्थिकनयस्यापि पर्यायाभ्युपगन्तृत्वमिति चेत्, नैवम्, एवं सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादिनयस्यापि द्रव्या-भ्युपगन्तृत्वापत्तेः । अत्यन्तमभेदभेदग्राहिणोर्द्वयोरप्यनयोरपि मिथ्यादृष्टित्वमनुमतम् । किञ्च द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यपर्याययोरेकत्वमभ्युपगम्यत इति त्वया इष्यमाणे द्रव्यस्येव तदभिन्नगुणस्यापि द्रव्यत्वप्रसक्त्या 'द्रव्यं' 'गुण' इति शब्दद्वयमपर्यायवाचकत्वादिन्द्र-पुरन्दरादिशब्दवत् पर्यायत्वं स्यात् एवञ्च सहोक्तिर्न स्यात्, अर्थात् द्रव्यगुणशब्दयोर-भेदमत्यन्तेनतत्पदार्थाभिन्नत्वात्तद्बोधकत्वमभामानाधिकरण्ये सहप्रयोगाभावमनुमन्यमाना अभिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताप्रयोजकत्वस्यैकान्यविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धाव-च्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वाभ्युपगमेऽपि न स्यादिति गुणो द्रव्यमिति द्रव्यार्थिक-नयाभिलापानुपपत्तिस्स्यात्, यतो न हि कोऽपि भेदाभावान् पुमान् घटो नील इतिवद् घटः कलश इति वक्ति, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैवाभेदव्यवहारसद्भावेन प्रकृते पर्यायशब्दप्रवृत्तिनिमित्त-भेदाभावात् । तथा च द्रव्यगुणपदान्यतरस्यैव प्रयोगस्स्यात् । एवं यदि परस्परमत्यन्त-भिन्नयोः द्रव्यपर्याययोरपरस्य ग्राहकः पर्यायनय इति स्वपक्षमात्र पर्यायार्थिकेनापि द्रव्य-ग्रहे द्रव्यार्थिकमतस्यान्तर्गतत्वप्रसक्तिस्स्यात् द्रव्यपर्यायोभयान्तर्गतद्रव्यपक्षे पर्यायनय-मतेऽपि द्रव्य भावापत्तिनित्यत्वादिरोधप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, अत्र व्याख्यानयने पयोर्द्वयोः पर्यायोचितं तथाप्यत्र, ऋजुसूत्रादीनां नैगमादिभेदानां भावाद्यभ्युपगमात्त्व

त्वेऽपि विशुद्धनैगमभेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाभ्युपगमाद् न तत्र भावनिक्षेपानुपपत्तिः, अत एव विशेष्यावश्यकनिर्युक्तावुक्तम्, "जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स सामाइअं" इति। अत्र हि समतापरिणामविशिष्टे जीवे सामायिकत्वं विधीयत इति। न चैवमस्य पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराविशेषणत्वरूपप्राधान्येन पर्यायानभ्युपगमात्, शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्ध्यभावाद् न नामाद्यभ्युपगन्तृत्वम्। वास्तवं तद्विषयत्व तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायविषयत्वं त्वव्याहतमिति। ननु तथापि "नामाइतियं दव्वट्ठियस्स भावो अ पज्जवणयस्स" इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय "भावं चिय सद्दणया सेसा इच्छंति सव्वणिक्खेवे" इत्यग्रे वदतां भाष्यकृतां कोऽभिप्रायः? इति चेत्, अयमभिप्रायः—पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारसम्बन्धाद् नैगमादिना जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटानभ्युपगमात् तथोक्तिः, अग्रे तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिरिति स्वातन्त्र्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्यभिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तथोक्तिः। अत एवोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ—अत्र चाऽऽद्या नामादयस्त्रयो विकल्पा द्रव्यार्थिकस्य तथा तथा सर्वार्थत्वात् पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथापरिणतिविज्ञानाभ्यामिति। नयोपदेशेऽप्युक्तम्—

"इष्टः शब्दनयैर्भावो, निक्षेपा निखिलाः परैः।
मतं मङ्गलवादेऽन्य–स्त्रिदां द्रव्यार्थिके त्रये ॥ ८३ ॥

द्रव्यार्थे गुणवान् जीवः, पर्यायार्थे च तद्गुणः।
सामायिकमिति प्रोक्तं, यद्दिशाऽऽवश्यकादिषु ॥ ८४ ॥

घटोपयोगरूपो वा, भावो द्रव्यार्थिकेऽमतः।
तेन तत्र त्रयं प्रोक्त–मिति जानीमहे वयम् ॥ ८५ ॥" इति।

तदर्थस्तु विस्तरार्थिभिस्तट्टीकात एवावसेयः। ग्रन्थगौरवभीत्येह न प्रतन्यते। ननु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मिथो विवादे सति मे मनः सन्देहदोलामधिरोहति, किमत्र तत्त्वमिति चेत्? उच्यते, पृथग्रूपयोस्तयोर्मिथ्यादृष्टित्वं समुदितयोश्च तयोस्सम्यग्दृष्टित्वमिति परस्परसापेक्षतदुभयनयापेक्षया नामादिचतुष्टयात्मकमेव वस्तु तत्त्वमिति निश्चिनु, नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकतयैव वस्तुमात्रस्यानुभवात्, अनुभवाधीना हि वस्तुव्यवस्थितिः। तदुक्तम्—

"संविन्निष्ठैव सर्वाऽपि, विषयाणां व्यवस्थितिः।
सम्वेदनं च नामादि,–विकलं नानुभूयते ॥ १ ॥ तथाहि–

घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः।
मृद्द्रव्यं भवनं भावो, घटे दृष्टं चतुष्टयम् ॥ २ ॥

तथापि नाम नाकार-नाकारो नाम नो विना।
तौ विना नापि चान्योऽन्य,-मुत्तरावपि संस्थितौ ॥ ३ ॥

मयूराण्डरसे यद्वद्-वर्णा नीलादयः स्थिताः।
सर्वेऽप्यन्योन्यसम्मिश्रा, स्तद्वन्नामादयो घटे ॥ ४ ॥" इति।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्—

"जत्थ य जं जाणिज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणिज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥ १ ॥"

अत्र यत्र निक्षेपान्तरं न ज्ञायते तत्र चतुष्कं निक्षिपेदित्यनेन चतुष्कस्य व्याप्तिः स्फुटीकृता, यत्तच्छब्दाभ्यां निर्देशे यो धूमवान् स वह्निमानित्यत्रेव व्याप्तेर्लाभावगमकत्वादिति। तथा च यद्वस्तु तन्नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमिति पर्यवसायिनी सा व्याप्तिरिति तज्ज्ञानजन्यया अन्यथानुपपद्यमानवस्तुत्वहेतुकया "वस्तुतत्त्वं नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकम्" इत्यनुमित्यैव वस्तुमात्रं नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमेवेति सिद्धम्। तथा हि-एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति नाम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-संपत्ति-कुलिशधारण-परमैश्वर्यादिसंपन्नत्वं तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते, तद्वदन्यवस्तुन्यपि ज्ञेयम्, तदुक्तम्-"जं वत्थुमत्थि लोए चउपज्जायं तयं सव्वं" इति॥ अत्रान्यशङ्का तत्समाधानं निक्षेपसामान्यलक्षणं नामादिप्रत्येकनिक्षेपानुगतलक्षणादिकं च ग्रन्थगौरवभीत्या न विवेचितं तत्सर्वमस्मत्कृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायनिरवद्यगूढार्थदीपिकास्पष्टीकृततो विस्तारार्थिनाऽवसेयमिति ॥ ६ ॥

एतदपि नयद्वयं ज्ञानस्य परमहत्त्वं तदैव यदैकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि यदपेक्षयैकत्वं स एकांशो द्रव्यं यदपेक्षयाऽनेकत्वं स पर्यायांशः पर्यायः, अत एव तदपेक्षया मर्मतत्त्वमेकपर्यायकल्पितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तदपेक्षालाभार्थं स्यात्पदमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत तथा चान्योऽन्यानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव वस्तु परमार्थरूपं सत्, न लोकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतकल्पितपूर्वापरपर्यायान्वयिद्रव्यात्मकमेव वस्तु सत्, न चैकान्तपर्यायार्थिकनयोररीकृतप्रतिक्षणान्यपर्यायात्मकमेव वस्तु सत्, अन्योन्यानुस्यूतद्रव्यपर्यायाऽनुपलम्भात्। यदुक्तम्—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क कदा केन किंरूपाः दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥

तथा च वस्तुमात्रस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतपर्यायप्रधानीभूतद्रव्योपेतत्वेनेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतद्रव्यप्रधानीभूतपर्यायोपेतत्वेनाप्युपलम्भात् तदुदितद्रव्या-

र्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाया प्रमाणार्पणापर्यवसायित्वेन तया प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयोपेतत्वेनोपलम्भाच्चानेकान्तात्मकमेव वस्तु सदित्येवम्भूतार्थप्रतिपादनपरत्वेन परस्परसापेक्षम्, न तु विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रावभासकं सामान्याननुषक्तपर्यायमात्रावभासकमित्येवं पृथगेकैकांशप्रतिपादनपरं परस्परनिरपेक्षं नयद्वयम्, तस्य मिथ्यारूपत्वेन तद्विषयस्याप्यसद्रूपत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

"पज्जवनिस्सामण्णं, वयणं दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति ।
अवसेसो वयणविही, पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥" इति

'पज्जवनिस्सामण्ण वयणं' पर्यायनयेन निस्सामान्यमसाधारणं वचनं, तत्कस्य कीदृशमित्यत आह—"दव्वट्ठियस्स अत्थित्ति" द्रव्यार्थिकस्य—द्रव्यार्थिकनयस्य अस्तीत्याकारकं पर्यायनयाभ्युपगतविशेषस्य सत्ताऽनुप्रवेशात् विशेषाननुषक्तसामान्यमात्रप्रतिपादकम्, यथा चैतद्वचनमेकान्तात्मकं मिथ्या, असदर्थप्रतिपादकत्वात्, तथा पर्यायनयवचनमपि सामान्याननुषक्तविशेषमात्रप्रतिपादकं मिथ्यैव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यासद्रूपत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—'अवसेसो वयणविही' अवशेषो वचनविधिर्वचनप्रकारः 'पज्जवभयणा' पर्यायभजनात् पर्यायेषु सत्ताया आरोपणात् अनुप्रवेशात् 'सपडिवक्खो' सत्प्रतिपक्ष इति गाथासङ्क्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'पज्जवनिस्सामण्णं वयण' निर्गतं सामान्यं साधारणस्वरूपं यस्मात्तन्निःसामान्यम्, असाधारणम्, पर्यायनयेन सह निस्सामान्यं पर्यायनिस्सामान्यम्, एवंविधं वचनम्, पर्यायनयेन वस्तुप्रतिपत्तये यादृशं वचनं घटपटादिभेदप्रतिपादक प्रतिक्षणमन्यान्यस्वरूपप्रतिपादकञ्चाभ्युपगतं तादृशवचनसमानं यन्न भवति एवम्भूतं सत्तामात्रप्रतिपादकं वचनमिति यावत्, तत्कस्येत्यत आह —'दव्वट्ठियस्स' द्रव्यार्थिकनयस्य, किं स्वरूपं तदित्यत आह—'अत्थित्ति' अस्तीत्याकारकं सत्तासामान्यरूपाऽभिन्नार्थप्रतिपादकम् । ननु भेदवाद्यभ्युपगतविशेषपदार्थोऽप्यस्तीति तत्प्रतिपादकमपि कथं न 'अस्ति' इत्याकारकं वचनमिति चेत्, मैवम्, तस्य सत्तास्वरूपप्रवेशेनैव सद्रूपत्वात्, न हि तद्व्यतिरिक्तो विशेषो नाम पदार्थः कश्चिदनुभूयते, सदित्युक्ते वस्तुमात्रस्यैव बुद्धौ प्रतिभासनात्, सर्वं सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तरं वस्तु किमप्यस्तीति न तत्प्रतिपादकमस्तीति वचनम् । एतद्वचनमपि मिथ्या, विशेषविनिर्मुक्तसत्ता व्यवहाराऽनुपयुक्तत्वेनाऽसद्रूपेत्यसदर्थप्रतिपादकत्वात्, वियत्कुसुमवचनवत् । व्यवहारानुपयुक्तत्वञ्च वहनदोहनानयनादिविशेषक्रियाव्यतिरिक्तसामान्यक्रियायास्सत्सामान्यसाध्याया अव्यवह्रियमाणत्वेन व्यवह्रियमाणायाश्च वहनदोहनादिविशेषक्रियाया अश्वगवादिविशेषसाध्यतयैवानुभूयमानत्वेन सामान्यमात्रविषयकव्यवहारस्य कस्यचिददर्शनेन सिद्धमेव । एतेन यदुच्यते सङ्ग्रहवादिना—

"यथा कटकशब्दार्थः, पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात्।
न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ १ ॥"

इति तदपास्तम्। अस्यायमर्थः—

काञ्चनात्कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न, अर्थात् काञ्चनमेव कटकशब्दार्थः, कटकशब्दार्थस्य विशेषस्याऽतिरिक्तस्याभावेन काञ्चनमेव कटकशब्देनोच्यते इत्यर्थः, तद्वत् कटकशब्दार्थस्य काञ्चनात् पृथक्त्वार्हत्वाभाववत् हेम्नः कटकशब्दार्थात् पृथक्त्वार्हत्वाभावो न, अर्थात् हेम्नस्सामान्यस्य अनुगतत्वेन कटकशब्दार्थात् कटकात्कात्स्न्येन पृथक्त्वमेव, अपृथक्त्वे विशेषरूपाभ्युपगमेन तद्रूपस्य सामान्यस्याप्यसत्त्वं स्यात्, स च सामान्यमसत्, ततो न तस्य विशेषरूपता, विशेषस्य तु सामान्यादपृथक्त्वे सामान्यात्मना सत्त्वमापद्येत, तथैवमेव, सर्वेषां विशेषाणां सामान्यात्मना सत्त्वस्येष्टत्वात्। अपरे न परं भेदे यस्माच्चापरं सत्तारूपमहासामान्यं, तस्मिन् जगच्छब्दार्थता—घटपटादिसकलशब्दार्थता, सर्वेऽपि घटपटादिशब्दा महासामान्यमेव तद्रूपेण ब्रुवते इति तदपासने को हेतुरिति चेत्, उच्यते, हेमसामान्यस्य यावत्कटकाङ्गदादिविशेषपार्थक्याऽसिद्धिः, घटादिपर्याय भिन्नस्य मृदादेरिव यावद्विशेषभिन्नस्य सत्तारूपमहासामान्यस्याप्यनुपलब्धिरेवेति जानीहि, यथा च घटशरावोदञ्चनाद्यभिन्नमेव मृद्द्रव्यं, तथा कटककेयूराद्यभिन्नमेव सुवर्णद्रव्यम्, ऊर्ध्वतासामान्यवत्तिर्यक्सामान्यमपि व्यक्तिव्यतिरिक्तं नानुभूयत एव, सत्ताऽव्यतिरिक्तत्वेन सर्वं घटपटादिकमवसायत इति महासत्तासामान्यमेव घटपटादिकमिति तदाभ्युपगन्तुं शक्येत, यदि प्रतीतौ सन्मात्रमुल्लिख्येत, न त्वेवम्, घटः सन् पटः सन्निति घटपटादीनामप्युल्लेखादित्युल्लिख्यमानभेदान्यथानुपपत्त्या घटपटादयोऽप्यभ्युपगन्तव्याः, न च घटपटादिकमनुल्लिख्य सन्मात्रोल्लेखशालिनी प्रतीतिः काचिदस्तीति। न च द्रव्योपयोगप्रभवानुगतप्रतीतिसकलसामान्योपलम्भस्य सद्भावात्सामान्यानुपलब्धेरित्यस्यैवाऽसिद्धिरिति वाच्यम्, यतो हस्तप्रसारिण्यादिप्रदानादिव्यवहारस्य घटनिष्ठपृथुबुध्नोदराद्याकारविशेषैरेव क्रियमाणस्य दर्शनेन सामान्यस्य व्यवहाराऽनिर्वाहकत्वेन द्रव्योपयोगेन तद्ग्रहेऽपि तस्य दोषजन्यज्ञानतया भ्रमत्वेन ततो वस्त्वसिद्धिरिति। तत्र सदेवास्तीत्येकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य परमार्थता। पर्यायास्तिकनयस्याप्येवं प्रवृत्तस्य न सेति पश्चार्द्धेन प्रतिपादयति—'अयसेमो' इत्यादिना। तत्रायमर्थः—अयमपि तद्युक्तारम्भ इति यावत्, स क इत्यत आह—'वयणविही' सत्ता विनिर्मुक्तविशेषप्रतिपादकवचनप्रकार इत्यर्थः। स च कीदृश इत्यत आह—'पज्जवणया सपडिवक्खो'। पर्यायेषु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु भजनात् सत्ताया आरोपणात् सत्प्रतिपक्ष इति—सतः प्रतिपक्षः विरोधी असदर्थप्रतिपादकत्वेन मिथ्येत्यर्थः। तथा च विशेष एवास्तीति वचनविधिः मिथ्या, सामान्यविनिर्मुक्तविशेषस्यासतः प्रतिपादकत्वात् खपुष्पवचनवदिति

पर्यवसितोऽर्थः। असत्त्वं च तस्य सतो भेदाभेदाभ्यां विकल्पाऽसहत्वात्, तथाहि—विशेषः सतो भिन्नोऽभिन्नो वा, आद्ये सतो भिन्नत्वेन शशशृङ्गवदसत्त्वमेव स्यात्, द्वितीये सतोऽभिन्नत्वेन सत्ताकुक्षिप्रविष्टतया सन्मात्रमेव स्यात्, सत्तास्वरूपवत्। तन्न विशेष एवास्तीत्येकान्तभावनाप्रवृत्तस्य पर्यायास्तिकनयस्य पारमार्थिकत्वम्, तदेवमुक्तैकान्तनयद्वयस्य मिथो विरोधयुक्तयाऽप्रामाणिकत्वे सिद्धे तद्विषयीभूत नैकान्तसामान्यात्मकं न चैकान्तविशेषात्मक वस्तु सत्, किन्तु परस्पराऽनुस्यूतोभयात्मकमेव, यत एकस्मिन्नेव वस्तुनि सामान्यविशेषावनुस्यूततयैवानुभूयेते, अत एव सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनः सामान्याख्यद्रव्यस्यैकत्वेन तदपेक्षयैकत्वम्, विशेषाख्यपर्यायाणा नानात्वेन तदपेक्षयानेकत्वमिति गौणप्रधानभावेनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादकं परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वय प्रधानभावेनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादक प्रमाणञ्च शास्त्रस्य परमरहस्यमिति सिद्धम्। अत एवैकस्मिन्नेव नरके परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयापेक्षकशाश्वतत्वाशाश्वतत्वधर्मद्वयप्रतिपादकम्, इमा णं भंते! रयणप्पभा पुढवी किं सासता असासता? गोयमा! सिय सासता सिय असासता। से केणट्ठेण भंते! एव वुच्चइ सिय सासता सिय असासता? गोयमा! दव्वट्ठयाए सासता, वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासता, से एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति तं चेव जाव सिय असासता, एवं जाव अहे सत्तमा, इति सूत्रमपि सङ्गच्छत इति। अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति न्यायघटकीभूतयोरर्थप्रत्यययोस्स्वरूपं पूर्वमभिधायाधुना तद्घटकीभूतस्यावशिष्टस्याभिधानस्य नयस्य वाक्यस्वरूपत्वे द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयस्वरूपस्य, नयस्य वाक्याऽस्वरूपत्वे तदभिधायकस्य वा प्रतिपादनार्थमाह—'पज्जवणिस्सामण्णं' इत्यादि। 'पज्जवणिस्सामण्णं वयणं' पर्यायान्निर्गतं तदननुषक्तं तदविमिश्रमिति यावत्, सामान्यं सङ्ग्रहस्वरूपं यस्मिन् वचने तत् पर्यायनिस्सामान्य वचनम्, पर्यायविनिर्मुक्तसामान्यप्रतिपादकं वचनमिति यावत्, किंस्वरूपं तदित्याशङ्कायामाह—'अत्थित्ति' अस्तीत्याकारकं महासत्तासामान्याभिधायीति यावत्। तच्च कस्य स्वरूपं प्रतिपादकं वेत्यत आह—'दव्वट्ठियस्स' नयस्य वाक्यस्वरूपत्वपक्षे वाक्यात्मकद्रव्यार्थिकनयस्य स्वरूपम्, वाक्यास्वरूपत्वपक्षे द्रव्यार्थिकनयस्य प्रतिपादकं वा, यद्वा "पज्जवणिस्सामण्णं वयणं" इति, पर्याय ऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वादिविशेषः, स एव च निश्चित सामान्यं यस्मिंस्तत् पर्यायनिस्सामान्य वचनम्, द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाऽभिधायीति यावत्। तच्च वचनं 'दव्वट्ठियस्स अत्थि' द्रव्यार्थिकस्यास्ति—अशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य वाक्यास्वरूपत्वे तत्प्रतिपादकत्वेन, वाक्यस्वरूपत्वे तु तत्स्वरूपत्वेन सम्बन्धि भवतीत्यर्थः, इतिशब्दोऽशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनपरिपूर्त्तौ, अर्थात् एतावन्मात्रमशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनमित्यावेदितं भवति। अथवेत्यादिपूर्वार्द्धव्याख्यानेन सत्ताख्यमहासामान्याभिधायि वचन शुद्धद्रव्यार्थिकस्येति प्रतिपाद्य

पद्येत्यादिना पूर्वार्द्धस्यैव व्याख्यानान्तरेण द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषात्मकाशुद्ध
र्थिकनयविषयाभिधायिवचनमशुद्धद्रव्यार्थिकस्येति प्रतिपाद्य च अवसरो इत्यादिना
पर्यायार्थिकनयस्य वचनस्वरूपमाह-अवशेषः-अवशिष्टः शुद्धद्रव्यार्थिकवचनाशुद्धद्र
र्थिकवचनाभ्यां भिन्नो वचनविधिः पर्यायार्थिकनयस्वरूपः तत्प्रतिपादकवर्णपद्धतिर्वा म
पक्षः-शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकवचनयोर्विरोधी, तत्र हेतुः " पज्जवभयणा " पर्यायभजनात् प
प्रतिपादकत्वादित्यर्थः । पर्यायप्रतिपादकत्वाभावे तयोरेवान्यतरभेदत्वसिद्धेर्वचनविधि
पर्यायनयवचनस्य न स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्या पर्यायप्रतिपादकत्वं तस्य स्वीकरणीय
एतेनान्त्यपर्यायार्थिकनयवचनस्वरूपं प्रतिपादितं भवति, शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकनयव
पर्यायार्थिकनयवचनयोर्विरोधस्तु परस्परसापेक्षयोनयद्वयविषययोर्गौणप्रधानभावेन
पादकत्वे सत्येवेति भावनीयम् ॥ ७ ॥

एवं तावद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य म
स्वरूपत एकत्वं सत्त्वादिगुणप्रधानापेक्षया त्रिरूपत्वमितिवद् एकस्मिन्नेव भ्रान्तज्ञाने पय
प्रामाण्यं प्रत्यक्षांशे चाऽप्रामाण्यमितिवच्च चित्रज्ञाने नीलाकारस्यपीताकारस्य च भिन्नभि
यथाभावेनाविरोधव्यवस्थितकथञ्चिद्भेदत्वात्तस्य भेदाभेदादिधर्मालिङ्गितद्रव्यपर्यायोभययोर्ग
प्रधानभावेनावगाहित्वे सत्यपि पुनयत्व, न चैकान्ताभिमतद्रव्यस्य एकान्ततस्त्वन
वर्तिभिन्नभिन्नपर्यायाणां वाऽवगाहित्वे एतादृशतत्त्वप्रतिपादनार्थं ज्ञानानेकान्तमेव तमसाह

" पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।

जाव दविओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥"

अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः प्रवर्तमानो यावद्द्रव्योपयोगः प्रवर्तते तावद् द्रव्यार्थिक
वचनीयं द्रव्यार्थिकनयस्य विषयीभूतं वस्तु तच्च पर्यायनयव्युत्क्रान्तं पर्यायनयविषय
त्वमेवेति तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्-' अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ' भिन्नपदच्छेदेन
निर्वचनम् विकल्पस्य निर्वचनञ्च अनयोस्समाहारो विकल्पनिर्वचनम्, न विद्यते पश्चि
विकल्पनिर्वचनं यस्मिन् तद्यथा-तथाविधं तदस्य द्रव्योपयोगस्यासौ अपश्चिमविकल्प
निर्वचनः । यद्वा अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः--न विद्यते पश्चिम उत्तरे विकल्पनिर्वच
तद्विकल्पवीथ्यवतारलक्षण यत्र न तथा, प्रवर्तमान इति यावत्, तदा प
विकल्पवचनाऽप्रवृत्तेः, " जाव दविओवओगो " इत्यतो यावद्द्रव्योपयोगः प्रवर्त
तावत्किमित्यत आह ' वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ' इति तावद्द्रव्यार्थिकनयस्य वचनी
वस्तु, द्रव्यार्थिकनयस्य विषयीभूतम्, तच्च किंस्वरूपमित्यत आह-' पज्जवणयवुक्कंतं
पर्यायनयव्युत्क्रान्तम्-पर्यायनयेन नि-विशेषेण तद् ऊर्ध्वं क्रान्तं विषयीकृतमेव, पर्याया
नाकान्तमन्यानामप्रज्ञापनाविषयस्य प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा प्रमाणस्याभावात्, यदप्या

पर्यायाक्रान्तस्यैव सर्वदा सत्तारूपस्य ताभ्यामवगतेः। घटः सन् पटः सन् मठस्सन्नित्यादि-प्रत्यक्षप्रतीतिभ्यो विशेष्यविधया घटपटादीनां पर्यायाणामपि सिद्धेः, तेषां काल्पनिकत्वे प्रकारीभूताया ब्रह्मात्मकसत्ताया अपि तथात्वापत्तेः, व्याप्तिज्ञानपरामर्शयोः पक्षसाध्य-हेतुविषययोः प्रामाण्ये सत्येव तज्जन्यब्रह्मात्मकसत्तासाध्यकानुमितेः प्रामाण्यमिति भेद-सिद्ध्यापत्तिः, तयोरप्रामाण्ये च तज्जन्यानुमितेरप्यप्रामाण्यापत्त्या ब्रह्मात्मकसत्ताया अप्य-सिद्ध्यापत्तिस्स्यात्, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिवेदवाक्यस्य प्रामाण्यन्तु विवादापन्नमेवेत्येकोऽर्थः। यद्वा यद्वस्तु सूक्ष्म-सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमादिबुद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूप त्यजतोत्तरोत्तरतत्तत्सूक्ष्मरूपाश्रयणात् व्युत्क्रान्तं गृहीत्वा विचारेण मुक्तं किमिदं मृत्सामान्यम्, यद् घटादिविशेषानुपरक्तधीविषयी भवेत् ?। घटादिविशेषैर्विना प्रतिपत्तिविषयस्स्यात्, एवं यावत्सूक्ष्मतमस्वरूपोऽन्त्यो विशेषस्तावत्सर्वं वस्तु द्रव्यार्थिकनयस्य वक्तव्यम्, पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरापेक्षयाऽनुगतरूपत्वा-देवोत्तरोत्तरनयेन सूक्ष्मसूक्ष्मतरतत्तद्विशेषग्राहिणा परित्याग इति तस्य पूर्वपूर्वरूपस्य सामा-न्यात्मकस्य द्रव्यत्वमायातमेवेति तद्विषयकस्य नयस्य द्रव्यार्थिकत्वम्, तद्ग्राह्यस्य पूर्वपूर्व-रूपस्योत्तरोत्तरसूक्ष्मसूक्ष्मतरपर्यायनयत्यक्तस्यार्थस्य द्रव्यरूपत्वम्, उत्तरोत्तरस्य च पूर्वपूर्व-रूपापेक्षया विशेषरूपत्वेन पर्यायरूपतया तद्ग्राहिणो नयस्य पर्यायार्थिकत्वम्, तद्ग्राह्यस्य चोत्तरोत्तरपर्यायरूपत्वम्, यदेव चोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वरूपत्वात्सामान्यरूपं, तदेव च स्वपूर्वा-पेक्षया विशेषरूपमित्येकस्यापि वस्तुनः सामान्यविशेषोभयरूपत्वेन द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-नयविषयत्वम्, यतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्वचनोऽन्त्यो विशेषस्तावद्द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञानं प्रवर्त्तते, न हि द्रव्यादयो विशेषान्ताः सदादिप्रत्ययाऽविशिष्टैकान्तव्यावृत्तबुद्धिग्राह्यतया प्रतीयन्ते, न च तथाऽप्रतीयमानास्तथाऽभ्युपगमार्हाः, अतिप्रसङ्गात्, तदेवं न सत्ता विशेषविरहिणी, नापि विशेषास्सत्ताविकला इति सिद्धम्। ननु महासामान्यस्य तत्पूर्व-सामान्याभावाच्छुद्धसङ्ग्रहेतरनयविषयत्वाभावेन विशेषरूपत्वाभावात्सामान्यरूपत्वमेव स्यात्, एवमन्त्यविशेषस्यापि तदुत्तरविशेषाऽभावात्तद्ग्राहकेण केनापि पर्यायनयेन ग्राह्यत्वा-भावात्सामान्यरूपत्वाभावेन विशेषरूपत्वमेव स्यादिति चेत्, भवतु तथा, का नाम क्षतिः, अपसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्।

"अयं द्रव्योपयोगः स्यात्, विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः।
अन्तरा द्रव्यपर्याय-धीः सामान्यविशेषवत् ॥ १८ ॥" इति

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायां "अयं द्रव्योपयोगः द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधः अन्त्ये विकल्पे शुद्धसङ्ग्रहाख्ये व्यवस्थितः, पर्यायबुद्ध्याऽविचलितः स्यात्" इत्युक्त्या शुद्धसङ्ग्रह-विषये महासामान्ये पर्यायार्थिकनयो न प्रवर्त्तत इति तत्सामान्यरूपमेव, न पर्यायरूप-

मिस्युक्तम्भवति। अन्त्यविशेषविकल्पे च शुद्धपर्यायरूपे कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थितस्स्यात्-ध्रुपरतस्यादित्युभ्या शुद्धशुद्धस्वभावस्य शुद्धपर्यायावगाहिनयस्य विषयेऽन्त्यविशेषे द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधो न प्रवर्तत इति स विशेष एव, न सामान्यमित्युक्तम्भवतीति नापसिद्धान्तप्रसङ्ग इति। विशेषार्थिना मयोपदेशशुद्धिर्नाम्ना नयाभ्युत्तराङ्गिणी विलोकनीया। न च महासामान्यस्य सामान्यैकान्तरूपत्वेऽन्त्यविशेषस्य च विशेषैकान्तरूपत्वेऽनेकान्तत्वविरोधस्स्यादित्यपि वाच्यम्, महासामान्यस्यापि तदुत्तर विशेषापेक्षयैवान्त्यविशेषस्यापि च तत्पूर्वसामान्यापेक्षयैव मद्रूपत्वेन विषयताश्रयत्वेन परस्परसापेक्षोभयविषयताकयोर्थ प्रति तादात्म्यसम्बन्धेनोभयात्मकविषयस्य कारणता प्रत्येकस्याप्युभयरूपत्वेनानेकान्तत्वविरोधाभावादिति द्वितीयोऽर्थ इति ॥ ८ ॥ –

अथ द्रव्यार्थिको महासामान्यात्मकद्रव्यमात्रविषयताकत्वेन पर्यायार्थिकश्च विशेषात्म कपर्यायमात्रविषयताकत्वेन शुद्धजातीय इत्येवं न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्व्यवस्था, किन्तु पूर्वोक्तयुक्त्याऽयमहासामान्यस्याप्यापेक्षिकविशेषरूपतयाऽन्त्यविशेषस्यापि चापेक्षिकसामान्यरूपतया सामान्यं न विशेषविकलं नापि विशेषाः सामान्यरहिता इति द्रव्यार्थिकस्य पर्यायार्थिकस्य वा प्रत्येकनयस्याप्युपसर्जनीकृतस्वान्यविषयप्रधानीकृतस्व विषयतया प्रधानगौणभावेन सामान्यविशेषात्मकद्रव्यपर्यायोभयविषयताकत्वेनानेकान्ताप्रवेशादेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभावव्यवस्थेत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

> " दव्वट्ठिओत्ति तम्हा, नत्थि णओ णियमसुद्धजाईओ।
> ण य पज्जवट्ठिओ णाम, कोइ भयणाइ उ विसेसो ॥ ९ ॥" इति

तस्माद्द्रव्यार्थिक इति नयो नियमेन शुद्धजातीयः केवलद्रव्यविषयताको नास्ति, न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयः शुद्धजातीयः केवलपर्यायविषयताकोऽस्ति, द्रव्यपर्याययो र्मिथस्सापेक्षयोरेवाभ्युपगमानत्वेनान्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायविषयाभावेन विषयिणोऽप्यभावात्, भजनया त्वनयोर्नययोर्विशेषः पर्यायोपमर्दनेन प्रधानतया द्रव्यग्राहित्वे द्रव्यार्थिकनयः, द्रव्योपमर्दनेन प्रधानतया पर्यायग्राहित्वे पर्यायार्थिकनय इत्येवमनयोर्भेद इति तात्पर्यार्थः।

अक्षरार्थस्त्वेवम्—' तम्हा दव्वट्ठिओत्ति णओ सुद्धजाईओ नत्थि ' तस्मात् परस्परा त्मकद्रव्यपर्याययोरप्रतिभासमानत्वात् द्रव्यार्थिक इति नयः शुद्धजातीयो विशेषविषयक त्वाभावे सति सामान्यविषयताको नास्त्येव, नियमेनेत्यस्याप्यत्रार्थत्वात्, द्रव्यपर्याययो र्मिथो नान्तरीयकत्वात् विषयविनिर्मुक्तोर्मतासामान्यात्मकविषयाभावेन सामान्येतरा विषयताकत्वे सति सामान्यविषयताकद्रव्यार्थिकनयात्मकविषयिणोऽप्यभावात्। " ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ " नाम इति प्रसिद्ध्यर्थः, न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयो नियमेन शुद्धस्वरूपः सामान्यानवभासित्वे सति विशेषावभासी सम्भवति, सामान्यविशेषात्मनोऽन्या-

वृत्तविशेषविषयाभावेन विशेषेतराविषयताकत्वे सति विशेषविषयताकपर्यायार्थिकनयात्मक-विषयिणोऽप्यभावात्, द्रव्यमात्रग्राहकद्रव्यार्थिकनयस्य पर्यायमात्रग्राहकपर्यायार्थिकनयस्य च भावे वा मिथ्यात्वमेव, अन्यथाविषयग्राहित्वात्, यद् यत्र यदपेक्षयाऽस्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यात् । नन्वेवमेकान्तस्याभेदस्य भेदस्य चाभावेन तद्रूप-विषयाभावाद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ न स्तस्तर्हि " तित्थयरवयणसंगह-विसेसपत्थार-मूलवागरणी " इत्यादिद्वितीयगाथोक्तौ नयस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलभेदौ विरुध्येते इत्यत आह–'भयणाइ उ विसेसो' इति भजना–उपसर्जनप्रधानभावावगाहना, द्रव्या-र्थिकनयेन पर्यायस्योपसर्जनभावेन द्रव्यस्य च प्रधानभावेनावगाहना, एवं पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यस्योपसर्जनभावेन पर्यायस्य च प्रधानभावेनावगाहना तया, तुः अवधारणे तयैवानयो-र्नययोर्विशेषो भेदः, स्वेतरनयविषयमप्यपेक्षतयैव स्वस्वविषयग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-नयौ प्रमात्मकाविति स्वविषयेतरविषयमुपसर्जनीकृत्य स्वविषयञ्च प्रधानीकृत्य स्वस्व-विषयावगाहितयैव तयोर्भेद इति भावः । यद्वा भजनायास्तु विवक्षाया एव विशेषः ' इदं द्रव्यम्, अयं पर्यायः ' इत्ययं भेदः, तथा तद्भेदाद् विषयिणोऽपि तथैव भेदः, विवक्षाभेद-कृतविषयभेदप्रयोज्यप्रतिभासभेदेनानयोर्नययोर्भेद इति यावत् । अयमभिप्रायः–सामान्य-विशेषात्मके वस्तुतत्त्वे उपसर्जनीकृतविशेषं यदन्वयिरूप तद्द्रव्यमिति विवक्ष्यते यदा तदा द्रव्यार्थिकनयविषयः, यदा तूपसर्जनीकृतान्वयिरूपं तस्यैव वस्तुनो यदसाधारणं विशेषरूपं तद्विवक्ष्यते तदा पर्यायार्थिकनयविषयभूतं तद्भवतीत्येवं विवक्षाया भेदे तत्कृतविषयभेदेन तद्विषयकविषयिणोऽपि भेद एव ॥ ९ ॥ एवंरूपभजनाकृतमेव भेदं दर्शयितुमाह—

" दव्वट्ठिअवत्तव्वं, अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु अव-त्थुमेव दव्वट्ठिनयस्स ॥ १० ॥ "

द्रव्यार्थिकवक्तव्यं द्रव्यार्थिकनयाऽभिधेयं द्रव्यमवस्तु नियमेन निश्चयेन पर्यायनयस्य मते, एवमेव पर्यायवस्तु पर्यायनयाभ्युपगतं पर्यायाख्यं वस्तु अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयस्य मते। तथा च पर्यायार्थिकनय उत्पाद–व्ययप्रतिभासे प्रामाण्य निश्चिनोति, अत एव तद्विषया-वुत्पादव्ययौ सत्यौ, ध्रौव्यप्रतिभासे त्वप्रामाण्यं, ध्रौव्याभाववति ध्रौव्यप्रकारकत्वा-त्तस्य, तत्राऽप्रामाण्ये च तद्विषयस्यापि ध्रौव्यस्याऽसत्यत्वमेव, न तु तत्प्रतिभासमेव प्रतिक्षिपति, न खलु बाधकसहस्रेणापीदं रजतमिति ज्ञानं नाभूदित्येवं प्रतिक्षिप्यते कैश्चिदपि निष्णातैः, किन्तु रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारकत्वेनाप्रामाण्यमेव निश्चीयते, तद्वत्प्रकृ-तेऽपि, एवं द्रव्यास्तिकोऽपि ध्रौव्यप्रतिभासे प्रामाण्यं निटङ्कयति, अत एव तद्विषयीभूतं ध्रौव्यमेव सत्यम्, उत्पादव्ययप्रतिभासे त्वप्रामाण्यमिति तद्विषयौ तौ न सत्यावित्ययं स्वस्व-विषयपक्षपातोऽयुक्तः, ध्रौव्यनिरपेक्षोत्पादव्यययोरुत्पादव्ययनिरपेक्षध्रौव्यस्य च पूर्वमेव

प्रतिबिम्बत्वेन तद्भावादिप्रतिभासस्य मिथ्यारूपत्वात् । तस्माद्द्रव्यपर्याययोर्भावस्य च परस्परसापेक्षतया गौणप्रधानभावेनोत्पादादिधर्मत्रयावगाहित्वे सत्येव प्रामाण्यस्य च भावादुत्पादादित्रयात्मकत्वेन वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थस्त्वेवम्— 'दव्वट्ठियवत्तव्वं' द्रव्यार्थिकवक्तव्यं द्रव्यार्थिकनयप्रकरणादिविषयोऽभेदः 'अवत्थु' अवस्तु पर्यायनयप्रामाण्योपस्थितिप्रतिनियतद्रव्यार्थिकनयाप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्तावस्तुत्वनिश्चयविषयः, तत्र किं सन्देह इत्यत आह—"नियमेन" इति, नियमेनेत्यर्थः, कस्य मते इत्यत आह— 'पज्जवनयस्स' पर्यायार्थिकनयस्य, एतदभ्यन्तरे मते इति शेषः, तन्मते वस्तुमात्रस्य प्रतिक्षणं भिन्नभिन्नार्थक्रियाकारित्वेनैव सद्रूपतया नियमेन भिन्नभिन्नस्वरूपत्वात् । ननु यथा द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतोऽभेदः पर्यायार्थिकनयेनानभ्युपगतस्तथा पर्यायार्थिकनयाभ्युपगतो भेदो द्रव्यार्थिकनयेनानभ्युपगतः किं वाऽन्यथेत्याशङ्कायामाह तह इत्यादि । 'तथा' तद्वत् 'पज्जवत्थु' पर्यायनयाभ्युपगतभेदात्मकं वस्तु 'अवत्थुमेव' अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयप्रामाण्योपस्थितिप्रतिनियतपर्यायार्थिकनयाऽप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्ताऽवस्तुत्वनिश्चयविषय एव, 'दव्वट्ठियनयस्स' द्रव्यार्थिकनयस्य, एतदभ्यन्तरमपि मत इति पूरणीयम्, तन्मते भेदरूपाणां घटपटादिविकाराणामसत्त्वेन घटः सन् पटः सन्नित्याद्यनुगतप्रतीतिविषयस्याऽभेदस्य सत्त्वस्यैव वस्तुत्वादिति । अतो भवतामन्तरेण पर्यायार्थिकनयेऽभेदस्य द्रव्यार्थिकनये च भेदस्यासद्रूपत्वात् 'इदं द्रव्यमेते च पर्यायाः' इति नास्ति विभाग इति भ्रममेव स कर्तव्यः, द्रव्यपर्याययोः प्रधानोपसर्जनभावापेक्षया समस्तवस्तुव्यवहारप्रवृत्तेः, तथाहि—स्याद्वादिना योऽर्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा विवक्षितो भवति तस्यार्थस्य तेन रूपेण ज्ञानं भवति, यथार्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा वक्तुमिष्टो भवति तस्यार्थस्य तद्रूपत्वप्रतिपादनाऽभिधानं भवति, एतस्याविवक्षाविवक्षाभिधानस्याधारे द्रव्यपर्याययोरेकस्य वस्तुनि समप्राधान्यभावेऽपि प्रधानोपसर्जनभावावलम्बनेन समस्तवस्तुव्यवहारः प्रवर्तते, नैतावता वस्तु द्रव्यमात्रात्मकं पर्यायमात्रात्मकं वा किन्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव, यदाह—

> "सर्वभावासमूहस्य, विश्वस्यानेकधर्मणः ।
> सर्वथा सर्वदा भावात्, कश्चित्किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥ १ ॥" इति ।

अथ भावपदं द्रव्यपर्यायावयवम्, सर्वथा सर्वप्रकारेण द्रव्यपर्यायादिस्वभावेन । एवं सति कुतो न द्रव्यपर्यायोभयरूपेण सर्वस्य व्यवहार इत्यत आह—कश्चिदिति, यदा यस्य वस्तुनो येन रूपेण विवक्षा तदा तेन रूपेण तस्य व्यवहार इत्यर्थः । ननु द्रव्यप्रतिभासोऽपि द्रव्यार्थिकनयेन पर्यायप्रतिभासोऽपि च पर्यायार्थिकनयेनानुभूयत एवेत्यनुभूयमानस्याऽभेदस्य भेदस्य च पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यार्थिकनयेन च प्रतिक्षेपः कथं क्रियते इति चेत्,

नैवम्, न हि कामलकादिदोषप्रभवः शुक्लेऽपि पीतत्वप्रतिभासः केनापि विदुषा प्रतिक्षिप्यते, किन्तु तत्प्रतिभासेऽप्रामाण्यं निश्चीयते बाध्यमानविषयकत्वादिति, तेन भ्रान्तज्ञानेन शुक्ले पीतत्वं न सिद्ध्यति तद्वत् मिथ्यात्वादिदोषबलाद्भिन्नेऽपि जायमानोऽभेदप्रतिभासः पर्यायार्थिकनयेनाऽभिन्नेऽपि जायमानो भेदप्रतिभासो द्रव्यार्थिकनयेनानुभूयमानत्वेन सद्रूपत्वान्न प्रतिक्षिप्यते, स प्रतिभासो नैव जात इति न ख्याप्यते, सतो निषेधाऽयोगात्, किन्तु क्षणिके वस्तुन्यर्थक्रियाकारित्वं घटते, न स्थिरे, तस्य सहकार्यसमवधानदशायामर्थक्रियाकारित्वाभावः तत्समवधानदशायाञ्चार्थक्रियाकारित्वमित्येवं विरुद्धधर्माध्यासात्प्रतिक्षणं भिन्नभिन्नरूपत्वेनैव सिद्धेरिति भिन्ने वस्तुन्यभेदाध्यवसायितयाऽप्रामाण्यं निश्चीयते, तथा च बाध्यमानविषयकत्वान्न स्वविषयव्यवस्थापनसमर्थो भवति, भेदप्रतिभासस्तु बाधकाभावाद्यथार्थ एवेति पर्यायार्थिकनयो विवेचयति, द्रव्यार्थिकनयोऽप्येवमाह—भेदप्रतिभासोऽपि मया न प्रतिक्षिप्यते, किन्तु घटपटादिविकाराणामसद्रूपत्वाद्भेदोऽसन्नेव, अभेदस्तु त्रिकालाऽबाध्यमानानुगतप्रतीतिविषयत्वात्सद्रूप एवेत्यभिन्ने वस्तुनि भेदाध्यवसायितया तत्राप्रामाण्यं निश्चीयत इति बाध्यमानविषयकत्वादप्रमात्मकस्स न स्वविषयसिद्ध्यै प्रभविष्णुः, घटः सन् पटः सन्नित्याद्यभेदप्रतिभासस्तु बाधकाभावाद्यथार्थ एव, एवमन्योऽन्यपक्षाभ्यामन्योऽन्यनयाप्रामाण्ये सति तद्विषययोरपि द्रव्यपर्याययोरसत्त्वापत्त्या तद्व्यतिरिक्तस्य विषयस्याभावेन जगतः शून्यतैवापद्येतेत्यतो द्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितयुक्त्या पर्यायस्यैकान्तत्वमेव बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि पर्यायः, एवं पर्यायार्थिकनययुक्त्या द्रव्यस्यैकान्तत्वं बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि द्रव्यमिति परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययुक्तिभिः परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्बाधाऽभावेन तद्विषययोरपि परस्परमाकाङ्क्षद्रव्यपर्याययोरनेकान्तात्मनोरबाधितत्वात्सत्यत्वमिति तदुभयात्मनो वस्तुनः समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्स्वरूपत्वादभ्युपगमः प्रमाणार्हः । अत एवैकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतो ध्रौव्यलक्षणद्रव्यांशः, एकान्तपर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगत उत्पादव्ययलक्षणपर्यायांशो वा परमार्थतो न च कश्चिदस्ति, परस्परनिरपेक्षैकनयकल्पितत्वात् । यदुक्तम्—

> " नान्वयो भेदरूपत्वा,—न्न भेदोऽन्वयरूपतः ।
> मृद्भेदद्वयसंसर्ग—वृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥ " इति

तथा च पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्यापि द्रव्याख्यस्य पूर्वोत्तरकालीनभिन्नभिन्नव्यक्तिलक्षणविशेषान्वितत्वेन विशेषस्यापि च सामान्यसङ्घटितत्वेन वस्तुनस्सामान्यविशेषोभयात्मकत्वात् परस्परसापेक्षभेदाभेदात्मके जात्यन्तरे वस्तुनि व्यवस्थिते तत्र द्रव्यार्थिकेन पर्यायस्यावस्तुत्ववचनं पर्यायार्थिकेन द्रव्यस्यावस्तुत्ववचनमेकान्तस्वविषयपक्षपातविजृम्भितमेवेति सिद्धमिति भावः ॥ १० ॥

पूर्वोक्तयुक्त्या कथञ्चिद् भेदाभेदात्मके वस्तुनि सिद्धे तत्र भेदलक्षणपर्यायाभयत्वेन पर्यायार्थिकनय उत्पादव्ययावभ्युपगच्छति, अभेदलक्षणद्रव्याश्रयत्वेन द्रव्यार्थिकनयो ध्रौव्यमुररीकरोति यद्यपि नैकान्तरूप युक्तम्, किन्तु परस्परविषयस्वरूपाऽपरित्यागलक्षण मध्यनयेन प्रमाणकोटिमारोह्य इत्याशयेनाह—

"उप्पज्जंति वियंति (चयंति) अ, भावा णियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं, सया अणुप्पण्णमविणट्ठं॥ ११॥"

पर्यायनयस्य मते उत्पादव्ययधर्माक्रान्ताःसर्वे भावाः, स्थिरे वस्तुनि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्याभावेन तल्लक्षणमपानिष्कृत्या वस्तुत्वमेव हीयेतेति तन्मते कस्मिन्नपि वस्तुनि ध्रौव्याऽभावात्। द्रव्यार्थिकनयस्य च मते उत्पादव्यययोः कल्पनिकत्वेन कस्मिन्नपि वस्तुनि परमार्थभूतोत्पादव्ययधर्माभावात् सदा ध्रौव्यैकस्वभावं सर्वं वस्त्विति तात्पर्यार्थः। अक्षरार्थस्त्वेवम्—'उप्पज्जंति' उत्पद्यन्ते प्रागभूता भवन्ति, आत्मत्वेन सद् सम्पद्यन्ते, 'वियंति अ' वि–विशेषेण निरन्वयरूपतया यान्ति च, गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति नाशम्। यद्वा 'चयंति'–भ्रजन्ति, नाशमिति शेषः। एवम्भूताः क इत्यत आह—'भावा' इति भावाः पदार्थाः 'नियमेण' नियमेनावश्यम्भावत्वे, प्रतिक्षणमुत्पादविनाशशालित्वेन क्षणिका एव सर्वे भावाः, एतादृशोऽभ्युपगमः कस्येत्यत आह—'पज्जवणयस्स' पर्यायनयस्य, वस्तुमात्र परमार्थद्वयोरुत्पादविनाशरहितत्वेन स्थिरैकस्वभावमिति द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगममुपदर्शयितुमुत्तरार्धमाह—'दव्वट्ठियस्स द्रव्यार्थिकस्य 'सव्वं' सर्वं वस्तु 'सया' सदा 'अणुप्पण्णमविणट्ठं' अनुत्पन्नं सदविनष्टं, एवम्भूतध्रौव्यैकस्वभावमभ्युपगमः। उक्तैकान्तप्रकरणाऽपि स्वस्वसिद्धान्तपक्षपातानुबद्धकदाग्रहवासनाप्रयुक्तत्वेन मिथ्यैव, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतमात्माकारव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोः ताभ्यां विना ध्रौव्यस्य चाऽप्रतीतेः त्रितयस्य च मिथोऽविनाभूतत्वेनैव प्रतीतेः। अत एव—

'अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले॥ १॥'

इत्युक्तं सङ्गच्छते, न चात्र जलकल्लोला अप्यपरमार्थभूता एवेति न तद्दृष्टान्तेन परमार्थभूतोत्पादव्ययधर्मसिद्धिरिति वाच्यम्, सर्वैरविगानेन तेषामनुभूयमानत्वात् न च तद्गत एवोऽपवादः तेषां प्रतिक्षण भिन्नभिन्नस्वरूपत्वे बाधकाभावात्, विकारात्मकत्वापेक्षाय सत्त्वेन तत्प्रतीतेरप्रामाणिकत्वे प्रकृत्यात्मकत्वविकारप्रतीतेरप्यप्रामाणिकत्वं भवतो नैव यत्नं कमीयेत्, तथा चोत्पादव्ययध्रौव्याणि समुदितान्येव सल्लक्षणम् न तु प्रत्येकम्, एकैकशिर्भिन्नैः वस्तुप्रतीतेरित्यैव प्रकृत्या मत्वा, अत एव "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ५–२९ इति तत्त्वार्थसूत्रं सङ्गच्छते। अथोत्पादव्ययपोत्पादव्ययौ पर्यायरूपत्वेनैकत्वापत्तौ

तौ च ध्रौव्यश्चोत्पादव्ययध्रौव्याणि, तैर्युक्तम्, अत्र युक्तमित्यस्य योगाश्रयो नार्थः, तथा सति घटयुक्तस्य भूतलस्य घटभिन्नत्ववदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्यापि वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्यभिन्नत्वप्राप्तौ तत्त्रितयात्मकत्वमिष्टं व्याहन्येत, किन्तु युक्तं योगः समुदायः, एतदुक्तं भवति–उत्पादादयो नैककाः सत्, किन्तु परस्परापेक्षसमुदाय एवोत्पादादीना सदित्यस्य प्रत्ययस्य ध्वनेर्वा विषयत्वेन सत् । तथा चैकान्तध्रौव्यलक्षणद्रव्यैकान्तोत्पादव्ययलक्षणपर्यायग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयौ मिथ्यानयौ, परमार्थवृत्त्या वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततया द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेनानेकान्तात्मकस्यैकान्तस्वरूपतयाऽवगाहित्वेन भ्रान्तप्रत्ययरूपत्वात् । वस्तुन्युत्पादव्ययमापेक्षध्रौव्यस्य द्रव्यापेक्षया ध्रौव्यमापेक्षोत्पादव्यययोश्च पर्यायापेक्षया सद्भावेन तद्ग्राहिणौ नयौ सम्यग्नयौ, यद्यत्र यदपेक्षयाऽस्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यपरिच्छेदादिति भावनीयम् ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यपर्यायौ नैकान्तभिन्नौ, तथा सति नैकस्य वस्तुन उभयरूपता स्यात् तयोर्भेदाऽभिधानादिति य एव देवदत्तो बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यते इत्येकस्यैव देवदत्तस्य द्रव्यपर्यायरूपेण भेदाभेदावगाहिन्याः प्रत्यभिज्ञाया अपलापस्स्यात्, नाप्येकान्ताभिन्नौ, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो भिन्न, यथा निवर्त्तमानाद् घटादनिवर्त्तमानः पटो भिन्नो दृष्टः, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिरिति तद्द्रव्यं पर्यायतो भिन्नम्, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपवत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृत्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, तथा च नैकान्तपरस्परनिरपेक्षभेदाभेदशालिनौ द्रव्यपर्यायौ, तथा सति भेदाभेदयोः सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परविरोधिनोरेकतरस्यैकान्तैकनयापेक्षया भ्रमात्मकज्ञानविषयत्वादसत्त्वे तदपरस्यापि तद्विरोध्यपरैकान्तनयापेक्षया चाऽयथार्थज्ञानगोचरत्वादसत्त्व स्यादिति तयोरन्योन्यानुस्यूततयैवाभ्युपगन्तव्यत्वेन द्रव्यार्थिकसुनयापेक्षया गुणीभूतभेदप्रधानीभूताभेदात्मकमपि पर्यायार्थिकसुनयापेक्षया गुणीभूताभेदप्रधानीभूतभेदविशिष्टमपि वस्तु प्रमाणार्पणया च प्राधान्येन कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपमेवाभ्युपगन्तव्यम्, अत एव द्रव्यार्थिकनयापेक्षयोत्पादव्ययमापेक्षध्रुवं पर्यायार्थिकनयापेक्षया ध्रौव्यसापेक्षोत्पादविनाशशालि वस्त्वपि उभयनयार्पणया प्राधान्येन परस्परानुविद्धोत्पादादित्रयात्मकमेव, अधिकृतान्यतमाभावे तदितराभावनियमादिति प्रतिपादयितुमाह सूरिः—

"दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥"

द्रव्यं पर्यायवियुक्तं नास्ति, द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति, किन्तु द्रव्यं पर्यायसम्पृक्तमेव, पूर्वोत्तरतत्तत्पर्यायानुगततयैव तत्प्रतीतेः, पर्याया अपि द्रव्यसम्बद्धा एव, अनुगतद्रव्यानुविद्धतयैव तेषां प्रतिपत्तेः, अतो द्रव्यपर्यायौ मिथस्सम्बद्धावेव, परस्परविविक्तयो-

तयोः कदाचिदप्यप्रतिभासनादिति द्रव्यपर्याययोमध्ये एकतरस्याभावे तदितरस्याप्यभाव एवेति तयोर्नियमेन समव्याप्यत्वमेव, अत एव द्रव्यापेक्षया यद्ध्रौव्यं पर्यायापेक्षया यौ स्तादृव्ययात्मकस्य तयोरपि तथात्वमेवेति सदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वमेव द्रव्यलक्षण मुच्यत इति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थस्त्वेवम्—" दव्वं " द्रव्यं पूर्वोत्तरपर्यायानुगामूर्ध्वता सामान्यलक्षणम् 'पज्जवविउय' पर्यायवियुतं पूर्वोत्तरकालीनभिन्नभिन्नपरिकल्पितपर्याय विनिर्मुक्तम्, तस्य 'नत्थि' इत्यनेनान्वयस्तथास्ति, नहि पर्यायनिरपेक्षं द्रव्यं विद्यते, मृद्रूप केवलं, किन्तु पर्यायसहितमेव तत्, मृत्पिण्डे स्थासे कोशे कुसूलादौ मृद्रूपं मृद्द्रव्यमित्येवं कुण्डलाकारे ऊर्ध्वाकारे रत्नाकारादौ च सर्वे सर्वोऽपि सर्वोऽप्यस्ति पयसि दधि घृतादौ गोरसोऽपि गोरसोऽयमित्यनुगतानुभवप्रतीतेः " दव्ववियुत्ता य पज्जवा " द्रव्यवियुक्ताः द्रव्याननुविद्धाः पर्यायाश्चापि, चकारस्यापर्यर्थकत्वात्, 'नत्थि' अत्र वचनविपरिणा मेन न सन्ति, यद्वा 'नत्थि' इत्युभयपदस्य निपातरूपत्वान्नास्ति न सन्तीत्युभयार्थकत्वे नैकवचनान्तेनेव बहुवचनान्तेनाप्यन्वयान्न सन्ति, न विद्यन्ते ये पूर्वोक्ताः केवलाः, किन्तु द्रव्यसापेक्षा एव पर्यायाः, सैव मृत् पिण्डाकारा सैव स्थासस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव कुसूलादिस्वरूपा सैव घटरूपा सैव कपालशकलादिस्वरूपा, स एव सर्पः कुण्डलाकारस्व एवोर्ध्वाकारो रत्नाकारो वा, स एव गोरसो दुग्धरूप स एव दधिघृतादिरूप इत्याद्या काराया अनुगतैकसामान्यानुविद्धविशेषावगाहिन्याः प्रतिपत्तेः, मृद्द्रव्यस्यैव मृत्पिण्डरूपेण स्थासरूपेण कोशरूपेण कुसूलादिरूपेण, सर्पस्यैव कुण्डलाकाररूपेणोर्ध्वाकाररूपेण रत्नाका- काररूपेण, गोरसस्यैव पयोदधिघृतादिरूपेण परिणमनात् मृद्द्रव्यस्यैव मृत्पिण्डादयः सर्पस्यैव कुण्डलादयः गोरसस्यैव दुग्धादयः पर्यायाः, परिणामिपरिणामयोर्द्रव्यपर्याययोः परिणाम परिणामिभावेन सम्बन्धेन कथञ्चिदभेदः, परिणामिद्रव्यस्यैव परिणामस्वरूपपर्यायत्वेन च कथ- ञ्चिद्भेद इति कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नद्रव्यपर्यायात्मकवस्तुनः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतद्रव्यरूपेण यदेव ध्रुवं तदेव पूर्वपर्यायेण विनष्टं मदुत्तरपर्यायेणोत्पन्नमित्युत्पादव्ययध्रौव्याविनाभूतं वस्तित्वमिति प्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—" उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं " इति उत्पादस्थिति- भङ्गास्त्रयस्त्रिता द्रव्यस्य लक्षणं, लक्ष्यतेऽनुमीयते इतरेभ्यो व्यावृत्ततया लक्ष्यत्वेनाभिमतं वस्तु येन, लक्ष्यते स्वस्वाश्रयासाधारणधर्मपुरस्कारेण स्वस्वबोधकपदवाच्यतया व्यवह्रियते लक्ष्यं येन वा तल्लक्षणं, यद्यस्य लक्षणं तदस्येतरभेदज्ञापकं नियतव्यवहारसाधकञ्च, यथा पृथिव्या गन्धवत्त्वं लक्षणं पृथिव्या इतरेभ्यो व्यावृत्ततया ज्ञापकम् तथोत्पादस्थितिभङ्गात्मकलक्षणमपि तत्त्वार्थे तथाप्यायैः परिगृहीतस्य " सद् द्रव्यलक्षणम् " ॥ १ ॥ " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " ॥ २ ॥ इति सूत्रद्वयस्य पर्यालोचनया लक्ष्यलक्षणभावेनैकद्रव्यस्येतरेभ्यो व्यावृत्ततयाऽनु मितिजनकत्वम्, एवं यथा पृथिव्या गन्धवत्त्वं लक्षणं पृथ्वी पृथ्वीत्वेन पृथिवीपदवाच्यतया व्यवहर्तव्येत्येवं नियतव्यवहारसाधकं, तथोत्पादस्थितिभङ्गलक्षणमप्युत्पादादिमत् द्रव्यत्वेन

द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्यमित्येवं नियतव्यवहारसाधकम्, "हंदि" इत्युपदर्शने 'एयं' एतद्दृश्यताम्। लक्षणवाक्यस्येतरभेदज्ञापनरूपप्रयोजनपक्षे द्रव्यत्वावच्छिन्नपक्षके-तरभेदानुमितिस्तु स्वसमये येन रूपेण पर्याये तदितरत्वस्य येन रूपेण हेतौ तदितर-त्वव्यापकाऽभावप्रतियोगित्वस्य च सिद्धिस्तद्रूपावच्छिन्नात्तद्रूपावच्छिन्नेतरभेदाभिप्रायेण बोध्या, तथा च द्रव्यत्वावच्छिन्नमात्मादिवस्तुमात्रं पर्यायत्वावच्छिन्नद्रव्येतरनिष्ठप्रति-योगितानिरूपकभेदवदुत्पादस्थितिभङ्गसमाहारत्वावच्छिन्नात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा वियत्कुसुममिति निष्कर्षः। अत एव हेतौ बाधाऽसिद्धिदोषौ नेति। लक्षणवाक्यस्य नियत-व्यवहाररूपप्रयोजनपक्षे बौद्धदृष्ट्या सन्तन्यमानक्षणिकज्ञानस्वरूपे आत्मनि व्यवहारनयेन द्रव्यत्वं व्यवस्थाप्योत्पादस्थितिभङ्गयुक्तत्वेन द्रव्यपदव्यवहारविषयत्वं, नैयायिकदृष्ट्या ज्ञानाश्रये स्थिरे चात्मनि ऋजुसूत्रनयेन पर्यायरूपत्वं व्यवस्थाप्योक्तलक्षणसम्पत्त्या द्रव्य-पदव्यवहारविषयत्वं नियम्यते, तथा चात्मादिवस्तुमात्रं द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्यं उत्पादस्थितिभङ्गसमाहारवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् यथा वन्ध्यासुत इत्यनुमानं पर्यवस्यति।

ननु मृत्पिण्डस्थासादीनां दुग्धदध्यादीनाञ्चैकान्तेन भेद एवेति तेषामुत्पादव्ययौ युक्तौ, ध्रौव्यन्तु मृत्त्वगोरसत्वसामान्यस्यैव, न तु मृदो गोरसस्य च, एवमात्मशरीरस्यैव बालयुवाद्यवस्थाभेदेनोत्पादव्ययौ, ध्रौव्यं त्वात्मन एवेत्युक्तहेतोः स्वरूपाऽसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, इयमेव मृत् पूर्वकालावच्छिन्नपिण्डभावेन नष्टा उत्तरकालावच्छिन्नस्थासभावेन चोत्पन्नेति, अयमेव गोरसो पूर्वकालावच्छिन्नदुग्धभावेन नष्ट उत्तरकालावच्छिन्नदधिभावेन चोत्पन्न इति, य एव देवदत्तात्मा बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यत इति चानुभवसिद्धत्वादुत्पादस्थितिभङ्गसमाहारहेतोः। अत एव लौकिकबोधोऽपि त्रैलक्षण्याव-गाहित्वाद् वस्तुतः स्याद्वादापेक्ष एवेत्युपदर्शनार्थं—

"तद्धेम कुण्डलतया विगतं यदुच्चै,-रुत्पन्नमङ्गदतयाऽचलितं स्वभावात्।
लोका अपीदमनुभूतिपदं स्पृशन्तो, न त्वां श्रयन्ति यदि तत्तदभाग्य-
सुग्रम् ॥ २८ ॥" इति महावीरस्तवोक्त सङ्गच्छते।

नन्वत्रापि त्रिलक्षण वस्तु तदा स्यात् यदि तत्तदवस्थानुस्यूतं अत एव पूर्वोत्तराखिल-विवर्त्तवर्त्ति द्रव्य स्यात्, तदेव तु नास्ति, यदपि च कुण्डलाङ्गदादौ हेम हेमेत्यनुगतप्रतीति-नियामकं तदपि हेमत्वजात्याख्यमेवेति चेत्, मैवम्, हेमत्वमस्ति हेमाङ्गदे न कुण्डलत्वम्, तदस्ति रजतकुण्डले न च तत्र हेमत्वम्, उभयञ्च हैमकुण्डल इति कुण्डलत्वादिना हेमत्वस्य साङ्कर्यात्तस्य जातिरूपत्वाऽसिद्धेः। अथ हेमत्वव्याप्य कुण्डलत्व भिन्नमेव रजतत्वव्याप्य कुण्ड-लत्वञ्च भिन्नमेवेति तत्सौवर्णकुण्डले राजतकुण्डले च नैकम्, एवमङ्गदत्वादिकमपि ज्ञेयम्। एव

मृत्त्वाद्यपेक्षघटत्वसुवर्णत्वाद्यपेक्षकुण्डलत्वसत्त्वाद्यपेक्षद्रव्यत्वादीनां मेवाद्यर्थादिपदस्य अन्यद मपि नानार्थकमेव। तथा च परस्पराभावसमानाधिकरणयोर्हेमत्वाश्मत्वकुण्डलत्वयोर्न सामानाधिकरण्यम्, हेमत्वसौवर्णकुण्डलत्वयोश्च सौवर्णकुण्डले सामानाधिकरण्येऽपि न परस्पराभावसामानाधिकरण्यमिति न सांकर्यमिति। यद्वा कुण्डलत्वं संस्थानगतजातिरूपमेवेति यौक्तिके यदि कृपाचरापि यत्र हेम्नि व्यक्तौ कुण्डलत्वदशायामप्यभेदग्रहोऽनुद्भवदशायां च कुण्डलभेदग्रहस्तत्र तदेव हेमाङ्गदं तदेव कुण्डलमस्यभेदग्रहो व्यपगमेन विना न कथमप्युपपादयितुं शक्य इति। एतेन तदवस्थानामेवोत्पादविनाशौ न तद्वस्तुन इत्यपारेका निरस्ता, अवस्थातद्वतोः कथञ्चिदभेदात्, तथा च यदेव वस्तु पूर्वाकारतारूपेण विनष्टं तदेवोत्तराकारतारूपेणोत्पन्नं इत्यनुभवान्यथानुपपत्त्या पूर्वपर्यायरूपेण विनाश उत्तरपर्यायरूपेण चोत्पादः पूर्वोत्तरपर्यायानुगामिपूर्वतासामान्यात्मकद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमित्येवमनुवृत्तोत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं द्रव्यस्याभ्युपगन्तव्यम्। ननु समवायसम्बन्धेन द्रव्यत्वजातिमत्त्वात् पृथिव्यादि द्रव्यमेव न तु पर्यायरूपमपि, येन द्रव्यपर्यायापेक्षयोक्तलक्षणसिद्धिः स्यादिति चेत्, नैवम्, द्रव्यत्वजातौ प्रमाणाभावात्, न हि तत्रानुगतप्रतीतिः प्रमाणम्, अतीन्द्रियद्रव्येषु तदसिद्धेः, नाप्यनुगतव्यवहारः प्रमाणम्, लौकिकानां पृथिव्यादिष्वनुगतद्रव्यव्यवहाराभावात्, न च नीलादौ नीलाद्युत्पत्तिवारणाय समवायसम्बन्धेन जन्यभावावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य हेतुत्वं कल्पनीयमिति जन्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, उक्तकार्य-कारणभावे सति कारणतावच्छेदकतया यथा द्रव्यत्वजातिसिद्धिस्तथा कार्यतावच्छेदकतया जन्यभावत्वजातिरपि सिध्येत्, एवं प्रतियोगितासम्बन्धेन नाशं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन जन्यसत्त्वेन कारणत्वस्य ध्वंसस्य ध्वंसाभावनिवारणाय स्वीकरणीयतया तदवच्छेदकतयापि जन्यसत्त्वजातिः सिध्येत्, तथा च तया सह सांकर्यान्न द्रव्यत्वं जातिरिति। ननु जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन न द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य कारणत्वम्, किन्तु समवायकालिकोभयसम्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्नं यत् समवायेन तत्प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन कारणत्वम्, एवं प्रतियोगितासम्बन्धेन भावत्वावच्छिन्नत्वमपि समवायकालिकोभयसम्बन्धेन सत्त्वविशिष्टं यत्तादात्म्यसम्बन्धेन कारणम्, उक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वं कार्यमात्रवृत्त्येवेति कार्यकार्यवृत्तेर्न कार्यतावच्छेदकत्वमित्यस्यापि सम्भवात्, तथा च नोक्तकार्यतावच्छेदकतया कारणतावच्छेदकतया च जन्यसत्त्वजातिसिद्धिः, यथा सांकर्यं स्यादिति चेत्, तर्हि तद्देशोक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्ननिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतानिरूपितं स्वाश्रयगुणकर्मान्यतर-समवायोभयसम्बन्धेन सत्त्वतः तादात्म्यसम्बन्धेन कारणत्वमित्यभ्युपगमेन सामञ्जस्ये द्रव्यत्वजातेरप्यसिद्ध्यापत्तेः। किञ्च समवायसम्बन्धेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रत्युपादानगोचरचिकीर्षाकृतिमत्त्वेनेश्वरस्य बुद्धिचिकीर्षाप्रयत्नानां कारणत्वेनाभ्युपगमनात् नीलादावभावादेर्नीलाद्युत्पत्तिनिवारणं समवायिकारणत्वादिना द्रव्यत्वान्यथासिद्धत्वाच्च कारणता

वच्छेदकविधया द्रव्यत्वस्य जातित्वसिद्धिः। तथा च सिद्धमेतन्न द्रव्यत्वजातिमत्त्वाद्द्रव्यमिति, न वा समवायिकारणत्वाद् द्रव्यमित्यपि युक्तं। किन्तु

"व्यक्ताव्यक्तात्मरूपं यत्, पौर्वापर्येण वर्त्तते।
कालत्रयेऽपि तद् द्रव्य-मुपादानमिति स्मृतम्॥ १॥"

इति श्लोकोक्तलक्षणोपादानापरमङ्गकपरिणामिकारणत्वाद्द्रव्यम्, एवञ्च पृथिव्यादि यत्पौद्गलिकमात्मादि च यदपौद्गलिकं तत्सर्वं परिणामिकारणतया यथा द्रव्यं तथा परिणामरूपतत्तत्कार्यापन्नतया पर्यायात्मकमपि, परिणामिलक्षणेनैवोभयकोडीकरणात्, द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वादेव पूर्वापरपर्यायानुस्यूतद्रव्यरूपेण यदेव ध्रुवं तदेव पूर्वपर्यायेण व्येति उत्तरपर्यायेण चोत्पद्यत इत्युत्पादव्ययध्रौव्यानुगतमेव द्रव्यं वदन्ति समयविदः। उक्तञ्च खण्डखाद्ये—

"न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्,
पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात्।
उत्पत्तिनाशनियतस्थिरतानुवर्त्ति,
द्रव्यं वदन्ति भवदुक्तिविदो न जात्या। ६२॥" इति।

तथाऽनभ्युपगमे तु तथाविधविशिष्टसामग्रीसमवधाने विस्रसातः पृथिव्यादि स्वस्वरूपतया विनश्य जलादिरूपेण नैव परिणतिं प्राप्नुयात्। ननु जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता पृथिवीत्वावच्छिन्नैव कारणता, जन्यजलत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता जलत्वावच्छिन्नैव कारणतेत्येवं जन्यपृथिवीत्वेन पृथिवीत्वेन जन्यजलत्वेन जलत्वेन च नियतकार्यकारणभावतः परिणामवादाभावात् पृथिव्यादि जलादिरूपेण नैव परिणतिमेतीति चेत्, न, यतो नैव पार्थिवपरमाणवो भिन्नजातीयाः, भिन्नजातीयाश्च जलादिपरमाणव इति न्यायप्रक्रिया युक्ता, सर्वेषां परमाणूनां पुद्गलत्वेन सजातीयत्वात्, अत एव सर्वेषां परमाणूनामेकजातीयत्वेन सर्वरूपेण परिणमनं सम्भवति। यद्वा पृथिव्यप्तेजोवायवः पुद्गलद्रव्य पर्यायाः स्पर्शादिमत्त्वात्। ये तु न तत्पर्याया न ते स्पर्शादिमन्तः, यथाऽऽकाशादयः, स्पर्शादिमन्तश्च पृथिव्यादयस्तस्मात्पुद्गलद्रव्यपर्याया इत्युक्तानुमानेन पृथिव्यादीनां पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वे सिद्धे विस्रसादितत्तत्सामग्रीसद्भावे पृथिव्यादीनां जलादिरूपेण परिणमनं नासम्भवि। न चोक्तानुमाने पयसि गन्धस्य तेजसि गन्धरसयोर्वायौ गन्धरसरूपाणामभावेन पक्षैकदेशाऽसिद्धिरिति वाच्यम्, पयो गन्धवत् तेजो गन्धरसवत् वायुर्गन्धरसरूपवान् स्पर्शवत्त्वात् पृथिवीवदित्यनुमानतस्तत्र तत्सत्त्वसिद्धेः, नन्वेव तर्हि जलादौ गन्धादिकं प्रत्यक्षगोचरं कथं न भवतीति चेत्, उच्यते—शातकुम्भे उष्णस्पर्शस्येव चक्षुषि रूपस्पर्शयोरिव वा पयसि गन्धस्य तेजसि गन्धरसयोः समीरे गन्धरसरूपाणामनुद्भूतत्वेन घ्राणरसनाचक्षुरिन्द्रियग्राह्यपरिणत्यभावात्। अत एव पयो गन्धवदित्याद्यनुमाने न प्रत्यक्षबाधः, अनुद्भूतस्वभावे

द्रव्यपरिणामे च वस्तुनि विधिप्रतिषेधयोः प्रत्यक्षस्य मूकत्वेन पक्षपाताऽनुपपत्तेः, अन्यथा छायातक्रमीचोष्णस्पर्शभाजनेऽपि रूप न तत्प्रसङ्गः, नाप्यागमबाधा, " स्पर्शरस गन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः " । ५-२३ । इति तत्समर्थकस्यागमस्य सद्भावात् । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यास्यागमस्याऽप्रामाण्यम्, गौतमीयागमस्यापि तथात्वप्रसक्तेः, विनिग मकाभावात्, अत एव पृथिव्या गन्धवत्त्वं जलस्य शीतस्पर्शवत्त्वं तेजस उष्णस्पर्शवत्त्वं वायोरविजातीयानुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वं लक्षणमिति पृथिव्यादिचतुर्णां विभिन्नलक्षणानि निरस्तान्यवसेयानि, क्षित्यादि चतुर्णामपि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मनैक्येन तत्र रूपादि चतुष्टयसद्भावेनातिव्याप्तिदोषदुष्टत्वेनोक्तविविक्तलक्षणाऽसङ्गतेः, उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे " एकान्तेन विविक्तं यत्, क्षित्यादेर्नास्ति लक्षणम् ॥ "

" क्षित्यादीनि हि सर्वाणि, द्रव्याणि द्रव्यतात्मना ।
एकेन परिणामेन, तादात्म्येनावतस्थिरे ॥ १ ॥
तथाभूतान्यपीमानि, समस्तान्यपि सर्वथा ।
व्यावृत्तलक्षणानीति, को ब्रूयाज्जडतः परः ? ॥ २ ॥

" पृथिवीपयःपावकमारुतानां, द्रव्यत्वमप्यत्र पुरश्चतुर्णाम् ।
आपेदुषां पौद्गलिकत्वमेकं, कामं पृथग्लक्षणता कथं स्यात्? ॥३॥" इति ।

अथ पृथिव्यादीनां चतुर्णामपि पुद्गलपर्यायत्वेनाऽभिन्नलक्षणत्वे पृथिव्यामिव जलादिष्वपि गन्धादीनामुद्भूतत्वेन भवेत्, अन्यथा तु सर्वथा भिन्नलक्षणत्वमेवैषामिति चेत्, न, नायनेन तेजसा व्यभिचारात्, न ह्यनभिव्यक्तभास्वररूपोष्णस्पर्शं नायनं तेजोऽभिव्यक्तभास्वररूपोष्णस्पर्शात् पावकाद्भिन्नलक्षणं भवतां प्रसिद्धम्, द्रव्यभङ्ग्याप्याभावप्रसङ्गात् । एवं पृथिव्यादेरप्यभिव्यक्तानभिव्यक्तगन्धादियोगेऽपि नान्योऽन्यमत्यन्तभिन्नलक्षणत्वम् । अथा त्यन्तभिन्नलक्षणाभावे पृथिवीत्वादिप्रतिनियतजातिमत्त्वमप्येषां कुतस्त्यम्, एकान्तेन भिन्नलक्षणत्वाभावे हि यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वजातिमत्त्वं तथाऽप्तेजोवायुष्वप्येवं स्यादिति चेत्, तदप्यसङ्गतमेव, अवान्तरजातियोगस्य सर्वथा लक्षणभेदाऽप्रमापकत्वात्, व्यक्तिभेदमेव ह्यसौ प्रज्ञापयति । अन्यथा क्षत्रियत्वाद्यवान्तरजातियोगाद्ब्राह्मणादीनामप्यैकान्तिकं न स्यादेकलक्षणत्वमिति । तदेवं पृथिवीजलादीनां पुद्गलद्रव्यत्वेन रूपेणैकजातीयत्वे सिद्धे परमाणवोऽप्येकजातीया एवेति सिद्धम् । एते जलादिपरमाणवः पार्थिवपरमाणव इति प्रयोगस्तु परमाणूनां तदामी पार्थिवकार्यैकरूपेण परिणमनात्, न तु पृथिवीत्वजातियोगात्, अत एव तेषामेव जलकार्यतया परिणतिकाले जलपरमाणव एते इति व्यवहृतिर्व्यपदिश्यते, तेन "आदीपमाव्योमसमस्वभावम्" इत्यादिश्लोकव्याख्यायां स्याद्वादमञ्जरीव्याख्यायां " प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा ज्योतिःपर्याय

परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्ते" इत्याद्युक्तं सङ्गच्छते। जलादिपरमाणोरपि शक्तिविशेषेण पार्थिवारम्भस्य बहुलमुपलम्भादित्यष्टमहस्र्यामुक्तेर्जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नम्प्रति पृथिवीत्वादिना हेतुत्वमपि न युक्तम्, किन्तु तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वजलत्वादिना हेतुत्वं वाच्यम्।

"भेदे हि द्व्यणुकादीनां जायन्ते परमाणवः।
अणूनां संहतौ यद्वज्जायन्ते द्व्यणुकादयः॥ १॥"

इति स्याद्वादरत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाष्टमसूत्रवृत्तिवचनात् संयोगजातोत्पत्तिस्थल इव विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्तेः स्वीकारादित्यन्यसामग्रीसद्भावे विस्रमातोऽन्यरूपेणोत्पत्तिसम्भवात्, एतेन पृथिवीत्वस्य परमाणौ सत्त्वं, न च तत्र कार्यतेति कार्यतातिप्रसक्तत्वेन तस्य न कार्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु जन्यपृथिवीत्वस्यैवेति न तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वेन कार्यत्वं युक्तम्, किन्तु समवायसम्बन्धेन जन्य पृथिवीत्वेनैवेत्यारेकाऽपि निरस्ता यदि कारणं कार्यं ततः को दोषः, दृश्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणं द्व्यणुकादेः, मृत्पिण्डशिवकादेः कार्यमपि, तद्भेदजत्वादिति द्वादशारनयचक्रे प्रथमविव्वरे प्रोक्तत्वात्, मृत्पिण्डशिवकादिलक्षणस्कन्धात् द्व्यणुकादिमहावयविपर्यन्तस्कन्धाद्वा पृथग्भावे सति परमाणोस्तद्भेदजत्वात्तत्र कार्यत्वस्याप्यभ्युपगमेन पृथिवीत्वस्य कार्यत्वाऽन्यूनानतिप्रसक्तत्वेन तद्रूपेण कार्यत्वस्यैव प्रामाणिकत्वात्, इदमस्माद्विभक्ततयोत्पन्नमिति प्रतीतेर्विभागजातोत्पादस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्, अवयवसंयोगपूर्विकैव कार्यद्रव्योत्पत्तिरिति नैयायिकादिप्रवादस्य निर्युक्तिकत्वात्, कुम्भादौ स्कन्धभेदे कपालकलापादिभवनस्यानुभवसिद्धत्वात्। न हि तत्रावयवक्रियादिस्तवद्गदिता प्रक्रिया सूक्ष्ममक्षूणमीक्षमाणेनापि मांसचक्षुषा लक्ष्यते, वेगवन्मुद्गरसम्पर्कसमनन्तर कपालमालाया एव विलोकनात्। तदनुसारेण च परमाणुष्वपि स्कन्धभेद एव कारणमकथि। व्यवहारनयार्पणेन च स्कन्धभेदः कारणमभाणि निश्चयनयार्पणेन तु य एव स्कन्धविभागः स एव परमाणवः। अथ यद्यणवो जायन्ते तदा यत्कार्यद्रव्यं तत्स्वपरिमाणादल्पपरिमाणैः कारणैरारब्धं घटवदिति व्याप्तिसिद्धेर्विवादास्पदीभूतपरमाणूनामल्पपरिमाणैः कारणैर्भवितव्यम्, तेषामप्यपरैस्तैरित्यनवस्थानात्परमाणूनामभाव एव भवेदिति चेत्, नैतद्वाच्यम्, व्याप्तेरसिद्धेः। श्लथावयवकर्पासपिण्डानां संघाताद् घनावयवपिण्डेन सूक्ष्मेण संजायमानेन व्यभिचारात्। न चैवं तर्हि परमाणोर्नित्यत्वक्षतिस्स्यादिति वाच्यम्, विभक्तावस्थारूपेणोत्पन्नेऽपि तस्मिन् परमाणुभावेन नित्यत्वस्याप्यक्षतेः। तद्भावस्य कदाप्यपरित्यागात्। अथ भवतु पृथिवीत्वस्य पूर्वोक्तनीत्या कार्यतावच्छेदकत्व, न च तथापि पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च कारणतावच्छेदकत्व सम्भवति, पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च कारणताऽनतिप्रसक्तत्वेऽपि कारणतासमानाधिकरण-

भेदप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वलक्षणकारणतान्यूनवृत्तित्वस्य तत्र सत्त्वात्, कारणताविचारे जले वृत्तिर्यः पृथिवीत्वापेक्ष्याकारको भेदः पृथिव्यां च वृत्तिर्यो जलत्वापेक्ष्याकारको भेद- स्तत्प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य पृथिवीत्वस्य जलत्वस्य चेति चेद्, मैवम्, पृथिवीजलादीनां प्रक्रियमत्वेनैव शक्तिसमवायगमनत्वस्य तदभिव्यञ्जकविषया पृथिवीत्वे जलत्वादौ चावच्छेद- कत्वस्य स्वीकारे उक्तदोषाभावात्, अनन्तशक्तिसमवायकारणतापेक्षया पृथिवीत्वस्य जलत्वा- देश्च न्यूनवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, सत्त्वकारणतायां अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व- मिति नियमादित्युक्तं प्रागेव, "उरसाइमणगेयं, एगमिणो सपर पुगमिव मवसम्। जणिय कालि म पुढो, दग्गे सुहुमो मगमयरा ॥ १ ॥" इति पारमर्षवचनात् "एव स्पा- स्पर्शवतः स्यात्स्पर्शवतो घटादिरित्यादिकाऽपि सप्तभङ्गी वक्तव्या, यतो य एव पार्थिवाः परमाणवो घटस्य एव विस्रसादिपरिणतिपवनजलानिलानलवनस्पत्यादिरूपतामारभमाणाः न्त्यासर्वमयो घट इत्यादिसप्तभङ्गविषयतां यथोक्तन्यायात् कथं नाधारयन्ति" इत्येवं "सर्व- मिच्छामृषमनमृहमयस्य" इत्यादिभाष्यवृत्तीकावचनात् "यावयोनिकत्वादव्ययस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तस्यार्थमूर्तं जलमपि संमूर्च्छते" इत्यादिसूत्रकृताङ्गद्वितीयश्रुतस्कन्धतृतीयाध्ययनसटीकवचनाच्च पुद्गलानामेकजातीयत्वे सिद्धे तेषां पृथिव्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यादिरूपेण विपरिवर्तमानपरिणतित्वभावतया अन्य- द्रव्यमात्रस्यैकजातीयपुद्गलकार्यत्वेन अन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन परि- णामिपुद्गलद्रव्यस्य कारणत्वं, यद्वा पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन पुद्गल- द्रव्यस्य कारणत्वमित्येव सामान्यकार्यकारणभावो ज्ञेय, सखण्डकारणत्वस्यैवाप्रमेयत्वा- पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नं प्रति पुद्गलत्वेनैव कारणत्वमभ्युपगमनीयमिति न कोऽपि दोषः। एत- च्चाग्रे विवेचयिष्यते तथा च वस्तुमात्रस्य परिणामपरिणामिभावाद्द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेन तदपृथग्भूतोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततया द्रव्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्। अत एव तत्र द्रव्यत्वबुद्धिरपि परकल्पितानेकान्तविशदद्रव्यत्वजातिद्रव्यत्वव्याप्यजात्यादिना न, किन्तूत्पादव्ययध्रौव्यैस्तादृ- शैरेव, उक्तञ्च श्रीमहोपाध्यायश्रीयशोविजयैर्महावीरस्तवप्रकरणे "नाशोत्पत्तिस्थितिभिरथ समाहृताभिर्द्रव्यत्वबुद्धिरिति सम्यगर्थरहस्यम्।" इति। द्रव्यत्वविषयकप्रत्यक्षबुद्धिकारण- त्वमपि मात्सादृश्येन व्ययत्वेन ध्रौव्यत्वेन प्रत्येकरूपेण प्रत्येकपर्याप्तम्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेण तत्त्रितयपर्याप्तमेव, अत एव द्रव्यपदजन्यद्रव्यार्थं प्रत्ययमुत्पादवति द्रव्यपदं शक्तं, नाशवति द्रव्यपदं शक्तं ध्रौव्यवति द्रव्यपदं प्रत्येकमित्येवं प्रत्येकधर्मावच्छिन्न शक्तिग्रहस्य हरिपदजन्यं विष्णुबोधं प्रति विष्णुत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य सिंहबोधं प्रति सिंहत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य कप्यादिबोधं प्रति कपित्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्येव पृथक्कारणत्वं च, येन द्रव्यपदस्य हर्यादिपदवच्छक्तिग्रहमनानार्थकत्वं स्यात्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेणैकीकृतो- त्पादव्ययध्रौव्यरूपसमुदितत्रितयधर्मावच्छिन्ने द्रव्यपदं शक्तमित्येवमेकत्वेन शक्तिग्रहस्य

कारणत्वमिति शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्यैक्याद्द्रव्यपदमेकार्थकमेव, यथा पशुपदस्य लोमवल्लाङ्गूलवति शक्तस्य लोमवल्लाङ्गूलस्य शक्यतावच्छेदकस्य नानात्वेऽपि साक्षाच्छक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य लाङ्गूलत्वस्य परम्परया शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य च लोमत्वस्यैक्यान्न नानार्थकत्वं तथा प्रकृतेऽपीति, नन्वेवं तर्हि "पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसात् पुष्पदन्तपदं चन्द्रत्वावच्छिन्नं सूर्यत्वावच्छिन्नं च बोधयत्वित्याकारिकाया एकस्या एव चन्द्रत्वसूर्यत्वधर्मद्वयावच्छिन्ने शक्तेस्सद्भावेन नित्यं द्विवचनान्तं तद्वद् द्रव्यपदमप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्रितयधर्मावच्छिन्नं बोधयत्वित्याकारिकाया स्समुदितोत्पादादित्रितयधर्मावच्छिन्ने एकशक्तेस्सद्भावेन नित्यं बहुवचनान्तमेव स्यादिति चेत्, न, 'आपः स्त्री भूम्नि' 'पुं भूम्नि दाराः' इत्याद्यनुशासनसिद्धबहुवचनान्त-आपो-दारा इत्यादिवद् द्रव्यपदस्य नियतबहुवचनताया अननुशासनात् । यस्य यस्य शब्दस्य यो यस्स्वभावस्स स न कदापि तं तं स्वभावं परिजहातीति व्याप्तेर्यथाऽब्दारादिशब्दस्य बहुवचनान्तत्वस्वभावस्तथा प्रकृतस्य द्रव्यपदस्यैकवचनान्तत्वस्वभावः, स्वस्वभावातिक्रमणे तु निस्स्वभावापत्त्या वस्तुत्वमेव परित्यक्तं स्यादिति भावः । अथ शब्दस्वाभाव्याद्द्रव्यपदोत्तर बहुवचनं मास्तु, अर्थस्वाभाव्यात्तु तत्स्यादेवेत्यपि न च युक्तम्, यतो बहुवचनेन स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यमेव धर्मिगतं बहुत्व बोध्यते, अन्यथैकस्मिन्नपि घटे घटपटकटाहगतं बहुत्वमादाय घटा इति प्रयोगापत्तेः, न चात्रैकस्मिन् द्रव्ये उत्पादव्ययध्रौव्यव्याप्यं बहुत्वमस्तीति न द्रव्यपदस्य बहुवचनान्ततेति । अथ स्यादिप्रत्ययप्रकृतिपदवाच्यतावच्छेदकव्याप्यं धर्मिगतं बहुत्वं यत्र तत्रैव बहुवचनमित्यभ्युपगमे घटपटकटाहगतं बहुत्वमादाय घटपटकटाहा इति प्रयोगोऽपि न स्यात्, यतोऽत्र घटत्वपटत्वकटाहत्वैतत्त्रितयधर्मावच्छिन्नमुद्दिश्यैव बहुत्वं विधीयत इति तस्य बहुत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्याभाववति पटे कटाहे च पटत्वस्याभाववति घटे कटाहे च कटाहत्वस्याभाववति घटे पटे च सत्त्वेन तद्व्याप्यत्वाभावात्, एवमाकाशघटाविति प्रयोगोऽपि न स्यात्, आकाशत्वघटत्वव्याप्याकाशघटगतद्वित्वाभावादित्युक्तदोषनिवृत्तये यत्रैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं तत्रैवोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं बहुत्वं बहुवचनेन बोध्यते, द्विवचनेन चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं द्वित्वं बोध्यते, अत एवाकाशा आकाशाविति न प्रयोगौ, आकाशत्वव्याप्यस्य बहुत्वस्य द्वित्वस्य चाभावात्, आकाशे एकत्वस्यैव सत्त्वात्, यत्र च नानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्व तत्र केवलमेव बहुत्वं बहुवचनेन द्वित्वञ्च द्विवचनेन बोध्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्, अत एव घटपटाकाशा घटाकाशाविति प्रयोगयोरपि प्रामाण्यमुपपद्यते। तथा च द्रव्यपदस्थले उत्पादव्ययध्रौव्याणामुद्देश्यतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपगताना नानाधर्मत्वेन केवलस्य बहुत्वस्यैव भानं स्यादिति पूर्वोक्तं न युक्तमिति चेत्, मैवम्, समनियतनानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वस्थलेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यबहुत्वस्यापि बहुवचनेन भानाभ्युपगमात्, तथा चोत्पादादित्रयाणां

समनियतनानाधर्मत्वेन तद्व्याप्यबहुत्वस्य धर्मिगतस्याभावाच्च बहुवचनापत्तिः, यद्धोद्देश्यतावच्छेदकीभूतोत्पादादित्रयाणामपि समुदायत्वेन रूपेणैकत्वेन विवक्षणात्तद्व्याप्यैकधर्मस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वमिति तद्व्याप्यधर्मिगतबहुत्वस्याभावाच्च द्रव्यपदोत्तरबहुवचनापत्तिः। एवं पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चन्द्रत्वस्य सूर्यत्वस्य न चन्द्रत्वत्वेन सूर्यत्वत्वेन च रूपेण द्वित्वोद्देश्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपसामान्यधर्मेणेति तद्रूपेण चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरपि एकत्वेनैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वादुद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वमानमुपपद्यत एव, पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणोद्देश्यतावच्छेदकीभूतस्य चन्द्रत्वस्याभावाच्च सूर्यः, सूर्यत्वस्याभावाच्च न चन्द्रः, किन्त्वन्य एव तत्प्रवृत्तित्वेन द्वित्वस्य चन्द्रत्वसूर्यत्वव्याप्यत्वसद्भावादिति। एतदाशयेनैवोपाध्यायैरप्युक्तं स्यादयत्नरहस्ये—

"भावोऽभवत्यभवतीति क्रमशो न धात्वो, द्रव्यत्वमित्यतविह नो पृथगर्थतामुत्। धात्वर्थस्वभावमियमाद्वचनेन भेदा, स्वव्याप्यधर्मिगबहुत्वनिराकृतेश्च ॥९५॥" इति

विशेषार्थिनाऽस्मत्कृतश्रीमहावीरस्तवकल्पलतिकाटीकाऽवलोकनीयेति। यद्येवं द्रव्यार्थिकनयाभिमतं द्रव्यं पर्यायाक्रान्तमेव, न तु तद्विकलम्, पर्यायार्थिकनयाभिमताः पर्याया अपि द्रव्यमनुगता एव न तद्वियुक्ताः, परस्परनिरपेक्षयोस्तयोः क्वापिदप्यप्रतिभासना- दिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एत उत्पादस्थितिभङ्गाः परस्परनिरपेक्षाः, यद्वोत्पादव्ययाविति ध्रौव्यमिति च न द्रव्यलक्षणं किन्तु समुदितोत्पादस्थितिभङ्गाः परस्परानुस्यूता एव द्रव्यलक्षणम्, एकैकस्य निर्मोकेण द्रव्याऽप्रतीतेरिति प्रत्येकलक्षणवादिनौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयौ मिथ्यादृष्टी, इत्येतत्प्रदर्शनायाह—

"एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हंपि।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥"

'एए' एते उत्पादस्थितिभङ्गाः 'संगहओ' संग्रहतः मिथःकोडीकृता इव परस्परनापेक्षभावतः परस्परसम्बन्धोपादाननैव मतो लक्षणम्। 'पाडिक्कं' प्रत्येकं मिथोऽपेक्षारहितत्वेन एकैकं उत्पादादयो 'दुवेण्हंपि' द्वयोरपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनययोरेतदनन्तरमभिमता इति शेषः 'अलक्खणम्' अलक्षणम्, एकान्तद्रव्यास्तिकनयाभ्युपगतमेकान्तध्रौव्यमिति एकान्तपर्यायास्तिकनयास्तिकनयाभ्युपगतावेकान्तोत्पादव्ययौ च प्रत्यक्षप्रतिपन्नस्य द्रव्यस्य न लक्षणम्, उत्पादव्ययव्यतिरेकेण ध्रौव्यस्य ध्रौव्यव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोरप्रतीतेः उत्पादव्ययाविनाभूततया ध्रौव्यस्य ध्रौव्याविनाभूततयैव चोत्पादव्यययोः प्रतीतेः, 'तम्हा' तस्मात्, 'पत्तेयं दो वि मूलणया मिच्छदिट्ठी' प्रत्येकं द्वावपि मिथोऽनपेक्षौ प्रत्येकलक्षणवादिनौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयौ समस्तनयराशिकारणभूतौ मिथ्यादृष्टी इति भावः ॥ १३ ॥

स्यादेतत् भवत्वेकान्तपर्यायार्थिकनयप्रदर्शितयुक्तिभिर्ध्रौव्यस्याव्यवस्थितेर्ध्रौव्याभाववति ध्रौव्यग्राहित्वेनैकान्तद्रव्यार्थिकनयस्य एकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितयुक्तिभिरुत्पादव्यययोरसिद्धेस्तदभाववति तद्ग्राहित्वेनैकान्तपर्यायार्थिकनयस्य च मिथ्यात्वम्, तयोस्सुन्दोपसुन्दन्यायेनेतरेतरविषयप्रतिक्षेपकत्वेन स्वविषयाऽसत्यत्वात् समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकद्रव्यलक्षणाग्राहकत्वाच्च, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयारब्धत्वेन तद्विषयविषयकस्त्वेको नय उभयवादात्मकस्सम्यग्दृष्टिर्भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—

ण य तइओ अत्थि णओ, ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता, विभज्जमाणा अणेगंतो ॥ १४ ॥

'ण य तइओ अत्थि णओ' न चोभयवादात्मकस्तृतीयोऽस्ति नयः कश्चिद्, यतस्तस्य द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यपर्यायान्यतरैकरूपतया ग्राहित्वे एकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयान्यतररूपत्वं स्यात्, प्रधानीभूतपरस्परसापेक्षोभयरूपतया ग्राहित्वे च नयात्मकत्वानुपपत्तेः प्रमाणात्मकत्वं स्यात्, प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयावगाहिज्ञानस्य प्रमाणरूपत्वात् । उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—"प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यमिति" तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकेऽप्युक्तम्—प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्णद्धि वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ १ ॥ इति । एतदेवाह—"ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं" द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत इति न्यायात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थावगतेरपरित्यक्तेतररूपाध्यवसायलक्षणान्योऽन्यनिश्रितत्वेन तयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः प्रतिपूर्णं सम्यक्त्वं न चास्तीति न, किन्त्वस्त्येव, अनेकान्तात्मनोर्द्रव्यपर्याययोः परस्परसापेक्षभावेन ग्राहितया यथाऽवस्थितप्रत्ययरूपत्वात्तयोः, तथा च तादृशौ तौ नयौ सम्यक्प्रत्ययरूपावेवेति भावः । मिथो निरपेक्षभावेन द्रव्यपर्यायग्राहिणोस्तु तयोर्न च सम्यक्प्रत्ययरूपत्वमित्यत्र हेतुमाह—'जेण दुवे एगन्ता' येन द्वावपि नयौ परस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायग्राहिणौ एकान्तौ एकान्तनयरूपौ मिथ्यारूपाविति यावत् 'विभज्जमाणा अणेगंतो' वि–विशेषेण परस्पराऽत्यागरूपेण भज्यमानौ द्रव्यपर्यायावगाहिनावनेकान्तः, अर्थात् प्रमाणसञ्ज्ञां दधाते, नयस्येतरांशौदासीन्येनानन्तांशात्मकवस्त्वेकांशपरिच्छेदरूपत्वेन प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयावगाहिज्ञानस्य प्रमाणशब्दवाच्यत्वात्, यद्वाऽशेषं हि प्रामाण्यं सापेक्षं गृह्यमाणयोरनयोरेवं विषययोर्व्यवस्थितम् । "जेण दुवे एगंता" येन द्वावपि द्रव्यपर्यायौ परस्परनिरपेक्षतयैकान्तौ एकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिबन्धनम्, भ्रान्तबुद्धिकारणमिति यावत्, 'विभज्जमाणा' विभज्यमानौ वि–विशेषेण परस्परात्यागरूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणौ तौ 'अणेगंतो' अनेकान्तः, परस्पराजहद्वृत्त्या द्रव्यपर्यायोभयात्मकस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वादित्येतयो-

सम्यक्त्वहेतुत्वम्, तयोर्विषयविषया प्रमाणकारणत्वात्तदुभयावगाहिज्ञानं प्रमाणं भवतीति भावः। तथा च यो नयोपयोगस्तदर्थे इतरनयार्थसंयोजनायां व्याप्रियते तस्य तावत्ताऽपेक्षया सम्यग्दृष्टित्वस्य केवलस्वार्थमात्रावगाहनप्रवृत्तस्य नयस्य स्वेतरनयविषयसंयोजनाव्यापारवैकल्येन मिथ्यादृष्टित्वस्य च सम्प्रदायसिद्धत्वात्, तस्मादितरनयविषयसंयोजनाव्यापारेण मुख्यगौणतया स्वपरार्थग्राहिणामवान्तरनयभेदानां सम्यग्दृष्टित्वं युज्यते, न तु स्वतन्त्र कस्यचिदोभयविषयग्राहिणां नैगमभेदानामिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १४ ॥

यथेतरनयविषयनिरपेक्षस्वविषयग्राहिणोर्मूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वं तथा स्वान्यनयविषयनिरपेक्षविषयग्राहिणां मूलनयार्थप्रज्ञापनामात्रव्यापृतानां तदाश्रितार्थाधिगममात्रेण भेदमापन्नानामुत्तरनयानामपि मिथ्यात्वमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

" जह एए तह अण्णे, पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं, पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥"

' जह एए ' यथैतौ मूलभूतौ पर्यायनिरपेक्षद्रव्यग्राहिद्रव्यार्थिकनयद्रव्यनिरपेक्षपर्यायग्राहिपर्यायार्थिकनयौ मिथ्यादृष्टी 'तह' तथा 'पत्तेयं' प्रत्येकम्-इतरानपेक्षकेवलस्वप्रातिस्विकरूपाः 'अण्णे सव्वे णया दुण्णया' अन्येऽपि सर्वे नया दुर्नयाः, परस्परनिरपेक्षविषयग्राहित्वस्य मिथ्यात्वनिबन्धनस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। अन्यथैव मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावितरेतरविषयप्रतिक्षेपकत्वेन गौणप्रधानभावेन समुदितद्रव्यलक्षणाऽग्राहितया भवतां मिथ्यादृष्टी, अवान्तरभेदरूपनयास्तु तद्वैपरीत्येन मूलभूतनयद्वयगतमिथ्यात्वपर्यवसितापि विषयत्वात्सम्यग्दृष्टयो भवेयुरित्याशङ्कायां तन्निषेधे हेतुप्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—हंदीत्यादि। " हंदि " इत्येवं गृह्यताम्, ' हु ' इत्यव्ययं हेतौ ' मूलणयाणं ' मूलनययोः मूलनयविषयायोरेव तत्तद्धिमर्तावविशिष्टयोः 'पण्णवणे' प्रज्ञापने प्ररूपणे ' वावडा ते वि ' व्यापृतास्तेऽपि, यद्विषयकौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टी तद्विषयप्रज्ञापनामात्रव्यापृतास्तद्वस्तुविशिष्टार्थाधिगममात्रेण भेदमापन्नोऽवान्तरनया अपि मिथ्यादृष्टय एव। तथा च मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराऽभावात् सर्वनयवादानां मूलनयद्वयविषययोः सामान्यविशेषयोरन्यतरस्यैव किञ्चित्प्रकारविशिष्टतया प्ररूपकत्वाच्च तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भाव इति ॥ १५ ॥

ननु सङ्ग्रहादिनयसद्भावात्कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावो नेति वक्तव्योऽयं इति चेत्, सत्यम्, सन्ति सङ्ग्रहादयः, किन्तु नैगमनयवादस्य स्वतन्त्रकल्पितसामान्यविशेषोभयविषयकत्वेन शुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च सत्तारूपपरसामान्यविषयकत्वेनाशुद्धसङ्ग्रहनयवादस्य च परापरसामान्यमात्रविषयकत्वेन व्यवहारनयवादस्य च व्यवहारोपयुक्ततथाभूतद्रव्यपर्यायात्मकविशेषमात्रविषयकत्वेन ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयवादानां वर्तमानक्षणवर्तिकालादिभेदभिन्नार्थशब्दभेदभिन्नार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासमयावच्छिन्नार्थमात्रग्राहित्वेन च

मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतो मूलनयद्वयविषयकास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिताः, यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदवस्थास्सम्भवन्तीत्याशयेनाह—

सव्वणयसमूहम्मि वि नत्थि, णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलणयाण उ आणं, पत्तेयं विसेसियं बिंति ॥ १६ ॥

'सव्वणयसमूहम्मि वि' सङ्ग्रहादिसर्वनयसमूहेऽपि 'नत्थि णओ' नास्ति कश्चिन्नयः, 'उभयवायपण्णवओ' उभयवादप्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामारब्धस्य भिन्नस्याङ्गुलिद्वयारब्धतत्संयोगवदुभयवादस्य प्ररूपकः, तत्र हेतुं प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—'मूलणयाण उ आणं' मूलनयाभ्यामेव यत्प्रतिज्ञातं वस्तु तदेवाश्रित्य 'पत्तेयं विसेसियं बिन्ति' प्रत्येकमेकैकाः सङ्ग्रहादयो विशेषितं ब्रुवन्ति, नयाना ज्ञानरूपत्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाधिगतांशविशिष्टमंशान्तरमुत्तरोत्तरनया अधिगच्छन्ति, पूर्वपूर्वनयाधिगतांशं गौणतयांशान्तरञ्च प्रधानतया विषयीकुर्वन्तीति यावत्, नयानां वादरूपत्वपक्षे च पूर्वपूर्वनयबोधितांशविशिष्टांशान्तरविषयकाधिगममुत्पादयन्ति, तादृशाऽधिगमाऽनुकूलव्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरास्तेऽपि, अतो व्यवस्थितं परस्परात्यागप्रवृत्तसामान्यविशेषविषयकसङ्ग्रहाद्यात्मकनयद्वयगोचरसामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्वस्त्वप्युभयात्मकमिति ॥ १६ ॥

अथ क्षीरमेव भोक्तव्यमित्येवं पयोव्रतो दधि नात्ति, दध्येव भोक्तव्यमिति दधिव्रतश्च दुग्धं नात्ति, गोरसो नाभ्यवहर्त्तव्य इत्येवमगोरसव्रतो दुग्धदधिनी उभे अपि नाभ्यवहरतीति तद्दृष्टान्तेन वस्तुमात्रं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वेनोत्पादादित्रयात्मकम् । तदुक्तम्—

"पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ १ ॥" इति ॥

यतो दध्नः पयस एकान्ताऽभेदो यदि स्यात्तदा पयोव्रतस्य दधि भुञ्जानस्याऽपि न व्रतभङ्गस्स्यात्, तथा पयसो यदि दध्न एकान्ताभेदस्स्यात्तदा तद्भुञ्जतोऽपि दधिभोजनव्रतभङ्गो न स्यात्, ततो दधिपयसोर्दधित्वेन पयस्त्वेन च कथञ्चिद्भेदः । तथैव तयोर्गोरसत्वेन कथञ्चिदभेदः, अन्यथाऽगोरसव्रतस्य दुग्धाद्येकैकभोजनेऽपि न व्रतभङ्गस्स्यादिति दुग्धदधिपर्यायापन्नगोरसवत् पूर्वापरपर्यायापन्नद्रव्यात्मकघटपटादिबाह्यं वस्तुमात्रं यथा कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मकम्, तथाविधप्रमाणग्राह्यत्वात्, तथाऽऽत्माद्यान्तरमपि वस्तुमात्रं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, हर्ष–शोक–भय–करुणौदासीन्याद्यनेकाकारविवर्त्तात्मकैकचेतनास्वरूपतया कथञ्चिद्भेदाभेदविषयकस्वसंवेदनाध्यक्षप्रमाणग्राह्यत्वात्, तस्य भेदाभेदैकान्तरूपताऽभ्युपगमे तु स्रक्चन्दनवनितादिदृश्यमाननिमित्तकसुखादृश्यमाननिमित्तकस्वर्गादिसुखसाधनोपादानानुकूलप्रवृत्तिरूपस्याहिकण्टकादिदृश्यमाननिमित्तक-

दुःखादृश्यमाननिमित्तकनरकादिदुःखसाधनपरिहारानुकूलनिवृत्तिरूपस्य सकलव्यवहारस्यो
च्छेदप्रसक्तिरस्यादिति प्रतिपादयितुमाह—

ण य दव्वट्ठियपक्खे, संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासय-वियत्तिवाई, जम्हा उच्छेअवाई अ ॥ १७ ॥

'ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो' न च द्रव्यार्थिकपक्षे द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगमे वस्तुनि संसारः सम्भवति, 'णेव पज्जवणयस्स' एवमनन्तरं 'णस्थ संसारो' इत्यनुकर्षणीयम् । नवेत्यत्रैवकारोऽप्यर्थकः, स च भिन्नक्रमः, तथा च पर्यायनयस्य पक्षेऽपि पर्यायार्थिकनया भिमते वस्तुन्यपि न संसारः सम्भवति । तत्र हेतुं प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह-'सासय-वियत्ति वाई जम्हा' यस्मात् शाश्वती अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावा व्यक्तिं वदितुं शीलं यस्य स शाश्वतव्यक्तिवादी द्रव्यार्थिकनयः । 'उच्छेअवाई अ' पश्चात्तोलकन्यायेन जम्हा इत्यस्यात्राप्यन्वयः, चः समुच्चये, उच्छेदम्, अत्र तत्पूर्वकात् छिदधातोर्भावे घञ्प्रत्यया-उच्छेदः, उच्छेदम्, यद् सत् तत् क्षणिकमिति व्याप्तः प्रतिक्षणं प्रतिव्यक्ति निरन्वयविनाशं वदितुं शीलं यस्य स उच्छेदवादी पर्यायार्थिकनयः । ननु द्रव्यार्थिकनयो भवत्वेकान्त शाश्वतव्यक्तिवादी, तथापि कथं संसारानुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, संसरणम् इतोऽन्यत्र परिभ्रमणं मनुष्यादिपर्यायात्नारकादिपर्यायगमनं संसारः, स च चतूरूपः, गतिचतुष्कभेदात्, तदुक्तम् स्थानाङ्गे-"चउविहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा-नेरइयसंसारे जाव देवसंसारे । यद्वा औदयिकादीनां भावानां संसरणपरिणामः एकस्माद्भावाद्भावान्तरपरिणामः संसारः, स चात्मनो द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेनैकानेकरूपत्वे सत्येव संघटते, अन्यथा निरपेक्षरूपत्वे तु मनुष्याद्यवस्थात्यागेनोत्तरपर्यायाप्राप्तिर्न स्यात्, एवमौदयिकादीनां भावानां मध्ये विवक्षि तैकभावात् भावान्तरापत्तिलक्षणपरिणामोऽपि च न स्यात्, पूर्वावस्थात्यागे उत्तरावस्थोत्पत्तेरसम्भवात्, न च तदवस्थयोरेव भेदो न त्ववस्थावतोरिति वाच्यम्, अवस्था तद्वतोः कथञ्चिदभेदस्यैवाभ्युपगम एवावस्थाऽवस्थावद्भावसङ्घटनात्, अन्यथा मनुष्या द्यवस्थायामेवेऽप्यात्मनोऽविकारिणो जन्ममरणादिव्यपदेश एव न स्यात्, न च यथा स्थिरे स्थाणावन्यस्य कस्यचित्संयोगादुत्पत्तिक्रियया संयोगसद्भावेऽपि विभागानुकूलक्रियया विभागसद्भावेऽपि च न तत्र स्थाणौ विकारः, येन भेदोऽपि स्यात्, तद्वदविकारस्यात्मन्यपि भावप्राणसंयोगो जन्म अन्तिमप्राणवियोगो मरणञ्च भविष्यतीति नित्यपक्षेऽपि तद्व्यपदेशो न दुर्घट इति वाच्यम्, दृष्टस्य तरुण सह संयोगे दृष्टमात्रपरित्यक्तिविनाशे सत्येव दधिभावेन परिणतिर्भावः, तदभावे च तदभाव इतिवत् स्थाणोरपि केनचिद् वस्तुना संयोगे तस्य पूर्वकालीनासंयुक्तावस्थापरित्यागे सत्येव उत्तरसंयुक्तावस्थाया उत्पत्तिः, तदभावे च तदनुत्पत्तिरित्यन्वयव्यतिरेकवशात्स्थाणावपि पूर्वोत्तरावस्थाभेदेन कथञ्चिदविभक्तत्वोऽपि

भेदः स्वस्वरूपेण चाभेद इत्येवं कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्यैव सिद्धेः, न चास्यानेन संयोग इति प्रत्यक्षबलादेवातिरिक्तसंयोगसिद्धेर्नोक्तं युक्तमिति वाच्यम्, वस्तूनां देशाऽव्यवधानस्यैव संयोगरूपत्वात्, प्राक्कालीनसान्तरत्वस्वरूपपरिणामपरित्यागेन निरन्तररूपतया यः कथञ्चित्तादात्म्यपरिणामः स संयोग इति तल्लक्षणात्। यतो नैरन्तर्येण परिणतानि वस्तूनि संयुक्तव्यवहारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, उक्तप्रत्यक्षस्यापि संयोगत्वेन रूपेण तद्विषयकत्वात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसीति न्यायादतिरिक्तसंयोगं स्वीकृत्य तत्र संयोगत्वधर्मकल्पनापेक्षया सिद्धे नैरन्तर्यलक्षणसंयोगे संयोगत्वधर्मकल्पनाया लाघवतर्केण युक्तत्वात्, तदतिरिक्ते तत्र प्रमाणाऽभावात्, संयोगस्य सर्वथाऽतिरिक्तत्वेऽत्यन्तभिन्नयोर्हिमवद्विन्ध्याचलयोस्संयोगस्येवोक्तप्रतीतिसिद्धस्याऽनुयोगिप्रतियोगिनोरनुयोगिप्रतियोगिभावसम्बन्धस्य अनेनायं संयुक्त इति प्रतीतिसिद्धाश्रयाश्रयिभावसम्बन्धस्य चाघटमानत्वाच्च। किञ्चाऽऽत्मनो नित्यैकान्तरूपत्वे तस्य छेदभेदक्लेदाद्यभावाद्धिंसादेरभावः, तदभावाच्चाहिंसादेरप्यभावः, तदभावात् पुण्यपापयोस्तदभावाद् बन्धमोक्षयोर्लोकद्वयस्यापि चाभाव इति बद्धमूलो नास्तिक्यतरुस्स्यात्, न च मनःसंयोगविशेषध्वंसो हिंसा, वायुसंयोगविशेषध्वंसवत्तस्य हिंसकपुरुषीयेच्छाया अविषयत्वात्, किञ्च मनःसंयोगविशेषध्वंसस्यैव हिंसात्वाभ्युपगमे कायध्वंसस्य हिंसारूपत्वाभावेनैनं पुरुषं मारयामीतीच्छाया अस्य पुरुषस्य कायं ध्वंसयामीत्यर्थकत्वेन तदिच्छाजन्यप्रवृत्तिकारिणोऽहिंसकत्वं स्यात्।

अथ मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेनैतत्पुरुषमरणमुद्दिश्यैव प्रवर्त्तमानस्य पुरुषस्य हिंसकत्वं स्यादेवेति चेत्, मैवम्, यतो मरणोद्देश्यकमरणानुकूलसाक्षाद्व्यापारस्य हिंसात्वे यत्र खड्गाभिघातेन साक्षान्मरणं न जातं किन्तु परम्परया तत्राव्याप्तिस्स्यात्, साक्षात्परम्परासाधारणतादृशव्यापारस्य हिंसात्वविवक्षायां विवक्षितपुरुषमरणमुद्दिश्यैव तत्पुरुषीयमरणानुकूलखड्गाभिघातादिव्यापारे कृतेऽपि तेन व्यापारेण साक्षात्परम्परया वा विवक्षितपुरुषमरणं नैव जातं तत्राव्याप्तिस्स्यात्, अथ तत्र मरणाभावेऽपि हिंसालक्षणस्य मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात् सङ्कल्पलक्षणहिंसासद्भावाच्च हिंसेष्टैवेति चेत्, तर्हि तादृशव्यापारवतः तादृशसङ्कल्पवतश्च पुरुषस्य मरणाभावेऽपि मरणजन्यं यत्पापं तदापत्तिस्स्यात्, न च तदपीष्टमेवेति वक्तुं शक्यम्, यत्र मरणतदनुकूलव्यापारयोरुभयोस्सत्त्वं तत्र, यत्र केवलस्य मरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वं तत्र च फलवैषम्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात् कारणविशेषस्य कार्यविशेषप्रयोजकत्वात्। एवं मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारमात्रस्य हिंसापदार्थत्वे यत्र चैत्रीयमरणमुद्दिश्य कृते व्यापारे चैत्रीयं मरणं जातं तत्र तादृशव्यापारवतः मैत्रीयहिंसावत्त्वापत्तिस्स्यात्, मरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात्, अतो यदि तत्पुरुषीयमरणोद्देश्यकमरणानुकूलव्यापारस्य तत्पुरुषीयहिंसात्वं विवक्ष्यते तदा शत्रुवधाय यद्वा पारधिना मृगवधाय मुक्तेन शरेण लक्ष्यच्युतेनाऽन्यस्यैव मरणं

मार्थं तत्र तदपेक्षया हिंसकत्वं न स्यात् अन्यसत्त्वमरणोत्पादकव्यापाराभावात् अन्यमपीमं मारयामीति सङ्कल्पाभावाच्च । तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येव लक्षणं युक्तमित्यात्मनो नित्यत्वेन विनाशाऽयोगेऽपि मनुष्यत्वप्रामर्त्यपोषादिपर्यायस्यानित्यत्वेन तद्रूपघातुकप्रमादयोगतत्प्रतिकूलाऽप्रमादयोगाभ्यामेव हिंसाऽहिंसे तज्जन्यपापपुण्ये तत्सम्बन्धनिमित्तवृत्तियोगलक्षणबन्धमोक्षौ च य एवाहं पूर्वं बद्धः स एवाहमिदानीं मुक्त इति प्रत्यभिज्ञानादिप्रमाणप्रसिद्धे कथञ्चिन्नित्यानित्य आत्मनि सम्भवत इति स्याद्वादपक्ष एव बद्धमुक्तास्तित्वं भवतीति हिंसाऽहिंसादिरूपविरुद्धधर्माध्यासादेकस्याप्यात्मनः कथञ्चिदनेकरूपतया मनुष्यादिपर्यायविनाशेन देवादिपर्यायभावगमनात्स्याद्वाद एव संसारस्सम्भवति, न तु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्ष इति सिद्धम् । ननु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्षे संसारो न सम्भवतीत्युक्तं पूर्वैरुक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे तु तत्कथमिति चेत्, मा त्वरस्व सावधानीभूय तदाकर्णय, सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्त्यनन्तरनिरन्वयध्वंसलक्षणैकान्तोच्छेदे संसारो न सम्भवति एकगतेर्गत्यन्तरगमनस्यैकस्याभावात् भावान्तरापत्तेश्च पूर्वापरतत्क्षणवृत्तिषु पूर्वापरतत्क्षणेषु चान्वयिधर्मिणमन्तरेणायोगात् । न च भवाद्भवान्तरप्राप्तिर्विज्ञानसन्तानोपादानलक्षणविज्ञानसन्तानलक्षणस्यात्मनः स्यादेवेति वाच्यम्, तस्यापि काल्पनिकत्वात्, पारमार्थिकत्वे वा नामान्तरेणाऽऽत्मैवाभ्युपगतस्स्यादित्येकान्तोच्छेदवादाभाव एव स्यात् । यद्येकान्तोच्छेदपक्षे हिंस्यहिंसकभावस्याहिंस्याहिंसकभावस्य चाऽभावेन पुण्यपापयोरप्यभावात्तत्प्रयुक्तजन्याभावेन संसारो न सम्भवति, तथाहि—हिंस्यहिंसकयोस्स्थैर्ये व्यवस्थायां हिंस्यः कस्य चायं हिंसक इति स्यात्, क्षणस्थित एव निरन्वयक्षणध्वंसित्वे च कस्य केन हिंसा कृता स्यात्, कस्योपरि केन दया च कृता स्यात्, न च विसभागक्षणोत्पादनेन हिंसेत्यपि वाच्यम्, सुगतस्यापि च्छिन्नाप्रविष्टज्ञानसन्तानक्षयकारणत्वेन सन्तन्यमानतज्ज्ञानक्षणस्याप्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वेन मारकव्याधक्षण इव तस्मिन्नपि मृगीयविसभागक्षणोत्पत्तिनिमित्तत्वस्याविशेषतस्सत्त्वेन व्याधवत्सुगतस्यापि मृगघातकत्वापत्तेः, न च विसभागक्षणजननानुकूलव्यापारवत्त्वमेव हिंसेति सुगतस्य तादृशव्यापाराभावेन नोक्तातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यो नरो मृत्वा नर एव भविता तद्धिंसायामव्याप्तेः, पूर्वापरनरक्षणस्य नरत्वेन सभागत्वात्, विसभागक्षणोत्पत्तेश्च तत्राभावेन तदनुकूलव्यापारस्याऽभावात् तद्घातकस्याघातकत्वं स्यात् । न च विसभागक्षणजननेच्छाविच्छिन्नविषयताकव्यापारवत्त्वं सा, यः मृत्वा नर एव भविता तद्घातकपुरुषस्याय नरो म्रियतामितीच्छाया विसभागक्षणजननरतावच्छिन्नविषयताकत्वेन तादृशेच्छाजन्यव्यापारवत्त्वमस्तीति नोक्ताव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपरागविमर्शवतस्त्यागरकरूपपराभवनादिक्रियाऽव्यवधानेऽप्रतिव्याप्तेः न च तत्सन्तानसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकविभागतापन्नसन्तानान्तरोत्पादनिष्ठजननसत्त्वावच्छिन्नविषयताकव्यापारवत्त्वं सा, तथा च रूपरागविमर्शवतिनीच्छायां रूपान्तरोत्पत्त्या पूर्वसन्तानध्वंसजनकपरसन्तानध्वंसे-

भेदेऽपि तदुभयव्यक्तौ तत्सन्तानत्वमनुगतमेवेति तन्न न तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्सन्तानान्तःपातिव्यक्तिरूपत्वमिति विजातीयक्षणोत्पत्तिविषयताकाध्यवसायामायाव्याप्तिर्व्याप्तिरित्यपि वाच्यम्, इतो नरत्वं विहाय देवो भूयासमित्याद्याकारे दानदयाद्यध्यवसायेऽतिप्रसङ्गात्, न च क्लिष्टाध्यवसाय एव क्लिष्टकर्मक्षणहेतुत्वाद्धिंसा, अत एव मृगमव्यापादयन्नपि मृगं हन्मीति सङ्क्लेशपरिणतः पापेन बध्यत इत्युक्तलक्षणघटकाध्यवसाये क्लिष्टत्वविशेषणान्नोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, हिंसाविषयत्वातिरिक्तस्य क्लिष्टत्वस्य दुर्वचत्वेनात्माश्रयात्, सन्तानादेः सांवृतत्वेन पारमार्थिकस्याध्यवसायस्यैव चासिद्धेः, आहार्यस्य च हिंसाहिंसाद्यध्यवसायस्य व्यवहारनिमित्तत्वेन कल्पितस्य सर्वलोकविगर्हितत्वेनोपहासपात्रतायाः पारमर्षे विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्, यत्राहं न हन्मीत्यध्यवसायवतः पुंसो विवेकिनोऽनुपयोगवशाद् या हिंसा सञ्जाता तत्र तत्पुरुषस्य क्लिष्टाध्यवसायो नेति प्रमादशीलतत्कृतहिंसायामव्याप्तिश्च न किञ्चिदेतदिति दिक् ॥ १७ ॥

एकान्तनित्यपक्षे एकान्ताऽनित्यपक्षे चान्यदूषणानि प्रतिपादयितुमाह—

सुह-दुक्खसम्पओगो, ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतुच्छेयम्मि य, सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥

'णिच्चवायपक्खम्मि' नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकनयाभ्युपगते 'सुह-दुक्खसम्पओगो ण जुज्जए' सुखम्-अनुकूलवेदनीयम्, अनुग्रहलक्षणं वा-अनुगृह्यतेऽनेनेत्यनुग्रहः, तल्लक्षण तत्स्वभावमित्यर्थः। सुख ह्यनुकूलस्वभावतया स्वविषयानुभवं कुर्वत्पुरुषमनुगृह्णाति। दुःखम्-उपघातलक्षणम्, उपहन्यतेऽनेनेत्युपघातस्तल्लक्षणं तत्स्वभावमित्यर्थः, दुःखमुपजातं प्रतिकूलस्वभावतया स्वात्मविषयमनुभवं कुर्वदात्मानमुपहन्ति, ताभ्यां सहात्मनः सम्प्रयोगस्सम्बन्धो न युज्यते, न युक्तिं सहते, यद्वा सम्प्रयोगः सम्-सम्यक् संगतो वा प्र-प्रकृष्टः योगः सम्बन्धः परमार्थभूतसम्बन्ध इति यावत्, न युज्यते न घटते, तथाहि—द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगते आत्मनो नित्यत्ववादपक्षे स्वाभिन्नगुणविशिष्टत्वमेवाऽऽत्मनः, न स्वात्माश्रिता आत्मद्रव्यभिन्ना गुणाः परमार्थभूताः, तन्मते गुणगुणिभावाभावात्, द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भात्, भिन्ना गुणा खल्वौपचारिकत्वेनासन्त एव, अत एवास्य मते चित्रे निम्नोन्नतप्रतीतिवत् द्रव्ये गुणप्रतीतिर्भ्रान्तिरेवाभ्युपगता, अत एव सामायिकमाश्रित्य—

"इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तच्चमुवयारओ य गुणे ।
सामइअगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामाइयं ॥ २६४४ ॥"

इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते, एतद्द्रव्यार्थिकनयमतमपि न युक्तम्, यतस्तत्र यथा सामायिकपरिणामस्वभावानन्यत्वाज्जीव एव सामायिकमित्युक्तम्, तथैवात्मनस्सुखस्वभावत्वे तस्याऽविचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवेति तस्य न दुःखसम्प्रयोगः, कदापि दुःखस्यानुत्पत्तेः।

दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव स्यात् नित्यतत्स्वभावत्वादेवेति न सुखसम्प्रयोगः, कस्मिंश्चिदपि काले सुखस्यानुत्पत्तेः । कदाचित्सुखस्वभावः कदाचिच्च दुःखस्वभाव इत्यभ्युपगमे तु यदा स्पृष्टैककालावच्छिन्नसुखदुःखोभयस्वभाव आत्मेत्यभ्युपगमे तु तस्याऽनित्यत्वं स्यात्, विरुद्धस्वभावद्वयाश्रितत्वेन भेदादिति । ननु द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायान्तरभेदरूपेणैवमनवये गुणगुणिनोर्भेदमभ्युपगम्यापि द्रव्यस्य गुणादिसमवायिकारणत्वात् सुखस्यानुकूलवेदनीयत्वेन सकलजनमनोऽनुकूलविषयजन्यसुखकाले आत्मनस्सुखसम्प्रयोगः, दुःखस्य च प्रतिकूलवेदनीयत्वेनाखिलकण्टकादिप्रतिकूलविषयजन्यदुःखकाले तस्य दुःखसम्प्रयोगश्च युज्यत एवेति चेत्, नैवम्, न हि पूर्वं निर्गुणं द्रव्यमुत्पद्यते पश्चाच्च तत्र गुणोत्पत्तिरित्यनुभूयते, वैशेषिकलक्षणासिद्धिश्चास्यात्, समवायसम्बन्धस्यासिद्धेश्च न समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपिततादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नकारणतालक्षणं समवायिकारणत्वं सम्भवति, समवायासिद्धिश्च तत्साधकप्रमाणाभावात्, न च प्रत्यक्षं समवायसाधकम्, सम्बन्धप्रत्यक्षे यावत्सम्बन्धिप्रत्यक्षस्य कारणत्वेन परमाण्वादीनामतीन्द्रियाणामपि यावत्सम्बन्ध्यन्तर्गतत्वेन तत्प्रत्यक्षाभावात् समवायस्यापि प्रत्यक्षाऽसम्भवात्, अत एव समवायो न प्रत्यक्ष इति वैशेषिकस्याप्यभ्युपगमः । नाप्यनुमानं समवायसाधकम्, समवायस्याऽप्रत्यक्षत्वे तेन सह कस्यचिद्धेतोर्व्याप्तिग्रहस्याऽसम्भवेन तत्सम्भवानुमानाऽसम्भवात् । न च सामान्यतो दृष्टानुमानं तत्साधकम्, तथाहि—गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वात् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्, अनेन संयोगादिबाधात्समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवायकल्पनापेक्षया क्लृप्तस्यैव प्रतियोग्यनुयोगिस्वरूपस्य सम्बन्धतया कल्पनायां लाघवात्तत्र निरुक्तविशिष्टबुद्धिविषयत्वकल्पनौचित्यात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात् । न चानेकेषु स्वरूपेषु सम्बन्धत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्तसमवायसम्बन्धकल्पने लाघवमिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवाये समवायत्वं क्लृप्तपदार्थभेदः, तद्भेदश्च क्लृप्तपदार्थेषु नित्यत्वादिधर्मसम्बन्धश्च तस्य कल्पनीय इत्येवं पर्यालोचनया तत्रैव गौरवस्य स्फुटत्वात् । एवं जातेरप्येकव्यक्तिषु विशिष्टबुद्धौ जातिस्वरूपस्यैकस्यैव सम्बन्धत्वेन मानकल्पने लाघवमिति न जात्यर्थिकेषु समवायस्याऽपि समवायसिद्धिः । तथा च समवायाऽभावेन तद्घटितसुखदुःखसमवायिकारणत्वस्याऽप्यात्मनोऽभावान्नोक्तं युक्तमिति ।

एतेन—"अहङ्कृत्युपधानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्तः ।
स्फटिके रक्ततादिवद् बुद्धिप्रतिबिम्बाद्वाऽन्ये ॥१॥" इति ॥

साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्, उपधानप्रतिबिम्बयोरन्यतरे सत्यपि यथा न भवति तथाऽऽत्मनः परमार्थरूपा सुखदुःखपरिणतिरन्यतरोपधानसन्निपातेऽपि सुखदुःखरूपता न स्यात्, तदभ्युपगमे चाऽनित्यसुखदुःखाऽभिन्नतयाऽऽत्मनोऽप्यनित्यत्वापत्त्या आत्मैकत्व

नित्यत्वस्य स्वाभ्युपगतस्य क्षतिः, ननु श्वेतास्वच्छस्फटिके रक्ततायाः अभावेऽपि जपाकुसुमोपाधिसन्निधानेन रक्ततावदात्मनि सुखदुःखरूपताया अभावेऽपि प्रकृत्युपाधिवशात् सा स्यादेवेति चेत्, तर्हि तद्वत्सा काल्पनिकी स्यात्, न तु तत्त्वभूतेति । बुद्धिप्रतिबिम्बपक्षेऽप्यविचलितस्यात्मनः सदैवैकस्वभावत्वात् सदैवैकरूपप्रतिबिम्बापत्तेः, स्वभावभेदाभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्ग इति । तथा च सुखदुःखसम्प्रयोगं वास्तविकमिच्छता सुखरूपेण परिणामे सति परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदात्कथञ्चित्सुखात्मक एवात्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्, एवं दुःखपरिणामेऽपीति परिणामभेदेन तद्विशिष्टस्यापि भेदेन स्वरूपतोऽभिन्नस्याप्यात्मनो भेद इति कथञ्चिद्भेदाभेदवाद एव प्रमाणभाव भजत इति । तथा 'एगन्तुच्छेयम्मि य' एकान्तेन–सर्वथा 'उत्'–प्राबल्येन छेदे विनाशे, निरन्वयनाशपक्षे इति यावत्, चकारात् "सुहदुहसंपओगो न जुज्जइ" इत्यनेनास्य सम्बन्धः । एकान्तोच्छेदवादः पर्यायार्थिकनयेनाभ्युपगतः, तथाहि–तन्मते पर्याय एवार्थः परमार्थभूतः, न तु पर्यायेभ्यो व्यतिरिक्तं द्रव्यम्, तस्य पूर्वापरपर्यायेषूपचाराद्व्यवह्रियमाणत्वात्, यस्माद् जीवस्य गुण इत्यभेदार्थकषष्ठीतत्पुरुषसमासं सोऽभिमनुते, स चोत्तरपदार्थप्रधानः, यथा तैलस्य धारा तैलधारा राहोश्शिरः राहुशिरः, न चात्र धारातिरिक्तं किमपि तैलमस्ति, न च शिरोऽतिरिक्तो राहुश्चास्ति, एव ज्ञानसुखादिगुणातिरिक्तं जीवद्रव्यमपि नास्ति । तदुक्त भाष्ये सामायिकगुणमाश्रित्य –

" पज्जाओ च्चिअ वत्थुं, तच्चं दव्वं च तदुवयाराओ ।
पज्जवणयस्स जम्हा, सामइअं तेण पज्जाओ ॥ २६४५ ॥ " इति ।

तथा च यथा सर्वप्रमाणैर्ग्रहणाभावात् रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भिन्नो घटो नास्ति तथैकान्तोच्छेदपक्ष उत्पादव्ययशालित्वेन प्रतिक्षणभिन्नेभ्यो ज्ञानसुखदुःखादिभ्यो भिन्नस्स्थिर आत्मैव नास्तीति कस्य सुखदुःखसम्प्रयोगः । न ह्यविद्यमाने गगनारविन्दे घटसम्बन्धस्सम्भवतीति । तथा पक्षद्वयेऽपि 'सुह–दुक्खवियप्पणमजुत्तं' सुखदुःखविकल्पनम्, सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे तयोर्विकल्पनम् विशिष्ट कल्पनम् यतनम्, 'क्लृप् सामर्थ्ये' इति वचनात् सामर्थ्यार्थकस्याऽपि क्लृप्धातोरत्र यतनार्थकत्वात् धातूनामनेकार्थत्वात्, सुखदुःखविषयकं विशिष्टं यतनमिति समस्तार्थः, तच्च यतनं सुखे तदुपादानाय, दुःखे तु तत्परिहाराय बोध्यम्, सुखोपादानदुःखपरित्यागरूपनिमित्तमन्तरेण सुखदुःखविषयकयत्नस्य कस्यापि सचेतसोऽभावात् सुखदुःखविकल्पनम् अयुक्तम् अघटमानकम् । यतो नित्यवादपक्षे आत्मा सुखस्वभावो यदि तदा तत्स्वभावस्य कदाचित्सत्त्वं कदाचिच्चाऽसत्त्वमित्यभ्युपगमेऽनित्यत्वप्रसक्त्या नित्यपक्षः परित्यक्तस्स्यादिति सर्वदा

तत्स्वभावस्य सद्भावात् सुखमुद्दिश्य तत्साधनोपादानानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्विष मानमेव पदार्थं विहाय तत्साधनोपादानार्थं प्रवर्त्तेत ? दुःखस्वभावो यदि तदा तत्स्व-भावस्य पूर्वमप्यसद्भावात् दुःखवियोगार्थं दुःखसाधनपरिहारानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्दुःखस्वभावमात्मानं विहाय दुःखवियोगाय तत्साधनपरिहाराय प्रवर्त्तेत ?। एकान्तोच्छेद पक्षेऽपि सुखस्योत्पादस्य यथासिद्धत्वेन प्रतिक्षणमित्वतया कः क्षणिकसुखार्थं तत्साधनमुपाददीत, किञ्च यस्सुखसाधनोपादाता सोऽन्य एव, सुखभोक्ता चान्य एवेति ज्ञानन् कस्सुखसाधन नार्थं प्रवर्तेत, अथ तत्सन्तानैक्यमिति चेत्, तदपि न युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे सन्तान स्यापि काल्पनिकत्वात् । दुःखमपि क्षणिकत्वेन स्वरसत एव विनाशशीलमिति जानन् तद्वियोगार्थं तत्साधनपरित्यागोद्यमं कः कुर्यादिति ॥ १८ ॥

अथ दुःखरूपे दुःखफले दुःखानुबन्धिनि विडम्बनारूपे दीर्घेऽप्यनवदग्रे नरकादिगति-विभागेन चतुर्विभागे संसारचक्रे अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन महावेगस्रोतोपमकर्मवशेनैव पर्यटद् पर्यटति पर्यटिष्यति चात्मा, नानाविधमतिपर्यटनकारणीभूतनानाविधकर्म च योगादिरूप-निमित्तमासाद्यैव तथास्थितिशीलात्मनैव बध्यते, कर्मणा च कार्मणकाययोगादाहृतौदा-रिकादिपुद्गलैश्शरीरं निर्वर्त्यते, तद्द्वारा च साताऽसातावेदनीयकर्मोदयवशवर्त्यात्मा सुखं दुःखञ्चानुभवतीत्यात्मसुखदुःखोपभोगसाधनशरीरेण सहात्मनो दुग्धपानीयवदन्योन्यवद् तादात्म्यात्मकाविनाभावसम्बन्धः योऽन्योन्यानुगमात्मकस्तस्मात्तथाविधहेतुभूतकर्मनिमित्तयोगका यावदनन्तमेकान्तानित्यवादिपक्षे एकान्तोच्छेदवादिपक्षे च प्रदर्शयितुमाह—

कम्मं जोगनिमित्तं, बज्झइ बंध-ट्ठिई कसायवसा ।
अपरिणउच्छिण्णेसु य, बंधट्ठिइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥

प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धोभयात्मकं कर्म मनोयोगवचोयोगकाययोगरूपनिमित्तमासाद्य बध्यते स्थितिबन्धस्थितिरूपं चाभयं च कषायवशाद्भवति, न चैतदुभयमेकान्तापरिणतवादे द्रव्या विच्छिन्नताभ्युपगते एकान्तोच्छेदवादे च पर्यायार्थिकनयाभ्युपगते सङ्गच्छते, कर्मबन्ध तस्स्थितिकारणाभावादिति संक्षिप्तार्थः । अथगाथार्थस्त्वेवं—"कम्मं जोगनिमित्तं बज्झइ" कर्म योगनिमित्तं बध्यते नन्वनेन योगस्य कर्मबन्धं प्रति निमित्तत्वमुक्तं भवति, तच्च न सङ्गतम्, मिथ्यादर्शना-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ८-१ । इति तत्त्वार्थसूत्रेण मिथ्यात्वाविरत्यादीनामपि कर्मबन्धहेतुत्वाभिधानादिति चेत्, सत्यम्, न च युक्तम्, भावार्थाऽनवबोधात्, तथाहि—' एषां मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सति नियतमुत्तरेषां भावः । उत्तरोत्तरभावे तु पूर्वेषामनियमः" इत्युक्तलक्षणमान्य एव भाष्यम्, तथा च यस्य येन सहान्वयव्यतिरेकौ भवतस्तत्तस्य कारणमिति कारणलक्षणोऽन्वयव्यतिरेकग्रहणं भवतीति मिथ्यादर्शनस्यानियतेन यथा

दस्य च कषायस्य च तत्तद्गुणस्थानकेषु सत्त्वे कर्मबन्धसत्त्वमित्यन्वयसद्भावेऽपि मिथ्यादर्शनाभावेऽपि द्वितीयादिपञ्चमगुणस्थानकं यावदविरत्यादिभिः, अविरत्यभावेऽपि च षष्ठगुणस्थानके प्रमादादिभिः, प्रमादाभावेऽपि च सप्तमादिगुणस्थानकेषु कषाययोगाभ्यां, कषायाभावेऽपि चैकादशादित्रयोदशान्तगुणस्थानकेषु योगमात्रतः कर्मबन्धस्य सद्भावेन व्यतिरेकस्याभावादेव तद्ग्रहाभावेन मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धनियतकारणत्वग्रहो न भवति, योगस्य सद्भावे कर्मबन्धस्त्रयोदशगुणस्थानकान्तं यावदवश्यंभावी, योगाऽभावे चाऽयोगिगुणस्थानके कर्मबन्धाभाव इत्येवमन्वयव्यतिरेकग्रहाद् योगस्य च कर्मबन्धनियतकारणत्वग्रहो भवतीति नियमेन योग एव सर्वत्र कर्मबन्धकारणम् । अत एव—

" कम्मं जोगनिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।
होज्ज न उ उभयरूवो, कम्मंपि तओ तयणुरूवं ॥ १९३५ ॥ "

इति विशेषावश्यकभाष्यगाथाटीकायां " मिथ्यात्वा-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः " इति पर्यन्ते योगाभिधानात्सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाऽविनाभावाद् योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति " कर्म योगनिमित्तमुच्यते " इत्युक्तं सङ्गच्छते । तथा च सिद्धमेतद् योगः कर्मबन्धकारणमिति । क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन तप्तवह्न्यःपिण्डवद्वा यत्कर्मवर्गणाद्रव्यं स्वात्मसम्बद्धं जीवेन तत्कर्म, कर्मपदमत्र प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धपरम्, " जोगा पयडिपएसं " इति वचनात्, तदात्मकं तद् योगनिमित्तम्—

" जोगो विरियं थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ १ ॥ "

इति वचनाद्वीर्याद्यपरपर्यायो योगो मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति भेदेन त्रिविधः, स निमित्तं हेतुर्यस्य तद्योगनिमित्तं बध्यते आदीयते । अयम्भावः—

" एगपएसोगाढं, सव्वपएसेहिँ कम्मुणो जोग्गं ।
बंधइ जहुत्तहेउं, साइयमणाइयं वा वि ॥ १ ॥ "

इत्युक्तेः आत्मा येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तदवगाढैकसमयबन्धनीयानन्तपुद्गलस्कन्धात्मककर्म योगनिमित्तेन स्वीयसर्वप्रदेशैः न तु कतिपयप्रदेशैर्बध्नाति । यदाह—

" कृत्स्नैर्देशैः स्वकदे-शस्थं रागादिपरिणतो योग्यम् ।
बध्नाति योगहेतोः, कर्म स्नेहाक्त इव च मलम् ॥ १ ॥ " इति ।

तथाहि—हस्तादिप्रत्येकावयवावच्छेदेनात्मना शुभाशुभक्रियाकरणेऽपि न तद्द्वारा

हस्ताद्यवच्छिन्नात्मप्रदेशैरेवात्मा कर्मयोग्यपुद्गलान् कर्मवर्गणागतानगृह्णाति, किन्तु स्वीय सर्वप्रदेशैरेव, शृङ्खलावयवन्यायेन यथासम्भवमनुबद्धा सर्वात्मप्रदेशानां मिथस्सम्बन्धसद्भावात्, हस्ताद्यवच्छिन्नात्मप्रदेशानां प्राधान्येन व्यापारेऽपि तदितरप्रदेशानामपि गौणतया व्यापार-सद्भावात्, अत एवात्मैव स्वकृतकर्मणा संसरति मुच्यते च। एतेन "तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ १ ॥' इति सांख्यमतमपि निरस्तम्। "बंधट्ठिई कसायवसा" बन्धस्थितिः कषायवशात्, बध्यत इति बन्धः, कर्मैव, तस्य स्थितिः कालान्तरफलदातृत्वेनात्मन्यवस्थितिः, स्थितिपदेनात्र रसबन्धाविनाभावित्वेन स्थितिश्च तस्य रसबन्धस्थितिश्चेति द्वौ ग्राह्यौ, तथा च तदुभयं कषाय वशात् कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्यास्तदुदयजनितो जीवस्याध्यवसायविशेषः कषाय शब्देनोच्यते, तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् भवतीति शेषः, यदुक्तम्—'ठिइअणुभागं कसायओ त्ति'। अत एवान्यत्रापि 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगाऽभावेऽपि कषायसद्भावात् प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीहान्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थित्यनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणम्" इत्युक्तं सङ्गच्छते। ननु कर्म सिद्धं स्यात्तदैवैतदुपपन्नं स्यात्, न चाद्यापि तत्सिद्धम्, यतस्तस्याती-न्द्रियत्वान्न तत्साधकं प्रत्यक्षप्रमाणं विद्यते, नाप्यनुमानं तत्साधकम् तस्य प्रत्यक्षागोचरत्वाभावेन सह कस्यचिल्लिङ्गस्य व्याप्तिग्रहणासम्भवेन तत्प्रभवानुमानासम्भवादिति चेत्, नैवम्, कर्मणि सुखदुःखहेतौ परस्याप्यविप्रतिपत्तेः, तथाहि-पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपन्नाः। तथा च ते प्राहुः—

" यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

यत् पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः।
तदिदं पाण्डवज्येष्ठ ! दैवमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रवः।
न हीमे तत्करिष्यन्ति यन्न पूर्वं कृतं त्वया ॥ ३ ॥"

बौद्धा अप्याहुः—

' इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ ४ ॥" इति

तथापि चेत् कोऽपि परो विप्रतिपद्येत तदा तत्साधकमनुमानप्रमाणं प्रदर्श्यते, तथाहि-स्वपरावभासिज्ञानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरादिषु विशिष्टविरक्तिः आत्म

शरीरोभयव्यतिरिक्तकारणपूर्विका विशिष्टाभिरतित्वात् कृत्रिमतपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्या-स्तन्त्रौषधमन्त्राद्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिवत्, तथा भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यति-रिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयत्वात्, मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत्, यच्च तद्व्यतिरिक्तं तदेव कर्मेति सिद्ध्यति परिशेषानुमानेन, परिशेषानुमानश्चात्र स्वपराव-भासिज्ञानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाभिरतेरसाधारणकारण-मदृष्टं कर्मैव भवति आत्मशरीरादिदृष्टासाधारणकारणाजन्यविशिष्टाभिरतिकारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽऽत्मादि, तथा भवभृतां मोहोदयस्यासाधारणकारणमदृष्टं कर्मैव भवति शरीरादिदृष्टसम्बन्ध्यात्मकासाधारणकारणाजन्यमोहोदयकारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा शरीरादीति, ननु भवत्वनेन सामान्यत आत्मसम्बन्धिनः कर्मणस्सिद्धिः, तस्य पौद्गलिक-त्वसाधने किं मानमिति चेत्, उच्यते, तत्साधकं सामान्यतो दृष्टानुमानमेवेति, तथाहि— स्वपरज्ञस्वभावस्यात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशः स्वातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धपूर्वकः पुरुषा-न्तराऽप्रयोज्यत्वे सति हीनस्थानप्रवेशत्वात्, मदिरोन्मादोन्मत्तपुरुषस्याशुचिस्थानप्रवेश-वदित्यनुमानेन तथा जगदन्तर्गताशेषपर्यायविशिष्टाऽपरिशेषद्रव्यग्रहणक्षमज्ञाननिष्ठस्वविषया-ग्राहकत्वं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकं तद्व्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्वविषयाग्राहकत्वत्वात् तद-भावप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वाच्च, पीतमद्यादिपुरुषज्ञाननिष्ठस्वविषयाऽग्राहकत्ववदित्यनुमानेन विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकत्वसिद्धौ धूमहेतोः पर्वते वह्नित्वेन वह्निसिद्धौ महानसीयादिवह्नि-बाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा पर्वतीयवह्निसिद्धिवत्प्रकृतेऽन्यद्रव्यस्य बाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा द्रव्य-विशेषस्यैव सिद्धिः, स एव च कर्मसञ्ज्ञा भजते इति ।

ननु कर्मणो द्रव्यविशेषरूपत्वसाधनं न युक्तम्, तस्यादृष्टापरसञ्ज्ञकस्यात्मगुणत्वादिति चेत्, मैवम्, तथा सति कर्मण आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न स्यात्, यो हि यस्य गुणः स न तस्य पारतन्त्र्यहेतुः, यथा रूपादिः पृथिव्यादेः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसञ्ज्ञकं कर्माभ्युपगम्यते परैरिति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यादिति प्रसङ्गः, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तञ्च कर्म, तस्मान्न तद्गुण इति विपर्ययः । नन्वात्मनः पारतन्त्र्ये किं मानमिति चेत्, उच्यते, पर-तन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, यथा पीतमदिरोन्मत्तपुरुषोऽशुचिस्थानपरिग्रहवानिति परतन्त्रस्तथाऽयमात्माऽपीत्यनुमानमेव मानम् । शरीरस्य हीनस्थानत्वं तु कारागारव-दात्मनो दुःखहेतुत्वाद् ज्ञेयम्, संसार्यात्मनश्च तत्परिग्रहवत्त्वं सुप्रतीतमेवेति नासिद्धो हेतुः, कर्मणः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वे सिद्धे कर्म पौद्गलिकम्, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडा-दिवदित्यनुमान प्रभवति पौद्गलिकत्वसाधनाय, कर्मणोऽमूर्त्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मना-मनुग्रहोपघातौ न स्याताम्, आकाशवत्, उक्तयुक्त्या सिद्धे च पौद्गलिकत्वे कर्म द्रव्यात्मकमेव, न त्वात्मीयादृष्टगुणाख्यमिति सिद्धम् । नित्यत्वेनैकान्तात्मिकायात्मपक्षे अनित्यत्वेनैकान्त-

प्रतिक्षणविनश्वरात्मपक्षे च योगनिमित्तकर्मबन्धः कषायहेतुकबन्धस्थितिरप्यसम्भवे हेतुमुपदर्शयितुमुत्तरार्धमाह 'अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइकारणं नत्थि' अपरिणतोच्छिन्नयोश्च बन्धस्थितिकारणं नास्ति, अपरिणते कूटस्थे परिणामनापरिणामिनि कथञ्चित्परिणाममप्राप्नुवति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेनाभ्युपगते आत्मनि, उच्छिन्ने विनष्टस्वभावे निरन्वयप्रतिक्षणविनाशित्वेन क्षणिके पर्यायार्थिकनयेनाऽनित्यत्वाऽभ्युपगम आत्मनि च बन्धस्थितिकारणं नास्ति, अपरिणामिनि अत्यन्ताऽनाधेयातिशये नित्यात्मनि प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धकारणानां योगानां सम्भवो नास्त्येव, सम्भवे वा योगानां शरीरप्रवृत्तिसम्बन्धकृतत्वेन तद्योगपरिणामेनात्मनस्सक्रियत्वापत्त्या कथञ्चिदनित्यत्वं स्यात्, एकान्तोच्छिन्नात्मपक्षेऽपि येनात्मना यत्कर्म निमित्तं योगः कृतस्तेनात्मना तत्कर्म न बध्यते, किन्त्वन्येन, कर्मबन्धकालेऽनवस्थानात्, तथा च यो हिंसादिकरणार्थं कायप्रयोगादि प्रयुङ्क्ते स एव कर्मकर्तेति व्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न च स व्यवहारो भ्रान्त एवेति वाच्यम्, सर्वैरविगानेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। न च सन्तत्यैव निर्वाहस्स इति वाच्यम्, सन्ततेस्त्वन्मते काल्पनिकत्वेन यथार्थव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात्। एवमविकार्ये नित्यात्मनि स्थितिबन्धानुभागबन्धकारणकषायोदयजन्यपरिणामविशेषरूपभावा अपि न सम्भवन्ति, तेषां सम्भवे चाऽवस्थान्तराणामनुभूयमानत्वेन तद्रूपेण परिणतस्यात्मनः परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदेनानित्यत्वं स्यात्, नाप्येकान्तानित्यात्मनि अनुसन्धानविरहे सत्यमन सन्तुष्टः सत्यमनेनाऽऽकृष्ट इति रागद्वेषाध्यवसायसम्भवः, तथा च 'अन्यो तुष्टः, अन्यः सन्तुष्टः, अन्य आकृष्टः, अन्यो रुष्टः, अन्यो व्यापृतः, अन्ये बद्धः, अपरश्च मुक्त इति कृतनाशाकृतकर्मभोगप्रसङ्गादात्मानैकत्वप्रसङ्गः, न चैकसन्ततिनिमित्तोऽयं व्यवहारः, क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनायामप्युपादानोपादेयभावस्यैवाऽघटमानत्वात्। न चैवमनुसन्धानप्रतिपत्तिर्मिथ्या, द्वेष–गर्व–श्लाघाऽपत्योत्पादादीनामन्योन्यविरुद्धस्वभावानां क्षणिकचित्तविवर्तानां स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धानां तद्रूपेणाऽनुभवितुः सर्वथ विपर्यासबाधकज्ञानाभ्योपरीक्षितस्यैकस्य चेतनस्यानुभवात्। न च बाधारहितानुभवविषयस्यापह्नवः, सुखादेरप्यनुभवविषयस्यापह्नुतिप्रसक्तेः, तथा च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः। यदपि "मिथ्याऽध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" इत्युक्तम्, तदप्यनेनैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वाऽसिद्धेः। न चानुमाननिमित्तेऽर्थे आरोपबुद्धेरुत्पत्तिः, धूमनिश्चयावगतधूमध्वज इव न च मिथ्याज्ञानस्य सहजत्वात् विपरीतार्थोपस्थापकानुमानप्रवृत्तावपि न निवृत्तिः, तथाऽभ्युपगमे शुक्लाद्युपपन्नविषयमन्तरविषयस्य सर्वदाऽनिवृत्तिरित्युक्तिप्रसक्तिः, यथार्थं तु तत्त्वज्ञानमाविर्भवत् निवर्तते शुक्तिकायामे रजतभ्रम इव, अनिवृत्तौ वा न प्रमाणमप्रमाणबाधकं स्यात्। न च नयनदोषनिमित्ते 'स एवाहम्' इति प्रत्ययो युक्तः, अपि तु 'स इव' इति स्यात्, नहि गवयनिमित्ते 'गौरेव' इति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु 'गौरिव' इति। न च क्रमवर्तिष्वभिन्नाकारेष्वादिपर्यायेष्वेव

न्यानुस्यूतिप्रत्ययस्य मानसविकल्पत्वान्नानुगतवस्तुसाधकत्वमिति वाच्यम्, आत्मनि क्षणक्षयमनुमानाद् निश्चिन्वतोऽपि तदैव तस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात्, विकल्पद्वयस्य युगपदुत्पत्तिः परैर्नेष्टेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयसमये सद्भावो न भवेत्, भवति च क्रमवर्तिष्वमिष्वङ्ग-द्वेषादिपर्यायेषु चैतन्यानुस्यूतिप्रत्यय इति तस्य विकल्पकालीनोत्पत्तिमत्त्वेनाश्वविकल्पकाले गोदर्शनवत् पराभिप्रायेण निर्विकल्पप्रत्यक्षरूपतया तेन क्रमवर्त्तिपर्यायेष्वनुगतद्रव्यस्य सिद्धिः, अस्मन्मते तु यथार्थमानसविकल्पस्यानुगतवस्तुसाधकत्वमस्त्येव। तदेवमेकान्तनित्यानित्यव्युदासेनोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारणं युक्तिसङ्गतमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

किञ्च एकान्तवादिनां संसारनिवृत्त्यर्थं प्रवृत्तिर्मोक्षसुखप्रार्थना मोक्षश्चेत्येतत्सर्वं नोपपद्यत इत्युपदर्शयितुमाह—

बन्धम्मि अपूरन्ते, संसारभयोघदंसणं मोज्झं।
बन्धं च विणा मोक्ख-सुहपत्थणा नत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥

अपरिणामवादात्मके एकान्तवादे कारणीभूतमिथ्यात्वादिपरिणत्यभावात्तत्कार्यस्य बन्धस्याभावे संसारभयप्राचुर्यपर्यालोचनं मिथ्याज्ञानम् अनुपपद्यमानसंसारदुःखभयौघविषयकत्वात्, तथा यः पूर्वं बद्धस्स एव पश्चान्मुच्यते नाबद्ध इति बन्धं विना तन्मुक्त्यभावान्मोक्षसुखं मे भवत्विति प्रार्थना न घटते, अत एव मोक्षश्चानुपपन्न इति सङ्क्षिप्तार्थः। विस्तरार्थस्त्वेवम्—'बन्धम्मि अपूरन्ते' एकान्तवादे आत्मनो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगरूपनानाविधपरिणतिस्वीकारेऽनेकान्तवाददार्ढ्यापत्तेस्स्वपक्षक्षतिरिति तत्र मिथ्यात्वादिकारणानुपपत्त्या बन्धे कर्मबन्धे अपूर्यमाणे अपूर्णभावं गते लक्षणयाऽसतीति यावत् "संसारभयोघदंसणं मोज्झं" संसारभयौघदर्शनं मौढ्यम्-संसारे अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन चतुर्गतिषु जन्ममृत्युभावेन पुनः पुनस्संसृतिलक्षणे संसारे, यद्वा कारणे कार्योपचारवृत्त्या संसारशब्दबोध्ये तत्कारणे मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगात्मके वा भयौघो भीतिप्राचुर्यं तस्य दर्शनम् चतुर्गत्यात्मके संसारे पर्यटनमनन्तदुःखव्याप्तमेव, न तत्र किमपि परमार्थवृत्त्या सुखम्, मधुलिप्तखङ्गलेहनवद् बाह्यवृत्त्या यत्किमपि सुखं दृश्यते तस्याप्यायत्यामनन्तदुःखप्रदत्वेन दुःखरूपत्वादिति पर्यालोचनं लक्षणया संसारशब्दबोध्यमिथ्यात्वादिकमनन्तदुःखखनिसंसारकारागारनिवासमूलभूततया सर्वमहाऽनर्थकारणमिति पर्यालोचनं च मौढ्यं मूढता मिथ्याज्ञानमिति यावत्, अनुपपद्यमानसंसारदुःखौघविषयकत्वात्, वन्ध्यासुतजनितबाधागोचरभीतिविषयपर्यालोचनवत्। अयम्भावः-वन्ध्यासुतोऽसन्निति तेन दुःखौघभयं नोत्पद्यत इति तद्विषयकपर्यालोचनं वन्ध्यासुतोत्थदुःखौघाद् बिभेमीत्याकारकं मिथ्याज्ञानं यथा तथैकान्तपक्षेऽपरिणामवादात्मकेऽप्युक्तनीत्या कर्मबन्धाऽसिद्धेस्तज्जन्यसंसारस्यापि तत्कारणमिथ्यात्वादेश्चासिद्धिरेवेति तेनासिद्धेन

दुःखोपभर्त मोक्षपद एवेति तस्य पर्यालोचनमनुपपद्यमानार्थविषयकत्वान्मिथ्याज्ञानमिति तत्पूर्विका प्रवृत्तिर्विसंवादिन्येव । सूत्रान्तरं मदर्थमितदुपरार्थमाह—" बन्धं च विना मोक्षसुखप्रार्थना नास्ति मोक्षश्च य " चः सूत्रान्तरसमुच्चये, बन्धं विना मोक्ष-संसार-निवृत्ति-लक्षणं यदनन्तसुखं तत्प्रार्थना नास्ति, न भवत्येव, एकान्तवादे कर्मबन्धाऽभावेन संसाराऽनुपपत्तौ तन्निवृत्तिलक्षणमोक्षस्याप्यनुपपत्तेस्तत्सुखप्रार्थना नोपपद्यते, तथा मोक्षश्च अस्य नास्तीत्यनेनान्वयाभावास्ति अनुपपन्नः, चः समुच्चये, यथा निरपराधपुरुषस्य नैव बन्धनमिति न तन्मोक्षः, पूर्वेषं मनविशेषापेक्षत्वेन मोक्षस्य बन्धपूर्वकत्वात्, तदऽभावे तदऽभावात् तद्वदेकान्तवाद आत्मनः कर्मबन्धाभावेन न तस्य तन्निवृत्तिलक्षणो मोक्षः, अबद्धस्य मोक्षाऽसम्भवात्, च पाभावेन योगकषाययोः प्रकृति-प्रदेश-स्थित्यनुभागात्मक-बन्धहेत्वोरेकान्तपक्षे विरुद्धसंनैकत्वारम्भसम्भवात्, सम्भवे वा विरुद्धपरिणतिस्वभावभेदे नैकस्याप्यात्मनो भेदस्स्यात् ननु मायाया अज्ञानपदवाच्याया विकाररूपस्य चेतनाचेतनात्मकजगतो मायाविवर्तरूपत्वेन तन्मूलभूतं ब्रह्मैव तात्त्विक, सर्वत्रानुगतरूपत्वात् स्थास-कोशाद्यनुगतमृद्रव्यवत्, मृद्रव्यस्य विकाररूपं मृत्पिण्डशिवक-स्थास-कोशक-कुशूल-घट-कपाल-शकलादिकमिव मायाया विकाररूपं ब्रह्मण विवर्तरूपं जगदताऽतात्त्विकम्, तथा च ब्रह्मण एकरूपत्वात् च पायभावभेदता न दोषायेति चेत्, नैवम्, चेतनमेवाचेतनमेकरूपतया क्रमतः प्रतिपत्तेः, एकः सुखी एको दुःखी एको राजा एको धनाढ्य इत्याद्यात्मभेदप्रतिपत्ते घटपटादिभेदप्रतिपत्तेश्च सर्वानुभवसिद्धाया मिथ्यात्वे एकमेव ब्रह्मेति प्रतीतेरपि मिथ्यात्वं भवतो नैव बन्धं बन्धी भवेत्, एतच्च प्रागेव सविस्तरं निरस्तमित्यधिकं मोच्यते ॥ २ ॥

अथ " जाव णं एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलइ फन्दइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ताव णं तस्स जीवस्स अन्ते अन्तकिरिया न भवति " इति सिद्धान्तोक्तेर्वीतरागोऽपि यावच्चक्षुःपक्ष्मोन्मीलननिमीलनक्रियामात्रमपि करोति तावदस्य प्रतिसमयं योगनिमित्तं कर्मबन्धो भवति, तदन्येषां प्रमारम्भादिप्रवृत्तानां मिथ्यादृष्टीनां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगहेतुकोऽविरतानामविरतिकषाययोगहेतुकः सर्वविरतानामपि सकषायाणां कषाययोगहेतुकश्च कर्मबन्धो भवतीति तु कैमुतिकन्यायप्राप्तमेव, सर्वथैव योगक्रियाऽभावे च नव्यकर्मबन्धाभावेन पूर्वनिखिलकर्मक्षय शुक्लध्यानाग्निना क्षयेण मुक्तिरित्येतत्सर्वं स्याद्वादपक्ष एव घटते, नैकान्तपक्षे एकान्तनित्यस्यात्मनो विविधप्रकारकर्मबन्धहेतुमिथ्यात्वाविरतिकषाययोगविविधपरिणतिस्वभावत्वाऽभ्युपगमेऽपि विविधकर्मबन्धस्वभावभेदैरात्मस्वकर्मनिर्जरेऽपि क्रियाकारणहेतुयोगनिरोधादिक्रियाकरणस्वभावभेदैश्चानित्यत्वप्रसङ्गात् । एकान्ताऽनित्यस्य चात्मनः प्रतिक्षणं भिन्नस्वरूपत्वेन तथा कर्महेतुतत्क्रियाकरणस्वभावतत्कर्मकरणस्वभावद्वयैकत्वाभावेन यः कर्महेतुकर्ता स न कर्मकर्ता, यश्च कर्मकर्ता स न तत्फलभोक्ता, यश्च कर्मणा बद्धस्स एव न तन्मुक्त इत्यव्यवस्थितिप्रसङ्गात्। तदेवमेकान्तानुपपन्न

कर्मबन्धतद्धेत्वाद्यनुपपत्तेरैहिकाऽऽमुष्मिकतात्त्विकसर्वव्यवहारस्यानुभूयमानस्य विलोपकारित्वेनैकान्तसङ्घटितमूर्त्तयस्सर्वेऽपि नया मिथ्यानयाः, त एव भजनासङ्घटितस्वरूपा अत एवेतरनयविषयीकृतरूपाऽव्यवच्छेदकास्सम्यक्त्वरूपा भवन्तीत्युपसंहरन्नाह—

तम्हा सव्वे वि णया, मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा(सपक्खपडिवन्ना)।
अण्णोण्णणिस्सिया उण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

'तम्हा' इत्यत्र 'एवं' इत्यपि 'मिच्छादिट्ठी' इत्यत्र 'मिच्छदिट्ठी' इत्यपि पडिबद्धा इत्यत्र पडिवन्ना इत्यपि च पाठान्तरम्। 'तम्हा सवे वि णया मिच्छादिट्ठी' तस्मात् उक्तहेतोस्सर्वेऽपि नया मिथ्यादृष्टयः, तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—'सपक्खपडिबद्धा' स्व आत्मीयः, पक्षोऽभ्युपगमः, स्वपक्षः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता यतस्तत इति। पाठान्तरे उक्तार्थे स्वपक्षं प्रतिपन्ना अभ्युपगन्तारो नान्यं पक्षं यतस्ततः, स्वपक्षभिन्नपक्षविषयव्यवच्छेदनपरत्वादित्यर्थः। अनुमानमुद्रा चैवम्—सर्वनयवादा मिथ्यादृष्टयः स्वपक्षेणैव प्रतिहतत्वात्, चौरवाक्यवदिति, तथा च सुन्दोपसुन्दन्यायेन परपक्षविषयोन्मूलकतया तेषामनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमैकान्तैकधर्माऽवधारणलक्षणनयानां मिथ्यात्वे च तत्तन्नयविषयस्याऽसत्यत्वं तदभिधानस्य च मिथ्यात्वमेव, ज्ञानप्रामाण्याधीनत्वाद्विषयसत्यत्वस्य, वाक्यरचनां प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तत्प्रामाण्याधीनत्वाच्च तत्तन्नयविषयाभिधानात्मकवाक्यप्रामाण्यस्य, त एव नयाः स्वेतरनयविषयीकृतधर्माऽव्यवच्छेदकास्तदा सम्यक्त्वरूपा भवन्तीत्युपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—"अण्णोण्णनिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा" अन्योन्यनिश्रिता अन्योन्यनिस्सृता वा अन्योन्यनयविषयापरित्यागेन व्यवस्थिताः, स्वेतरनयविषयीकृतार्थानपलापिनो नयाः पुनर्भवन्ति सम्यक्त्वस्य यथावस्थितप्रत्ययस्य वाक्यात्मकनयपक्षे भावयन्तीति भावाः, सन्तो भावाः सद्भावा अवन्ध्यकारणानीत्यर्थः। ज्ञानात्मकनयपक्षे सम्यक्त्वसद्भावाः सम्यक्त्वस्वभावा इत्यर्थः। अयम्भावः—वाक्यरूपा एकान्ततत्त्वावगाहिनयास्सर्वे परस्परनिरपेक्षतया स्याद्वादैकवाक्यताऽनापन्नास्सावधारणाः स्वपक्षहतत्वान्मिथ्यारूपास्स्वविषयस्यासत्यत्वप्ररूपकाः स्वविषयाभिधानस्य च मिथ्यात्वख्यापकाः। "स्याद्वादनिरपेक्षैश्च तैस्तावन्तः परसमयाः" इति नयोपदेशोक्तेर्यावन्तो नयवादास्तावन्तः परसमयाः, त एव नयवादा विरुद्धयोस्सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वाद्योरविरोधभावनियामकं सापेक्षभावं गता अत एव निरवधारणास्स्याच्छब्दलाञ्छितास्समुदितास्सन्तोऽन्योन्यनयविषयापरित्यागवृत्तय इतरनयविषयसापेक्षस्वविषयसत्यत्वनिश्चायकाश्चेत्तदा स्वसमयरूपा इति ते प्रमाणभावलक्षणसम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते, प्रामाण्यस्य यावन्नयविषयसाव्यापकविषयताकनिश्चयत्वस्वरूपत्वेन तादृशनिश्चयोत्पादकत्वात्तेषाम्, उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—"जावन्तो

चयपयरा तावतो वा नया विसदामो । ते चेव य परसमया सम्मत्त समुदिया सव्वे ॥" २२६५ ।
इति । ज्ञानात्मका अपि नयास्सर्वे एकान्तवस्त्ववगाहिपराभिप्रायरूपाः स्वविषयेतरविषयोन्मूल-
नतत्परा विपरीतप्रत्ययरूपा मिथ्यात्मकाः, त एवेतरांशसापेक्षस्वविषयग्राहका यथावस्थित-
वस्तुप्रत्ययरूपाः समुदिताः प्रमाणभाव भजन्ते, एतेन प्रत्येकं मिथ्याभावापन्नानां तेषां नया-
नामन्यनिमित्तसमुदायेऽपि कथं सम्यक्त्वम्, तथात्वत्यागो वाऽपरित्यागेन तथापि तेषां विषया
न्तराऽप्रत्यपरित्यव्यापारका निरस्ता, यत एकैका अप्यपेक्षितेतरांशमात्रविषयग्राहकत्वेन सन्तो
नयाः, तद्व्यतिरिक्तस्वरूपतया त्वसन्तस्त इति सतां तेषां समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिद्दोषः । ननु
तत्कालविद्यमानानामेव रत्नानामेकतन्तुक्रमानुस्यूतानां समुदायो रत्नावलीति व्यपदिश्यते
परीक्षकैः, न चेतरेतरविषयापरित्यागप्रवीणां ज्ञानात्मकनयानामेककालोत्पत्तिसम्भवः, " जुगवं
दो नत्थि उवओगा" इति वचनात्, तथा च तत्कालाविद्यमानानां तेषां समुदाये सम्यक्त्व
व्यपदेशः कथं होमायत्स्यादिति चेत्, अनुक्तोपालम्भ एषः, न ह्येककालभाविज्ञानोत्पादरूपस्तेषां
समुदायो विवक्षितः, अपि स्वपरित्यक्ततरधर्मविषयाव्यवच्छेदाय एव समुदायः अन्योन्यनिश्रिता
इत्यनेनाप्ययमेवार्थः प्रतिपादितः, न हि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्या
मनुविद्धपर्यायोगपद्यमयवादोऽपरः प्रारब्धः, इत्येवं सम्मतितर्कावाक्यमुक्तमिति । तदभावश्च
तापव मिथ्यात्वाऽऽक्षिप्तानामेकान्तक्षणिकत्वाक्षणिकत्वाभिभवताभिमतत्वादिविशोभता
नयावादिनिक्षिप्तमतानां यस्य समुदायस्य चेतस्यापि लाञ्छितरूपावच्चैव स्यात्, नान्यथा,
परसिद्धान्तोक्तैकान्तवस्तुतत्त्वज्ञानेषु स्याद्वादतत्त्वनिर्णायकयुक्तिभिरेकान्ततत्त्वसाधकयुक्तीनां
निरासेन एकान्तेन तत्तत्त्वसाधकहेतूनां स्याद्वादसाधकत्वविरुद्धभिर्विसिद्धत्वप्रदर्शनेन चाऽ
प्रामाण्यनिश्चयात्तद्विषयाभावनिश्चये स्याद्वादसिद्धान्तसिद्धेः अत एव सम्यग्दृष्टिना स्याद्वाद
मर्यादया विषयविभागेन व्यवस्थापितस्सर्वोऽपि परसिद्धान्तस्स्वसिद्धान्त एवेति गीयते ।
ननु नयानां प्रत्येकमवस्थायां मिथ्यादृष्टित्ववत्समुदायेऽपि महामिथ्यादृष्टित्वप्रसक्त्या न
ते समुदिता अपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते, प्रभूतविषकणसमुदाय विषप्राचुर्यवत्, नापि परस्पर
विवदमानाः समुदिता वस्तुगमका भवन्ति प्रत्येकावस्थायां तदगमकत्वात्, प्रत्युत मिथो
विरोधित्वाद्वस्तुविघातायैव भवन्ति, वैरिसमूहवदिति चेत्, नैवम्, वस्तुतत्त्वानवबोधात्, यतः
प्रभूतविषकणा अपि मौरमन्त्रवादिनाऽतिप्राज्ञकुशलक्रियवीपूर्वपाकमहावैद्येन वा निर्विषी-
कृत्य कुष्ठादिरोगिभ्यो दत्ता अमृतरूपतां प्रतिपद्यन्ते, तद्वद् विषकणोपमाः प्रत्येकनया अपि
आत्मप्रदेशाभ्यन्तरे मिथ्यात्वविषव्याप्त्याऽज्ञानसंमूर्च्छाकारिणोऽपि समुदितास्ते महामन्त्र
वादिसमेन महावैद्यसमेन वा स्याद्वादतत्त्वज्ञानानुपकृतोपकारयुक्ता निष्पक्षपातहितक्ष
हित्या सम्यग्ज्ञानिना सम्यग् विनियोजिता विरोधभावरूपं विषं दूरीकृत्यापगतोपमाऽविरोध
भावं गमिता मिथ्यात्वरोगव्याप्तस्वान्तानामप्युपयुक्ता मिथ्यात्वरोगं हत्वा महाकर्मवैरि-
वलक्षयसम्यग्ज्ञानसमीचीनसम्यग्दर्शनभावलक्षणारोग्यभावं प्रापयन्ति, अत एव ते भगवताः

परस्परविवदमाननानाभिप्रायभृत्यानां सम्यगुपायतो नयज्ञेनाज्ञामारेण राज्ञा, भूम्यादिना केनापि कारणेन मिथो विवदमानानां व्यवहारिणां न्यायदर्शिना समवृत्तिना केनापि पुंसा वा युक्तिभिर्विरोधमात्रभञ्जनवन्निःस्वार्थवृत्तिना जिनागमोक्तयथार्थनयतत्त्वविदुषा महर्षिणा तेषां नयवादानां विरोधमात्रभञ्जनात् सम्यग्भावं भजन्ते । उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—

"न समेन्ति नयसमेया, सम्मत्तं नेव वत्थुणो गमगा ।
वत्थुविघायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेव ॥ २२६६ ॥"

एतदाशङ्क्य तदुत्तरमाह भाष्यकारः—

"सव्वे समयन्ति सम्मं, चेगवसाओ नया विरुद्धा वि ।
भिच्च-ववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७ ॥" इति ॥ २१ ॥

ननु नयसमुदाये न सम्यक्त्वं सम्भवति प्रत्येकनयेषु सम्यक्त्वाभावात्, यद् यदेकैकेषु वस्तुष्वसत् तद् तत्समुदायेऽपि न सम्भवति, यथा सिकतासु तैलमिति चेत्, मैवम्, रत्नावल्यादावनैकान्तिकत्वादुक्तहेतोरित्येतत्प्रतिपादनार्थमाह—

जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं, न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ २२ ॥

'जहऽणेगलक्खणगुणा' यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शने, अनेकानि अनेकप्रकाराणि विषविघातहेतुत्वादीनि लक्षणानि तथाप्रकारा नीलत्वादयश्च गुणा येषां ते अनेकलक्षणगुणाः, के ते इत्याशङ्कायां विशेष्यीभूतकर्त्तृपदमाह—'वेरुलियाई मणी' वैडूर्यादयो मणयः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—'विसंजुत्ता महग्घमुल्ला वि' विसंयुक्ताः विशकलिता महार्घमूल्या बहुमूल्या अपि, कर्त्तृपदं क्रियापदमाकाङ्क्षमिति तत्पूर्त्तये निषेधसंवलितं क्रियापदमाह—'न लहंति' न लभन्ते, न प्राप्नुवन्ति, सकर्मकक्रिया च कर्मापेक्षेति तत् किमित्यत आह—'रयणावलिववएसं' इय रत्नावलीत्येवं व्यपदेशं व्यवहारमित्यर्थः ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तलक्षणगुणा वैडूर्यादिमणयो महामूल्या अपि पृथग्भूततया मिथः सापेक्षभावमनापन्ना रत्नावलीति व्यपदेशं न लभन्त इति दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमुपदर्शयितुमाह—

तह णिययवायसुविणि-च्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥

तह णिययेत्यादि—तथेति दार्ष्टान्तिकोपदर्शने 'न पावंति' न प्राप्नुवन्ति, किन्न प्राप्नुवन्तीत्यत आह—'सम्मद्दसणसद्दं' सम्यग्दर्शनशब्दं 'सुनयाः' इत्येवं व्यपदेशम्, एवम्भूताः के इत्याशङ्काया कर्त्तृपदमाह—'सव्वे वि णया' सङ्ग्रहादयस्सर्वेऽपि प्रत्येक

नयाः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—'विवयवायसुविणिच्छिया वि' निज एव निजक स्वस्मिन् निजकवादे इतरनिरपेक्षसामान्यादिप्रतिपादकत्वस्ववादे सुविनिश्चिता हेतुप्रदर्शन-कुशला अपि, तत्र हेतुगमविशेषणमाह—'अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा' अन्योन्यपक्षनिरपेक्षाः, अस्य हेतुरूपतया अन्योन्यपक्षनिरपेक्षत्वादित्यर्थः ॥ दुर्नयरूपितनयाः परस्परनिरपेक्षत्वात् रत्नावलीति व्यपदेशं न लभन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ दीपिकोपयोगरूपप्रमाण-चैतन्यस्य साकारानाकारदर्शनपर्यायमनिगाऽनेकनयज्ञानात्मकत्वपाऽनेकात्मकस्य प्रमाणात्मकतयैकाकारकस्य सुनयपदवाच्यत्वेन परस्परनिरपेक्षसंग्रहादीनामेकैकनयानामन्योन्यविषयपरित्यागवृत्तीनां तादृशचैतन्यस्वरूपस्याभावेन न ते 'सुनया' इति व्यपदेशमासादयन्तीति भावः ॥ २३ ॥

> जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।
> 'रयणावलि'त्ति भण्णइ, जहंति पाडिक्कसण्णाओ ॥ २४ ॥

'जह पुण ते चेव मणी' यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शने, यथा पुनस्ते चैव त एव च मणयः 'जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा' गुणविशेषाः सूत्रविशेषस्तस्य भाग एकदेशस्तमनतिक्रम्य प्रतिबद्धाः सम्बद्धास्ते यथा गुणविशेषभागप्रतिबद्धाः, एकसूत्रकमप्रोताः, अत एव सम्बद्धाः, 'रयणावलित्ति भण्णइ' रत्नावलीति भण्यन्ते, ते मणयोऽर्थसूत्रकारस्तां परित्यज्यैकसूत्रानुस्यूतार्थसूत्रावस्थारूपेण परिणामिन इयं रत्नावलीति व्यपदिश्यन्ते, रत्नानुविद्धतया रत्नावल्यास्तदनुविद्धतया च रत्नानां प्रतीतेः, रत्नीयमभिधेयविशेषस्य तादृशविशिष्टरत्नानां वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वात्, "जहति पाडिक्कसण्णाओ" जहति प्रत्येकसंज्ञाः, एते मणय इति पूर्वकालीनाभिधानानि परित्यजन्ति, रत्नीयमभिधेयविशेषस्य तद्विशिष्टरत्नानां वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वनियमस्तस्य तेषां वा रत्नीयमभिधेयविशेषतद्विशिष्टरत्नावाचककरत्नवाचकशब्दाऽवाच्यत्वात्, विशिष्टाविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेदस्यानुभवप्रतीतिसिद्धत्वात् ॥ २४ ॥

> तह सव्वे णयवाया, जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
> सम्मद्दंसणसद्दं, लहंति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

'तह सव्वे णयवाया' तथेति दार्ष्टान्तिकोपदर्शने, तथा सर्वे नयवादाः 'जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा' यथाशब्दो वीप्सार्थे, अनुशब्दः सादृश्यार्थे, रूपशब्दश्च स्वभावार्थेऽत्र वर्तते। तथा च रूपस्य स्वभावस्य सदृशमनुरूपमित्यव्ययीभावसमासः, ततोऽनुरूपमनुरूपं प्रतीति यथानुरूपमिति यथाशब्देन सहानुरूपस्याव्ययीभावसमासः, ततो यथानुरूपे विनियुक्तं यथानुरूपविनियुक्तम्, यथाऽनुरूपविनियुक्तं वक्तव्यं येषां ते यथानुरूपविनियुक्तवक्तव्याः, वक्तव्यशब्दो नयव्यापारवाचकस्तथाव्यत्रोपचारात्तदा

चकशब्दपरः। तथा च यद्यदनुरूपं तत्र तत्र विनियुक्तः प्रयुक्तस्तद्वाचकशब्दो येषां ते तथा, अन्योन्यविषयाऽपरित्यागवृत्तय इति यावत्, एवम्भूतास्सर्वे नयाः "सम्मद्दंसणसद्दं लहंति" सम्यग्दर्शनशब्दं प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते 'ण विसेससण्णाओ' न विशेषसञ्ज्ञाः, सङ्ग्रहादिप्रत्येकतत्तन्नयसञ्ज्ञा न प्राप्नुवन्ति। अजहद्वृत्त्यैकोपयोगत्वविशिष्टसाकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयज्ञानानां तादृशनयज्ञानीयाजहद्वृत्त्यैकोपयोगस्य वा प्रमाणशब्दवाच्यत्वात्, विशिष्टनयात्मकस्यापि प्रमाणचैतन्यस्य शुद्धनयवाच्यत्वात्। साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकैकचैतन्यप्रतीतेः, अन्यथा चाऽप्रतीतेरिति। अयम्भावः—यथा स्वान्यनिरपेक्षप्रत्येकवैडूर्यादिरत्नेषु न रत्नावलीति व्यपदेशः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिथस्सापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेषु तथा प्रत्येकनिरपेक्षेषु नयेषु न सम्यग्दर्शनव्यवहारः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिथस्सापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेष्विति। ननु तत्र कथं विशिष्टैकाध्यवसायलक्षणसमुदायार्थत्वोपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अपरित्यक्तेतररूपविषयाऽध्यवसाय एव समुदाय इत्यत्रैकत्वस्याऽविवक्षितत्वादपरित्यक्तेतररूपविषयत्वस्यैव समुदायाऽर्थस्य नयप्रमाणसाधारणस्याऽभिप्रेतत्वादिति। "नन्ववग्रहादिचतुष्टयात्मकमतिज्ञानोपयोगवत् साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यस्याध्यक्षसिद्धत्वात्तत्र रत्नावलीदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, असिद्धसिद्धये वादिप्रतिवादिसिद्धदृष्टान्तोपन्यासस्य साफल्यात्, अत्र च तदभावादिति चेत्, न, उक्तस्वरूपैकानेकात्मकोपयोगे स्वसंवेदनसिद्धेऽपि वादिविप्रतिपत्तिजन्यसंशयनिरासेन निश्चयदार्ढ्यार्थं तदुपादानादिति ॥ २५ ॥

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनेन तदेवाह—

लोइयपरिच्छयसुहो, निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
अह पण्णवणाविसउ त्ति, तेण वीसत्थमुवणीओ ॥ २६ ॥

'लोइयपरिच्छयसुहो' लौकिकाश्च परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षकाः, तेषां व्युत्पत्तिविकलतद्युक्तप्राणिनां सुखः, सुखपदमत्र स्वघटितं यत् सुखप्रतिपत्त्युपाय इत्येतद्वाक्यं तत्परम्, तेन लक्षितलक्षणया सुखेनानायासेन प्रतिपत्त्युपायो व्याप्तिग्रहोपाय इति तदर्थः, अर्थात्सुखपदं सुखप्रतिपत्त्युपाय इति वाक्यं लक्षयति, तच्च लक्षणयाऽनायासेन व्याप्तिग्रहोपायरूपमर्थं बोधयति, वाक्यलक्षणाभावे तु सुखपदमेव लक्षणयोक्तमर्थं बोधयति, 'निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य' निश्चयवचनप्रतिपत्तिमार्गश्च, निश्चयवचनस्य नैश्चयिकवचनस्य एकानेकात्मकदीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्यस्य यत्प्रामाण्यं तस्य प्रमाणमित्येवं या प्रतिपत्तिस्तज्जनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकश्च। अथेत्यवधारणे, 'पण्णवणाविसउत्ति' प्रज्ञापनाविषय इति, दृष्टान्तो ज्ञातस्स्याद्दैव दार्ष्टान्तिकसिद्धये समर्थस्स्यात् स स्वस्वरूपज्ञानार्थं प्ररूपणाविषयः प्रकृतनिदर्शनविषयो रत्नावलीदृष्टान्त इति।

अयम्भावः—साकाङ्क्षमेकमनेकपदजनितमेकप्रमाणात्मकं चैतन्यं सुनयपदवाच्यं प्रमाणपदवाच्यं वैशेषिकप्रकारकथञ्चिज्ज्ञानविकल्पानां लौकिकानां परममनित्यानां परीक्षकाणां च चैतन्यमेकानेकात्मकं, तथा प्रतीयमानत्वात्, यदेकानेकात्मकतया प्रतीयते तदेकानेकात्मकम्, यथा क्रमेणैकत्वेनानुस्यूतरत्नमभिवेद्यनिष्पन्नरत्नावली, अत्र यः खलु क्रमिकत्वेनानुस्यूतरत्नसमूहः स समूहसमूहिनां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वात् एकानेकात्मकः, तत्र रत्नावलीत्वेनैकत्वं प्रत्येकानुस्यूतानेकमण्यात्मकत्वेनानेकत्वं सर्वैरप्यविवादास्पदतया स्वीकृतमिति तद्दृष्टान्तबलेन दीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्यापि प्रमाणस्वरूपतयैकत्वं नयस्वरूपतयाऽनेकत्वमिरपेक्षमुक्तचैतन्ये एकानेकात्मकत्वस्य सुखेनानायासेन भवति प्रतिपत्तिरिति रत्नावलीदृष्टान्तः सुखप्रतिपत्त्युपाय इति दृष्टान्तस्यैको गुणः । द्वितीयश्च यथा क्रमिकमणिवैशिष्ट्यविशिष्टरत्नसमूहस्य कथञ्चित् समूहिस्वरूपतयाऽनेकत्वेऽपि रत्नावलीयमित्येकव्यपदेशवत्त्वं रत्नावलीस्वरूपसमूहापेक्षयैकत्वेन ज्ञानं प्रमाणम्, तज्जनकत्वात्तद्वाक्यमपि प्रमाणम्, तथा साकाङ्क्षमेकसमयवाक्यजनितनयज्ञानानामपि दीर्घैकोपयोगरूपतामयमेकत्वमाश्रित्य प्रमाणमित्याख्यायाऽभिनिर्वृत्तं ज्ञानं प्रमाणविषयकं प्रमात्मकम्, तज्जनकत्वात्प्रमाणनयापेक्षयैकानेकात्मकचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्यं नैगमादिकवचनं प्रमाणमित्येवं या तत्प्रमाणप्रामाण्यप्रतिपत्तिस्तज्जनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकत्वात्मको गुणः । एतद्द्वयमपि दृष्टान्ताऽप्रदर्शने सति न सम्भवति, न हि स्वरूपतस्तेन दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकं द्रढयितुं समर्थः, अतस्तत्स्वरूपप्रतिपत्तये प्रज्ञापनाविषयः प्ररूपणाविषयो भवति, ततश्च तथाभूतस्य स्वमतस्य दार्ष्टान्तिके साधयितुं प्रगल्भ इति प्रज्ञापनाविषयत्वं तस्य तृतीयो गुणः ।

'तेण बीसरयणुवमीओ' तेन कारणेन विषयत्वं निदर्शकं यथा ज्ञायते तथा, ज्ञापितमिति शेषः । उपमीय उपदर्शितो दृष्टान्तः । न चावयवत्वात्तः प्रागुत्तरकाले च रत्नानां निपतोपलम्भात् प्रमाणावस्थायाश्च प्रागुत्तरकाले नयानां तदभावादुदाहरणवैषम्यमिति वाच्यम्, प्रमाणस्यैकानेकात्मकत्वोपपत्तिमात्रार्थमावश्यकस्यात्मकभेदाहरणोपादानम्, सर्वथा साम्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तेरिति । एतेन रत्नावलीदृष्टान्तेन सङ्गदिता यथाऽसम्बन्धस्य व्यपदेशं लभन्ते, अर्थात् प्रमाणमित्याख्यामवाप्नुवन्तीत्युक्तं भवति, तत्र युक्तियुक्तम्, यतो रत्नावल्यां दवरकपरिच्छिन्नसमुदायस्सम्भवति, न च नयानां स युक्तः, तेषां ज्ञानरूपत्वेनैकत्र रत्नानामिव तत्सम्भवाभावात्, एककालावच्छेदेनैकरूपेण ज्ञानस्योपययादित्यपि निरस्तम्, न यत्र दवरकपरिच्छिन्नसमुदाय उच्यते किन्तु परस्परमपरित्यागीकृतरूपाव्यवच्छेदकलक्षणः, उक्ताव्यवच्छेदकत्वमेव चान्योन्यनिश्रितत्वं गीयते, तत्र प्रागेवोक्तम् इदमेव च प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तत्र सम्यक्त्वपदं प्रवर्तते, रत्नावलीदृष्टान्तोऽपि निमित्तभेदेन व्यपदेशमेदज्ञापनार्थमेव योक्तः, न त्वेकैकव्यक्तिप्रचयपरिच्छिन्नसमुदायरूपज्ञापनार्थमित्युक्तदोषाभावात् ॥ २६ ॥

अथ-"असदकरणादुपादान,-ग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥"

माङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यामित्युक्तेः कारणेषु शक्तिरूपेण सदेव कार्यमभिव्यक्तस्वरूपतयोत्पद्यते, दुग्धे दधिवत् तिलेषु तैलवदिति रत्नादिकारणेऽत्रावल्यादिकार्यं सदेवेति साङ्ख्यः। दुग्धादेरेव दध्यादिरूपेणेव कारणानामेव कार्यरूपेणाव्यक्तस्वरूपतया व्यवस्थितत्वात् तदव्यतिरिक्तं विकारमात्रं कार्यं परिणमत एव, अर्थात् कारणमेव स्वाभिन्नकार्यरूपतया परिणमत इति साङ्ख्यविशेषः, अभूत्वा भवनं प्रागमतः सत्तासम्बन्धो वोत्पत्तिरित्युत्पत्तिपूर्वकालावच्छेदेन कारणे नैव कार्यं विद्यते, न वा कारणमेव कार्यरूपेण परिणमते, किन्तु समवायिकारणात् पृथग्भूत तत्र चासत् सामग्रीतः समवेतं कार्यमुत्पद्यते, तच्च न स्वतो विनश्यति किन्तु विनाशसामग्र्येति यावत्तदभावस्तावत्तन्न विनश्यतीति स्थिरभूतमिति नैयायिकवैशेषिकादयः, बौद्धा अपि तत्तत्कार्यानुकूलकुर्वद्रूपात्मकतत्तन्निमित्तकारणसहकृतोपादानकारणेन तत्रासत्कार्यं क्षणिकमुत्पद्यते, स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाविभावानपेक्षणेन स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे निर्हेतुकस्यैव तद्विनाशस्य भावादित्यसत्कार्यवादं प्रतिपद्यन्ते। न कार्यं कारणं वाऽस्ति, द्रव्यमात्रमेव तत्त्वमित्यपरे, ब्रह्मैव सत्, जगत्तु तद्विवर्त्तरूपम्, मायायाश्चाऽज्ञानपदवाच्याया विकाररूपम्, तथा च ब्रह्मणो विवर्त्तोऽज्ञानविकारश्च जगदिति वेदान्तिनो वदन्ति। तथा चोक्तम्—

"सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विवर्त्त इत्युदीरितः॥"

सतत्त्वतः तत्त्वविशिष्टस्य अन्यथाप्रथाऽन्यथाभावो विकार इति प्रोच्यते, यथा मृदस्तत्त्वं मृत्त्वं तद्विशिष्टाया मृदः घटभावः–घटाकारपरिणामो मृद्विकार इत्युच्यते, यथा वाऽज्ञानस्य मायाया जगदाकारेण परिणामोऽज्ञानविकार इत्युच्यते। अतत्त्वतस्तत्त्वरहितस्यान्यथाप्रथाऽन्यथाभावो विवर्त्त इत्युच्यते, यथा लूताशरीरावच्छिन्नचेतनस्य तन्त्वाकारपरिणामो न भवति किन्तु लूताशरीरस्य तथाभावः, अतो लूतापदवाच्यचैतन्यस्य तन्त्वाकारो विवर्त्त इत्युच्यते, लूताशरीरस्य तु विकार इत्येवोच्यते, एवमज्ञानोपाधिविशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामाऽभावेऽपि जगदाकारेण भासमानत्वात् जगत् ब्रह्मणो विवर्त्त इत्येवोच्यते, अज्ञानस्य तु साक्षादेव जगदाकारेण परिणममानत्वादज्ञानविकारो जगदित्युच्यते। इत्येवं नानाभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो रत्नावलीदृष्टान्तस्यापि पूर्वोपदर्शितैकानेकात्मकत्वं नैव मन्यन्ते इति तद्रूपतया स्वयमेवासिद्धस्स परस्परसाकाङ्क्षसकलनयजनितनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यात्मकदार्ष्टान्तिकसिद्धये न प्रभविष्णुः, तस्य साध्यसमत्वादित्येवमेकान्ततत्त्वादिमतप्रदर्शनपूर्वकं तन्मतनिरासायाह—

इहरा समूहसिद्धो, परिणामकओव्व जो जहिं अत्थो ।
ते तं च ण तं तं चेव-त्ति णियमेण मिच्छत्तं ॥ २७ ॥

'इहरा' इतरथा उक्तप्रकाराऽनभ्युपगमे, 'समूहसिद्धो' रत्नानां समूहे सति सिद्धः निष्पन्नः समूहसिद्धः, स क इति चेत्, रत्नावल्यादिः, तत्र तस्य सद्भावात्, रत्नमालादिरूपेण रत्नादीनामाविर्भावात्, 'परिणामकओव्व' परिणामकृतो वा, यथा क्षीरादिषु दध्यादिः, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, क्षीरादीनामेव दध्यादिरूपेण परिणमनादिति । वस्तु यस्मात् सर्वस्यैव परमाणुसमूहपरिणामोभयकृतत्वेऽपि 'समूहसिद्धः' 'परिणामकृतो वा' इति विकल्पाभिधानं किञ्चित्कार्यं समूहकृतं किञ्चिच्च परिणामकृतमिति लौकिकव्यवहारापेक्षया, "जो जहिं अत्थो" यो यत्रार्थः, य आवल्यादिर्दध्यादिर्वा यत्र रत्नादिषु क्षीरादिषु वा, 'ते तं च' ते रत्नादयस्तदेवावल्यादिकं, समूहसमूहिनोरभेदात्, क्षीरादिकं वा तद्दध्यादिकमेव, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, परिणामपरिणामिनोश्चाऽभेदादिति सत्कार्यवादः। 'ण तं' न कारणमेव कार्यम्, किन्तु तद्भिन्नमसदेवोत्पद्यत इत्यसत्कार्यवादः, 'तं चेवत्ति' तदेव च, न कार्यं न वा कारणम्, किन्तु द्रव्यमात्रं तत्त्वमिति तदेवेत्यपरे, क्षणमात्रं वा तत्त्वमित्यद्वैतवादः। "इति णियमेण मिच्छत्तं" 'इति' एवं नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सति मिथ्यात्वम्, सर्व एव एते मिथ्यावादाः, नियमेनेत्युक्त्या कथञ्चिदभ्युपगमे त्ववयविकारणं कथञ्चित्कार्यात्मकम्, परिणामः कथञ्चित्परिणाम्यात्मकः, कार्यं कथञ्चित्कारणात्मकं, कारणं वा कथञ्चित् कार्यात्मकम्, एवं परिणामोऽपि कथञ्चित् परिणाम्यात्मकः, एवं द्रव्यतत्त्वमपि कथञ्चित् कार्यं न वा कारणमित्येवमभ्युपगमे सर्वे चैते सम्यग्वादा एवेत्युक्तं भवति ।

"यदुत्पादव्ययध्रौव्य-योगितां न बिभर्त्ति वै ।
तादृशं वाजिशृङ्गादि-रूपमेव परं यदि ॥ १ ॥"

उत्पादादित्रिसिद्धिर्न्यायवचनात् न किमपि वस्तु तथाविधं यत् न्येति नोत्पद्यते न ध्रुवति, देवभावेन विनष्ट मनुष्यभावेनोत्पन्नोऽप्यद्, द्रव्यत्वभावेन विनष्टाङ्गदभावेन हेमो त्पन्नमित्याद्युभयार्हद्वस्तुमात्रस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमितरधर्मवत्येव सिद्धेस्तत्तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यञ्च, कारणमकारणञ्च, कारणे कार्यं सदासञ्च, कारणं कार्यकाले विनाशवत् अविनाशवच, तथैव प्रतीतेरन्यथा चाप्रतीतेः । तदेवं तत्तद्वस्तुनोऽनुभवप्रमाणप्रसरूपतयैवानेकान्तरूपत्वान्मन्यन्तुसूत्ररत्नावलीदृष्टान्तस्याप्येवमनेकात्मकत्वेन सिद्धेर्न साध्यसम त्वमिति तदुदाहरणविनाशाऽस्माकमसूत्रनयप्रमाणात्मकशीर्षोपरमरूपैकान्तपक्षस्याप्यपेक्षितत्वादनेकात्मकत्वेन सिद्धिरप्यप्रत्यूहेति सिद्धम् । ननु पूर्वोक्तपक्षेषु नियमेन मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेत्, तदप्याकर्णय सावधानीभूय, तथाहि—'पूर्वानी कारणो दध्यादिकं कार्यं सदेव' इति सत्कार्यमतं, तन्मते हि सर्व एव भावास्सर्वत्र सन्त एव कारणे कार्याणि,

नासन्तः, न हि स्वतोऽविद्यमानाः शशविषाणादयः क्वचिदपि शक्यन्ते कर्तुम्, सिकतासु वा तैलम्, असदुत्पत्तौ तु सर्वत्राऽसत्त्वाऽविशेषान्नियमाभावात्सर्वस्मात्सर्वकार्योत्पत्तिस्स्यादिति, तन्न युक्तियुक्तम्, यतः पूर्वं सदेव कार्यं चेत्, तदा कारणव्यापारेण नैव किमपि कर्त्तव्यमिति तद्वैफल्यमेव, किञ्च सदर्थविषये कारकव्यापार इष्यमाणे कारकव्यापारानुपरमप्रसङ्गः, किं हि तदोपलक्ष्य कारकाणि निवर्त्तेरन्? कार्यसत्तामिति चेत्, न, त्वन्मते तस्याः प्रागपि भावात्, अथ पूर्वं शक्तिरूपेण कार्यं सत् नाभिव्यक्तयापीत्यनभिव्यक्तं तत्तेनाभिव्यक्तीक्रियत इति तत्साफल्यमेवेति चेत्, मैवम्, यतस्साऽभिव्यक्तिः सती चेत्, तदा तत्करणायोगात् कारणव्यापारवैफल्यमेव, असती चेत्, तदा पूर्वमसत्यास्तस्यास्तेन सद्रूपत्वकरणेन असदकरणादित्यादिसाङ्ख्योक्तसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गः, अथ कारणव्यापारेणावरणविनाशः क्रियत इति तत्साफल्यमित्यपि पक्षो न युक्तः, यतोऽन्धकारपिहितघटानुपलम्भे आवारकीभूताऽन्धकारोपलम्भवत् कस्यचित्कार्यावारकस्योपलम्भस्स्यात् न च तदुपलम्भः, येन तद्विनाशकरणेन कारणव्यापारसाफल्यं स्यात्, न च कारणमेव कार्यावारकमित्यपि वक्तुं शक्यम्, तस्य तदुपकारकत्वेन प्रसिद्धेः। ननु यद् यद्दर्शनप्रतिबन्धकं तत्तदावारकं, यथा घटदर्शनप्रतिबन्धकमन्धकारं घटावारकं, कार्यदर्शनप्रतिबन्धकञ्च कारणमिति तत्तदावारकमिति चेत्, तर्हि चक्षुषा घटाऽदर्शनेऽपि तत्स्पार्शनप्रत्यक्षवच्चक्षुषा कार्यादर्शनेऽपि तत्स्पार्शनप्रत्यक्षप्रसङ्गस्स्यात्, अथ कार्यदर्शनप्रतिबन्धकत्वेन कारणं कार्यावारकं न, किन्तु पटादिवद् व्यवधायकत्वेनेति चेत्, तदपि न युक्तम्, व्यवधायकस्य पटस्य भित्त्यादेर्वा ध्वंसे घटादेरुपलम्भवद् व्यवधायकस्य कारणीभूतमृत्पिण्डस्य ध्वंसेऽपि घटकार्योपलब्धिप्रसङ्गः, क्षीरनीरादिवदात्यन्तिकसंश्लेषेण तदावारकत्वे च तत्पृथग्भावं विना तदनुपलब्धिप्रसङ्गः, निराकरिष्यते चाग्रे सत्कार्यवाद इति न किञ्चिदेतत्। एतेन कारणमेव स्वाऽभिन्नकार्यतया परिणमत इत्येव लक्षणानर्थान्तरपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्तोऽवसेयः, अभेदे विशेषणविशेष्यभावस्येव परिणामपरिणामिभावस्याप्यऽयोगात्। यदपि कारणेऽसदेव कार्यं सामग्रीत उत्पद्यत इत्यसत्कार्यवादात्मकं नैयायिकवैशेषिकमतं तदपि "असतः सत्तासमवाय उत्पत्तिरित्युत्पत्तिलक्षणस्य समवायघटितत्वेन समवायस्यैकान्तभिन्नावयविनश्च पूर्वं निरासकरणान्निरस्तमवसेयम्। कारणे सर्वथाऽसदेव क्षणिकं कार्यं कुर्वद्रूपात्मकपूर्वकारणादुपजायत इत्यसत्कार्यवादात्मकं बौद्धमतमपि न सङ्गतम्, एकान्तक्षणिकवादस्यैवाऽसिद्धेः। अथ यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेस्सत्त्वहेतोः क्षणिकत्वसिद्धिः, एवं कृतकत्वहेतोरप्यनित्यत्वसिद्ध्या क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, साध्यसाधनभावो भेदनिबन्धन एव, अन्यथा स्वात्मना स्वसिद्धिस्स्यादिति यत्सत्तत्क्षणिकमित्यत्र यत्कृतकं तदनित्यमित्यत्र च भवन्मते पक्षसाध्यहेतूनां वस्तुगत्या स्वलक्षणरूपत्वेनाभेदात् साध्यसाधनधर्मभेदाऽसिद्धौ

सत्त्वहेतोः क्षणिकत्वस्य कृतकत्वहेतोश्चाभिमतत्वस्यासिद्धेः । अथ सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृत-
कत्वाऽनित्यत्वयोश्चाऽतद्व्यावृत्तिरूपतया तद्भेदेन भेदस्वीकारान्नैष दोष इति
चेत्, तदप्यसत्, यतस्तद्व्यावृत्तिभेदो न स्वतः, तासां तुच्छरूपत्वेनाभ्युपगमात्स्वतो
भेदस्याऽयोगात्, योगे वा भेदस्य तद्व्यावृत्तिभेदकत्वाद्वस्तुत्वं स्यात्, अन्यथा भेदस्य तद्
व्यावृत्तिभेदकत्वमेव न स्यात्, असद्रूपत्वात्, तथा च वस्तुत्वस्यानेकान्तात्मकत्वव्याप्यत्वेन
व्याप्यस्य तस्य सत्त्वे व्यापकस्यानेकान्तात्मकत्वस्यापि सत्त्वात्सिद्धेरिष्टं नस्समीहितम्,
किञ्च तद्व्यावृत्तीनामिव घटपटादिवस्तूनामेव स्वतो भेदोऽस्तु किमन्तर्गडुतद्व्यावृत्तिभेद
कल्पनया । नन्वेवं तदनुगतप्रतीतिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते—वस्तुनस्सामान्यविशेषोभ
यात्मकत्वाऽनेकान्तात्मकत्वात्सामान्यांशमादायानुगतप्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति । अथ व्य
वच्छेद्यभेदात्तद्व्यावृत्तिभेद इत्यपि न युक्तम्, भवन्मते क्षणिकेतरव्यावृत्तेरसत्त्वेतरव्यावृत्तेश्च
एवमनित्येतरव्यावृत्तेः कृतकेतरव्यावृत्तेश्च व्यवच्छेद्यस्य परमार्थभूतस्य कस्यचिदभावा
त्तासां भेदाभावप्रसक्तेः, अथ व्यवच्छेद्यस्य पारमार्थिकस्य कस्यचिदभावेऽपि तस्य कल्पनया
सम्भवत्त्वेनेति काल्पनिकव्यवच्छेद्यभेदात्तद्भेदोऽस्त्विति चेत्, तदपि न सङ्गतम्, व्यवच्छे
द्यस्य नित्यस्य कल्पना नित्येतरव्यावृत्त्या, अन्यथा नित्यानित्ययोरेकत्वापत्तिस्स्यात्, तथा
च नित्येतरव्यावृत्त्यनित्येतरव्यावृत्त्योरन्योन्यव्यवच्छेद्यभेदेन भेदव्यवस्थितौ कथं नान्यो
न्याश्रयः, तथाहि—कल्पितनित्यस्य नित्येतराभिमततया सिद्धौ तद्व्यवच्छेदेनानित्यत्वसिद्धिः,
अनित्यतराभिमततया अनित्यत्वस्य सिद्धौ च तद्व्यवच्छेदेन नित्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय
स्यादन्योन्याश्रयदोषापत्तितो नान्यतरस्यापि सिद्धिः, व्यावृत्त्योर्भिन्नतया चाऽसिद्धौ न
साध्यसाधनभाव इत्यतो न क्षणिकत्वसिद्धिः । अथ तद्व्यावृत्तीनां व्यवच्छेद्यभेदसम्भेदो
मास्तु, बुद्धिप्रतिभासभेदात्तु स स्यादेव येन च साध्यहेत्वोर्भेद इति भेदनिबन्धनसाध्य
साधनभावात्सत्त्वहेतुना क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि, शब्द इति बुद्धिप्रतिभासाच्छब्दत्व
बुद्धिप्रतिभासस्य भेदेन शब्दाच्छब्दत्वस्य भेदात्तस्य साधनभावस्स्यात् तथा च शब्दोऽ
नित्यः शब्दत्वादित्याद्यनुमानस्यापि प्रामाणिकत्वापत्त्या न शब्दत्वहेतुः प्रतिज्ञार्थैक
देशाऽसिद्धो हेतुस्स्यात्, अयम्भावः—प्रकृते पक्षेण शब्देन समं शब्दत्वहेतोरैक्यमा
श्रित्य पक्षहेत्वोरैक्यात्प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वस्य शब्दत्वहेतोर्यदुक्तं तन्न स्यात्, पूर्वोक्तनीत्या शब्द
शब्दत्वयोर्भेदाभ्युपगमात् । न च शब्द इति बुद्धिप्रतिभासाच्छब्दत्वमिति प्रतिभासस्य
भेदो नेति वाच्यम्, आकारभेदस्य ज्ञानभेदप्रयोजकत्वाऽत्रापि सद्भावात्, अन्यथैकमेव
ज्ञानं स्यात्, आकारभेदेऽपि बुद्धिप्रतिभासभेदानभ्युपगमे विषयभेदासिद्ध्या शब्दशब्दत्व
योर्धर्मधर्मिभाव एव न स्यात् । अथ प्रतिभासभेदेऽपि व्यवच्छेद्यभेदाभावान्न शब्दशब्द
त्वयोर्भेद इति शब्दत्वहेतोः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वम्, नन्वेवं तर्हि भावाभिधायी घटत्व-
शब्दो द्रव्याभिधायी घटशब्द इति तयोः पर्यायत्वं स्यात्, धर्मभूतशब्दत्वाभिधायि

शब्दधर्मिभूतस्वलक्षणात्मकशब्दाभिधायिशब्दयोरेकार्थाभिधायित्वात् घटकलशशब्दवत्, अन्यथा प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि न स्यात्। तन्न भवदभिप्रायेण सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृतकत्वाऽनित्यत्वयोस्साध्यसाधनभावः, भेदाभावात्। अथ अनुपलब्धिहेतुः कार्यहेतुश्च यत्र तत्रैव भेदनियतस्सम्बन्धः, अत्र तु स्वभाव एव हेतुरिति वृक्षशिंशपयोरिव परमार्थतः सत्क्षणिकयोरनित्यकृतकयोरभेदात्तन्नियतस्तादात्म्यसम्बन्ध एव, तथा च सत्त्वक्षणिकत्वयोरनित्यत्वकृतकत्वयोर्भेद एव कल्पनानिर्मितो न त्वभेदः, अतो विकल्पवशाद्धर्मयोर्भिन्नत्वाद्वास्तविकाभेदनियततादात्म्यसम्बन्धाच्च गम्यगमकभाव इति सत्त्व सत्त्वाध्यवसायिना निश्चयेन भेदेन निश्चीयमानं क्षणिकत्वाध्यवसायिनिश्चयेन भिन्नतया निश्चीयमानस्य क्षणिकत्वस्य गमकम्, एवमेव कृतकत्वमनित्यत्वस्य, यतो विकल्पस्यानुभवद्वारोत्पन्नत्वेनाऽनुभवद्वारा स्वलक्षणविषयत्वं, एवमनुभवद्वारा निश्चितविकल्पविषयत्वेन स्वलक्षणस्य निश्चितरूपत्वान्नाश्रयासिद्धत्वम्, सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृतकत्वानित्यत्वयोश्च भिन्नविकल्पविषयत्वेन काल्पनिकभेदरूपत्वान्न वा गम्यगमकभावाभावः, अव्यभिचारश्च साध्यसाधनयोर्वास्तविकाभेदनिबन्धनतादात्म्यसम्बन्धादिति चेत्, स्यादेतत्, यदि स्वलक्षणस्य कुतश्चित्प्रमाणात् सिद्धिस्स्यात्, न चैवं निरंशं तत्सिद्धम्, तथाभूतस्य स्वप्नेऽप्यप्रतीयमानत्वात्, यादृग्भूतं कृतकत्वाद्यनेकधर्माध्यासितं प्रत्यक्षे सम्प्रतिभाति तन्न निरंशं, यतस्तदनुभवद्वाराऽऽयातसत्त्वक्षणिकत्वादिविकल्पप्रतिभासिनां धर्माणामव्यभिचारात् साध्यसाधनभाव उपपद्येत, न चानुमानत एव निरंशस्वलक्षणसिद्धिरिति वाच्यम्, व्याप्त्यसिद्धावनुमानस्यैवाप्रवृत्तेः। अथ विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणभावी स्वप्रतियोग्युत्तरभाविभावानपेक्षत्वात्, यद् यदुत्पादने स्वोत्तरवर्त्तिभावानपेक्षं तत्स्वाव्यवहितोत्तरक्षण एव तदुत्पादकम्, यथाङ्कुरोत्पादनेऽन्त्या सामग्रीत्यनुमानतः क्षणिकत्वं सेत्स्यतीति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, शाल्यङ्कुरोत्पादने समग्रसामग्रीसमवधानदशायामनपेक्षेष्वपि यवबीजादिषु तदुत्पादकत्वाभावेन हेतोरनैकान्तिकत्वात्, अथ यद् यदुत्पादकस्वभावं सद् यदुत्पादने स्वोत्तरभाविभावानपेक्षं तत् स्वाव्यवहितोत्तरक्षणे तदुत्पादकमेवेति नोक्तदोषः, यवबीजादीनां शाल्यङ्कुरोत्पादकस्वभावाभावेन तादृशस्वभावविशिष्टतादृशानपेक्षत्वस्य हेतोस्तत्राभावादिति चेत्, तर्हि यस्मिन् क्षणे विनश्यत्स्वभावो यो भावस्तदव्यवहितोत्तरक्षणे तस्य नाशो भवतु, यश्च कृतकोऽपि भावः प्रथमक्षणे न तथास्वभावस्तस्य न तदव्यवहितोत्तरक्षणे ध्वंस इति न सर्वथा क्षणिकत्वम्, तथा च यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्त्यसिद्धेर्न वस्तुमात्रे क्षणिकत्व सिद्ध्यति। अथ कार्यक्रमः स्वातिरिक्तकारणक्रमात्, न तु स्वतः, यत्र न स्वातिरिक्तकारणक्रमो न तत्र कार्यक्रमः, तथा च भावस्य स्वविनाशे न स्वातिरिक्तकारणापेक्षा, अतः कारणक्रमाभावान्न भावस्य ध्वंसोत्पादने विलम्ब इत्यायातं क्षणिकत्वमिति चेत्, मैवम्, विभिन्नशक्तिमत्तया विचित्रप्रकारास्सामग्र्यो दृश्यन्ते, तत्र काचित्सामग्री स्वाव्यवहितोत्तरक्षणे ध्वंसो-

स्यादिति, क्षणिकं तत्पदार्थमात्रं मा भजेत्, यथा विलक्षणाप्यनुद्धिनसृष्टादेव घटो भवति, न सर्वस्मादित्ययापार्थं क्षणिकक्षणिकत्वस्वरूपत्वं वस्तुन इति । प्रथमान्त्ये विनाशितेनार्थ सम्यानां प्रतिक्षणं ध्वंसो यदि न स्यात्तर्हन्तेऽपि क्षणे ध्वंसप्रतीतिर्नोत्पद्यत, द्वितीयक्षणेऽपि भावस्य स्थितिस्वीकारे सर्वदा स्थितिप्रसङ्गात्, तथाहि–किं भावस्य स्वरूपम्, द्विक्षणस्थायित्वमिति चेत्, तर्हि द्वितीयेऽपि क्षणे द्विक्षणस्थायित्वस्वभावस्यानतिक्रम एव, अतिक्रमे वा प्रथमक्षण द्विक्षणस्थायित्वस्वभावस्य द्वितीयक्षण एकक्षणस्थायित्वस्वभावस्य च भेदेन धर्मभेदाद्धर्मिणोरपि भिन्नत्वं स्यात्, तथा चापार्थं क्षणिकत्वमित्यतो द्वितीयेऽपि क्षणे तस्य भावस्स्वीकरणीय एव, स च स्वभावो न तृतीयक्षणमवृत्तित्वमन्तरेण, एवं तृतीयचतुर्थादिपरोत्तरक्षणेऽपि तत्स्वभावानपगम एव, अपगमे वा क्षणिकत्वप्रसङ्गः पूर्वोक्तरीत्या तदवस्थ इत्यासंसारं भावस्य स्थितेरविनाशाद्विनाशप्रतीतिर्दुर्लभा स्यात्, न चैवम्, अतस्तत्प्रतीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रतिक्षणं विनाशसिद्धिरिति । किञ्चाद्ये क्षणे योऽभूत्वा भवनलक्षणजन्मस्वभावस्स एव चेद् द्वितीयेऽपि क्षणे तदा तदाऽप्युत्पत्तिरेव, न स्थितिरित्यापादितं क्षणिकत्वम्, द्वितीयेऽपि क्षणे स्थितेरभावात् । अथ प्रथमक्षणे जन्मैव, न स्थितिः, द्वितीयेऽपि क्षणे स्थास्नुस्वभाव एव नोत्पत्स्नुस्वभाव इति विरुद्धधर्माध्यासाभावेन न क्षणिकत्वमिति चेत्, तर्ह्येकस्मिन् विरुद्धधर्माभ्यामप्रसङ्गेन धर्मद्वयाऽयोगेन तद्धर्मिणोर्भिन्नत्वं वाच्यम्, एवञ्च यस्य जन्म न तस्य स्थितिर्यस्य स्थितिर्न तस्यैव जन्म किन्त्वन्यस्यैव, तथा च प्रथमक्षणवृत्तित्वविशिष्टक्षणवृत्तित्वप्रयुक्तस्थितेरभावादापार्थं क्षणिकत्वम् । किञ्च परस्परभिन्नयोः पूर्वकालसम्बन्धित्वापरकालसम्बन्धित्वयोर्विरुद्धस्वभावत्वेन तद्वतस्तद्धर्मिणोरपि भिन्नत्वमिति स्वभावभेदेन क्षणिकत्वस्यैव सिद्धेरिति न विनाशं प्रत्यनपेक्षा भावस्येति चेत्, मैवम्, स्वहेतोरेव भूतभविष्यद्वर्तमानस्वभावत्वेन त्रिकालस्थायितया प्रथमक्षण एवोत्पन्नो भावः, तथाहि–भूतक्षणेष्वभवं स्थितम् वर्तमानक्षणे भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् स्थास्यन् इति त्रिस्वभावतया सदुपजातो भावः, न च परापरकालसम्बन्धित्वस्य विरुद्धधर्मत्वम्, तत्स्वभावतयैवोत्पन्नत्वात्, अथ भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् इत्यस्य भविष्यत्कालीनस्थितिमान् घट इत्यर्थः, स च न युक्तियुक्तः, यतस्समानकालीनयोरेव विशेषणविशेष्यभावः, न तु भिन्नकालीनयोरपि, तयोस्सम्बन्धायोगात्, तथा च भविष्यत्कालावच्छिन्नस्थितेर्वर्तमानकालेऽभावेन न तद्विशेष्यत्वमिदानीन्तनघटस्य भवेदत्, यथातीतस्यमुरारोपेन तत्स्वीकारात्, तथा चानागतकालस्येदानीमभावेन तदवच्छिन्नस्थितस्याभावेऽपि तद्विशेष्यत्वं वर्तमानघटादिभावस्याविरुद्धमेव, अन्यथा सव्येतरगोविषाणवत् समानकालीनयोरपि सम्बन्धायोगस्समान एवेति विशेषणविशेष्यभावाऽभाव एव, तथाहि–किं समानकालीनयोः कार्यकारणभावस्ताद्रूप्यं वा सम्बन्धः, नाद्यः, पूर्वापरवर्तिनोरेव तत्स्वीकारेण सिद्धान्तव्याकोपप्रसङ्गात्, नापि द्वितीयः, सर्वथाऽभेदे तद्योगात्, अन्यथा घटस्यापि घटाकारस्यसम्बन्धात् घटविशेष्यत्वापत्तेः

घटोघट इति प्रतीत्यापत्तिस्स्यात् । तस्मादुभयात्मकवस्तुन्येव तत्त्वम्, तथा च वर्त्तमान-भविष्यत्कालावच्छिन्नघटादिव्यक्त्यैक्येऽपि पूर्वापरकालात्मकविशेषणभेदेन कथञ्चिद्भेदस्वीकारेण विशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः स्थास्यन् वर्त्तमानो घट इति प्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति, न चैकस्मिन् स्थिरे पदार्थे पूर्वापरकालसम्बन्धित्वयोर्विरोधदोषाघ्रातत्वान्नोपपत्तिरिति वाच्यम् एव सत्येकस्य परमाणोः परमाणुषट्केन युगपत् संयोगसम्बन्धबलात्परमाणोरपि षट्त्वं स्यात्, तदुक्तम्—"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" इति । तस्मादेकस्य परमाणोः तद्दिगवच्छेदेन तत्परमाणुना तदन्यदिगवच्छेदेन तदन्यपरमाणुना सह युगपत्संयोगसम्बन्धवत्स्थिरस्यापि पदार्थस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन पूर्वापरकालसम्बन्धोपपत्तेर्नापरापरकालसम्बन्धप्रयोज्याऽपरापरस्वभावभेदो विरुद्धः, येन विरुद्धधर्माध्यासेन भेदापत्त्या क्षणिकत्वं सिद्धं स्यात् । एतेनैकस्य परमाणोः किं सर्वात्मनाऽपरपरमाणुभिरभिसम्बन्धः, किं वैकदेशेन, आद्ये सम्बन्धिद्वययोरेकपरमाणुरूपत्वापत्त्या परमाणुमात्रं पिण्डस्स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि ते एकदेशा देशिभूतपरमाणुस्वरूपाः किं वा तद्भिन्नस्वरूपाः, आद्ये भिन्नैकदेशानामेवाभावान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः, द्वितीये च ते एकदेशाः परमाणुभिस्सम्बद्धा असम्बद्धा वा, यद्यऽसम्बद्धास्तदा स्वमतक्षतिः, सम्बद्धाश्चेत्तदा सर्वात्मना, एकदेशेन वा, सर्वात्मनाऽभिसम्बन्धपक्षे एकदेशैकदेशिनोरभेदादेकदेशाऽभावान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः परमाणूनाम् । एकदेशेनैकदेशानामेकदेशिनाऽभिसम्बन्धपक्षेऽपि चैकदेशानां ततो भेदाभेदकल्पनायां तदवस्थः पर्यनुयोगोऽनवस्था च, न च प्रकारान्तर दृष्टम्, येन परमाणूनामभिसम्बन्धस्स्यादित्यतोऽनुपलभ्यमानसम्बन्धकल्पनायां प्रमाणाऽभावेन षट्केन युगपत्सम्बन्धात् परमाणोः षडंशता स्यादित्युक्तमापादनमपि न युक्तियुक्तमिति कुचोद्यावकाशोऽपि निरस्तः, परमाणूनां द्रव्यनयेन निरंशतयैवाभ्युपगमेन कात्स्न्येनैकदेशेन वैकपरमाणोः परमाण्वन्तरेणाभिसम्बन्धाऽभावेऽपि इमौ संयुक्ताविति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेणैषां सम्बन्ध इति कल्पनाया एव प्रमाणभूतत्वात् अन्यथा परमाणूनामसम्बद्धानां जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वमेवानुपपन्नं स्यात् । वंशादीनां चैकदेशाकर्षणे तदपरदेशाकर्षणमुपलभ्यमानं न स्यात् । अथाभावप्रयुक्तव्यवधानस्य योऽभावस्तल्लक्षणनैरन्तर्यमात्रादेव संयुक्तप्रतीत्याद्युपपत्तेः किमर्थान्तरसंयोगकल्पनयेति चेत्, मैवम्, तद्भावमुखेन प्रतीयते न त्वभावमुखेनेति तस्य भावरूपत्वे नामान्तर एव विवादात्, तथा च भावमुखेन प्रतीयमानस्य नैरन्तर्यात्मकस्यापि संयोगस्यानभ्युपगमे कार्योत्पत्तिरहेतुका स्यादिति सोऽभ्युपगन्तव्य एव, तस्मात्पूर्वापरकालसम्बन्धयोगेऽपि स्वभावभेदान्नैकान्ततः क्षणिकत्वम्, किन्तु नीलपीताद्याकारसमूहालम्बनज्ञाने यथा स्वरूपत एकत्वेऽपि नीलाकारत्वपीताद्याकारत्वरूपविभिन्नस्वभावत्वेनानेकत्वमविरुद्धं भवताऽभ्युपगत तथैकस्मिन्नप्यक्षणिकवस्तुनि तत्तत्कालसम्बन्धप्रयुक्तापरापरस्वभावभेदेन कथञ्चिदनेकत्वमविरुद्धमित्येकानेकस्वरूपतया प्रतीयमाने पदार्थे एकान्त-

मेदानुपपत्त्या स्वप्रतियोग्युत्तरभाविभावानपेक्षस्वहेतोरभिन्नः विनाशे स्वप्रतियोग्युत्पत्तिकाला व्यवहितोत्तरक्षणभावित्वमिद्धिर्नेति सिद्धम्। एतेन विनाशो निर्हेतुकः स्वप्रतियोग्युत्तरभावि हेत्वनपेक्षत्वादित्यनुमानेन निर्हेतुकत्वे सिद्धे विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्त्यनन्तरमेव भवति निर्हेतुकत्वादित्यनुमानेन क्षणिकत्वसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, मुद्गरादिना घटो ध्वस्त इति प्रतीतेर्विनाशस्य निर्हेतुकत्वस्यैवाऽसिद्धेः। किञ्चान्वयव्यतिरेकग्रहाधीन एव कार्यकारणभाव ग्रह इतीतरसकलकारणसद्भावे सति मुद्गरादिसत्त्वे घटध्वंसः, तदभावे तदभाव इत्यन्वय व्यतिरेकाभ्यां मुद्गरादेर्हेतुत्वे सिद्धे विनाशस्य निर्हेतुकत्वं निर्युक्तिकमेवेति पूर्वोक्तानुमानेन न क्षणिकत्वसिद्धिरिति। एतेन यो यन्मात्रहेतुको यो यदधीनत्वेन ध्रुवभावी वा स तदुत्पत्त्युत्तर क्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति सामान्यव्याप्तिमूलक विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्त्युत्तरक्षणेऽवश्य मभ्युपगन्तव्यः स्वप्रतियोगिमात्रहेतुकत्वात् स्वप्रतियोग्यधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्वेत्यनुमान मपि निरस्तम् ध्वंसवत्स्थितिरपि स्वाश्रयोत्तरक्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्या स्वाश्रयमात्रहेतुक त्वात् स्वाश्रयाधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्वेत्यापत्तिप्रसङ्गात्। अन्यतो यदेव हेमद्रव्यं कुण्डलरूपे णोत्पद्यते तदेवाङ्गदादिरूपेण विनश्यतीत्यादिप्रत्ययानुरोधेनोत्पादव्ययोरेकाधिकरणतापि स्थायापि द्रव्यरूपस्थितिस्तन्वयस्याभ्युपगन्तव्यत्वादवसेयेति। अथाऽक्षणिके क्रमेण तत्तत्कार्य कारित्वस्वभावत्वे तत्तत्कार्यभेदेन तत्तत्कार्यतानिरूपितकारणत्वस्वभावानां भिन्नत्वात्तत्स्वभाव तद्वतोरभेदात् यावन्तस्तत्स्वभावास्तावद्भेदप्रसङ्गेनैकत्वमेव तस्य व्याहतं स्यात्, युगपदेव कार्य कारित्वस्वभावत्वे यावत्तत्कार्याणामभ्युत्पत्तिप्रसङ्गः, अविकलकारणत्वात्, तथा चैकक्षण एव सकलकार्योत्पत्तेर्द्वितीयक्षणेऽकिञ्चित्करत्वेन गगनारविन्दतुल्योऽक्षणिकभावस्स्यात्। न चैकोऽपि भावः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रतीतिकमपि। किञ्च क्रमेणार्थक्रियां साधयन् स्थिरो भावो विवक्षिततत्तत्क्षणावच्छिन्नकार्यं प्रतीव तदुत्तरक्षणा वच्छिन्नकार्यं प्रति समर्थस्वभावः किंवाऽसमर्थस्वभावः, तत्र आद्यपक्षो युक्तः, समर्थस्य भावस्य क्षेपाऽयोग इति विलम्बेन कार्यकरणे हेत्वभावेन क्षणान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथम क्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्, समर्थस्य कालक्षेपाऽयोगात्, कालक्षेपाभ्युपगमे चाऽसामर्थ्य प्राप्तेः, नापि द्वितीयपक्षस्सङ्गतः, असमर्थस्वभावत्वात्तदुत्तरकालावच्छिन्नं तेन कार्यं नोत्पद्येत ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावाद्भावाभावसद्रूपं स्यात्। यद्योत्तरकालावच्छिन्नकार्यं प्रति पूर्वक्ष णावच्छेदेनैवाऽसमर्थं न तूत्तरकालावच्छेदेनापीति चेत्तर्हि तत्पूर्वकालावच्छिन्नसामर्थ्या सामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यस्तत्वेनैकस्या अपि व्यक्तेर्भेदप्रसक्त्या स्थैर्यं न स्यात्। समर्थ स्यापि सहकार्यपेक्षया विलम्ब इति चेत्, तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षत्वविरुद्धं सञ्जातमिति भावस्स्वतोऽसमर्थस्वभावस्स्यात्, "नापेक्ष्यमसमर्थम्" (पात महा० १ १–८) इति वचनात्, तस्य स्वतस्सामर्थ्ये वा सहकारिसन्निधावजायमानानि कार्याणि स नैवोपेक्षेत, अपि तु झटित्येव तानि घटयेत्, अन्यथा तत्सामर्थ्यस्यैकार्येऽनागतत्वनवधिकत्वस्यात्।

किञ्च ते सहकारिणः किञ्चित्करा अकिञ्चित्करा वेति विकल्पद्वयम्, अकिञ्चित्करत्वे सहकार्यपेक्षानुपपत्तेः, किञ्चित्करत्वादेव तदपेक्षेति चेत् तत्र पृच्छामः किं कारणस्य स्वरूपलाभार्थं सहकार्यपेक्षा, उतोपकारार्थम्, किं वा कार्यार्थमिति, न प्रथमः, स्वरूपस्य कारणाधीनस्य नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात्, न द्वितीयः, स्वयं समर्थेऽसमर्थे वोपकारस्यानर्थकत्वात्। नापि तृतीयः, कारणस्य कार्यानुकूलसामर्थ्ये सहकारिणमन्तरेणापि तत एव कार्योत्पत्तेः, कार्यानुकूलाऽसामर्थ्ये च सहकारिणस्सत्त्वेऽप्युक्तस्वभावस्य तदवस्थत्वादेव कार्यानुत्पत्तेस्सहकारिणोऽकिञ्चित्करत्वेन नापेक्ष्यत्वं सम्भवतीति कार्यार्थमपि तदपेक्षाऽयोगादिति, अनेकाधीनस्वभावतया कार्यमेवापेक्षत इति चेत्, न, कार्यस्य पूर्वमसिद्धत्वेनान्यस्याऽपेक्षाऽयोगात्। स्वतन्त्रकारणानुविधायित्वे च कार्यस्य स्वतन्त्रकारणवदेवान्यापेक्षताऽयोगात्, अथवा केयमपेक्षा नाम, किं तैस्सह करोतीत्यन्वयपर्यवसितः स्वभावभेदः, उत तैर्विना न करोतीति व्यतिरेकपर्यवसायिस्वरूपविशेषः, आहोस्वित्तैरुपकृतः करोतीत्युपकारभेदः, आद्यपक्षे तैः सह करोतीत्यत्र सहकारिसाहित्यार्थकं तैस्सहेत्यन्तमुपलक्षणम्, किं वा विशेषणमिति विकल्पद्वयम्, यद्युपलक्षणं, तर्हि तस्य विशिष्टशरीराप्रविष्टत्वात्करोतीत्येतावन्मात्रस्य स्वभावत्वप्रसक्त्या सहकार्यऽसमवधानकालेऽप्युक्तस्वभावस्य सद्भावेन कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यात्। यदि विशेषणं, तर्हि कर्तृत्ववत् सहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावानुप्रविष्टत्वात् सहकारिणो न कदापि जह्यात्, प्रत्युत पलायमानानपि तान् गले पाशेनाकृष्यानयेत्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एव न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तः, पूर्ववत्सर्वदाऽकर्तृत्वप्रसङ्गात्। सहकारिविरहादेवाऽकर्तृत्वस्वभावश्चेत् तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुवशादुपसर्पतोऽपि सहकारिणः पराणुद्य न कुर्यादेव, तद्विरहप्रयुक्ताऽकर्तृत्वस्वभावत्वात्। अयम्भावः—तैर्विनेत्यस्य विशेषणत्वात्तस्योक्तस्वभावप्रविष्टत्वेन कदापि तत्परित्यागाऽभावेन सहकारिकालेऽप्युक्तस्वभावस्य सत्त्वेन तदानीमपि कार्यं न कुर्यादेवेति। अथ सहकारिषु सत्सु कर्तृस्वभावः, तद्विरहेऽकर्तृस्वभाव इति स्वभावद्वयमेवेति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासेनैकस्या अपि व्यक्तेर्नानात्वप्रसङ्गेन स्थिरत्वहानेः क्षणिकत्वसिद्ध्याऽस्माकमेव सिद्धिस्स्यात्, न चोक्तस्वभावद्वयस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेनाभ्युपगमान्न विरुद्धधर्माध्यास इति वाच्यम् स्वभावतद्वतोरभेदात्स्वभावयोर्भेदे तदभिन्नधर्मिणोरपि भेदस्यावश्यम्भावात्, एकस्य धर्मिणस्स्वाभिन्नस्वभावद्वयायोगात्, योगे वा तद्वद् धर्मिणोऽपि द्वैतप्रसङ्गस्स्यात्, धर्मिण इव स्वभावद्वयस्यापि वैक्यप्रसङ्गस्स्यात् तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति। स्वभावतद्वतोर्भेदे हिमाद्रिविन्ध्याचलयोरिव सम्बन्धाऽयोगेन स्वभावयोर्धर्मिणि सत्त्वाऽयोगेन निस्स्वभावत्वेनासतो धर्मिणः किञ्चित्कार्यकारित्वं न स्यादिति। तृतीयपक्षस्तु बहुदुःखानवस्थादुरस्थः, तथाहि–सर्वदोपकारप्रसङ्गपरिहाय सहकारी कारणे उपकारं सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव करोतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। सहकार्यन्तरमपि सहकारिण्युपकारं कुर्वत् सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव तं करोति, तदपि सहकार्यन्तरं सहकार्यन्तरे मुहुर्मु-

न्तरमपेक्ष्यैव तं विदधते, एवमग्रेऽपीत्यनवस्थाऽऽपत्ता। सहकारिकृतोपकारेण सर्वेण सर्वदा कार्योत्पादनसमर्थमीस्योपकारान्तरमपेक्षणीयं स्यात्, तेनाप्यन्योपकारोऽपेक्षणीयस्स्यात्, तेनाप्यन्य इत्येवं द्वितीयाऽनवस्था। तथा सहकारिणा कर्तव्यस्योपकारस्य धर्म्यभेदे सहकारिणा धर्म्येवोत्पादितस्स्यात्, न चेदं युक्तम्, कारणीभूतस्य धर्मिणस्स्वकारणादेव प्रागेवोत्पन्नत्वात्, धर्मिभेदे तु तस्य किमायातम्, भेदे सम्बन्धाऽयोगेन धर्मिणोऽनुपकृतत्वेन तदवस्थत्वात्। अथ भिन्नेनाप्युपकारेण धर्मिणि किञ्चिदुपकारान्तरमाधेयम्, तर्हि तेनापि तथान्यदाधेयं स्यादिति तृतीयाऽनवस्थाऽऽश्रयतश्चावलम्बिनी स्यादिति परेषामक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्चतः क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिवशात् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति, तदप्यर्थक्रियाकारित्वं व्यापकं निवर्तमाने स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीत्यक्षणिकस्यासत्त्वे सिद्धे प्रकारान्तराभावात् क्षणिक एव सर्वं विभाव्यतीति सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिसिद्ध्या क्षणिकत्वं सेत्स्यतीति चेत् उच्यते, ममापि क्षणिकेऽपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्याक्षणिकत्वादिनापि वक्तुं शक्यत एव, तथाहि—न हि कारणभेदमन्तरेण कार्यस्य भेद उपलभ्यते, अन्यथैकस्मादेव कारणादनेककार्योत्पत्तिर्भविष्यतीति भिन्नकार्योत्पत्तये भिन्नकारणोपादानानां प्रवृत्तिर्निष्फला स्यात्, तथा चैकस्मादेव प्रदीपात् युगपदेव स्वोपादेय—स्वविषयकज्ञान—घटादिविषयकज्ञान—तमोध्वंस—वर्तिविकारादयो भवन्ति तत एकक्षणस्यैकस्य प्रदीपस्य कार्यभेदप्रयोजकस्वभावभेदेन भवन्मतेऽनेकत्वं स्यात्, एवं पूर्वरूपस्योपादानभावेनोत्तररूपं प्रति, सहकारिभावेन चोत्तररसादिकं प्रति कारणस्यैकस्यापि पूर्वरूपस्यानेकत्वं स्यात् स्वभावभेदमन्तरेण कार्यभेदाऽयोगात्, एकस्वभावत्वेऽन्यस्य च तेषां कार्याणामेकत्वापत्तेः, स्वभावभेदे चैकत्वस्य व्याहतेर्नैकस्य युगपदनेककार्यकारित्वमभीष्टं सिद्धं स्यादिति। अथ स्वभावभेदादेव कार्यभेदो नेष्यते किन्तूपादानभेदादेवेति चेत्, भवत्वेवं, तथापि स्वभावभेदोऽभ्युपगत एव, उपादानभावेन सहकारिभावेन चैकस्य प्रदीपादे रूपादिक्षणस्य वा युगपदनेककार्योत्पत्त्युपयोगाभ्युपगमात्। उपादानसहकारिस्वभावयोश्च परस्परं भेदात्, तथा च स्वभावभेदादेकस्यापि प्रदीपादिक्षणस्यानेकत्वमनिवार्यं स्यादिति। अथैकस्मिन् कार्ये य एवोपादानभावस्स एव कार्यान्तरोत्पत्तौ सहकारिभाव इति तयोरभेदान्न स्वभावभेद इष्यत इति चेत्, तर्हि किं सहकारिरूपं कारणमभ्युपगम्यते किं वोपादानरूपम्, न तावदाद्यपक्षो युक्तः उपादानस्याभावात् कुतस्तस्मात्कार्यभवः। न द्वितीयोऽपि पक्षः समीचीनः, यतः प्रदीपः स्वोपादेयकार्यं प्रति यथोपादानकारणं तथैव सहकार्यकार्यमपि जनयति, यथा पूर्वरूपमुत्तररूपं प्रत्युपादानकारणं तथैव रसादिकं प्रत्यपीत्युपादानभूतस्यैकत्वेनोपादानभेदात्कार्यभेद इति पक्षस्तेऽभिमतानि कार्याणि न स्युः। एवमपि यदि क्षणिककारणमप्येकं क्वचन प्रत्युपादानभाव एवान्यत्कार्यं प्रति सहकारिभाव इति न प्रतिक्षणस्वभावभेदः तर्ह्यक्षणिकस्यापि कारणस्य पूर्वापरका-

वच्छिन्नकार्यकारित्वमेवोत्तरकालावच्छिन्नकार्यकारित्वम्, न त्वन्यदिति क्रमेणानेककार्यकारिणोऽपि न स्याच्छक्तिलक्षणस्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यञ्च। न च पूर्वक्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यमेव यद्युत्तरक्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यं तर्हि तयोरभेदात्पूर्वक्षणावच्छेदेनैवोत्तरकार्यानुकूलसामर्थ्यसद्भावात् पूर्वक्षण एवोत्तरकार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यादिति वक्तव्यम्, क्षणिकेऽप्यस्य समानत्वात्, तथाहि—कारणस्य प्रथमक्षणावच्छिन्नसत्ताकाले द्वितीयतृतीयादिक्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यस्याभावे उत्तरकालेऽपि तत्तत्कार्याणि न स्युरिति प्रथमक्षणेऽपि तादृशसामर्थ्यसद्भावेन युगपदेव तत्तत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्स्यात्, समर्थस्य क्षेपायोगादिति कार्यकारणयोरेककालीनत्वप्रसक्त्या कार्यकारणभाव एव विनश्येत। नन्वाद्यक्षणे सहकारिविरहान्नोत्तरक्षणावच्छिन्नकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इति चेत्, तर्ह्यक्षणिकपक्षेऽपि तुल्यमेतत्। अथोक्तसामर्थ्यस्योत्तरक्षणघटितत्वेन तच्छालिना कारणेन पूर्ववर्तिनोत्तरक्षणावच्छेदेनैव तत्तत्कार्योत्पत्तिः, न तु प्रथमक्षणावच्छेदेनेति यदि ब्रूयात्तदाऽक्षणिकवादेऽपि समानमेवैतत्। तन्न क्षणिकपक्षे युगपत्कार्यकारित्वं युज्यते, नापि क्रमिककार्यकारित्वं क्षणिकवस्तुनि प्रमाणपद्धतिमवलम्बते, सर्वकालमभिन्नस्वरूप एव वस्तुनि तस्य घटमानत्वात्, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्य तत्र सम्भवात्। प्रतिक्षणविनाशिनि च भावे नानादेशव्याप्तिलक्षणस्य देशक्रमस्य नानाकालव्याप्तिलक्षणस्य कालक्रमस्य चासम्भवात्। यदाहुः—

"यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्ति,-र्भावानामिह विद्यते॥ १॥" इति।

अन्यथा तत्तत्पूर्वापरक्षणोत्पद्यमानघटपटमठादीनामपि क्रमवत्क्षणापेक्षया तत्तत्कार्यकारित्वेन क्रमिककार्यकारित्वप्रसङ्गरूपातिप्रसङ्गस्स्यात्, अथ यद्यपि स्वतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानः क्षणिकपदार्थो भिन्नभिन्न एव तथापि पूर्वापरक्षणवर्त्तिनां तेषां सौसादृश्यादेकत्वाध्यवसायात्काल्पनिकैकत्वेन क्रमकारित्वम्, क्रमोत्पद्यमानघटपटादीनां तु तदभावान्न तथात्वमित्यपि न च वक्तव्यम्, सर्वतो व्यावृत्तवस्तुत्वादिना भिन्नेष्वभेदावगाहिभ्रान्तिनिमित्तस्य वस्तुभूतसाधर्म्यस्याभावात्, न चैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वेन साधर्म्यमभ्युपगन्तव्यम्, चक्षूरूपालोकमनस्कारेष्वपि तस्य प्रसक्तेः, काल्पनिकसादृश्यस्य तादृशभ्रान्तिनिमित्तत्वे च कल्पनाया निरङ्कुशत्वेन सर्वत्र तत्प्रसङ्गात्। वास्तविकसादृश्यस्य चाभ्युपगमे तस्य यदि क्षणिकत्वमुररीकरोषि न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाऽक्षणिकत्वमिति चेत्, तर्हि पर्यवसितं क्षणिकवादेन, अक्षणिकस्य सादृश्यस्य सद्भावात्, अभिहितञ्च न्यायमञ्जर्याम्—

"अथापि नित्यं परमार्थसन्तं, सन्ताननामानमुपैषि भावम्।
उत्तिष्ठ भिक्षो फलितास्तवाशाः, सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः॥ १॥" इति

तदेवं क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्ततोऽर्थक्रियानिवृत्तौ तद्व्याप्य सत्त्व व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तमानं गत्यन्तराऽभावादक्षणिक एवावस्थानं लभत इति साध्यविपर्ययसाधनात्सत्त्वहेतुर्विरुद्ध इति न तेन क्षणिकत्वं सिध्यति । यच्च समर्थस्वभावस्य क्षेपाऽयोग इति विकल्पेन कार्यकरणे हेतुभावेन कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यादिति पूर्वोक्तं, तत्र सहकारिसान्निध्ये सति क्षेपाऽयोग इति वदामः, तथा च सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव, तथाहि—सहकारिषु सत्सु करोति तैर्विना न करोतीत्येवमस्य स्वभावो दर्शनबलादेवावगम्यते, एवंविधस्वभावस्य विरोधाभावादुभयवादिसिद्धत्वाच्च यतः क्षणिकोऽपि हि कुर्वद्रूपो भावः सहकारिभिः सहैव करोतीति स्वभावो भवद्भिरभ्युपगन्तव्य एव । इतरथा सहकारिणामसहकारित्वप्रसङ्गः स्यात् । ननु नैते सहकारिणः, किन्तु सहितकारिण इति चेत्, तर्ह्येकैकस्य सामर्थ्ये पृथगेव कार्यजननापत्तिः, असामर्थ्ये सहितकारित्वमपि न भवेत्, न हि वन्ध्या इतरसहकृतोऽपि पुत्रोत्पादको दृष्ट इति । अतस्सहकारिभिस्सहैव करोतीति नियमे सति तैर्विना न करोतीति विपर्ययनियमोऽप्यागत एव, अतः सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव । कारकस्य स्वरूपलाभार्थं सहकार्यपेक्षा उतोपकारार्थं किं वा कार्यार्थमिति विकल्प्य यदुक्तं, तदप्यसङ्गतमेव, यतः कारकस्य फलोपधानात्मककारणतावच्छालिस्वरूपमेव सहकार्यपेक्षम्, सहकार्यपेक्षमेव च स्वरूपं सामर्थ्यशब्देनाप्युच्यते, तथा च सहकारिसाधीन-सत्ताकतया सामर्थ्यं सहकार्यपेक्षयैव स्वस्वरूपतां बिभर्तीति तदपेक्षाऽऽवश्यकीति सहकारिभिरितस्यैव समर्थत्वान्न पूर्वोक्तदोष इति । यच्च तैस्सह करोतीत्यत्र सहकारिसाहित्यार्थ-कस्य तैस्सहेत्यस्य विशेषणत्वे कर्तृत्ववत्सहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावानुप्रविष्टत्वात् सहकारिणो न कदापि त्यागादित्युक्तम् तदपि तथाऽपि समानमेव, सहकार्यसान्निध्ये सति न करोतीति नियमे सहकारिणः स्वकारणादागच्छतोऽपि निवार्य न कुर्यात्, तैर्विना हि न करोतीत्ययमस्य स्वभाव इति । तस्मात् यदुपनिबन्धेन यदि सहकारिणस्स्वकारणादागच्छे-युस्तदा कुर्यात्, यदि नागच्छेयुस्तदा न कुर्यादित्येवंविधे स्वभावे न कश्चिद्दोष इति । स्यादेतत्—तैस्सह करोति तैर्विना न करोतीति योऽस्य स्वभावः स यावदस्ति न वा अस्तीति पक्षे कारणोत्पत्तिकाल इव कार्योत्पत्तिकालेऽपि व्यतिरेकस्वभावस्य विद्यमानत्वेन सहकारिसाहित्ये सत्यपि कारणं कार्यं न कुर्यात्, अन्वयोक्तव्यतिरेकस्वभावहानिप्रसङ्ग इति । नास्तीति पक्षे सुतरां तद्वतोऽप्यभावः, न हि स्वभावमन्तरेण स्वभाविनस्सत्त्वं युक्तमित्यस्मन्मताभ्युपगमः कृतस्स्यादिति चेत्, तदपि तथापि मते समानमेव, तैस्सह कुर्वतो योऽस्य तैर्विना न करोतीति स्वभावः स यद्यस्ति, तदा न कुर्यादेव, तथा च क्षणिकवादपादोऽप्युच्छिद्येत, क्षणिकभावस्य द्वितीयक्षणावच्छेदेनाप्यर्थक्रियाकारित्वाभावेना-लीकरूपत्वादिति । यदि स नास्ति, तदा व्यतिरेकव्याप्त्यपायादन्वयव्याप्त्यपायादिति स्वरूप

हानिप्रसङ्गः। तथा च चाक्षमादोच्छित्तिरेव, अन्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयमूर्त्तिकत्वात्क्षणिकभावस्य, स्वभावद्वयस्य च मिथोऽनुस्यूतत्वादेकस्याभावे तन्नियतद्वितीयस्याप्यभावेन निस्स्वभावत्वं स्यादिति भावः। निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूपधर्म्यस्त्येव, सहकारिभिर्विना न करोतीति व्यतिरेकस्वभावमात्रं तु तत्र नास्तीति चेत्, ममापि कार्याकरणकाले सहकारिसाहित्यस्य विशेषणस्याभावात्तद्विशिष्टान्वयस्वभावस्याभावेऽपि निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूपधर्म्यस्त्येवेति समः समाधिः, अन्यत्सर्वमनभ्युपगतोपालम्भमात्रमित्युपेक्षणीयमेवेति। तदेवं सुन्दोपसुन्दन्यायेनैकान्तक्षणिकाऽक्षणिकपक्षयोर्मिथः प्रतिहन्तृत्वान्नैकोऽप्येकान्तपक्षो युक्तः, किन्तु मिथस्सापेक्षभावेन स्याद्वादपक्ष एव युक्तः, गुडनागरसंयोगजन्यद्रव्यान्तरस्य विलक्षणतया कफपित्तोभयनाशकत्ववत् कथञ्चित्क्षणिकाक्षणिकोभयरूपत्वेनानेकान्तात्मकवस्तुनो जात्यन्तररूपतया तत्र प्रत्येकपक्षभाविदोषविनाशकत्वेन निराबाधस्वरूपतयोभयपक्षभाविदोषशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीकत्वात्। एतच्च सविस्तरमस्मत्कृतस्याद्वादबिन्दुतोऽवसेयम्। अभिहितञ्च कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्येणान्ययोगव्यवच्छेदिकायामपि—

" य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिन! शासनं ते॥ २६॥" इति

ननु स्याद्वादपक्ष एव युक्त इत्यत्र को हेतुरिति चेत्, उच्यते, एकस्मिन्नेव देवदत्त आपेक्षिकपुत्रपितृनप्तृभागिनेयादिनानाव्यवहारस्यापेक्षिकलघुत्वमहत्त्वादिव्यवहारस्य चान्यथाऽनुपपत्त्या वस्तुमात्रे धर्मित्वस्वभावेनैकत्वस्येव परमार्थभूतेनौपाधिकस्वभावभेदेनानेकत्वस्यापि वस्तुभूतस्यानुभूयमानत्वादित्येव जानीहि। अत एव कार्यतात्मकनिरूपकभेदेन कारणतास्वभावभेदस्तावदन्यैरप्येकत्रावश्यं स्वीकर्त्तव्य एव, अन्यथा विविक्तव्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न च स्वभावभेदः काल्पनिक इति विविक्तव्यवहारोऽपि कल्पनाशिल्पिनिर्मित एवेति वाच्यम्। तथा सति—

" सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन॥ १॥"

इत्याद्युक्त्या ब्रह्मविवर्त्तं जगदिति ब्रुवाणस्याभेदवादिवेदान्तिन एव विजयस्स्यात्, तैर्जगन्नानात्वस्य कल्पनामूलत्वेनाभ्युपगमात्। तस्मात्स्वभावभेदस्याऽपि परमार्थभूतत्वेन तत्प्रयोज्यानेकत्वस्यापि वास्तविकतयैकानेकस्वभावस्य वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यतयैवार्थक्रियाक्षमत्वमवसेयमित्यलं पल्लवितेन, गौरवभीत्या नाधिकं प्रतन्यते। एतेनैकान्तद्रव्यमात्रवादोऽपि निरस्तः, कार्यकारणभावाभावे प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षाव्यवहाराऽभावेन निरीहं जगत्स्यात्, न च कार्यकारणभावः पारमार्थिको नास्ति, काल्पनिकस्त्वस्त्येवेति नोक्तदोष इति वाच्यम्, तस्यानेकप्रमाणसिद्धत्वेन सर्वलोकैरविगानेनाभ्युपगतत्वेन पारमार्थिकत्वात्, काल्प-

निरूपणे च प्रमाणाभावादिति । यद्यपि ब्रह्माद्वैतवादस्तु पूर्वमेव निरस्तस्तथापि किञ्चिन्निरस्यते, यच्च ब्रह्माद्वैतवादिना ' ब्रह्मैव सत् ' इत्याद्युक्तं तन्न समीचीनम्, सन् घटः सन् पट इत्यादिप्रत्ययात्मकप्रतीतौ चक्षुरिन्द्रियजन्यायां नीरूपस्य ब्रह्मणः सद्रूपस्य भानासम्भवेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्त्वलक्षणसत्त्वस्यैव कथञ्चिद् घटाद्यात्मकस्य चक्षुरादीन्द्रिययोग्यस्योक्तप्रतीतौ भासमानत्वेन सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽसिद्धेः, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य च ब्रह्मण्यनुपगतत्वेन सदद्वैते उक्तप्रतीतेरनुभवावगाहित्वस्याप्यनुपपत्तेः, अतिरिक्तसत्तावादिनैयायिकादिमते तादृशसत्तासम्बन्धस्य भेदाभेदादिविकल्पदूषितत्वेन मानाभावप्रयोगेऽपि जैनाभ्युपगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्त्वस्य घटादिभिस्सर्वं कथञ्चिदभिन्नस्य विकल्पतो निरसितुमशक्यत्वात्, प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वादित्याद्यनुमानानां प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानामपि मिथ्यात्वेन स्वयमेव वेदान्तिनाऽभ्युपगततया तैर्मिथ्यात्वसिद्धेरसम्भवात् सद्रूपस्य जगतो ब्रह्मविवर्तत्वमिति ' जगद्विवर्तरूपम् ' इत्यभिधानमप्ययुक्ताभिधानमेव, जीवकोटिव्यतिरिक्त ईश्वरो यथा न युक्त्या सिद्ध्यति तथा ब्रह्मापि, इति ब्रह्मप्रतिपादक आगमोऽपि च कर्मविनिर्मुक्त जीवात्मानमेव प्रतिपादयतीति न तेन जीवकोटिबहिर्भूतस्य ब्रह्मणः सिद्धिः, यदा च ब्रह्मविवर्तरूपं न जगत्, किन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्वस्वकारणजन्यघटादिमत्त्वस्वरूपमेव, तदा ब्रह्मणि जगदारोपकल्पकतया दोषविधयाऽविद्याऽज्ञानादिपदवाच्यायाः परिणामिकारणात्मिकाया मायायाः कल्पनाऽपि युक्तिशून्यैवेति ' मायायाश्च अज्ञानपदवाच्याया विकाररूपं जगत् ' इति कथनमपि युक्तिरिक्तमेव, एवञ्च, ' तथा च ब्रह्मणो विवर्तः अज्ञानविकारश्च जगत् ' इति निगमनं दूरापेतम्, यदा च मायैव नास्ति तदा—

" अयं जीवो न कूटस्थं, विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं, मूलाविद्येति गम्यताम् ॥ २५ ॥
विक्षेपावृतिरूपाभ्यां, द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ, इत्यापादनमावृतिः ॥ २६ ॥
अविद्यावृतकूटस्थे, देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता, विक्षेपाध्यास एव हि ॥ ३२ ॥ "

इत्यादिपञ्चदशीचित्रदीपप्रकरणोक्तस्य तत्प्रक्रियाभिधानं वेदान्तिनोऽन्धकारनर्तनमेव परीक्षकैः, तथा जैने वादाः कारणे परिणामिनि वा कार्ये परिणामो वा सदैव, न कारणमेव कार्यं किन्तु तद्भिन्नमेवापूर्वं तत्, न कार्यं न कारणम् किन्तु द्रव्यमात्रं तत्त्वम्, ब्रह्मात्र वा तत्त्वमिति नियमेनैकान्ताभ्युपगमे मिथ्यावादा एवेति सिद्धम् ॥ १० ॥

तदेवं स्वेतरधर्मभ्यो भिन्नमन्योन्यैकैकधर्मविशिष्टं वस्तु नैवानुभूयत इति नैकान्तात्मकं तत्, किन्तु स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन सत्त्वादिधर्मस्यैव परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन

तदभावरूपाऽसत्त्वादिधर्मस्याऽप्येकस्मिन् वस्तुन्यनुभूयमानत्वेन तदात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमेव, न च सत्त्वतदभावयोर्विरोधान्नैकत्र सत्त्वम्, येन तदुभयात्मकत्वेनानेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणकोटिप्रविष्टं स्यादिति वाच्यम्, प्राचीननैयायिकमते शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न मूले इत्यबाधितानुभवबलात् शाखामूलादिविभिन्नावच्छेदेनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव नव्यनैयायिकमते शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगितद्भेदयोरिव बौद्धमते चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वयोरिव स्वद्रव्यादिपरद्रव्यादितत्तन्निमित्तापेक्षया तयोरप्यविरुद्धत्वात्, अत एवाविरोधद्योतकस्यात्पदघटितमेव वाक्यं प्रयुञ्जते स्याद्वादतत्त्वज्ञाः।

"अप्रयुक्तेऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौ निषेधेऽन्यत्राऽपि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः॥ १॥"

इत्युक्तेर्यत्रापि स्यात्पदाऽप्रयोगस्तत्रापि सर्वत्रार्थात्तं प्रतियन्ति एकान्तव्यवच्छेदाय, शङ्खः पाण्डुरः पार्थो धनुर्धरः, नीलं सरोजं भवतीत्ययोगस्यान्ययोगस्यात्यन्ताऽयोगस्य व्यवच्छेदायाप्रयुक्तमप्येवकारं प्रकरणसामर्थ्यात्तद्विदोऽवगच्छन्ति, तद्वदिति। विरुद्धधर्मद्वयस्य तत्तन्निमित्तापेक्षयाऽविरोधानभ्युपगमे नैयायिकवैशेषिकमते भ्रान्तज्ञाने धर्म्यपेक्षया प्रामाण्यं प्रकारापेक्षया चाऽप्रामाण्यमित्येवं प्रामाण्याप्रामाण्ये न स्याताम्। साङ्ख्यमतेऽपि एकस्या एव प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वं न स्यात्, बौद्धमतेऽपि चैकस्मिन्नेव चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वादिकं न स्यात्, उत्तररूपं प्रति पूर्वरूपस्योपादानकारणत्वम् उत्तररसम्प्रति निमित्तकारणत्वमित्यपि न स्यात्, स्वीकृतश्चोक्तवादिभिः प्रामाण्याप्रामाण्याद्युक्तधर्माऽविरोधो भ्रान्तज्ञानाद्युक्तस्थलेष्विति तत्र स्याद्वादमवलम्बमानास्ते वादिनो यदि सलज्जास्तदा भगवंस्तव मतं नैव निन्दन्ति, तन्निन्दायाः स्वपदकुठारप्रहारतुल्यत्वात्। यदुक्तं खण्डखाद्ये श्रीमहावीरस्तवापरनामके—

"साङ्ख्यः प्रधानमुपयंस्त्रिगुणं विचित्रां, बौद्धो धियं विशदयन्नथ गौतमीयः।
वैशेषिकश्च भुवि चित्रमनेकमेकं, वाञ्छन् मतं न तव निन्दति चेत् सलज्जः॥ ४४॥" इति।

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिभिर्वीतरागस्तोत्रेऽप्युक्तम्—

"चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन्।
यौगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥ १॥" इति

तथा चोक्तनीत्याऽनेकान्तात्मकतया वस्तुनि सिद्धे सर्वेऽपि सङ्ग्रहादयो नयाः परनयविषयाणामपि कथञ्चित्सत्त्वपतया तदसत्त्वज्ञापनाऽसमर्थत्वाच्च गजनिमीलिकान्यायेनौदासीन्यवृत्त्या वस्त्वेकदेशरूपस्वविषयपरिच्छेदरूपत्वात्तद्वति तत्प्रकारकत्वेन सम्यग्ज्ञानरूपा

अपीतरमपविषयपवच्छेदेन स्वविषये प्रवर्तमाना भ्रान्तज्ञानात्मकतया मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरन्नाह—

णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ २८ ॥

'णियपवयणिज्जसच्चा' निजकवचनीये निज एव निजकः वक्तुं योग्यो वचनीयो निजकश्चासौ वचनीयश्च निजकवचनीयस्तस्मिम्, अथवा निज एव निजकस्तेन निजकेन स्वेन वचनीयः-प्रतिपाद्यो विषयस्तस्मिम् स्वविषये स्वांशे परिच्छेद्य इति यावत्, सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः 'सव्वणया' सर्वनयास्सङ्ग्रहादयः, गजनिमीलिकान्यायेन शेषां नयानां स्वविषयांशेतरांशाऽप्रतिक्षेपित्वेन स्वविषयस्य सत्यरूपतया तद्भिन्नविशेष्यतानिरूपित तद्भिन्नप्रकारतानिरूपकत्वाच्चेषाम्। 'परवियालणे मोहा' परविचालने परविषयोत्खनने, स्वविषयमात्रस्यैव सत्यरूपतया व्यवस्थापनं कृत्वा परनयविषयस्याप्यसत्त्वेन ज्ञापने सतीति यावत्, मुह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः, नानानाधिकरण्यसम्बन्धेन स्वेतर-धर्माभावविशिष्टतद्धर्मस्यासामानवति तादृशतद्धर्मप्रकारकत्वात्, परविषयोत्खननेऽप्रवर्तो वा, परनयविषयस्यापि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात्, स्वाभ्यनयविषयस्यापि स्व विपर्येण सहाविनाभावित्वेन तदभावे स्वविषयस्यापि सत्यत्वेनाव्यवस्थितेः, मिथो नान्तरीयकत्वात्। अतः परनयविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् तत्सत्यत्वस्य मिथ्या त्वमेवेत्यवधारणम् 'दिट्ठसमओ' दृष्टस्समयः सिद्धान्तराष्योऽनेकान्तात्मकः पदार्थो येन विदुषा स तथा, निर्णीतानेकान्ततत्त्व इति यावत्, 'ते उण' तानेव नयान्, पुन शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'ण विभयइ सच्चे व अलिए वा,' नेति प्रतिषेधो विभजन क्रियायाः, तथा च सत्यान् अलीकान् वा न विभजते किन्त्वितरनयविषयसम्पेक्षतया 'अस्त्येव द्रव्यार्थतः' इत्येवं भजनया स्वमताभिप्रेतमर्थं सत्यमेवावधारयति, अवस्माद- मथप्रामाण्याऽप्रामाण्ययोर्नैरपेक्ष्यमवधारयति किन्त्वितरांशमपेक्षो यदंशो यदपेक्षया यत्र तत्र तदपेक्षया तदंशग्राहकत्वे तत्तन्नयानां प्रामाण्यम्, तद्वति तत्प्रकारकत्वात्, अन्यथा ग्राहकत्वे चाप्रामाण्यम्, तदभाववति तत्प्रकारकत्वादित्येवमनेकान्तमेव निश्चिनोति स्याद्वाद तत्त्वज्ञः। इयमेव गाथा गुरुतत्त्वविनिश्चये—

"णियपवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते पुण अदिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ ४५ ॥"

इत्येवं दृश्यते तत्र चास्या अयमर्थः कृतः—'विषय'त्ति निजकवचनीये सत्या अर्थ-प्रतिपादकत्वात् सर्वे यथा नैगमादयः, परस्य नयस्य विचारणे परेण नयेन निरासने तदा वैव परिस्यजन वा 'मोघा' विफला असत्या इति यावत्। अन्यार्थाप्रतिपादकत्वात्, अन्य

नयप्रतिबन्धेन स्वार्थप्रतिपादकत्वाद्वा । 'तान्' नयान् पुनः 'अदृष्टसमयः' अज्ञातसिद्धान्तपरमार्थः, विभजते एकान्तेन निश्चिनोति, सत्यान् अलीकान् वा, स्यात्सत्यत्वासत्यत्वप्रतिपादने तु दृष्टसमयत्वैवेति भावः ॥ २८ ॥

अतो नयप्रमाणात्मकैकरूपताव्यवस्थितमात्मस्वरूपमनुगतव्यावृत्तात्मकम् उत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकात्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं, सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं ।
आरद्धो य विभागो, पज्जववत्तव्वमग्गो य ॥ २९ ॥

'दवट्ठियवत्तंव' द्रव्यार्थिकवक्तव्यं—यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहादेर्नयस्य सदादिरूपेण व्यवस्थितं वस्तु वक्तव्यं परिच्छेद्यं तत् 'सवं' सर्वं 'सवेण' सर्वेण प्रकारेण 'णिच्चं' नित्यं सर्वकालं 'अवियप्पं' अविकल्पं विकल्पो भेदस्तेन रहितम्, सर्वस्य सदसद्विशेषात्मकत्वात्, सङ्ग्रहनये यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सद्रूपेण व्यवस्थितम्, सर्वस्य वस्तुनः सद्विशेषात्मकत्वेनाभिन्नत्वादेव, न चैवन्तर्हि सदात्मकत्वेनेत्येव वक्तव्यम्, न तु सद्विशेषात्मकत्वेन, तथा सति सतो विशेषस्सद्विशेषः, स च द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिभेदरूप एवेति तदात्मकत्वेन निर्भेदत्वं न स्यादिति वाच्यम्, सश्चासौ विशेषः सद्विशेषः असद्व्यावृत्तस्वरूपस्तदात्मकत्वादित्यर्थस्यात्राश्रयणात्, तथा च सद्विशेषात्मकत्वादित्यनेन सदात्मकत्वादित्येवार्थो लब्धः, तथा च सद्रूपेण निर्भेदत्वं सङ्ग्रहनयेन सर्वस्य वस्तुन इति सिद्धम्, असद्विशेषात्मकत्वादिति च व्यवहारनयापेक्षयोक्तम्, तन्मते द्रव्यपृथिव्यादिरूपेण व्यवस्थितं सर्वं वस्तु नित्यं निर्भेदम्, असद्विशेषात्मकत्वात्, अत्र द्रव्यपृथिव्यादेस्सद्रूपत्वेऽपि महासामान्यसत्तातो भेदमाश्रित्यासद्रूपत्वं, तदेवाऽद्रव्यादितो व्यावर्त्तकत्वाद्विशेषरूपं तदात्मकत्वाद्द्रव्यार्थिकव्यवहारनयस्य परिच्छेद्यं सर्वं वस्तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिना निर्भेदम्, यतोऽनुगतैकाकारप्रतीतिविषयत्वादेवाभेदस्तेन व्यवहारनयेनाश्रितः, अतो यद्रूपेण द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिना स्वरूपसत्तात्मकेन साजात्यं तद्रूपेणानुगतैकाकारप्रतीतिविषयत्वादभिन्नत्वमित्यभिसन्धिः । तच्च भेदेन सम्पृक्तमिति प्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—"आरद्धो य विभागो, पज्जववत्तवमग्गो य" सङ्ग्रहनयेन विषयीकृतसत्तारूपो यश्चकारानुकर्षणीयोऽविभागस्स एव व्यवहारनयेन यद्द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकं द्रव्यपृथिव्यादिस्वरूपं द्रव्यपृथिव्यादिविभाजकं तदात्मकेन द्रव्यपृथिव्याद्याकारेण "आरद्धो य विभागो" आरब्धश्च प्रस्तुतश्च विभागो भेदः सङ्ग्रहनयाभ्युपगतमहासामान्यसत्तातो व्यवहारनयाभ्युपगतद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिस्वरूपसत्ताया भेदलक्षणो द्रव्यपृथिव्यादिविशेषरूपो "पज्जववत्तवमग्गो य" पर्यायवक्तव्यमार्गश्च पर्यायास्तिकस्य यद्वक्तव्यं विशेषाख्यतत्त्वं तस्य मार्गः पन्था पर्यायार्थिकनयविषयविशेषरूपतां प्राप्तः । सङ्ग्रहनयेन सद्रूपेणैक्यमेव सर्वस्य वस्तुन उक्तं स्यात् तदा विशेषस्यावकाश एव नास्तीति

तद्विषयकस्य पर्यायार्थिकनयस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्तौ वा द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षैव तत्प्रवृत्तिर्भवेत्, यदा तु द्रव्यार्थिकनयस्य भेदरूपो निक्षेपरूपो यो व्यवहारस्य द्रव्यवृत्ति त्यादिरूपेण विशेषस्वरूपमपि स्वीकरोति तदा तद्विशेषान्तरविशेषपरम्परापर्यालोचनया पर्यायार्थिकनयविषयः सविकल्पविषयोऽपि भेदरूपो विचारमार्गमवतरत्येवेति सुकरा पर्यायार्थिकनयप्रवृत्तिस्तद्विषयेति, तदुभयनयापेक्षया कथञ्चिद्भेदसम्पृक्ताऽभेदात्मकमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति भावः ॥ २९ ॥

एवं कथञ्चिद्भेदाभेदरूपं वस्तुस्वरूपं भेदस्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य द्वैविध्यमाह—

सो उण समासओ चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य ।
अत्थगओ य अभिन्नो, भइअव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

पर्यायार्थिकनयविषयविशेषात्मकभेदोऽपि शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनयनिबन्धनश्चेति द्विभेदः, तत्र द्वितीयभेदरूपोऽर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध एव, अर्थनयेन सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्र लक्षणेनाभिन्नार्थपर्यायाभ्युपगमात् शब्दनयविषयव्यञ्जनपर्याय आद्यभेदस्वरूपस्तु भिन्नोऽभिन्नश्चेति भेदद्वयात्मकः, तत्र साम्प्रताख्यशब्दनये एकस्यार्थस्यानेकपर्यायशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नः, समभिरूढनये एवम्भूतनये चैकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्न इति संक्षिप्तार्थः । विस्तरार्थस्त्वेवम्—'सो उण समासओ चिय' स इति तच्छब्दस्वरूपम्, तच्छब्दश्च पूर्वोपदर्शितपरामर्शक इति स पर्यायनयविषयः पूर्वप्रदर्शितो विभागः पुनस्समासतः संक्षेपतो द्विविध एव, द्विविधत्वमेवाह—'वंजणणियओ य अत्थणियओ य' व्यञ्जननियतश्च—व्यज्यते प्रकटीक्रियते योऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्दः, तथा च व्यञ्जनपदेन शब्दप्रधानत्वाच्छब्दनयो ग्राह्यः, तन्नियतः तन्निबन्धनः । अर्थनियतश्च—अर्यते—परिच्छिद्यते इत्यर्थः, प्रकृतेऽर्थशब्देनार्थप्रधानत्वादर्थनयो ग्राह्यः, तन्नियतः—तत्प्रयुक्तः पर्यायभेदः । तत्र प्रथमं द्वितीयभेदस्यैकविधत्वमुपदर्शयितुमाह—'अत्थगओ य अभिन्नो' अर्थगतश्च अभिन्नः, चकारस्त्वेवकारार्थे, अर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः "अत्थप्पवरं सद्दोवसज्जणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता" इति भाष्यवचनात्सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रान्ता अर्थनयाः, शब्दोपसर्जनतयाऽर्थप्राधान्येनैव वस्तुनः प्रत्ययोत्पत्तेः, ते चार्थप्रधानत्वाच्छब्दगतधर्मभेदेनार्थभेदं नाभ्युपगच्छन्तीति तद्विषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्न एकप्रकारः, सङ्ग्रहोऽसङ्ख्यपर्यायभेदेनाभिन्नमनूपार्थपर्यायं व्यवहारोऽन्यान्यपर्यायभेदेनाभिन्नं व्यासरूपार्थपर्यायञ्च ऋजुसूत्रोऽतीतानागतपर्यायभेदेनाभिन्नवर्तमानार्थपर्यायञ्च मनुत इति सङ्ग्रहाद्यर्थनयविषयस्य क्रमशोऽसद्द्रव्यातीतानागतपर्यायस्थिताभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्, तद्विषयकार्थनयनियतः 'अर्थगतो विभागोऽभिन्नः' इत्युच्यते, अर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध इति भावः ।

पूर्वोक्ताद्यभेदस्य द्विविधत्वं प्रतिपादयितुमाह—'भइयव्वो वंजणवियप्पो' भक्तव्यो

व्यञ्जनविकल्पः, "सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति" इति भाष्यवचनादर्थोपसर्जनतया शब्दप्राधान्येन श्रोतुः प्रत्ययोत्पत्तेश्शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यशब्दनयत्रयविषयव्यञ्जनपर्यायो भाज्यो विकल्पनीयः, शब्दनये स्वस्ववाचकयावच्छब्दवाच्य एकोऽर्थः, समभिरूढादिनये शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदाभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायत्वेन शब्दनयाऽभ्युपगतशब्दभेदेन भिन्नोऽर्थः, तथा चैकस्यार्थस्यानेकशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्नो व्यञ्जनपर्याय इत्येवं स भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यर्थः। अयम्भावः—शब्दनयस्तावत्समानलिङ्गानां समानवचनानां शब्दानां भेदेऽपि तद्वाच्याऽर्थभेदं नाभ्युपैति घटकुटकुम्भकलशादिपर्यायशब्दभेदेऽपि तद्वाच्यस्यार्थस्य भावघटात्मकस्यैक्यात्, तथा च तन्मते समानलिङ्गसमानवचनान्तपर्यायशब्दभेदेऽप्यर्थैक्याभ्युपगमेनानेकाभिधानो भिन्नो व्यञ्जनविकल्पः, अत्राऽर्थस्याऽभेदेऽपि प्रधानीभूतवाचकशब्दभेदाद्भिन्नो व्यञ्जनपर्याय इति भावः। समभिरूढनयस्तु नैवमङ्गीकरोति, शब्दनयेन भिन्नलिङ्गभिन्नवचनानां स्त्री दारा आपो जलमित्यादिशब्दानामभ्युपगतस्याऽर्थभेदस्येव समभिरूढनयेन समानलिङ्गसङ्ख्यावचनानामपीन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानां घटकलशकुम्भनिपादिशब्दानाञ्च स्वस्ववाच्यार्थभेदस्याभ्युपगमात्, धातुप्रत्ययनिष्पन्नतत्तच्छब्दभिन्नभिन्नव्युत्पत्तिप्रतिपाद्यभिन्नभिन्नक्रियानिमित्तकाना तेषां भिन्नार्थत्वात्, निमित्तभेदाचार्थभेदो दृष्टः, छत्रिदण्ड्यादिवत्। तथा चेन्द्रपुरन्दरादिशब्दा न पर्यायात्मका भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तात्मकप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यतस्तन्मते एकार्थ एकश्शब्दः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्पः। एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियां यदैव यः करोति तदैव तच्छब्दवाच्यस्सोऽर्थ इत्यभ्युपैति, नान्यदेति चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तत्तत्क्रियाविशिष्टस्यार्थस्य तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिनिमित्तक एक एव शब्दो वाचक इति तन्मतेऽप्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्प इति। ननु व्यञ्जनविकल्पश्शब्दात्मा, स च वस्त्वन्तरत्वान्न पुरुषादेर्द्रव्यस्य धर्मः, येनासौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदिति, चेत्, मैवम्, नामनामवतोरभेदाश्रयणेन पुरुष इति वाचकशब्दोऽपि पुरुषरूपार्थस्य व्यञ्जनपर्याय इत्यभ्युपगमादिति ॥ ३० ॥

अथ यद्वस्तु सङ्ग्रहविषयेण सद्रूपेणैकं व्यवहारविषयेण च द्रव्यत्वादिरूपेणैकं ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकनयविषयेण पूर्वोक्ततत्तद्विशेषरूपेणानेकमित्येवमेकानेकस्वरूपं प्रदर्श्य तदेव वस्तु त्रैकालिकानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मकत्वादनन्तप्रमाणमित्युपदर्शयितुमाह—

> एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि।
> तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

चतुर्थचरणोक्तं 'तं' इति यत्पदं तेन सह यच्छब्दस्य सम्बन्धाद् 'एगदवियम्मि'

यस्मिन्नेकद्रव्ये जीवादौ 'जे' च 'अत्थपज्जया' अर्थपर्यायाः–अर्थग्राहकाः सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्याः, तद्ग्राह्या वा तदर्थाः, 'वयणपज्जया वावि' वा–अथवा, वचनपर्याया अपि, शब्द-समभिरूढ-एवम्भूताख्याः शब्दनया अपि प्रत्येकपदार्थस्यानन्तप्रमाणत्वे तदर्थग्राहकतया परिणतानां नयानामप्यनन्तप्रमाणत्वमिति वचनपथाः, तद्विषयीभूता वस्त्वंशा वाऽपि, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्ते 'तीयाणागयभूया' अतीतानागतभूता अतीतानागतवर्तमानकाला-वच्छिन्नविवर्तितविवर्त्स्यमाननिवर्तमानानन्तपरिणामाः 'चतुर्थचरणोक्तस्य 'तावइयं' इत्यस्य यावच्छब्देन सह नित्यसाकाङ्क्षत्वात् यावन्तः " तावइयं तं हवइ दव्वं " तावत्प्रमाणं तद्द्रव्यं भवति, पर्यायाणामानन्त्यात्कथञ्चित्तदभिन्नस्यास्य द्रव्यस्यापि तावत्प्रमाणं भवति, पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नम्प्रति पुद्गलद्रव्यत्वेन पुद्गलद्रव्यस्योपादानभावः, न तु अन्यपृथिवीत्वावच्छि-न्नम्प्रति पृथिवीत्वेन अन्यजलत्वावच्छिन्नं प्रति जलत्वेनेत्यादिरूपेण सः, उपादानकारणत्वञ्च शक्तिविशेषरूपम्, न तु तदतिरिक्तं सामर्थ्यरूपम्, तथाभिव्यञ्जकविषया पुद्गलत्वमनवच्छेदक-मित्यतो मयूराण्डकरसे शिरोग्रीवाचञ्चुनेत्रपिच्छोदरचरणादिवदनेकवर्णवत्तद्रूप रसाद्यनुकूलानन्तशक्तिमदुपादानीभूतपुद्गलपरमाणुष्वप्यतीतानागतवर्तमानानन्ततत्पुद्गल पर्यायपरिणमनशक्तिसद्भावादनन्तकालेन विस्रसाप्रयोगादितत्सामग्रीसमवधाने सति सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनासादितत्वात्तदवस्थानुभावत्वानां कथञ्चिदनन्त त्वात् घटादयस्सर्वे पदार्थाः पटपुरुषादिसर्वरूपेणापि कथञ्चिद्विवर्तन्ते विवर्ति ष्यन्त इति सर्वं सर्वात्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्, दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागत वर्तमानद्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-परिणामात्मकं युगपत्क्रमेणापि तथाभूतमेव, एकान्ताऽसत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति । अत एव ह्याचार मलयगिरिपादसोत्कृष्टकर्मापिपदव्याख्यायां " एकः परमाणुर्वर्णगन्धरसस्पर्शपरिणामैः समभेदैः सामायिकैः पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च सर्वपुद्गलादिभिस्सार्धं योगिकैर्मानादन्त्यपर्यन्तैर्व सन्निकर्षैः प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिरभिसम्बध्यते " इत्युक्तं सङ्गच्छते ।

संवदति चात्र–" एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेयाणुवाएणं अणंताणंता पोग्गलपरियट्टा समणुगंतव्वा भवंतीति मक्खाया ? हंता गोयमा ! एएसि णं परमाणु पोग्गलाणं साहणणा जाव मक्खाया ।। कतिविहे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते ? गोयमा ! सत्तविहा पो० परि० पण्णत्ता, तं जहा–ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपो० तेयापो० कम्मापो० मणपो०परियट्टे वइपोग्गलपरियट्टे आणापाणुपोग्गलपरियट्टे " इति व्याख्या प्रज्ञप्तिद्वादशशतकचतुर्थोद्देशगतवचनमपीति ।। एएसि णं इत्यादि, एतेषां अनन्तरो-क्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां परमाणूनामित्यर्थः, साहणणाभेयाणुवाएणं ति–साहणण त्ति प्राकृतत्वात् संहननं–संघातो, भेदश्च वियोजनं, तयोरनुपातो–योगः संहननभेदानुपातस्तेन, सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां संयोगेन वियोगेन चेत्यर्थः । अणंताणंत त्ति अनन्तेन गुणिता

अपीतरनयविषयव्यवच्छेदेन स्वविषये प्रवर्त्तमाना भ्रान्तज्ञानात्मकतया मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्त इत्युपसंहरमाह—

> णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा।
> ते उण ण दिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ २८ ॥

'णिययवयणिज्जसच्चा' निजकवचनीये निज एव निजकः वक्तुं योग्यो वचनीयो निजकश्चासौ वचनीयश्च निजकवचनीयस्तस्मिन्, अथवा निज एव निजकस्तेन निजकेन स्वेन वचनीयः-प्रतिपाद्यो विषयस्तस्मिन् स्वविषये स्वांशे परिच्छेद्य इति यावत्, सत्याः सम्यग्ज्ञानरूपाः 'सव्वणया' सर्वनयास्संग्रहादयः, गजनिमीलिकान्यायेन तेषां नयानां स्वविषयांशेतरांशाऽप्रतिक्षेपित्वेन स्वविषयस्य सत्यरूपतया तदभिन्नविशेष्यतानिरूपित तदभिन्नप्रकारतानिरूपकत्वात्तेषाम्। 'परवियालणे मोहा' परविचालने परविषयोत्खनने, स्वविषयमात्रस्यैव सत्यरूपतया व्यवस्थापनं कृत्वा परनयविषयस्याऽसत्यत्वेन ज्ञापने सतीति यावत्, मुह्यन्तीति मोहा मिथ्याप्रत्ययाः, सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन स्वेतरधर्माभावविशिष्टतद्धर्मस्याभाववति तादृशतद्धर्मप्रकारकत्वात्, परविषयोत्खननेऽप्रवर्त्ता वा, परनयविषयस्यापि सत्यत्वेनोन्मूलयितुमशक्यत्वात्, स्वाभ्युपगतविषयस्यापि स्व विपर्ययेण सहाविनाभावित्वेन तदभावे स्वविषयस्यापि सत्यत्वेनाप्यवस्थितेः, मिथो नान्तरीयकत्वात्। अतः परनयविषयस्याभावे स्वविषयस्याप्यसत्त्वात् तत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमेवेत्यवधारणम् 'दिट्ठसमओ' दृष्टसमयः सिद्धान्ततत्त्वज्ञोऽनेकान्तात्मकः पदार्थो येन विदुषा स तथा, निर्णीतानेकान्ततत्त्व इति यावत्, 'ते उण' तानेव नयान्, पुनः शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, 'न विभयइ सच्चे व अलिए वा,' नेति प्रतिषेधो विभजन क्रियायाः, तथा च सत्यान् अलीकान् वा न विभजते किन्त्वितरनयविषयसव्यपेक्षतया 'अस्त्येव द्रव्यार्थतः' इत्येवं भजनया स्वमताभिप्रेतमर्थं सत्यमेवावधारयति, अथ भावा-नयप्रामाण्याऽप्रामाण्ययोर्नैकान्त्यमवधारयति किन्त्वितरांशसापेक्षो यद्वंशो यदपेक्षया यत्र तत्र तदपेक्षया तद्ग्राहकत्वे तन्नयानां प्रामाण्यम्, तद्वति तत्प्रकारत्वात्, अन्यथा ग्राहकत्वे चाप्रामाण्यम्, तदभाववति तत्प्रकारकत्वादित्येवमनेकान्तमेव निश्चिनोति स्याद्वाद तत्त्वज्ञः। इयमेव गाथा गुरुतत्त्वविनिश्चये—

> "णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा।
> ते पुण अदिट्ठसमओ, विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ ४५ ॥"

इत्येवं दृश्यते तत्र चास्या अयमर्थः कृतः—'णियय' त्ति निजकवचनीये सत्या अर्थप्रतिपादकत्वात् सर्वे नया नैगमादयः, परस्य नयस्य विचारणे परेण नयेन विचालने स्वार्थस्य परित्याजने वा 'मोघा' विफला असत्या इति यावत्। अन्यार्थाप्रतिपादकत्वात्, अन्य

नयप्रतिबन्धेन स्वार्थप्रतिपादकत्वाद्वा । 'तान्' नयान् पुनः 'अदृष्टसमयः' अज्ञातसिद्धान्तपरमार्थः, विभजते एकान्तेन निश्चिनोति, सत्यान् अलीकान् वा, स्यात्सत्यत्वासत्यत्वप्रतिपादने तु दृष्टसमयतैवेति भावः ॥ २८ ॥

अतो नयप्रमाणात्मकैकरूपताव्यवस्थितमात्मस्वरूपमनुगतव्यावृत्तात्मकम् उत्सर्गापवादरूपग्राह्यग्राहकात्मकत्वाद् व्यवतिष्ठत इत्यर्थप्रदर्शनायाह—

दव्वट्ठियवत्तव्वं, सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं ।
आरद्धो य विभागो, पज्जववत्तव्वमग्गो य ॥ २९ ॥

'दव्वट्ठियवत्तव्वं' द्रव्यार्थिकवक्तव्यं–यत् किञ्चिद् द्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहादेर्नयस्य सदादिरूपेण व्यवस्थितं वस्तु वक्तव्यं परिच्छेद्यं तत् 'सव्वं' सर्वं 'सव्वेण' सर्वेण प्रकारेण 'णिच्चं' नित्यं सर्वकालं 'अवियप्पं' अविकल्पं विकल्पो भेदस्तेन रहितम्, सर्वस्य सदसद्विशेषात्मकत्वात्, सङ्ग्रहनये यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सद्रूपेण व्यवस्थितम्, सर्वस्य वस्तुनः सद्विशेषात्मकत्वेनाभिन्नत्वादेव, न चैवन्तर्हि सदात्मकत्वेनेत्येव वक्तव्यम्, न तु सद्विशेषात्मकत्वेन, तथा सति सतो विशेषस्सद्विशेषः, स च द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिभेदरूप एवेति तदात्मकत्वेन निर्भेदत्वं न स्यादिति वाच्यम्, सश्चासौ विशेषः सद्विशेषः असद्व्यावृत्तस्वरूपस्तदात्मकत्वादित्यर्थस्यात्राश्रयणात्, तथा च सद्विशेषात्मकत्वादित्यनेन सदात्मकत्वादित्येवार्थो लब्धः, तथा च सद्रूपेण निर्भेदत्वं सङ्ग्रहनयेन सर्वस्य वस्तुन इति सिद्धम्, असद्विशेषात्मकत्वादिति च व्यवहारनयापेक्षयोक्तम्, तन्मते द्रव्यपृथिव्यादिरूपेण व्यवस्थितं सर्वं वस्तु नित्यं निर्भेदम्, असद्विशेषात्मकत्वात्, अत्र द्रव्यपृथिव्यादेस्सद्रूपत्वेऽपि महासामान्यसत्तातो भेदमाश्रित्यासद्रूपत्वं, तदेवाऽद्रव्यादितो व्यावर्त्तकत्वाद्विशेषरूपं तदात्मकत्वाद्द्रव्यार्थिकव्यवहारनयस्य परिच्छेद्यं सर्वं वस्तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिना निर्भेदम्, यतोऽनुगतैकाकारप्रतीतिविषयत्वादेवाभेदस्तेन व्यवहारनयेनाश्रितः, अतो यद्रूपेण द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिना स्वरूपसत्तात्मकेन साजात्यं तद्रूपेणानुगतैकाकारप्रतीतिविषयत्वादभिन्नत्वमित्यभिसन्धिः । तच्च भेदेन सम्पृक्तमिति प्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—"आरद्धो य विभागो, पज्जववत्तवमग्गो य" सङ्ग्रहनयेन विषयीकृतसत्तारूपो यश्चकारानुकर्षणीयोऽविभागस्स एव व्यवहारनयेन यद्द्रव्यत्वपृथिवीत्वादिकं द्रव्यपृथिव्यादिस्वरूपं द्रव्यपृथिव्यादिविभाजकं तदात्मकेन द्रव्यपृथिव्याद्याकारेण "आरद्धो य विभागो" आरब्धश्च प्रस्तुतश्च विभागो भेदः सङ्ग्रहनयाभ्युपगतमहासामान्यसत्तातो व्यवहारनयाभ्युपगतद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिस्वरूपसत्ताया भेदलक्षणो द्रव्यपृथिव्यादिविशेषरूपो "पज्जववत्तवमग्गो य" पर्यायवक्तव्यमार्गश्च पर्यायास्तिकस्य यद्वक्तव्यं विशेषाख्यतत्त्वं तस्य मार्गः पन्था पर्यायार्थिकनयविषयविशेषरूपतां प्राप्तः । सङ्ग्रहनयेन सद्रूपेणैक्यमेव सर्वस्य वस्तुन उक्तं स्यात् तदा विशेषस्यावकाश एव नास्तीति

तद्विषयकस्य पर्यायार्थिकनयस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्तौ वा द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षैव तस्य प्रवृत्तिर्भवेत्, यदा तु द्रव्यार्थिकनयस्य भेदरूपो विक्षेपरूपो यो व्यवहारस्स द्रव्यपरि प्याप्तिरूपेण विशेषस्वरूपमपि स्वीकरोति तदा तद्विशेषावान्तरविशेषपरम्परापर्यालोचनया पर्यायार्थिकनयविषयः पर्यायादिविशेषोऽपि भेदरूपो विचारमार्गमवतरत्येवेति सुकरा पर्यायार्थिकनयप्रवृत्तिस्तद्विषयेति, तदुभयनयापेक्षया कथञ्चिद्भेदसम्पृक्ताऽभेदात्मकमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति भावः ॥ २९ ॥

एवं कथञ्चिद्भेदाभेदरूपं वस्तूपदर्श्य भेदस्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य द्वैविध्यमाह—

सो उण समासओ चिय, वंजणणियओ य अत्थणियओ य।
अत्थगओ य अभिन्नो, भइयव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

पर्यायार्थिकनयविषयविशेषात्मकभेदोऽपि शब्दनयनिबन्धनोऽर्थनयनिबन्धनश्चेति द्विभेदः, तत्र द्वितीयभेदरूपोऽर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध एव, अर्थनयेन ऋजुसूत्रव्यवहारादिरूपलक्षणेनाभिन्नार्थपर्यायाभ्युपगमात्, शब्दनयविषयव्यञ्जनपर्याय भावभेदलक्षणवस्तु भिन्नोऽभिन्नश्चेति भेदद्वयात्मकः, तत्र साम्प्रताख्यशब्दनये एकस्यार्थस्यानेकपर्यायशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नः, समभिरूढनये एवम्भूतनये चैकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्न इति संक्षिप्तार्थः। विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'सो उण समासओ चिय' स इति तच्छब्दरूपम्, तच्छब्दश्च पूर्वोपदर्शितपरामर्शक इति स पर्यायनयविषयः पूर्वप्रदर्शितो विभागः पुनस्समासतः संक्षेपतो द्विविध एव, द्विविधत्वमेवाह—'वंजणणियओ य अत्थणियओ य' व्यञ्जननियतश्च—व्यज्यते प्रकटीक्रियते योऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जन शब्दः, तथा च व्यञ्जनपदेन शब्दप्रधानत्वाच्छब्दनयो ग्राह्यः, तन्नियतः तद्विषयश्च। अर्थनियतश्च—अर्थ्यते—परिच्छिद्यते इत्यर्थः, प्रकृतेऽर्थपदेनार्थप्रधानत्वादर्थनयो ग्राह्यः, तन्नियतः—तत्परिच्छेद्यः, तद्विषय इति यावत्। तत्र प्रथमं द्वितीयभेदस्यैकविधत्वमुपदर्शयितुमाह—'अत्थगओ य अभिन्नो' अर्थगतश्च अभिन्नः, चकारस्त्वर्थे, अर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः "अत्थम्मि तरे गदोयमज्झे मुत्तुसुत्तसुयंता" इति भाष्यवचना ऋजुसूत्रव्यवहारादिपर्यन्ता अर्थनयाः, शब्दोपसर्जनतयाऽर्थप्राधान्येनैव वस्तुप्रत्ययोत्पादकाः, ते चार्थप्रधानत्वाच्छब्दगतधर्मभेदेनार्थभेदं नाभ्युपगच्छन्तीति तद्विषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्न एकप्रकारः, सङ्ग्रहोऽसङ्ग्रहसम्बन्धेनाभिन्नमूर्त्यर्थपर्यायं व्यवहारोऽद्रव्यसम्बन्धेनाभिन्नद्रव्यस्वरूपार्थपर्यायञ्च ऋजुसूत्रोऽतीतानागतसम्बन्धेनाभिन्नवर्तमानार्थपर्यायञ्च मनुत इति सङ्ग्रहाद्यर्थनयविषयस्य क्रमशोऽसद्द्रव्यातीतानागतसम्बन्धिभिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्, तद्विषयकार्थनयनियतः 'अर्थगतो विभागोऽभिन्नः' इत्युच्यते, अर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध इति भावः।

पूर्वोक्ताद्यभेदस्य द्विविधत्वं प्रतिपादयितुमाह—'भइयव्वो वंजणवियप्पो' भक्तव्यो

व्यञ्जनविकल्पः, "सद्दप्पहाणमत्थोवसज्जणं सेसया विंति" इति भाष्यवचनादर्थोपसर्जनतया शब्दप्राधान्येन श्रोतुः प्रत्ययोत्पत्तेश्शब्दसमभिरूढैवम्भूताख्यशब्दनयत्रयविषयव्यञ्जनपर्यायो भाज्यो विकल्पनीयः, शब्दनये स्वस्ववाचकयावच्छब्दवाच्य एकोऽर्थः, समभिरूढादिनये शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदाभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायत्वेन शब्दनयाऽभ्युपगतशब्दभेदेन भिन्नोऽर्थः, तथा चैकस्यार्थस्यानेकशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्नो व्यञ्जनपर्याय इत्येवं स भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यर्थः। अयम्भावः—शब्दनयस्तावत्समानलिङ्गानां समानवचनानां शब्दानां भेदेऽपि तद्वाच्याऽर्थभेदं नाभ्युपैति घटकुटकुम्भकलशादिपर्यायशब्दभेदेऽपि तद्वाच्यस्यार्थस्य भावघटात्मकस्यैक्यात्, तथा च तन्मते समानलिङ्गसमानवचनान्तपर्यायशब्दभेदेऽप्यर्थैक्याभ्युपगमेनानेकाभिधानो भिन्नो व्यञ्जनविकल्पः, अत्राऽर्थस्याऽभेदेऽपि प्रधानीभूतवाचकशब्दभेदाद्भिन्नो व्यञ्जनपर्याय इति भावः। समभिरूढनयस्तु नैवमङ्गीकरोति, शब्दनयेन भिन्नलिङ्गभिन्नवचनानां स्त्री दारा आपो जलमित्यादिशब्दानामभ्युपगतस्याऽर्थभेदस्येव समभिरूढनयेन समानलिङ्गसङ्ख्यावचनानामपीन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानां घटकलशकुम्भनिपादिशब्दानाञ्च स्वस्ववाच्यार्थभेदस्याभ्युपगमात्, धातुप्रत्ययनिष्पन्नतत्तच्छब्दभिन्नभिन्नव्युत्पत्तिप्रतिपाद्यभिन्नभिन्नक्रियानिमित्तकाना तेषां भिन्नार्थत्वात्, निमित्तभेदाचार्थभेदो दृष्टः, छत्रिदण्ड्यादिवत्। तथा चेन्द्रपुरन्दरादिशब्दा न पर्यायात्मका भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तात्मकप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यतस्तन्मते एकार्थ एकशब्दः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्पः। एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियां यदैव यः करोति तदैव तच्छब्दवाच्यस्सोऽर्थ इत्यभ्युपैति, नान्यदेति चेष्टासमय एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तत्तत्क्रियाविशिष्टस्यार्थस्य तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिनिमित्तक एक एव शब्दो वाचक इति तन्मतेऽप्यभिन्नो व्यञ्जनविकल्प इति। ननु व्यञ्जनविकल्पश्शब्दात्मा, स च वस्त्वन्तरत्वान्न पुरुषादेर्द्रव्यस्य धर्मः, येनासौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदिति, चेत्, मैवम्, नामनामवतोरभेदाश्रयणेन पुरुष इति वाचकशब्दोऽपि पुरुषरूपार्थस्य व्यञ्जनपर्याय इत्यभ्युपगमादिति ॥ ३० ॥

अथ यद्वस्तु सङ्ग्रहविषयेण सद्रूपेणैकं व्यवहारविषयेण च द्रव्यत्वादिरूपेणैकं ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकनयविषयेण पूर्वोक्ततत्तद्विशेषरूपेणानेकमित्येवमेकानेकस्वरूपं प्रदर्श्य तदेव वस्तु त्रैकालिकानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मकत्वादनन्तप्रमाणमित्युपदर्शयितुमाह—

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि।
तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

चतुर्थचरणोक्तं 'तं' इति यत्पदं तेन सह यच्छब्दस्य सम्बन्धाद् 'एगदवियम्मि'

यस्मिन्नेकद्रव्ये जीवादौ 'जे' ये 'अत्थपज्जया' अर्थपर्यायाः–अर्थग्राहका सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्राख्याः, तद्ग्राह्या वा तदर्थाः, 'वयणपज्जया वावि' वा–अथवा, वचनपर्याया अपि, शब्द–समभिरूढ–एवम्भूताख्याः शब्दनया अपि प्राक्पदार्थस्यानन्तप्रमाणत्वे तदर्थग्राहकतया परिणतानां नयानामप्यनन्तप्रमाणत्वमिति वचनपर्याः, तद्विषयीभूता वस्त्वंशा वाऽपि, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्ते 'तीयाणागयभूया' अतीतानागतभूता अतीतानागतवर्तमानकालावच्छिन्नविवृत्तविवर्त्स्यमानविवर्तमानानन्तपरिणामाः 'चतुर्थचरणोक्तस्य 'तावइयं' इत्यस्य यावच्छब्देन सह नित्यसाकाङ्क्षत्वात् यावन्तः "तावइयं तं हवइ दव्वं" तावत्प्रमाणं तद्द्रव्यं भवति, पर्यायाणामानन्त्यात्कथञ्चित्तदभिन्नत्वात्द्रव्यमपि तावत्प्रमाणं भवति, पुद्गलपर्यायत्वावच्छिन्नम्प्रति पुद्गलद्रव्यत्वेन पुद्गलद्रव्यस्योपादानभावः, न तु अन्यपृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति पृथिवीत्वेन अन्यजलत्वावच्छिन्नं प्रति जलत्वेनेत्यादिरूपेण सः, उपादानकारणत्वञ्च शक्तिविशेषरूपम्, न तु तदतिरिक्तं सकलरूपम्, तथाभिव्यञ्जकविषया पुद्गलत्वमवच्छेदकमित्यतो मयूराण्डरसे शिरोग्रीवाचञ्चुनेत्रपिच्छोदरचरणादितदनेकावयवतद्गतवर्णरूपरसाद्यनुकूलानन्तशक्तिमदुपादानीभूतपुद्गलपरमाणुष्वप्यतीतानागतवर्तमानानन्ततत्पुद्गलपर्यायपरिणमनशक्तिसङ्ग्रहादनन्तकालेन विस्रसाप्रयोगादितत्सामग्रीसमवधाने सति सर्वेण वस्तुना सर्वावस्थानां परस्परानुगमेनासादितत्वात्तदनुभावत्वानां कथञ्चिदनन्तत्वात् घटादयस्सर्वे पदार्थाः घटकुटादिसर्वरूपेणापि कथञ्चिद्विद्यन्ते विवर्तन्ते विवर्तिष्यन्ते इति सर्वं सर्वात्मकं कथञ्चिदिति स्थितम्, दृश्यते चैकं पुद्गलद्रव्यमतीतानागतवर्तमानद्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–परिणामात्मकं युगपत्क्रमेणापि तथाभूतमेव, एकान्ताऽसत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयविनाशासम्भवादिति । अत एव द्वादशारनयचक्रायलोकपटकव्यापिपद्व्याख्यायां "एकः परमाणुर्वर्णगन्धरसस्पर्शपरिणामैः सप्रभेदैः स्वाभाविकैः पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च द्व्यणुकादिभिस्संयोगिभिर्द्व्यादिरनन्तपर्यन्तैर्स्कन्धैः प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिरभिसम्बध्यते" इत्युक्तं सङ्गच्छते ।

संवदति चात्र–" एगस्सि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं साहणणाभेयाणुवाएणं अणंताणंता पोग्गलपरियट्टा समणुगंतव्वा भवंतीति मक्खाया ? हंता गोयमा ! एगस्सि णं परमाणुपोग्गलाणं साहणणा जाव मक्खाया ॥ कतिविहे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते ? गोयमा ! सत्तविहा णं परि० पण्णत्ता, तं जहा–ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपो० तेयापो० कम्मापो० मणपो० परियट्टे वइपोग्गलपरियट्टे आणापाणुपोग्गलपरियट्टे" इति व्याख्याप्रज्ञप्तिद्वादशशतकचतुर्थोद्देशगतवचनमपीति ॥ एगस्सि णं मित्यादि, एतेषां अनन्तरोक्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां परमाणूनामित्यर्थः, साहणणाभेयाणुवाएणंति–साहननं प्राकृतत्वात् संहननं–सङ्घातो, भेदश्च वियोजनं, तयोरनुपातो–योगः संहननभेदानुपातस्तेन, सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां संयोगेन वियोगेन चेत्यर्थः । अणंताणंता इति अनन्तेन गुणिता

अनन्ता अनन्ताऽनन्ताः, एको हि परमाणुर्द्व्यणुकादिभिरनन्ताणुकान्तैर्द्रव्यैस्सह संयुज्यमानोऽनन्तान् परिवर्त्तान् लभते, प्रतिद्रव्यं परिवर्त्तभावात्, अनन्तत्वाच्च परमाणूनां, प्रतिपरमाणुचानन्तत्वात्परिवर्त्तानां परमाणुपुद्गलपरिवर्त्तानामनन्तानन्तत्वं द्रष्टव्यमिति । 'पुग्गलपरियट्ट'त्ति-पुद्गलैः पुद्गलद्रव्यैः सह परिवर्त्ताः-परमाणूनां मीलनानि पुद्गलपरिवर्त्ताः, 'गमनुगन्तव्याः' अनुगन्तव्या भवन्तीति हेतोः 'आख्याताः' प्ररूपिता भगवद्भिरिति गम्यते, मकारश्च प्राकृतशैलीप्रभवः ॥ अथ पुद्गलपरावर्त्तस्यैव भेदाभिधानायाह 'कइविहे ण'-मित्यादि, ओरालियपोग्गलपरियट्टेत्ति-औदारिकशरीरे वर्त्तमानेन जीवेन यदौदारिकशरीरप्रायोग्यद्रव्याणामौदारिकशरीरतया सामस्त्येन ग्रहणमसावौदारिकपुद्गलपरिवर्त्तः, एवमन्येऽपीति ॥ 'तावइयं तं हवइ दवं' इति जात्येकवचनप्रयोगादेकैकं द्रव्यं सर्वं सर्वद्रव्यार्थतया सर्वपर्यायार्थतया च प्राक् विपरिवर्त्ति पश्चाद् विपरिवर्त्तिष्यते चेति तत्तदेकैकं द्रव्यमपि सर्वात्मकमवबोद्धव्यं भवति, तस्यातीतानागतवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायार्थतया परिणमनस्वभावत्वात् । एकवाक्यतया संवदति चात्र—

> " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
> जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥ सू० १२२ ॥ "

इत्यस्याऽऽचाराङ्गसूत्रोक्तस्य व्याख्यायां यः कश्चिदविशेषितः 'एकं' परमाण्वादिद्रव्यं पश्चात्पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा 'जानाति' परिच्छिनत्ति स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्यपरिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वात्, इदमेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह-'जे सव' इत्यादि, यः सर्वं संसारोदरविवरवर्त्ति वस्तु जानाति स एकं घटादिवस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभावापत्त्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति । तदुक्तम्—

> " एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा, वयणपज्जवा वावि ।
> तीयाणागयभूया, तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ १ ॥ "

इत्युक्तमिति, एतच्चाग्रे विवेचयिष्यते ॥ ३१ ॥

एकैकद्रव्यमर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायैस्त्रैकालिकानन्तपरिणामात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमिति प्रतिपाद्याधुना पुरुषतदीयबालाद्यवस्थादृष्टान्ताभ्यां क्रमेण व्यञ्जनपर्यायस्य त्रिकालानुयायित्वेन जन्मादिमरणावधिस्थूलकालस्थायितयाऽनुगताभेदप्रत्ययहेतुत्वम्, अर्थपर्यायाणाञ्च सूक्ष्मवर्त्तमानकालमात्रवर्त्तित्वेन प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामरूपतया तत्तत्क्षणापेक्षभिन्नभिन्नस्वरूपत्वेन भेदप्रत्ययहेतुत्वमिति पुरुषद्रव्यस्य व्यञ्जनपर्यायेणाभेदः, अर्थपर्यायैश्च भेद इत्येकानेकत्वेनानेकान्तात्मकत्वमुपदर्शयितुमाह—

पुरिसम्मि पुरिससद्दो, जम्माई मरणकालपज्जन्तो ।
तस्स उ बालाईआ, पज्जयजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

'पुरिसम्मि' अतीतानागतवर्तमानानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मके पुरुषे पुरुषवस्तुनि । 'पुरिससद्दो' पुरुष इति शब्दो वाचको यस्यासौ पुरुषशब्दः, पुरुषशब्दाभिधेयोऽर्थः, स कियत्कालपर्यन्त इत्यत आह—'जम्माई मरणकालपज्जन्तो' जन्मादिर्मरणकालपर्यन्तः, पुरुषोत्पत्तेरारभ्य पुरुषमरणकालावधिव्यवच्छिन्नो भवतीत्यतो बालादिव्यवस्थाभेदेऽपि तदनुगामितया पुरुषव्यपदेशात्मकस्सोऽभिन्न एव, प्रतिक्षणाद्युपमाणाहारादिपुद्गलोपचयापचयाभ्यां परिमाणभेदेन भिन्नभिन्नशरीरादिव्यक्तौ सत्यां बालकुमारयुवावस्थाभेदेन तद्विशिष्टात्मनो भेदेऽपि बालावस्थायां पुरुषोऽयं युवावस्थायामपि पुरुषोऽयमित्यनुगतप्रतीतिव्यवहारभावात्, यथानुगततया प्रतीयते व्यवह्रियते च सोऽभिन्नतया सर्वैरप्यविगानेन घटत्वादिवत्स्वीक्रियत एव, पुरुषाभिधेयपरिणामवतस्तस्यार्थपर्याया अनेकविधा इत्युपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—"तस्स उ बालाईया पज्जवजोया बहुवियप्पा" तु अवधारणार्थे, तस्यैव न त्वन्यस्य, बालाद्याः पर्याययोगाः परिणतिलक्षणा याः प्रतिक्षणवस्तुपरिणामलक्षणा अर्थपर्यायरूपाः, बहुविकल्पा अनेकविधाः, प्रतिक्षण संयोगिद्रव्योपचयापचयतः पर्यायान्तरोत्पत्तेः, बालावस्थायामयं बालो न तु युवादिर्युवावस्थायामयं युवा न तु बालो वृद्धो वेत्यादिभेदप्रतीतेः, एवञ्च व्यञ्जनपर्यायैः 'स्यादेकः' इति भङ्गप्रतिपाद्योऽभिन्नः, अर्थपर्यायैः 'स्यादनेकः' इति भङ्गप्रतिपाद्यो भिन्नः पुरुषः सिद्धः, अन्यथाऽभ्युपगमेऽपि प्रसङ्ग "अत्थित्ति निव्वियप्प" इत्यनन्तरगाथया दर्शयिष्यति ॥ ३२ ॥

यथा पुरुष उक्तस्वरूपस्तथा वस्तुमात्रं तत्तत्कालोत्पन्नभिन्नभिन्नावस्थात्मकार्थपर्यायै रनेकं विवक्षितकमिकार्थपर्यायानुगामिकालत्रयावच्छिन्नव्यपदेशात्मकव्यञ्जनपर्यायैश्चैकम्, तथैवोपलम्भात्, अन्यथाऽभ्युपगमे एकान्तरूपमपि तन्न भवेदित्युपदर्शयन्नाह—

अत्थित्ति णिव्वियप्पं, पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि ।
सो बालाइवियप्पं, न लहइ तुल्लं च पावेज्जा ॥ ३३ ॥

'अत्थित्ति' 'अस्ति' इति । एवं 'णिव्वियप्प' निर्विकल्पं निर्गतो विकल्पो भेदो यस्मात्स तथा तं, अभेदरूपमिति यावत् 'पुरिसं' पुरुषं पुरुषशब्दवाच्यं, 'जो भणइ' यो भणति ब्रवीति, 'सो' स 'पुरिसकालम्मि' पुरुषकाले पुरुषोत्पत्तिकाल एव, 'बालाइ वियप्पं' बालादिविकल्पम्, बाल्यादिपर्यायेण कुमारयुवादिप्रत्ययेन विकल्पस्य च भेदार्थकत्वेन बालकुमारयुवादिभेदं 'न लहई' न लभते-न प्राप्नोति, अभ्युपगम एव बालादिभेदमपि न प्राप्नुयात्, अयम्भावः—पुरुषद्रव्यमेकरूपमेवेत्येवं वदताऽपि पुरुषो जन्मादिमरणपर्यन्तमेक

रूप एवेति नासौ स्वयमेव बालो युवा स्थविरश्चेत्यादिभेदरूपतां प्राप्नुयात्, अन्यमपि पुरुषं तथैवैकरूपमभ्युपगच्छन् अभेदरूपं तं पुरुषं न बालादिभेदरूपं पश्येदिति। ननु बालाद्यवस्थाऽपि पारमार्थिकी नास्त्येवेति चेत्, तर्हि तदप्यभेदरूपं पुरुषवस्तु बालादितुल्यतामसद्रूपतया प्राप्नुयादित्याह—"तुल्लं व पावेज्जा" बालाद्यवस्थाया अपारमार्थिकत्वे अवस्थावद्वतोः कथञ्चिदभेदात्तदनुगामिपुरुषद्रव्यस्याप्यभावप्रसङ्गस्स्यात्, परमार्थवृत्त्या भेदाप्रतीतावभेदस्याप्यप्रतीतेः। एकान्ताभेदवदेकान्तभेदोऽपि न प्रमाणार्ह इत्यप्युक्तगाथातो लभ्यते, तथा हि—'अत्थित्ति' अस्ति इत्येवं 'णिवियप्पं' निर्विकल्पं निश्चितो विकल्पो भेदो यस्मिन् पुरुषद्रव्ये तद् निर्विकल्पं, भेदरूपमिति यावत्, भेदरूपापन्नं 'पुरिसं' पुरुष 'पुरिसकालम्मि' पुरुषस्वरूपलाभकाले तदुत्पत्तिसमय इति यावत्, 'जो भणइ' यो भणति, स 'बालाइवियप्पं' बालादिविकल्प 'न लहइ' न लभेत, य एवं वक्ता सोऽपि पुरुषस्वरूप इति स्वयं पुरुषस्वरूपलाभकाले बालादिभेदं न प्राप्नुयात्, अभेदाभावे भेदस्याप्यभावात्। 'अथवा तुल्लं व पावेज्जा' असद्रूपतया द्रव्यतुल्यतामेवासौ प्राप्नुयात्, यथा द्रव्यमसत्, एकस्वरूपानभ्युपगमात्, तथैकस्वरूपाभावे तदग्रहे भिन्नस्वरूपस्याप्यभावेनाग्रहादभेदवद्भेदस्वरूपमप्यसदेव स्यात्। न चैवमेव न्याय्यम्, सर्वव्यवहारोच्छेदापत्तेरिति भेदवदभेदोऽपि वस्तुगत्याऽभ्युपेयः, तथा च भेदाभेदोभयस्वरूपं पुरुषद्रव्यमिव तद्दृष्टान्तेनान्यदपि वस्तु भेदाभेदोभयस्वरूपमेवाभ्युपेयमिति भावः ॥ ३४ ॥

अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

वंजणपज्जायस्स उ पुरिसो पुरिसोत्ति निच्चमवियप्पो।
बालाइवियप्पं पुण पासइ से अत्थपज्जाओ ॥ ३५ ॥

शब्दपर्यायेणाविकल्पः पुरुषो बालादिना त्वर्थपर्यायेण सविकल्प इति सङ्क्षिप्तार्थः। विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'वंजणपज्जायस्स' व्यञ्जयति बोधयति व्यनक्ति वाऽर्थानिति व्यञ्जनम्, शब्दः, न पुनः शब्दनयः, तस्यर्जुसूत्रेण सह पर्यायविषयत्वेन तुल्यत्वात्, अर्थात् ऋजुसूत्रो यथा क्षणिकमर्थपर्यायमभ्युपगच्छति तथा शब्दनयोऽपि, एवं च व्यञ्जनपदेन शब्दनयग्रहणे व्यञ्जनपर्यायः शब्दनयविषयीभूतक्षणिकस्वरूपपर्याय एव स्यात्, तथा च तादृशपर्यायग्राहिनयेन पुरुषपदप्रतिपाद्यं पुरुषात्मकं वस्तु भिन्नमेव भवेत्, न त्वाजन्ममरणान्तमभिन्नस्वरूपम्, व्यञ्जनपदेन शब्दग्रहणे तु तस्य पर्यायः आजन्मनो मरणान्त यावदभिन्नस्वरूपपुरुषद्रव्यप्रतिपादकत्वलक्षणः, तस्य, विषयेण विषयिण उपलक्षणात् तद्ग्राहकनयस्य मतेनेति शेषः, "पुरिसो पुरिसोत्तिनिच्चमवियप्पो" पुरुषः पुरुष इत्येवमभिन्नस्वरूपतया पुरुषशब्दप्रतिपाद्य आजन्मनो मरणपर्यन्तं पुरुषरूपोऽर्थो 'नित्यम्' अनवरतम् 'अविकल्पः' विकल्पो भेदस्तेन रहितः, व्यञ्जनपर्यायमतेन पुरुषद्रव्यं तत्तत्क्षणभेदभिन्नपूर्वोत्तरनिखिलस्वपर्यायेष्व-

युगपदभिन्नैकस्वरूपतया पुरुषः पुरुष इत्येवमुच्यमानं नियमविकल्पं भेदं न प्रतिपद्यते इति भावः। नन्वेवमपि पुरुषद्रव्यस्यैकान्तेनाविकल्परूपत्वमेव प्राप्तं, तच्च स्याद्वादविरुद्धमित्यतस्तस्य सविकल्परूपत्वप्रतिपादनेन कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वस्याद्वादरूपताप्रतिपादनाभिप्रायोपदर्शनमाह—“बालाइवियप्पं” इत्यादि। ‘से’ तस्य पुरुषद्रव्यस्य ‘अत्थपज्जाओ’ अर्थपर्यायः अर्थपर्यायग्राहिऋजुसूत्रादिनयः, उपचारेण विषयेण विषयिणो ग्रहणात्, ‘पुण’ पुनः ‘बालाइवियप्पं’ बालादिविकल्पं बालकुमारादिभेदं ‘पासइ’ पश्यति, व्यञ्जनपर्यायमतेनाभिन्नमपि पुरुषद्रव्यमर्थपर्यायग्राहिऋजुसूत्रादिनयविषयबालादिपर्यायस्वरूपतया भेदमप्यश्नुते इति भावः ॥ ३४ ॥

एतावता ग्रन्थेन निर्विकल्प-सविकल्पोभयस्वरूपतया प्रतिपादिते पुरुषादिवस्तुनि सति एकान्तेन सविकल्पमेव निर्विकल्पमेव वा तद्वस्तु प्रतिपादयन् स्वीयवस्तुतत्त्वानभिज्ञतयैव विदुषां चेतसि प्रत्यायपतीत्युपदर्शयन्नाह—

सवियप्प-णिव्वियप्पं, इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण, ण स निच्छिओ समए ॥ ३५ ॥

‘सवियप्प-णिव्वियप्पं’ सविकल्पनिर्विकल्पं, सविकल्पम् निर्विकल्पमेति उभयोरस्य समाहारः सविकल्पनिर्विकल्पं तत्तदपेक्षयोपस्थापकत्वात्तदुभयोस्तानेकान्तात्मकवस्तुमयप्रमेयमिति स्यात्सविकल्पं स्यान्निर्विकल्पं ‘पुरिसं’ पुरुषं तदुभयपदघटितसप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यबोधविषयं पुरुषद्रव्यं ‘जो’ यः प्रतिपादकोऽयथार्थवादितया “अवियप्पं सवियप्पमेव वा इय” एवंस्वरूपोभयप्रत्यायपात्, अविकल्पमेव सविकल्पमेव वेति “णिच्छएण” निश्चयेन एकान्तेन ‘भणेज्ज’ भणेत् ब्रूयात् ‘ण स णिच्छिओ समए’ स एकान्तवादप्रतिपादकः, समये सम्यग् ईयते परिच्छिद्यते इति समयः, यथावस्थितोऽर्थः, तस्मिन्, निश्चितो निश्चयः तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः, सम्यगर्थ इत्यर्थके समय इत्यत्र सप्तम्या विषयत्वार्थकत्वेन यथाऽवस्थितार्थविषयकनिश्चयवान् स इत्यर्थः, दुर्नयाभिनिवेशाभिभूतत्वात् सम्यगनेकान्तवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात् न यथार्थवक्ता इति भावः। नन्वेवं तर्हि सम्यगनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपविषयकं निराकाङ्क्षपरिपूर्णबोधमाधातुं प्रतिपादकः प्रतिपाद्यस्य कथं प्रभवतीति चेत्, उच्यते, यदा कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मके वस्तुनि व्यञ्जनपर्यायापेक्षया स्यादभिन्न एव पुरुषः, बालाद्यर्थपर्यायापेक्षया स्याद् भिन्न एव पुरुषः, युगपदुभयार्पणया स्यादवक्तव्य एव, क्रमिकोभयार्पणया स्यादभिन्न एव स्याद्भिन्न एव च, व्यञ्जनपर्यायविवक्षया युगपदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्यादवक्तव्य एव, बालाद्यर्थपर्यायविवक्षया युगपदुभयविवक्षया च स्याद्भिन्नः स्यादवक्तव्य एव, क्रमिकोभयार्पणया युगपदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्याद्भिन्नः स्यादवक्तव्य एव, एवं सप्तभङ्ग्यात्मक

भावापेक्षया स्यादस्त्येव घटः, परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिपरस्पर- साकाङ्क्षवाक्यसप्तकसमाहारस्वरूपसप्तभङ्गीभावमापन्नं महावाक्यमेव प्रयुङ्क्ते तदैव, तथैव प्रतिपादयतश्च निपुणत्वं भवति, वस्तुनो यथास्वरूपं तथैव प्रतिपादनात्, स्यात्पदाऽला- ञ्छितैकवाक्यमात्रप्रतिपादने तु तस्याऽनैपुण्यमेव स्यात्, यतः प्रतिपाद्यस्याज्ञानसंशयविप- र्ययनिरासार्थमेव वाक्यं प्रयुज्यते, नान्यथा, तत्र घटगतास्तित्वस्वरूपेऽनभिज्ञं संशयितं भ्रान्तं वा प्रत्यज्ञानादिनिरासार्थं यदि स्यात्पदाऽलाञ्छितं घटोऽस्तीत्येतावन्मात्रं प्रयुज्यते तदास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदद्योत्यस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपापेक्षोक्तेरभावात्ततः सर्वैः प्रकारेणास्तित्वमेव घटस्य निश्चिनुयात्प्रतिपाद्यः, न च सर्वथाऽस्तित्वं घटे वर्त्तते, तथा सति घटत्वात्मकस्वस्वरूपेणेव पटत्वमठत्वादिपररूपेणापि घटस्यास्तित्वे प्राप्ते घटस्य सर्वात्मकत्व- प्रसङ्गः, न हि पटादीनां पटादिस्वरूपता पटत्वादिनाऽस्तित्वमन्तरेणान्या, आपादनञ्चात्र घटो यदि पटत्वकटत्वमठत्वादिनाऽस्तित्ववान् स्यात् तदा पटकटमठाद्यात्मकस्स्यात्, पटकटा- दिवत्, यद्वा स्वद्रव्यरूपेणेव परद्रव्यरूपेणापि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमो न स्यात्। अथ संयोगविभागादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेऽपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यत एव तद्वत्प्रकृतेऽपीति चेत्, न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्य त्वात्, ततोऽपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात्, परद्रव्यरूपेणेव स्वद्रव्यरूपेणापि कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गादिष्टद्रव्याश्रयत्वं न स्यात्, तथा स्वाधारक्षेत्ररूपेणेव पराधारक्षेत्ररूपेणापि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न स्यात्, परक्षेत्ररूपेणेव स्वक्षेत्ररूपेणापि चाऽसत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तिस्स्यात्, तथा स्वकाला- पेक्षयेव परकालापेक्षयाऽपि सत्त्वे प्रतिनियतकालवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न स्यात्, परकालापेक्षयेव स्वकालापेक्षयाप्यसत्त्वे सकलकालावृत्तित्वं स्यात्, स्वभावरूपेणेव परभावरूपेणापि सत्त्वे प्रतिनियतभावात्मकत्वं न स्यात्, परभावरूपेणेव स्वभावरूपेणाप्यसत्त्वे विवक्षितभावशालि- त्वमपि न स्यात्, न च घटोऽस्तीत्यत्र घटपदसमभिव्याहारादस्तिपदं घटत्वेनाऽस्तित्वं बोधयतीति न सर्वप्रकारेणास्तित्वप्रसक्तिः स्यात्पदाऽप्रयोगेऽपीति वाच्यम्, एवं सति घटे सत्त्वाभावप्रतिपादनेच्छयोच्चरिते घटो नास्तीति वाक्येऽपि घटपदसमभिव्याहारेण नास्ती- त्यस्य घटत्वेन नास्तित्वप्रतिपादकत्वमेव स्यात्, न चैवमभ्युपगन्तुं युक्तम्, एकस्यैवैके- नैव रूपेणास्तित्वनास्तित्वयोर्विरोधात्। न च घटोऽस्तीत्यनेन घटत्वपटत्वादिना केनापि प्रकारेणास्तित्वं न प्रतिपाद्यते, किन्तु सामान्यत एवास्तित्वं घटस्य, तच्चाबाधितमेवेति वाच्यम्, यतो घटोऽस्तीत्यनेन घटे सामान्यतोऽस्तित्वस्य ज्ञाने तस्य कथञ्चिदस्तित्व सर्वथाऽस्तित्वयोः साधारणतया साधारणधर्मज्ञानस्य च संशयकारणत्वेन घटः कथञ्चिदस्ति न वेति संशयस्स्यात्, संशयस्य च जिज्ञासाम्प्रति कारणत्वेन संशये सति घटे कथञ्चिद- स्तित्वज्ञानं मे जायतामित्याकारा जिज्ञासाऽपि न निरोद्धुं शक्या, न च तादृशीं स्वीय-

जिज्ञासो तदभिलापप्रयुक्तवाक्यं किं घटः स्यादस्ति न वेत्याकारमन्तरेण प्रतिपाद्यः पुमान् प्रतिपादकं पुमांसमप्रयमपि तु प्रष्टुमिच्छुरिति प्रतिपाद्येनोक्तस्वरूपे प्रश्नवाक्ये उच्चारिते सति तदभिधेयं येन तस्य जिज्ञासाविक्षेपमवगम्य प्रतिपादकः प्रतिपाद्यपुरुषीयजिज्ञासाकारप्रसंशयनिराकरिष्णुस्तद्वाक्यस्यापादप्रश्नमेवोत्तरवाक्यं प्रयुञ्जीत, तच्च घटः स्यादस्त्येवेत्याकारं प्रथमभङ्गरूपमेव, तत्रास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षास्तित्वक-मिति निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनेन द्रव्याद्यपेक्षप्रतिनियतस्वरूपप्रतिपत्तये स्यात्पदं प्रयोक्तव्यम्, यद्यस्तत्पदपेक्षागर्भतत्पदनकपर्यायकदम्बितत्वात् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्पदपेक्षा-सामर्थ्यं स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत, एवं येन रूपेणास्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपानिष्टार्थनिवृत्तयेऽवधारणार्थकमेवकारपदमपि प्रयोक्तव्यमेव । एतच्च सप्तभङ्गीतरङ्गिण्यामप्युक्तं श्लोकद्वयम्—" निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनार्थं स्यात्पदस्य अवधारणार्थं च एवकारस्य प्रतिभङ्गं प्रयोग इति " । अयम्भावः—एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलत्वं सर्वेत्र घटे इत्यतस्स्वद्रव्यक्षेत्रादिघटद्रव्यक्षेत्रा-दिसर्वावच्छिन्नस्यप्रतीतौ तदपवादाय स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकनियतावच्छेदकस्फोर-णार्थं स्यात्पदमौल्ये येन रूपेणाऽस्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपाऽनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थं चाव-धारणः प्रयोगो युक्त एव, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण प्रधानतया घटेऽस्तित्वमेव तथाऽसत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादनपरः प्रथमभङ्गः, वक्त्रा स्यादस्त्येवेत्याद्यभङ्गेऽभिहिते श्रोत्रा येन कथञ्चिदस्तित्वे ज्ञाते तस्य प्रथमभङ्गप्रतिस्यात्पदमहिम्ना किं घटे नास्तित्व धर्मोऽस्ति न वेति संशयस्समुद्भवति, तेन च मे घटे नास्तित्वधर्मज्ञानं जायतामिति जिज्ञा-सोद्भवति, तथा च किं घटेऽस्तित्वमिव नास्तित्वमप्यस्ति ? येन स्यात्कार उच्चारित इति प्रश्ने क्रियमाणे परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वधर्मोपदर्शनार्थं स्यान्नास्त्येवेति द्वितीयभङ्गः प्रयुङ्क्ते वक्ता, तत्र सर्वं हि वाक्यं सावधारणमिति न्यायमनुसृत्य क्रियमाणैवकारप्रयोगेण नास्तित्वस्यावधारणादसम्भवाद् द्वाभ्यामपि भङ्गाभ्यामेकान्तनास्तित्वधर्मप्रसक्त्या तत्कथं कथ-ञ्चिदस्तित्वविरुद्धं तत्र सद्भूतमिस्याशङ्कोपतिष्ठते, तदपवादार्थं स्यात्पदप्रयोगः, तेन पर-द्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वप्रतीत्या सोपपत्त्याप्रतीति स सार्थक एव, एकान्तवचनं मिथ्या-वचनमिति जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि वाक्यं स्यात्कार-पुरस्सरमेव भाषन्ते, न तु कदापि स्यात्कारविरहितम्, तद्विरहितवाक्यस्यैकान्ताव-धारणवाक्यरूपत्वेन " मोहारम्भी भासां नेव भासेत " " अवधारणी भाषां नेव भासेत " इत्यनेन प्रतिषेधात्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथप्रवृत्तौ न सर्वत्र सर्वदा साक्षात् स्यात्पदं प्रयुज्यते, तथापि तत्राऽप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्यात्कारो द्रष्टव्यः, प्रयोक्तुरस्य कुशलत्वात् ।

तदुक्तम्—" अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥ " इति ।

आद्येन द्वितीयेन च भङ्गेन क्रमार्पिते स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिदस्तित्वे परद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिन्नास्तित्वे च ज्ञाते सति सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयस्योपस्थितिसम्भवेन प्राधान्येन युगपत् स्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्यवच्छेदकभेदेन तदुभयमस्ति न वेति संशये सति तन्मूलकतद्धर्मजिज्ञासाप्रभवतद्धर्मप्रश्नसमुद्भवे युगपत्प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयधर्मसद्भावेऽपि तथा तत्प्रतिपादकस्य कस्यचिदेकपदस्य समासविग्रहान्यतरात्मकवाक्यस्य वाऽभावात्स्यादवक्तव्य एव घट इत्याकारकस्य तृतीयभङ्गस्यावतारस्सम्भवत्येव, न च "पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसादेकोक्त्या प्राधान्येन चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयरूपेण चन्द्रसूर्योभयप्रतिपादकपुष्पदन्तशब्दवत् "तौ सत्" ३।२।१२७। इति पाणिनीयसूत्रेण प्राधान्येन 'शतृशानच्' इत्युभयसङ्केतितसच्छब्दवच्च प्राधान्येन सत्त्वाऽसत्त्वोभयधर्मसङ्केतितयत्किञ्चिदेकशब्देन युगपत् प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयधर्मस्य प्रतिपादनसम्भवात्तद्रूपेण वक्तव्य एव घट इति नोभयधर्मयुगपत्प्राधान्यविवक्षायामपि स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गावतारस्सम्भवतीति वाच्यम्, पुष्पदन्तपदेन चन्द्रत्वेन चन्द्रस्य सूर्यत्वेन सूर्यस्य युगपत्प्रतीतावपि चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरेकेनोभयत्वेनाऽननुगमनात्तथाबोधस्य समूहालम्बनबोधात् साक्षात्परम्परया निरूप्यनिरूपकभावाऽनापन्नभिन्नप्रकारतानिरूपितभिन्नविशेष्यतानिरूपकाच्चन्द्रनिष्ठविशेष्यतानिरूपितचन्द्रत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितोभयत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितसूर्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसूर्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपकत्वेन साक्षात्परम्परया परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताकस्य वैलक्षण्येऽपि नैकधर्मिणि चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयधर्मस्य बोधनम्। यद्वा पुष्पदन्तपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकशक्तिग्रहसहकृतादेकोच्चारणान्तर्भावेन चन्द्रत्वसूर्यत्वविशिष्टशक्तात्पुष्पदन्तपदाच्चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारको बोधः, तत्र चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्द्वयोरपि पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणैकीकृतयोरपि नैकधर्मिणि बोधनम्, प्रकृते तु सत्त्वासत्त्वोभयस्य सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपदेवैकत्र धर्मिणि बोधनमभीप्सितमिति न पुष्पदन्तपदं तथा बोधने समर्थमिति न तद्दृष्टान्तबलात्तथाबोधनसमर्थमेकपदं कल्पयितुं शक्यम्, सत्पदमपि सत्त्वेनैकधर्मेणैव शतृशानचोर्बोधनसमर्थमिति न तद्दृष्टान्तस्याप्यवकाशः, न च सत्त्वासत्त्वोभयसङ्केतितमप्युभयपदं प्राधान्येन सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन च तदुभयप्रतिपादकं, किन्तूभयत्वेनैवेति व्यासज्यवृत्तिधर्मेणोभयत्वेन रूपेणास्तित्वनास्तित्वधर्मद्वयावच्छिन्नबोधस्योभयपदात्सम्भवेऽपि तादृशबोधाकारः 'उभयम्' इत्येव स्यादिति नोभयपदादपि सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वयोः प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयाकारो बोधस्सम्भवतीति नोभयपदेनापि तथा वक्तव्यो घट इति सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादकवचनाभावात् स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गस्सम्भवत्येवेति। न चावक्तव्यत्वधर्मो विधिनिषेधात्मा नेति न

जिज्ञासां तदभिलापकप्रश्नवाक्यं किं घटः स्यादस्ति न वेत्याकारमन्तरेण प्रतिपाद्यः पुमान् प्रतिपादकं पुमांसमवगमयितुं प्रभविष्णुरिति प्रतिपाद्येनोक्तस्वरूपे प्रश्नवाक्ये उच्चारिते सति तदाशयेन तेन तस्य जिज्ञासाविशेषमवगम्य प्रतिपादकः प्रतिपाद्यपुरुषीयजिज्ञासाकारक संशयनिवृत्तिपर्यवसायिवाक्यस्योपायभूतमेवोत्तरवाक्यं प्रयुञ्जीत, तच्च घटः स्यादस्त्येवेत्याकारं प्रथमभङ्गरूपमेव, तत्रास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयास्त्येव मिति निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनाय द्रव्याद्यपेक्षप्रतिनियतस्वरूपप्रतिपत्तये स्यात्पदं प्रयोक्तव्यम्, यतस्तत्तत्पदसामर्थ्यादनेकपर्यायकरम्बितत्वात् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तदपेक्षा सामर्थ्ये स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत, एवं येन रूपेणास्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपानिष्टार्थनिवृत्तयेऽवधारणार्थकमेवकारपदमपि प्रयोक्तव्यमेव । उक्तञ्च लघवसापेक्ष्यमस्फुटीकरणाय—"निमित्तभेदेनाविरोधद्योतनार्थं स्यात्पदस्य अवधारणार्थे च एवकारस्य प्रतिपर्यायं प्रयोग इति"। अयम्भावः—एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलवत् सर्वथैव घट इत्यत्र स्वद्रव्यक्षेत्रादिपरद्रव्यक्षेत्रा-दिसर्वावच्छिन्नसत्त्वप्रतीतौ तदपवादाय स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकनियतावच्छेदकस्फोरणार्थं स्यात्पदप्रयोगे येन रूपेणाऽस्तित्वं तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपाऽनिष्टार्थनिवृत्तये सावधारणः प्रयोगो युक्त एव, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण प्रधानतया घटेऽस्तित्वविधिरूपाऽऽद्यभङ्गोपसर्जननास्तित्वप्रतिपादनपरः प्रथमभङ्गः वक्त्रा स्यादस्त्येवेत्याद्यभङ्गेऽभिहिते श्रोता येन कथञ्चिदस्तित्वे ज्ञाते तस्य प्रथमभङ्गघटितस्यात्पदमहिम्ना किं घटे नास्तित्व धर्मोऽस्ति न वेति संशयस्समुत्पद्यते, तेन च मे घटे नास्तित्वधर्मज्ञानं जायतामिति जिज्ञासोत्पद्यते, तथा च किं घटेऽस्तित्वमिव नास्तित्वमप्यस्ति ? येन स्यात्कार उच्चारित इति प्रश्ने जिज्ञासायां परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वधर्मोपदर्शनार्थं स्यान्नास्त्येवेति द्वितीयभङ्गः प्रयुङ्क्ते वक्ता, तत्र सर्वं हि वाक्यं सावधारणमिति न्यायमनुसृत्य क्रियमाणैवकारप्रयोगेण नास्तित्वस्यावधारणादस्तित्वाभावप्राप्त्यवच्छेदेऽप्यैकान्तनास्तित्वधर्मप्रसक्त्या तत्कथं कथञ्चिदस्तित्वविशिष्टं तत्र सङ्गतमित्याशङ्कोपतिष्ठते, तदपवच्छेदार्थं स्यात्पदप्रयोगः, तेन परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वप्रतीत्या सोपपन्नम्प्रतीतिः स सार्थक एव, एकान्तधर्मं मिथ्या वचनमिति जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि वाक्यं स्यात्कार पुरस्सरमेव भाषन्ते, न तु वाक्यमपि स्यात्काररहितम्, तद्विरहितवाक्यस्यैकान्तावधारणवाक्यरूपत्वेन "ओहारणी भासां नव भासेव" "अवधारणी भाषां नैव भाषेत" इत्यनेन प्रतिषेधात्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वत्र सर्वदा साक्षात् स्यात्पद प्रयुञ्जते, तथापि तत्राऽप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः, प्रयोक्तुः कुशलत्वात् ।

उक्तञ्च—"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।
विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥" इति ।

आद्येन द्वितीयेन च भङ्गेन क्रमार्पिते स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिदस्तित्वे परद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिन्नास्तित्वे च ज्ञाते सति सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयस्योपस्थितिसम्भवेन प्राधान्येन युगपत् स्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्यवच्छेदकभेदेन तदुभयमस्ति न वेति संशये सति तन्मूलकतद्धर्मजिज्ञासाप्रभवतद्धर्मप्रश्नसमुद्भवे युगपत्प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयधर्मसद्भावेऽपि तथा तत्प्रतिपादकस्य कस्यचिदेकपदस्य समासविग्रहान्यतरात्मकवाक्यस्य वाऽभावात्स्यादवक्तव्य एव घट इत्याकारकस्य तृतीयभङ्गस्यावतारस्सम्भवत्येव, न च "पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ" इति कोशस्वरसादेकोक्त्या प्राधान्येन चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयरूपेण चन्द्रसूर्योभयप्रतिपादकपुष्पदन्तशब्दवत् "तौ सत्" ३ । २ । १२७ । इति पाणिनीयसूत्रेण प्राधान्येन 'शतृशानच्' इत्युभयसङ्केतितसच्छब्दवच्च प्राधान्येन सत्त्वाऽसत्त्वोभयधर्मसङ्केतितयत्किञ्चिदेकशब्देन युगपत् प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयधर्मस्य प्रतिपादनसम्भवात्तद्रूपेण वक्तव्य एव घट इति नोभयधर्मयुगपत्प्राधान्यविवक्षायामपि स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गावतारस्सम्भवतीति वाच्यम्, पुष्पदन्तपदेन चन्द्रत्वेन चन्द्रस्य सूर्यत्वेन सूर्यस्य युगपत्प्रतीतावपि चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरेकेनोभयत्वेनाऽननुगमनात्तथाबोधस्य समूहालम्बनबोधात् साक्षात्परम्परया निरूप्यनिरूपकभावाऽनापन्नभिन्नप्रकारतानिरूपितभिन्नविशेष्यतानिरूपकाचन्द्रनिष्ठविशेष्यतानिरूपितचन्द्रत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितोभयत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितसूर्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसूर्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपकत्वेन साक्षात्परम्परया परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताकस्य वैलक्षण्येऽपि नैकधर्मिणि चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयधर्मस्य बोधनम्। यद्वा पुष्पदन्तपदं चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकशक्तिग्रहसहकृतादेकोच्चारणान्तर्भावेन चन्द्रत्वसूर्यत्वविशिष्टशक्तात्पुष्पदन्तपदाच्चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारको बोधः, तत्र चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्द्वयोरपि पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणैकीकृतयोरपि नैकधर्मिणि बोधनम्, प्रकृते तु सत्त्वासत्त्वोभयस्य सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपदेवैकत्र धर्मिणि बोधनमभीप्सितमिति न पुष्पदन्तपदं तथा बोधने समर्थमिति न तद्दृष्टान्तबलात्तथाबोधनसमर्थमेकपदं कल्पयितुं शक्यम्, सत्पदमपि सत्त्वेनैकधर्मेणैव शतृशानचोर्बोधनसमर्थमिति न तद्दृष्टान्तस्याप्यवकाशः, न च सत्त्वासत्त्वोभयसङ्केतितमप्युभयपदं प्राधान्येन सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन च तदुभयप्रतिपादकं, किन्तूभयत्वेनैवेति व्यासज्यवृत्तिधर्मेणोभयत्वेन रूपेणास्तित्वनास्तित्वधर्मद्वयावच्छिन्नबोधस्योभयपदात्सम्भवेऽपि तादृशबोधाकारः 'उभयम्' इत्येव स्यादिति नोभयपदादपि सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वयोः प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयाकारो बोधस्सम्भवतीति नोभयपदेनापि तथा वक्तव्यो घट इति सत्त्वत्वेनासत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादकवचनाभावात् स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गस्सम्भवत्येवेति। न चावक्तव्यत्वधर्मो विधिनिषेधात्मा नैति न

तृतीयभङ्गप्रतिपाद्यतामेतीति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाभ्युपगमेनावक्तव्यत्वाऽ-
भययोरस्तित्वनास्तित्वयोर्विधिनिषेधरूपत्वे तदाश्रितावक्तव्यत्वस्यापि तथात्वात्, तृतीय
भङ्गविषयत्वं तु तस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्भेदविवक्षयैवोपपादनीयम्, अवक्तव्य
त्वस्य धर्मिणि युगपदस्तित्वनास्तित्वावच्छेदकोभयावच्छेद्यमिति भावनीयम् ॥ चतुर्थभङ्ग-
प्रतिपाद्यस्य क्रमार्पितकथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वोभयस्याद्यद्वितीयभङ्गप्रतिपाद्याभ्यां कथञ्चिद
स्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन तदुभयप्रकारकसंशयो नाद्यभङ्गजन्यकथञ्चि
दस्तित्वनिश्चयस्य द्वितीयभङ्गजन्यकथञ्चिन्नास्तित्वनिश्चयस्य च प्रतिबन्ध्य इति स स्यादेवेति
तज्जन्यजिज्ञासानिरासेन चतुर्थभङ्गस्सुघट एवेति। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इति
वाक्यात् क्रमार्पितस्याऽस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मवत्त्वमत्र घटे भासमानमित्यनुभवाच्च स भङ्गो-
ऽतिरिक्त एव, तत्र स्यात्पदस्यैव सत्त्वासत्त्वावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शात्तस्यान्तरस्यार्थ
सिद्धत्वादिति। अत्रेदमवधेयम्—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्ध
मिव ज्ञानं, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति वाक्यपदीयोक्तेश्शब्दविशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञाने
भानमिति भर्तृहरिमतप्रवर्तकनयेन शब्दगतस्य क्रमस्यार्थेऽध्यारोपणाच्चतुर्थभङ्गेऽर्थभवतया
क्रमभान भावनीयम्, अथवा शब्दगतोऽर्थगतो वा क्रमो नावभासत एव, किन्तु
'एकत्र द्वयम्' इतिरीत्या तत्र ज्ञानमुपजायते, तदाकारविशेषोपलक्षकमेव 'क्रमात्'
इत्यभिधानम्, अत एव विधिनिषेधयोः क्रमार्पितस्य भङ्गे न भासते। एवं पञ्चमादि
भङ्गोत्थापकाः संशयास्समुत्पाद्या इति तन्निवर्तकानां पञ्चमादिभङ्गानां समुद्भवो ज्ञातव्यः,
तृतीयादिभङ्गानां प्रथमभङ्गद्वयमूलकत्वात् तत्सिद्धौ तदान्तरीयकतदुत्तरभङ्गानां सुतरां
सिद्धिभावात्, न चैवमप्युपपद्यते सप्तभङ्गानां प्रतिभङ्गं संशयजिज्ञासादिना व्यवस्थाने सति
एकधर्मिविशेष्यकव्यस्तसमस्तविधिनिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकसमूहालम्बनबोधजनकत्वं न स्या
दिति प्रातिभङ्गप्रमाणप्रयोज्यत्वे सति एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकसप्तधर्म
प्रकारकबोधजनकसप्तवाक्यपर्याप्तसमुदायत्वरूपसप्तभङ्गीलक्षणाव्याप्तिस्स्यादिति वाच्यम्, यतः
पुनरुक्तवचनानेनोपस्थितिकृततया सप्तभङ्गीभावमापन्नानां भङ्गानां तादृशसमूहालम्बनात्मक-
बोधजनकत्वं स्यादेव। उक्तसप्तभङ्गीलक्षणतात्पर्यमप्येवं ज्ञेयम्—एकवस्तुविशेष्यकसत्त्वा
सत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरणं वाक्यं सप्तभङ्गीति, विरोधस्फूर्तौ
वाक्यस्याबोधकत्वेनैवाविरुद्धत्वस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च कथितत्वात्प्रत्यक्षजिज्ञासयैव
कथञ्चिदुरोर्मिमापयिषयैव सप्तभङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्रातिभङ्गस्याविधिविशेषणस्यापि तदप्रवेशात्,
नानावस्तुषु सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकवस्तुविशेष्यकेति, एकत्र रूपरसादि-
सप्तधर्मबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिनिवेशः, प्र
माणसप्तभङ्गीनयसप्तभङ्ग्या अपि सप्तत्वात्तु तयोरतिव्याप्तिः, प्रमाणनयसप्तभङ्ग्योः पृथक्

पृथक् लक्ष्यत्वे त्वाद्यायां वाक्ये सकलादेशत्वं द्वितीयायाश्च विकलादेशत्वं विशेषणं देयम्, एवं भेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्मापेक्षाभेदप्रयोज्याविरोधद्योतकस्यात्पदलाञ्छितसप्तभङ्गयन्तररचना ज्ञातव्या, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन प्रतिधर्मं सप्तभङ्गीप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

" धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्तानां तदङ्गता ॥ १ ॥ "

तत्र धर्मे धर्मे प्रतिधर्ममित्यर्थः । अर्थ इति प्रयोजनादिरित्यर्थः । अनन्तधर्मवतो धर्मिणः प्रतिधर्मं सप्तभङ्गीकथनं प्रधानीभूतैकैकधर्ममुद्दिश्यैकधर्मिविशेष्यकसप्तविधधर्मप्रकारकबोधात्तद्विषयकसंशयाज्ञानभ्रान्तज्ञाननिवृत्तिफलकमिति भावः । अन्यतमान्तस्येति-सप्तविधधर्मान्यतमधर्मस्येत्यर्थः, अङ्गित्वे-प्रधानत्वे, शेषान्तानाम्-तत्तद्भङ्गप्रविष्टस्याच्छब्दसूचिततदितरधर्माणाम् । तदङ्गता तद्गुणभावः । प्रधानगुणभावश्च वक्तुर्विवक्षाधीन एव । एतेन ननु यदि विवक्षितेनैकेन केनचिद्भङ्गेन विवक्षितधर्मस्येव तदितरधर्माणामपि प्रतिपादने तेनैव शेषभङ्गजन्यतदितरधर्मप्रतिपत्तिफलसिद्धेश्शेषभङ्गनिरूपणं व्यर्थमेवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, विवक्षितभङ्गेन प्रधानतया तदितरधर्मप्रतिपत्त्यनुत्पादनादिति । ननु नयास्तत्तद्वादीययावद्वचनप्रकारास्तावन्त एवेति केन नयेनेयं सप्तभङ्गी प्रवृत्ता केन चेयमिति कथ निश्चेतव्यमिति चेत्, उच्यते, आद्यभङ्गस्य प्रतिपाद्यो यो धर्मः प्रधानभूतः स यन्नयविचाराऽऽधीनसिद्धिकस्तद्धर्मप्रतिपादकाद्यभङ्गघटितसप्तभङ्गी तन्नयप्रयुक्ताऽभ्युपगन्तव्या, तदुक्तं खण्डखाद्ये-" यत्र मूलभङ्गार्थो यन्नयविचाराधीनसिद्धिकस्तत्सप्तभङ्गयां तदीयत्वव्यवहारात्" इति । अत एव—

धीग्राह्ययोर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्, प्रातिस्विकेन परिणामगुणेन भेदः ।
इत्थं तथागतमतेऽपि हि सप्तभङ्गी, सङ्गीयते यदि तदा न भवेद्विरोधः ॥३८॥

इत्युक्तं सङ्गच्छते, ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादभेद एव, स्याद्भेद एव, स्यादभेदस्याद्भेदोभयमेव, स्यादवक्तव्य एवेत्यादिसप्तभङ्गयां स्यादभेद एवेत्याद्यभङ्गस्य प्रतिपाद्योऽभेदरूपो यः प्रधानार्थस्स तथागतदृष्ट्यैव सिद्ध इत्यत उक्तसप्तभङ्गयां तदीयत्वव्यवहाराच्चथागतमतेऽपि सप्तभङ्गीप्रकथने न भगवत्सिद्धान्तविरोधः, सर्वमतव्यापकत्वाद् भगवद्दर्शनस्येति भावः ॥३५॥

तदेवमेकैकवस्तु प्रतिधर्मं सप्तभङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्मार्पितमिति वचनेन तथैव प्रतिपादयन् वक्ता यथार्थवक्ता भवति, नान्यथेति गाथासमूहैस्सप्तविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयन् प्रथममाद्यभङ्गत्रयोत्थाननिमित्तमाह—

अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं ।
वयणविसेसाईयं, दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥

" अत्थंतरभूएहि य, " अर्थान्तरभूतैश्च परपर्यायैः ' णियएहि य ' निजकैश्च स्वपर्यायैः, अर्थान्तरभूरः पटत्वादिः, निजो घटत्वादिः, ताभ्या निजार्थान्तरभूताभ्यां क्रमेण घटस्स्या-

त्वमिव स्यादसमेवेति द्वौ भङ्गौ भवतः। 'दोहि समयमाईहिं' द्वाभ्यामादिभ्यां प्राथमिकाभ्यां प्रकाराभ्यां समकं युगपद्विवक्षितमिति शेषः 'दव्वं' द्रव्यं 'वयणविसेसाईयं' वचनविशेषातीत सत्त्वादिविषयवचनवाच्यताऽनापन्नं सत् 'अवत्तव्वं पडइ' अवक्तव्यकं पतति तृतीयभङ्गविषयतामास्कन्दतीति भावार्थः। अष्टसहस्र्यां त्वेवमर्थः कृतः–अर्थान्तरभूतः पटादिः निषेधो पटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्त प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कारं व्याख्येयम्। 'समयमाईहिं' इत्यनन्तरं तृतीया, द्वाभ्यामिति चानुवर्तते, समकमादिरादानं ययोस्ताभ्यां सहार्पिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः। वचनविशेषातीतं वचनस्य विशेषाः शक्तिः, तमतीतमनाक्रान्तं सत्त्वादिविषयवाचकताविषयीभूतमिति यावत्। द्रव्यं घटादि अवक्तव्यम्, पतति अवक्तिभाराक्रान्तत्वादिसरे स्थातुं न शक्नोति, अवक्तव्यतां वा पततीति। अयम्भावः—अनुयोग्युपस्थापकसमानविभक्तिकप्रतियोग्युपस्थापकपदसमभिव्याहृतनञो भेदप्रत्यायकत्वेन यथाऽयं वृक्षः कपिसंयोगी न मूले इत्यबाधितानुभवबलाद्यथा शाखावच्छेदेन य एव वृक्षः कपिसंयोगी स एव मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदवानिति नव्यनैयायिकैरभ्युपगतं, यथोक्तप्रतीत्या कपिसंयोगतदत्यन्ताभावयोरव्याप्यवृत्तितयैकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगतदत्यन्ताभावसत्त्वं प्राचीननैयायिकैरभ्युपगतं, तथैव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटस्सन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चासन्नित्यबाधितानुभवबलात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन य एव घटस्सन् कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धेन सत्ताश्रयः सत्त्ववान् वा, स एव घटः परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासन् कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसद्भेदवानिति यद्वा सत्तात्यन्ताभाववानिति सद्भेदयोस्सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वा सामानाधिकरण्यमभ्युपगन्तव्यम्, कपिसंयोगिभेदयोरिव सद्भेदयोः कपिसंयोगतदभावयोरिव सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वाऽव्याप्यवृत्तित्वाऽभ्युपगमे बाधकाभावात्, तथा च सत्त्वं स्वाभावसमानाधिकरणं स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात् कपिसंयोगवदित्यनुमानेन सत्त्वेऽव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्यावच्छेदकत्वविशेषस्य स्वद्रव्यादौ स्वीकारः, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदकतया सत्त्वादिधर्मस्याव्याप्यवृत्तितोपोद्बलिका, तदुपपादकैव स्यात्सदसत्त्वविक्षेपत इति। ननु प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावानवच्छेदकत्वे तत्त्वस्य सर्वत्राविशेषात् परद्रव्यक्षेत्रादेरिव प्रमेयत्वादेरपि सत्त्वाभावावच्छेदकत्वं स्यादिति तदपेक्षयाऽपि घटे सत्त्वाभावस्स्यात्, स चानुभवबाधितः, न हि कोऽपि तत्त्वज्ञः प्रमेयत्वेन घटोऽसन्निति वक्तीति चेत्, नैवम्, उक्तातिप्रसङ्गस्यानुभवविनिगमनेनैव निवारणात्, अनुभवश्चात्र घटो मृद्द्रव्यस्य पाटलिपुत्रक्षेत्रस्यैतत्कालीनकालस्य च घटत्वात्मकभावस्य रक्तत्वात्मकभावस्य चाऽपेक्षया सन् तन्तो राजगृहस्यातीतानागतकालस्य पटत्वस्य नीलत्वस्य चाऽपेक्षयाऽसन्नित्याकारकः। न तु प्रमेयत्वाद्यपेक्षयाऽसन्नित्याकारक, इति,

प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वस्य सर्वत्राविशेषेऽप्युक्तविनिगमकादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकमपि किञ्चिदेव कस्यचिदभावस्य वृत्तावच्छेदकं न तु सर्वस्येति प्रमेयत्वेन घटस्य सत्त्वे प्रमेयत्ववतः पटादेर्घटात्मकत्वं स्यादिति सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तितो यदि घटत्वेन घटस्सन् न प्रमेयत्वेनेत्यनुभवस्तदा स्वभावत्वं परभावत्वञ्च विवक्षाधीनमिति प्रमेयत्वस्यापि परभावत्वेन विवक्षितत्वात् तस्याप्यभावावच्छेदकत्वमिष्टमेवेत्युक्तातिप्रसङ्गस्याभासरूपत्वमेवेत्याद्यपक्षः। अथवा परद्रव्याद्यपेक्षयेत्यस्य प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यर्थः। एवञ्च प्रमेयत्वं न सत्त्वात्मकप्रतियोग्यवच्छेदकमिति प्रमेयत्वावच्छेदेन घटो न सन् इति द्वितीयभङ्गार्थो युक्त एवेत्यर्थ इति द्वितीयपक्षः। परद्रव्यादेर्यथाश्रुतार्थपरतायामपि प्रमेयत्वस्य परभावरूपतयाऽभावावच्छेदकत्वमिष्टमित्याशयेन प्रमेयत्वस्य परभावत्वं विवक्षया पूर्वमुक्तम्, इदानीं तु तस्य परभावत्वं भवतु मा वा, प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकपदेन तस्यापि ग्रहणसम्भवात् प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यनेन प्रमेयत्वावच्छेदेनेत्यपि लभ्यते इति भावः, यदि चाऽस्तित्वनास्तित्वयोर्विरुद्धयोरेकत्रापेक्षाभेदेन सत्त्वोपपत्तये स्वद्रव्यादीनां प्रतियोगिभूतस्य सत्त्वस्यावच्छेदकत्वं परद्रव्यादीना सत्त्वाभावस्यावच्छेदकत्वमित्येवं कल्पना नाद्रियते, किन्तु सत्त्वासत्त्वयोः प्रकृते विशिष्टस्वरूपयोरेव प्रथमद्वितीयभङ्गविषयत्वम्, तथा च स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नं यत्सत्त्वं प्रथमभङ्गविषयः परद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावरूपं यदसत्त्वं द्वितीयभङ्गविषयस्तयोः परस्पराभावरूपत्वाभावादेव न विरोध इत्येतावदेव प्रथमद्वितीयभङ्गयोरविरुद्धार्थकत्वोपपत्तिरिति द्वितीयभङ्गो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावपर एव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्चाऽभ्युपगम्यते एव "यदि च घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्ययः स्वरसवाही लोकानां तदा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववारणं गीर्वाणगुरोरप्यशक्यम्" इति वदता शिरोमणिनापि। अत एव—

"अव्याप्यवृत्तिगुणिभेदमुदीर्य नव्या-ऽभावं प्रकल्प्य च कथं न शिरोमणे त्वम्।
स्याद्वादमाश्रयसि सर्वविरोधिजैत्रं,ब्रूमः पसार्य निजपाणिमिति त्वदीयाः॥४५॥"

इति शिरोमणिं प्रति शिक्षावचनमपि सङ्गच्छते। ननु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वेन प्रकृतधर्मिमात्राऽसाधारणधर्मत्वाभावाद्व्यावर्त्तकत्वेन तत्प्रतिपादकभङ्गस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, मैवम्, नास्त्येव घट इत्येतावन्मात्रोक्तावेवकारप्रतिपाद्यसर्वथा नास्तित्वस्य प्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोगः, यथा चित्रे घटे नील एवेति प्रयुक्ते सर्वथा नीलत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोग इति स्यात्कारलाञ्छितद्वितीयभङ्गस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधकस्यापि सार्थक्यादिति तृतीयपक्षः। एवं घटत्वेन पटो नास्तीति प्रतीत्या घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्येव शशशृङ्गे गोवृत्तित्वं नास्तीत्यादि-

सन्नेव स्यादसन्नेवेति द्वौ भङ्गौ भवतः। 'दोहि समयमाईहिं' द्वाभ्यामादिभ्यां प्राथमिकाभ्यां प्रकाराभ्यां समकं युगपदविवक्षितमिति शेषः 'दव्वं' द्रव्यं 'वयणविसेसाईयं' वचनविशेषा-तीतं सत्त्वादिविषयवचनवाच्यताऽऽस्पदं सत् 'अवत्तव्वं पडइ' अवक्तव्यकं पतति तृतीयभङ्ग-विषयतामास्कन्दतीति भावार्थः। अदसद्रूपा लोपमर्थः कृता–अर्थान्तरभूता पटादिः भिन्नो घटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त्वं घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयभङ्गनिमित्त प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कारं व्याख्येयम्। 'समयमाईहिं' इत्यनन्तरं तुर्येऽप्य, द्वाभ्यामिति चानु वर्तते, समकमादिशब्दार्थं ययोस्ताभ्यां सहार्पिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः। वचनविशेषातीत वचनस्य विशेषः शक्तिः, तमतीतमनाक्रान्तं सत्त्वादिविषयवाचकाविषयीभूतमिति यावत्। द्रव्यं घटादि अवक्तव्यम्, पतति भङ्गकिमाराद्वक्तव्यताशिखरे स्थातुं न शक्नोति, अवक्तव्यतां वा पततीति। अयमाशयः—अनुयोगद्वयस्थापकसमानविभक्तिकप्रतियोग्युभयस्थापकपदसम भिव्याहृतनञो भेदप्रत्यायकत्वेन शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न मूले इत्यबाधितानुभव बलाद्यथा शाखावच्छेदेन य एव वृक्षः कपिसंयोगी स एव मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेद वानिति नव्यनैयायिकैरभ्युपगतं, यद्वोक्तप्रतीत्या कपिसंयोगतदत्यन्ताभावयोरव्याप्यवृत्ति-तयैकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगतदत्यन्ताभावसत्त्वं प्राचीननैयायिकैरभ्यु-पगतं, तथैव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटः सन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया नास्-तीत्यबाधितानुभवबलात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन य एव घटः सन् कथञ्चिदारम्भ सम्बन्धेन तद्वान् सत्त्ववान् वा, स एव घटः परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासत् कथञ्चिदारम्भसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसत्त्ववानिति यद्वा सत्त्वात्यन्ताभाववानिति सत्त्वाभेदयोः सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वा सामानाधिकरण्यमभ्युपगन्तव्यम्, कपिसंयोगितद्भेद योरिव तद्भेदयोः कपिसंयोगतदभावयोरिव सत्त्वतदत्यन्ताभावयोरव्याप्यवृत्तित्वा-भ्युपगमे बाधकाभावात्, तथा च सर्वं स्वाभावसमानाधिकरणं स्वसमानाधिकरणा त्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात् कपिसंयोगवदित्यनुमानेन सत्त्वेऽव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्यावच्छेदकत्वविशेषस्य स्वद्रव्यादौ स्वीकारः, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छेदकता सत्त्वादिधर्मस्याव्याप्यवृत्तित्वोपोद्बलिका, तादृशापेक्षैव स्यात्सत्त्वप्रतिरूपैव इति। ननु प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वे तथास्य सर्वथाविशेषात् परद्रव्यक्षेत्रादेरिव प्रमेयत्वादेरपि सत्त्वाभावावच्छेदकत्वं स्यादिति तदपेक्ष याऽपि घटे सत्त्वाभावः स्यात्, स चानुभवबाधितः, न हि कोऽपि तज्ज्ञः प्रमेयत्वेन घटोऽसन्निति वक्तीति चेत्, नैवम्, एतादृशप्रसङ्गस्यानुभवविनिगमनयैव निवारणात्, अनुभवस्तु घटो मृद्रूपस्य पाटलिपुत्रक्षेत्रस्येदानींतनकालस्य च घटत्वात्मकभावस्य रक्तत्वात्मकभावस्य चापेक्षया सन् तन्तो राजगृहस्यातीतानागतकालस्य पटत्वस्य नीलत्वस्य चापेक्षयाऽसन्नित्याकारकः। न तु प्रमेयत्वापेक्षयाऽसन्नित्याकारक इति,

प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वस्य सर्वत्राविशेषेऽप्युक्तविनिगमकादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकमपि किञ्चिदेव कस्यचिदभावस्य वृत्तावनवच्छेदकं न तु सर्वस्येति प्रमेयत्वेन घटस्य सत्त्वे प्रमेयत्ववतः पटादेर्घटात्मकत्वं स्यादिति सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तितो यदि घटत्वेन घटस्सन् न प्रमेयत्वेनेत्यनुभवस्तदा स्वभावत्वं परभावत्वञ्च विवक्षाधीनमिति प्रमेयत्वस्यापि परभावत्वेन विवक्षितत्वात् तस्याप्यभावावच्छेदकत्वमिष्टमेवेत्युक्तातिप्रसङ्गस्याभासरूपत्वमेवेत्याद्यपक्षः। अथवा परद्रव्याद्यपेक्षयेत्यस्य प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यर्थः। एवञ्च प्रमेयत्वं न सत्त्वात्मकप्रतियोग्यवच्छेदकमिति प्रमेयत्वावच्छेदेन घटो न सन् इति द्वितीयभङ्गार्थो युक्त एवेत्यर्थ इति द्वितीयपक्षः। परद्रव्यादेर्यथाश्रुतार्थपरतायामपि प्रमेयत्वस्य परभावरूपतयाऽभावावच्छेदकत्वमिष्टमित्याशयेन प्रमेयत्वस्य परभावत्वं विवक्षया पूर्वमुक्तम्, इदानीं तु तस्य परभावत्वं भवतु मा वा, प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकपदेन तस्यापि ग्रहणमम्भवात् प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यनेन प्रमेयत्वावच्छेदेनेत्यपि लभ्यते इति भावः, यदि चाऽस्तित्वनास्तित्वयोर्विरुद्धयोरेकत्रापेक्षाभेदेन सत्त्वोपपत्तये स्वद्रव्यादीनां प्रतियोगिभूतस्य सत्त्वस्यावच्छेदकत्वं परद्रव्यादीनां सत्त्वाभावस्यावच्छेदकत्वमित्येवं कल्पना नाद्रियते, किन्तु सत्त्वासत्त्वयोः प्रकृते विशिष्टस्वरूपयोरेव प्रथमद्वितीयभङ्गविषयत्वम्, तथा च स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नं यत्सत्त्वं प्रथमभङ्गविषयः परद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावरूपं यदसत्त्वं द्वितीयभङ्गविषयस्तयोः परस्पराभावरूपत्वाभावादेव न विरोध इत्येतावदेव प्रथमद्वितीयभङ्गयोरविरुद्धार्थकत्वोपपत्तिरिति द्वितीयभङ्गो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावपर एव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्चाऽभ्युपगम्यते एव "यदि च घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्ययः स्वरसवाही लोकानां तदा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववारणं गीर्वाणगुरोरप्यशक्यम्" इति वदता शिरोमणिनापि। अत एव—

"अव्याप्यवृत्तिगुणिभेदमुदीर्य नव्या-ऽभावं प्रकल्प्य च कथं न शिरोमणे त्वम्।
स्याद्वादमाश्रयसि सर्वविरोधिजैत्रं,ब्रूमः पसार्य निजपाणिमिति त्वदीयाः॥४५॥"

इति शिरोमणिं प्रति शिक्षावचनमपि सङ्गच्छते। ननु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वेन प्रकृतधर्मिमात्राऽसाधारणधर्मत्वाभावाद्व्यावर्त्तकत्वेन तत्प्रतिपादकभङ्गस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, मैवम्, नास्त्येव घट इत्येतावन्मात्रोक्तावेवकारप्रतिपाद्यसर्वथा नास्तित्वस्य प्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोगः, यथा चित्रे घटे नील एवेति प्रयुक्ते सर्वथा नीलत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोग इति स्यात्कारलाञ्छितद्वितीयभङ्गस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधकस्यापि सार्थक्यादिति तृतीयपक्षः। एवं घटत्वेन पटो नास्तीति प्रतीत्या घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्येव शशशृङ्गे गोवृत्तित्वं नास्तीत्यादि-

प्रतीत्या षष्ठीयस्वावच्छिन्नभूतलनिष्ठाधिकरणतानिरूपकगोवृत्तित्वाभावपर्यवसायको यथाश्रुती परत्वेन भूतले गोवृत्तित्वाभावस्तद्विषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभावस्याप्यवबोधके द्वितीयभङ्गस्समर्थनीय इति चतुर्थपक्षः । तत्र प्रथमपक्षे स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन घटस्सन्नेवेत्याद्यभङ्गस्य घटे स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन सत्त्वप्रकारकनिश्चयस्य सत्त्वेऽपि घटासत्त्वस्य स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वलक्षणाव्याप्यवृत्तितया तज्ज्ञानास्कन्दितपरद्रव्याद्यवच्छिन्नघटासत्त्वनिश्चयः परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटोऽसन्नेवेति द्वितीयभङ्गजन्यस्स्यादेव, तद्वानिश्चयस्य संशयनिश्चयसाधारणाव्याप्यवृत्तित्वज्ञानानास्कन्दिततदभावप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वात्, प्रकृते तदभावप्रकारकबुद्धिश्च यद् घटादिकारण्यवच्छेदस्य येन रूपेण यत्सत्त्वं तद्रूपेण तदसत्त्वस्य ज्ञानास्कन्दितैव, न तु परद्रव्याद्यवच्छिन्नतदसत्त्वनिश्चयास्पदेति तत्सत्त्वे बाधकाऽभाव एव, एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । द्वितीयपक्षे परद्रव्यादेः प्रमेयत्वस्य च प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वात्तदवच्छेदेन घटासत्त्वनिश्चयः घटसत्त्वनिश्चयकालेऽपि पूर्वरीत्या स्यादेव । तृतीयपक्षे चाद्यभङ्गजन्यस्वद्रव्याद्यवच्छिन्नघटसत्त्वनिश्चयकालेऽपि द्वितीयभङ्गेन परद्रव्यादेर्घटगतसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताया व्यधिकरणतावद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावविषयकनिश्चयः घटत्वेन घटोऽस्तीति वाक्यजन्यनिश्चयकाले घटत्वेन घटो नास्तीति वाक्यजन्यपटत्वरूपव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नघटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावनिश्चयश्चोत्पद्यते, तयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाभावात् । चतुर्थपक्षे तु यथा भूतले गोवृत्तित्वं नास्तीत्यादिप्रतीत्या षष्ठीयस्वेन भूतले गोवृत्तित्वाभावविषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभावस्याप्यवबोधकेन द्वितीयभङ्गेन परद्रव्याद्यवच्छिन्नघटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसत्त्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावनिष्ठप्रकारतानिरूपकनिश्चयोऽप्युररीकर्त्तव्य इति । न चास्य द्वितीयभङ्गस्यानेकप्रकारेणोपपादनेऽपसिद्धान्तप्रसङ्ग इति वाच्यम्, भगवद्वचनस्य नानाप्रतिपत्त्यनुकूलत्वादिति । अत्राधिकं तत्त्वार्थे पञ्चत्वारिंशत्कूटोक्तिव्याख्यातोऽवसेयम् । स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वस्य परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वस्येत्येवं युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्यविवक्षायां तत्प्रतिपादने समर्थमेकं पदं नास्तीति पूर्वमेव विवृतम्, समासवाक्यं विग्रहवाक्यमपि च किञ्चिन्न विद्यते, तथाहि—समासविधावपि न तावद्बहुव्रीहिरत्र समर्थः, तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वेन चित्रगुरित्यादौ विशेष्यविशेषणभावापन्नयोरेव समासघटकपदार्थयोः सम्बन्धेऽन्यपदार्थे विशेषणत्वस्य दृष्टत्वेन प्रकृतेऽन्यपदार्थप्राधान्याभावेन तदसम्भवात्, नाप्यव्ययीभावः, तस्य पूर्वपदार्थस्यैव प्रधानतया बोधकतया उपगङ्गमित्यादौ गङ्गासामीप्यादिरूपार्थावबोधात् वैयाकरणसम्मतत्वेन पूर्वपदार्थमात्रप्रधानकबोधस्य प्रकृतेऽनिष्टत्वेन तस्याऽप्यप्रवृत्तेः, नापि द्वन्द्वः, तस्य तद्धर्मनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नतद्धर्मिनिष्ठविशेष्यताऽभिन्नतद्धर्मनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितधर्मिनिष्ठविशेष्यताकत्वे सति धर्मान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नधर्मान्तरनिष्ठविशेष्यता

भिन्नधर्मान्तरनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितधर्म्यन्तरनिष्ठविशेष्यतानिरूपितद्वित्वनिष्ठप्रकारतानिरूपकबोधजनकत्वस्यैव धवखदिरावित्यादौ दृष्टत्वेन तृतीयभङ्गे तादृशबोधजनकत्वाभावेन तस्याप्यप्रवृत्तेः, तृतीयभङ्गेनाऽस्तित्वत्वेन नास्तित्वत्वेन रूपेण प्रधानतया सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयविवक्षासद्भावेनेतरेतरात्मकेन द्वन्द्वेन च दर्शितरीत्या तादृशोभयबोधजनकत्वासम्भवेन प्रकृते तस्यानुपयोग एव। नापि समाहाररूपोऽपि सः, यतस्तेन वाक्त्वचं छत्रोपानहमित्यादौ समासघटकपदार्थसमाहारविशेष्यकबोधस्यैवोत्पादः, न च प्रकृते तथाबोध इष्ट इति तस्याप्यत्राप्रवृत्तेः, नापि तत्पुरुषः, तस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वेन राजपुरुष इत्यादावुत्तरपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वात्, अत्र च तदभावात्, अत एव तत्पुरुषविशेषरूपस्य कर्मधारयस्याप्यत्र न सम्भवः, तद्घटकपदार्थानां विशेषणविशेष्यभावस्य नियमेन भावात्, कृष्णसर्प इत्यादौ पूर्वपदार्थप्रकारकोत्तरपदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वात्, अत्र च तथाऽनभ्युपगमात्, अत एव तद्विशेषो द्विगुरपि न सम्भवति, तस्य सङ्ख्यावाचिपूर्वपदकत्वनियमात्, अत्र च सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्यैवाभावात्, न च समासान्तरसद्भावोऽस्ति, येन तद्वाच्यताऽपि शक्यसम्भावना स्यात्, न चैकशेषवृत्त्या तथाबोधस्सम्भवी, रामश्च रामश्च रामौ रामश्च रामश्च रामश्च रामा इत्यादौ सरूपाणामेकशेषस्य विधानात्, प्रकृते तु सरूपत्वाभावेनैकशेषविधानस्याशक्यत्वात्, विरूपाणामपि समानार्थानामेवैकशेषस्य दृष्टत्वात्, प्रकृते तु समानार्थकत्वाभावात्, अन्यस्य चैकशेषविधायकविधेस्तत्तच्छब्दविषयकत्वेन तस्याप्यत्रासम्भवित्वात्। न च विग्रहवाक्येनापि तथाबोधप्रत्याशा कर्त्तव्या, विग्रहवाक्यस्य वृत्तिसमानार्थकत्वनियमात्, वृत्तेश्च तादृशार्थाऽबोधकत्वे निश्चिते विग्रहवाक्यस्य तादृशार्थबोधकत्वस्य सुतरामसम्भवात्। तथा चोक्तनीत्याऽस्तित्वनास्तित्वोभयात्मके वस्तुनि युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयप्रतिपादकवचनाभावाद् युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयात्मना घटेऽवक्तव्यत्वं सिद्धमिति तद्विषयकतृतीयभङ्गप्रवृत्तिस्सङ्गच्छत एवेति, तृतीयभङ्गघटकस्यात्पदं तु सहार्पितास्तित्वनास्तित्वोभयात्मकोऽर्थो न सर्वथा वचनागोचरः, तथा सत्यवक्तव्यशब्दप्रतिपाद्योऽपि स न स्यात्, किन्तु कथञ्चिदवक्तव्य एवेति सूचयितुमिति। अवधारणार्थश्चैवकारपदमिति। न चावक्तव्यत्वस्यास्तित्वनास्तित्वोभयात्मकत्वे आद्येन भङ्गेनास्तित्वस्य द्वितीयेन च नास्तित्वस्य ज्ञाने तदुभयज्ञानं सञ्जातमेवेत्ययं तृतीयभङ्गो निष्फलत्वेनोपादेयो नेति वाच्यम्, सहार्पितास्तित्वनास्तित्वात्मकाऽवक्तव्यत्वज्ञानस्याद्याभ्यां भङ्गाभ्यामनुत्पाद्यस्योत्पादकतया साफल्येनोपादेयत्वात्, यतो न हि सहार्पितयोस्सत्त्वासत्त्वयोस्स्यादवक्तव्य एवेति भङ्गेनाभिधानम्, किं तर्हि ? तथार्पितयोस्तयोस्सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन भङ्गेन प्रतिपादनमिष्यते। अत एव तत्संशयं प्रत्याद्यभङ्गजन्यस्वद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिश्चयस्य द्वितीयभङ्गजन्यपरद्रव्याद्यवच्छिन्ननास्तित्वनिश्चयस्य च कथमपि प्रतिबन्धकत्वाऽसम्भवेन तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण तृतीयभङ्गावतारस्सुघट एव।

एवं चतुर्थादिभङ्गोत्थापकासंभवापत्तिरपास्ता इत्युक्तं प्रागेव । ननु स्वद्रव्यादीनां सत्त्वस्य
परद्रव्यादीनां चासत्त्वस्यावच्छेदकत्वमङ्गीकृत्य प्रथमद्वितीयतृतीयभङ्गा उपपादिताः, एवं
स्वद्रव्यादीनां स्वाधिकरणत्वमेव परद्रव्यादीनाञ्च स्वाभावाधिकरणत्वमेव प्रतीतिपथमव
तरति, न त्ववच्छेदकत्वं, भावस्यावच्छेदकत्वं तु स्वरूपसम्बन्धरूप किञ्चिदधिकरणवृत्ति
स्वत्वं सत्त्वं यद्युपेयते तदाऽपेक्षत्वस्य सखण्डधर्मत्वात् सखण्डधर्ममात्रस्य सावच्छिन्न-
त्वनियमाद् युज्येतापि, यदि तु घटत्वादिवत्सत्त्वमपि अखण्डधर्मविशेष एव तदा घटत्वा
दीनां यथा न सावच्छिन्नत्वं तथा सत्त्वादिरूपास्तित्वादेरपि न सावच्छिन्नत्वमिति
न तदवच्छेदकत्वं स्वभावभूतस्यापि घटत्वादेरिति स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेः सत्त्वस्यै
वाभावात्, एवं परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेरसत्त्वस्याभावात् उभयाभावे तदवच्छिन्नात्मका-
वक्तव्यत्वस्याप्यभावात् मोक्तभङ्गत्रयसम्भवः, तदभावे च प्रथमद्वितीयसंयोगजस्य चतुर्थस्य,
प्रथमतृतीयसंयोगजस्य पञ्चमस्य, द्वितीयतृतीयसंयोगजस्य षष्ठस्य, प्रथमद्वितीयतृतीय
संयोगजस्य सप्तमस्य चाभावादुक्तसप्तभङ्गसमाहाररूपा सप्तभङ्गी न सिद्धिपथमवतरतीति
चेत्, उच्यते, अवच्छेदकत्वकल्पना हि प्रतीत्यनुसारेण भवति, तत्र धर्ममात्रं सखण्डमखण्डं
वाऽव्याप्यवृत्तितयैव प्रतीयत इति सावच्छिन्नत्वे धर्मत्वमेव प्रयोजकं, न तु सखण्डधर्मत्वं,
घटत्वादेरपि च किञ्चिदपेक्षया घटादौ प्रतीत्युपपत्तये सावच्छिन्नत्वं स्वीक्रियत एव, घटस्य
द्रव्यपर्यायोभयात्मनः घटत्वं न मृद्द्रव्यापेक्षया, किन्तु पृथुबुध्नोदराद्याकारलक्षणपर्याया-
पेक्षयैव, इत्थञ्च यद् यदपेक्षया प्रतीयते तस्य तदवच्छिन्नत्वं प्रतीतिबलादभ्युपेयम्, प्रतीयते
च घटादेरस्तित्वं स्वद्रव्याद्यपेक्षया, नास्तित्वञ्च परद्रव्याद्यपेक्षयेति स्वद्रव्यादीनां सत्त्व
स्यासत्त्वस्य वा सत्त्वस्यावच्छेदकत्वम्, एवं परद्रव्यादीनामसत्त्वस्य तथाभूतस्यावच्छेदक
त्वम्, यदा च प्रतीत्यनुरोधेनैवावच्छेदकत्वस्याऽऽस्थीयते, तदा सङ्कोचविकासशालि-
देशे सति सङ्कुचितदेशापेक्षया सत्त्वप्रतीतौ तद्देशावच्छिन्नदेशस्यावच्छेदकत्वम्, देशदेशस्य
चाऽवच्छेदकत्वम्, विकसितदेशापेक्षया सत्त्वप्रतीतौ च तद्देशस्य तद्व्यापकदेशस्य वाऽवच्छे
दकत्वं स्यादेव, एवं कालादेरपि सूक्ष्मस्थूलरूपतयाऽपेक्षाभयेन सत्त्वप्रतीतौ तथाऽवच्छेद-
कत्वमवसेयम्, एवञ्चावच्छेदकसङ्कोचविकासापेक्षया सत्त्वासत्त्वोभयधर्मव्यवस्थितौ तत्प्रति
पत्त्यर्थं तद्विषयावस्याद्यस्त्येव घट इति प्रथमभङ्गस्य स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गस्य
च सिद्धौ सत्यां स्वस्वनिमित्तभेदापेक्षया युगपदेकत्र वर्तमानस्य सत्त्वासत्त्वोभयस्य
युगपदेव प्राधान्यविवक्षया प्रतिपत्त्यर्थं वक्ता सहस्रशोऽपि तथा प्रतिपादकवचनम
प्रेक्षमाणस्यावक्तव्य एव घट इत्येवं तृतीयभङ्गं प्रयोक्तुमर्हति, तथाहि युगपत्प्राधान्येन
तदुभयप्रतिपादके समासवचने तावन्न सम्भवति, प्रकृते द्वन्द्वोपपदितस्य प्राधान्येन युग-
पदुभयस्य प्रतिपादनेऽन्यपदार्थप्रधानस्य बहुव्रीहेरसामर्थ्यात्, अव्ययीभावस्य चाप्राधान्य-
विचारात्, उभयपदार्थप्रधानस्यापि द्वन्द्वस्य द्रव्ययोः प्रकृतार्थाप्रतिपादकत्वात् गुण-

वृत्तेरपि तस्य गुणानां द्रव्यद्वारेणैव तिष्ठत्यादिक्रियाधारत्वेन द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकत्वतः प्राधान्येन गुणद्वयप्रतिपादकत्वाभावात्, उत्तरपदार्थप्रधानस्य तत्पुरुषस्याप्यत्रार्थेऽप्रवृत्तेः, सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्य द्विगोरपि प्रकृते प्रवृत्त्यभावात्, गुणाधारद्रव्यविषयत्वात्, कर्मधारयोऽपि सत्त्वासत्त्वोभयं युगपत्प्राधान्येन प्रतिपादयितुं सामर्थ्यं नालम्बते, समासान्तरञ्च नास्त्येवेति न समासवचनं युगपत्प्राधान्येन विवक्षितसत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादकं समस्तीति सिद्धम्, वृत्त्यसम्भिन्नार्थत्वाद् व्यासवाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादकं नास्त्येव, शतृशानचयोस्सङ्केतितसच्छब्दवत्किमपि वचनं तथाभूतगुणद्वयसङ्केतितं यदि भवेत्तदा विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्वं स्याद्, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतासम्भवः, समूहालम्बनात्मकविकल्पो यद्यपि युगपदुभयग्रहणपटुस्तथापि तत्प्रभवपदानां बुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितनानाशक्यतावच्छेदकत्वेन परमार्थतो नानार्थस्थानीयत्वेन तेभ्यः प्रकरणादिनियन्त्रितप्रतिनियतैकार्थबोधस्यैवैकदा सम्भवात्, सदसदुभयसङ्केतितपदस्य पुष्पदन्तादिवद्द्वित्वेनैवोभयप्रतिपादकत्वेन द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्ने निराकाङ्क्षत्वादन्वयो न सम्भवतीत्यतो द्वित्वेन सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्यं, न तु सत्त्वस्य असत्त्वस्य च स्वस्वासाधारणधर्मरूपेण प्राधान्य युगपद्विवक्षितं ततः प्रतिपत्तुं शक्यमिति तथाऽवाच्यत्वस्यैव सिद्धेः, अत एव वस्त्वादिपदं सदसदुभये न सङ्केत्यते, द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्नान्वयाऽयोग्यत्वेन तथा प्रतिपादनासम्भवात्, किन्तु सदसदुभयात्मकैकजात्यन्तरे सङ्केत्यते जैनैः, घटस्य घटत्वमघटव्यावृत्तौ सत्यामेव सम्भवतीति घटे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते घटत्वेऽभ्युपगम्यमाने पटाद्यर्थप्रतिषेधस्तत्राभ्युपगत एव भवतीति न घटे पटाद्यर्थप्रतिषेधस्यासम्बद्धता, स्वद्रव्याद्यपेक्षसत्त्व–परद्रव्याद्यपेक्ष्याऽसत्त्वयोः समानसंवित्संवेद्यता मानसबोध एव, न शाब्दबोधे, 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति न्यायात्, तथा च स्वद्रव्यादिना सत्त्वप्रतिपादकप्रथमभङ्गवत्परद्रव्यादिनाऽसत्त्वप्रतिपादकद्वितीयभङ्गोऽप्यावश्यक इति न प्रथमभङ्गेन द्वितीयभङ्गस्य गतार्थता, एवमुक्तदिशाऽवक्तव्यत्वप्रतिपादकतृतीयभङ्गोऽप्यावश्यकः, अथवा सर्वं सर्वात्मकमिति साङ्ख्यमतव्यवच्छेदाय द्वितीयभङ्ग उपादीयते, प्रथमभङ्गेन घटस्य घटत्वप्रतिपत्तावपि पटत्वादिव्यवच्छेदप्रतीत्यभावात् न साङ्ख्यमतव्यवच्छेदो भवेत्, द्वितीयभङ्गेन पटत्वादिनाऽसत्त्वप्रतिपत्तौ तद्व्यवच्छेदस्याऽवश्यम्भावात् १, घटस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन चातुर्विध्ये सति तत्रैकविधस्य विधित्सितत्वमन्यविधस्य चाविधित्सितत्वमिति यद्विधित्सितं रूपं तद्रूपेणास्तित्वमिति तत्प्रतिपादकः प्रथमभङ्गः, यदविधित्सितं रूपं तद्रूपेण नास्तित्वमिति तत्प्रतिपादको द्वितीयो भङ्गः, विधित्सिताविधित्सितप्रकाराभ्यां युगपद्वक्तुं न शक्यते इति युगपदवाच्यत्वप्रतिपादकः तृतीयो भङ्गः, कथं न वक्तुं शक्यते इत्यत्र

तथाऽभिधेयपरिणामरहितत्वाचस्येत्येवोत्तरम्, एवमग्रेऽपि, यथा विवक्षितरूपेण घटस्तथा-ऽविवक्षितरूपेणापि यदि घटः स्यात् तर्हि प्रतिनियतनामादिव्यवहारोच्छेद एव भवेत्, एवञ्च व्यवहाराभावो व्यवहर्तव्याभावादेवेति विवक्षितरूपस्याप्यभावे सर्वाभाव एव भवेत्, तथा यथाऽविवक्षितप्रकारेण घटोऽघटस्तथा विवक्षितप्रकारेणाऽप्यघटः स्यात्तदा घटस्य सर्वप्रकारेणाभावे घटस्वनिबन्धनव्यवहार एव विलीयेत, इति विवक्षितरूपेण घटत्वम-विवक्षितरूपेणाऽघटत्वमिति तत्प्रतिपादकौ प्रथमद्वितीयभङ्गौ, विवक्षितरूपमविवक्षित रूपव्यवच्छेदमन्तरा न सम्भवति, अविवक्षितरूपव्यवच्छेदो विवक्षितरूपमन्तरा न सम्भवतीति विवक्षिता विवक्षितनिषेधयोरेकस्यैवैकान्ततस्याभ्युपगमे तदितराभावे तस्या प्यभाव इत्यभिधेयाभावादभिधानस्याप्यभाव इत्यवाच्य इति तृतीयभङ्गः, नन्वनेकगुणवति वस्तुनि एकगुणरूपेण विवक्षा भ्योगमानुरोधिनी भवतु नाम नेयं रूपान्तरावच्छिन्नसत्त्वा विस्मरति, रूपवत्त्वेन घटस्य विवक्षायामपि रसवत्त्वेन तत्सत्ताया अनपायादिति चेत्, न, गुणात्मकसत्ताया गुणरूपत्वेऽपि व्यावहारिक्यास्तस्यास्तदभिधेयपरिणामपर्यवसितत्वेन विवक्षानुसारित्वात्, एवञ्च नामरूपेण विवक्षितस्य घटस्य नामरूपाभिधेयपरिणाम त्वमेव नाविवक्षितरूपाभिधेयपरिणामत्वमनर्पितरूपेणाभिधेयो न भवतीत्यतोऽविवक्षित तरूपेण घटोऽघट एवेति प्रथमेऽप्याक्षेपपरिहारौ वाच्यौ ॥ २ ॥

नामादिचतुष्टयप्रकारेषु प्रतिनियतस्थापनार्थसंस्थानविशेषस्वरूप एव घटो यदाऽभिम तस्तदा प्रतिनियतस्थापनासंस्थानस्वरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्यामभिधातुमशक्यत्वादवाच्य एव घट इति तृतीयो भङ्गः, यथा विवक्षितस्याऽसाधारणसंस्थानरूपेण घटो घटस्तथाऽन्यघटगतसंस्थानस्वरूपेणापि यदि घट स्तदैकस्य सर्वघटात्मकत्वमासज्येत। अथ यदेतरसंस्थानादिरूपेणाघटस्तथा विवक्षितसंस्थान स्वरूपेणाप्यघटस्तथा घटार्थिनः घटतादिव तथाप्यप्रवृत्तिः स्यात्, उक्तदिशा घटत्वाघटत्व योरुभयोरप्येकाभावे तदभ्यावेकान्तेनैकस्याभ्युपगमे तथाभूतस्य प्रमाणाविषयत्वाद सत्त्वादवाच्यो घटः ॥ ३ ॥

संस्थानविशेषस्वरूपेण स्वीकृतेऽपि घट मध्यमावस्थायां पृथुबुध्नोदराद्याकारं संस्थानं तद्घटस्य निजं रूप तद्रूपेण घटो घटः, पूर्वोत्तरावस्थे कुशूलकपालादिरूपे संस्थाने अर्थान्तररूपं तद्रूपेण घटोऽघट इत्येव प्रथमद्वितीयभङ्गौ, युगपत्प्रधानतया विवक्षिता भ्यां ताभ्यां वक्तुमसामर्थ्यादवाच्य एव घट इति तृतीयो भङ्गः, यथा पृथुबुध्नोदराद्याकार मध्यमावस्थास्वरूपेण घटस्तथा यदि कुशूलकपालादिरूपपूर्वोत्तरावस्थास्वरूपेणापि घटः स्यात्तदा तस्य त्रिकालव्यापिनोऽनादिनिधनत्वं प्रसज्येत, यदि यथा पूर्वोत्तरावस्था-स्वरूपेणाघटस्तथा मध्यावस्थारूपेणाप्यघटस्तदा कदापि काले अर्थक्रियासमर्थस्य तस्य घटमुद्गरे

रिव सर्वदाऽसत्त्वमेवानुपज्यत इति कदाचिदपि घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, निरुक्तोभयरूपमण्यादेकान्तत एकरूपस्याभ्युपगमे तु तदेकान्तरूपं नास्त्येव वस्त्विति सर्वदाऽभाव एवेत्यसत्त्वादेवावाच्यः ॥ ४ ॥

तस्मिन्नपि मध्यावस्थारूपे घटे वर्त्तमानक्षणरूपं निजं, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, अवर्त्तमानक्षणस्वरूपमर्थान्तररूपं तेन रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदभिधातुमशक्यत्वादवाच्यलक्षणस्तृतीयभङ्गः, अत्रेयं मीमांसा–यदि वर्त्तमानक्षणस्वरूपो घटो वर्त्तमानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि भवेत्तदा पूर्वोत्तरक्षणयोर्वर्त्तमानत्वमवश्यमापतेत्, विभिन्नकालीनयोराधाराधेयभावाभावाद्वर्त्तमानक्षणस्वरूपस्य वर्त्तमानक्षणेनैव सम्बन्धादित्यतीतानागतकालाभावप्रसक्त्या तदभावे तदपेक्षस्य वर्तमानक्षणमात्रस्याप्यभावः प्रसज्येत, यथा यद्यतीतानागतक्षणरूपतया घटोऽघटस्तथा वर्त्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटस्तर्हि सर्वदा घटाभावप्रसक्त्या घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, तयोरेकान्तैकरूपाभ्युपगमेऽप्येकान्तस्याभावादेवावाच्यः ॥ ५ ॥

एवं क्षणपरिणतिरूपस्य घटस्य चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वं विवक्षितत्वान्निजं रूपं तेन सत्त्वादाद्यो भङ्गः, अन्येन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वमविवक्षितत्वादर्थान्तरं, तेनासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टो वक्तुमशक्यत्वात्तृतीयो भङ्गः, तथाहि यथा लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो घटस्तथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटः तदा लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिस्वरूपे इन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिप्रवेश आवश्यक इति चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वत एवेन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वमितीन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः, चक्षुरिन्द्रियस्वरूपमपि यदीन्द्रियान्तरस्वरूपं भवेत् तदैव चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणतिरिन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणतिरितीन्द्रियसङ्करप्रसङ्गश्च, यथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो न घटस्तथा चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटस्तदा तस्याऽरूपत्वं प्रसज्येत, उक्तरूपद्वयमध्यादेकान्तेनैकस्याभ्युपगमे इतरापेक्षस्य तस्येतराऽभावेऽभावादवाच्य एव ॥ ६ ॥

लोचनजप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवाच्यता निजं रूपं तद्रूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्गः, कुटादिशब्दवाच्यत्वमर्थान्तरम्, तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गो, युगपत्ताभ्यामिष्टस्तथाऽभिधेयपरिणामाभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथा घटशब्दवाच्यत्वेन घटस्तथा यदि कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटस्तदाऽन्यशब्दवाच्यस्याप्येकशब्दवाच्यत्वस्य स्वहस्तितत्वाद्–यथा घटशब्दादन्यः कुटशब्दः तथा पटमठादिशब्दा अपि घटशब्दादन्य एवेति कुटशब्दवाच्यस्य यथा घटशब्दवाच्यत्वं तथा पटमठादिशब्दवाच्यानामपि घटशब्दवाच्यत्वमित्येवं सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गेन त्रिजगत एकशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिः, एकशब्दवाच्यस्य

याऽनेकशब्दवाच्यत्वस्याङ्गीकृतत्वात् घटस्य कुटादिशब्दवाच्यत्ववत्पटादिशब्दवाच्यत्वस्यापि प्रसक्तिरिति घटे घटशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ तत्स्वरूपसन्निविष्टाशेषशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गे सति घटशब्दप्रतिपत्तिविषयभूतावाचकप्रमाणशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, अर्थे वाच्यतायाः शब्दे वाचकतायाश्च समानसंवित्तिविषयत्वादेकप्रतिपत्तावपरप्रतिपत्तेरवश्यम्भावात्, एवं कुटादिशब्देनावाच्यो घटो यदि घटशब्देनाप्यवाच्यः स्यात्तदा स्ववाच्यप्रतिपत्तये शब्द उच्चार्यते नान्यथेति घटशब्दावाच्यस्य घटस्य घटशब्दोच्चारणेऽपि न प्रतीतिरिति घटशब्दोच्चारणवैयर्थ्यं स्यात्, तयोरेकान्ताभ्युपगमे स्वैकान्तैकरूपस्य घटस्यासत्त्वादेव सङ्केतकारेणापि न तद्वाचकः कश्चिच्छब्दः इत्यवाच्य एव ॥ ७ ॥

अथवा घटशब्दाभिधेयस्य तस्यैव घटस्योपादेयान्तरङ्गोपयोगरूपं निजं रूपं तेन सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, हेयबहिरङ्गाऽनुपयोगरूपमर्थान्तरं तेनासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टो घटशब्दाऽभिधेयपरिणामाभावाद्वाचकस्य कस्यचिदभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथाऽर्थक्रियाक्षमादिरूपेण घटस्तथा यदि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यत्वाभिहितरूपेणापि घटस्स्यात्तर्हि पटादीनामपि घटत्वं स्यात्, यथा हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यत्वाभिहितरूपेणाघटस्तथा यदि उपादेयादिरूपेणाप्यघटः स्यात्तदाऽन्तरङ्गस्य वक्तृभोक्तृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे घटस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽप्येकान्तस्याभावादेव वक्तृभोक्तृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याभावे घटस्याभावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः ॥ ८ ॥

अथवा तस्मिन्नेवोपयोगस्वरूपे घटेऽभिमतार्थावबोधकत्वं निजं रूपं तेन सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, अनभिमतार्थावबोधकत्वमर्थान्तररूपं तस्य सामर्थ्येऽप्यर्थान्तरत्वेन विवक्षणात्, तेन रूपेणासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टस्याभिधेयपरिणामस्याभावाद्वाचकस्याप्यभावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथाऽभिमतार्थप्रतिपादकत्वेनोपयोगलक्षणो घटो घटस्तथाऽनभिमतार्थानवबोधकत्वरूपेणापि यदि घटः स्यात्तदा प्रतिनियतोपयोगाभावः प्रसज्यते अभिमतार्थप्रतिपादकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वयोरैकरूप्येण तद्रूपयाप्यासिवक्ष प्रतिनियतत्वाभावात्, उपयोगस्य प्रतिनियतत्वाभावे च विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न स्यात्, यथाऽनभिमतार्थानवबोधकत्वेनाघटस्तथा यद्यभिमतार्थावबोधकत्वलक्षणप्रतिनियतोपयोगरूपेणाप्यघटः स्यात् तदुपकारिणः घटादेरप्यघटादिरिति सर्वाभावः, यथा घटस्याघटत्वं तथा पटादेरप्यघटत्वमिति पटादितो घटस्याविशेषप्रसङ्गश्च, घटादिविविक्तत्वेन घटस्य प्रतीत्या यथाऽभावादनस्यैवापादनस्यासम्भवात्, तयोरेकस्यैवैकान्ततयाऽभ्युपगमे स्वेकान्तरूपाप्रतीत्यैवासत्त्वेन सर्वाभावाविशेषप्रसङ्गादवक्तव्यादवाच्यः ॥ ९ ॥

अथवा घटस्य घटत्वं निजं रूपमसाधारणत्वात्, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्गः, सामा

सत्त्वं चार्थान्तररूपं साधारणत्वादिति तद्रूपेणासत्त्वाद्द्वितीयो भङ्गः, अभेदेन ताभ्यां निर्दिष्टो घटोऽवक्तव्य इति तृतीयो भङ्गः, तथाहि–यस्सन् स घट इत्येवं सत्त्वमनूद्य घटत्वं यदि विधीयते तदा घटत्वस्य सत्त्वव्यापकत्वात्सर्वेषां सतां घटरूपत्वप्रसक्त्या घटस्य सर्वगतत्वप्रसङ्गः, न चायं प्रसङ्ग इष्टापत्तिरूपत्वेन परिहर्त्तुं शक्यः, विभिन्नप्रतिभासबोधप्रतिनियतव्यवहारविलोपापत्तेस्तथाऽभ्युपगमेऽनिष्टत्वात्, तथा योऽसन् स घट इत्येवमसत्त्वमनूद्य यदि घटत्वं विधीयते, तदा विधिस्सन् निषेधोऽसन्निति निषेधरूपस्य प्रागभावादिचतुष्कस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः, अत्र यः कश्चिद्विधिर्भावः स सन् भवतीत्युपदर्शनमात्रमेतत्, तेन भावमात्रस्य विधित्वेऽपि प्रकृते विधीयमानस्य घटत्वस्य भावरूपत्वेन विधित्वं बोध्यम्। अथ घटत्वमनूद्य सदसत्त्वे विधीयेते तदा घटत्वं यत्तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्रे ते प्रसज्येयातां, तथा च पटादीनां प्रागभावादीना चाभावप्रसक्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषणविशेष्यलोपात् सन् घट इत्येवमप्यवक्तव्योऽसन् घट इत्येवमप्यवक्तव्यस्स्यात्, यतः सन् घट इति, असन् घट इति, घटः सन्निति, घटोऽसन्नित्येव केनापि प्रकारेण घटो वाच्यो न भवति, तस्मादवाच्यः। अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवाच्यो, न तु सर्वथा, अभेदवादकृततद्दोषस्य भेदवादेन परिहारादिति न कश्चिद्दोषः। न च भेदैकान्तेऽपि घटत्वमनूद्य सत्त्वासत्त्वयोः समवायविशेषणताभ्यां विधानान्नायं दोष इति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवायविशेषणतयोर्मानाभावेन भेदैकान्तस्यैवावाच्यत्वादिति ॥ १० ॥

घटस्य प्रतिक्षणमन्यान्यपरिणतिरर्थपर्यायोऽनन्यगामित्वान्निजं रूपं, तद्रूपेण सत्त्वात्प्रथमभङ्गः, व्यञ्जनपर्यायस्तु घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं घटत्वं सकलघटसाधारणत्वादर्थान्तर तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, अभेदेन ताभ्यां निर्देशेऽव्यक्तव्यत्वात्तृतीयो भङ्गः, अत्र यो व्यञ्जनपर्यायस्स घटार्थपर्याय इत्येवं व्यञ्जनपर्यायमनूद्य यदि घटार्थपर्यायविधिः तदा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थपर्याय एवेत्यर्थपर्यायाणां भिन्नत्वात्तदात्मको व्यञ्जनपर्यायो नैक इत्येकानुगतव्यञ्जनपर्यायनिबन्धनानुगतव्यवहारविलोपः। अथ योऽर्थपर्यायस्स व्यञ्जनपर्याय इत्येवमर्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिस्तदाऽर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्याय एवेति व्यञ्जनपर्यायस्य नित्यत्वात्तदात्मकार्थपर्यायस्य नित्यत्वापत्तेरकार्यत्वं स्यात्, घटस्य तु कार्यतयैवानुभवो नाऽकार्यतयेति तथाभूतस्य तस्याभावादवाच्यः, अनेकान्तपक्षे त्वर्थव्यञ्जनपर्यायाभ्यां सत्त्वासत्त्वयोर्युगपत्प्रधानतया विवक्षितयोरभिधातुमशक्यत्वात्कथञ्चिदवाच्यः ॥ ११ ॥

यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम्, तस्य विशेषवदेकत्वेनानन्वयिरूपत्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति तद्रूपेणावाच्यो घटः, अत्र सत्त्वस्यार्थान्तरत्वविवक्षा पर्यायनयमूलकप्रथमभङ्गाश्रयणकृता, अनन्वयित्वञ्च तस्यैकमेकत्रैव निरंशमवस्थातुमर्हतीति समाश्रयणेन, अनुगतस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वाच्छब्दवाच्यत्वमित्यननुगतत्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति बोध्यम्। अन्त्यविशेषो निजं

रूपं, तस्याप्यनन्वयित्वमवाच्यत्वमिति तद्रूपेणाप्यवाच्यो घटः, प्रत्येकमवक्तव्याभ्यां ताभ्यां युगपदादिष्टोऽपि घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः ॥ १२ ॥

अथवा सांख्यमते प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैक्यपरिमितिलक्षणसन्तुतरूपाना यथाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधाना गुणा अर्थान्तरम्, प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैक्य-परिमितिलक्षणं सन्तुतरूपं घटस्य नियम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः निरुक्तैक्य परिमितिलक्षणस्य सन्तुतरूपस्य सत्त्वरजस्तमस्सु भावे सत्त्वरजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादिरूपत्वात्, सन्तुतरूपत्वे च वैलक्षण्याभावादभाव इति सन्तुत रूपाः सत्त्वादयः घट इत्यत्र सन्तुतरूपा इति विशेषणं सत्त्वादय इति विशेष्यं, तत्र विशेष्यी-भूतानां सत्त्वादीनामभावात् सन्तुतरूपास्सत्त्वादय इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः, सत्त्वरज स्तमस्सु सन्तुतरूपस्याऽभावे तु असदसत्सन्तुतरूपस्योत्पादादसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः,न च सत्का-र्यवादिभिस्सांख्यैरसत्कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यते, यदि च तत्प्रसङ्गन्तोच्छेदमीतिममपिसेत तदोपेयते तदा सत्त्वादिषु सन्तुतरूपत्वं विशेषणमास्तीति विशेषणाभावस्य सन्तुतरूपास्सत्त्वा दय इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्या, यदैक्यपरिमितिस्तेषां भवति तदानीं सन्तुतरूपस्य सद्भावाच्च विशेषणाभाव इति चेत् न, कालभेदेन सन्तुतरूपासन्तुतरूपयोरेकत्र समावेशा-भ्युपगमेऽनेकान्तप्रवेशात्, प्राक् शक्तिरूपेण सन्तुतरूपं तेषु समस्ति, न च शक्तिरूपेण सन्तुतरूपस्य सत्त्वादिरैलक्षण्यव्याहतम्, व्यक्त्या तु घटसामग्रीत एव सन्तुतरूपं स्यादिति चेत्, व्यक्तेरप्याविर्भावलक्षणायाः प्राक् सन्तुतरूपस्य तेषु सत्त्वे तेषामभावप्रसक्तिः, असत्त्वे असत्कार्यवादप्रसङ्ग इत्येवं सदसद्विकल्पप्रासात् । अथ नैयायिकादीनां यथा भूतले घटसम्बन्धाभावो सतोऽपि घटाभावस्य न सम्बन्धः, किन्तु तदपसारणसमयमेव तदपसारण कालावच्छिन्नस्वरूपात्मा सम्बन्धः, तथा ममापि सन्तुतरूपस्य प्राक्सत्त्वेऽपि प्राक्काला वच्छिन्नस्वरूपात्मा न सम्बन्धो, घटसामग्रीसम्पत्तौ च सम्बन्धतामात्रव्यवहारसिद्धिरिति चेत्, न, उभयोरपि वादिनोर्यथोक्तसम्बन्धस्याऽनेकान्तं विनाऽव्यवस्थितत्वादिति दिक् ॥ १३ ॥

अथवा असंहतरूपा रूपादयो यथान्वितभूताः, संहतरूपत्वं सामूहिकप्रत्ययग्राह्यं नियमं, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः यथा चक्षुरादिग्राह्यरूपा रूपादयः तर्हि रूपादीनां घटत्वाऽ वाच्या, अरूपादित्वाद् घटस्य, न हि परस्परविलक्षणबुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मक-प्रत्ययग्राह्याऽरूपादिरूपघटतां प्रतिपद्यन्त इति रूपादीनामेकानेकप्रत्ययग्राह्यत्वलक्षणसंहत रूपतायामरूपादित्वप्रसङ्गतो रूपादिरेव नास्तीति संहतरूपा रूपादयो घट इत्यत्र संहत रूपत्वं विशेषणं रूपादयश्च विशेष्या इति विशेष्यीभूतानां रूपादीनां विलोपात्संहत रूपा रूपादयो घट इत्येवं वक्तुं न शक्यते इत्यवाच्यः, यदि चारूपत्वाद्यपत्येन रूपा दीनां नोपगमः किन्त्वरूपत्वेनैव, एवमपि रूपादय एव न भवन्तीति तेषामभावे के

संहृतरूपतया विशेष्याः ? येन संहृतरूपा रूपादयो घटो भवेदित्येवमप्यवाच्यः, अनेकान्त-वादे च कथञ्चिदवाच्यः ॥ १४ ॥

अथवा घटो रूपादिमानिति यदुच्यते तत्र रूपादयोऽर्थान्तरभूताः, मतुबर्थो निजः, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाद्यात्मकैकाकारावभासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापररूपसम्बन्धस्यानवगतेः रूपादिमानित्यत्र विशेष्यस्य सम्बन्धस्याभावाद्रूपादिमान् घट इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः, घटात्मकैकाकारप्रतिभासग्राह्यघटस्वरूपव्यतिरेकेण नापरस्य रूपादेः प्रतिभास इति रूपादिमानित्यत्र मतुबर्थविशेषणस्य रूपादेरभावादपि रूपादिमान् घट इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः, अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥

अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूतः, उपयोगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, तथाहि य उपयोगः स घट इत्येवमुपयोगत्वमनूद्य घटत्वं यदि विधीयते तर्ह्युपयोगमात्रं घट इति सर्वोपयोगस्य घटत्वप्रसक्त्या विभिन्नोपयोगनिबन्धनविभिन्नस्वरूपलक्षणप्रतिनियतस्वरूपाभावात्तथा वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः । अथ यो घटस्स उपयोग इत्येवं घटत्वमनूद्योपयोगत्वं विधीयते तदाऽर्थात्मक उपयोग इत्युपयोगस्यार्थत्वप्रसक्त्याऽर्थातिरिक्तस्य तद्व्यवस्थापकस्योपयोगस्याभावाद् घटाद्यर्थस्याभावात्कथं नावाच्यो घटः ॥ १६ ॥

इत्येवमुपदिष्टाः षोडशावक्तव्यविकल्पाः, तत्रैकादशसु विकल्पेषु प्रथमद्वितीयभङ्गानन्तरमवक्तव्यभङ्गप्रवृत्तिः, द्वादशादिषु पञ्चसु प्रथमत एवावक्तव्यभङ्गप्रवृत्तिः, तत्रोपाध्यायभगवन्त इत्थमनेकान्तव्यवस्थायां स्वविचारमावेदयन्ति—" अत्र च निजार्थान्तरपर्यायैरनेकान्तोपजीविनैगमव्यवहारविशुद्धितारतम्योपदर्शकवसतिदृष्टान्तनीत्या यथाक्रमसङ्कुचद्भिः क्रमेण युगपच्चादिष्टैरुपदर्शितेषु षोडशस्ववक्तव्यविकल्पेषु मध्ये एकादशसु त्रयोऽपि भङ्गाः सम्भवन्ति, द्वादशादिषु च पञ्चसु च स्वतन्त्रैकान्ते नयार्पितैस्तैः प्रत्येकं समुदाये च सर्वथाऽवक्तव्यत्वभङ्ग एवोत्तिष्ठते–स च बाधितः सन् कथञ्चिदवक्तव्यत्वे पर्यवस्यति, तस्य कथञ्चित्त्वं च भङ्गद्वयाधीनम्, इत्थं च त्रयाणां भङ्गानां क्रमाभिधानमेव सम्प्रदायसिद्धमिति । व्युत्पत्तिमहिम्ना ततोऽपि स्याद्वादविदुषो भङ्गत्रयसम्भव इति विवेकः, इत्थं च यत्पशुपालेनोक्तम्—" सर्वत्रानेकान्ताभ्युपगमे 'सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च' इति वचनमेवानुपपन्नम्, स्वपररूपयोरप्यनिर्धारणादिति " तदपास्तं द्रष्टव्यम्, पूर्वं नयविशेषेण स्वपररूपयोः सङ्कोचविकासावुपजीव्य तदनुसारेणैव सप्तभङ्गीप्रवृत्तेः, अवच्छिन्नसप्रतिपक्षधर्मद्वयाभिधानस्थले एकान्ततोऽवच्छेदकनिर्णयस्य तत्राप्यभावात्, इदानीं गोष्ठे गौर्न तु वाजिशालायामित्यादौ शुद्धगोष्ठादेरप्यवच्छेदकत्वस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्, इह कोणे गोष्ठे गौर्नापरकोणे इति प्रतिसन्धाने एतत्कोणावच्छिन्नगोष्ठस्यैतत्कोणस्य वा तथात्वसम्भवात्, अवच्छेदकावच्छेदकस्यावच्छेदकसङ्कोचस्य वाऽपरिस्फूर्तौ शुद्धावच्छेदकपुरस्कारेण-

तत्परिस्फूर्तौ तु सावच्छिन्नप्रकृतावच्छेदकपुरस्कारेणैव प्रतिनियतदृश्यदेशावच्छेदेन वा नियमस्योभयोः समानः, इदन्त्वंशस्य नावच्छेदकत्वमिति तु नीलपीतरूपादिकस्याव्याप्यपाकसमयेऽपि घटनीलप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या परेण वक्तुमशक्यम्, तत्र नीलरूपादिप्रावच्छिन्नवस्तुसंयुक्तसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतया घटे नीलप्रत्ययोपपादनात्, इयांस्तु विशेषः-परेषां देशदेशस्यावच्छेदकत्वं सामानाधिकरण्यस्य परिक्षेपेण, अस्माकं तु नैगानिकसम्मतपरिक्षेपेण, तत्र परेषां परम्परासम्बन्धेन गाढसंयोगस्य साक्षात्सम्बन्धेन कोपावच्छिन्नगोत्वस्य गवावच्छेदकत्वमिति कोपे गौर्न तु गोत्व इति वक्तुमशक्यानुपपत्तिः, अस्माकं तु मध्यमनैगमभेदरूपनैगमिकसम्मतेन गोत्वकोप एव तथात्वं न तु गोत्व इति तदुपपत्तिः, न च कोपे गौर्न तु गोत्व इति व्यपदेशविषयो न भवत्येव, किन्तु न तु सम्पूर्णगोत्व इत्येव, सा च यावत्कोपेषु गवावच्छेदकत्वावच्छेदकत्वपर्याप्त्यभावमवगाहते इति परेषामपि नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एवं सति सम्पूर्णकोपेऽपि तदभावात्कोपे गोत्वं गौरित्यस्याप्यनुपपत्त्यानेनयविशेषपक्षसम्बन्धं विना न विचित्रप्रतीत्युपपत्तिरित्यधिकं नयरहस्यादौ" इति । ननु सङ्ग्रहनयविषय महासामान्यस्वरूप सत्तामात्रमर्थं निरवच्छिन्नं प्रतिपादयन् प्रथमभङ्गः प्रवर्तत इति कथमसौ स्वद्रव्याद्यपेक्षया सन् घट इत्येवंरूपतः, निरवच्छिन्नस्वरूपे निरुक्तभङ्गे स्वद्रव्याद्यपेक्षत्वस्य स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वस्य चाऽसम्भवात्, तथापि तथाप्रतिपादने तत्प्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य बाधितार्थकत्वापत्तिः, एवं निरुक्तसत्त्वप्रतिपक्षभूतोऽसत्त्वोऽपि तदभावरूपेण निरवच्छिन्नमपि न तस्या अपि परद्रव्याद्यवच्छिन्नत्वलक्षण परद्रव्याद्यपेक्षत्वमिति व्यवहारनयविषयनिरुक्तासत्त्वप्रतिपादनपरो द्वितीयभङ्गोऽपि परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसन् घट इत्येवं रूपो न सम्भवति, निरवच्छिन्नस्यापि निरुक्तासत्त्वस्य सावच्छिन्नतया प्रतिपादने वा तथात्वप्रतिपादकस्य तस्यासम्भवितार्थप्रतिपादकत्वेन बाधितार्थकत्वापत्तिः, एवं भङ्गद्वयस्य बाधितार्थकत्वे तत्संयोगजानां तदनन्तरप्रवृत्तानां तृतीयादिभङ्गानामपि बाधितार्थकत्वं स्यात्, तथा च निरुक्तसप्तभङ्गसमष्टिरूपा सप्तभङ्ग्यपि बाधितार्थविषयाऽप्रमाणतामास्कन्दतीति सप्तभङ्गीवाक्यं प्रमाणवाक्यमिति राद्धान्तो जैनानां न सङ्गतिमञ्चतीति चेत्, न, अनेन हेतुना धर्ममात्रस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वं सावयवतां स्याद्वादिनां मते निरवच्छिन्नसत्तासत्त्वस्यैवाप्रसिद्ध्या महासामान्यलक्षणसत्तानामप्यव्याप्यवृत्तित्वेन महासत्ताया अखण्डत्वादिवदखण्डत्वादेरप्युपगमात्, सत्तायाः सखण्डत्वाद्युपगमे अखण्डत्वादेरप्यव्याप्यवृत्तित्वस्यैव प्रमाणसिद्धत्वापत्तितो महासामान्यस्य सत्त्वरूपस्याने-कान्ताकलितस्य दुर्नयात्मकसङ्ग्रहविषयत्वेऽपि सुनयात्मकसङ्ग्रहविषयत्वात्, सप्तभङ्गी च सुनयाश्रिता सुनयविषयप्रतिपादनप्रवणभङ्गसप्तकरूपैवेति तस्या अबाधितार्थकत्वात्प्रामाण्यमेव, द्वितीयभङ्गोऽप्युक्तदिशा नासखण्डस्यापेक्षान्वयादिव्यवच्छिन्नस्यासत्त्वस्याप्रतिपादनप्रवणः, किन्त्वनेकान्तात्मकस्यासत्त्वाख्यधर्मस्य एव, किञ्च महासामान्यस्या

खण्डस्वरूपत्वेऽपि तत्सन्निविष्टं नावच्छेदकं स्वद्रव्यादिकम्, येन तद्घटितस्वरूपत्वादखण्डस्वरूपत्वं तस्य व्याहतं स्यात्, किन्तु स्वद्रव्यादिना स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन स्वद्रव्याद्यपेक्षया वा घटादेः सत्त्वमित्यादिप्रतीतिसिद्धं सत्त्वस्वरूपासन्निविष्टस्यापि स्वद्रव्यादेरवछेदकत्वं सत्त्वनिरूपितं स्वीकरणीयमेव, एवं निरुक्तसत्त्वाभावलक्षणाखण्डासत्त्वनिरूपितमवच्छेदकत्वमपि परद्रव्यादिना परद्रव्याद्यवच्छेदेन परद्रव्याद्यपेक्षया वा घटादेरसत्त्वमित्यादिप्रतीतिसिद्धमसत्त्वस्वरूपासन्निविष्टस्यापि परद्रव्यादेः स्वीकरणीयमेव, एकस्यैव महासामान्यलक्षणस्य सत्त्वस्य सङ्ग्रहनयविषयत्वे स्वद्रव्यादिकं नास्त्येव, निरुक्तसत्त्वनिरूपितमवच्छेदकत्वादिकमपि नास्तीति कथं तन्नयाश्रितभङ्गः स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वं प्रतिपादयेदिति तु नाशङ्कनीयम्, तथा सति तत्र प्रतिपाद्यपुरुषोऽपि नास्ति, प्रतिपादकः प्रमाताऽपि नास्ति, किञ्चिद्वचनमपि नास्तीति सङ्ग्रहः केवलं महासामान्यमेकमखण्डं स्वीकरोतीत्यस्यापि वचनस्य महासत्ताघनात्मकस्याभावात्तद्वक्तुमशक्यमेवेति व्यवहारमात्रोच्छेद एव स्यात्, तस्मादेकान्तसङ्ग्रहनयाभिनिवेशपरित्यागेनैव वचनादिप्रवृत्तिरिति प्रमाणविषयीकृते सत्त्वासत्त्वाद्यनेकान्तात्मके वस्तुनि घटादौ सत्त्वं सङ्ग्रहनयविषयो यद्येकान्तेन स्यात्तदा तत्प्रतिपक्षीभूतमसत्त्वं व्यवहारनयविषयस्तत्र न स्याद्विरोधादिति तद्विरोधभञ्जनाय स्याद्वादी स्यात्पदेन निमित्तभेदं तयोरुपदर्श्य विरोधमुपहस्तयति, निमित्तभेदेन तत्र सत्त्वं विषयीकुर्वतः सङ्ग्रहस्यासत्त्वं विषयीकुर्वतो व्यवहारस्य सुनयत्वमुपढौकयतीति सुनयाश्रिता सप्तभङ्गी प्रमाणतामाबिभ्रतीति, घटे स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्त्वं, महासामान्यमपि घटस्यैव स्वद्रव्यादिस्वरूपनियतं सङ्कुचितस्वरूपं भवति, एवमसत्त्वादिकमपीति बोध्यम्। ननु सर्वस्य वस्तुनः सदसदात्मकत्वे सत्ता यथा सर्वगतैका तथाऽसत्ताऽपि सर्वगतैकैव, एवञ्च सत्तैकैव असत्ता तु विशेषणभेदाद्भिद्यते इति प्राचीनोक्तिः कथं सङ्गतिमश्नुतीति चेत्, उच्यते, सत्ता सङ्ग्रहनयविषयः, सङ्ग्रहनयश्चैकमनेकानुगतं सामान्यमभ्युपैतीत्यतः सा भवत्येकैव, यद्यपि तस्या अपि घटसत्ता पटसत्ता मठसत्तेत्येवं घटवृत्तित्वपटवृत्तित्व–मठवृत्तित्वादिविशेषणभेदाद्भेदो भवितुमर्हति तथापि विशेषणभेदाद्भेद औपचारिक एव, उपचारश्च सङ्ग्रहनयेन नेष्यत इत्यतो न तन्नयेन विशेषणभेदाद्भेदः, किन्तु विशिष्टशुद्धयोरैक्यमेवेति, असत्ता तु सत्ताप्रतिपक्षभूता तदभावरूपा सम्भवत्येका, किन्तु व्यवहारनयविषयतयाऽभ्युपगता सा, व्यवहारनयश्च विशेषावगाहनप्रवणो न किञ्चित्सर्वानुगतमेकमभ्युपैतीत्यतो न सैका, उपचारबहुलश्च व्यवहारः, पन्था गच्छति कुण्डिका भवति गिरिर्दहतीत्याद्युपचारस्य तेनाभ्युपगमात्, तथा च विशेषणभेदाद्भेदे सत्येवाननुगता सा व्यवहारनयविषय इति युक्तमुक्तमसत्ता तु विशेषणभेदाद्भिद्यत इति, यदेव स्वरूपसत्त्वं विभिन्नं घटपटादीनां व्यवहारनयविषयस्तदेव परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वमित्युच्यते, तच्च विशेषरूपत्वादेवानुगतसामान्यरूपसत्तायाः प्रतिपक्षभूतमपि भवतीति बोध्यम्, घटादेः स्वरूपसत्त्वस्य

महासामान्यस्वरूपसत्त्वस्य वा प्रतिपत्तय सन् घटोऽस्ति घट इत्याद्येव प्रयुज्यते, अतोऽस्ति-पदप्रतिपाद्यं सत्त्वमेव, न तु वृत्तित्वम्, अन्यत्र नित्यद्रव्यस्य आश्रितत्वमिहोच्यते इत्यादि वचनतो नित्यद्रव्यभिन्नस्यैव वृत्तिमत्त्वलक्षणमाश्रितत्वमुररीकुर्वतो नैयायिकस्यापि गगन-मस्ति आत्माऽस्ति ईश्वरोऽस्तीत्यादावस्तीत्यस्य वृत्तित्वार्थकत्वासम्भवात् सत्त्वमेवार्थोऽभ्यु-पगन्तव्योऽभवतीति, अस्तित्वं सत्त्वलक्षणं विधिस्वरूपं यथा वस्तुधर्मस्तथा नास्तित्वमपि तत्प्रतिपक्षभूतं विधिनिषेधात्मनो वस्तुनो धर्म एव, अस्तित्ववत्तस्याप्यसत्त्वरूपत्वमेवेति घटो नास्तीत्यस्याप्यसत्त्वस्वरूपाश्रयत्वात् घट इत्यर्थः, न तु अभावप्रतियोगित्वात् घट इति, अभावस्य निषेधरूपत्वेऽपि प्रतियोगित्वस्य विधिरूपत्वेन तद्योगाभिधेयात्मकत्वाप्यव स्थानात्, भूतले घटोऽस्तीत्यादावपि सप्तम्या आधारत्वमर्थ इति प्राचीनमते तत्र प्रकृत्यर्थ स्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्य च घटे निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वय इति, सप्तम्या आधेयत्वमर्थ इति नव्यमते तत्र प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्वय इति भूतले घट इत्येतावन्मात्रतो भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घट इति भूतलनिरूपिताधेयता वान् घट इति वा बोधः सम्भवत्येवेति अस्तीत्यधिकं पदं स्वरूपसत्त्वं महासामान्यलक्षणसत्त्वं वा प्रतिपादयदेव साफल्यमञ्चति, एवञ्च भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घटः सत्त्ववानिति भूतलनिरूपिताधेयत्ववान् घटः सत्त्ववानिति वा बोधो भूतले घटोऽस्तीति वाक्यप्रभवः, तत्र सदेकत्वावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वय इति नियमाद्भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्वस्य भूतलनिरूपिताधेयत्वस्य वा सत्त्वावच्छेदकत्वमायात्येवेति, धर्मिताबकपदोत्तरप्रथमीविभ क्तिसमभिव्याहारे नञाऽत्यन्ताभावः प्रतीयते इति नियमाद्भूतले घटो नास्तीत्यतो भूतल विशेष्यकघटाभावप्रकारकबोधस्य सम्भवेऽपि तत्र भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावप्रकारकघटविशे ष्यकबोधोऽप्यनुभूयते, नञोऽनभिव्याहारस्थले घटप्रकारकवृत्तिविशेष्यकबोधो भवति नञ् समभिव्याहारे तद्धर्माभावप्रकारकतद्विशेष्यकबोध उपजायत इति नियमात्। नञः समाना र्थक एव नास्तीति न तथाऽस्तीत्यधिकमिति घटविशेष्यकभूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावप्रकार कस्यैव बोधस्योक्तवाक्यात् सम्भवेऽपि भूतले घटानधिकरणत्वस्याप्यर्थतः प्रतीतिसम्भवेन भूतलावच्छेदेन घट नास्तित्वस्यापि सत्त्वाभावलक्षणासत्त्वस्वरूपस्याप्यवगमः सम्भवत्येव, अथवा भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्व भूतलनिरूपिताधेयत्वं वा घटस्य स्वरूपसत्त्वमेव, भूत लसंयुक्तयोरुभयस्यैव घटस्य तद्रूपेण प्रतीतेः, कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रयोगिताव-च्छेदकधर्मवत्त्वस्य कारणस्वरूपत्वे दण्डत्वमेव कारणत्वं तदवच्छेदकं च, तथैव भूतल निष्ठाधारतानिरूपकत्वादिकमेव स्वरूपसत्त्वं तदवच्छेदकञ्चेति, एवं भूतलनिष्ठाधारतानिरूप कत्वाभावो भूतलनिरूपितवृत्तित्वाभावो वाऽसत्त्वं तदवच्छेदकञ्चेति। यत्र चाधिकरणवाचक पदसमभिव्याहारे नास्ति तत्रास्तित्वादासत्त्वमेव प्रतीयते न तु वृत्तित्वम्, तन्निरूपकस्य तस्य निरूपकमन्तरेण प्रतीत्यसम्भवादिति दिक् ॥ ३६ ॥

अथ विधिमुख्यविषयताकबोधजनक आद्यभङ्गः, निषेधमुख्यविषयताकबोधजनको द्वितीयभङ्गः, युगपद्विधिनिषेधात्मनाऽवक्तव्यत्वमुख्यविषयताकस्तृतीयभङ्ग इत्येवं प्राधान्येनैकैकधर्मप्रतिपादकं भङ्गत्रयं निरवयववाक्यरूपं प्रतिपाद्याधुना क्रमात्सत्त्वासत्त्वोभयमुख्यविषयताकबोधजनकं स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थभङ्गं सावयववाक्यरूपं प्रतिपादयितुमाह—यद्वाऽऽद्येन भङ्गेन प्राधान्येन सत्त्वे द्वितीयेन च प्राधान्येनासत्त्वे तृतीयेन च प्राधान्येनाऽवक्तव्यत्वे प्रतिपादिते सति घटादिकं वस्तु प्राधान्येनैकैकधर्माक्रान्तमिव तत् स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्येवं क्रमार्पितोभयधर्माक्रान्तमस्ति न वेति संशये सति तत्प्रमतया क्रमेण स्यादस्तित्वस्यान्नास्तित्वोभयधर्मविषयकं ज्ञानं मे जायतामिति जिज्ञासया तादृशोभयधर्मविषयकप्रश्नवाक्यं घटादिकं क्रमेण स्यादस्ति स्यान्नास्ति न वेत्याकारकमुच्चारयतः श्रोतुः तदीयजिज्ञासाविशेषं तथाविधेन प्रश्नेनावगम्य वक्ता जिज्ञासाकारणसंशयनिवृत्तिर्यादृशवाक्यात्स्यात् तादृशमेवोत्तरवाक्यरूपं घटादिकं क्रमेण स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्याकारकं चतुर्थभङ्गं प्रतिपादयन्नाह—यद्वा विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराऽशेषधर्मक्रोडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितवाक्यात्प्रतीतेः स्यादस्त्येव घटः । १ । स्यान्नास्त्येव घटः । २ । स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । इत्येतद् भङ्गत्रयं प्रतिपाद्य विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंसूचितसकलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य स्यात्पदाङ्कितचतुर्थादिभङ्गवाक्यात् प्रतिपत्तेस्स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः । १ । स्यादस्त्येव स्यादऽवक्तव्य एव घटः । २ । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव च स्यादवक्तव्य एव घटः । ४ ॥ इत्येतद्वक्ष्यमाणभङ्गचतुष्टयं द्वित्रिसंयोगात्मकं प्रतिपादयिपुस्तत्राद्यभङ्गं मूलाद्यभङ्गापेक्षया चतुर्थभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

अह देसो सब्भावे, देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ ।
तं दवियमत्थि नत्थि य, आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७ ॥

'अह'-यदा, देसो-देशो वस्तुनः एकदेशः अवयवः 'सब्भावे' सद्भावे अस्तित्वे, णियओ-नियतः-सन्नेवेत्येव निश्चितः 'देसो' अपरश्च देशः 'असब्भावपज्जवे' असद्भावपर्याये नास्तित्वाख्ये, णियओ-इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणाद् नियतः-असन्नेवेत्येवं नियमेनावगतः, ननु वस्त्वेकदेशरूपस्य वस्त्ववयवस्य नियतं क्रमार्पितं स्यात्सत्त्व स्यादसत्त्वं चेत्येवं पूर्वार्द्धेन वक्त्रा प्रतिपादितम्, श्रोत्रा जिज्ञासया पृष्टश्च घटादिवस्तु किं क्रमार्पितसत्त्वासत्त्वोभयधर्मान्वितमस्ति न वेति, तथा चार्थान्तरदोषस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, तथाऽप्यत्राऽवयवेभ्योऽवयविनः कथञ्चिदभेदो विवक्षित इति अक्षिगतकाणत्वयोगात्पादगतखञ्जत्वयोगाच्च काणः खञ्जश्च देवदत्त इत्यत्रेवावयवधर्माणामवयविनि व्यपदेशाच्चतुर्थभङ्ग-

मद्भेदेनोक्तदोष इति मयपभङ्गस्याद्यस्वधर्माभ्यामवयव्यपि तथाधर्माक्रान्तो वाच्य इत्याह–'तं दविपमत्थि नत्थि य' तद्द्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवति, तत्र हेतुमाह–" आएस विसेसियं जम्हा " यस्मात्तद्द्रव्यमादेशविशेषितम्, आदेशेनोभयप्रधानावयवभागेन विशेषितम्, सत्त्वासत्त्वोभयप्रधानकावयवद्वयाभेदेनार्पितं तद् द्रव्यं यस्मादिति यावत्, तथाहि–एकोऽवयवोऽस्तित्वविशिष्टोऽपरश्च नास्तित्वविशिष्ट इत्यस्तित्वनास्तित्वधर्मोभयावयवाभ्यां सह यद्द्रव्यमभिन्नतया विवक्ष्यते तद्द्रव्यमस्ति नास्ति चेति व्यपदिश्यते, तथा स्वद्रव्येणैव स्वात्मावयवैर्विभक्तो घटः स्वद्रव्यादिरूपेणास्ति, परद्रव्यादिरूपेण च स एव नास्ति, अवयवेन विशिष्टधर्मेण विभज्यैकत्वादिव्यपदेशो सुप्रसिद्धमेव, यथैक एव पुरुषो विवक्षितावयवविशेष बालादिना परिणतः, कुमारादिना चापरिणत इति। अत्र यस्मात्तद्द्रव्यमादेशविशेषित मित्यस्योभयप्रधानावयवाभेदेनार्पित स्वात्मकसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नधर्मद्वयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताशालिशाब्दबोधेच्छाविषयीकृतमिति यावत्, इत्यर्थश्च स्पष्टार्थः कृत इति। अत्र यथा भूते घटपदस्य देशपरस्यावृत्त्या प्रकारतात्रयनिरूपितविशेष्यताद्वयशालिन एव बोधस्य जननाद्शाब्दबोधपर्यन्तानुधावनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम्। नन्वाद्यभङ्गेनाऽपि स्वद्रव्यादिना घटस्समिति द्वितीयभङ्गेनापि च परद्रव्यादिना घटोऽसमिति विभज्यैव एव घट इत्याभ्यां भङ्गाभ्यां कोऽस्य भङ्गस्य विशेष इति चेद्, उच्यते, तत्रास्तित्वनास्तित्वयोरेकद्वारा विभागेऽप्यवयवद्वारा विभागाभावः, अत्र तु तद्द्वारा विभाग इत्यस्य विशेषो ज्ञेय इति। नन्वत्रावयवावयविनोः कथञ्चिदभेदाद्वयवद्वारा 'कुण्ठो देवदत्तः' इत्यत्रेव तद्धर्मोभयमवयविनि व्यपदेशः कृतः, न तु सत्त्वादित्ववयवद्वारा विभागकरण एव किं बीजमिति चेत्? सावयवनिरवयवात्मकवस्तुनस्तथाप्रतिपत्तिजनकसावयवनिरवयवत्वद्वयघटकस्वरूपवाक्यत्वेन तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम्, अर्थात् एकस्यापि वस्तुनस्सावयवनिरवयवस्वरूपतया द्विविधत्वे तत्प्रतिपादकवाक्यस्यापि सावयवनिरवयवतया द्विविधत्वे सत्येव यथार्थ्येन तत्प्रतिपादकत्वं सम्भवति, तत एव च तत्रार्थे तस्य प्रामाण्यमपि निर्वहतीति सूचितं भवति ॥ ३७ ॥

एकस्य देशस्य सत्त्वेन प्राधान्यविवक्षयेनापरस्य च युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयरूपेण प्राधान्यविवक्षयेण द्वितीयभङ्ग मूलभङ्गापेक्षया पञ्चमभङ्ग प्रतिपादयितुमाह–

सब्भावे आइट्ठो, देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दविअं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥

'जस्स' यस्य घटादेर्धर्मिणः, 'देसो' एको देशोऽवयवः, 'सब्भावे' सद्भावेऽस्तित्वेऽव्यक्तव्यत्वानुविद्धसद्भावे 'आइट्ठो' आदिष्टो विवक्षितः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात्, न धर्म्यधर्मप्रविभक्तत्वमन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति, मतविषयादेरिव, 'देसो य'

तस्यैव धर्मिणोऽपरो देशश्च 'उभयहा' उभयथा, अस्तित्वनास्तित्वोभयप्रकारेण युगपदेव 'आइट्ठो' इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणात् आदिष्टः अस्तित्वानुविद्ध एवावक्तव्यत्वस्वभावे विवक्षितः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः, न ह्यस्तित्वाभावे उभयाप्रविभक्तता शशशृङ्गादेरिव तस्य सम्भविनी। उक्तप्रकारादेशेन द्रव्यं किं स्वरूपं प्रतिपादकेन प्रतिपादितं भवतीत्यत आह—'तं अत्थि अवत्तव्वयं च होइ दवियं' तद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यश्च भवति, ननु घटाद्यवयविद्रव्यस्यैवैको देशोऽव्यक्तव्यत्वानुविद्धस्वभावेऽस्तित्वेऽपरश्चास्तित्वोपरक्तावक्तव्यत्वस्वभावे पूर्वार्द्धेन विवक्षित इति द्रव्यं कथं तथाविधं प्रतिपादकेन व्यपदिष्टं भवतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—"वियप्पवसा" इति, विकल्पवशादुक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण धर्मिणो विवक्षावशात्। अयम्भावः–तद्धर्मविकल्पवशाद्धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथाव्यपदेशे धर्म्यपि तद्द्वारेण तथैव हि व्यपदिश्यते। ननु प्रथमतृतीयभङ्गाभ्यामेवैतद्भङ्गकार्यसिद्धेः किमनेन भङ्गेनेति चेत्, उच्यते, आद्येन भङ्गेन संशयजिज्ञासाप्रश्नद्वारा द्रव्येऽस्तित्वमात्रं, तृतीयभङ्गेन चावक्तव्यत्वमात्रमेव प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्टं, प्रतिपादकेनापि देशाविशेषितद्रव्य एव केवलधर्मविवक्षया तथैवाऽऽद्यतृतीयभङ्गाभ्यां प्रतिपादितम्, अनेन भङ्गेन तु प्रतिपाद्येन संशयजिज्ञासामूलके किं द्रव्यमस्ति चाऽव्यक्तव्यश्चास्ति न चेति पुनः प्रश्ने कृते प्रतिपादकेन प्रतिपाद्यप्रश्नानुबोधेनानन्तधर्मात्मकस्य धर्मिण उक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारोभयधर्माक्रान्तत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टत्वादस्य ताभ्यां भङ्गाभ्यां सुस्पष्ट एव भेद इति। अत्रेदमवधेयम्–तद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यश्च भवतीत्यत्र चकारबलाद् 'एकत्र द्वयम्' इति न्यायेन विदेशे दण्डी कुण्डली चेत्यत्र विभिन्नदेशावच्छेदेन चैत्रे दण्डकुण्डलयोरिव प्रकृते घटे विभिन्नदेशावच्छेदेनाऽस्तित्वाऽवक्तव्यत्वयोः परस्पराऽविशेषणीभूतयोरेव शक्त्या भानं स्यादित्यतः प्रकृतेऽस्त्यवक्तव्यपदयोर्देशाऽस्तित्वविशिष्टदेशाऽवक्तव्यत्वविशिष्टयोरेव तात्पर्यानुपपत्त्या लक्षणा स्वीकार्या, तयोश्च तादात्म्येन वैशिष्ट्यबोधस्यैतद्भङ्गफलत्वात्, अयमेव परस्परानुवेधाऽर्थोऽपि द्रष्टव्य इति। चतुर्थभङ्गेऽप्युभयप्रधानावयवभागेनैव विशेषोपदेशादत्राग्रेऽपि च तस्यैव विशेषस्याऽविशिष्टत्वादिति दिक्॥ ३८॥

देशेऽसत्त्वस्य देशे च युगपत्सत्त्वासत्वोभयोर्विवक्षणेन तृतीयभङ्गं मूलाद्यभङ्गापेक्षया पष्ठभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

> आइट्ठोऽसब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स।
> तं णत्थि अवत्तव्वं, च होइ दवियं वियप्पवसा॥ ३९॥

'जस्स' यस्य घटादिवस्तुनः 'देसो' देश एकोऽवयवः, 'असब्भावे' असद्भावे 'आइट्ठो' आदिष्टः, असन्नेवायमित्यवक्तव्यत्वानुविद्धेऽसत्त्वे विवक्षितः, 'देसो य' अपरश्च देशोऽसत्त्वानुविद्धे 'उभयहा' युगपत् सत्त्वासत्त्वोभयप्रकारेणावक्तव्यत्वस्वभावे

'भइयव्वो' इत्यस्यार्थस्यानुवर्णनात् भाजितः विकल्पितः 'तं नत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा' तद् द्रव्यं नास्ति चावक्तव्यं च भवति विकल्पवशात्, अयम्भावः-अयम्भनेन भङ्गेन तदपरावच्छेदकावच्छेदेनोक्तधर्माक्रान्तत्वमिति प्रतिपादितं तथाप्यवयविनि तद्वत्पदेनावयवाऽभेदोपचारादवयविरूपद्रव्यमपि तद्वत्पदेनाभासयति । देशानुपरक्तद्वितीयतृतीयभङ्गाभ्युदासेनायं षष्ठो भङ्गः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

देशेऽस्तित्वस्य देशे नास्तित्वस्य देशे च युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयोर्विवक्षायां चतुर्थं भङ्गं मूलभङ्गापेक्षया सप्तमभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

सब्भावासब्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ।
तं अत्थि नत्थि अवत्त-व्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥ ४० ॥

'जस्स' यस्य देशिनो 'देसो' देश एकः । 'सब्भावासब्भावे' सद्भावे सत्त्वे नियतः, 'देसो य' देशश्च द्वितीयः असद्भावे असत्त्वे, तृतीयस्तु 'उभयहा' उभयप्रकारेण युगपदावेदित इत्येवं सद्रूपासद्रूपावक्तव्यरूपव्यपदेश्यदेशाभेदोपचाराद्द्रव्यमप्यस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च भवतीत्याह-'तं अत्थि नत्थि अवत्तव्वं च दवियं वियप्पवसा' इति। अनया विधिविशिष्टनिषेधाऽवक्तव्यभङ्गस्याभ्युदासः, एते च परस्पराकाङ्क्षस्वभावेन सप्तभङ्ग्या समग्राः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति, नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तभङ्गात्मकं प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति सम्प्रदायविदो वदन्ति। तत्र प्रतिपर्यायं विभाजित-सप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधजनकत्वं धर्मान्यथिकरणमहावाक्यस्वरूपसप्तभङ्गीसं समुदाय एव, निरुक्तजनकत्वाधिकरणवाक्यस्वरूपं च तत्प्रत्येकमपीति विवेकः, अत एव स्यात्पदार्थसाकाङ्क्षितविवक्षितधर्मावधारकत्वेन स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणत्वेन च द्विधा सुनयत्वमुदाहरन्ति, नापि सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यैकवाक्यतापन्नवाक्ये, अन्यथौदासीन्ये धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाभ्यामरिति, इत्यत्र स्याद्वादस्थीमात्रि प्रमाणम्, तेनास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्वस्य तदभिन्नत्वेतरसकलधर्माणां च प्रतिपादनात् । अयम्भावः-अस्तिपदेन स्यात्पदसामर्थ्येन स्वेतरानन्तधर्माभिन्नास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्वं धर्मिणि प्रतिपाद्यते, तदानीं प्रकारतया भासमानेऽस्तित्वेऽभेदसम्बन्धेन तद्विशेषणतया धर्मान्तराणामपि प्रथमभङ्गजन्यबोधे भानमिति तद्विशिष्टस्य भाने तस्यापि भानमिति न्यायेन धर्मान्तराणामपि धर्मिणि भानमिति प्रकारतया सर्वधर्मावगतिः प्रथमभङ्गात् । अथवाऽस्तित्वधर्मस्य स्यात्पदमहिम्ना स्वसीतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिणि प्रकारतया भानम्, तथा चाऽस्तित्वेतराशेषानन्तधर्मात्मकत्वस्य संसर्गविधया धर्मिणि भानम् । तथा च स्वाभिधानन्तधर्मात्मकत्वसंसर्गेण स्वावच्छिन्नैकधर्मप्रकारकबोधः, एवञ्च धर्मान्तराणां पराम्परया मुपस्थितत्वेऽपि संसर्गविधया शाब्दबोधे भानस्योपपत्तिः, अनुपस्थितस्यार्थस्य प्रकारविधया

भानानुपगमेऽपि संसर्गविधया भानाभ्युपगमे न काऽपि क्षतिः । एवं द्वितीयादिभङ्गजन्यबोधेऽपि प्रकृतधर्मात्मकत्ववत् तदितराशेषानन्तधर्मात्मकत्वस्यापि प्रकारविधया संसर्गविधया वोक्तदिशा भानमालोचनीयमिति । अत्राष्टसहस्रीविवरणे इत्थं विवेचितम्–प्रमाणवाक्यानां सर्वैः पदैर्मिलित्वा प्राधान्येनानन्तधर्मात्मकवस्तुबोधन एव तात्पर्यम्, वेदान्तवाक्यानामिवाखण्डब्रह्मबोधने, तथा च स्यादस्त्येव द्रव्यमित्यतः स्वेतरसकलधर्मात्मकत्वसम्बन्धेनास्तित्ववदेव द्रव्यमिति प्राथमिकबोधानन्तर तस्मादनन्तधर्मात्मकमेव सर्वं वस्त्वित्यौपादानिकबोधः सकलादेशजन्यस्स्वीक्रियते, स च द्रव्यार्थिकार्पणयाऽनुपचरितैकविशेष्यताकः पर्यायार्पणया चोपचरितैकविशेष्यताक इति तात्पर्यार्थमादाय तत्र न प्रधानैकार्थत्वव्याघातः, सकलादेशान्यार्थ एव गुणप्रधानभावेन बोधकत्वनियमस्य चरितार्थत्वादित्यादि । स्यात्पदाऽलाञ्छितोऽवधारणैकस्वभावः अस्त्येवेत्यादिदुर्नयः, एवकारेणेतरधर्मतिरस्कारेणैकान्तास्तित्वस्य तत्प्रतिपाद्यतयाऽभिमतस्य शशशृङ्गकल्पतयाऽसत्त्वाद् यथार्थतद्विषयकबोधस्यासम्भवेन तज्जनकत्वाऽसम्भवात् । अस्तीत्यादिकः सुनयः, न तु स स्यात्कारैवकारविनिर्मुक्तत्वेन धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकरणात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणोऽपि व्यवहाराङ्गम्, स्यादस्त्येवेत्यादिकस्तु सुनय एव व्यवहारकारणम्, स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयकप्रवर्त्तकवाक्यस्य व्यवहारकारणत्वात् । स्यादस्त्येवेत्यत्रास्तित्वरूपं यत्सामान्यं तदेवानुगतरूपं तदात्मकतया कथञ्चिदस्तित्वस्य विपरीत सर्वथाऽस्तित्वं कथञ्चिदस्तित्वात्मकस्वावच्छेदकावच्छेद्यनास्तित्वञ्च तदेव तत्रावर्त्तमानत्वादेवकारव्यवच्छेद्यं, तद्व्यावृत्ततया च वस्तुनो भासमानत्वादुक्तवाक्यजन्यबोधस्य तथाविधार्थप्रवृत्तिजनकत्वेन तज्जनकोक्तवाक्यस्य स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तवस्तुविषयकप्रवृत्तिजनकबोधजनकत्वेन व्यवहारकारणत्वमुपपद्यत एवेति । एवं स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्यादिसप्तभङ्गीवद् वस्तु स्यान्नित्यमेव ।१। स्यादनित्यमेव ।२। स्यादवक्तव्यमेव ।३। क्रमतः स्यान्नित्यमेव स्यादनित्यमेव ।४। इत्यादिसप्तभङ्ग्यपि ज्ञेया, यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रिया नयप्रमाणापेक्षया योजनीया, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादिव्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थत्वपर्यायार्थत्वयोस्तुल्यवदाकाशत्वघटत्वादीनां च स्यात्पदद्योतनमर्यादया प्रतिस्वं ग्रहान्नातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्धर्मविशिष्टविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचकं पदं प्रयुज्यते तद्धर्मावच्छेदेन तत्र नित्यत्वादिबोधन एव तत्साकाङ्क्षमित्याकाशमनित्यं घटो नित्य इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोग इति बोध्यम् । नन्वनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तैव भङ्गा इत्यत्र किं बीजमिति चेत्, उच्यते, संशयजिज्ञासाप्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां कार्यकारणभावापन्नानां सप्तविधत्वात् तत्प्रयुक्तभङ्गा अपि सप्तविधा एव, संशयादीनां सप्तविधत्वमपि स्वगोचरास्तित्वादिधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः, तथा च नाधिकभङ्गावकाशः । तथाहि–प्रथमद्वितीयभङ्गप्रतिपाद्यसत्त्वासत्त्वयोः क्रमेण विवक्षणे चतुर्थभङ्गप्रवृत्तिः, युगपद्विवक्षणे तृतीयभङ्गप्रवृत्तिः प्रथमतृतीयभङ्गसंयोगे पञ्चमभङ्गप्रसर-

स्त्वात्, द्वितीयतृतीयभङ्गसंयोगे षष्ठभङ्गस्य लाभसत्त्वात्, प्रथमद्वितीयतृतीयसंयोगे सप्तम भङ्गो लब्धस्त्वात्, प्रथमचतुर्थादिभङ्गकल्पनायां पौनरुक्त्यदोषापत्तिस्त्वादिति । किञ्च प्रथमचतुर्थसंयोगे न भङ्गान्तरप्राप्तिः प्रथमभङ्गप्रतिपाद्यचतुर्थभङ्गप्रतिपाद्ययोर्धर्मान्तरत्वे नाप्रतीतेः सत्त्वाद्यपराऽसम्भवात्, विवक्षितसत्त्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात्, तदन्यसत्त्वरूपादिना द्वितीयस्य सत्त्वस्य सम्भवेऽपि विशेषादेशात्प्रतिपक्षभूताऽसत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्म सप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरसिद्धिस्त्वात् । एवं द्वितीयचतुर्थभङ्गसंयोगेनापि न भङ्गान्तर-प्राप्तिः, पूर्ववदास्तित्वाद्यपाऽभावात्, न चात्र युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयापेक्षया स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयभङ्गप्राप्तिवदस्तित्वादिप्रत्येकनिमित्तापेक्षया वक्तव्यत्वमप्यस्तीति तत्प्रतिपादकस्यावक्तव्य एव घट इत्यष्टमभङ्गोऽपि किञ्च स्यादित्याशङ्कनीयम्, यतो न हि स्याद्वादिनामयमभ्युपगमो यावन्तो धर्मा घटे सम्भवन्ति तावद्धर्मप्रतिपादका भङ्गा एकस्यां सप्तभङ्ग्यां निवेशनीया इति, तथा सत्यनन्तभङ्ग्येव स्यात्, न तु सप्तभङ्गी, किन्तु सत्त्वविषय-संशयविवक्षापर्यनुयोगवशादस्तित्वादिप्रत्येकधर्माणामविरोधेन विधिनिषेधकल्पनया सप्त-धर्मप्रतिपादिका सप्तभङ्गीत्येवाभ्युपगमः, तथा चात्रापि वक्तव्यत्वधर्मं प्रधानीकृत्य तद्विधि निषेधकल्पनया सप्तधर्मप्रतिपादिका स्याद्वक्तव्यत्वधर्मप्रतिपादकप्रथमभङ्गोत्थापिताऽपराऽमेव जायमानाऽन्यैव सप्तभङ्गीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिधर्मं सप्तभङ्ग्या निपतत्वादिति । ननु सप्तभङ्गीजन्यात्मकशाब्दबोध इव किमन्यज्ञानेऽपि सप्तधर्मावभासो भवति न वेति चेत्, तत्प्रतिभासे स्याद्वादव्युत्पत्तेरपि प्रयोजकतया स्याद्वादाव्युत्पन्नस्य प्रत्यक्षादिज्ञाने तत्प्रतिभासेऽपि तद्व्युत्पन्नस्य ज्ञाने तत्प्रतिभासो भवत्येव, अत एव न्याया-चार्यैर्भीमद्भिर्यशोविजयोपाध्यायैर्महावीरस्तवे प्रत्यभिज्ञाविचारे—

"पर्यायतो युगपदप्युपलब्धमेव, किं न क्रमेऽपि हि तथेति विचारशाली ।
स्याद्वादमेव भजतः भवते स भेदा-भेदक्रमेण किमु न स्फुरद्युक्तियुक्तम् ॥२७॥"

इति पद्येन शाब्दबोधातिरिक्तस्यापि भेदाभेदोभयात्मकपदार्थविषयकस्य प्रत्यभि-ज्ञानस्यापि स्याद्भिन्न एव स्यादभिन्न एवेत्यादिसप्तभङ्गीसमभिव्याहृतसप्तधर्मविषयकत्वमावेदितम् व्युत्पादितमोऽतएव तद्वीकायां न्यायखण्डखाद्याभिधायां तैरेव—"एकत्र स्यात्स्व एव, स्याद्रव्य एवेत्यादिसप्तभङ्गकमानुरोधी प्रत्यभिज्ञात्मबोधो वक्तव्य इत्यर्थः । एवं सति यदि द्रव्यात्मकतद्भेदविषयकमेव प्रत्यभिज्ञानमिति प्रवादस्य कथमुपपत्तिरिति चेत्, स्याद्वादव्युत्पत्त्यभावेनेति प्रतीहि । स्याद्वादव्युत्पत्तेः केवलोपयोगः शाब्दबोध एव तद्धर्मयोगादिति चेत्, न, स्वभावतः सर्वस्याऽपेक्षणमविज्ञानभावात् तत्र तद्धर्मयोगात्, अत एव कारणसामान्यमपि दर्शितम्, यथाऽशुभवस्त्वरयोः सम्प्रयोगपर्ययोपपद्यमानयोस्तथात्वाभिज्ञानकारणयोः सत्त्वात्, तदेकविशेषमात्रविपर्ययस्यापेक्षिकत्वात् । वस्तुतः कारणतावच्छेदकाय

शतवर्षजीवीत्युपदेशश्रवणानन्तरमयं कररेखाविशेषवानिति ज्ञाने सति यथाऽयं शतवर्षजीवीति सङ्कलनात्मकं प्रत्यभिज्ञानम्, तादृशविषये मानान्तरानवकाशात्, तथा सर्वं वस्तु सप्तभङ्गीसमभिरूढधर्मात्मकमित्युपदेशं श्रुतवत इदं वस्त्विति ज्ञानानन्तरमेवेदं सप्तभङ्गीसमभिरूढतत्ताश्रयाऽभिन्नमिति प्रत्यभिज्ञानं व्युत्पन्नानां न दुर्घटमिति दिक्" इति ग्रन्थेन। एतेन वाक्यरचनां प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेनैकैकभङ्गस्य सप्तभङ्ग्याश्च प्रयोक्तुर्ज्ञाने प्रत्यक्षाद्यात्मके तत्तद्भङ्गप्रतिपाद्यतत्तद्धर्मस्य सप्तभङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्माणाञ्च प्रतिभासनं स्यादित्यारेकापीष्टत्वेन निराकृतेति। यतो यदा परोक्षज्ञानात्मके प्रत्यभिज्ञाने क्षयोपशम विशेषात्स्याद्वादव्युत्पत्तिसहकृतात्सप्तभङ्गीसमभिरूढसप्तधर्मभान युक्तितो निरटङ्कितं तदा प्रत्यक्षेऽपि तथैव सामग्रीसम्पत्त्या तथाभानस्य को वारयितेति विदाङ्कुर्वन्तु सुधियः। ननु किं वाक्यं पूर्णोत्तरं किञ्चांशोत्तरमिति जिज्ञासापुरस्सर प्रश्नोद्भवे किमुत्तरमिति चेत्, उच्यते, स्वेतरांशौदासीन्येन स्वविषयवस्त्वंशमात्रप्रतिपादनपरं प्रतिभङ्गरूपं वाक्यमंशोत्तरम्, तस्य खण्डवाक्यरूपतया देशजिज्ञासानिवर्त्तकत्वात्, अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकैकपर्यायमाश्रित्य क्रमेण युगपद्वा विधिनिषेधप्रधानभावेनोत्पद्यमानस्यात्कारलाञ्छितसप्तविधधर्मप्रकारकसप्तविधसंशयमूलकसप्तविधजिज्ञासाऽऽधीनसप्तविधप्रश्नतद्विषयविषयकज्ञानहेतुकप्रतिपिपादयिषा-पूर्वकाऽविरुद्धसप्तविधधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकशाब्दबोधजनकतापर्याप्तिमत्साक्षात्परम्पराघटिततदुत्थापिताऽऽकाङ्क्षानिवर्त्तकत्वतन्निवर्तनीयाकाङ्क्षोत्थापकत्वान्यतरवत्सप्तभङ्गात्मकमहा--वाक्यमेव च पूर्णोत्तरम्, प्रतिपर्यायं विधिनिषेधप्रकारापेक्षया सप्तभिरेव धर्मैर्जिज्ञासितस्य वस्तुनस्तावद्भिरेव धर्मैरभिधानेन श्रोतुरभिलषितबोधोपपत्तेर्जिज्ञासान्तरानुदयादुक्तवाक्यस्य शान्ताकाङ्क्षत्वात्। ननु यद्यपि महावाक्यार्थबोधे तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधस्य कारणत्वेन भवतु पूर्वं तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधः, पश्चान्महावाक्यार्थबोधः, तथापि स्वद्रव्यक्षेत्रादिरूपेण घटस्स्यादस्त्येवेति प्रथमभङ्गरूपखण्डवाक्यतः स्वद्रव्यक्षेत्राद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिदस्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः प्रथमं, पश्चात्परद्रव्यादिरूपेण घटस्स्यान्नास्त्येवेति द्वितीयभङ्गजन्यः परद्रव्याद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिन्नास्तित्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः तत्पश्चा तृतीयादिभङ्गजन्यबोध इत्येवं सप्तविधबोधक्रमे को हेतुरिति चेत्, तत्र वाक्यक्रमगर्भतात्पर्यज्ञानमेव हेतुः, यद्वा पूर्वपूर्वभङ्गजन्यशाब्दबोधानामुत्तरोत्तरभङ्गजन्यशाब्दबोधकारणत्वेन कारणक्रमात्कार्यक्रम इति सामान्यनियमावष्टम्भेन तादृशकारणक्रम एव हेतुः। तदुक्तं खण्डखाद्ये न्यायाचार्यैस्तातपादश्रीयशोविजयोपाध्यायैः—" औदासीन्येन स्वार्थावधारणमात्रपरत्वेऽप्यंशोत्तरम्। सप्रतिपक्षधर्मद्वयस्थले सप्तधर्मजिज्ञासया सप्तभिः प्रश्नैर्मिथः साकाङ्क्षसप्तभङ्गात्मकमहावाक्यस्यैव पूर्णोत्तरत्वात्, सकल हि वस्तु यावद्धर्मैर्जिज्ञासितं तावद्धर्माऽभिधान एव वाक्य निराकाङ्क्षं भवति, भङ्गार्थबोधक्रमो वाक्यक्रमगर्भतात्पर्य-

ज्ञानात्, आद्यभङ्गादिव यथोपयस्य द्वितीयादिभङ्गस्य पञ्चमादिबोधे हेतुत्वाच्चेति ।" अत्र केचिदाचार्यास्तृतीयचतुर्थभङ्गयोर्व्यत्यासमिच्छन्ति । अत एव पूज्यश्रीमद्वादिदेवसूरिभिः 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ४-१७ । स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । ४-१८ । इति सूत्रद्वयं तृतीयचतुर्थभङ्गप्रदर्शकं प्रणीतम्, न्यायाचार्यश्रीयशोविजयवाचकैरपि पूर्वोत्तरात्मकं महावाक्यं स्वरूपतस्तथैव प्रदर्शितम् । तथाहि—बीजं स्यादङ्कुराऽङ्गोपकार्येव । १ । स्यादनुपकार्येव । २ । स्यादुभयमेव । ३ । स्यादवक्तव्यमेव । ४ । स्यादङ्कुराऽङ्गोपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव । ५ । स्यादङ्कुरानुपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव । ६ । स्यादङ्कुराऽङ्गोपकार्येव स्यादङ्कुरानुपकार्येव स्यादवक्तव्यमेव च । ७ । इति प्रमाणोत्तरं युक्तमिति । अस्तित्वादिधर्माः स्वाभावसमानाधिकरणाः स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात् धर्मत्वाद्वा कपिसंयोगवदित्यनुमानेनाऽस्तित्वादावव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्तासामवच्छेदकभिन्नभिन्नावच्छेदकावच्छेदेनैकस्मिन् वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव घटादावेकत्रापि तथाऽपर्यायतया भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकावच्छेदेन सत्त्वतदभावभेदाभेदनित्यत्वानित्यत्वादिसर्वधर्माणां सत्त्वेन निमित्तभेदापेक्षया तदवस्थानप्रतिपादनरूपकथञ्चिद्विध्यात्मा यस्स्याद्वादस्सोऽपि सप्तभङ्गयपेक्ष एव, नैकभङ्गापेक्षः, तेनैकस्यैव प्रकारस्य प्रतिपादनेन सप्तविधजिज्ञासाऽपूर्ते रवान्तराकाङ्क्षाया अभावात् । ननु "इयं सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च" ॥ ४३ ॥ इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारग्रन्थवचनादेकस्यापि भङ्गस्य विकलादेशत्ववत् सकलादेशत्वात्—

> "कालात्मरूपसम्बन्धाः संसर्गोपक्रिये तथा ।
> गुणिदेशार्थशब्दाश्चे,—त्यष्टौ कालादयस्स्मृताः ॥ १ ॥"

इति यथोक्तकालादिभिरष्टाभिर्द्वारैः पर्यायार्थिकनयसापेक्षद्रव्यार्थिकनयेनाऽभेदप्राधान्यात् द्रव्यार्थिकनयसापेक्षपर्यायार्थिकनयेनाभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकधर्ममुखेन तदन्येषां सर्वेषां धर्माणां प्रतिपत्तिजनकत्वेनास्तित्वाद्येकधर्मज्ञानेऽपि तद्द्वारा तदभिन्ननिखिलधर्मावबोध इति तद्रूपतया सप्तधर्मप्रतिपत्तिरप्येकेनापि भङ्गेन सञ्जातेति सप्तभङ्गकल्पनया किम्, यद्यपि तथाकल्पने आद्येन भङ्गेन यदैव प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रतिपादनीयं तदैव द्वितीयादिनैस्तथैवपदात् पौनरुक्त्यं स्यादिति चेत्, सत्यम् तथापि भावार्थाऽन्वयबोधाय युक्तम्, आद्यादिभङ्गेन स्वद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षकास्तित्वादिमुखेन तदभिन्ननास्तित्वाद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनेऽपि परद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षकनास्तित्वादिमुखेन तेनाऽप्रतिपादितस्यानन्तधर्मात्मकवस्तुनो द्वितीयादिभङ्गेन प्रतिपादनम पौनरुक्त्याऽभावात्, तस्मादेकस्यापि भङ्गस्य वस्तुनि तत्प्रतिपाद्यैकधर्मद्वारा तदभिन्नतदितराशेषधर्मप्रतिपादकत्वेऽपि तत्तन्निमित्तापेक्षयाऽन्य धर्म

एतदपेक्षया चायं धर्म इति पृथग्विवेचनं नैकभङ्गेनोपपादयितुं शक्यम्, किन्तु सप्तभङ्ग्यैव, तदुक्तं खण्डखाद्ये–' सकलादेशमहिम्नैकग्रहेऽपि सर्वग्रहात्, निमित्तभेदविवेचनस्य च सप्तभङ्ग्यैवोपपत्तेरिति ।' अस्तित्वनास्तित्वादिवत्कारणत्वतदभावयोरप्यव्याप्यवृत्तित्वमेव, कस्या अपि कारणतायाः केनापि रूपेण स्याद्वादं विना नियन्तुमशक्यत्वात्, स्याद्वादश्चैकाधिकरणवृत्तितत्तन्नयप्रयोज्यभिन्नभिन्नतत्तदवच्छेदकावच्छिन्नतत्तदभावस्वीकारात्मैव, न चात्र विरोधः, अपेक्षाभेदेन तत्तदभावाभ्युपगमात्, तथापि तत्त्वे एकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छिन्नकपिसंयोगतदभावाभ्युपगमस्येदमेतदपेक्षया ह्रस्वमेतदपेक्षया च महदिति प्रतीतिसिद्धैकाधिकरणवृत्तिभिन्नापेक्षकह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्युपगमस्य च विरोधदोषदुष्टत्वं स्यात्, किञ्च विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम्, तावदेकाधिकरणाऽवृत्तित्वं तद्, एकसम्बन्धेन प्रतियोगिमत्यपि सम्बन्धान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावस्य परैरपि स्वीकारेण तत्तद्भावयोर्विरुद्धयोरप्यविरोधस्स्यात्। नापि येन सम्बन्धेन यस्य यदधिकरणं तस्मिन्नधिकरणे तत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रतियोगिताकाभावस्यावृत्तित्वं तत्, एकरूपेण तद्वत्यपि रूपान्तरेण तदभावस्य भावात्। नापि रूपविशेषस्योक्तविरोधलक्षणकोटौ निवेशेऽपि निस्तारः, तेन रूपेण तेन सम्बन्धेन तद्वत्यपि कालान्तरे तेनैव रूपेण तेनैव सम्बन्धेन तदभावस्य भावात्। नापि कालविशेषस्य तत्र प्रवेशेऽपि निर्वाहः, वर्त्तमानकालावच्छेदेन प्रतियोगिमत्यपि वर्त्तमानकालावच्छेदेनैव तदभावस्य देशभेदेन स्वीकारात्, तस्माद् यद्रूपेण यत्सम्बन्धेन यत्कालावच्छेदेन यद्देशावच्छेदेन यस्य यदधिकरणं तद्रूपावच्छिन्नतत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रतियोगिताकाभावस्य तत्कालावच्छेदेन तद्देशावच्छेदेन तस्मिन्नधिकरणेऽवृत्तित्वमित्येवं तस्य लक्षणं वाच्यम्, तादृशलक्षणविरोधस्य भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वनास्तित्वभेदाऽभेदादीनामेकत्र स्वीकृतौ न भवति भङ्गावकाशः। अत एव स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादौ सर्वत्राविरोधद्योतनाय स्यात्पदं प्रयुज्यते स्याद्वादतत्त्वज्ञैः, तथा च कस्या अपि कारणतायास्स्याद्वादनियन्त्रितत्वे च सिद्धे सापि सप्तभङ्गीमुपादायैव सम्भवति, अत एव "सप्तभङ्गीविधिसमारूढत्वेनार्थक्रियाकारित्वम्" इति प्राचीनोक्तिरपि सङ्गच्छते। ननु कार्यकारणभावग्रहोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां जायते, तौ च बीजत्वेन बीजसत्त्वेऽङ्कुरत्वेनाऽङ्कुरसत्त्वं तदभावे तदभाव इत्येवंरूपावेव, न च तौ कथञ्चिद्घटिताविति कथं कारणतात्वव्यापकत्वं स्याद्वादस्येति चेत्, मैवम्, यतो नैवमन्वयोऽभ्युपगमार्हः, तथा सति कुशूलस्थदशायामपि बीजमङ्कुरोत्पादकं स्यात्, स्याच्च क्षेत्रस्थतादशाया यावदङ्कुरोत्पादकं बीजम्, किन्तु स्वेतरसकलकारणसमवहितस्य बीजस्य कस्यचिद् बीजत्वेन सत्त्वे कस्यचिदेवाङ्कुरस्याङ्कुरत्वेनोत्पादकं बीजमित्येवं स्वरूपः, व्यतिरेकोऽपि तद्घटिततदभावयोरेवेति कथं न कथञ्चिद् घटितत्वं तयोः, उक्तविशेषणस्यैव कथञ्चिद्रूपत्वात्, उक्तान्वयव्यतिरेकगृहीतस्य यावत् किञ्चिद्बीजं तावत्कथञ्चिद् यावदङ्कुरजनकम्, यावान्

कथमिदङ्कारज्ञानात् कथमिदं यावदीयमन्य इत्याद्याकारस्यैव कार्यकारणभावग्रहस्य स्याद्वाद संस्कृतात् स्वप्रमाणात् सिद्धेः कारणतावच्छेदकत्वं स्याद्वादस्य सिद्धस्यैव । ननु कारणं स्यात्कार्यं कारणमित्येकेनैव भङ्गेन कारणत्वे कथञ्चित्त्वसिद्धौ किं तत्र सप्तभङ्गीकल्पनयेति चेत्, नैवम्, प्रथमभङ्गोक्तौ किं कारणं स्यात्कार्याकारणं न वेत्यादि संशयोत्पत्तेस्तन्निराकाङ्क्षा तत्प्रकारा भङ्गान्तरमप्युपेतावश्यकत्वेन नैवैकभङ्गमात्रेण निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिर्भवति, किन्तु सप्तभङ्ग्यैव, तस्या एव पूर्णोत्तरत्वात्, यावदेकेन बोधेन प्राश्निकस्याकाङ्क्षोपशाम्यति तावद्बोध-स्यैव परिपूर्णबोधत्वेन तं प्रति जनकत्वात्, तदुक्तं खण्डनखाद्ये–' यावति विचारे किञ्च विद्विषिः पूर्यते तावत एव प्रमाणत्वादिति । एतेन सप्तभङ्गीजन्यबोधस्य तदन्यतमप्रकार-कत्वात्संशयात्मकत्वं स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, एकत्र धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारक-ज्ञानं संशय इति लक्षणे एकस्मिन्नेव वृक्षे विभिन्नावच्छेदेन कपिसंयोगतदभावप्रकारक ज्ञानस्य प्रमात्मकस्य संशयत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्येतदर्थं विरुद्धेति नानाधर्मविशेषणं परेणापि स्वीक्रियत इति धर्मविशेषणतया संसर्गतया वा विरोधभानं संशये नियतमेव विरोधभाने चाव्याप्यवृत्तित्वज्ञानं प्रतिबन्धकमिति तदभावः कार्यसहभावेन प्रतिबन्धकाभावविधया कारणम्, सप्तभङ्गीघटकस्यात्पदेन वाचकात्स्वार्थस्य द्योतकेन वाचकेन वाऽव्याप्यवृत्तित्वमेव धर्मेऽवभासत इति कार्यसहभावेन कारणीभूतस्याव्याप्यवृत्तित्वज्ञानाभावस्य प्रतिबन्धकाभाव स्याभावादेव सप्तभङ्गीजन्यज्ञाने विरोधभानस्याभावे तन्निबन्धनस्य संशयत्वस्याप्यनवकाशात् । अत एव शिरोमणिस्तु निपुणंमन्यः प्राह–स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपको निपातोऽनेकान्तवाची, दिगम्बरा वस्तूनां सत्त्वासत्त्वानिर्वचनीयत्वानि अनिर्धारितानि प्रतिजानते, तथाहि–सप्तभङ्गी नामकं नयमाचक्षते, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति नास्ति च, स्याद स्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यश्चेति, वस्तु सत्त्वाभाव इत्यनिर्धारितम्, तथाऽसत्त्वाभाव इति, अनिर्वचनीयत्वाभाव इति, सत्त्वासत्त्वाभाव इति, सत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाभाव इति, असत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाभाव इति, सत्त्वासत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाभाव इति । एवं सप्तधाऽप्यनिर्धारितमित्यर्थः । तथा च स्यात्सत्त्वस्यानिर्धारितार्थत्वाद्विरोध्युभय कोटिकज्ञानस्य संशयत्वेनाप्रमाणत्वात् सप्तभङ्गीनयो न प्रमाणमिति । इत्थं तदुक्तिशिरोमणे स्स्याद्वादस्वरूपाऽनभिज्ञता प्रकटीकृता महोपाध्यायेन न्यायखण्डखाद्ये–" न ह्येकत्र नाना-विरुद्धधर्मप्रतिपादकस्स्याद्वादः, किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोधद्योतकस्यात्पदसमभिव्याहृत वाक्यविशेषः स इति, द्योतिते च तदविरोधे संशयापादककारणस्यैवाऽभावात् कथं स्याद्वदमत मनवधारणमस्यासारोप्यते शिरोमणिना " इत्याद्युपरग्रन्थेन ॥ अयम्भावः–यद्यपीत्थ मेवेति नियमस्याविरोधिधर्मान्तरकल्पनाभाव एव भवतीति मार्हम्मते तथानियमस्यसम्भवति, विरोधिधर्मान्तराभ्युपगमात् । तथा च सत्त्वमेवेति वा असत्त्वमेवेति वा अनिर्वचनीयमेवेति वा सदसदुभयरूपमेव वेत्यादि मार्हता निश्चिन्वन्तीत्यनिर्धारितत्वं सत्त्वादीनामित्यर्थं नार्हं

न्मतम्, स्वद्रव्याद्यपेक्षया वस्तुनि सत्त्वमेव, नासत्त्वम्, परद्रव्याद्यपेक्षया चासत्त्वमेव, न सत्त्वम्, एककालावच्छिन्नस्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्युभयनिमित्तापेक्षयाऽनिर्वचनीयमेव, न त्वेकैकरूपमित्येवमुत्तरभङ्गेऽपि तत्तन्निमित्तापेक्षया तत्तद्रूपमेव वाच्यमिति यन्निमित्तापेक्षया सत्त्वादि तन्निमित्तापेक्षया तद्विरोध्यसत्त्वादिरूपाऽभावेन तत्तन्निमित्तापेक्षयेदमित्थमेवेति निश्चयसद्भावेन सत्त्वादीनां निर्धारितरूपत्वेनैवाभ्युपगमात्, तथापि तत् अर्हन्मततयाऽभ्युपगम्य शिरोमणिना सत्त्वादीनामनिर्धारितत्वं प्ररूपितमिति तस्य सुस्पष्टं ध्यान्ध्यमेवेति। एतेन सप्तभङ्ग्यादिखण्डनपरं "नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ २ । २ । ३३ ॥ इति शारीरकमीमांसासूत्रमपि निरस्तम्, तदुक्तिप्रत्युक्तीनां पूर्वोक्तमाम्यात्, यथैवैकस्मिन् वस्तुन्यस्तित्वधर्मविषयकपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तसमस्तविधिनिषेधकल्पनया स्यात्पदलाञ्छितसप्तधर्मप्रकारवाक्प्रयोगलक्षणसप्तभङ्गी प्रदर्शिता तथैव तदन्यभेदनित्यत्वाद्येकैकधर्मापेक्षयाऽपि सप्तभङ्गी ज्ञेया, एवञ्च वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षया सप्तभङ्गीनामानन्त्यं यदायातं तदप्यऽभीष्टमेवार्हतैः। एतेनैकस्मिन् वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षयाऽनन्तभङ्गप्रसक्त्या सप्तभङ्गीति वचो न युक्तमित्यारेकाऽपि निरस्ता, यत एकैकपर्यायमाश्रित्य वस्तुनि विधिनिषेधकल्पनाभ्यां व्यस्तसमस्ताभ्यां सप्तैव भङ्गास्सम्भवन्ति, एवंविधास्सप्तभङ्गाश्च अनन्ताः प्रतिपर्याय सप्तभङ्गीभावात् पर्यायाणाञ्चैकवस्तुन्यनन्तत्वादिति, यदुक्तं वातपादवादिदेवसूरिभिः—"एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तभङ्गीति न चेतसि निधेयम् ॥ ४ । ३७ ॥ विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं, वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव सम्भवात् ॥ ४ । ३८ ॥ इति। एतेन स्यात्पदमनेकान्तवाचकमिति स्यात्सन् घटः स्यादसन् घट इत्यादिसप्तभङ्गीवचनमनर्थकम्, स्यात्सन् घट इत्येकभङ्ग उक्तेऽपि तद्घटकस्यात्पदादेव सत्त्वासत्त्वादिधर्मसप्तकशबलत्वस्यापि स्याच्छब्दार्थकुक्षिप्रविष्टत्वात्तद्बोधोपपत्तेरित्यप्यारेका निरस्ता, सामान्यतोऽनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, वृक्षो न्यग्रोध इति वचनवत्। अयम्भावः स्यात्पदादनेकान्तपदाद्वा एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदकत्वेनैवानन्तधर्मान्तर्गतसप्तधर्मबोधेऽपि प्रातिस्विकरूपेण तद्बोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयः। यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन न्यग्रोधबोधेऽपि न्यग्रोधत्वेन तद्बोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयते तथा प्रकृतेऽपि। स्यात्पदस्यानेकान्तत्वद्योतकत्वपक्षे तु न्यायप्राप्तं सदसदादिवचनम्, सदसदादिशब्दोक्तस्य स्वरूपपररूपचतुष्टयादिना सत्त्वासत्त्वादिविशिष्टवस्तुनस्स्याच्छब्देन द्योतनादिति ग्रन्थगौरवभीत्या नाधिकं वितन्यते ॥ ४० ॥

अथोक्तसप्तभङ्ग्या केन नयेन को भङ्ग इति जिज्ञासया शिष्येण तत्प्रश्ने कृते सति यस्य यस्य भङ्गस्य मूलभूतो यो यो नयस्तत्तद्भङ्गप्रवर्तकतत्तन्नयप्रदर्शनपूर्वकतदुत्तरामिधित्सया सूरिराह—

एवं सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो य (उ) ॥ ४१ ॥

'एवं' उक्तप्रकारेण, 'सत्तवियप्पो' सप्तविकल्पः सप्तभेदः, 'वयणपहो' वचनपथो वचनमार्गः, 'होइ अत्थपज्जाए' भवत्यर्थपर्यायेऽपि विषयस्य विषयिणि तथा च ऋजुसूत्रादिपर्यन्ते नये सङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रलक्षणे। सप्ताप्यनन्तरोक्ता भङ्गा अर्थनये भवन्तीति भावः। तत्र प्रथमो भङ्गः सङ्ग्रहे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो भङ्गो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीयभङ्गस्तु ऋजुसूत्रे वस्तुवर्तमानक्षणग्राहिणि, एकदोभयार्थमात्र वर्तमानक्षणनियतत्वात्, चतुर्थः सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रेषु। वस्त्वेकांशग्राही नय इत्येकैकधर्मविषयकत्वेनैकनयेनैकैकधर्मप्रतिपादकाद्यभङ्गत्रय प्रवृत्तिः। धर्मद्वयस्य नयद्वयविषयत्वात्तद्विषयकेण नयद्वयेन मिलितद्वयसंयोगोत्था धर्मद्वय प्रतिपादकाश्चतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गाः प्रवृत्ताः, सप्तमभङ्गस्त्वाद्यभङ्गत्रयसंयोगोत्थो धर्मत्रय प्रतिपादक इति धर्मत्रयस्य नयत्रयविषयत्वात्तद्विषयकेण नयत्रयेण स प्रवृत्तः, तथाहि— अर्थनयानामिह विचारे कर्तव्ये अस्तित्वस्य सामान्यस्य सङ्ग्रहविषयत्वेन तत्प्रतिपादको भङ्गः सङ्ग्रहनयाश्रयवर्ती, सामान्यरूपस्यास्तित्वस्य विशेषग्राहिव्यवहारनयाविषयत्वेन तदप्रतिपन्नमेवं नास्तित्वं व्यवहारनयविषय इत्यतो नास्तित्वप्रतिपादको द्वितीयभङ्गस्तदाश्रयवर्ती, अवक्तव्यत्वप्रतिपादकस्तु तृतीयो भङ्ग ऋजुसूत्रनयाश्रयवर्ती, यतः सङ्ग्रहव्यवहारौ न युगपदस्तित्वनास्तित्वे आविष्टौ, अस्तित्वस्य सङ्ग्रहविषयत्वेऽपि नास्तित्वस्य तद विषयत्वेन तस्य स्थानभिमतत्वात्तद्वदेवं नास्तित्वस्य व्यवहारविषयत्वेऽप्यस्तित्वस्य तदविषयत्वेन तस्य स्थानभिमतत्वात्तद्वदनिरूपणत्वप्रतिसम्भानात्, ऋजुसूत्रस्तु युग पदस्तित्वनास्तित्वे आरोढुमर्हति। यद्यपि परमार्थतोऽस्तित्वनास्तित्वे परमार्थतो वर्तमानक्षणमात्रवर्तिपारमार्थिक ऋजुसूत्रस्य न विषयौ तथापि तन्मते सांवृतत्वेन रूपेण ते तद्विषयतां गच्छत एव कतिपयेनापि रूपेण युगपदारोपयोस्तयोरवक्तव्यत्वप्रतिपादको भङ्गः पारमार्थिक एव, विषयस्याबाधितत्वात्, यथा धूमत्वेनारोपिताद् धूलिपटलादिलिङ्गात् पारमार्थिकमपि वस्तुगत्या वह्निमति देश वह्न्यनुमितिरबाधितविषयकत्वात्पारमार्थिकी। क्रमार्पितास्तित्वनास्तित्वप्रतिपादकश्च चतुर्थभङ्गः सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारनय विषयस्य नास्तित्वस्य च प्रतिपादकत्वात्ताभ्यां प्रवर्तते। एवं सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्यर्जुसूत्र विषयस्य चावक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वात्ताभ्यां पञ्चमभङ्गः प्रवर्तते। तथैव व्यवहारनय विषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चावक्तव्यत्वस्याभिधायित्वात्ताभ्यां षष्ठभङ्ग उत्थितः, सप्तमभङ्गश्च सङ्ग्रहविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारविषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चाऽवक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वात्तेभ्यः प्रवर्ततीति। अत्र यद्धर्मप्रकारकसङ्ग्रहात्मकबोधः प्रथम भङ्गफलत्वेनाभिमतस्तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहारात्मको बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्यते,

अत एव स्याद् घट इति प्रथमभङ्गफलत्वेन घटत्वप्रकारकसङ्ग्रहाख्यो बोधोऽभिमत इति घटत्वाभावप्रकारको व्यवहाराख्यो बोधः स्यादऽघट इति द्वितीयभङ्गफलतया ज्ञातव्यः, तेन घटत्वलक्षणसामान्यविषयकसङ्ग्रहनीलघटत्वलक्षणविशेषविषयकव्यवहाराभ्यां 'स्याद् घटः स्यान्नीलः' इत्याकारकौ यौ प्रथमद्वितीयभङ्गौ तद्घटितसप्तभङ्गीप्रवृत्तिर्न सम्भवति, न वा सामान्यमेकमाश्रित्यैकवचनमिति तद्विषयकस्सङ्ग्रहः, अनेकान् विशेषान् समाश्रित्य बहुवचनमिति तद्विषयको व्यवहार इति ताभ्यां 'स्याद्घटः स्याद्घटाः' इत्येवं रीत्याऽपि भङ्गान्तरवृद्ध्याऽष्टभङ्ग्यादिप्रवृत्तिरपि सम्भवतीत्यवधेयम्। शब्दनयानाश्रित्य विचारोपदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—'वंजणपज्जाए पुण' व्यञ्जनपर्याये पुनः, विषयस्य विषयिणि लक्षणया शब्दनये पुनः 'सवियप्पो' सविकल्पः, साम्प्रताख्याद्यभेदात्मकशब्दनये पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावेऽप्यर्थस्यैकत्वात्। अयम्भावः—घटकुटनिपकुम्भकलशादिपर्यायशब्दभेदेऽपि घटरूपस्यार्थस्य न भेद इति सञ्ज्ञाभेदेऽप्यर्थाऽभेदाभ्युपगन्तरि तस्मिन्नये सविकल्पः, तन्नये घटवाचकयावत्पर्यायशब्दवाच्यत्वावच्छिन्न एको घटोऽस्त्येवेति प्रथमभङ्गस्यास्तित्वसामान्याभिधायकस्य प्रवृत्तिभावात्, पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पसद्भावाच्च। समभिरूढैवम्भूताख्यद्वितीयतृतीयभेदात्मकशब्दनये 'णिव्वियप्पो य' निर्विकल्पश्च, द्रव्यार्थात्सामान्यलक्षणान्निर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वादुक्तद्वितीयभेदयोः, तथाहि समभिरूढस्य मते घटशब्दस्य योऽर्थः स न कुम्भकलशादिशब्दाना, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तभेदेन भिन्नभिन्न एवार्थः, सञ्ज्ञाभेदनियतार्थभेदाभ्युपगन्तृत्व समभिरूढत्वमिति लक्षणस्य सैद्धान्तिकैरुक्तत्वात्तेन नयेन सञ्ज्ञाभेदेनार्थभेदस्याभ्युपगमेन यत्र सञ्ज्ञाभेदस्तत्र व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयोज्यार्थभेदस्यावश्यम्भावात्। अत्रेदमवधेयम्—शब्दविषये शास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षोऽव्युत्पत्तिपक्षश्चेति पक्षद्वयमुररीकृतम्, अव्युत्पत्तिपक्षे सर्वे शब्दाः सिद्धा एव, नैषां व्युत्पादनाय शब्दशास्त्ररूपप्रयास आश्रयणीयो भवति। व्युत्पत्तिपक्षे तु सर्वे शब्दा धातुना व्युत्पादनीयाः, अतस्सङ्क्षेपेण तेषां व्युत्पत्तिसाधनाय व्याकरणनिरुक्तादिकं प्रवृत्तम्। अत एवाह—नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥१॥ इति। अस्यायमर्थः—निरुक्तनामके ग्रन्थे तद्रचयिता तथा स्वरचिते व्याकरणे शाकटायनः सर्वाणि नामानि प्रातिपदिकानि धातुजानि तत्तद्धातुभिः प्रकृतिभूतैः तान् तान् प्रत्ययागमानुबन्धादीन् कल्पयित्वा व्युत्पादितानि भवन्तीत्याह। एवञ्च येषां नाम्नां निरुक्ते व्याकरणे च व्युत्पादनं नास्ति तेषामपि नाम्नां व्युत्पादनमूहनीयमित्याशयेनाह—यन्नेत्यादि। यन्नाम निरुक्ते व्याकरणे च विशेषपदार्थेन प्रकृतिप्रत्ययविशेषेण समुत्थ व्युत्पादितं नास्ति तत् प्रत्ययतः प्रत्ययविशेषकल्पनया प्रकृतेः प्रकृतिविशेषकल्पनया अनुबन्धादिकल्पनया चोह्यं व्युत्पाद्यम्, अत एव "उणादयो बहुलं" इति सूत्रं प्राणायि पाणिनिना। संवदति चात्र।

" सञ्ज्ञास्तु धातुरूपाणि, प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनुबन्ध-मेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ १ ॥ " इति ।

व्युत्पत्तिपक्षश्च समभिरूढनयादिभिर्मत इति तस्मात्प्रवृत्तस्य नयो व्युत्पत्तिपक्षावलम्बी सर्वे शब्दाः क्रियानिमित्ताः, धातुजत्वात्, अत एव भिन्नार्थाः, निमित्तभेदादर्थभेदो यतः, इन्द्रशब्दादिवदित्यभ्युपगच्छति, एवञ्च तन्मते नैमित्तिकस्यैव शब्दाऽभ्युपगता। इन्द्रे पारिभाषिकशब्दस्यानर्थकस्याभावमिति वेदायममेव, किं हन्येति पूर्वकारेण। तदुक्तं तत्रार्थे "पारिभाषिकी नार्थवत्त्वं ब्रवीति, यदृच्छामात्रप्रवृत्तत्वात्" इति। तथा च येषां नाम्नां व्युत्पत्तिः शास्त्रे विशेषरूपेण न प्रदर्शिता तेषामपि अर्थानुसारेण प्रकृतिभूतान् धातून् प्रत्ययांश्च तत्र कार्यानुसारेण अनुबन्धादींश्च कल्पयित्वा साधनं कर्तव्यम्। तदेवं पर्यायशब्दानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदस्यावश्यमर्थभेद इत्यतो वर्तमानेनाभिन्नलिङ्गादिनाप्येकेनैव ध्वनिनाऽभिधीयमानोऽर्थः समभिरूढनये सम्प्रयुक्तो भवति, नान्येनेति। एवम्भूतनयमतेऽपि यद्यपि तत्तत्क्रियात्मकव्युत्पत्तिनिमित्तभेदान्नैमित्तिकेनाप्यर्थेन भिन्नेन भाव्यमिति घटकुटकुम्भादिशब्दा भिन्नार्था एव, घटनकुटनकुम्भनादिक्रियात्मकव्युत्पत्तिनिमित्तभेदात्, तथापि यदा कदा घटनक्रियायामपि घट एव, यदा कदा कुटनक्रियायामपि कुट एवेति विवक्षितक्रियामुपलक्षणीकृत्य तस्यां सत्यामसत्यां चोपलक्षणविधया तद्विशिष्टं विवक्षितशब्दार्थमभ्युपगच्छति समभिरूढनयः, एवम्भूतनयस्तु ततोऽपि सूक्ष्मेक्षिकापर्यालोचनतत्पर इति नैवमभ्युपगच्छति, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तीभूतवर्तमानक्रियाविशिष्टस्यैव तस्य तत्काल एव तद्विशिष्टमर्थं विवक्षितशब्दाभिधेयं मनुते, न त्वन्यदेति विवक्षितशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिकाल एव तद्वस्तु, न प्राक् पश्चाद्वा, यथाहि परमैश्वर्यानुभवनकाल एवेन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगकाल एव चोपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तरं तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, यथा तदुपरमात् पूर्वं तदभावात्, पूर्दारणकाले तदुपयोगे वा पुरन्दरः, अन्यदा पुरन्दरो न प्रतिक्षणातिक्रामित्वाद्वस्तुनः, यस्मिन् क्षणे योऽर्थोऽनाकारविज्ञानवादे ज्ञानार्थयोर्विषयविषयिभावसम्बन्धस्वीकारात् बुद्धिविषयः साकारविज्ञानवादे विषयविषयिभाव सम्बन्धो न, किन्त्वाकाराकारिभावसम्बन्धोऽभ्युपगत इति तेन सम्बन्धेन विज्ञानगतत्वमर्थस्येति बुद्धिस्थो वा तस्मिन्नेव क्षणे स शब्दार्थ इति तेन नयेन शब्दव्युत्पत्तिप्रतिपाद्य क्रियाकाल एव शब्दवाच्योऽर्थोऽभ्युपगतः। न तु सर्वदा अत एव पदवाच्यप्रवृत्तिनिमित्ताऽभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थमनाभ्युपगमपर एवम्भूतनय इति मनीषिणस्तमित्यर्थमाहुः, तथा च घटो नाम घटनाक्रियावत्पर्यायशब्दवाच्यः शब्दनये एकोऽस्त्येव, समभिरूढैवम्भूतयोर्नास्त्येवेति द्वौ भङ्गौ लभ्येते, लिङ्गसङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदेन शब्दनयो भिन्नभिन्नक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकशब्दभेदेन समभिरूढश्च पूर्वोक्तप्रकारेण भिन्नघटा-धिष्ठितक्रियाभेदेनैवम्भूतश्च भिन्नमर्थमभ्युपगच्छतीत्युक्तप्रकारेण भिन्नसार्थप्रैकशब्दावाच्य

त्वात्तेषु त्रिषु नयेषु स्यादवक्तव्य इति तृतीय भङ्गः । प्रथमद्वितीयभङ्गसंयोगे चतुर्थः, प्रथमद्वितीयचतुर्थेषु भङ्गेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमषष्ठसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति, अथवा प्रदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गी सङ्ग्रह–व्यवहार–ऋजुसूत्रेष्वेवार्थनयेषु भवतीत्याह—'एवं सत्तवियप्पो' इत्यादि । 'एवं सत्तवियप्पो' पूर्वनीत्या सप्तविकल्पः सप्तभेदः "वयणपहो होइ अत्थपज्जाए" वचनपथः वचनमार्गो भवति अर्थपर्याये, विषयस्य विषयिणि लक्षणया अर्थनये 'वंजणपज्जाए उण" व्यञ्जनपर्यायेऽत्रापि विषयस्य विषयिणि लक्षणया शब्दनये साम्प्रतसमभिरूढैवम्भूताख्यनयत्रयात्मके पुनः "सवियप्पो णिव्वियप्पो य" सविकल्पो निर्विकल्पश्च, आद्यद्वितीयावेव भङ्गौ भवत इति । एतत्तात्पर्यार्थश्चैवम्—अर्थनय एव सप्तभङ्गाः, शब्दादित्रिनयेषु त्वाद्यौ द्वावेव भङ्गौ, यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थः सङ्ग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्राख्यो मतिज्ञानात्मकः प्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः, अर्थवशेन तदुत्पत्तेः, अर्थप्ररूपणायां प्रवीणत्वेनार्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयति, शब्दं तु स्वप्रभवमुपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्प्रयोगस्य परार्थत्वात् । यस्तु श्रोतरि शब्दश्रवणादुद्गच्छति शब्द–समभिरूढ–एवम्भूताख्यः प्रत्ययः श्रुतज्ञानात्मकः शब्दवाच्यार्थगोचरः, तस्य शब्दः प्रधानम्, तद्वशेन तदुत्पत्तेः, अर्थस्तूपसर्जनम्, तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात् स शब्दनय उच्यते, तत्र च वचनमार्गः सविकल्प–निर्विकल्पतया द्विविधः, सविकल्पं सामान्यम्, निर्विकल्पः पर्यायः, तदभिधानाद्वचनमपि तथा व्यपदिश्यते । तत्र शब्दस्सञ्ज्ञाभेदेऽप्यभिन्नमर्थमङ्गीकरोति, समभिरूढश्च तदानीं पूर्वं पश्चाद्वा व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिभावेन विवक्षितार्थो विवक्षितशब्दवाच्य एवेति शब्दप्रतिपाद्यक्रियायां सत्यामसत्यामप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयतीति शब्दसमभिरूढाभिप्रायेण सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभङ्गकरूपः, सञ्ज्ञाक्रियाभेदेनाभिन्नार्थप्रतिपादकत्वेऽपि भेदजिज्ञासारूपविकल्पसाहित्यात्, एवम्भूतस्तु कालभेदेन क्रियाभेदाद् भिन्नमेवार्थं विवक्षितशब्दस्य प्रतिपादयति, यतो यदा घटते तदेवासौ घटः, न पुनरघटत घटिष्यते वा तदा घट इति व्यपदेष्टुं शक्यः, सर्ववस्तूनां घटताप्रसङ्गात्, तन्न घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटस्तद्व्यपदेशमासादयतीत्येतन्नयापेक्षया निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गकरूपो वचनमार्गः । तदुत्तरं भेदजिज्ञासारूपविकल्पविरहादिति भङ्गद्वयमेवावतिष्ठते, अवक्तव्यभङ्गकस्तु व्यञ्जननये न सम्भवत्येव, यतः शब्दश्रवणोद्भूतश्रोत्रभिप्रायो व्यञ्जननयः, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते, न शब्दाऽश्रवणात्, अवक्तव्यं त्वेकशब्देनोभयधर्मोपरक्तवस्तुविवक्षायामेकेन केनापि शब्देनैकदा न वाच्यमिति शब्दाप्रतिपाद्यत्वान्नाऽवक्तव्यभङ्गको व्यञ्जनपर्याये सम्भवतीत्यभिप्रायवता व्यञ्जनपर्याये तु सविकल्पनिर्विकल्पौ प्रथमद्वितीयावेव भङ्गावभिहितावाचार्येण । 'च' शब्दस्य गाथायामेवकारार्थत्वादिति ।

सप्तभङ्गीप्रकरणं समाप्तम् ॥

धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽर्थेऽनन्तधर्मात्मके,
या प्रश्नैर्विधिपर्युदासभिदया सा सप्तधा भाषया ।
यद्धर्माः किल सप्त सन्ति पुनरुक्तत्वादयपोहनात्,
सन्देहा अपि सप्त तद्विषयका नैयत्यतस्तद्भुवा ॥ १ ॥

जिज्ञासा अपि सप्त तत्र तदनु प्रश्नाश्च सप्त प्रति
पाद्यानां प्रतिपादकप्रतिवचांस्यप्यापि सप्तैव वै ।
इत्थं सागमयुक्तितो मितिनयापेक्षा प्रमात्वं गता,
तद्गर्भा प्रभुभारती विजयतां या मोहवाक्शुद्धिदा ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अथ नयनिमीलितन्यायेनेतरांशौदासीन्येनैकांशावगमादिसमर्थैकैकांशविषयाधीनप्रविकल्पसप्तभङ्गीस्वरूपं प्रतिपाद्य सप्तभङ्गीप्रवर्त्तकस्याद्वादिनयमूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मध्ये एकान्तपर्यायार्थिकनयवादं प्रदर्श्य तदप्रामाण्यं प्रदर्शयितुमाह—

जह दवियमप्पियं तं, तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स ।
ण य स समयपन्नवणा, पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यदर्थक्रियाकारि तदेव सत्, अर्थक्रियाकारि च वर्त्तमानक्षणवर्त्त्येव वस्त्विति तदेव सत्, तद्विषयिकैव प्रतीतिः प्रमाणमित्यभिमते तथा कारणभूतया 'जह दवियमप्पियं' यथा वर्त्तमानक्षणसम्बन्धित्वप्रकारेण, अग्रे तच्छब्दोपादानात् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यदित्यस्याहृत्य यद्द्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टं 'तं तहेव अत्थि त्ति' तथैवास्ति तद्द्रव्यं वर्त्तमानक्षणसम्बन्धित्वप्रकारेणैवास्ति, सत्स्वरूपतां बिभर्ति, नातीतानागतकालसम्बन्धित्वप्रकारेण, अतीतानागतकालसम्बन्धिनोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासद्रूपत्वादिति 'पज्जवणयस्स' पर्यायार्थिकनयस्य पर्यायार्थिकनयवादस्य एतदनन्तरं "अभिप्रायः" इति शेषः, एतदेकान्तपर्यायार्थिकनयवादमनन्तधर्मात्मकवस्तुगतैकधर्मप्रतीत्यजनकत्वाभावेन प्रमाणमिति ज्ञापनायानेकान्तवादी उत्तरार्द्धमाह—'ण य स समयपण्णवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा' न च स समयप्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, न इति प्रतिषेधे, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शकत्वात् स इत्यनेन पूर्वव्यावर्णितस्वरूपैकान्तपर्यायार्थिकनयवादः परामृश्यते, समयः सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयः, अर्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकर्षेण असंदिग्धाऽविपर्यस्तस्वरूपत्वेन ज्ञाप्यन्ते बोध्यन्ते बोद्धुजनाः विपरीतक्रियन्तेऽनया सा प्रज्ञापना, बोधगतप्रमात्वसम्पादकोपयोगनिबद्धप्ररूपणेति यावत्, एवम्भूता सा 'पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा' पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, अत्र मात्रपदस्येतरवारकत्वाद्द्रव्यनयनिरपेक्षे केवले पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला "सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते" इति वचनादध्याहृतायां 'सम्पद्यते' इति क्रियायां पूर्वोक्तस्योऽन्वयाच्च सम्पद्यते, न स पूर्वोक्तवादः बोधगतसम्यक्त्वप्रत्ययं कर्त्तुं शक्नोतीति न स यथा

स्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणात्मक इति यावत्। एकान्तपर्यायनयप्रतिपाद्यैकान्तक्षणिकतत्त्वस्य यत्र मे हर्षः प्रागभूत्तत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव पूर्वं हर्षवानासम्, संप्रति विषादादिमान् वर्त्ते नान्य इत्येवं हर्षविषादादिविचित्रप्रतिपत्त्या हर्षविषादादिपर्यायपूर्वोत्तरोक्ततत्तत्पर्यायानुगतात्मद्रव्याभ्यां भेदसंवलिताभेदविषयिकया बाधितत्वादिति। यद्वा 'स' इति एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः परामृश्यते, तस्याऽप्रमाणत्वे हेतुमाह–"ण य समयपण्णवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा" यतः समयप्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा न च सम्पद्यते, सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यत इति न्यायादध्याहृतायां सम्पद्यत इति क्रियायां पूर्वोक्तनञोऽभिसम्बन्धादित्यन्वयः, समयप्रज्ञापनेति–समयः सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयः–अर्थः, प्रज्ञापना–प्रकर्षेणासंदिग्धाविपर्यस्तस्वरूपेण ज्ञापना प्रज्ञापना यथार्थप्रत्यायनेतियावत्, समयस्य प्रज्ञापना समयप्रज्ञापना, पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णेति–अत्र मात्रपदस्येतरवारकत्वाद्द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षे केवले पर्यायार्थिकनये प्रतिपूर्णा सम्पूर्णेत्यर्थः। तथा चैकान्तपर्यायार्थिकनयवादो न प्रमाणात्मकः प्रतिपूर्णसमयप्रज्ञापनाऽनात्मकत्वात् एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तत्राप्रामाण्यं सिद्ध्यति। न चात्र हेतोरसिद्ध्या न तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः सम्यगर्थप्रत्ययजनकयथार्थप्ररूपणात्मको न, अध्यक्षबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तादृशप्ररूपणात्मकत्वाभावसिद्ध्या पूर्वोक्तहेतुसिद्धितः प्रामाण्याभावसिद्धेरिति भावः॥ ४२ ॥

अथैकान्तपर्यायार्थिकनयवाद इवैकान्तद्रव्यार्थिकनयवादोऽपि सम्यगर्थानुभवज्ञानाजनकत्वसाम्यान्न प्रमाणार्ह इत्युपदर्शयितुं प्राक्तदभिप्रायमाह—

पडिपुण्णजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिएण।
कुणइ य गुणपणिहाणं, अणागयसुहोवहाणत्थं॥ ४३ ॥

'पडिपुण्णजोव्वणगुणो' यौवनमेव गुणो यौवनगुणः प्रतिपूर्णः सम्पूर्णतां गतो यौवनगुणो यस्य स एवंविधः पुरुषः सद्गुरूपान्ते सद्धर्मश्रवणे जागृतविवेकः 'लज्जइ' लज्जते त्रपते, केनेति करणाकाङ्क्षायामाह 'बालभावचरिएण' बालभावचरितेन बालभावे बाल्यावस्थायां चरितेन, चौर्यपरदारगमनादिकमतिनिन्द्यं कृत्यमशुभकर्मवशीभूतोऽहं दुर्जनसङ्गत्या कृतवानिति स्मृतिविषयतां गतेन। अतो य एव बाल आसीत् स एव युवा, 'अहमेव पूर्वं चौर्याद्यनुष्ठितवान्' इति लज्जानिबन्धनाभेदप्रत्यभिज्ञानाद् बालयूनोरभेदसिद्धेः, 'जहा' यथा इत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः, ततो यथाऽतीतवर्त्तमानयोरेकत्वं साधितं, तथाऽनागतवर्त्तमानयोरेकत्वं साधयितुमुत्तरार्द्धमाह–'कुणइ य गुणपणिहाणं' चः पुनरर्थे, करोति गुणेषु धर्मविषयोत्साहवैराग्यादिषु प्रणिधानं मनोवाक्कायैकाग्र्यम्, तत्किमर्थमित्यत आह–'अणागयसुहोवहाणत्थं' अनागतं भावि यत्सुखं तस्योपधानार्थं प्राप्त्य-

धेय, अभिधानं हि भाविसुखैककारणं क्रियासाध्यमेतीष्टसाधनत्वज्ञानात्क्रियासाध्यत्वज्ञानाच्च भाविसुखप्राप्त्यर्थं अभिधानानुकूलकृतिमान् भवति, तथा च य एव अभिधानकर्ता स एव भाविसुखप्राप्तिमानित्यभेदप्रतिसन्धानाद्वर्तमानानागतयोरैक्यं सिद्धमिति ॥ ४३ ॥

कालत्रयावच्छिन्नाभिमतवस्तुप्रतिपादितमेकान्तत्रय्यार्पितत्वपमतप्ररूपणा प्रवृत्तं सा अपि न यथावस्थितार्थानुभवज्ञानजनिकेति न परिपूर्णेति प्रतिपादयितुमाह—

ण य होइ जोव्वणत्थो, बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुण-पसाहणं जुज्जइ विभत्ते ॥ ४४ ॥

'ण य होइ जोव्वणत्थो बालो' न च भवति यौवनस्थो बालः, बाल एव यूनो भावो यौवनं तस्मिन् तिष्ठतीति यौवनस्थो न च भवति, किन्तु कथञ्चित्ततो भिन्न एव स भवति, अन्यथा "अयमिदानीं युवा, न बालः" इति भेदप्रतिभासोऽप्रामाणिकः स्यात्, न च बालस्वभावापरित्यागे युवस्वभावपरिग्रहोऽपि सम्भवति, उत्तरस्वभावे पूर्वस्वभावपरित्यागस्य हेतुत्वात्, एतेन प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो बालभावसंस्कारसमीपानुज्ञानस्मरणा-त्मकत्व इत्यतो बाल एव युवा, न तु ततो भिन्नस्स इति बालयूनोः पूर्वोक्तैकान्ताभेदो निरस्तः, नन्वेवं तर्हि युवत्वकाले पुनि बालत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकभेद एवैकान्तोऽस्तु 'इदानीं युवा न बाल इति प्रतीतेः' इत्याशङ्कायामाह—"अण्णो वि लज्जइ ण तेण" अन्योऽपि लज्जते न तेन बालचरितेन, पुरुषान्तरवत्, अयम्भावः—बालयूनोरेकान्तभेदस्वीकारे बालावस्थायामशुचिविधुराचरणः पुमान् पूर्वमहमसभ्यमोपदर्शनसमर्थादिव्यवहारं कृतवानिति स्मरणतः तस्यामवस्थायां लज्जां न प्राप्नुयात्, पुरुषान्तरवत्, लज्जां च प्राप्नोति, तस्माद्यौवनस्थः पुरुषः कथञ्चिद्बालादनन्योऽपीत्यभ्युपगन्तव्यम् । ननु केन रूपेण बालयूनोः स्यादवस्थयोरभेदोऽस्तीति चेत्, उच्यते, बालत्वेन युवत्वेन भेदः, 'इदानीं युवाऽहं न बाल' इति तदवस्थयोर्भेदप्रतीतेः, 'य एवाहं बालोऽभवं स एवाहं साम्प्रतं युवाऽस्मि' इति तदवस्था-नुगतात्माऽभेदप्रत्यभिज्ञानादात्मत्वेन रूपेण चाभेद इति जानीहि, बालयुवत्वावस्थाऽनु-गतधर्म्यनभ्युपगमे तु बालयुवत्वावस्थाया अप्यभावप्रसङ्गः स्यात्, धर्म्यभावे तद्धर्मा-भ्युपगमात्, न हि सर्पाभावे कुण्डलावस्थायाः सम्भवोऽस्तीति । यत्तु आत्मा बालाद्य-वस्थाभेदात् निवर्तते, भिद्यते वा, निरवयवत्वात्तस्य, अपि तु बालादयः शरीरस्यैव भावाविशेषावस्था इति शरीरमेव तदवस्थाभेदेन निवर्तते भिद्यते वा, परिमाणभेदेन तदुत्पत्तिशरीरभेदादिति नैयायिकादीनां मतम्, तदप्यसत्, 'अहं बालः अहं युवा' इत्यादि प्रतीत्या बालत्वाद्यवस्थानामहन्त्वसामानाधिकरण्यस्य सिद्धत्वादात्मन एव बालत्वाद्यवस्थाः, न तु शरीरस्य, प्राग् 'बालोऽहमासम्, इदानीं युवाऽस्मि' इत्याद्यनुभवादेकतावस्थस्यात्मनोऽनुपचरितस्वस्वरूपेणाभिन्नस्यापि वर्तमानबाल्ययौवनाद्यनुगतावस्थाभेदेन भिन्नत्वात्, अत

एव पूर्वावस्थारूपेण विनाशेनोत्तरावस्थारूपेणोत्पादेनात्मत्वेन रूपेण ध्रौव्येण च विनाशोत्पादध्रौव्यात्मकस्य तस्य सिद्धिः। न च गौरोऽहमित्यादिप्रतीतौ गौरत्वांशे भ्रान्तत्वमिव बालोऽहमित्यादिप्रतीतौ बालत्वांशे भ्रान्तत्वमेवेति वाच्यम्, तत्र भ्रान्तत्वकल्पनायां बीजाभावात्। आत्मन्येव बाल्यादितत्तदवस्थानामबाधितानुभवसिद्धत्वात्, यत आत्मनश्शरीरपरिमाणनियतपरिमाणवत्तया पूर्वं व्यवस्थापितत्वेनाहारादिपुद्गलोपचयापचयप्रयोज्यशरीरपरिमाणभेदे शरीरसंयुक्तात्मपरिमाणभेदोऽप्यवश्यंभावी, परिमाणभेदे च तद्वतोऽपि कथञ्चिद्भेदः, स एव च बाल्याद्यवस्थात्मकः, तत्तत्परिमाणावच्छिन्नात्मन एव बाल्ययुवत्वाद्यवस्थारूपत्वात्, गौरोऽहमिति प्रतीतिरपि दृष्टान्तीकृता न गौरत्वांशे भ्रान्ता, आभवक्षयं कथञ्चिन्मिथः प्रदेशानुप्रविष्टशरीरात्मनोः कथञ्चिदभेदेन तदाश्रितरूपादिज्ञानादीनामन्योन्यानुप्रवेशेनात्मन्यपि कथञ्चिद् गौरत्वस्य सत्त्वात्। ननु स्वस्वभावतो नीरूपे आत्मनि गौरत्वस्य शरीरसम्बन्धोपाधिप्रयुक्तत्वात्तदंशे सा प्रतीतिः काल्पनिक्येवेति चेत्, तर्हि कुण्डलित्वस्य कुण्डलसम्बन्धोपाधिप्रयुक्तत्वात् कुण्डली चैत्र इति प्रतीतिरपि तदंशे प्रामाणिकी न स्यात्। वस्तुतस्तु आत्मा नैकान्तनित्यः, पूर्वं तत्पक्षस्य निरस्तत्वात्, किन्तु कथञ्चिदेव, अत एवात्मनोऽसंख्येयप्रदेशमयत्वेन तत्प्रदेशसङ्कोचविकाशाभ्यां शरीरपरिमाणवृद्धिहानिवच्छरीरसंयुक्तात्मपरिमाणस्यापि वृद्धिहानी इति तप्ताऽयोगोलके परस्परप्रदेशानुप्रविष्टवह्न्ययसोरिव मिथः प्रदेशानुषक्तशरीरात्मनोरप्येकलोलीभाव इति तद्रूपेण तन्वभिन्नस्याऽऽत्मनोऽपि बालाद्यवस्था अभ्युपगन्तव्या एव। एवञ्चातीतवर्त्तमानयोः कथञ्चिद्भेदाभेदसिद्धौ तद्वद्वर्त्तमानानागतयोरपि कथञ्चिद्भेदाभेदावेवाभ्युपगन्तव्याविति साधयितुमुत्तरार्द्धमाह 'ण वि य अणागयवयगुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते' नाऽपि च अनागतवयोगुणप्रसाधनं युज्यते अविभक्ते। अनागतं वयः अनागतवयः तस्मिन्, भाविवृद्धावस्थायामित्यर्थः, गुणः सुखात्मकोऽनागतवयोगुणः, तस्य प्रसाधनं कारणे कार्योपचारात् प्रसाधनार्थमुत्साहः, तथा च नापि चानागतवृद्धावस्थाया सुखप्रसाधनार्थमुत्साहो यौवनस्थस्य युज्यते, कस्मिन् सति इत्यत आह—'विभत्ते' अत्राकारप्रश्लेषादविभक्ते वर्त्तमानानागतयोरभेदे सति, अभेदपक्षे ह्यनागतवृद्धत्वावस्थाया अपि वर्त्तमानयुवत्वावस्थारूपत्वेन प्राप्तव्यसुखादेर्युवत्वावस्थायामेव प्राप्तत्वादिति। तस्मान्नाभेदैकरूपं वस्तु, इदानीमयं युवा न वृद्ध इत्याकारकभेदव्यवहृतिप्रतिभासबाधितत्वात्। नन्वेवन्तर्ह्येकान्तभेद एवास्त्वित्यारेकानिरासार्थं 'विभत्ते' इत्यस्य विभक्ते एकान्तभेदे इत्यप्यर्थोऽत्र कर्त्तव्यः, तथा च यूनि वृद्धस्यैकान्तभेदे प्राप्तव्यसुखार्थमुत्साहो न युज्येत, यज्ञदत्तीयानागतसुखप्रसाधनार्थं देवदत्ते उत्साहादर्शनात्, एवञ्चातीतवर्त्तमानयोरिव वर्त्तमानानागतयोरप्यनुगतात्मत्वस्वरूपेणाभेदः, तत्तदवस्थाभेदेन च भेदोऽनुगतव्यावृत्तप्रतीतितस्सिद्ध इति कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकमेव तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिस्स्यादिति ॥ ४४ ॥

एवं कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य पुरुषवस्तुनः तथा बालादिकालरूपातीतानागताद्यवस्थाविशेषैः कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य तस्य बाल्यादिभिर्बालादिभावैश्च सम्बन्ध इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसंहारार्थमाह—

जाइ-कुल-रूव-लक्खण,-सण्णा-सम्बन्धओ अहिगयस्स ।
बालाइभावदिट्ठ,-विगयस्स जह तस्स संबंधो ॥ ४५ ॥

जाति-कुल-रूप-लक्षण-संज्ञा-सम्बन्धतोऽधिगतस्य, तत्र जातिः पुरुषत्वादिका, कुलं प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम्, रूपं चक्षुर्ग्राह्यस्वलक्षणम्, लक्षणं तिलकरेखादि शुभाशुभादि सूचकम्, संज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम्, एभिर्यः सम्बन्धस्तदात्मपरिणामः, 'संबंधओ' इत्यत्र सम्बन्धपदोत्तरं तृतीयार्थे तसिल्, तथा च जन्मत आरभ्य मरणपर्यन्ताऽवस्थायि भिर्जात्यादिभिर्यः सम्बन्धः तेन, चक्षुषाऽभिमतो घट इत्यत्र यथा चक्षुराभिरूप ज्ञातो घट इत्यर्थस्तथाऽत्रापि सम्बन्धमाश्रित्येत्यर्थः 'अहिगयस्स' अधिगतस्य ज्ञातस्य, बाल्यादिभिः सर्वदा पुरुषस्य सम्बन्धमात्राभ्युपगमात्मकत्वेनाऽभिज्ञानमात्रविषयस्य, यद्वा 'संबंधओ' अत्र तृतीयार्थे बहुत्ववाचकस्तसिल् प्रत्ययः, सम्बन्धपदात्र जन्यजनकभावः, तथा च जाति कुलरूपलक्षणसंज्ञासम्बन्धैः 'अहिगयस्स' अभेदप्रत्यभिज्ञानविषयस्य, जन्मादिमरणपर्यन्तं न कदापि बाल्यादिस्वभावान् पुरुषः परित्यजतीति तद्रूपैरभिन्नस्वभावस्येति यावत्। एतेना भेदं प्रतिपाद्य भेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—'बालाइभावदिट्ठविगयस्स' इत्यादि, बालादि भावदृष्टविगतस्य, बालादिभावैर्दृष्टैः प्रत्यक्षगोचरैर्विगतस्य ध्वस्तस्य पूर्वबालादिपर्यायेण ध्वंसे सति तत्स्थानान्तरभाविकुमारत्वाद्यवस्थायुवादिपर्यायोत्पाद इति बालयुवादिभावै र्विनाशोत्पादात्मकस्य, पूर्वोक्तबाल्यादिभिरभिन्नस्यापि बालयुवादितत्पर्यायरूपेण पुरुषस्य भेदप्रतीतेर्भिन्नस्वभावस्य 'जह तस्स संबंधो' यथा तस्य पुरुषस्य सम्बन्धः तत्प्रकारेण भेदाभेदपरिणतिरूपः, बाल्याद्यवस्थातोऽनुगताव्यावृत्तस्वरूपतया भेदाभेदात्मकस्सम्मती तैरिति ॥ ४५ ॥

आध्यात्मिकाध्यवसायोऽपि यथाप्रतीतिस्तथाभूतमेव तदस्तित्वति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोप-संहारद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तेहिं अतीताणागय,-दोसगुणदुगुंछणब्भुवगमेहिं ।
तह बंध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स ॥ ४६ ॥

'तेहिं' ताभ्याम् 'अतीताणागयदोसगुणदुगुंछणब्भुवगमेहिं' अतीतानागतदोषगुणजुगुप्साऽभ्युपगमाभ्यां यथाऽतीतदोषजुगुप्साऽनागतगुणाभ्युपगमाभ्यां कथञ्चि द्भेदाभेदात्मकस्य पुरुषद्रव्यस्य सिद्धिः तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि "तह बंध-मोक्ख-सुह-

दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स" बन्धमोक्षसुखदुःखप्रार्थना तत्साधनोपादानपरित्यागद्वारेण बालयुवाद्यात्मकपुरुषद्रव्यदृष्टान्तसिद्धकथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, तथाहि-य एवाहं पूर्वं बद्धस्स एवाहं साम्प्रतं मुक्त इत्यबाधितबन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुभवाद् य एवात्मा बद्धस्स एवात्मा मुच्यते इत्येकस्यैवात्मनो पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन बन्धमोक्षौ भवत इति बद्धावस्थामुक्तावस्थानुगतस्वस्वरूपेण तस्याऽभेदः, इदानीं संसारकारागारे मायावंशजालीबद्धोऽहं न ततो मुक्तः, यद्वा इदानीं मुक्तोऽहं न रागद्वेषपरिणतिरज्जुबद्ध इत्यबाधितप्रतीतेर्बद्धत्वेन मुक्तत्वेन च तस्य भेदः, एवं य एवाहं पूर्वं दुःख्यभूवं स एवाहमिदानीं सुखी सञ्जात इत्यबाधितसुखदुःखसामानाधिकरण्यप्रतीतिबलादहम्पद-वाच्यस्यात्मनो सुखदुःखावस्थानुगतस्यात्मत्वस्वरूपेणाभेदः, इदानीमहं दुःखी न तु सुखी, यद्वाऽधुना सुख्यहं न तु दुःखीत्यबाधितप्रत्ययात्, यद्वा संसारसुखमपि मधुलिप्तखड्गधाराऽऽस्वादनजन्यसुखमिवायत्यां दुःखजनकत्वाद् दुःखमेवेति संसारे दुःख्ये-वाहं न तु सुखीत्यबाधितप्रत्ययाच्च, तस्य सुखित्वेन दुःखित्वेन च भेद इत्येवं कथ-ञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य जीवद्रव्यस्य संसारकारावासात्मकभावबन्धो हेयः, अनल्पदुःख-हेतुत्वाद्, द्रव्यकारावासबन्धवदित्यनुमानसिद्धहेयभावस्य बन्धस्य तत्साधनपरित्याग-द्वारेण संसारकारावासतो मुक्तिरुपादेया, अनल्पसुखहेतुत्वाद्, द्रव्यकारावासमुक्तिवदित्य-नुमानसिद्धोपादेयभावस्य मोक्षस्य च तत्साधनोपादानद्वारेण संसारबन्धो मे त्रुट्यतु मुक्तिश्च जायतामित्याकारिका प्रार्थना सुखं मे भूयात् दुःखं च मा भूदित्याकारिका सुख-साधनोपादानद्वारा सुखस्य दुःखसाधनपरित्यागद्वारा दुःखस्य च सा भवति। न च जीवस्यैव पूर्वोत्तरभवानुभवितुरभावात्तद्बन्धाभावेन ततस्तन्मुक्तेरप्यभाव इति वाच्यम्, "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति सत्त्वान्यथानुपपत्त्योत्पादादित्रयात्मकस्य तस्यानाद्य-नन्तस्य सिद्धेः, तथाहि-अहं यते, जानाम्यहमित्यादिप्रत्ययादात्मसिद्धिः, न चाहम्पदवाच्यो देह इति वाच्यम्, मृतदेहवद्देहत्वभूतत्वमूर्त्तत्वरूपादिमत्त्वादिना देहस्याऽचेतनत्वाद्, न च भूतसमुदायपर्यवसित चैतन्यं, प्रतिदिनं तस्यान्याऽन्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्याऽस्मरण-प्रसङ्गात्, नापि प्रत्येकपर्यवसितम्, करचरणाद्यवयवविगमे तदनुभूतस्य स्मरणाऽयोगात्, देहस्यैव चैतन्ये च बालस्य स्तन्यपानादौ प्रथमप्रवृत्त्यऽभावप्रसङ्गस्स्यात्, प्रवृत्ति प्रतीष्ट-साधनत्वज्ञानस्य कारणीभूतस्याभावात्, इह जन्मन्यननुभूतस्येष्टसाधनत्वस्य स्मरणाऽ-योगात्, जन्मान्तरानुभूतस्य च तस्यानुभवितरि भस्मसाद्भूते सत्यन्येनाऽस्मरणात्। अथोक्तकार्यकारणभावस्यैवाभाव इति न च वाच्यम्, अनुभवादीना प्रवृत्त्यन्तानां कार्य-कारणभावस्येहैव जन्मनि निश्चितत्वात्, कारणाभावे कार्याभावस्य सुलभत्वात्, अन्यथा तु तद्व्यवस्थैव न स्यात्, न चाहम्पदवाच्यानीन्द्रियाण्येवेति वाच्यम्, तेषामप्युक्तयुक्त्याऽ-चेतनत्वेनैव सिद्धेः, किञ्च योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामीत्येककर्तृकघटचाक्षुषस्पार्शना-

भवतस्य चक्षुरादावसम्भवात्तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः न च मनोऽप्यहंपदवाच्यम्, तस्य चक्षुरादिवत् करणत्वेनैवानुमानात्सिद्धेः, ननु पूर्वभवानुभवोत्तरभवस्मरणयोरेककर्तृकत्वेन परलोकात्मसिद्धिर्भवतु, तत्पूर्वतरभवे तु कथं तत्सिद्धिरिति चेत्, उच्यते, पूर्वजन्मन्यपि प्रथमप्रवृत्त्यनुरोधेन तत्पूर्वस्य एवं तत्पूर्वस्य जन्मनस्सिद्धेर्वीतरागजन्मादर्शनन्यायेना नादित्वेनैव तस्य सिद्धिः, अनादित्वे च सिद्धे आत्मा अनन्तः अनादिभावत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घट इत्यनुमानेनानन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तत्वसिद्धिरिति । एवञ्चात्मा पूर्वमेव साधितमिति किं पिष्टपेषणेन ? मन्वात्मनोऽनाद्यनन्तत्वसिद्धया स्थैर्यमेव सिद्धं स्यात्, न तूत्पादव्ययाविति चेत्, मैवम्, य एवाहं पूर्वं मनुष्यादिरूपेणासं स एवाहं देवरूपेणोत्पन्न इत्यबाधितप्रतीत्यैवोत्पादादित्रयात्मकत्वेन सिद्धेः, न च मनुष्यदेवाद्यवस्थाः शरीरस्यैव न त्वात्मन इति नोक्तं युक्तमिति वाच्यम्, यतो मनुष्याद्यवस्थाश्रयोऽन्यो गुणविशेष आत्मनि घटेत, एतत्पक्षः पूर्वमेव निरस्त इति ग्रन्थगौरवभीत्या नाभिधीयते इति ॥ ४६ ॥

अथ कर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढस्य जीवस्य कार्मणशरीरस्य चात्मत्वेन शरीरत्वेन स्वस्वगतासाधारणधर्मेण भेद इव जीवकर्मप्रदेशयोरविभक्तत्वात्तद्रूपेणासाधारणधर्मेणाऽभेदोऽपीति प्रतिपादयितुं यथाऽविभक्तत्वं तयोस्तथा तत् सदृष्टान्तमाह—

अण्णोण्णाणुगयाणं, इमं व तं व त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं, जावंत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

" अण्णोण्णाणुगयाणं " अन्योन्यानुगतयोरेकक्षोलीभावेन परस्परानुप्रविष्टप्रदेशयो रात्मकर्मणोः " इमं व तं व त्ति " इदं वा तद्वा ' इति—' इदं कर्म अयमात्मा ' इति ' विभयणमजुत्तं—विभजनं पृथक्करणं, अयुक्तम् अघटमानकम्, तयोः पृथक्कर्तुमशक्यत्वात्, न हि दृष्टान्तं विना दार्ष्टान्तिकसिद्धिर्भवितुमर्हतीति तत्साधनार्थं तत्र दृष्टान्तमाह—' जह दुद्ध-पाणियाणं ' यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः किं परिमाणोऽयमविभागो जीवकर्मप्रदेशयोरित्याशङ्कायां तत्परिमाणमाह—' जावंत विसेसपज्जाया ' यावन्तो विशेषपर्यायाः—तावानिति शेषः, यावन्तो विशेषपर्यायास्तावत्सु अयमात्मा इदं कर्म इति विभजनं कर्तुमशक्यत्वादघटमानकम्, अयम्भावः—" एगमेगेणं जीवस्स पएसे अणंतेहिं णाणावरणिज्जपोग्गलेहिं आवेढिए परिवेढिए " इत्यागमवचनात् वह्नितप्तायःपिण्डवत् सर्वात्मप्रदेशैस्सह कर्मसम्बन्धः, न तु सर्पकञ्चुकवत् बहिस्त्वक्पर्यन्तमात्रवर्तिप्रदेशमात्रेण सहैवात्मकर्मणोः प्रतिप्रदेशमन्योन्यानुस्यूतत्वादन्यप्रदेशमभिव्याप्याऽविभागः, न चैवं तर्हि तद्विभागो न स्यादिति वाच्यम्, यतो हंसेन स्वचञ्च्वा क्रियमाणक्षीरनीरविवेकवज्जीवेन निकृष्टतपस्या मानुभवश्च्या सोऽपि कर्तुं शक्यत एवेति । तावत्पर्यन्तमेवाऽविभाग इति नियमने को हेतुरिति चेत्, उच्यते, अन्त्यविशेषपर्यन्ता एव सर्वविशेषाः, अन्त्य इति विशेषणान्यथानुपपत्तेः, इतराण्यापर्यन्तत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

ननु जीवकर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशे सति तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेशस्स्यादित्यात्मगतज्ञानादयो देहे स्युः देहगतरूपादयोऽप्यात्मनीति चेत्, तथास्तु का नाम नः क्षतिः, सिद्धान्ते तथैवाभ्युपगमात् । तदेवाऽऽह—

रूवाइपज्जवा जे, देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया, पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ॥ ४८ ॥

"रूवाइपज्जवा जे" रूपादिपर्याया ये, आदिपदेन रसगन्धस्पर्शादयो ग्राह्याः, 'देहे' शरीरे तदाश्रिता इति यावत्, ये च 'जीवदवियम्मि सुद्धम्मि' जीवद्रव्ये शुद्धे—आत्मत्वरूपेणात्मद्रव्ये शुद्धे, वस्तुगत्याऽऽत्मा नीरूप इत्यतो रूपाद्यविशिष्टे, तदाश्रिता इति यावत्, ज्ञानादयो गुणाः 'ते अण्णोण्णाणुगया' ते अन्योऽन्यानुगताः, देहवर्तिरूपादयो देहाभिन्नत्वादात्मनि आत्मगतज्ञानादयो जीवाऽभिन्नत्वाद्देहे 'पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि' प्रज्ञापनीया भवस्थे-संसारिणि, 'गौरोऽहं जानामि' इत्यादिधियस्तथैवोपपत्तेः, तस्यां प्रामाण्यनिश्चयस्य तु प्रागेव कृतत्वादिह नाधिकं तन्यते। तदेवं न ह्यूर्ध्वगतिस्वभावस्य तुम्बिकादेर्मृदादिसम्बन्धव्यतिरेकेण समुद्रेऽधोगमनं दृष्टमित्यतः पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्ध्वगतिस्वभावस्यात्मनोऽन्यदिग्गमनासम्भवेन भवान्तरे स्थूलशरीरसम्बन्धित्वं न स्यादिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या स्थूलशरीरसम्बन्धप्रयोजकतया पौद्गलिककार्मणाख्यसूक्ष्मशरीरस्यान्तरालेऽप्यभ्युपगन्तव्यत्वेनात्मकर्मप्रदेशयोरन्योन्यानुगमात्तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेश आभवक्षयं सिद्ध इति । यद्वा 'भवत्थम्मि' इत्यत्राकारप्रश्लेषादभवस्थे, असंसारिणि, न च संसारावस्थायां देहात्मनोरन्योन्यानुबन्धाद्भवतु देहे चैतन्यादिमत्त्वम्, आत्मनि च रूपादिमत्त्वम्, सिद्धावस्थाया तु कथं तत्प्राञ्जैर्मान्यम्, तत्र देहाभावेनान्योन्यानुप्रवेशाऽभावात्तयोरिति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाद्याश्रितरूपादिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शनपर्यायद्वारेणात्मनस्तथाविधत्वात्तथाव्यपदेशसम्भवात् । अयम्भावः—तत्र शरीरस्याभावेऽपि कथञ्चिद्भेदाभेदस्य सम्बन्धव्यापकत्वेन ज्ञानज्ञेययोरपि विषयविषयिभावसम्बन्धव्यापकः कथञ्चिद्भेदाभेद एवेति मुक्तात्मगतज्ञानदर्शनयोर्देहाश्रितरूपादिविषयकत्वेन कथञ्चिद्रूपाभिन्नत्वम्, तथा च तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन रूपाद्यभिन्नज्ञानाभिन्ने मुक्तात्मनि रूपाद्यभिन्नत्वेन रूपादिमत्त्वमपि ज्ञानाद्यभिन्नाद्विषयीभूताद्रूपादेरभिन्ने देहे ज्ञानादिमत्त्वमपि च सम्भवत्येव । अत एव देहात्मनो रूपादिज्ञानादीनाञ्चान्योन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्वं मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वञ्च सिद्धिकोटिमुपढौकत इति ॥ ४८ ॥

आत्मन एकत्वानेकत्वप्रसाधनायैवाह—

एवं एगे आया, एगे दंडे य होइ किरिया य ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ॥ ४९ ॥

'एवं' अनन्तरोदितप्रकारेण 'एगे आया' एक आत्मा, यस्मिन् येषामनुप्रवेशस्ते तदात्मका एवेति व्याप्तेर्मनो-वाक्-कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशान्मनःप्रभृतयः आत्मस्वरूपा एव न तद्व्यतिरिक्तास्त इत्येक आत्मा, अत एव दण्डादीनामेकत्वमाह "एगे दंडे य होइ किरिया य" एको दण्ड एका क्रिया च भवति, मनोवाक्कायेषु दण्डक्रियाशब्दौ प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयौ, मनोदण्ड-वचनदण्ड-कायदण्डभेदेन त्रिविधस्यापि दण्डस्य, मनःक्रिया-वाक्क्रिया-कायक्रियाभेदेन च त्रिविधाया अपि क्रियाया एकात्माऽभिन्नत्वादेको दण्डः, एका च क्रिया भवति। अत एव स्थानाङ्गस्य तृतीयाङ्गत्वस्थाने "एगे आया (सू० २) एगे दंडे (सू० ३) एगा किरिया (सू० ३) इत्यादिसूत्रोक्तमपि सङ्गच्छते। आत्मन एकत्वं प्रतिपाद्यानेकत्वप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह–"करणविसेसेण य तिविहजोग सिद्धी वि अविरुद्धा" इति, करणविशेषेण च मनो-वाक्-कायात्मककरणत्रयेण सह कथञ्चिदभिन्नत्वात्तदंशभूतस्यात्मनोऽपि त्रिविधयोगरूपत्वात् त्रिविधयोगसिद्धिरप्यात्मनो अविरुद्धैव, तत एकस्य सतस्तस्य त्रिविधयोगात्मकत्वादनेकत्वमित्यात्मा नैकान्तैकस्वरूपः किन्त्वेकानेकात्मकत्वादनेकान्तस्वरूप एवेति सिद्धम् ॥ ४९ ॥

नन्वेवमात्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादेकात्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभावः प्रसज्येत, ओमिति चेत्, तर्हि अन्तर्हर्षविषादाद्यनेकविवर्तात्मकमेकं चैतन्यम्, बहिर्बाल-कुमार-यौवनाद्यनेकावस्थात्मकमेकं शरीरमप्यतः संवेद्यत इत्यस्य विरोधस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, न च युक्तम्, आत्मभिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां तदभावेऽपि मानसत्वामानसत्वाभ्यां तद्व्यपदेशात्, तदाह—

ण य बाहिरओ भावो, अब्भंतरओ य अत्थि समयम्मि ।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतरविसेसो ॥ ५० ॥

पूर्वार्द्धस्यायमर्थः—सर्वस्यैव मूर्त्ताऽमूर्त्तादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वान्न च बाह्यो भावः, अभ्यन्तरश्च अस्ति समये, अयं बाह्यः, अयमाभ्यन्तर इति जैनसिद्धान्ते वास्तविकविभागाभावात्। नन्वेवं तर्हि किं प्रतीत्याऽभ्यन्तर इति व्यपदेश इत्याशङ्कायां तद्विषयार्थं उत्तरार्द्धमाह–'णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतरविसेसो" इति, 'अब्भंतरो भावो' इत्यप्यत्र पाठः 'णोइंदियं पुण पडुच्च'–नोइन्द्रियं मनः पुनः प्रतीत्य 'होइ' भवति "अब्भंतरविसेसो" अभ्यन्तरविशेषः, अयमभ्यन्तरो भाव इति व्यपदेशः, तस्यात्मपरिणतिरूपस्य पराऽप्रत्यक्षत्वात्, अस्यायमभिप्रायः–भावमनस उपयोगरूपमनसोऽन्यापारलक्षणत्वेन तस्य चात्मपरिणतिरूपत्वेन तद्रूपे अन्तर्हर्ष-विषादाद्यनेकविवर्तात्मकचैतन्ये द्रव्यमनोऽवलम्बनप्रत्यक्षरूपस्वसंवेदनविषयत्वेनाभ्यन्तरव्यपदेशः, तद्भिन्ने तु बाल-कुमाराद्यवस्थात्मकदेहादौ चाक्षुषेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वात् बाह्यव्यपदेश इति पदार्थस्वभावक मूर्त्तामूर्त्तोभयरूपत्वस्याद्वैतमतेऽपि बाह्याभ्यन्तरविभागो नानुपपन्न इति। अत्रेदं चिन्त्यम्–

यद्यन्मूर्त्तं तत्तदुत्पद्यते,घटवत्,मूर्त्तश्चात्माऽभ्युपगतस्स्याद्वादिभिः,तत उत्पन्नस्स्यादिति चेत्, मैवम्, तथाव्याप्तेरभावात्, मनस्येव व्यभिचारात्। एतेन मूर्त्तत्वादात्मा सावयवस्स्यात्, ओमिति चेत्तर्हि घटवत्तस्य विनाशस्स्यादित्यारेकापि निरस्ता, मनसो मूर्त्तत्वेऽपि सावयवत्वाभावात्। किञ्चाष्टकर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च भवस्थात्मनो मूर्त्तत्वं, तेन च सावयवत्वमभ्युपगतं स्याद्वादिभिः, न तु स्वरूपत इति शरीरानुगतात्मस्वरूपेणैवोत्पत्तिस्त न्नियतविनाशश्चापादनीयस्स्यात्, न तु शुद्धात्मत्वस्वरूपेण, तद्रूपेणामूर्त्तत्वाभ्युपगमात्, तथा च शरीरानुप्रवेशप्रयुक्तात्मीयबालकुमाराद्यात्मकपूर्वोत्तरपर्यायाभ्यामुत्पत्तिविनाशावभ्युपगम्येते एवेत्युक्तप्रसङ्गौ तदाभासावेव। एतेन देहात्मनोर्मिथोऽनुप्रवेशे तनुवदात्मनस्सावयवत्वं स्यादित्यापादनमपि कथञ्चिदिष्टापत्त्या निरस्तम्। अत एव देहवदेवात्मनस्सावयवत्वेन कार्यत्वापत्तिरपि निरस्ता, प्रागसतः सत्तालाभरूपस्य कार्यत्वस्य त्रिकालानुगते शुद्धात्मद्रव्येऽसम्भवात्, तत्तद्बालकुमाराद्यवस्थाविशिष्टात्मनि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानरूपस्य तत्तत्पर्यायनियतस्य च तस्याऽविरोधात्, न च सावयवत्वे तस्य प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिरित्यपि वाच्यम्, तथा व्याप्त्यसिद्धेः, घटादौ व्यभिचारात्, मृत्पिण्डात्कपालिकानिष्पत्तिः, ततः कपालनिष्पत्तिः, ततः कपालद्वयसंयोगाद् घटोत्पत्तिरिति नैयायिकप्रक्रिया न प्रामाणिकी, यत उक्तक्रममन्तरेणैव मृत्पिण्डात्संस्थानविशेषरूपेण परिणतात् कपालद्वयसंयुक्तावस्थात्मकस्य घटस्योत्पत्तिस्साक्षाद् दृश्यते, अर्थात् मृद्द्रव्यमेव मृत्पिण्डपर्यायं पूर्वतनं परित्यज्योत्तरघटपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामवाद एव प्रमाणकोटिमुपढौकते। अत एव सूच्यग्रेण त्रिचतुःपरमाणूनां विश्लेषो यत्र तत्राशेषावयवविशिष्टपर्यायं त्यक्त्वाऽवशिष्टावयवविशिष्टपर्यायतयैवोर्ध्वतासामान्यात्मकघटस्य परिणमनं भवति, न तु तत्रावयवविभागपूर्वकद्रव्यारम्भकसंयोगनाशाद् द्व्यणुकादिनाशक्रमेण घटस्य नाशः। तदनन्तरं पुनरपि परमाणुक्रियादिक्रमेण द्व्यणुकाद्युत्पत्तिद्वारा घटान्तरोत्पत्तिः, अन्यथा पुद्गलानां विघटनघटनस्वभावत्वेन प्रतिक्षणं कतिपयपरमाणुसंश्लेषविश्लेषभावाद् घटादावपि स्थैर्याऽसिद्धिप्रसक्तिरिति तद्दृष्टान्तेन वस्तुत्वव्यापकं क्षणिकत्व साधयन् बौद्ध एव विजयेत, अस्मन्मते तु तत्तत्पर्यायपरावृत्तावपि पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकघटस्य स्थैर्यमेव, अत एव प्रतिक्षणोत्पादादित्रैलक्षण्यसिद्धिः, एतेन तत्रापि घटादयो न नश्यन्ति, कतिपयावयवनाशेऽप्यवशिष्टावयवानाश्रित्य कार्यावस्थानसम्भवात्, अन्यथा प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिरेवेति मीमांसकैर्यदुच्यते, तदपि निरस्तम्, अवयवावयविनोः कथञ्चिदभिन्नत्वेन कतिपयावयवविश्लेषे तद्विशिष्टतया विनाशस्य शिष्टावयवविशिष्टतयोत्पत्तेश्चावश्यम्भावात्, प्रत्यभिज्ञानं तु सभागसन्तत्यनुगाम्यूर्ध्वतासामान्यात्मकघटविषयकमेवेति न किञ्चिदप्यनुपपन्नं जिनानुगानाम्। स्यादेतत् मिथोऽनुप्रवेशेनाविभक्तस्वरूपतया देहात्मनोरभेदे तनुवत्तनुमतोऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षापत्तिरिति चेत्, तदपि तत्त्वानभिज्ञतासूचकमेव, यथाऽभावप्रतियोगिकाऽभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणात्मकत्वमिति नियमाद् घटाभावपदाभावभेदयोरभिन्नत्वेन घटा-

भावत्वेन रूपेण घटाभावज्ञाने तेन रूपेण घटाभावभेदस्य भानमिष्यते, न तु घटाभाव भेदत्वरूपेण, तेन रूपेण तज्ज्ञानम्प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्, तस्य च पूर्वमभावात्, तथा देहत्वेन रूपेण देहत्वाद्युपज्ञानेऽपि तेन रूपेण देहाभिन्नात्मनो भानं भवति, न स्वात्मत्वरूपेण, तद्रूपेणात्मनो नीरूपत्वेन चाक्षुषप्रत्यक्षाऽयोग्यत्वादेवेति। एतेन वपुरवय वच्छेदे आत्मीयावयवच्छेदाभ्युपगमे छिन्नावयवे पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, अनभ्युपगमेऽभ्यो न्याद्यप्रवेशस्याप्यापात इत्युभयतः पाशारज्जुरिति निरस्तम्, छिन्नावयवे कम्पोपलम्भान्य थाऽनुपपत्त्या छेदस्य एकान्तच्छिन्नावयवस्य देहसम्बद्धात्मप्रदेशेऽननुप्रवेशे सति तदात्मान्त रत्वप्रसक्तिदोषभीत्या पद्मनालतन्तुवत् शरीरानुप्रविष्टात्मप्रदेशसम्बद्धत्वादच्छेदस्य चाभ्युपग मात्। अदृष्टनिमित्तक शरीरानुप्रविष्टात्मप्रदेशैस्सह छिन्नावयवप्रविष्टप्रदेशानां पश्चात्सङ्घटनमप्य विरुद्धम्, तत्रोपादानं कम्पाद्युपलम्भसिद्धत्वाभावात्। न च छिन्नभागस्यान्यत्र गमनादत्र कम्पादर्शनमिति वाच्यम्, प्रतिदेहमात्मन एकत्वेन क्षेपस्यापि देशान्तरगमनापत्तेः। अथ तत्रैव विनष्टत्वात्कम्पादर्शनमिति चेत्, तर्हि क्षेपस्यापि विनाशप्रसक्तिः, आत्मन एकत्वेना- विभागरूपत्वात्, तस्माच्छिन्नप्रदेशानामन्यत्रागतेस्तत्राऽसत्त्वादविनष्टत्वाच्च सङ्घटना ऽनुप्रवेशोऽभ्युपेयते, शस्त्रान्तराऽभावात्, न चाऽनेकधाच्छिन्नावयवसम्बद्धाऽन्तरालवर्त्यात्म प्रदेशानां कोऽपि पुमान् हस्तपादादिना केनापि शस्त्रेण वाऽऽबाधां व्याबाधां वा छविच्छे दवतीं वा कर्तुं शक्नोति, सूक्ष्मतयाऽगोचरत्वात्, वायुपुद्गलस्येव तदगोचरत्वदर्शनात्। उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेऽष्टमशतके तृतीयोद्देशके-अह भंते ! कुम्मे कुम्मावलिया मोहा मोहावलिया गोणा गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसिं दुहा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा तेऽवि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा, हंता फुडा। पुरिसेणं भंते ! ते अंतरे हत्थेण वा पाएण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा कट्ठेण वा कलिंचेण वा आमुसमाणे वा संमुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नयरेण वा तिक्खेणं सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पायइ, छविच्छेदं वा करेइ, नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ, इति। प्रदेशानां [illegible]व्यापेन सम्बद्धत्वादेव चैकस्यैव महर्द्धिकदेवस्य स्वीयप्रदेशविशिष्टानेकरूपनिर्माणेन परस्परं संग्रामकरणमपि युज्यते, नान्यथा, उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके सप्तमोद्देशके 'देवेणं भंते ! महड्ढिए जाव महेसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू !, अन्नमन्नेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए, हंता पभू ! ताओ णं भंते ! बोंदिओ किं एगजीवफुडाओ अणेगजीवफुडाओ, गोयमा ! एगजीवफुडाओ नो अणेगजीवफुडाओ, तेसि णं भंते ! बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा, गोयमा ! एगजीवफुडा, नो अणेगजीवफुडा। पुरिसेणं भंते ! अंतरेणं हत्थेण वा एवं जहा अट्ठमसए तइए उद्देसए जाव नो खलु तत्थ सत्थं संकमइ " इति। एतेन प्ररोहाद्या

पादनमपीष्टतया व्याख्यातम्, शरीरात्मच्छेदादिविषये इयांस्तु विशेषः—शरीरस्य छिन्नावयवत्वेनोत्पत्तिस्तच्छेदः, आत्मच्छेदस्तु वपुरसम्बद्धात्मप्रदेशानां कतिपयानां शृङ्खलावयवन्यायेन छिन्नावयवेऽनुप्रवेश इति, छिन्नशरीरावयवप्ररोहस्तज्जातीयोत्पत्तिः, आत्मप्रदेशप्ररोहस्तु तत्रैवानुप्रवेश इति । अत एव सावयवत्वमुत्पत्तिमत्त्वं विनाशित्वं चोह्यम्, गृहान्तर्वर्तिप्रदीपप्रभावत् सङ्कोचविकाशशालित्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात् । अयम्भावः—य एव कुन्थ्वादिशरीरस्थ आत्मा अल्पाल्पतरतत्तच्छरीरपरिमाणनियतपरिमाणपरिणतिमान् स एव हस्त्यादिशरीरस्थो महन्महत्तरतत्तच्छरीरपरिमाणनियतपरिमाणपरिणतिमान् भवतीति कारणीभूततत्तच्छरीरनामकर्मपरिणतिवैचित्र्यप्रभवतत्तच्छरीरपरिमाणनियततत्तदात्मपरिमाणपरिणतिवैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्याऽऽत्मप्रदेशानामल्पाधिकक्षेत्रावगाहित्वलक्षणसङ्कोचविकाशशालित्वमेकस्यैव प्रदीपस्याल्पऽल्पतरमहन्महत्तरगृहात्मकाश्रयवर्तित्वान्यथानुपपत्त्या तदवयवानां सङ्कोचविकाशशालित्ववदभ्युपगन्तव्यम् । एतेनात्मा विभुर्नित्यमहत्त्वाद्, गगनवदित्यपि निरस्तम्, आत्मपरिमाणपरिणतिविशेषे शरीरनामकर्मणो हेतुत्वेन तज्जन्यत्वात्तस्य नित्यत्वासिद्ध्या हेतोस्स्वरूपासिद्धत्वात् । नन्वेवं तत्तच्छरीरपरिमाणभेदेनैकस्यैवात्मनः परिमाणभेदाभ्युपगमे नानात्वापत्तिः, परिमाणभेदे द्रव्यभेदनियमादिति चेत्, मैवम्, यथा रूपनाशं प्रति न नियमेन समवायिकारणनाशस्य हेतुत्वं, पीलुपाकवादिनये परमाणुरूपनाशस्य पिठरपाकवादिनये चावयविरूपनाशस्याश्रयनाशमन्तरेणापि विलक्षणतेजस्संयोगलक्षणपाकतस्सम्भवात्, तथा परिमाणनाशं प्रत्यपि नियमतो नाश्रयनाशस्य हेतुत्वम्, तदाधारभूतद्रव्ये सत्येवाहृताहारद्रव्योपचयापचयाभ्यामवगाहनापरिणामविशेषजननद्वारा पूर्वपरिमाणनाशस्य परिमाणान्तरोत्पादस्य च सम्भवादित्येकस्मिन्नेव घटे श्यामरक्तादिरूपभेदेऽपि घटाभेदवत् परिमाणभेदेऽप्याऽऽत्माऽभेदोपपत्तेः । ननु तथापि पूर्वपरिमाणविशिष्टस्यात्मन उत्तरपरिमाणविशिष्टस्य चात्मनो विशेषणभेदाद्भेदोऽपरिहार्य इति चेत्, न, यतो विशिष्टरूपेण भेदश्शुद्धरूपेण चाऽभेद इष्ट एवेति नानयोर्विरोधः । इत्थमेव च कथञ्चित्क्षणभेदसमर्थनं सङ्गच्छते, एतेन बालयुवशरीरादेरिवात्मन उत्पत्तिस्स्यादित्यपि निरस्तम्, यतस्स्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा सा तत्तत्पर्यायनियता शुद्धात्मद्रव्ये न सम्भवत्येव, स्वपदेन शुद्धात्मद्रव्यग्रहणे तदधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणमेव सर्वोऽपि क्षण इति तदधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणस्याऽप्रसिद्धेः, विशिष्टस्वाधिकरणक्षणध्वंसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा तु सात्मद्रव्येऽपि सम्भविनी तन्नियतविनाशश्च न निषिध्येते, तत्र विशिष्टस्वपदेन बालयुवशरीरादिपरिमाणनियतपरिमाणविशिष्टात्मद्रव्यादिग्रहणसम्भवादिति । एतेन देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वे देहस्य भस्मसाद्भावे देहिनोऽपि तथात्वप्रसक्तिरिति निरस्तम्, क्षीरनीरयोरन्योन्यानुप्रवेशित्वेनैकत्वेऽपि क्षीरे क्वाथ्यमाने प्रथममुदकक्षयेऽपि क्षीराऽक्षयदर्शनेन व्यभिचारात्, न च तत्र लक्षण-

भेदेन भेदाभेदकल्पनेऽप्यपरस्य क्षय इति वाच्यम्, देहात्मनोरपि "भोगायतनं देहाऽऽत्मनो वा शरीरम्" ज्ञानाधिकरणमात्मेति नैयायिकैरपि लक्षणभेदस्योक्तत्वात्। एतेन देहात्मनो रन्योन्यानुप्रवेशित्वेऽप्याकाशवदात्मनि न शरीरपारतन्त्र्यमित्यपि निरस्तम्, तन्निमित्तस्य मिथ्यात्वादेरात्मनि सद्भावात्, आकाशे च तदभावात्, न च शरीरायत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वादिव्यं घेतुभियोगः, तस्माच तत्प्रतिबद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमित्यपि वाच्यम्, अन्योन्यकार्यकारणभावबलेन पारतन्त्र्यमिथ्यात्वप्रवाहानादित्वाभ्युपगमात्, बीजाङ्कुरवत्। न च शरीरद्वाराऽऽत्मनो रूपित्वे आत्मप्रागसंयोगलक्षणजन्मनः प्राक् शरीराभावेनात्मनो ऽरूपित्वं स्यादिति वाच्यम्, भवान्तरस्पृष्टशरीरसम्बन्धान्यथाऽनुपपत्तिः आत्मस्वरूपतत्त्व मस्त्यदा तैजसकार्मणशरीरसम्बन्धित्वेन तद्द्वारा रूपित्वोपपत्तेः। तदेवमात्मा स्वस्वरूप तोऽमूर्त्तस्सन् कर्मपुद्गलैस्सहैकलोलीभावेनाविभक्तस्वरूपतया मूर्त्तोऽपीति कथञ्चि मूर्त्तामूर्त्तो- भयस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्य इति नाधिकं विस्तरमपाद्रियन्ते ॥ ५० ॥

अथ स्वेतरनयनिरपेक्षेण द्रव्यार्थिकेन पर्यायार्थिकेन चैकान्तनयेन स्वस्वमतानुसारिणी यथा प्ररूपणा क्रियते तथा प्रदर्शयितुमाह—

> दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।
> बीयस्स भावमेत्तं न कुणइ ण य कोइ वएइ ॥ ५१ ॥

'दव्वट्ठियस्स' द्रव्यास्तिकस्य द्रव्यास्तिकनयस्य, इयं प्ररूपणेति शेषः, 'आया बंधइ' आत्मा कालत्रयस्थाय्येकात्मा द्रव्यात्मकः 'बंधइ' बध्नाति सम्बद्धीकरोति, किमिति कर्माकाङ्क्षायामाह–'कम्मं' कर्म, तत्फलं स्वात्मैव भुङ्क्ते, किमाऽन्य इत्याशङ्काभिरसर्वमाह 'फलं च वेएइ' फलञ्च तत्कार्यसुखदुःखात्मकं वेदयते अनुभवति, य एवात्मा परकर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते तन्मते तत्कर्मकर्तृत्वतत्फलभोक्तृत्वैकपात्। ननु तर्हि पर्यायार्थिक- नयोऽपि किं तथैवानुमनुते किं वाऽन्यथेत्याशङ्कायामुत्तरार्द्धेमाह–'बीयस्स' द्वितीयस्य पर्यायार्थिकनयस्य इयं प्ररूपणेति शेषः। 'भावमेत्तं' भावमात्रं संव्यवहारोपयुक्तपर्यायोत्तर क्षणिकतत्त्वज्ञानलक्षणप्रवृत्तिलक्षणत्वात् आत्मपरिणामरूपेण सन्तन्यमानान्यन्यात्मैव, न तु स्थिरात्मा, अयम्भावः–प्रत्यक्षत्वमिदं, यथा विद्युदादि, सैवात्मा, ततस्तु क्षणिक इति क्षणिकविज्ञानात्मक एवात्मा, न तु ज्ञानाश्रयः, तन्मते गुणगुणिभावाभावात्। अत एव 'न कुणइ ण य कोइ वेएइ' न करोति न च कश्चिद्वेदयते, तत्फलं भुङ्क्ते। पर्यायनयो हि द्रव्यं स्थिरीभूतं नाभ्युपगच्छति, किन्तु पर्यायमेव, स चोत्पादव्ययलक्षण इत्युक्तपिक्षणाभ्य वस्थितोत्तरक्षणविनाशप्रापिणो विज्ञानरूपात्मनः कर्मकर्तृत्वतत्फलभोक्तृत्वाभावात् ॥ ५१ ॥

ननु द्रव्यार्थिकनये आत्मा बध्नाति कर्म फलञ्च वेदयत इत्युक्तम् न चैतावता च एवात्मा कर्मकर्त्ता स एव तत्फलभोक्ता चेति निर्णीयते, दैवदत्तात्मा कर्म बध्नाति चैत्रात्मा

तत्फलं भु० इत्येतावताऽपि चरितार्थत्वात्, उभयोरप्यात्मत्वाऽविशेषादित्याशङ्कां दूरीकृत्य य एव कर्त्ता स एव भोक्ता इत्येतत्प्रतिपादयितुम्, एवं न करोति न च कश्चिद्वेदयते इत्युक्त्या पर्यायास्तिकनयमते उत्पत्तिमनन्तरध्वंसिनः कर्तृत्वभोक्तृत्वाऽसम्भव इत्युक्तम्, तत्किं तन्मते कर्त्ता भोक्ता च नास्त्येवेति चेत्, अस्त्येव, किन्तु यः कर्त्ता स न भोक्ता, यतः कर्तृत्वमुत्पत्तिक्षणे भोक्तृत्वञ्च तदव्यवहितोत्तरक्षणे, तदानीं च पूर्वक्षणवर्त्तिनः कर्त्तुः क्षणिकत्वेन विनष्टत्वात्, किन्त्वन्य एवेत्येतत्प्रतिपादयितुं चाऽऽह—

दव्वट्ठियस्स जो चेव, कुणइ सो चेव वेयए णियमा ।
अण्णो करेइ अण्णो, परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

'दव्वट्ठियस्स' द्रव्यास्तिकस्य, एतदनन्तरं मत इति शेषः, 'जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा' य एव च करोति स एव च वेदयते तत्फलं भुङ्क्ते नियमात्, तन्मते आत्मनो नित्यत्वात्, 'पज्जवणयस्स' पर्यायनयस्य, अत्रापि मते इति शेषः । 'अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ' अन्यः करोति अन्यश्च परिभुङ्क्ते, वस्तुमात्रस्य क्षणिकत्वेनात्मनोऽपि प्रतिक्षणमन्यान्यत्वात्, यस्मिन् क्षणे उत्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे करोति, "भूतिर्येषा क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते" इति वचनात्, तदव्यवहितोत्तरक्षणे स विनष्टः, तदन्य आलयविज्ञानसन्तानगतस्वरूपेणोत्पन्नश्च तत्फलमनुभवति ॥ ५२ ॥

अथ द्रव्यास्तिकनये एकान्तनित्यात्मनि वर्त्तमानकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इवोत्तरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इदानीमस्ति न वा, अस्ति चेत्, तदा वर्त्तमानकाल एवोत्तरकालीनकर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । अथ कारणान्तरविरहान्नोक्तप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि कारणान्तरेण किञ्चिदुपक्रियते न वा, उपक्रियते चेत्, तर्हि स उपकारः पूर्वमस्ति न वा, अस्ति चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, नास्ति चेत्, तदा स उपकारस्वभावः पूर्वं नास्ति पश्चादुत्पन्न इति स्वभावाऽनित्यत्वेन तद्धर्मिणोऽप्यनित्यत्वप्रसङ्गः । अथ नोपक्रियते, तर्हि कारणान्तरापेक्षा व्यर्थैव । अथ सम्भूय कार्यं क्रियत इत्येतावता कारणान्तरापेक्षेति चेत्, तर्हि सम्भूयकार्यकरणस्वभावः पूर्वमस्ति न वा, अस्तीति चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मबन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, अथ पूर्वं नास्ति, इदानीमस्तीति चेत्, तर्हि स्वभावभेदेन तद्धर्मिणोऽपि भेदप्रसङ्गः, अत एव न वेति द्वितीयनिषेधपक्षोऽपि न युक्तः, उत्तरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभावः पूर्वं नास्ति पश्चादस्तीति तत्तदभावरूपविरुद्धधर्माध्यासाद्धर्मिणो भेदप्रसक्तेः, तस्मादेकान्तनित्यात्मनि कर्मकर्तृत्वस्वभावो नोपपद्यते, एवमुक्तयुक्त्यैकान्तनित्ये फलभोक्तृत्वस्वभावोऽपि नोपपद्यत इति । एवं पर्यायनयेऽपि प्रतिक्षणमात्मनोऽन्यान्यत्वे य एवात्मा कर्म करोति स एव तत्फलं भुङ्क्ते इति व्यवहारबाधस्स्यात्, अथ पूर्वापरविज्ञानव्यक्त्यात्मकात्मभेदेऽप्यालयविज्ञानसन्तानैक्यादेव स व्यवहार इति चेत्, तर्हि भङ्ग्यन्तरेणात्मैवाभ्युपगतस्स्यात्, तदेवमियं परस्परनिरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-

नयोक्तिर्न युक्ता, निराकाङ्क्षयोः प्रत्येकस्य प्रत्येकेनाप्रमाणभूतत्वादिति सा न स्वसमयप्ररूपणा, किन्तु परस्परसापेक्षवचनयसापेक्षसन्मात्रप्रधानात्मकस्याद्वादोक्तिरेव युक्ता, सान्ताकाङ्क्षतया पूर्वोत्तरत्वेन निराकाङ्क्षताप्रयोजकत्वादिति सैव स्वसमयप्ररूपणेत्युपपादनायाह—यद्वा द्रव्यपर्यायोभयात्मके आत्मादिवस्तुनि पर्यायनयप्रतिपादितार्थानां सत्यत्वसाधने द्रव्यार्थिकनयप्रयुक्तयो द्रव्यार्थिकनयप्रयुक्तप्रतिपादितार्थानां सत्यत्वसाधने पर्यायार्थिकनयप्रयुक्त यस्तुल्यबलयोर्युग्मन्त इति नैकत्र क्वचन पक्षपातो विधेयः, किन्तु स्याद्वादेनोभयोः ग्रह उररीकर्तव्य इति प्रतिपादनायाह—

> जे वयणिज्जवियप्पा, संजुज्जंतेसु होंति एएसु ।
> सा ससमयपण्णवणा, तित्थयरासायणा अण्णा ॥ ५२ ॥

'जे वयणिज्जवियप्पा' ये वचनीयविकल्पाः—वक्तु योग्य वचनीयमभिधेयं तस्य विकल्पास्तत्प्रतिपादका वचनप्रकाराः 'संजुज्जंतेसु' संयुज्यमानयोः अन्योन्यसापेक्षयोः 'एएसु' अनयोः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयवाक्ययोः 'होंति' भवन्ति ते च स्यान्मूर्त एवात्मा ।१। स्यादमूर्त एवात्मा ।२। स्यादवक्तव्य एवात्मा ।३। स्यान्मूर्त एव स्यादमूर्त एवात्मा ।४। स्यान्मूर्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।५। स्यादमूर्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।६। स्यान्मूर्त एव स्यादमूर्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा ।७। एवं स्यान्नित्य एवात्मा ।१। स्यादनित्य एवात्मा ।२। इत्यादयः । यत्र व्युत्पन्नाव्युत्पन्नापेक्षया मात्रत्रयमात्रविवक्षयापि तदर्थी सप्तभङ्गीप्रवृत्तिरपि चकृतासपर्यमायाद् भावनीया, तत्प्रवृत्तिमन्तरेण स्यान्नित्यानित्यादि नित्यत्वादिस्याद्वादत्वस्यासम्भवादनेकान्तात्मकवस्तुत्वादिसद्धर्मविषयकबोधस्यैवानुत्पत्तेः । 'सा ससमयपण्णवणा' सा एषा स्वसमयप्रज्ञापना सम्यग्विपरीतत्वेनेयन्ते अवगम्यन्ते वा ज्ञायन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति समयः, सिद्धान्तः, स्वस्य समयः स्वसमयः, तस्य प्रज्ञापना निरूपणा, जिनेन्द्रधर्मागमप्ररूपणा, यद्वा स्वस्य अर्हत्प्रवचनस्य सम्यक् प्रमाणान्तराऽविसंवादित्वेनैयते परिच्छिद्यते इति समयः, तत्त्वभूतार्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकर्षेण संशयविपर्ययादिरहितत्वेन ज्ञापना प्रज्ञापना अबाध्यानेकान्तात्मकार्थविषयकप्ररूपणा, यथार्थबोधजनकत्वात्, 'अण्णा' अन्या स्याद्वादनिरपेक्षैकैकनयप्ररूपणा एकनयप्ररूपणा च "तित्थयरासायणा" तीर्थकरस्याशातना अविनयः, तत्प्ररूपकोपदेशत्वात्, तत्प्रणीतः स्याद्वादप्रमाणा एव सम्यग्बोधजनिकाया तीर्थकरेण विदितत्वात् । "संकेज्ज याऽसंकित भाव भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा । भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपण्णे" ॥ २२ ॥ इति सूत्रकृताङ्गचतुर्दशाऽध्ययनोक्तभाषायां 'विभज्जवायं च वियागरेज्जा' इत्युक्तेः । एष विभज्यवादः प्रवचनसारभूतः, पक्षप्रोक्तनैव प्रवचनस्य फलवत्त्वात् । नन्वेवं तर्हि कालिकश्रुते नयैर्व्याख्या न कर्तव्येति कथमुक्तमिति चेद्, उच्यते समाधिः, तत्राक्षेपनयमतिषेध आचार्यविनेयविधिविशुद्धसमापेक्षा प्रोक्तः, श्रोतृगत

निर्मलविशिष्टबुद्ध्युत्कर्षसद्भावे तु सम्प्रत्यपि श्रोतृधीपरिकर्मणानिमित्तं नयव्याख्याऽनुमतैव, उक्तश्च भाष्ये "मासिज्ज वित्थरेण वि नयमयपरिणामणासमत्थम्मि। तदसत्ते परिकम्मणमेगनएणं पि वा कुज्जा ॥२२७८॥" इति, सुगमा, नवर वा शब्दाद् नयद्वयेन त्रयेण वा शिष्यमतिपरिकर्मणां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्द्ये तु नैकमपि नयं भाषेत, इत्येतदपि द्रष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

अथोत्सर्गतो निखिलनयचतुरं प्रपञ्चितज्ञं प्रतिपत्तारमुद्दिश्य अहमेवास्यार्थस्य वेत्ता नापर इत्येवमौद्धत्यं परिहरद्भिः स्याद्वादतत्त्वज्ञैः पारमेश्वरप्रवचनपरिणतबुद्धिभिराद्यचरमलक्षणमापादयेन परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयनयोक्तिरूपप्रमाणवाक्यात्मिका स्याद्वादप्ररूपणा कर्त्तव्या, तस्या एव परिपूर्णवस्तुप्रतिपादकत्वात्, न तु निरपेक्षप्रत्येकनयोक्तिरूपैकान्ततत्त्वप्ररूपणा, तस्या मिथ्यारूपत्वादिति प्रतिपाद्य अपवादतस्तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्यतरनयज्ञमेकतरनयप्रियञ्च श्रोतृजनमुद्दिश्य स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यताभावात्तु तदज्ञातैकनयप्ररूपणाऽपि कर्त्तव्या, तयाऽपि स्याद्वादप्रतिपादनयोग्यतां कर्तुं शक्यत्वात्, 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः सत्यं समीहते' इति न्यायादिति प्रतिपादयितुमाह—

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयरं।
परिकम्मणाणिमित्तं, दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

'पुरिसज्जायं' पुरुषजातं प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्तरस्वरूप श्रोतार, 'पडुच्च' प्रतीत्य आश्रित्य, उद्दिश्येति यावत् 'जाणओ' ज्ञकः स्याद्वादतत्त्वज्ञः 'पन्नवेज्ज अन्नयरं' प्रज्ञापयेत् आचक्षीत अन्यतरत्, द्रव्यं वा पर्यायं वा यदज्ञातम्, द्रव्यं ज्ञात्वा तदङ्गीकर्त्तारं श्रोतारम्प्रति पर्यायमेव, पर्यायं ज्ञात्वा तदुरीकर्त्तारं तम्प्रति द्रव्यमेव प्ररूपयेत्, किमर्थमेवं प्रज्ञापयेदित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तत्फलमाह—'परिकम्मणाणिमित्तं' परिकर्मणानिमित्तं, श्रोत्रा योऽज्ञातोंशस्तद्विषयकबुद्धिपाटवार्थम्, न हि प्रत्येकतत्तदंशज्ञानाभावे निखिलांशविशिष्टार्थज्ञान भवितुमर्हतीति द्रव्यांशपर्यायांशविशिष्टवस्तुज्ञाने द्रव्यांशविषयकज्ञानं पर्यायांशविषयकज्ञानञ्च हेतुरित्यज्ञातांशज्ञानेन तद्विषयकबुद्ध्युत्कर्षे सति परिकर्मितमतये श्रोत्रे 'दाएहि सो विसेसं पि' दर्शयिष्यति स स्याद्वादाभिज्ञः विशेषमपि, द्रव्यपर्याययोः परस्पराऽविनिर्भागरूपं द्रव्यं पर्यायसंयुक्तं पर्यायाश्च द्रव्यावियुक्ता इत्येवं लक्षणं स्याद्वादविशेषमपि, अन्यथैकांशविषयकविज्ञानस्य विपर्ययरूपता स्यात्, तदितराऽभावे तद्विषयस्याऽप्यभावात्, ततश्चेयमेकनयदेशनाऽपि परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकवस्तुविषयकस्याद्वादज्ञानोत्पादकत्वाद्भावतस्स्याद्वाददेशनैवेत्येकनयदेशनाया एकान्तविषयाऽसत्यत्वेन तद्विषयिकाया अयथार्थज्ञानजनकत्वान्मिथ्यारूपतया स्वरूपतोऽसत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्युत्पादकतया फलतस्सत्यत्वं भावनीयम्।

इति श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यायां सम्मतितर्कटीकायां प्रथमकाण्डं समाप्तिमगात् ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

अर्हत्प्रभूक्ताखिलतत्त्वनित्य-मेवेति सद्धर्मविशुद्धिहेतोः ।
द्रव्यानुयोगस्य सुसूक्ष्मतत्त्व-रत्नैर्भृतस्सम्मतितर्कनाम्नः ॥ १ ॥

ग्रन्थस्य पूज्याभयदेवसूरि,-र्व्याख्याऽप्रगाधा विवृतिर्विशाला ।
तत्र प्रवेशोऽल्पधियामशक्यो, मत्वेति तेषामवगाहनार्थम् ॥ २ ॥

तरीसमायामवतारिकाख्य-वृत्तौ कृतायां समयानुगायाम् ।
वर्षाप्रवासाख्यपुरे प्रभूता-र्हच्चैत्यमालातिरूपशोभे ॥ ३ ॥

श्रीन्यायवाचस्पतियुक्तशास्त्र-विशारदाचार्यपदाश्रितेन ।
श्रीसूरिसम्राड्गुरुपद्मपात्-र्मत्याऽस्य सद्धर्मसूरिणेय ॥ ४ ॥

तुल्यास्यकान्तेश्शशिनामधिभूत्-संगीयमानामलगुणोत्करस्य ।
श्रीनेमिसूरेः सुगुरोः प्रभावात्, श्रीविक्रमाब्दे शिवखस्वयुग्मे(२००१)॥५॥

श्रीमार्गशीर्षे सितपक्ष एकादश्यां तिथौ चाऽऽद्यिमकाण्डटीका ।
आपुण्यवन्त गुणकाङ्क्षिचित्ते, पूर्ति गताऽपूर्वमुद तनोतु ॥६॥ वहमि: इलकम् ।

इति सुमाकाशमिवादिवाकरस्य सेनावादप्रवादिमिवान-प्रथमोपनिषद्वेदि-महा
तार्किकशिरोमणि—श्रीसिद्धसेनदिवाकरमयवरप्रणीतस्याखिलनयवर्गमर्दनस्य
सम्यग्दर्शनविशुद्धिकरद्रव्यानुयोगतत्त्वरत्नरत्नाकरस्य सकलतत्त्वपरमपरिशुद्धि
विधायकमहातर्कसङ्कटितस्य "श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य" सार्वतन्त्रस्वतन्त्र
सद्वृत्तिसमवायसद्धर्ममानावाश्रूता अमर्त्यमर्त्यवादिसन्दोहप्रथम-प्राकृपार्थरूप
चमत्कारकसद्गापीविचारसमुद्गानुपममम्भतरप्रवरलक्षणममोऽन्तरप्रसु-
तमसमूहभवकीर्तिभरभरितसूर्यरूप-मन्थारसतम्यमद्दर्शनादि-
विशुद्धिकरमस्यमहावीर्यसुप्रभविषयक-श्रीतपागच्छनभोन-
भोमणि-सूरिसम्राड्-भट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर
पट्टनभोभास्करसमपाञ्च-न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद
विजयभट्टारकाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरीश्वर
विरचितायां सम्मतितर्कमहार्णवावतारि-
काख्यटीकायां प्रथमकाण्ड समाप्तिमगात् ॥

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

मंगलाचरणम्

यत्पादपद्माच्छरसाय नित्यम्, योगीन्द्रदेवेन्द्रनरेन्द्रवृन्दम् ।
द्विरेफति श्रीमधुमत्यभिख्य-पुराधिपस्सोऽस्तु शिवाय वीरः ॥ १ ॥

क्षान्त्यादयो भान्ति गुणाश्च यस्मिन्, विशेषतो ह्याश्रयसद्गुणेन ।
दुग्धं स्वभावाद्धवलं तथाऽपि, चकास्ति शङ्खाश्रयतो विशिष्य ॥ २ ॥

धूराश्रिता यं जिनशासनस्य, निधिं धियां दूषणतोऽतिदूरम् ।
नमामि तं श्रीविजयादिनेमि-सूरिं गुरुं सूरिकदम्बसूरम् ॥ ३ ॥ युग्मम् ।

एवं सामान्यं न विशेषविकलं विशेषा अपि न सामान्यविकलाः खपुष्पवदसत्त्वात्, तदुक्तम्—निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ इति ।

तथा चान्योन्याऽनुस्यूतत्वाच्चयोस्तदुभयात्मकं ज्ञेयस्वरूपं प्रतिपाद्याधुनोपयोगोऽप्युपसर्जनीभूतविशेषाकारप्रधानीभूतसामान्याकारदर्शनोपसर्जनीभूतसामान्याकारप्रधानीभूतविशेषाकारज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः प्रमाणम्, अयम्भावः—उपयोगो दर्शनज्ञानोभयात्मक इति य एव दर्शनोपयोगस्स एव ज्ञानोपयोगतया ज्ञानोपयोगश्च दर्शनोपयोगतया परिणमत इति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन भिन्नमपि दर्शनं ज्ञानञ्चोपयोगस्वरूपतयाऽभिन्नमित्यनेकान्तस्वरूपतया तदुभयात्मक उपयोगः प्रमाणम्, न त्वेकान्तभिन्नदर्शनात्मको न चैकान्तभिन्नज्ञानात्मकस्सः । एतेन सामान्यग्राहिदर्शनमेव प्रमाणमित्येकान्तद्रव्यार्थिकनयमतं, विशेषग्राहिज्ञानमेव प्रमाणमित्येकान्तपर्यायार्थिकनयमतं निरस्तम्, एकान्तभिन्नदर्शनज्ञानयोरप्रमाणत्वात्, तदेवोपदर्शयितुं द्वितीयकाण्डमारिप्सुः सिद्धान्तपाथोधिश्रीसूरिर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभिमतप्रत्येकदर्शनज्ञानस्वरूपप्रतिपादिकां गाथामाह—

जं सामण्णग्गहणं, दंसणमेयं विसेसियं नाणं ।
दोण्ह वि णयाण एसो, पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥ १ ॥ ५५ ॥

"जं सामन्नग्गहणं दंसणमेयं" यत् सामान्यग्रहणं दर्शनमेतत्, द्रव्यास्तिकनयमते यदनुगतस्वरूपेण प्रतीतौ भासते तदेव सत्, भासते च तत्र तद्रूपेण सामान्यमेवेति तदेव सत्, न विशेषाः, तेषामननुगतत्वेन तथाप्रतिभासनादिति सामान्यमेव तन्मते वस्तु, तदेव गृह्यतेऽनेन तत्सामान्यग्रहणम्, यद्वा गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्, सामान्यस्य ग्रहणं सामान्यग्रहणम्, तत्किमित्यत आह—'दंसणमेयं' दर्शनमेतत्, द्रव्यार्थिकस्य मते इति शेषः। 'विसेसियं' निश्चित विशेषविषयकम्, अत्र सामान्यग्रहणमित्यस्मात् ग्रहणमित्यस्य विपरिणम्य विशेषविषयकमित्यर्थकेन 'विसेसियं' इत्यनेन सम्बन्धः, तथा च विशेषात्मकवस्तुविषयकं यद्ग्रहणं तत् 'नाणं' ज्ञानम्, पर्यायास्तिकस्य मत इति शेषः। यद्वा पर्यायास्तिकनयस्य मते घटनशोधनादिरूपक्रिया कारणघटितघटादिविशेषैरेव भवन्ति, न सामान्येनेत्यर्थक्रियाकारित्वाच्च एव सद्रूपाः, न सामान्यमिति तदात्मकमेव वस्त्वभिमतम्, यदत्र प्रागेव सिद्धमिति नेह प्रतन्यते, तथा च विशेष एव गृह्यते येन तद्विशेषग्रहणं ज्ञानमित्यभिधीयते, विशेषितमिति पदं सप्तम्या विशेषग्रहणपरमित्यभिप्रायः। 'दोण्ह वि णयाण' इत्योरपि अनयोर्नययोः 'एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ' एष प्रत्येकमर्थपर्यायः, अर्थं विषयं पर्येति अवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः, ईदृग्भूतग्राहकत्वमित्यर्थः। द्रव्यार्थिकनयेन सामान्यमात्रग्रहणात्मकं दर्शनमभ्युपगतम् पर्यायार्थिकनयेन तु विशेषमात्रग्राहकं ज्ञानमङ्गीकृतमिति भावः। "कतिविहे णं भंते! उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, तं जहा- सागारोवओगे य अणागारोवओगे य" इति प्रज्ञापनाऽष्टाविंशतितमपदेऽभिधानात्, उपयोगस्य साकारानाकारभेदाभ्यां द्विविधः, तत्राकारः प्रतिनियतोऽर्थग्रहणपरिणामः, "आगारो य विसेसो" इति वचनात्, सहाऽऽकारेण वर्तत इति साकारः, स चासावुपयोगश्च साकारोपयोगः, सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुञ्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगः साकार इत्युच्यते, न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः, स चासावुपयोगश्चानाकारोपयोगः, यो वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः, तत्रानाकारोपयोगो दर्शनं, साकारोपयोगस्तु ज्ञानमित्युच्यते। तत्र द्रव्यार्थिकनयेन दर्शनमात्रं प्रमाणतया पारमार्थिकमभ्युपगतम्, पर्यायार्थिकनयेन तु ज्ञानमात्रं, न तु दर्शनमिति प्रत्येकनयार्पणा—

'जं सामण्णग्गहणं, गहणं अपरोक्खसअणं चेव।
अत्थस्स दंसणं तं, विवरीतं होइ णाणं तु ॥ १०" इति

धर्मसंग्रहणीवचनादुभयनयार्पणया तु सामान्यप्रधानं विशेषोपसर्जनं ग्रहणं दर्शनं विशेषप्रधानं सामान्योपसर्जनं ग्रहणं ज्ञानम्, तथा च तौ ज्ञानदर्शनोपयोगावुपसर्जनीकृतेतराकारौ प्रधानीकृतस्वस्वविषयाकारमात्रत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणम्, न तु निरस्तेतराकारौ,

इतरांशविकलैकांशरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेः, ननु भवत्येवं तथापि किं ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगो वा सर्वदा सर्वजीवेषु प्रवर्त्तते किंवा कदाचिन्न, सामग्र्यभावादिति चेत्, उच्यते, "उपयोगो लक्षणं" इति २-८। तत्त्वार्थसूत्रवचनात् उपयोगो लक्षणमात्मनः, तच्चाशुशुक्षणेरौष्ण्यवत्स्वरूपलक्षणम्, न तु चैत्रस्य दण्डवत्तटस्थलक्षणमिति लक्ष्यलक्षणयोः कथञ्चिदभेदाल्लक्षणभूतोपयोगं परिहृत्यैकक्षणमात्रमपि कोऽपि लक्ष्यभूत आत्मा नैवावतिष्ठते, लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतधर्मो हि लक्षणमिति यदा कदाऽप्युपयोगलक्षणाभावे जीवे लक्ष्यतावच्छेदकीभूतं जीवत्वमपि न स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यम्भावात्। ननूत्पत्तिकालावच्छेदेन निर्गुणमेव पृथिव्यादिद्रव्यमुत्पद्यते, अत एव प्रतियोगिव्यधिकरणतत्समानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिभूतगन्धादिवत्त्वमेव पृथिव्यादेर्लक्षणम् पर्यवसायितयोच्यते नैयायिकेन, तद्वत्प्रकृतेऽपीत्युपयोगाभावस्यापि कदाचिदात्मनि सद्भावेऽपि प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावान्न स प्रतियोगिव्यधिकरणतत्समानाधिकरणात्यन्ताभावः, किन्त्वन्यात्यन्ताभाव एवेति तदप्रतियोगिभूतोपयोगवत्त्वलक्षणस्यात्मनि सर्वदा सङ्घटनान्नाजीवत्वप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, न हि प्रथमक्षणे निर्गुणं घटादिद्रव्यमुत्पद्यते, द्वितीयक्षणे च तत्र गुणोत्पत्तिरिति केनाप्यनुभूयते, अनुभूयते च यदैव मृत्पिण्डादिपूर्वपर्यायं परित्यज्य घटाद्युत्तरपर्यायतया परिणमते मृद्रव्यं तदैव तत्र नीलपीतादिपूर्वपर्यायविनाशेनोत्तररक्तादिपर्यायोत्पादः, अत एव समवायस्य गुणगुणिनोरेकान्तभेदस्य च पूर्वमेव निषिद्धत्वात्समवाय्यादिकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति कारणगुणपूर्वकः कार्यगुण इति च नैयायिकवैशेषिकप्रवादस्याप्रामाण्यमवसेयमिति। यदुक्तं तत्त्वार्थप्रथमाध्यायतृतीयसूत्रटीकायाम्—"परिणामोऽचेतनपरमाण्वादीनां शुक्लादिरित्यादि। तत्त्वार्थचतुर्विंशतितमसूत्रभाष्ये "स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति" इत्यादि ॥ "तेऽपि हि शुक्लादयः कृष्णादित्वेन परिणमन्ते वर्णादिसामान्यममुञ्चन्तः" इत्युक्तं तत्त्वार्थपञ्चमाध्यायैकचत्वारिंशत्सूत्रटीकायामिति। एवमेव देवमनुष्यादि–बालयुवादिपूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यात्मद्रव्यात्मनि पूर्वस्य दर्शनात्मकस्य ज्ञानात्मकस्य वोपयोगपर्यायस्योत्तरेण ज्ञानात्मकेन दर्शनात्मकेन वोपयोगेन रूपेण परिणामो भवतीति तच्छून्य आत्मा न कदाप्यवतिष्ठते, सुषुप्त्याद्यवस्थोत्तरकालावच्छेदेन व्यक्तीभूतज्ञानलिङ्गेन तत्पूर्वकालावच्छिन्नाऽव्यक्तज्ञानस्य पयसि सर्पिष इवानुमीयमानत्वेन सुषुप्तिकालेऽप्यव्यक्तज्ञानमभ्युपगम्यत एवेति, तत्र श्वासप्रश्वासादिसन्तानोऽव्यक्तचैतन्यप्रयुक्त एव, कथमन्यथा तत्र श्वासोच्छ्वासादिसन्तानोपपत्तिस्स्यात्, अत एव सुप्तमूर्च्छितादीनां जलसेकादिप्रतिकारेणाव्यक्तचैतन्यमेवाभिव्यज्यत इत्यनुभवः, सुषुप्त्युत्थितस्य 'सुखमहमवाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्यनुभवस्तु न किञ्चित्पदोपरागेणाव्यक्तज्ञानमेवावगाहते। स्यादेतत् इन्द्रियवृत्तिनिरोधेन सुषुप्तौ ज्ञानमनुपपन्नम्, "द्रव्याध्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्" इति, कारिका-

चलीचलनात् अन्यज्ञानप्रामाण्ये स्वापनोपयोगस्य कारणत्वेन तदानीं सर्वं त्यक्त्वा पुरीतति नाडीवर्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजननादिति चेत्, नैवम्, द्रव्येन्द्रियव्यापारोपरमेऽपि तदानीं भावेन्द्रियपञ्चकक्षयोपशमसम्भवात्, दर्शनावरणकर्मप्रकृतिविकारविशेषरूपाया सुषुप्तेर्मनश्चक्षुर्दर्शनादेरेवोपघातित्वात्। युक्तञ्चैतत्-निमित्तोऽविकलकारणस्यैव कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वात्, यदि कथञ्च कार्यं ज्ञाने उपयोगेन्द्रियमेव, तदास्मत्सिद्धत्वात्सिद्धमन्तरेण सिद्धिनोऽभ्युपपद्ये सुषुप्तिकालेऽपि सम्पद्यमानं कथं न स्वकार्यं ज्ञानं जनयेदिति। अत एव—

“ जइ सुहुम भावेंदियमाणं दव्वेंदियावरोहे वि ” इति ।
जं फिर पउत्ताईणं, दीसइ सेसेंदियोवलंभो वि ।
तेणत्थि तदावरणक्खओ-वसमसंभवो तेसिं ॥ १०० ॥

इति च विशेषावश्यकभाष्योक्तेरेकेन्द्रियादीनामपि द्रव्येन्द्रियपञ्चकाभावेऽपि स्पर्शनेन्द्रियादिभावेन्द्रियपञ्चकज्ञानं सिद्धान्तेऽभ्युपगतम्, एतत्सर्वं सविस्तरमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकायामुक्तमिति तत एवावसेयम्। क्षयोपशमक्रमे च देशकालादिनियन्त्रितक्षयोपशमक्रम एव नियामक इति विभावनीयम्। ननु भवन्मतेऽपि केवलदर्शनावरणकेवलज्ञानावरणकर्मणोः सर्वघातिप्रकृतित्वेन केवलदर्शनावरणेन सर्वथाऽऽत्मीयदर्शनगुणं केवलज्ञानावरणेन सर्वात्मनाऽऽत्मीयज्ञानगुणं चाऽऽवृतमित्युपयोगद्वयाऽभ्युपगमः कथं नेति चेत्, तदपि न मनोरमम्, वस्तुतत्त्वानवबोधात्, तथाहि—केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्यः केवलज्ञानगुणः, स च यद्यपि तेन सर्वात्मनाऽऽव्रियते, तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्ततमो भागोऽनावृत एवावतिष्ठते, केवलज्ञानावरणस्यापि तदावरणे सामर्थ्याभावात्। यदाहुः पूज्यश्री देवर्द्धिवाचकवरा नन्दीसूत्रे—“सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ” इति। अयमनावृतोऽनन्ततमभागस्वभावः केवलज्ञानावरणाऽऽवृतस्य जीवस्य घनपटलच्छन्नस्य रवेर्मन्दप्रकाश इव मन्दप्रकाश इत्युच्यते। तत्र हेतुः केवलज्ञानावरणमेव, केवलज्ञानस्याऽऽवृतस्यानन्ततमभागविशिष्टावच्छिन्ने तद्धेतुत्वस्य शास्त्रोक्तत्वात्। ननु कार्यकारणभावस्यैव शोभेत यदुक्ते स्वप्रकाशप्रतिबन्धके मन्दप्रकाशजनकत्वं दृष्टिगोचरं स्यात्, न चैवम्, मित्यादौ तस्याऽदर्शनादिति चेत्, नैवम्, सूर्यस्वप्रकाशप्रतिबन्धके उत्कटसान्द्राभ्रपटावरणे मन्दप्रकाशजनकत्वस्य सर्वलोकानुभवसिद्धत्वात् न चानावृतानन्ततमभागो मन्दप्रकाशसंज्ञकोंऽशः केवलज्ञानस्यैव, अंशांशिनोः कथञ्चिदभेद इत्येकस्मिन्नेवावृतत्वानावृतत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयासत्त्वोऽपि निराबाधमेवेति वाच्यम्, एकस्मिन् तन्त्वावरणदेशेऽनावृतेऽपि पट आवृत इति प्रतीतिदर्शनात् पटावयवावच्छिन्नापेक्षयाऽऽवृतत्वमेकतन्त्वावच्छेदेनाऽऽवृतत्वापेक्षया चाऽनावृतत्वमितिवत्तथापि केवलज्ञानांशापेक्षयाऽऽवृतत्वमनन्ततमभागांशापेक्षया चाऽनावृतत्वमित्येवमुभयोपपत्तावपि द्रव्यपर्यायात्मना कथञ्चिद्भेदाभेदवादे बाधका

भावात् । कथं तर्हि केवलज्ञानावरणस्य सर्वघातित्वमिति चेत्, उच्यते, यथाऽतिबहले जलदपटले समुन्नते बहुतरप्रभाया आवृतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभाऽनेनावृतेति व्यवहारः प्रवर्त्तते, अथ चाद्यापि काचित् दिनरजनीविभागजनिका तत्प्रभा प्रसरति, " सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं " इति नन्दीसूत्रवचनादनुभवसिद्धत्वाच्च, तथाऽनभ्युपगमे दिनरजनीविभागाभावस्स्यात्, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणाऽऽवृतस्यापि केवलज्ञानस्याऽनन्ततमो भागोऽनावृत एवास्ते, तथास्वाभाव्यादेव, यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् । यदुक्तं नन्दीसूत्रे—" जइ पुण सो वि आवरिज्जा, ता णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा " इति । सोऽपि चावशिष्टोऽनन्ततमो भागो जलधरानावृतदिनकरकरप्रसर इव कटकुड्यादिभिर्मति–श्रुता–ऽवधि–मनःपर्यायज्ञानावरणैराव्रियते, तथापि काचित् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गस्स्यात् । तत्र सर्वनिकृष्टज्ञानमात्रा सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां प्रथमसमयोत्पन्नजीवानामभिधीयते, तस्मात्प्रभृतिज्ञानविवृद्धिर्भवति । उक्तञ्च—

" सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण ।
सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥
तस्मात्प्रभृतिज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् ।
लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियवाङ्मनोदृग्भिः ॥ २ ॥ " इति ।

मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यान् छद्मस्थात्मा न जानीते तत्र प्रतिबन्धकः केवलज्ञानावरणोदयो न भवति, तस्याऽनन्तपदार्थविषयकप्रत्यक्षज्ञानोत्पत्तावेव प्रतिबन्धकत्वात्, किं तर्हि ? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । एवं केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोध आवार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्ततमभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावान्नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्ततमभागश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते तथापि काचिन्निगोदावस्थायामप्यव्यक्तदर्शनमात्राऽवतिष्ठते, अत्रापि जलधरदृष्टान्तादिभावना पूर्ववदेव, छद्मस्थात्मा यान् चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति तत्र प्रतिबन्धकः केवलदर्शनावरणोदयो न भवति, तस्य निखिलसामान्यविषयकदर्शनोत्पत्तावेव प्रतिबन्धकत्वात्, किं तर्हि ? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति । तथा च केवलज्ञानावरणावृतस्यात्मनो घनपटलाच्छादितस्य सूर्यस्येव योऽनन्ततमभागात्मको मन्दप्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमभेदसम्पादितं नानात्वं भजते, यथा घनपटलावृतसूर्यमन्दप्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटकुड्याद्यावरणविवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्व क्षयोपशमानुरूपं तथा प्रतिपद्यमानः स्वस्वक्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते, यथा मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः स मन्दप्रकाशो मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञाना-

वरणक्षयोपशमजनितोऽवधिज्ञानम्, मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमजनितो मनःपर्यायज्ञानमिति। केवलज्ञानावरणीयेन सर्वात्मनाऽऽवृतेऽपि केवलज्ञाने तद्गतमन्दविविधविविधतरविविधतमज्ञानप्रकाशरूपाः क्षायोपशमिकभावात्मका एते मतिज्ञानादयश्चत्वारोऽपि भेदाः सर्वथा केवलज्ञानावरणापगमे सति तदुत्पन्नस्य केवलज्ञानस्य—

"पणगं खलु पडिवाए, तस्सेगो देवभावमासज्ज।
मणुए रोगपमाया, केवलमिच्छत्तगमणे वा ॥ ११७ ॥"

इति बृहत्कल्पभाष्ये तत्क्षयोपशमनाशकतायाः प्रतिपादितत्वाचेन मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमनाशे सति न भवन्ति, तदानीं मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपनिमित्ताभावात्, केवलज्ञानव्याप्यज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्ने केवलज्ञानावरणस्य हेतुत्वेन तदभावाच, अत एव न मतिज्ञानावरणक्षयादिभावेऽपि तदानीं मतिज्ञानाद्युत्पादनप्रसङ्गः, अत एव मतिज्ञानादेर्विभावगुणत्वमिति प्रसिद्धिः। तथा च सिद्धमेतन्निमित्तभेदात् ज्ञानं पञ्चविधमिति, तदपि प्रमाणेन विचार्यमाणं प्रत्यक्षपरोक्षद्वयरूपमेव भवति, तदन्यप्रमाणानां तत्रैवान्तर्भावात्, यथा च तेषां तदन्तर्भावस्तथा व्युत्पादितमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकायामिति तत एवाऽवसेयं विस्तरार्थिना, नेह ग्रन्थगौरवभीत्या विस्तार्यते। ननु तथापि पञ्चज्ञानमध्ये इदं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणमिदञ्च परोक्षप्रमाणमिति विवेको नावगत इति चेत्, सोऽभ्युपगम्यते—अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतं कार्यत्वेनाश्रितं यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्, इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थः, तत्स्वरूपञ्च मतिज्ञानम्, तद्व्यवहारनयतो यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणम्, लोकेऽपीन्द्रियजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारात्, अत एव विशेषावश्यकभाष्येऽपि—"इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं" इत्युक्तम्। तथापि निश्चयनयतस्तत्परोक्षमेव तद्रूपतत्क्षयस्यात्मार्थत्वेन तथा द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते—पुद्गलमयत्वादित्यर्थः, तेभ्यो यदक्षस्यात्मनो ज्ञानमुदयते, न तु साक्षात्, तत्परोक्षम्, यदभिहितं भाष्ये—

"अक्खस्स पोग्गलकया जं दव्विंदियमणा परा तेणं।
तेहिं तो जं नाणं परोक्खमिह तमणुमाणं व ॥ ९० ॥" इति।

परोक्षत्वमस्येन्द्रियमनोनिमित्तज्ञानपर्यवसायितया तद्रूपत्वादस्य। श्रुतज्ञानं तु परोक्षमेव परनिमित्तज्ञानरूपत्वात् अनुमानवत्। यदुक्तं नन्दीसूत्रे—परोक्खं नाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—आभिणिबोहियनाणपरोक्खं च सुयनाणपरोक्खं च। अक्षो जीवः, तं प्रति साक्षाद्गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। यदुक्तं भाष्ये—

"जीवो अक्खो अत्थव्वावण-भोयणगुणण्णिओ जेण।
तं पइ वट्टइ नाणं जं पच्चक्खं तयं तिविहं ॥ ८९ ॥" इति।

इदमपि व्युत्पत्तिनिमित्तमेव, नैश्चयिकं प्रवृत्तिनिमित्त तूत्पत्ताविन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वम् स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमक्षयान्यतरसहकृतात्ममात्रजन्यत्वं वा, तदेव च निश्चयप्रत्यक्ष-लक्षणम्, तदाक्रान्तश्चावधिज्ञानादित्रयमिति तन्निश्चयप्रत्यक्षप्रमाणरूपम् । यदभिहितं नन्दीसूत्रे—"से किं तं नोइंदिअपच्चक्खं ? नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा—ओहिनाणपच्चक्खं मणपज्जवनाणपच्चक्खं केवलनाणपच्चक्खं" इति । ननु व्यावहारिक-नैश्चयिकप्रत्यक्षानुगतं किं लक्षणमिति चेत्, अर्थसाक्षात्कारित्वमेवेत्यवेहि, तच्च साक्षात्करोमि स्पष्टमवैमीति प्रतीत्योरेकाकारत्वात्तत्सिद्धस्पष्टतालक्षणम् । स्पष्टता यद्यपि ज्ञानावरणक्षयो-पशमजन्यतावच्छेदकजातिरूपतया तत्क्षयजन्यतावच्छेदकजातिरूपतया च द्विविधा, तथापि स्पष्टताद्वयं स्पष्टतात्वेनानुगतीकृत्य स्पष्टं प्रत्यक्षमित्येवानुगतं लक्षणं कल्प्यम्, स्पष्टलक्षणप्रत्यक्षमपि शास्त्रे मुख्यगौणभेदेन द्विविधं प्रोक्तम्, यदुक्तम्—"स्वार्थसंवेदनं स्पष्टमध्यक्षं मुख्यगौणतः" इति । तत्राद्यमगर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवम-स्मदाद्यध्यक्षं विशदं सव्यवहारनिमित्तं मतिज्ञानात्मकम्, तदपि निश्चयतस्तु परोक्षमेव, श्रुत-ज्ञानवत् इन्द्रियाद्यपेक्षकत्वेनाविशदत्वात् । द्वितीयमध्युत्पत्तावात्ममात्रापेक्षं विकलसकल-भेदेन द्विविधम्, तत्र विकलं अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यरूपिद्रव्यमात्रविषयकाव-धिज्ञानमनःपर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोद्रव्यपर्यायमात्रसाक्षात्कारिमनःपर्यायज्ञा-नभेदेन द्विविधम्, सकलं तु केवलज्ञानावरणक्षयजन्यनिखिलद्रव्यनिखिलपर्यायावगाहि-केवलज्ञानाख्यमेकविधमेवेति । अत्र बहु वक्तव्यं तथापि ग्रन्थगौरवभीतेर्नोच्यते, विस्तरार्थि-नाऽस्मत्सन्दृब्धतत्त्वार्थविवरणटीकातोऽवसेयमिति ।

ननु लक्षणाधीना लक्ष्यव्यवस्थितिरित्यत्र लक्ष्यीभूते प्रमाणे तदितराप्रमाणभिन्नत्वज्ञापकं, प्रमाणं प्रमाणस्वरूपतया व्यवहर्त्तव्यमित्याकारकव्यवहारप्रयोजकश्च तल्लक्षणमेवेति तत्किमिति चेत्, उच्यते, स्वार्थसंवेदनं प्रमाणमिति । तदर्थश्चैवम्—स्वयोग्योऽर्थस्स्वार्थः, तस्य संवेदनं विशदतया निर्णयस्वरूपम्, तेन संशयविपर्ययाऽनध्यवसायलक्षणस्य ज्ञानस्य प्रमाणता-परिहार एवं सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य व्यवहारानङ्गस्य तथाऽज्ञानरूप-स्येन्द्रियकारकसाकल्यादेश्च नैयायिकादिपरिकल्पितस्याऽविकल्पस्य वा सौगतपरिकल्पितस्य प्रामाण्यनिरासः कृतः । यद्वा स्वं चार्थश्च स्वार्थौ तयोः संवेदनं यथावस्थितत्वेन निश्चयः स्वार्थसंवेदनम्, तत्र ज्ञानजन्यज्ञाततालिङ्गकातीन्द्रियज्ञानानुमानवादिनां भाट्टानामेकात्म-समवेतोत्तरज्ञानेनाऽनुव्यवसायेन व्यवसायप्रत्यक्षमिति वादिना नैयायिकमुरारिमिश्राणां प्रधानविवर्त्तत्वेनाचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च मतमपाकर्तुं स्वशब्दसशब्दनम्, पारमा-र्थिकपदार्थसार्थापलापिज्ञानाद्वैतवादिमाध्यमिकवेदान्तिनां मतं निरसितुमर्थपदोपादानम्, सम्पूर्णप्रमाणलक्षणवाक्येन पुनः परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेतुत्वस्याविसंवादकत्वस्यान-

तेन तन्निराकर्तुमप्यशक्य यथा तयोक्तस्वभावविशेष आख्यातुमशक्योऽपि प्रत्याख्यातु-
मप्यशक्य एवेति । नैऽप्यत्र ज्ञानं स्वविषये घटादौ व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वविषयेऽपि स्वस्मिन्
व्यवहारं प्रवर्तयति, ज्ञानान्तरेण ज्ञानव्यवहारोपगमे गौरवं स्यादिति स्वव्यवहारजनकत्वमेव
स्वविषयत्वम्, तथाऽभेदेऽपि सम्भवत्येवेति स्वप्रकाशवादिप्रभाकरानुयायिनो वदन्ति, तन्न
तदप्यसङ्गतमेव, यतस्स्वव्यवहारजनकत्वं स्वव्यवहारानुकूलशक्तिमत्त्व, प्रकाशानुकूलत्वं च
न जनकत्वं चक्षुरतीन्द्रियत्वेनाप्रमापेक्षत्वेन च तत्र स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकाऽसम्भ-
वात्, किन्तु जनकतावच्छेदकत्वम्, तच्च तदा स्यात् यदि शक्तिमत्त्वेन रूपेण ज्ञान-
स्य स्वव्यवहारं प्रति कारणत्वं भवेत्, तच्च न सम्भवति, यतो यदि शक्तिर्जनकतावच्छेदकत्वेनाभ्यु-
पगम्यते तदा तस्यैव तदवच्छेदकत्वात् व्यक्तमात्माश्रयः । अथ जनकतातो व्यतिरिक्ता
सेति चेत्तदा तस्याः पदार्थान्तरत्वाभ्युपगमेनोक्तात्माश्रयदोषोद्धारेऽपि कारणत्वज्ञानस्यापि
कारणतावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्वेन ज्ञाने स्वव्यवहारकारणत्वज्ञानार्थं शक्तिज्ञानमपेक्षणी-
यम्, तच्च स्वव्यवहारजनक ज्ञानमित्याकारक न कारणत्वग्रहं विना, शक्तेरतीन्द्रियत्वेन
कारणत्वग्रहाधीनग्रहकत्वादित्यन्योन्याश्रयदोषापत्तिस्स्यादिति । नन्वनुव्यवसाये घटज्ञान
विषयकत्वस्याप्यवगाहने घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादित्युक्तं किं विस्मृतं ? न
विस्मृतम्, ज्ञानस्येदं जानामीति ज्ञानं जानामीत्युभयाकारत्वेनाऽभ्युपगमात् । ननु यद्येक-
मेव ज्ञानं घटं जानामि घटज्ञानं जानामीत्याकारद्वयशालि चेत्तदाऽऽकारद्वयवत्त्वेन तदभि-
लप्येत, न च तथाऽभिलप्यते इत्यतो नाकारद्वयशालि तत्, न चैकं विरुद्धाकारद्वयशालि
युज्येतापि, तथा सत्येकमेव न स्यादिति चेत्, नैवम्, यतो घटावगाहनांशघटज्ञानावगाहनां-
शयोर्भेदेन ज्ञानस्यापि कथञ्चिद्भेदस्स्वीक्रियत एव, ततो घटमहं जानामीति घटज्ञानमहं
जानामीति चाभिलापभेदः, तत्र च विवक्षैव कारणम्, यदा परावबोधार्थं घटविषयकत्वेन
ज्ञानं वक्ता वक्तुमिच्छति तदा घटं जानामीत्यभिलापः, यदा च घटविषयकज्ञानविषय-
कत्वेन तदा घटज्ञानं जानामीत्यभिलाप इति नाभिलापभेदो ज्ञानस्य सर्वथा भेदव्यवस्था-
पकः, न वा कथञ्चिदेकत्वाभ्युपगन्तृस्वमतप्रमाणवादिमते कथञ्चिद्भेदस्याप्यनुपपत्तिरिति ।
एतेन स्वविषयत्वे सिद्धे ज्ञानान्तरकल्पनागौरवमहत्त्व ज्ञानगोचरताया ग्राहकं प्रत्यक्षं स्व-
प्रकाशताया प्रमाणं, तेन च मानेन तस्य स्वविषयताविषयतासिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्या-
शङ्कापि निरस्ता, तावता व्यवसायस्यैव ज्ञानविषयत्वेनानुभूयमानानुव्यवसायरूपत्वेनाभ्यु-
पगमे सति पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रकाशत्वसिद्धेः । अयमभ्यायः—यद्ययं घट इति ज्ञानमात्मनः
स्वप्रकाशत्वं साधयेत् तदोक्तदिशाऽन्योन्याश्रयः स्यात्, यतस्तस्य ज्ञानविषयकत्वेनानु-
भवात्, स्वविषयकत्वस्य प्रमाणान्तरेणैव साध्यत्वापत्तेः, न चैवम् घटमहं जानामीत्यनुव्यव-
सायमाश्रित्यैव स्वप्रकाशत्वं व्यवस्थाप्यते तत्र च ज्ञानविषयत्वमनुभवसिद्धमेव, न प्रमाणा-
न्तरावतारसाध्यम्, विषयतासम्बन्धेन च व्यवसायात्मकज्ञानस्य सामर्थ्येन विषयितासम्बन्धेनानु

व्यवसायात्मकज्ञानेनाऽभेदे च सिद्धे स्वविषयत्वमपि सिद्धमेव, तदेव च स्वप्रकाशत्वमिति क्वाऽन्योन्याश्रय इति। ननु ज्ञानं स्वप्रकाशात्मकमित्यस्य स्वेनैव स्वस्य प्रकाशः स्वप्रकाशः तदात्मकमित्यर्थः स्वीकृतो जैनैः, तथा च स्व स्वात्मनैव प्रकाशयति ज्ञानमिति सिद्धम्, अत एव "स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति" १-१७ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रोक्तमपि सङ्गच्छते, तच्च न युक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, न हि सुतीक्ष्णोऽपि करवालः कदाचित् स्वं विदारयति, न च विचित्रगतिमञ्चारचतुराऽपि नर्त्तकी निजस्कन्धमधिरोढुं शक्नोतीति चेत्, अहो भवदीयाज्ञानविलासः, येन स्वदर्शनप्रसिद्धमपीश्वरज्ञानमाबालगोपालप्रसिद्धमपि वा प्रदीपालोकादिकं स्वपरप्रकाशकं नावधारयति, न हि त्रिजगत्कर्तृज्ञानं स्वप्रकाशे ज्ञानान्तरमपेक्षते, नापि प्रदीपदिनकराद्यालोकः स्वस्वरूपप्रकाशने प्रकाशान्तरमपेक्षते, प्रतीतिविरोधात्। एतेन घटमहं जानामीत्यादेर्ज्ञानस्य कर्तृकर्मक्रियावगाहित्वे सत्येव तादृशत्रिपुटीप्रत्यक्षात्स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यात्, न च तत्त्रितयावगाहित्वं तत्र सम्भवति, क्रियायाः कृतेर्वा समवायित्वलक्षणकर्तृत्वस्य परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वलक्षणस्य करणव्यापारविषयत्वलक्षणस्य वा कर्मत्वस्य धात्वर्थत्वलक्षणस्य कृतिजन्यत्वलक्षणस्य वा क्रियात्वस्यायोग्यत्वेन तत्राभासमानत्वादित्यपि निरस्तम्, उक्तलक्षणतत्त्रितयाभानेऽपि आश्रयत्वलक्षणकर्तृत्वस्य विषयत्वलक्षणकर्मत्वस्य विशेषणीभूतज्ञानत्वलक्षणक्रियात्वस्य च भाने बाधकाभावात्, आश्रयत्वादित्रयाणामाश्रयरूपत्वाऽभ्युपगमेन तद्भाने तद्भानस्यावश्यम्भावात्। एतेन विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमेन विशेषणीभूतज्ञानं पूर्वं नैव ज्ञातमिति जानामीत्यत्रापि तस्य विशेषणतया कथं भानं स्यात्, येन स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, पूर्वं विशेषणीभूतस्याभावत्वस्याऽज्ञानेऽप्यभावत्वविशिष्टबोधात्तत्र व्यभिचारवारणाय समानवित्तिवेद्यभिन्नविशेषणज्ञानत्वेन विशिष्टबुद्धौ हेतुत्वं वाच्यम्, एवञ्च जानामीति ज्ञानविशिष्टात्मज्ञाने ज्ञानरूपविशेषणस्यात्मसमानवित्तिवेद्यत्वेन तज्ज्ञानं न हेतुरिति ज्ञानस्य पूर्वमज्ञातत्वेऽपि विशेषणत्वोपपत्तेस्स्वसंवेदनज्ञानस्यैव सिद्धेः। न चाहं सुखीत्यादिप्रत्यये आत्मभानेऽपि ज्ञानस्याभानान्न तस्य तत्समानवित्तिवेद्यत्वमिति वाच्यम्, अहं सुखीत्यस्याप्यहं सुखं साक्षात्करोमीत्याकारत्वात्, अनभ्यासादिदोषेण तदनभिलापात्। नन्वर्थनिश्चयत्वेन ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाद् घटपटाद्यर्थमात्रविषयकमेव ज्ञानमभ्युपगन्तुमर्हमिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, यतो व्यवसायस्यानुव्यवसायरूपतया स्वविषयकत्वेनाधिकविषयकत्वेऽपि तस्यार्थविषयकत्वेन प्रवर्त्तकत्वमप्यविरुद्धमेव, इष्टतावच्छेदकप्रकारकप्रवृत्तिविषयविशेष्यकज्ञानत्वेन प्रवर्त्तकत्वात्, तादृशज्ञानत्वस्य च स्वसंवेदनज्ञानेऽप्यक्षतिरेवेति तत्प्रवर्त्तकं स्यादेवेति नोक्तदोष इति। ननु प्रत्यक्षविषयतायाः प्रत्यक्षजनकत्वव्याप्यत्वनियमात् स्वसंवेदनपक्षेऽनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्षाजनकस्य व्यवसायस्य कथमनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष-

विमतार्थाधिगन्तृत्वादेव प्रमाणलक्षणता परिच्छिन्नाऽवसेयेति, स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाण मिति लक्षणमयुक्तरूपमेवेत्यत्रैव तात्पर्यम्, तथापि किञ्चिदुच्यते–प्रतिपाद्यानुसारेण यथायोग्यं लक्ष्यं लक्षणं वा द्वयं वा विधीयते, परप्रतिपत्त्यर्थे हि वाक्यप्रयोगमिच्छन्ति मनीषिणः, मोहपारतन्त्र्यवशात् परे चाऽनेकविधास्तद्विषये संशयाना विप्रतिपद्यमानाश्चोपलभ्यन्त इति स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य प्रमाणत्वे विपर्ययसंशयानध्यवसायाः कस्यचित्सम्भवन्ति, तत्प्रतिक्षेपाय तं प्रत्यक्षणप्रदर्शनन्यायेनाप्राप्तं प्रमाणं विधीयते, तथा च विवादास्पदं ज्ञानं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वादित्यनुमानेन तत्र प्रमाणत्वं सिद्धिकोटिमुपनीयन्ति कृतिनः। तथा मोहपारतन्त्र्याधीनयथार्थज्ञानविज्ञत्वादेव प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वे कस्यचित्संशयस्ते समुद्भवन्ति, प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं न किन्तु कल्पनापोढत्वेन निर्विकल्पकज्ञानरूपमेवेत्यभ्युपगन्तुर्बौद्धस्येवेति तदपनोदाय तं प्रति स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं विधेयीकृत्य विवादास्पदं प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यनुमानेन स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य सिद्धिसौधमारोपणीयम्, एवं प्रमाणप्रमेयापलापिशून्यवादिनम्प्रति समग्रं विधेयम्। तथा कस्यचित्सकलार्थसिद्धये लक्षणांशस्यैव व्यापारणा, यथा ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति। अत्र यौगास्त्वाहुरेवं–“उक्तप्रमाणलक्षणं न युक्तिसङ्गतम्, यतो ज्ञानं प्रदीपवत्स्वप्रकाशात्मकत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपमिति सिद्धौ तत्सिद्ध्यति, न च तदपि सिद्धम्, यतो ज्ञानस्य बाह्यार्थविषयकत्वेन तत्र परव्यवसायित्वं प्रमाणगोचरमपि न च स्वव्यवसायित्वं प्रमाणमार्गमनुभवति, स्वसंवेदनज्ञानस्यैवाऽसिद्धेः, तथाहि–अयं घट इति ज्ञाने घटविषयकत्वे किम्मानमिति चिन्तायामनुव्यवसाय एव मानत्वेन प्रदर्शनीयः, तस्य घटविषयकत्वविशिष्टज्ञानविषयकत्वेन विशेषणविधया घटविषयकत्वस्यापि तत्र भानात् तेन तत्सिद्धेः, यद्विषयकं यज्ज्ञानं तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः, तदनुपदर्शने घटज्ञानं घटविषयकत्वमेव न तु पटविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावेन सर्वविषयकत्वं निर्विषयकत्वं वाऽऽपद्येत, तथामिदम्, न च किमनुव्यवसायप्रदर्शनेन, यज्ज्ञानं यदाकारं तज्ज्ञानं तद्विषयकमिति सामान्यव्याप्त्यैवायं घट इति ज्ञानस्य घटाकारत्वेन घटविषयकत्वसिद्धिसम्भवादेवेति वाच्यम्, बौद्धमते यद्यपि ज्ञानस्य घटाकारत्वादेर्ज्ञानधर्मत्वेऽपि तन्मते बाह्यविषयविषयिभावस्यैवाऽभावेन तन्मताश्रयणस्यात्राऽयुक्तत्वेन प्रकृते न्यायनयमवलम्ब्यैव विचारस्य प्रवर्तितत्वात्तथा तन्मते घटाकारत्वस्य घटविषयकत्वाद्यतिरिक्तस्याभावेनात्माश्रयापत्त्या निरुक्तव्याप्त्या तस्य साधयितुमशक्यत्वात्, तन्मताश्रयणेऽपि वा घटज्ञाने घटाकारत्वमेव, न तु पटाकारत्वमित्यत्रानुव्यवसायं विना मानान्तरं न पश्यामः, तथा चानुव्यवसायस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारकत्वेन व्यवसायविशेष्यकघटविषयकत्वप्रकारकतया व्यवसाये घटविषयकत्वसिद्धावपि व्यवसाये व्यवसायविषयकत्वानवगाहनेन व्यवसायविषयकत्वाप्रसिद्ध्या व्यवसायविषयत्वविषयकत्वस्य सुतरामसिद्धत्वम्, न हि यन्नावगाहि

ज्ञानस्य घटविषयकत्वविषयकत्वं केनाप्यनुमन्यते, तथा च व्यवसाये स्वविषयत्वरूपस्व-प्रकाशत्वस्याऽसिद्ध्या स्वप्रकाशज्ञानाऽसिद्धिरायातैव, न च सर्वज्ञानानां घटमहं जानामीत्या-द्याकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयकत्वसिद्धिरिति ज्ञाने स्वसंविदितत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवेति वाच्यम्, तादृशानुव्यवसायस्य घटोऽयमिति व्यवसायोत्तरकालभावित्वेन भिन्नत्वेनैवानुभवात्। किञ्च घटमहं जानामीत्यस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्यर्थकत्वेन कर्त्तृभूतमात्मानं तत्र कर्मद्वारा ज्ञानं तत्र च घटविषयकत्वं विशेषणविधयाऽवगाहमानं तज्ज्ञानं तेष्वेवात्मज्ञानविषयकत्वेषु प्रमाणं स्यात्, न तु व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषय-त्वेऽपि, न हि घटज्ञानतद्विषयकज्ञानयोरभेदोऽद्यापि सिद्ध इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयकत्वविषयकत्वं तु दुरापेतम्, तथा च यज्ज्ञानं यद्विषयकत्वाभाववत् तज्ज्ञानं तद्विषयकत्वे प्रमाणं न भवितुमर्हतीति नियमबलादेव घटमहं जानामीत्यनुव्यव-सायप्रत्यक्षं न व्यवसायगतस्वविषयकत्वे प्रमाणम्। अथ तदपि घटज्ञानविषयकत्वं विशे-षणविधयाऽवगाहत एवेति चेत्, तर्हि घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादिति चेत्, अत्र समाधीयते–"एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया" इति नियमबलादेव पूर्वमयं घट इति व्यवसायः तदनन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाय इति ज्ञानद्वयकल्प-नाया गौरवमात्रसम्पादकतयाऽनुपादेयत्वेन लाघवाद् व्यवसाय एव कर्त्तृकर्मक्रियावगाह्य-नुव्यवसायाकारतयोपादेयः, तादृशानुव्यवसाये च ज्ञानविषयकत्वे विवादाभावेन तस्य स्वा-ऽभिन्नत्वेन स्वविषयत्वमप्यविवादसिद्धमेव। न्यायमते प्रतियोगिताऽनुयोगिता विशेष्यता प्रकारता च यथाश्रयस्वरूपा नातिरिक्ता तथा जैनमतेऽपि स्वविषयत्वस्य स्वस्मादनतिरि-क्तत्वेन ज्ञानात्मकस्वभाने तदात्मकविषयताया अप्यवश्यम्भानमिति स्वविषयत्वविषयक-त्वमप्ययत्नसिद्धमेवेति भवति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, एतेन घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानाव-भासेऽपि तद्विषयत्वं नावभासत इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयत्वविषयकत्वं तु दुरापेतमित्याद्यर्थकं यदुक्तं प्राक् तन्निरस्तमवसेयम्, विषयता हि विषयस्वरूपैव, नाति-रिक्तः पदार्थ इति व्यवसायात्मकविषयभाने तत्स्वरूपाया विषयताया भानमपि न्याय्यमेव, तथा च घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानविषयत्वं सर्वैरपि स्वीक्रियत इति ज्ञानस्वरूपज्ञाननिष्ठ-विषयत्वविषयकत्वमपि तत्र स्वीकरणीयमेव, पूर्वोक्तनीत्या व्यवसायस्यानुव्यवसायाभिन्नत्वेन तत्रापि तथात्वमयत्नसिद्धमेवेति, एतेन स्वस्यैव स्वविषयत्वे अभेद एव विषयविषयिभाव-स्स्वीकृतस्स्यात्, न चासौ युक्तः, भेदनियतत्वात्तस्येत्यपि निरस्तम्, भेदनियतो विशेषण-विशेष्यभावः कथमभेद इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, तस्माद् घटाभावे घटाभाव इति 'स्वस्मिन्' स्वविशेषणत्वप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या यथा स्वभावविशेषादभेदे विशेषणविशेष्यभावस्तथा प्रकृतेऽभेदेऽपि स्वभावविशेषादेव विषयविषयिभाव इति प्रतीहि। कोऽसौ स्वभावविशेष इति चेत्, उच्यते, शर्करायाः कीदृशं माधुर्यमिति केनचित्प्रश्ने कृते तं प्रत्युत्तरं दातुमशक्यमपि

तेन तन्निराकर्तुमप्यशक्यं यथा तथोक्तस्वभावविशेष आश्रयात्तुमशक्योऽपि प्रत्यासत्त्याद्
मप्यशक्य एवेति । येऽप्यत्र ज्ञानं स्वविषये घटादौ व्यवहारं प्रवर्तयत्स्वाविषयेऽपि स्वस्मिन्
व्यवहारं प्रवर्तयति, ज्ञानान्तरेण ज्ञानव्यवहारोपगमे गौरवं स्यादिति स्वव्यवहारजनकत्वमेव
स्वविषयत्वम्, तथाऽभेदेऽपि सम्भवत्येवेति स्वप्रकाशत्वादिप्रभाकरानुयायिनो वदन्ति, तन्म
तमप्यसङ्गतमेव, यतस्स्वव्यवहारजनकत्व स्वव्यवहारानुकूलशक्तिमत्त्वं, शक्यानुकूलत्वं च
न जनकत्वं शक्तेरतीन्द्रियत्वेनाभ्युपगमापेक्षत्वेन च तत्र स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकाऽसम्भ
वात्, किन्तु जनकतावच्छेदकत्वम्, तच्च शक्तौ तदा स्यात् यदि शक्तिमत्त्वेन रूपेण ज्ञान-
स्य स्वव्यवहारं प्रति कारणत्वं भवेत्, तच्च न सम्भवति, यतो यदि शक्तिर्जनकतारूपैवाभ्यु
पगम्यते तदा तस्यैव स्वावच्छेदकत्वात् व्यक्तमात्माश्रयः । अथ जनकतातो व्यतिरिक्ता
सेति चेत्तदा तस्याः पदार्थान्तरत्वाभ्युपगमेनोक्तात्माश्रयदोषोद्धारेऽपि कारणताज्ञानं प्रति
कारणतावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्वेन ज्ञाते स्वव्यवहारकारणत्वज्ञानार्थं शक्तिज्ञानमपेक्षणी
यम्, तच्च स्वव्यवहारजनकं ज्ञानमित्याकारकं न कारणताग्रहं विना, शक्तेरतीन्द्रियत्वेन
कारणत्वग्रहाधीनग्रहकत्वादित्यन्योन्याश्रयदोषापत्तिस्स्यादिति । नन्वनुव्यवसाये घटज्ञान
विषयकत्वस्याप्यवगाहने घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्स्यादित्युक्तं किं विस्मृतं ? न
विस्मृतम्, ज्ञानस्येदं जानामीदं ज्ञानं जानामीत्युभयाकारत्वेनाऽभ्युपगमात् । ननु यद्येक
मेव ज्ञानं घटं जानामि घटज्ञानं जानामीत्याकारद्वयशालि चेत्तदाऽऽकारद्वयवत्त्वेन तदभि
लप्येत, न च तथाऽभिलप्यते इत्यतो नाकारद्वयशालि तत्, न चैकं विरुद्धाकारद्वयशालि
युज्यतापि, तथा सत्येकमेव न स्यादिति चेत्, नैवम्, यतो घटावगाहनघटज्ञानावगाहनो
भयोर्भेदेन ज्ञानस्यापि कथञ्चिद्भेदस्स्वीकृत एव, ततो घटमहं जानामीति घटज्ञानमहं
जानामीति चाभिलापभेदः, तत्र च विवक्षैव कारणम्, यदा परावबोधार्थं घटविषयकत्वेन
ज्ञानं वक्ता वक्तुमिच्छति तदा घटं जानामीत्यभिलापः, यदा च घटविषयकज्ञानविषय
कत्वेन तदा घटज्ञानं जानामीत्यभिलाप इति नाभिलापभेदो ज्ञानस्य सर्वथा भेदव्यवस्था
पकः, न वा कथञ्चिदेकत्वाभ्युपगन्तृस्याद्वादमते कथञ्चिद्भेदस्याप्यनुपपत्तिरिति ।
एतेन स्वविषयत्वे सिद्धे ज्ञानान्तरकल्पनागौरवसहकृतं ज्ञानगोचरतया ग्राहकं प्रत्यक्षं स्व
प्रकाशकतया प्रमाणं, तेन च मानेन तस्य स्वविषयतानियतासिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इत्या
द्यपि निरस्ता, लाघवात् व्यवसायस्यैव ज्ञानविषयकत्वेनानुभूयमानानुव्यवसायरूपत्वेनाभ्यु
पगमे सति पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रकाशत्वसिद्धेः । अयम्भावः—यद्यपि घट इति ज्ञानमात्रस्य
स्वप्रकाशत्वं साध्येत तदोक्तदिशाऽन्योन्याश्रयः स्यात्, यतस्तस्य ज्ञानविषयकत्वेनाननु
भवात्, स्वविषयकत्वस्य प्रमाणान्तरेणैव साध्यतापत्तेः, न चैवम्, घटमहं जानामीत्यनुव्यव
सायमात्रस्यैव स्वप्रकाशत्वं व्यवस्थाप्यते, तत्र च ज्ञानविषयत्वमनुभवसिद्धमेव, न प्रमाणा-
न्तरापेक्षतासम्भवः, विषयतायाश्च व्यवसायात्मकज्ञानस्य लाघवेन विषयितायामेवानु

व्यवसायात्मकज्ञानेनाऽभेदे च सिद्धे स्वविषयत्वमपि सिद्धमेव, तदेव च स्वप्रकाशत्वमिति क्वाऽन्योन्याश्रय इति। ननु ज्ञानं स्वप्रकाशात्मकमित्यस्य स्वेनैव स्वस्य प्रकाशः स्वप्रकाशः तदात्मकमित्यर्थः स्वीकृतो जैनैः, तथा च स्वं स्वात्मनैव प्रकाशयति ज्ञानमिति सिद्धम्, अत एव "स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनं बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति" १-१७ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रोक्तमपि सङ्गच्छते, तच्च न युक्तम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, न हि सुतीक्ष्णोऽपि करवालः कदाचित् स्वं विदारयति, न च विचित्रगतिसञ्चारचतुराऽपि नर्त्तकी निजस्कन्धमधिरोढुं शक्नोतीति चेत्, अहो भवदीयाज्ञानविलासः, येन स्वदर्शनप्रसिद्धमपीश्वरज्ञानमाबालगोपालप्रसिद्धमपि वा प्रदीपालोकादिकं स्वपरप्रकाशकं नावधारयति, न हि त्रिजगत्कर्त्तृज्ञानं स्वप्रकाशे ज्ञानान्तरमपेक्षते, नापि प्रदीपदिनकराद्यालोकः स्वस्वरूपप्रकाशने प्रकाशान्तरमपेक्षते, प्रतीतिविरोधात्। एतेन घटमहं जानामीत्यादेर्ज्ञानस्य कर्तृकर्मक्रियावगाहित्वे सत्येव तादृशत्रिपुटीप्रत्यक्षात्स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यात्, न च तत्त्रितयावगाहित्वं तत्र सम्भवति, क्रियायाः कृतेर्वा समवायित्वलक्षणकर्तृत्वस्य परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वलक्षणस्य करणव्यापारविषयत्वलक्षणस्य वा कर्मत्वस्य धात्वर्थत्वलक्षणस्य कृतिजन्यत्वलक्षणस्य वा क्रियात्वस्यायोग्यत्वेन तत्राभासमानत्वादित्यपि निरस्तम्, उक्तलक्षणतत्त्रितयाभानेऽपि आश्रयत्वलक्षणकर्तृत्वस्य विषयत्वलक्षणकर्मत्वस्य विशेषणीभूतज्ञानत्वलक्षणक्रियात्वस्य च भाने बाधकाभावात्, आश्रयत्वादित्रयाणामाश्रयरूपत्वाऽभ्युपगमेन तद्भाने तद्भानस्यावश्यम्भावात्। एतेन विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानं कारणमिति नियमेन विशेषणीभूतज्ञानं पूर्वं नैव ज्ञातमिति जानामीत्यत्रापि तस्य विशेषणतया कथं भानं स्यात्, येन स्वसंवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यादित्याशङ्काऽपि निरस्ता, पूर्वं विशेषणीभूतस्याभावत्वस्याऽज्ञानेऽप्यभावत्वविशिष्टबोधाच्च व्यभिचारवारणाय समानवित्तिवेद्यभिन्नविशेषणज्ञानत्वेन विशिष्टबुद्धौ हेतुत्वं वाच्यम्, एवञ्च जानामीति ज्ञानविशिष्टात्मज्ञाने ज्ञानरूपविशेषणस्यात्मसमानवित्तिवेद्यत्वेन तज्ज्ञानं न हेतुरिति ज्ञानस्य पूर्वमज्ञातत्वेऽपि विशेषणत्वोपपत्तेस्स्वसंवेदनज्ञानस्यैव सिद्धेः। न चाहं सुखीत्यादिप्रत्यये आत्मभानेऽपि ज्ञानस्याभानाच्च तस्य तत्समानवित्तिवेद्यत्वमिति वाच्यम्, अहं सुखीत्यस्याप्यहं सुखं साक्षात्करोमीत्याकारत्वात्, अनभ्यासादिदोषेण तदनभिलापात्। नन्वर्थनिश्चयत्वेन ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाद् घटपटाद्यर्थमात्रविषयकमेव ज्ञानमभ्युपगन्तुमर्हमिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, यतो व्यवसायस्यानुव्यवसायरूपतया स्वविषयकत्वेनाधिकविषयकत्वेऽपि तस्यार्थविषयकत्वेन प्रवर्त्तकत्वमप्यविरुद्धमेव, इष्टतावच्छेदकप्रकारकप्रवृत्तिविषयविशेष्यकज्ञानत्वेन प्रवर्त्तकत्वात्, तादृशज्ञानत्वस्य च स्वसंवेदनज्ञानेऽप्यक्षतिरेवेति तत्प्रवर्त्तकं स्यादेवेति नोक्तदोष इति। ननु प्रत्यक्षविषयतायाः प्रत्यक्षजनकत्वव्याप्यत्वनियमात् स्वसंवेदनपक्षेऽनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्षाजनकस्य व्यवसायस्य कथमनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष-

विषयत्वमिति चेत्, तदप्यसुन्दरम्, अतीतानागतार्थानामीश्वरसाक्षात्कारजनकत्वाऽभावेऽपि तत्र तत्साक्षात्कारविषयत्वस्य सद्भावेनोक्तव्याप्तौ व्यभिचारात्, दोषविशेषजन्यसाक्षात्कार विषयेऽप्येष व्यभिचारो द्रष्टव्यः। तद्व्यभिचारवारणाय दोषविशेषाजन्यप्रत्यक्षविषयत्वं यत्र तत्र प्रत्यक्षजनकत्वमिति व्याप्तिकल्पने हेतुघटकप्रत्यक्षे उक्तविशेषणदानवत्स्वसंवेदन ज्ञानमिथ्यात्वविशेषणदानेऽपि दीयतां दृष्टिः, येन सर्वं समञ्जसं स्यात्। एतेनेन्द्रियसन्नि कर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमाश्रित्य पूर्वं व्यवसायात्मकज्ञानेन सहेन्द्रियसन्निकर्ष स्याभावात्कथं तत्प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम्, चक्षुषः प्राप्यकारित्वाऽसिद्धेस्तस्यार्थेन सह सन्निकर्षाभावाच्चाक्षुषसंवेदने तस्य लक्षणस्याऽघटमानत्वेनाऽव्यापकत्वात्, तथाहि चक्षुर प्राप्तार्थप्रकाशकं अधिष्ठानाऽसम्बद्धार्थग्राहकेन्द्रियत्वात् मनोवदित्यनुमानेन चक्षुषोऽप्राप्तार्थ प्रकाशकत्वे सिद्धे तस्यार्थेन सन्निकर्षाभावेऽपि प्रत्यक्षज्ञानोत्पादकत्वसिद्धेरुक्तलक्षणस्य व्याप्तिदोषदुष्टत्वाच्च युक्तम्, न च चक्षुषोऽसन्निकृष्टार्थप्रत्यक्षजनकत्वे प्रत्यक्षस्य प्रति- नियतविषयकत्वं न स्यादिति स्वजनकसन्निकर्षाश्रयत्वं प्रत्यक्षविषयत्वे तन्त्रं वाच्यमिति चक्षुषोऽर्थेन सह सन्निकर्षः प्रत्यक्षविषयत्वप्रयोजकत्वेऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति नोक्तलक्षण- मव्यापकमिति वाच्यम्, तत्प्रतिनियतविषयत्वे स्वावरणकर्मक्षयोपशमादिरूपयोग्यताया एव तन्त्रत्वात्, तथा च प्रत्यक्षज्ञानस्य यद्विषयतावच्छेदेन साऽऽविर्भवति तद्विषयकत्वमेव भवति, नान्यविषयकत्वम्, एवं विषयस्यापि स्वावच्छेदेनाविर्भूतावरणकर्मक्षयोपशमादिरूप योग्यताविशिष्ट जन्यतासम्बन्धेन यज्ज्ञानं तद्विषयत्वमेव, नान्यज्ञानविषयत्वमित्युक्तं प्राक्। अत एव परोक्षज्ञानस्यार्थसन्निकर्षाद्यऽजन्यतया परेणाभिमतस्य प्रतिनियतविषयकत्व व्यवस्थोपपत्तिस्सङ्गच्छते। एतेनार्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था? तदुत्पत्ति- तदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते अर्थाऽजन्यत्वस्याऽतदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्य विशिष्टत्वादिति बौद्धमतमपि निरस्तम्, अर्थोत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः, अर्थात् ज्ञानोत्पत्तावपि च करणीभूता तादृश योग्यताऽवश्यमाश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं नियम इति। यदि च चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं स्यात्तर्हि वह्नि [illegible]र्थेन सह संयोगे तस्य दाहच्छेदापत्तिस्स्यात्, त्वगादेरिव, जलादिसंयोगे च शीतत्वं स्यात्, ननु मुहुर्मुहुस्सूर्यकिरणकलापलोकने दाहदर्शने अपि भवत एवेतीयत्यया ततश्चक्षुषः प्राप्यकारित्वमेव सिध्यतीति चेत्, नैवम्, यतश्चक्षुस्स्वयमस्त्वस्थादिमण्डलादिसमाक्रम्य प्रदेशं गत्वा समाश्लिष्य न रूपं परिच्छिनत्ति, किन्तु रविकिरणादिकमेव चक्षुर्देशमागच्छद् स्वैतरमात्रेणैव दाहलक्षणोपघातोपपत्तेः, शीतलजल-घृत-चन्द्राद्यवलोकने तु "मयेव अक्षुम्मरं पिब तयायामासओ सोम्मं" इत्युक्तेर्दाहलक्षणोपघाताभाव एव चैतस्यलक्षणानुग्रह तदर्थैव इत्युपचरितत्वस्यैव तस्य सद्भावात्। यच्च चक्षुरेव रूपतः प्राप्तेन मूर्तिमता चक्र

किरणेनेन्द्रनीलमणिकिरणेन च वस्तुगत्या शैत्यं भवति, तदपि चक्षुषस्तत्र गमनाभावेन सम्बद्धार्थग्राहकत्वाभावाद् विषयदेशमप्राप्तेनापि तेन रूपपरिच्छेदोपपत्तेश्च न तदऽप्राप्यकारित्वक्षतिमावहति, यदि स्वत एव चक्षुरर्थेन सह संयुज्य तत्प्रत्यक्षं जनयेत्तर्हि चक्षुषः सूर्यमरीचिदर्शनादुपघातो यथा तथा करवालदर्शनादपि स स्यात्, न चैवं भवतीति चक्षुरप्राप्तार्थप्रत्यक्षं करोतीति सिद्धम्। तदिदमुक्तं भाष्यकृता—"लोअणमपत्तविसयं मणोव जमणुग्गहाइसुन्नंत्ति।" अनेन भाष्यगाथापूर्वार्द्धेन लोचनमप्राप्तग्राह्यार्थविषयकबोधजनकं ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात् मनोवदित्यनुमानं प्रदर्शितम्। अत एवाग्रे "गन्तुं न रूवदेसं पासइ" इत्युक्तम्। अथ जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वा देहान्मनो निर्गत्य मेरुशिखरस्थजिनप्रतिमादिना ज्ञेयेन संश्लिष्यते, लोकेऽप्यनुभवसिद्धमेतत्, यतस्तत्रापि वक्तारो वदन्ति—अमुत्र मे मनो गतमिति, अतो मनसः प्राप्यकारित्वान्मनोवदिति दृष्टान्तस्साध्यविकल इति, तदुक्तं पूर्वपक्षमाशङ्क्य भाष्ये—

"गंतुं नेएण मणो संबज्झइ जग्गओ व सिमिणे वा।
सिद्धमिदं लोयम्मि वि अमुगत्थगओ मणो मेत्ति ॥ २१३ ॥"

इति चेत्, उच्यते समाधिः—"मनो न ज्ञेयेन सह संश्लिष्यते ज्ञेयकृतानुग्रहोपघाताभावात् लोचनवत्, इतरथा तोयचन्दनादिचिन्तनकाले स्पर्शनेन्द्रियवन्मनोऽप्यनुगृह्येत, दहन-विष-शस्त्रादिचिन्तनसमये च तद्वदेवोपहन्येत, न चैवम्, तस्माल्लोचनवदप्राप्यकार्येव मनः। अमुत्र मे मनो गतमिति तु भ्रान्तिरेव। उक्तञ्चोत्तरपक्षमाश्रित्य भाष्ये—

"नाणुग्गहो-वघायाभावाओ लोयणं च सो इहरा।
तोय-जलणाइचिन्तणकाले जुज्जेज्ज दोर्हि पि ॥ २१४ ॥"

किञ्च मनस्तावद्द्विधा द्रव्यमनो भावमनश्चेति, तत्र किं द्रव्यमनो भावमनो वा मेर्वादिविषयसन्निधौ गच्छेत्, न तावद्द्वितीयविकल्पो युक्तः, भावमनसश्चिन्ताज्ञानपरिणामरूपत्वात्, तस्य च जीवादव्यतिरिक्तत्वाज्जीव एव भावमनो भवति, जीवात्मकभावमनश्च देहमात्रव्यापित्वान्न देहाद्बहिर्निःसरत् प्रमाणगोचरम्। यद्देहमात्रवृत्ति न तस्य देहाद्बहिर्निःसरणमुपपद्यते, तद्गतरूपादिवत्, देहमात्रवृत्ति च जीवात्मकभावमनः, तस्मात्तन्न तद्बहिर्निस्सरति। उक्तञ्च भाष्ये—

"दव्वं भावमणो वा वएज्ज जीवो य होइ भावमणो।
देहव्वावित्तणओ न देहवार्हि तओ जुओ ॥ २१५ ॥"

जीवस्य देहमात्रव्यापित्वञ्च प्रागेव निर्णीतमिति। अथैवं तर्हि द्रव्यमनो विषयदेशं व्रजतीत्याद्यपक्षोऽस्तु, यतो वहिर्निर्गतं द्रव्यमनः प्राप्य विषय परिच्छिनत्ति, करणत्वात्, प्रदीप-मणि-चन्द्र-सूर्यादिप्रभावदिति चेत्, सोऽपि पक्षो न युक्तः, यतः करणं द्विधा

भवति, शरीरगतमन्तःकरणम्, तद्बहिर्भूतं बाह्यकरणञ्च, तदर्द्धं द्रव्यमनोऽन्तःकरणमेवात्मनः, ततो यदन्तःकरणं तच्छरीरस्यमेव विषयं परिच्छिनत्ति, स्पर्शनवत्, अन्तःकरणञ्च द्रव्यमनः, प्रदीप-मणि-चन्द्रप्रभादिकं तु बाह्यकरणमात्मन इति साधनविकलो दृष्टान्तः। ननु शरीरस्थमपि मूर्तत्वेन सक्रियत्वात्पवनाद्यवन्तुन्यायेन तद्बहिर्निस्सरतु, कोऽत्र दोष इति चेत्, तर्हि स्पर्शनेन्द्रियादेरपि तद्वदेव बहिर्निर्गमनप्रसङ्गात्, तस्मात् यदन्तःकरणं तच्छरीरात् बहिर्न निर्गच्छति स्पर्शनेन्द्रियादिवदित्यभ्युपगन्तव्यम्, युक्तञ्चैतत् मनस्त्वसंयोगाद्यऽभावनत्वाद्यवम्। सुखदुःखादिसाक्षात्कारोऽपि न मनस्संयुक्तसमवायादिसम्बन्धात्, येन मनसः प्राप्यकारित्वं स्यात्, समवायस्य पूर्वमेव निरासकरणात्, किन्तु मनस्सहकृततदावरणीयकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यतासद्भावादेवेति। अभिहितञ्च भाष्ये—

" अह करणभावओ तस्स तेण जीवो वियाणेज्जा ॥ २१७ ॥
करणत्तणओ तणुसंठियेण जाणिज्ज फरिसणं व।
एत्तोच्चिय हेऊओ न मीई पावि फरिसणं व ॥ २१८ ॥" इति

ननु जाग्रदवस्थायां मा भूत् मनसो विषयप्राप्तिः, स्वापावस्थायां तु भवत्यसौ, अनुभवसिद्धत्वात्, तथाहि—" अमुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीयं मनो गतम्" इति सुप्तैः स्वप्नेऽनुभूयत एवेति मनसः प्राप्यकारित्वमेवेति चेत्, मैवम्, उक्तानुभवस्य भ्रान्तिरूपत्वात्, चक्राकारतया भ्रम्यमाणात्मानुभववत् तद्विषयस्याऽसत्यत्वात्, तथाहि—यथो न्मुक्त कुलालचक्राकारतयाऽऽशु भ्रम्यमाण भ्रान्तिचक्रप्रत्ययमपि चक्रतया प्रतिभासमानं न सत्यम्, भ्रमचक्ररूपताया एव तत्राविद्यमानत्वात्, भ्रमणोपरमे स्वभावस्थस्य तथैव दर्शनात्। एवं स्वप्नानुभवोपलब्धं मनोमेरुगमनादिकमपि वस्तु न सत्यम्, स्वप्नोपरमे तदभावात्, तदभावश्च जाग्रदवस्थायां देहस्थस्यैव मनसोऽनुभूयमानत्वादिति। ननु स्वप्नावस्थायां मेर्वादौ गत्वा जाग्रदवस्थायां निवृत्तं तद्भावप्रतीति चेत्, मैवम्, यथा कदाचिदात्मीयं मनः स्वप्ने मेर्वादौ गतं कश्चित् पश्यति तथा कोऽपि शरीरमात्मानमपि नन्दनवनकुसुमावचयादि कुर्वन्तं तद्गतं पश्यति, न च तत्तथैव, इह स्थितैस्सुप्तस्य तस्यात्रैव दर्शनात्, द्वयोर्द्वयोरेवोर्ध्वादौ स्वमनोरमनभावात्, कुसुमपरिमलाद्युपलब्धजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघाताभावाच्चेति। अभिहितञ्च—

" सिमिणो य तहाऽभ्वो वभिचाराओ अलायचक्कं व।
वभिचारो य सदेहसुमणगमणादि-कुसुमगहणभावा ॥ २२४ ॥
इह पासुत्तो पेच्छइ सदेहमसत्य, मय तओ तस्य।
न य तगयोवघाया-णुग्गहास्स विबुद्धस्स ॥ २२५ ॥"

अयम्भावः—स्वप्न जिनस्नानदर्शनादिकं विज्ञानं स्वप्नानन्तरं जाग्रदर्थे दर्शनादिकं तत्फलं भविष्यत्फलापेक्षया स्वप्नस्य निमित्तत्वञ्च तस्मात्स्वप्नमिविभादस्वर्थमाभिमरिप

त्फलस्यानुभवसिद्धत्वाद्विज्ञैर्न निवारयितुं शक्यम्, किन्तु यदेव मनसो मेरुगमनक्रियादिकं युक्त्या नोपपद्यते तदेव निषिध्यते, न त्वेतानि विज्ञानादीनि, युक्त्युपपन्नत्वात्। न चैतैरभ्युपगतैरपि मनसः प्राप्यकारिता काचित्सिद्ध्यतीति। तदेवं भावमनसो द्रव्यमनसश्च बहिश्चारिताद्यभावादप्राप्यकार्येव मन इति मनोवदिति दृष्टान्तो न साध्यविकल इति सिद्धम्। नाप्युक्तदृष्टान्तो ग्राह्यवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वहेतुविकलः, यतो यदि मनसो ज्ञेयेन सह सम्पर्कस्स्यात्तर्हि जल-चन्दनादिचिन्तनकाले पिपासानिवृत्तिशैत्यादिलक्षणानुग्रहः, वह्निविषकरवालादिचिन्तनकाले च दाह-स्फोट-पाटनादिलक्षणोपघातश्च स्यात्। न च तौ भवतः, तस्मान्न साधनविकलो मनोदृष्टान्त इति तस्मिन् दृष्टान्ते गृहीतव्याप्तिकेनोक्तहेतुना लोचनमप्राप्यकार्येव सिद्ध्यति। अथ चक्षुषस्तैजसत्वेन रश्मिमयत्वात्तद्रश्मय एव निर्गत्य रविकिरणवत्तं तमर्थं संसृज्य तत्प्रत्यक्षमुपजनयन्ति, अनुद्भूतस्पर्शवत्तैजसत्वेन तेषां वह्न्यादिवन्न दाहजनकत्वम्, दाहम्प्रति उद्भूतस्पर्शवत्तैजसत्वेनैव कारणत्वात्, न वा तेषां तैजसत्वेन रविरश्मीनामिव वह्न्यादिभिर्दाहादिरूपोपघात इति सिद्धं चक्षुषः प्राप्यकारित्वमिति चेत्, तदप्यसङ्गतमेव, चक्षुषस्तैजसत्वस्यैवाऽसिद्धेः, न च चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानात्तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, रूपप्रत्यक्षजनके चक्षुस्संयुक्तसमवायसन्निकर्षे तैजसत्वसाध्याभाववत्युक्तहेतोस्सत्त्वेन व्यभिचारात्। तन्निवारणाय हेतौ द्रव्यत्वे सतीति विशेषणोपादानमपि न युक्तम्, भूमिनिहितनिध्यादिप्रत्यक्षजनकाऽञ्जनादिना व्यभिचारात्। ननु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वमिह रूपविषयकप्रमात्मकप्रत्यक्षजनकत्वम्, अञ्जनादिना तु निध्यादिसाक्षात्कारो न प्रमात्मक इत्यञ्जनादौ प्रमाघटितोक्तहेतोरभावान्न तत्र व्यभिचार इति चेद्, मैवम्, निध्यादिसाक्षात्कारे प्रमात्वस्य संवादिप्रवृत्तिजनकत्वहेतुना सिद्धेरुक्तहेतोर्व्यभिचारित्वात्। एतेन रूपसाक्षात्काराऽसाधारणकारणं तैजसं रसाऽव्यञ्जकत्वे सति स्फटिकाद्यन्तरितार्थचाक्षुषप्रत्यक्षजनकत्वात् प्रदीपवदित्यपि निरस्तम्, अञ्जनविशेषेण व्यभिचारात्। अथाञ्जनादिभिन्नत्वे सतीति हेतौ विशेषणोपादानान्नोक्तव्यभिचार इति चेत्, तर्ह्यऽप्रयोजकोऽयं हेतुः प्रत्यक्षाजनकसुवर्णादौ भवदभ्युपगततैजसत्वाख्यजातेस्सत्त्वेनातिप्रसक्तत्वात्, चक्षुःप्रदीपयोरेकया तयाऽनुगतजात्या रूपप्रत्यक्षम्प्रति कारणत्वाऽसिद्धेश्च, तम्प्रति चक्षुषः चक्षुष्ट्वेन प्रदीपस्य च प्रदीपत्वेनैव कारणत्वाभ्युपगमात्। एतेन स्वप्नादिवदञ्जनादिकं सहकृत्य मनसैव निध्यादिसाक्षात्कारः तत्र च चाक्षुषत्वारोप इत्यतो निध्यादिकं चक्षुषा साक्षात्करोमीति भ्रान्त एव प्रत्यय इत्युक्तानुमाने नाञ्जनादिना व्यभिचारः, हेतौ प्रमेति विशेषणीकृते सति प्रमात्मकचाक्षुषप्रत्यक्षाजनकत्वात्तस्य, तथा च हेतावञ्जनादिभिन्नत्वे सतीति विशेषणं न देयमित्यपि निरस्तम्, व्यभिचारशङ्कानिवर्त्तकतर्काभावेनाप्रयोजकत्वादुक्तहेतोः। न च वस्तुगत्या तथा-

ऽभ्युपगन्तुमपि युक्तम्, अञ्जनादेः पृथक्प्रमाणत्वापत्तेः, यतो यदसाधारणं सहकारिकारणं
समासाद्य बहिर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वमितिन्यायात्। किञ्च स्वसिद्धान्तकृता
प्रदर्शितेन चक्षुषि पूर्वोक्तहेतुना तैजसत्वस्य तेन च तत्र रश्मिवत्त्वस्याऽभ्युपगमेऽपि तद्रश्मयो
विषयदेशं गताः किं गोलकेनाऽसम्बद्धाः प्रत्यक्षजनकतयाऽभ्युपगम्यन्ते, किं वा सम्बद्धाः,
आद्यपक्षेऽपि किं निःसृता रश्मयस्तथाविधा उत कतिपये इति विकल्पद्वयम्। तत्र नाद्य
विकल्पो युक्तः, तथा सति चक्षुरपि निर्गतं स्यात्, पक्ष्मोऽक्षेपावसराणां देशान्तरगमने
तदधिष्ठानभूताक्षपत्त्रिणोऽपि तथात्वमेव युक्तियुक्तम्, तथा च चक्षुर्विहीनस्य गोलकस्य
निस्तेजस्त्वात्सुखनामामन्धत्वप्रसङ्गस्स्यात्। किञ्च वस्तुनि नेत्राभिमुखे सत्यपि नेत्रदोषात्
पटेन पुराऽस्पष्टत्वेनाऽवभासत अञ्जनादिभिर्नयनसंस्कारे तदेवेदानीं यथाऽवस्थितस्वरूपेण
स्पष्टं प्रकाशते इत्यभिमानेन सर्वैरेवानुभूयते, गोलके विहितोऽञ्जनादिसंस्कारश्चक्षुरश्म्य-
व्यतिरेकेणाभ्युपगतानां गोलकस्थनेत्ररश्मीनामुपकारं करोतीति तत्र युक्तमेव, सामस्त्येन
विषयदेशस्थितानां तेषां प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे तु तेषामेवाञ्जनादिना संस्कार उपयोगिता
मावहेत्, ते च रश्मयो गोलकाऽसंयुक्ता इति तदनधिष्ठानस्य गोलकस्य प्रत्यक्षजनक-
त्वाच्चाञ्जनादिना संस्कारस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्, तथैव पक्ष्मपुटोन्मीलनस्यापि निरर्थक-
त्वमुक्तम्। यथा घटानयनकारणतन्तुसम्बद्धत्वे आनयनकार्यार्थमरघापनोदाय तत्र संस्कारो
विधीयमानस्तत्साफल्यमनुभवति, न च छिन्नत्वेनासम्बद्धे तदानयने। अथ पूर्वं रश्मीनां नेत्र-
स्थत्वेन तत्राञ्जनादिसंस्कारपक्ष्मपुटोन्मीलनयोस्तद्गतविघ्नयोजकत्वेन नानर्थक्यमिति चेत्,
स्यादेतद्रश्मीनां गोलकसम्बद्धत्वपक्षे, असम्बद्धत्वपक्षे तु न गोलकस्य कश्चिद्विशेषः।
अथ तत्र गतानां रश्मीनां गोलके पुनरावर्तनाभ्युपगमेन नोक्तदोष इति चेत्, नैवम्,
आवर्तमानानामपि तेषां गोलकासम्बद्धत्वेऽन्यस्य संस्कृतस्य धारयितुमशक्यत्वात्। गोलक-
सम्बद्धत्वे च तेषां गोलकानुपकारकत्वमञ्जनादिप्रयत्नापत्तिस्स्यात्। तदेवं स्वप्रकाशसमानस्वच्छ-
तरपुद्गलसमूहात्मकाऽभ्यन्तरनिर्वृतीन्द्रियगतोपकरणेन्द्रियाख्यशक्तियोगितया चक्षुषस्तद्
द्विषयकज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसहकृतस्य विषयमप्राप्तस्यापि प्रत्यक्षजनकत्वसम्भवे
तैजसचक्षुरश्मिकल्पनमनर्थकमेव। नन्वेवं तर्हि दूरवर्तिनां मेर्वादीनामपि किमिति न
प्रत्यक्षमिति चेत्, उच्यते, यस्मिन् पदार्थे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यताऽस्य
तस्यैव प्रत्यक्षं भवतीत्युक्तयोग्यत्वाभावादेवेति जानीहि। अथैतद्दोषभयादाद्यपक्षोक्त-
द्वितीयविकल्पपक्ष एवाश्रीयत इति चेत् तदपि न मनोरथं पूरयितुं पारयति यतो
यावन्तो रश्मयो विषयसम्बन्धभाजस्तावन्तः पूर्वमपि गोलकेनाऽसम्बद्धा एवेति गोलक-
स्याञ्जनादिनोपकारे तत्रस्थरश्मय एवोपकृताः, न तु विषयसम्बन्धभाज इति तदीयाऽ-
नुपकृतस्वभावस्य पूर्ववदवस्थितस्य सत्त्वे सति न कश्चिदञ्जनादिना विशेषः। किञ्च
तेऽवयवा रश्मयो यदि गोलकसंस्कारविभज्यस्तर्याऽसंयुक्ता एव तदा चक्षुषोऽपि नात्र

प्राप्तितः, तेषां वा तदवयवत्वाभावः, न ह्यवयविनः पदार्थस्यैकत्र स्थितस्यावयवानां खण्डीभूयासंयुक्तत्वेन परत्र गमने तस्य स्वरूपावस्थानं केनाप्यभ्युपगम्यते, न हि घटावयवकपालस्य परदेशगमने घटस्य स्वरूपावस्थानं पामरा अपि प्रतीयन्तीति। ननु तर्हि यथा सहस्रांशुरश्मयः प्रदीपरश्मयो वा तत्सम्बद्धा विषयदेशं गत्वा प्रकाशन्ते तथा नयनरश्मयोऽपीत्यर्थको द्वितीयपक्ष एवोररीक्रियत इति तेषां तत्तद्विषयं प्रति गमनस्य तत्तदर्थप्रकाशकत्वस्य चान्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्य पक्ष्मपुटोन्मीलनस्य गोलकसंस्कृतेश्च तदुभयार्थत्वेन न वैयर्थ्यमिति चेत्, तदपि त्रपापात्रम्, तेषां गोलकानुपक्ततिमिररोगावयविनः प्रकाशकत्वापत्तेः, यतो न हि प्रदीपरश्मीनां स्वाधिष्ठानसंयुक्तशलाकाद्यऽप्रकाशकत्वं काचकूपिकान्तर्गतानां प्रदीपरश्मीनां ततो निर्गच्छतां काचकूपिकासम्बद्धार्थप्रकाशाजनकत्वं च दृष्टम्। अथाधिष्ठानापेक्षयाऽत्यन्तासत्यभावस्यापि कारणत्वान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि गोलकसम्बद्धाञ्जनशलाकाया अग्रावच्छेदेनाप्यनुपलब्धिप्रसङ्गस्स्यात्। अथ यदंशेन तस्यास्तत्र संसर्गस्तदंशावच्छेदेनैवाप्रत्यक्षत्वम्, गोलकदेशावच्छेदेनैवाञ्जनशलाकासंसर्गस्य तत्प्रत्यक्षम्प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति चेत्, मैवम्, प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वप्रत्यक्षजनकत्वयोरेकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धयोरपि भिन्नभिन्नदेशावच्छेदेनाविरोधं सम्पाद्यापेक्षिकयोस्तयोरभ्युपगमे तद्धर्मभेदेन कथञ्चित्तदभिन्नधर्मिणोऽपि भिन्नत्व स्वस्वरूपतथैकत्वं स्वीकृतं स्यादिति भवतामपि स्याद्वादामृतरसास्वादप्रसङ्गस्स्यात्, स्याद्वादतत्त्वज्ञैरपि तथैवाभ्युपगमात्। किञ्च चक्षूरश्मीनामुदीचीम्प्रति गमने तद्दिगवस्थितसन्निकृष्टपदार्थसंयोगे यथा तत्प्रत्यक्षं तथा तद्दिग्वर्त्तिकाञ्चनाचलोपलम्भोऽपि स्यात्, उभाभ्यां तत्संयोगाऽविशेषात्। दूरत्वदोषस्य तद्रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वे च निशाकरस्याप्यप्रत्यक्षत्वं स्यात्। अथ शशधरांशुभिर्नेत्ररश्मीनां वृद्धिभावात्तत्र तेषां गमनेन तत्संयोगात्तत्प्रत्यक्षमिति चेत्, तर्हि तिग्मकरांशुभिरपि तद्रश्मिवृद्धिभावाऽविशेषात्तैरप्यभिवृद्धानां तेषां सुराद्रिं प्रत्यभिसर्पणात् कथं न तत्प्रत्यक्षं स्यात्। अथ रविकराणां तिग्मत्वेन नेत्ररश्मीनां प्रतिघातकत्वान्न तैस्तदभिवृद्धिरतो नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि सहस्रांशुकिरणव्याप्तपदार्थमात्रानुपलम्भप्रसङ्गस्स्यात्, यतो न हि रविकिरणेषु काञ्चनाचलापेक्षया नेत्ररश्मिप्रतिघातकत्वं घटपटाद्यपेक्षया तदभावश्चेति वक्तुं शक्यम्, शक्यत्वे वा स्याद्वादस्यैव साम्राज्यं स्यात्। अथ यद्यप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुस्तर्ह्यप्राप्तत्वाऽविशेषात् सर्वमपि त्रिभुवनान्तर्वर्त्तिवस्तुनिकुरम्बं प्रकाशयेदिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, चक्षुषो योग्यार्थग्रहणस्वाभाव्यादेव यत्स्वयोग्यं तस्यैव तेन प्रकाशनात्, अन्यथा चक्षुस्संयुक्तसमवायसन्निकर्षो यथा कुवलयरूपे तथा तद्गन्धेऽपीति तच्चाक्षुषोदयप्रसङ्गेनान्येन्द्रियाणां वैयर्थ्यं स्यात्। एतेन चक्षुषो विषयमप्राप्य प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे कुड्यादिव्यवहितस्यापि प्रत्यक्षं स्यादित्यपि निरस्तम्, विषयनिष्ठव्यवधानाऽभावकूटरूपयोग्यताया अपि अञ्जनाद्यजन्यचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति कारणत्वेनाभ्युपगमात्।

ऽभ्युपगन्तुमपि शक्यम्, अञ्जनादेः पृथक्प्रमाणत्वापत्तेः, यतो यत्सामान्ये सहकारिकारणं समासाद्य चक्षुर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वमिति नियमात् । किञ्च रश्मिसम्बन्धस्य प्रत्यक्षेण चक्षुषि पूर्वोक्तहेतुना तैजसत्वस्य तेन च तत्र रश्मिमत्त्वस्याऽभ्युपगमेऽपि तद्रश्मयो विषयदेशं गताः किं गोलकेनाऽसम्बद्धाः प्रत्यक्षजनकतयाऽभ्युपगम्यन्ते, किं वा सम्बद्धाः, आद्यपक्षेऽपि किं निमित्ता रश्मयस्तथाविधा उत कल्पिता इति विकल्पद्वयम् । तत्र नाद्य विकल्पो युक्तः, तथा सति चक्षुरपि निर्गतं स्यात्, यतोऽभेदाध्यवसायानां देशान्तरगमने तदविच्छिन्नभूतावयविनोऽपि तथात्वमेव युक्तियुक्तम्, तथा च चक्षुर्विहीनस्य गोलकस्य विस्तीर्णत्वस्यानुपलम्भादभ्युपगमप्रसङ्गस्स्यात् । किञ्च वस्तुनि नेत्राभिमुखे सत्यपि नेत्रदोषात् यदेव पुराऽस्पष्टत्वेनाऽवभासते अञ्जनादिभिर्नयनसंस्कारे तदेवेदानीं यथाऽवस्थितस्वरूपेण स्पष्टं प्रकाशते इत्यभिमानेन सर्वैरनुभूयते गोलकस्थितेरञ्जनादिसंस्कारसापेक्ष्य नाम्नस्तेनाभ्युपगतानां गोलकस्थनेत्ररश्मीनामुपकारं करोतीति तत्र युक्तमेव, तावत्त्वेन विषयदेशस्थितानां तेषां प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे तु तेषामेवाञ्जनादिना संस्कार उपयोगिता भजेत्, ते च रश्मयो गोलकाऽसंपृक्ता इति तदनधिष्ठानस्य गोलकस्य प्रत्यक्षजनकत्वाद्यञ्जनादिना संस्कारस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्, तथैव पक्ष्मपुटोन्मीलनस्यापि निरर्थकत्वमूह्यम् । यथा पटानयनकारणतन्तुसम्बद्धस्थे आनयनकार्याक्षमत्वारणोऽत्र तत्र संस्कारो विधीयमानस्साफल्यमनुभवति, न च छिन्नत्वेनासम्बद्धे तदवयवे । अथ पूर्वं रश्मीनां नेत्रस्थत्वेन तथाञ्जनादिसंस्कारपक्ष्मपुटोन्मीलनयोस्तत्प्रतिप्रयोजकत्वेन नानर्थकत्वमिति चेत्, स्यादेतद्रश्मीनां गोलकसम्बद्धत्वपक्षे, असम्बद्धत्वपक्षे तु न गोलकस्य कश्चिद्विशेषः । अथ तत्र गतानां रश्मीनां गोलके पुनरावर्त्तनाभ्युपगमेन नोक्तदोष इति चेत्, नैवम्, आवर्त्तमानानामपि तेषां गोलकासम्बद्धत्वेऽन्यसम्प्रसङ्गस्य वारयितुमशक्यत्वात् । गोलकसम्बद्धत्वे च तेषां गोलकाद्वृत्तकामसादिप्रत्यक्षाव्यवस्थितिस्स्यात् । तदेवं चक्षुषारासमावस्थकतत्पुद्गलसमुदायरूपकाऽभ्यन्तरनिर्वृत्तीन्द्रियगतोपकरणेन्द्रियाख्यशक्तियोगितया चक्षुस्तत्र विषयकज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसहकृतस्य विषयमप्राप्तस्याऽपि प्रत्यक्षजनकत्वसम्भवे तैजसचक्षुःकल्पनमप्यनर्थकमेव । नन्वेवं तर्हि दूरवर्त्तिनां मेर्वादीनामपि किमिति न प्रत्यक्षमिति चेत्, उच्यते, यस्मिन् पदार्थे ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमसद्भावतद्ग्रहणयोग्यत्वं तस्यैव प्रत्यक्षं भवतीत्युक्तप्रयोगत्वाभावादेवेति जानीहि । अथैतद्दोषमपाकर्तुमपरोक्तद्वितीयविकल्पपक्ष एवाभीष्ट इति चेत् तदपि न मनोरथं पूरयितुं पारयति, यतो यावन्तो रश्मयो विषयसम्बन्धभाजस्तावन्तः पूर्वमपि गोलकेनाऽसम्बद्धा एवेति गोलकस्याञ्जनादिनोपकारे तत्सम्बन्धस्य यदोपकृताः, न तु विषयसम्बन्धभाज इति तदीयाऽनुपकृतत्वस्वभावस्य दूरतदवस्थितस्य सत्त्वे सति न कश्चिदञ्जनादिना विशेषः । किञ्च तेऽन्यथा रश्मयो यदि गोलकसंसक्तरश्मिभ्यस्सर्वथाऽसंपृक्ता एव तदा चक्षुरोऽपि नाम

आपतितः, तेषां वा तदवयवत्वाभावः, न ह्यवयविनः पदार्थस्यैकत्र स्थितस्यावयवानां खण्डीभूयासंयुक्तत्वेन परत्र गमने तस्य स्वरूपावस्थानं केनाप्यभ्युपगम्यते, न हि घटावयवकपालस्य परदेशगमने घटस्य स्वरूपावस्थानं पामरा अपि प्रतीयन्तीति। ननु तर्हि यथा सहस्रांशुरश्मयः प्रदीपरश्मयो वा तत्सम्बद्धा विषयदेशं गत्वा प्रकाशन्ते तथा नयनरश्मयोऽपीत्यर्थको द्वितीयपक्ष एवोररीक्रियत इति तेषां तत्तद्विषयं प्रति गमनस्य तत्तदर्थप्रकाशकत्वस्य चान्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्य पक्ष्मपुटोन्मीलनस्य गोलकसंस्कृतेश्च तदुभयार्थत्वेन न वैयर्थ्यमिति चेत्, तदपि त्रपापात्रम्, तेषां गोलकानुपक्ततिमिररोगावयविनः प्रकाशकत्वापत्तेः, यतो न हि प्रदीपरश्मीनां स्वाधिष्ठानसंयुक्तशलाकाद्यऽप्रकाशकत्वं काचकूपिकान्तर्गतानां प्रदीपरश्मीनां ततो निर्गच्छतां काचकूपिकासम्बद्धार्थप्रकाशाजनकत्वं च दृष्टम्। अथाधिष्ठानापेक्षयाऽत्यन्तासत्यभावस्यापि कारणत्वान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि गोलकसम्बद्धाञ्जनशलाकाया अग्रावच्छेदेनाप्यनुपलब्धिप्रसङ्गस्स्यात्। अथ यदंशेन तस्यास्तत्र संसर्गस्तदंशावच्छेदेनैवाप्रत्यक्षत्वम्, गोलकदेशावच्छेदेनैवाञ्जनशलाकासंसर्गस्य तत्प्रत्यक्षम्प्रति प्रतिबन्धकत्वादिति चेत्, मैवम्, प्रत्यक्षप्रतिबन्धकत्वप्रत्यक्षजनकत्वयोरेकस्मिन् वस्तुनि विरुद्धयोरपि भिन्नभिन्नदेशावच्छेदेनाविरोधं सम्पाद्यापेक्षिकयोस्तयोरभ्युपगमे तद्धर्मभेदेन कथञ्चित्तदभिन्नधर्मिणोऽपि भिन्नत्व स्वस्वरूपतथैकत्वं स्वीकृतं स्यादिति भवतामपि स्याद्वादामृतरसास्वादप्रसङ्गस्स्यात्, स्याद्वादतत्त्वज्ञैरपि तथैवाभ्युपगमात्। किञ्च चक्षूरश्मीनामुदीचीम्प्रति गमने तद्दिगवस्थितसन्निकृष्टपदार्थसंयोगे यथा तत्प्रत्यक्ष तथा तद्दिग्वर्त्तिकाञ्चनाचलोपलम्भोऽपि स्यात्, उभाभ्यां तत्संयोगाऽविशेषात्। दूरत्वदोषस्य तद्रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वे च निशाकरस्याप्यप्रत्यक्षत्वं स्यात्। अथ शशधरांशुभिर्नेत्ररश्मीनां वृद्धिभावात्तत्र तेषां गमनेन तत्संयोगात्तत्प्रत्यक्षमिति चेत्, तर्हि तिग्मकरांशुभिरपि तद्रश्मिवृद्धिभावाऽविशेषात्तैरप्यभिवृद्धानां तेषा सुराद्रिं प्रत्यभिसर्पणात् कथं न तत्प्रत्यक्षं स्यात्। अथ रविकराणां तिग्मत्वेन नेत्ररश्मीनां प्रतिघातकत्वान्न तैस्तदभिवृद्धिरतो नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि सहस्रांशुकिरणव्याप्तपदार्थमात्रानुपलम्भप्रसङ्गस्स्यात्, यतो न हि रविकिरणेषु काञ्चनाचलापेक्षया नेत्ररश्मिप्रतिघातकत्वं घटपटाद्यपेक्षया तदभावश्चेति वक्तुं शक्यम्, शक्यत्वे वा स्याद्वादस्यैव साम्राज्यं स्यात्। अथ यद्यप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुस्तर्ह्यप्राप्तत्वाऽविशेषात् सर्वमपि त्रिभुवनान्तर्वर्त्तिवस्तुनिकुरम्बं प्रकाशयेदिति चेत्, तदप्यसङ्गतम्, चक्षुषो योग्यार्थग्रहणस्वाभाव्यादेव यत्स्वयोग्यं तस्यैव तेन प्रकाशनात्, अन्यथा चक्षुस्संयुक्तसमवायसन्निकर्षो यथा कुवलयरूपे तथा तद्गन्धेऽपीति तच्चाक्षुषोदयप्रसङ्गेनान्येन्द्रियाणां वैयर्थ्यं स्यात्। एतेन चक्षुषो विषयमप्राप्य प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे कुड्यादिव्यवहितस्यापि प्रत्यक्षं स्यादित्यपि निरस्तम्, विषयनिष्ठव्यवधानाऽभावकूटरूपयोग्यताया अपि अञ्जनाद्यजन्यचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति कारणत्वेनाभ्युपगमात्।

मञ्जनादिजन्यव्यवहितार्थचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति चाञ्जनादिनिष्ठैव शक्तिस्तथा योग्यता कारण मिति। किञ्च चक्षूरश्मीनां प्राप्तार्थप्रकाशकत्वाभ्युपगमे भित्त्यादेरिव स्फटिकादेरपि नेत्र रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वेन तद्व्यवहितार्थानामप्यनुपलब्धिप्रसक्तेः स्यात्। यदि च स्फटिकादेरति- स्वच्छत्वान्न नायनरश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वमिति विभाव्यते, तदा प्राप्यकारित्वपक्षे तद्रश्मि- गतिजन्यविभागपूर्वसंयोगनाशोत्तरदेशसंयोगादिकल्पनायां गौरवात्तावताप्यचाक्षुषज्ञानाऽ- प्रतिबन्धकत्वमेव स्फटिकादेः कल्प्यताम्, एवं भित्त्यादेरपि तद्रश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वा पेक्षया लाघवाच्चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, एतेन चक्षुः प्राप्तार्थपरि च्छेदकं व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वात्, यद् यद् व्यवहितार्थाऽप्रकाशकं तत्तत्प्राप्तार्थपरि च्छेदकम्, यथा प्रदीपः, व्यवहितार्थाऽप्रकाशकञ्च चक्षुः, तस्मात् प्राप्तार्थपरिच्छेदकमिति न्यायमतमपि निरस्तम्, व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वहेतुसिद्ध्यर्थं व्यवहितार्थाप्रकाश कत्वं चक्षुषः कथमिति कथंतायां तदुपपत्तये व्यवधानस्य नेत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यं स्यात् कथमन्यथा व्यवहितार्थप्रत्यक्षं न स्यात्। एवञ्च सति व्यवहितार्थाऽप्रत्यक्ष स्याऽव्यवहितार्थप्रत्यक्षस्य चोपपत्तये व्यवधानस्य चाक्षुषज्ञानप्रतिबन्धकत्वं तदभावस्य च चाक्षुषज्ञानकारणत्वमेवाभ्युपगम्यताम्, येन क्लिष्टकल्पना परिहृता स्यात्, तयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्त्वेवम्–स्वप्राचीस्वपुरस्थ विषयतासम्बन्धेन घटादिचाक्षुष प्रत्यक्षम्प्रति स्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वम्, एवं स्वप्रतीचीस्थ कुड्यपटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वप्राचीवृत्तित्वसम्बन्धेन तेषां तत्त्वम्, तथा स्वोदीची स्थकुड्यपटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वदक्षिणवृत्तित्वसम्बन्धेन तेषां तत्त्वमूह्यम्, यदि च तथानयनादिक्रियावच्चक्षुरदेशादीनामेव संयोगनियामकत्वेनानतिप्रसङ्गाद्भित्त्यादीनां न प्रतिबन्धकत्वमिति मतं तदापि तथानयनोन्मीलनस्य चाक्षुषज्ञानं प्रति परम्पराकारणत्व कल्पनापेक्षया "यस्य हेतुत्वापेक्षया तद्धेतोरेव हेतुत्वम्" इति न्यायेन लाघवाच्चाक्षुषज्ञानं प्रति तस्य साक्षात्कारणत्वकल्पनमेव न्याय्यं, किमनन्तसंयोगादिकल्पनया। एतेनेन्द्रिय सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति स्वसिद्धान्तसिद्धसामान्यलक्षणाऽनुपपत्त्यनुरोधेन प्रत्यक्षसा- मान्यम्प्रति इन्द्रियसन्निकर्षत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य कारणत्वं 'यत्सामान्ययोः कार्यकारण भावस्तद्विशेषयोरपि सः' इति न्यायावलम्बनेन चाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रत्यनन्तसंयोगानां चक्षुःसंयो गत्वेनानुगमय्य तद्रूपेणानुगतं कारणत्वमभ्युपगम्यत इति तदुपगमकृतमानगौरवं फलमुखं न दोषाय, तदुक्तं चिन्तामणिकारेण, "प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियार्थसन्निकर्षविशेषो हेतुरनुगत एव" इत्यपि निरस्तम्, प्रत्यक्षसिद्धसामीप्यसम्बन्धेनैव चाक्षुषप्रत्यक्षोपपत्तेरतीन्द्रियसंयोग कल्पनायां प्रमाणाभावात्, कार्यलिङ्गकेन कारणानुमानेन तस्मिन्नभ्युपगमे चोक्तसम्बन्धेन तस्यान्यथासिद्धत्वात्। न चैवं तर्हि चक्षुरप्राप्यविषयं तमस्यपि ज्ञानकारीति स्वसिद्धान्त भङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम् चक्षुस्सन्निकर्षद्वारा प्रत्यक्षजनकत्वमिति चक्षुस्तद्विषयं घटादिकं

संयुज्य तत्प्रत्यक्षं करोतीति न्यायमतनिरास एवोक्तसिद्धान्तस्य तात्पर्यात्। किञ्च चक्षूरश्मीनां विषयैस्सह संयोगानन्तर तत्प्रत्यक्षोत्पादकत्वाभ्युपगमे युगपदेव शाखानिशाकरयोः प्रत्यक्षं न स्यात्, युगपदुभयसंयोगाभावात्। अथ यद्यपि चक्षूरश्मीनामतिवेगाच्छाखासंयोगानन्तरमविलम्बेनैव शीतकरसंयोगादनुक्रमेणैव शाखायाश्चन्द्रमसश्च साक्षात्कारस्तथापि शतपत्रशूचीवेधदृष्टान्तवलेन तत्र यौगपद्याभिमान एवेति चेत्, तर्हि प्रथमे क्षणे शाखासंयोगः, द्वितीये च शाखानिर्विकल्पश्चन्द्रमस्संयोगश्च, तृतीये शाखासविकल्पज्ञानं चन्द्रमोनिर्विकल्पज्ञानञ्च, चतुर्थे शाखाज्ञानज्ञानत्वनिर्विकल्पज्ञान चन्द्रमस्सविकल्पज्ञानञ्च, शाखानिर्विकल्पज्ञाननाशश्च, पञ्चमे शाखां साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायज्ञानं, चन्द्रज्ञानज्ञानत्वनिर्विकल्पज्ञानं, शाखासविकल्पज्ञाननाशश्च, चन्द्रनिर्विकल्पज्ञाननाशश्च, षष्ठक्षणे चन्द्रमसं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायश्चन्द्रसविकल्पज्ञाननाशश्शाखाज्ञानत्वनिर्विकल्पज्ञाननाशश्चेति प्रक्रियया क्रमेणैव तदुभयानुव्यवसायोत्पत्त्यभ्युपगमाद् युगपदेव शाखाचन्द्रमसौ साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायानुपपत्तिस्स्यात्। न च क्रमिकोत्पन्नशाखाचन्द्रसाक्षात्कारानुभवजनितक्रमिकसंस्कारद्वयस्य युगपदेव प्रबोधात्तदुत्पन्नायां शाखाचन्द्रोभयावगाहिन्यां स्मृतावेव साक्षात्कारत्वारोपाच्छाखाचन्द्रमसौ युगपदेव साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसाय इति साम्प्रतम्, तादृगारोपादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्। न च तिर्यग्भावावस्थितयोश्शाखाचन्द्रमसोर्युगपन्नेत्रतेजसा संयोगान्नोक्तानुपपत्तिरिति वाच्यम्, सन्निहितव्यवहितयोर्युगपत्संयोगेऽतिप्रसङ्गात्। अथ नेत्राद्बहिर्निर्गततेजसाऽर्थसंयोगसमकालमेव बाह्यालोकसहकारेणान्यचक्षुरारम्भादेकस्य चक्षुषश्शाखयाऽन्यस्य च चन्द्रमसा संयोगाद् युगपच्छाखाचन्द्रमसोर्ग्रह इति चेत्, मैवम्, उद्भूतरूपवदालोकात्मकतेजःसंसर्गेणाऽनुद्भूतरूपवत्तेजोविशेषात्मकचक्षुराऽऽरम्भस्यायोगात्, योगे वा बाह्यचक्षुषा पृष्ठावस्थितवस्तुग्रहप्रसङ्गादित्यधिक गौरवभीत्या नोच्यते। तदेवं चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाऽसिद्ध्या इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमिति प्रत्यक्षलक्षणाऽसङ्गतेः पूर्वं व्यवसायात्मकज्ञानेन सह मनसस्संयुक्तसमवायसन्निकर्षस्याभावेऽपि ज्ञानस्य स्वप्रकाशात्मकत्वादेवानुव्यवसायेमानोपपत्तेस्तत्प्रत्यक्षं भवत्येवेति स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति सिद्धम्। अत एव ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमपि न युक्तम्, ज्ञायमानलिङ्गस्यैवानुमितिकरणत्वमित्यभ्युपगन्तृप्राचीननैयायिकमतेऽनुमितेरपि ज्ञानाकरणकत्वाचत्रातिव्याप्तेः। किञ्चोपयोगात्मकमात्मव्यापारमन्तरेण कस्या अपि स्वपरव्यवसितेरभावात् स एव तत्र प्रमाणम्, व्यापारीभूतोपयोगलक्षणं तदपि स्वार्थव्यवसितिफलान्न सर्वथा व्यतिरिक्तम्, किन्तु कथञ्चित्, एतच्च विवेचयिष्यते, तथा च स्वपरार्थविषयकप्रत्यक्षप्रमाणमात्रस्यापि ज्ञानकरणकत्वादुक्तलक्षणमसम्भवदोषग्रस्तत्वादुपेक्षणीयमेवेति। एतेनार्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणमाचक्षते वाचस्पतिमिश्रा इत्यपि निरस्तम्, यत इन्द्रियं सन्निकर्षो वा साक्षादुपलब्धौ फले व्याप्रियते, न तु प्रमाता, तस्य कर्तृत्वात्, न वा प्रमेयं, यतः

तस्य प्रमयसन्न्यक्षोपलम्भौ हेतुत्वमेव नास्ति, प्रमाणविषयमात्रेणोपयुज्यमानत्वादिति यदीन्द्रियादिक तत्सन्निकर्षादिकं वा साक्षादर्थोपलब्धौ हेतुरिति तदेव तत्त्वदर्शिनोऽस्य मते प्रमाणं, तर्हि स्वपरव्यवसायिज्ञानमेव प्रमाणतयाऽभ्युपगन्तुमुचितम्, यथार्थपरिच्छेदफलस्य साक्षात्तत एव भावात्, यथा च ज्ञानरूपस्यापि प्रमाणस्य फलस्य स्वपरव्यवसितिरूपमर्थं कथञ्चिद्भिन्नं तथा निरूपयिष्यते। "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्, बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्वं लक्षणम्" इति न्यायमञ्जर्यां जरन्नैयायिकजयन्तभट्टोक्तमपि लक्षणं न युक्तियुक्तम्, यतस्सामग्री कारकसाकल्यरूपा, कारकसाकल्यस्य चाबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानफलोत्पादने साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्, किञ्चार्थप्रमितिफलं प्रति नाऽव्यवधानेन सामग्री प्रमाणम्, उपयोगरूपभावेन्द्रियस्वभावज्ञानेन तस्या व्यवधानात्, नाप्यव्यवहितव्यापारत्वेन साधकतमत्वाज्ज्ञानं प्रमाणं तद्धेतुत्वात्तु सामग्र्यपि प्रमाणमित्येवं स्वरूपव्यवधानेन, तथा सति सा प्रधानं प्रमाणं न स्यात्, औपचारिकं तु तत् को नाम प्रामाणिको नाभ्युपैति। एवं सकलानां कारकाणां बोधाबोधस्वभावानां साकल्यस्य परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य कथं साधकतमत्वमित्यपि विचारमार्हं सुधियः। यथोपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते, बुद्धिवृत्तिरेव च पुरुषोपरागसम्बन्धी प्रमाणम्, तदुपरक्तो हि पुरुषः प्रतिनियतविषयद्रष्टा सम्पद्यत इति सांख्यमतमपि न च विदुषां हृदयङ्गमम्, तथाऽभ्युपगमे यो हि महान् जानाति बुद्धयतेऽध्यवस्यति न तस्यार्थदर्शनात्मकं तत्फलम्, अचेतनत्वान्महतः, यस्य च पुंसोऽर्थदर्शनं न स जानाति न बुध्यते नाध्यवस्यति, तथा च ज्ञानादिधर्मयोगः प्रमाणं पुंसि न विद्यते, किन्तु बुद्धौ, तत्फलमर्थदर्शनं च बुद्धौ न वर्तते, किन्तु पुरुष इति भिन्नाधिकरणत्वं प्रमाणफलयोः प्राप्तम्, न च तत् प्रमाणगोचरचारि। अथ स्वच्छतया पुंसि बुद्धिवृत्त्यनुपातिनि बुद्धिधर्माऽध्यारोपात् ज्ञानादिधर्मयोगोऽपि तत्र विद्यत इत्यर्थद्वयेन पुमान् ज्ञाता। बुद्धावपि चेतनाकारसंसर्गलक्षणमाध्यासिकमिव पुरुषधर्माध्यारोपात् साध्यार्थदर्शनफलवतीति न भिन्नाधिकरणत्वदोष इति चेत्, तर्हि स्वभावेन मिथ्यात्वं व्यापितं स्यात्, मिथ्यैव हि बुद्धौ मिथ्या, बुद्धिधर्मस्य चितिमपि व्यपेत्याभ्युपगमात्, सांख्यमतञ्च विविधं पूर्वमेव निरस्तम्, निरस्यते चेति नात्राधिकं विविच्यते। यदप्यनधिगतार्थप्रमातृत्वं प्रमाणमित्यभिधीयते मीमांसकैः, तदपि न साम्प्रतम्, प्रमाणस्य गृहीततदितरविषयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात्।

ननु गृहीतविषये प्रवृत्तं प्रमाणं किं कुर्यादिति चेत्, उच्यते, तद्विषयेऽभ्यासपाटवेन दृढतरनिश्चयात्मकप्रमाणान्तरोत्पत्त्या संस्कारदृढीकरणमेवेति, तत्फलं किमिति चेत्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकमेव, चन्दनवनसाक्षात्कारमहिमाद्यनुपादेये पुनः पुनरुपलभ्यमाने प्रीत्यतिशय

लक्षणसंस्कारमहिम्ना प्रवृत्तिः, हेये विषधरकण्टकादौ विषये पुनः पुनः परिदृश्यमाने मनः-सन्तापात्मकद्वेषसंस्कारवशान्निवृत्तिः, शास्त्रीयविषये वन्धादौ निवृत्तिः, संवरादौ च प्रवृत्ति-स्स्वसंवेदनसिद्धैवानुभूयते, तथाऽनभ्युपगमे धारावाहिकज्ञानमप्यप्रमाणं स्यात्, तस्याधि-गतार्थाऽधिगन्तृत्वात्। एवं प्रत्यभिज्ञानमप्यप्रमाण स्यात्, स्याच्च प्रत्यक्षाधिगतस्या-प्यर्थस्य सिषाधयिषया तार्किकैः क्रियमाणाऽनुमितिरप्यप्रमाणम्। तस्मादनधिगतार्थग्राहित्वे त्यज्यतामाग्रहः। अथैवं तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यादिति चेत्, भवतु नाम प्रत्यभिज्ञान-वत्तत्रापि स्वपरव्यवसायित्वात् प्रामाण्यम्, का नाम नः क्षतिः, जिनानुगैस्तथैव स्वीकृतत्वात्। उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

" अथाधिगतगन्तृत्वे, प्रामाण्यं स्यात् स्मृतेरपि।
यदि स्यात् किं तदा जातं, क्षुण्णं जैनेन्द्रशासने ॥ १ ॥" इति

अथ प्रत्यभिज्ञाने इदानीन्तनाऽस्तित्वं प्रमेयमधिकं प्रतिभासत इति न तद्दृष्टान्त-बलात्स्मृतेः प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तमिति चेद्, मैवम्, स्मृतावप्यतीतकालोपलक्षितार्थ-स्याधिकस्य प्रतिभासनात्। न चानर्थजन्यत्वादपि तस्या अप्रामाण्यम्, तस्याऽप्रामाण्यं प्रत्यप्रयोजकत्वात्, अन्यथा घनाघनघनाडम्बरलिङ्गेन वृष्टिधर्मिणि भविष्यत्त्वस्यानु-मानमप्यप्रमाणं स्यात्, तद्विषयीभूतस्य भविष्यत्त्वस्येदानीमसद्रूपत्वात्, एवं करीषदर्शनोद्-बुद्धधूमस्मरणेनातीतवह्न्यनुमानमप्यप्रमाणं स्यात्, अतीतवह्नेस्तदानीमभावात्, तदेवं मीमांस-काभ्युपगतप्रमाणसामान्यलक्षणमपि न सङ्गत्यर्हमिति। यच्च बौद्धाः पुनरविसंवादकत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणमाचक्षते, तदुक्तं प्रमाणवार्त्तिके—" प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् " २-१ इति, तत्र ज्ञानेऽविसंवादकत्वं यथावगतार्थप्रापकत्वलक्षणम्, अत एव " प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् " इत्युक्तमिति, तदप्यश्लीलम्, यतो नीलनिर्विकल्पज्ञानावगतं नीलस्वलक्षणम्, न च तत्प्राप्यते, तस्य क्षणिकत्वेन प्रवृत्तिकालेऽतिक्रान्तस्वरूपतया तदभावात्, अथ " यत्रैव जनयेदेना तत्रैवास्य प्रमाणता " इत्युक्तेर्नीलनिर्विकल्पज्ञानं नीलांशे नीलं नील-मिति विकल्पोत्पादकत्वात्तदंशे प्रमाणम्, उक्तविकल्पद्वारा नीलार्थप्रापकत्वात्। तद्गृहीते क्षणिकत्वांशे च तद्विकल्पानुत्पादकत्वादप्रमाणं, स्थैर्येऽप्यऽप्रमाणम्, विपरीतावसायकलुषित-त्वादिति, चेद्, यद्येवं मन्यसे, तर्हि सुतरामिदं प्रमाणलक्षणं दुःस्थम्, यतोऽस्मिन् प्रक्रमे विकल्पो न स्वलक्षणविषयः, किन्तु तत्सन्तानावगाहित्वेन तदध्यवसायरूप इति सोऽर्थ-प्रापणं प्रति प्रमाणस्य व्यापार इति वर्णितवानसि, तच्च न युक्तम्, यतो यथा तत्त्वं न तथाऽध्यवसायः, यथाऽध्यवसायो न तथा तत्त्वमिति यथा मरीचिस्वलक्षणदर्शनमुदकाध्यव-सायजननादप्रमाणमेव स्वलक्षणदर्शनमपि तद्विपरीतसन्तानाध्यवसायजननादप्रमाणी-भवेदिति। किञ्च सन्ताने काल्पनिकेऽध्यवसिते सति दृश्याभिमुखः किमिति प्रवर्तते,

निर्विकल्पकसविकल्पकयोरनयोरेकत्वाध्यवसायादिति चेत्, तर्हि मुख्यवृत्त्या स्वयं निर्विकल्प-
ज्ञानं नार्थक्रियार्थिनां तत्समर्थेऽर्थे संवादिप्रवृत्तिजनकत्वेनाविसंवादकं प्रमाणम्, किन्तु
व्यवहारोपयुक्तोऽध्यवसायकारीत्युपचरितं तस्य प्रामाण्यं स्यात्, तस्मादनुपचरितमवि-
संवादकस्य प्रमाणस्य लक्षणमिच्छद्भिः परीक्षकैर्व्यवहारार्थमेव प्रमाणान्वेषणं क्रियत इति
तद्धेतोर्निर्विकल्पोत्तरकालभाविनो निश्चयात्मकविकल्पस्यैव प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्, न तु
निर्विकल्पज्ञानस्य, तस्य साक्षाद्व्यवहाराऽप्रवर्तकत्वेन विसंवादकत्वात् । एवं हि परम्परा-
परिश्रमः परिहृतो भवति, सन्तानस्यावस्तुभूतत्वेन तद्विषयकत्वाद्विकल्पस्याप्रामाण्ये कथं
तन्निमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी ? । अथ यस्मिन् स्वलक्षणभूतेऽर्थे यन्निर्विकल्पज्ञानं सञ्जातं
तन्मूलकतत्सन्तानविषयकविकल्पात्प्रवृत्तौ मूलभूतवस्तुसन्तानीयार्थप्राप्त्या व्यवहारोऽपि
संवादीति चेत्, स्यादेतत् सन्तानसिद्धौ, न च तत्सिद्धिः, भेदाभेदविकल्पाभ्यामनुपपद्यमा-
नत्वात्, तच्च प्रमेयोक्तक्षणिकत्वप्रक्रियानिरासे। तदेवं बौद्धाभ्युपगतप्रमाणलक्षणमपि न युक्ति-
युक्तमिति सिद्धम् । एतेन बाह्यार्थाऽभावेन तदालम्बनाभावान्निरालम्बनमेव ज्ञानं प्रमाणमिति
स्वसंवेदनज्ञानाद्वैतवादियोगाचाराख्यबौद्धमतमपि निरस्तम् इदं नीलमिति ज्ञानवज्ज्ञानं
नीलमित्यपि प्रतीतिप्रसङ्गस्स्यात् । कथं च बाह्यार्थाऽसत्त्वे प्रतीतौ तदुल्लेखोऽपि स्यात्, वासनाऽ-
ध्यारोपादिति चेत्, नैवम्, अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः, अर्थानुभवसमाहितो हि संस्कारो
वासना कथ्यते, सा कथमसदर्थप्रतिभासहेतुस्स्यात् । भवतु वाऽन्यादृशी वासना भवदभ्यु-
पगता तथापि सा बाह्यार्थाभावे गगनकुसुमसौरभप्रतीतिं किमित्युत्पादयति न गगनारविन्द-
सौरभप्रतीतिमिति कुतस्त्यो नियमः । किञ्च ग्राह्यग्राहकाकारभिन्नौ विशेषतो नीलतद्धियौ
अभिन्ने इत्यत्र को हेतुः, नियमेन सहोपलम्भ एवेति चेत्, तत्र तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् ।
अपि च गौरवभीत्या न प्रपञ्च्यते तदेवं स्वविषयप्रकाशस्यैव ज्ञानप्रकाशकस्यापि बाह्यार्थप्रका-
शकत्वोपपत्तेस्तन्मतमपि न युक्तियुक्तम् । ज्ञातताफलानुमेयो ज्ञानव्यापारो ज्ञानादिशब्द-
वाच्यः प्रमाणमिति मीमांसकमतं प्रमाणप्रमेयोभयनिह्नवशून्यवादिमतखण्डन एव
निरस्तमिति किं विस्तरेण ? तदेवं तीर्थान्तराभिमतलक्षणस्य प्रमाणस्य निरवद्यत्वाऽ-
सिद्धेस्सिद्धं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति स्वपरव्यवसायिज्ञानपर्यवसायि स्वार्थसंवेदनं
प्रमाणमिति च । ननु प्रमीयते यथावन्मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणमिति करणे ल्युट्प्रत्यय-
निष्पन्नस्य प्रमाणपदस्य प्रमाकरणार्थकत्वेन स्वार्थसंवेदनस्य प्रमाकरणत्वे तत्फलं किमिति
चेत्, उच्यते, स्वार्थव्यवसितिरेव, नन्वहो जैनानामपूर्वं विचारचातुरी, यतस्तथाऽभ्युपगमे
स्वार्थव्यवसितिरूपप्रमात्मकफलविशिष्टस्य स्वाभिमतोपयोगेन्द्रियस्यैव करणं जिनानुगैरभ्युपगतं
स्यादित्येकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रमात्वप्रमाणत्वविरोध एव दुस्तरो दोषस्स्यादिति चेत्, स्यादेतत्,
यद्येकस्याभावेन तदुभयाभ्युपगमस्स्यात्, न चैवम्, पावके दाहकत्वौष्ण्ययोरत्र पावके दहन-
क्रिया दुग्धदाहकत्वस्याभावेऽप्यौष्ण्यस्याभावेनैव साधकतमत्वस्याभावेन ज्ञाने प्रमाणत्वं

ज्ञप्तिक्रियात्मस्वभावेन प्रमाफलत्वमित्येवमुररीकारात्, घटाभावीयप्रतियोगितावान् घट इत्यत्र प्रतियोगिताया प्रतियोग्यात्मकत्वपक्षे एकत्रैव घटत्वेन प्रतियोगितात्वेनाश्रयत्वाश्रितत्ववत्, प्रतियोगिताया अवच्छेदकात्मकत्वपक्षे घटाभावीयप्रतियोगिता घटत्वावच्छिन्नेत्यत्रैकत्रैव घटत्वत्वेन प्रतियोगितात्वेनावच्छेदकत्वावच्छिन्नत्ववच्च नैव तत्र स्वभावभेदापेक्षयोस्तयोः कोऽपि विरोध इति। ननु परशुधादिकरणस्योद्यमननिपातनादिव्यापारद्वारा दार्वादिद्वैधीभावात्मकं भिन्नमेव फलं दृश्यते, न त्वभिन्नं कुत्रापि, अभेदे कार्यकारणभावाभावादिति चेत्, प्रदीपः स्वं स्वेनैव प्रकाशयतीति प्रतीतेः प्रदीपात्मनः कर्तुः कथञ्चिदभिन्नस्य प्रकाशात्मककरणस्य प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथञ्चिदभेदस्य व्यवस्थापितत्वात् प्रकाशनक्रियात्मकफलस्य स्वाभिन्नप्रदीपः करणमित्यत्रापि दीयतां दृष्टिः, यदि च करणस्य भिन्नेनैव फलेन भाव्यमित्यत्रैवाग्रहस्तदा मत्यादिक्षायोपशमिकप्रमाणानां भिन्नं फलमादानहानधीः, उपादित्साजनिका जिहासाजनिका च बुद्धिरिति यावत्, उपेक्षाबुद्धिश्च। अतः प्रमाणफलं प्रमाणात् कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नम् प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति सिद्धम्। क्षायिककेवलज्ञानस्य त्वौदासीन्यं फलमवेहि, केवलिभगवतां हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानात्, उपादेयस्य च मोक्षतत्कारणस्योपादानात् सिद्धप्रयोजनत्वेन प्रवृत्तिनिवृत्तिनिरीहत्वादिति। संवदति चात्र "पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम्।" ६-४। "शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः।" ६-५। इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रद्वयमिति दिक्॥ १॥

अन्योन्यानुस्यूतसामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्त्वेऽनेकान्तदृष्ट्या व्यवस्थिते द्रव्यार्थिकनयविवक्षायां तन्मतेन सामान्यमात्रग्रहणलक्षणदर्शनस्यैव प्रमाणत्वेनाभ्युपगमात्तद्गोचरसामान्यमेव सत्, न विशेषाः, पर्यायार्थिकनयविवक्षायां तन्मतेन विशेषमात्रग्रहणलक्षणज्ञानस्यैव प्रमाणतयोररीकरणात्तद्गोचरविशेषा एव सन्तः, न सामान्यमित्युपदर्श्य तदुभयनयविषयविषयकप्रमाणार्पणायां तु द्रव्यपर्यायौ सामान्यविशेषेत्यपराख्यावुपसर्जनीकृततदितराकारप्रधानीभूतस्वाकारदर्शनज्ञानग्राह्यावन्योन्याऽविनाभाविनावेव सद्भूताविति गौणप्रधानभावेन सामान्यविशेषोभयग्राहकदर्शनज्ञानरूपं प्रमाणमिति दर्शयन्नाह—

> दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ।
> उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं॥ २॥ ॥ ५६॥

प्राधान्येन सामान्यांशग्रहणपरिणामे दर्शनेऽपि गौणतया विशेषांशग्रहणपरिणामो न निवृत्तः, नापि प्राधान्येन विशेषांशग्रहणपरिणामे ज्ञाने गौणतया सामान्यांशग्रहणपरिणामो निवृत्त इति तात्पर्यार्थः। शब्दार्थस्त्वेवम्–' दव्वट्ठिओ वि ' द्रव्यार्थिकोऽपि, अत्र द्रव्या-

र्थिकस्य नयस्य मतिज्ञानरूपत्वादिविषयिणा नयेन विषयो द्रव्यार्थरूपो गृहीतः, यद्वा द्रव्य-मेवार्थो द्रव्यार्थः ततस्तस्मिन् भवये सति द्रव्यार्थिक इति रूपं निष्पद्यते, तथा च द्रव्यार्थोऽपीत्यर्थः । तथा च 'दव्वट्ठिओ वि होऊण' दर्शने सामान्यविषयके आत्मा द्रव्यार्थरूपोऽपि भूत्वा सामान्यग्रहणपरिणामोऽपि भूत्वा, तदैव 'पज्जवट्ठिओ होइ' पर्यायास्तिको भवति, पर्यायास्तिकनयविषयविशेषग्रहणपरिणामोऽपि भवति, यदा हि सामान्यरूपतया आत्मा दर्शनविषयतामुपगतो भवति तदा स्वीयविशेषस्वभावमपि नैव परित्यजति, तदुभयस्वभावस्याविनाभावित्वात्, यदा च विशेषरूपतयाऽऽत्मा ज्ञानविषयीभूतो भवति, तदापि स्वीयसामान्यस्वभावमपि नैव परित्यजतीति स सामान्यपर्यालोचने दर्शने सामान्यग्रहणपरिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तविशेषग्रहणपरिणामः, न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्यं सम्भवति, एवं विशेषग्रहणोन्मुखे ज्ञाने विशेषग्रहणपरिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तसामान्यग्रहणपरिणामः, न वस्तुगतसामान्यस्वरूपं परित्यज्य विशेषा अपि प्रमाणभावं भजन्ते । यदप्याह— 'उवसमियाईभावं पडुच्च' औपशमिकादिभावं प्रतीत्य इति, औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्याऽऽत्मनो विशेषरूपत्वेन 'णाणे उ विवरीयं' ज्ञाने तु विपरीतं विशेषग्रहणपरिणामे ज्ञाने तु पूर्वोक्तसामान्यग्रहणपरिणामदर्शनतो विपरीतम्, अस्य भावप्रधाननिर्दिष्टत्वाद्वैपरीत्यमित्यर्थः, अत एव 'न सामन्नपहाणं पढमम्' इत्यादिपूर्वोक्तधर्मसंग्रहणीगाथायां प्रथमैकवचनान्तं "विवरीयं होइ नाणं तु" इत्युक्तम् । अयम्भावः—ज्ञाने हि प्राधान्येन विशेषाकारतया भासमानस्सन् गौणतयाऽऽत्मा सामान्याकारतयाऽपि प्रतिभासते, तथा च दर्शने सामान्यस्य विशेषरहितस्य ज्ञाने च विशेषाणां सामान्यरहितानामप्रतीयमानत्वादात्मार्थो विशेषरूपस्सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवतीति सामान्यविशेषौ मिथोऽविनाभूतावेव प्रतीयेते इति प्रमाणार्थतया तदुभयात्मक एवात्मार्थ इति सिद्धम् । एवमात्मपदस्योपरिकृतटीकामनुसृत्य औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावाद्वैपरीत्यं सामान्यरूपतां प्रतिपद्य, विशेषरूपस्सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवतीत्याद्यर्थोऽप्यनुसन्धेयः ॥ २ ॥

ननु यथाऽनाकारोपयोगसाकारोपयोगौ दर्शनज्ञानाख्यौ छद्मस्थानां छाद्मस्थिकोपयोगस्वाभाव्यात्क्रमेण भवतः, तथाहि—यदा चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्तश्छद्मस्थात्मा तदा न मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोपयुक्तः, यदा च मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोपयुक्तस्तदा न चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्त इत्येकतर एवोपयोगो भवत्येकस्मिन्समये, "जुगवं नत्थि दो उवओगा" इति वचनात्, न तु युगपद्दर्शनज्ञानोपयोगौ द्वौ, तथास्वाभाव्यात्, तथैव किं केवलिभगवतां केवलदर्शनोपयोगकेवलज्ञानोपयोगौ क्रमेण भवतः, किं वा युगपदेकस्मिन्नेव समये द्वावपि तौ, किं वा यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमिति चेत्, उच्यते, अत्र स्वस्वगुरुसम्प्रदायाविच्छिन्नव्याख्यानपरम्पराऽऽया

तशास्त्रीयतत्तन्नयगर्मितज्ञानसम्पत्प्रयोज्याचार्यीयतत्तन्नयाधीनविवक्षाभेदप्रयुक्तमतत्रयम्, तथापि न कस्मिंश्चिदपि मतेऽप्रामाण्यशङ्का कर्त्तव्या, भगवत्प्रवचनस्य तत्तन्नयाधीनप्रवृत्तिकत्वेन यथोपपन्नतत्तन्नयप्रयोज्यसूत्रार्थगोचरत्वात्पक्षत्रयाणाम्, अत एव शासनानुरागशुभोपायवत्सु अविच्छिन्नगुरुपरम्पराऽऽयातसूत्रतात्पर्यमपक्षपातेन तन्वत्सु सूरिभगवत्सु केषुचिदपि मिथ्याभिनिवेशित्वाऽऽरोपोऽपि न कर्त्तव्यः, वीतरागप्रभुप्रणीतशास्त्रतात्पर्यभावप्रतिसन्धानपूर्वकान्यथाश्रद्धानाऽभावात्, एतत्तत्त्वमग्रे विवेचयिष्यते इति नात्राधिकं तन्यते। अत्र युगपदुपयोगद्वयवादिनां पूज्यपादश्रीमल्लवादिप्रभृतीनामेवं मतम्–केवलदर्शनकेवलज्ञानोपयोगौ युगपद्भवतः, एकसमयावच्छिन्नस्वस्वसामग्रीजन्यत्वात् युगपदाविर्भूतस्वभावत्वाद्वा, यावेवम् तावेवम्, यथा रवेः प्रकाशतापाविति। "जुगवं दो नत्थि उवओगा" इति सिद्धान्तवचनात् महातार्किकशिरोमणितातपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरस्तु नैवं मन्यते, किन्तु एकेनैव सिद्धे किं द्वयकल्पनयेति न्यायेन यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्येक एव धर्मी, केवलदर्शनकेवलज्ञानभेदव्यवहारस्तु तत्र ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मद्वयकल्पनाप्रयुक्त एव, न तु वस्तुगत्येति। पूज्यपादश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादीनां सिद्धान्तमवलम्बमानानां मतञ्चैवम्–"सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवइ" इत्यार्षवचनस्य विनिगमकत्वात् केवलज्ञानस्यापि लब्धित्वात्साकारोपयोगकाले तस्य भावादाद्ये समये तत्, न च तदैव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्तिः "जुगवं दो नत्थि उवओगा" इति सिद्धान्तवचनात्, किन्तु द्वितीयसमये, केवलदर्शनोपयोगस्य क्रमभावित्वेनार्थसिद्धत्वात्तदानीम्। अथ छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, मैवम्, विशेषानभिधानात्, छद्मस्थोपयोगविषयत्वेनोक्तसिद्धान्तवचनस्य सङ्कोचकरणे बीजाभावात्। तदनु क्रमिकोपयोगद्वयधारायास्स्वरसत एव प्रवृत्तेस्तृतीयसमये केवलज्ञानोपयोगः, चतुर्थे क्रमायातः केवलदर्शनोपयोगः। एवमग्रेऽपीत्येव सर्वकालं प्रतिक्षणं क्रमिक एक एव केवलज्ञानकेवलदर्शनान्यतरोपयोग इति। ननु लोके क्रमिकसामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न चात्र स इति कथं केवलिनां क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेद इति चेत्, मैवम्, केवलज्ञाने केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानावरणक्षयस्य केवलदर्शने च केवलज्ञानोपयोगसहकृतकेवलदर्शनावरणक्षयस्य हेतुत्वेनात्रापि क्रमिकसामग्रीभेदस्य सत्त्वात्, आद्यकेवलज्ञानात्पूर्वं केवलदर्शनस्याभावाद्व्यभिचारस्स्यादतः केवलदर्शनोपयोगसहकृतेत्यनुक्त्वा केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतेति केवलज्ञानकारणकोटावुक्तम्। नन्वेव तर्हि तथोत्पद्येतां केवलज्ञानोपयोगः केवलदर्शनोपयोगश्च, तन्नाशस्तु समयान्तरे न स्यादेव, नाशकहेत्वभावादित्यपि न चाशङ्कनीयम्, अर्हत्प्रवचनस्यानेकनयसमूहमयत्वात्तत्तन्नयविवक्षैव प्राधान्येन तत्तत्कार्योपयोगिनीत्यत्रर्जुसूत्रनयावलम्बनेन भावमात्रस्य विनाशस्वभावनियतत्वेन स्वनाशम्प्रति स्वाऽव्यवहितोत्तरक्षणवर्त्तिभावानपेक्षणेन स्वत एव नाशः, अत

एव स निर्हेतुक इति तन्मतेनोक्तपक्ष इति केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्यापि च सत एव क्षणान्तरे विनाशात्। पक्षोक्तनयमतेन स्वस्य स्व एव नाशक इति केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च विनाशे प्रतियोगिन एव हेतुत्वात् द्वितीयक्षणे स स्यादेवेति भावनीयम्। अत्र केवलज्ञानकेवलदर्शने एकात्मनि युगपदुत्पद्येते न वा, केवलज्ञानं स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनोत्पत्तिक्षणोत्पत्तिकं न वेत्यर्थपर्यवसायिनी प्रथमा विप्रतिपत्तिः, केवलज्ञानकेवलदर्शने क्रमेणैकात्मनि समुत्पद्येते न वा, केवलज्ञानं स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनोत्पत्तिक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकं न वेत्यनुगतार्था च द्वितीया इत्याद्या उक्तमतत्रयाणां साधारण्यो विप्रतिपत्तयः। आद्यविप्रतिपत्तौ विधिपक्षो महनीयमान्यपूज्यपादश्रीमल्लवादिसिद्धसेनदिवाकराणाम्, तत्रापि केवलज्ञानं स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनसमानकालीनमपि केवलदर्शनाद्भिन्नमेवेति तावत्पादश्रीमल्लवादिनः। प्रवचनोपनिषद्वेदिवादिमुख्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरास्तु तद् केवलदर्शनादभिन्नमेवेति प्राहुः। निषेधपक्षो भगवज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादीनामिति। द्वितीयविप्रतिपत्तौ चोक्तवैपरीत्येन विधिपक्षे निषेधांशे च ज्ञेयम्। नन्वेवं विप्रतिपत्तौ सत्यां किमत्र तत्त्वं सत्यमित्याकाङ्क्षायां 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात्क्रमं युगपदुपयोगद्वयवादिमतप्रदर्शनायाह—

> मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
> केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥ ३ ॥ ५७ ॥

'मणपज्जवणाणंतो' मनःपर्यायज्ञानमन्तं पर्यवसानं यस्य स मनःपर्यायज्ञानान्तः, स कः कस्य चेत्याकाङ्क्षायामाह—'णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो' ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विशेषः पृथग्भाव इति साध्यम्। अत्रानुक्तमपि छद्मस्थोपयोगत्वं हेतुर्द्रष्टव्यः। तथा च प्रयोगः— चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात्, श्रुतमनःपर्यायज्ञानवत् सङ्केतस्मरणोद्बुद्धवाच्यवाचकभावसम्बन्धयोरर्थस्मरणद्वारा पदज्ञानजन्यशाब्दबोधविषयके तथाऽऽसत्त्यादिघटितद्वारा पदसमूहरूपवाक्यार्थविषयके वा श्रुतज्ञाने यानि चिन्त्यमानपदार्थोद्बुद्धानि संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवैः काययोगेन गृहीतानि मनोवर्गणाद्रव्याणि मनोयोगेन च मनस्त्वेन परिणमितानि तत्पर्यायविषयके मनःपर्यायज्ञाने चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनपृथक्कालत्वसाध्यप्रसिद्धेर्न दृष्टान्तासिद्धिरिति। अत्र दर्शनत्रयपृथक्कालत्वं क्वापि पक्षस्यसाध्यमविवक्षितम्, यच्च स्वदर्शनपृथक्कालत्वं सिषाधयिषितं तच्चोक्तदृष्टान्तयोर्नैवेति दृष्टान्ताऽसिद्ध्याऽत्र सावरणत्वं हेतुः कर्तव्यः, व्यतिरेकी च प्रयोगः। ननु चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि स्वस्वदर्शनपृथक्कालानि सावरणत्वात् यन्नैवं तन्नैवमिति व्यतिरेकानुमानेऽपि व्यतिरेकदृष्टान्तीभूते केवलज्ञाने स्वदर्शनपृथक्कालत्वाभावो हेत्वभावोऽपि नैव सिद्ध इति दृष्टान्तासिद्धिस्तदवस्थैवेति चेत्, तर्हि तज्जन्यत्वमेव हेतुः क्रियताम्, यद् यज्जन्यं तत्तदा

पृथक्कालमिति सामान्यव्याप्तौ यथा दण्डाद् घट इति दृष्टान्तस्य सर्वाऽविगानेन सिद्धत्वाच्च दृष्टान्तासिद्धिरित्युक्तं ज्ञानबिन्दौ न्यायाचार्यैः शब्दान्तरेण। यथा चक्षुर्ज्ञानादिकं चक्षुदर्शनादिजन्यमित्यतस्ततः पृथक्कालं तथा केवलज्ञानं केवलदर्शनजन्यं नेति न केवलदर्शनपृथक्कालं किन्तु तदुभयमेकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिकम् अव्यवहितपूर्वसमयावच्छिन्नस्वस्वसामग्रीजन्यत्वात्, मतिज्ञानश्रुतज्ञानलब्धिद्वयवदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह—'केवलनाण पुण' केवलज्ञानं पुनः 'दंसणं ति' दर्शनमिति-दर्शनोपयोग इति, 'नाणं ति य' ज्ञानमिति च ज्ञानोपयोग इति च 'समाणं' समानं तुल्यकालम्, तुल्यकालीनोपयोगद्वयात्मकः केवलाख्यो बोध इत्यर्थः। प्रयोगश्चात्र—केवलिनो ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगावेककालीनौ युगपदाविर्भूतस्वभावत्वात्, यावेवम् तावेवम्, यथा रवेः प्रकाशतापौ ॥ ३ ॥

अयमभिप्राय आगमविरोधीति केषांचिन्मतम्, तानधिक्षिपन्नाह—

केई भणंति जइआ जाणइ तइआ ण पासइ जिणोत्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयराऽऽसायणाऽभीरू ॥ ४ ॥ ५८ ॥

'केई' केचित् पूज्यपादश्रीजिनभद्रानुयायिनो 'भणंति' भणन्ति, प्रतिपादयन्ति, किं भणन्तीति कर्माकाङ्क्षायामाह—'जइया' इत्यादि, 'जइया' यदा 'जाणइ' जानाति 'तइया' तदा 'ण पासइ' न पश्यति, कर्त्तुराकाङ्क्षायामाह—'जिणोत्ति' जिन इति 'सुत्तमवलंबमाणा' सूत्रमवलम्बमानाः "केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेऊहिं उवमाहिं दिट्ठंतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ, जं समयं पासइ तं समयं जाणइ? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं० जं समयं जाणति नो तं समय पासति, जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ! गोयमा! सागारे से नाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति, से तेणट्ठेणं जाव णो तं समयं जाणति, एवं जाव अहे सत्तमे" इति प्रज्ञापनात्रिंशत्तमपश्यताख्यपदगतसूत्रमवलम्बमानाः, अस्य च सूत्रस्य किलायमर्थस्तेषामभिमतः—केवली-सम्पूर्णबोधः, णमिति वाक्यालङ्कारे, भन्ते इति भगवन् 'इमां रत्नप्रभां पृथिवीमाकारहेत्वादिभिरष्टाभिः करणभूतैः 'जं समय जाणइ तं समयमिति' कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति २-३-५ इति सूत्रेण द्वितीया अधिकरणसप्तमीबाधिका, तेन 'यं समय जानाति' यस्मिन् समये जानाति 'तं समयं पासइ' तस्मिन् समये पश्यति? यस्मिन् समये पश्यति तस्मिन् समये जानाति? इति भगवता श्रीगौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—गौतम! नायमर्थस्समर्थः, नैव यस्मिन् समये जानाति तस्मिन्नेव समये पश्यतीत्यर्थो युक्त्युपपन्नः, ततोऽन्यस्मिन्समये जानाति अन्यस्मिंश्च समये पश्यतीति भावः, तत्त्वमजानानः पुनः पृच्छति, से केणट्ठेणं भंते! इत्याद्युच्चारणीयम्,

भगवानाह—"सागारे से नाणे भवति अणागारे से दंसणे हवइ त्ति" साकारं विशेषग्राहि 'से' तस्य केवलिनो ज्ञानं भवति, अनाकारं अतिक्रान्तविशेषं सामान्यग्राहि दर्शनं भवति "जं सामण्णगहणं दंसणमेयं विसेसियं नाणं" इति वचनात्। ज्ञानदर्शने चैकसमयावच्छेदेन मिथो विरुद्धे, परस्पराभावनान्तरीयकत्वात्, परमाणुगतशीतोष्णत्ववत्, अत्र परमाणुगतेति विशेषणात् जैनमते एकस्मिन्नवयविन्येकसमयावच्छेदेन भिन्नावयवावच्छेदेन शीतोष्णत्वयोस्सत्त्वेऽपि न क्षतिः, एकस्मिन् परमाणौ शीतोष्णत्वयोर्विरुद्धयोरेकसमयाव-च्छेदेनाऽनभ्युपगमात्। उक्तानुमानेन केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथो विरुद्धे इति सिद्धे सत्येकस्मिन्नेव समये निरावरणस्यापि केवलिनस्ते तथाविधे युगपन्न भवितुं नार्हतः। न चैकस्मिन्नात्मनि साकारताऽनाकारतालक्षणज्ञानत्वदर्शनत्वोभयात्मकविरुद्धधर्मद्वयात्मकत्वं केवलोपयोगोऽपि सम्भवति, तथा च विशेषग्राहिज्ञानोपयोगः सामान्यग्राहिदर्शनोपयोगान्तरितः, सामान्यावलम्बिदर्शनोपयोगश्च विशेषप्रतिभासिज्ञानोपयोगान्तरितः, तस्मात् सामान्यादिति युगपदनेकप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वभाव एव कारणं नान्यत्, यथा सन्निहितेऽपि च द्व्यात्मके विषये सर्वं विशेषमेव केवलज्ञानं सर्वसामान्यानि च केवलदर्शनं गृह्णातीत्यत्र ज्ञानयोस्स्वभाव एव कारणम्, तथा प्रकृतेऽपि। प्रयोगश्चात्र—एकात्मगते केवलज्ञानकेवलदर्शने पृथक्कालीने एकसमयावच्छेदेन परस्परविरुद्धस्वभावत्वात्, एकपरमाणुगतशीतोष्णत्ववत्, क्रमभाविस्वभावत्वाद्वा चक्षुर्दर्शनश्रोत्रज्ञानवत्। अथवा केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथोऽन्तरितत्वेनाऽभ्युपगन्तव्ये तत्स्वाभाव्यात्, यस्य यत्स्वभावस्य तथैवाऽभ्युपगन्तव्यत्वात्, यथा केवलज्ञानस्य विशेषग्राहकत्वस्वभावः केवलदर्शनस्य च सामान्यग्राहकत्वस्वभाव इति। एते च व्याख्यातारः किम्भूता इत्याशङ्कायामाह—'तित्थयराऽऽसायणाऽभीरू' तीर्थकराऽऽशातनाऽभीरवः तीर्थकराऽऽशातनाया अभीरवः। तीर्थकरमाशातयन्तो न बिभ्यतीति यावत्। एवं हि निःसामान्यस्य निर्विशेषस्य वा वस्तुनोऽभावेन न किञ्चिज्जानाति केवली न किञ्चित्पश्यतीत्यपि विशेषस्यैव पर्यवसानात्। न चान्यतरस्यास्योपसर्जनविषयतामपेक्ष्योभयग्राहित्वेऽपि तयोर्नाक्रमाभ्युपगमे दोषः, मुख्योपसर्जनभावेनोभयग्रहणस्य क्षयोपशमविशेषप्रयोज्यत्वात्, केवलज्ञाने क्षायोपशमिकज्ञानीययावद्विषयतोपगमे अवग्रहादिमतिज्ञानरूपतापत्तिप्रसङ्गात्, सामान्यज्ञानपूर्वकं विशेषज्ञानं विविदिषुणो विशेषज्ञानस्य कारणत्वादिति छद्मस्थज्ञानीयक्रमानुसारेण केवलिनोऽपि पूर्वं केवलदर्शनं तदनु केवलज्ञानमिति क्रमप्रसङ्गाच्च। अक्रमपक्षस्य तु भगवदुक्तोऽर्थो न च समीचीनतामञ्चति, यतोऽस्मिन् पक्षे समयमिति पदं न समयावच्छेदकालवाचकम् किन्तु समकं तुल्यमित्यर्थवाचकम् तथा च "अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते, केवली इमां रत्नप्रभां पृथिवीं चेराकारादिभिः समकं तुल्यं जानाति न चेराकारादिभिस्तुल्यं पश्यति, चेराकारादिभिः समकं तुल्यं पश्यति न चेराकारादिभिस्समकं तुल्यं जानातीति प्रश्ने कृते तत्प्रतिवचनं मिथ्यालम्बनमवर्णकम्, केवलिनो ज्ञानं साकारं भवति, तस्य दर्शनं चानाकारं भवतीत्यतो

भिन्नालम्बनावेतौ प्रत्ययावित्याहुः प्राचीनाः । ज्ञानबिन्दावुपाध्यायभगवच्छ्रीयशोविजयास्त्वेवं समालोचयन्ति-अत्र यद्यपि 'जं समयं' इत्यत्र 'जं' इति अम्भावः प्राकृतलक्षणात्, यत्कृतमित्यत्र 'जं कयं' इति प्रयोगस्य लोकेऽपि दर्शनादिति वक्तुं शक्यते, तथापि तृतीयान्तपदवाच्यैराकारादिभिः यैस्समकं यत्समकमिति लुप्ततृतीयान्तसमासस्थयत्पदार्थस्य समकपदार्थस्य चान्यूनानतिरिक्तधर्मविशिष्टस्य रत्नप्रभायां भिन्नलिङ्गत्वादनन्वय इति 'यत्समकम्' इत्यादि क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्येयम्, रत्नप्रभाकर्मकाकारादिनिरूपितयावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकज्ञानवान् न तादृशतावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकदर्शनवान् केवलीति फलितोऽर्थः । यदि च तादृशस्य विशिष्टदर्शनस्य निषेध्यस्याऽप्रसिद्धेर्न तन्निषेधः, 'असतो नत्थि निसेहो' विशेषा० गा० १५७४ इत्यादिवचनादिति सूक्ष्ममीक्ष्यते, तदा क्रियाप्रधानमाख्यातमिति वैयाकरणनयाश्रयणेन रत्नप्रभाकर्मकाकारादिनिरूपितयावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकं ज्ञानं न तादृशं केवलिकर्तृकं दर्शनमित्येव बोधः, सर्वनयात्मके भगवत्प्रवचने यथोपपन्नान्यतरनयग्रहणे दोषाभावादिति । अत्र न तादृशं केवलिकर्तृकं दर्शनमित्यस्य रत्नप्रभाकर्मकाकारादिनिरूपिततावदन्यूनानतिरिक्तविषयताकत्वाभाववत् केवलिकर्तृकं दर्शनमिति पर्यवसितोऽर्थः । तेन ज्ञानतुल्यविषयताकदर्शनस्याऽप्रसिद्धत्वेऽपि न क्षतिरिति ॥ ४ ॥

युगपदुत्पत्त्यविकलकारणकं यद् यद् तत्तद् युगपदुत्पद्यते यथा रूपोत्पत्तिकाले रसः, यथा वाऽऽदित्यप्रकाशोत्पत्तिकाले प्रतापः, युगपदुत्पत्त्यविकलकारणकञ्च केवलज्ञानोत्पत्तिकाले केवलदर्शनम्, तस्मात् केवलज्ञानोत्पत्तिकाल एव तेनैव साकमुत्पद्यते केवलदर्शनमित्याह—

केवलनाणावरणक्खयजायं केवलं जहा नाणं ।
तह दंसणंपि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥ ५९ ॥

'केवलनाणावरणक्खयजाय' केवलज्ञानावरणक्षयजातं कारणीभूते केवलज्ञानावरणक्षये सति जातं तेनोत्पन्नं 'केवलं जहा नाण' केवल यथा ज्ञानम्, यथा निखिलविशेषग्राहकस्वभावं केवलज्ञानं 'तह दंसणं पि जुज्जइ' तथा दर्शनमपि युज्यते निखिलसामान्य ग्राहकस्वभावं केवलदर्शनमपि युज्यते, कदेत्यत आह-'णियआवरणक्खयस्संते' निजावरणक्षयस्यान्ते दर्शनावरणक्षयानन्तरक्षणे, द्वादशगुणस्थानकचरमसमये केवलज्ञानावरणक्षयकेवलदर्शनावरणक्षयरूपकारणद्वयस्य युगपत्सद्भावे तत्कार्यभूते केवलज्ञानकेवलदर्शने युगपदेवोत्पद्येताम् अव्यवहितपूर्वसमयावच्छेदेन तदुभयोत्पत्तिकारणसद्भावात् युगपदुत्पद्यमानाऽऽदित्यप्रकाशतापवत् परमाणौ रूपरसादिवद्वा । ननु केवलज्ञानकेवलदर्शने समकालीनकेवलज्ञानावरणक्षयकेवलदर्शनावरणक्षयहेतुके अपि क्रमभावित्वस्वभावादेव क्रमेणैवोत्पद्येते, न हि स्वभावे पर्यनुयोग इति न्यायादिति चेत्, युक्तिबलसाम्राज्ये सति न हि

स्वभावमात्रेण सन्तोष्टव्यम्, यतो युगपत्कार्यद्वयोत्पादकाऽऽत्मसमवलकारणद्वयसद्भावेऽपि स्वभावमात्रेण कार्यक्रमाभ्युपगमे सर्वत्र स्वभावेनैव निर्वाहे कारणमात्रस्यैवोच्छेदप्रसङ्गस्स्यात्, तथा सति स्वभाववादस्यैव माम्राज्यं स्यात्, तस्मादनन्यगत्या कार्योत्पत्तिस्वभावः कारणेनैव कार्यक्रमस्वभावोऽपि कारणक्रमेणैव जननीय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, न चात्र कारणक्रमो, येनाखिलविदः कार्यक्रमोऽपि स्यात्, एतेन सर्वव्यक्तिविषयकव्यक्तिसर्वज्ञत्वविषयकत्वयोः युगपदेव आवरणद्वयकार्यतावच्छेदकत्वात्सर्वज्ञत्वावच्छिन्नोपयोगद्वयमिति सिद्धिरित्यपि निरस्तम्, तस्मिन्नपि तत्क्रमाऽसिद्धेः, आवरणद्वयक्षयकार्ययोः समप्राधान्येनार्थगतेरप्रसराच्च । न च मतिश्रुतज्ञानावरणयोर्युगपत्क्षयोपशमेऽपि यथा तदुपयोगक्रमस्तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोर्युगपत्क्षयेऽपि केवलिन्युपयोगक्रमस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तत्र श्रुतोपयोगे मतिज्ञानस्य हेतुत्वेन पञ्चदशी प्रत्यक्षादिसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेन चोपयोगक्रमसम्भवात्, अत्र तु क्षीणावरणत्वेन परस्परकार्यकारणभावप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाभावेन विशेषात् ॥ ५ ॥

एतदेवाह—भण्णइ खीणावरणे, जह मइणाणं जिणे ण संभवइ ।

तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥ ६ ॥ १० ॥

'भण्णइ' भण्यते, निमित्तोभ्यते 'खीणावरणे' क्षीणावरणे, क्षीणं घनघातिकर्मचतुष्टयमावरणं यस्य स तथा तस्मिन्, अस्य 'जिणे' इत्यनेनान्वयादेवम्भूते जिने 'जह मइणाणं' यथा मतिज्ञानं मत्यादिज्ञानम् अवग्रहादिचतुष्टयरूपं वा मतिज्ञानं 'ण संभवइ' न सम्भवति 'तह खीणावरणिज्जे' तथा क्षीणावरणीये तस्मिन्नेव 'विसेसओ' विशेषतः पृथग्भावतो ज्ञानोपयोगसमयभिन्नसमय इति यावत् 'दंसणं नत्थि' दर्शनं नास्ति, न सम्भवति, क्रमोपयोगत्वस्य मतिज्ञानाधारभूतकादाचित्कज्ञानत्वव्याप्यत्वात्, विशिष्टबुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वमिति नियमेन पूर्वं सामान्यालम्बनोपयोगः पश्चाद्विशेषालम्बनोपयोग इति क्रमोपयोगत्वस्य चावग्रहाद्यात्मकत्वव्याप्यत्वात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमोपयोगत्वे तत्रापत्तिस्स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्यस्याप्यसम्भवात् तर्कबलेनानुमानप्रयोगः पर्यावसितम्-केवलज्ञानकेवलदर्शने एकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिके एकसमयपर्याप्तसामग्रीकत्वात्, यद्यदेकसमयपर्याप्तसामग्रीकं तत्तदेकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिकं "सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं" इति वचनात् 'सम्मत्तेयं समयं सहं दुसं च कोइ पडिवज्जे' इति परमगुरुवचनाच्च एककालीनदर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमतः करणविशुद्धः सम्यग्दर्शनचारित्रे इव ॥ ६ ॥

न केवलं क्रमवादिनोऽनुमानविरोधः, अपि त्वागमविरोधोऽपीत्याह—

सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं ।

सुत्तासायणभीरूहिं, तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥ ११ ॥

'सुत्तंमि' केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्सादपर्यवसितत्वाभिधायके "केवलनाणी णं पुच्छा

गोयमा ! साइ अपज्जवसिए" "केवलदंसणी ण पुच्छा गोयमा ! सातीए अपज्जवसिए" इति प्रज्ञापनाऽष्टादशपदोक्तसूत्रे 'चैव' चैव-निश्चयेन "साइ-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं" साद्यपर्यवसितमिति साद्यनन्तमिति 'केवलं' केवलज्ञानं केवलदर्शनञ्चोक्तम्। क्रमोपयोगे तु द्वितीयसमये तयोः पर्यवसानमिति कुतोऽपर्यवसितता ? । तेन 'सुत्तासायणभीरूहिं' सूत्राशातनाभीरुभिः 'त च दट्ठव्वयं होइ' तच्च द्रष्टव्यकं भवति। चोऽप्यर्थः, न केवलं 'केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं' इत्याद्युक्तसूत्रयथाश्रुतार्थानुपपत्तिमात्रम्, किन्त्वस्य साद्यपर्यवसितत्वाभिधायकस्य सूत्रस्य विरोधोऽपीति भावः। न च यथा मतिज्ञानादिकमुत्पन्नं सत् मिथ्याभावादिनाशात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे केवलनाणं उववज्जइ" इति वचनात् केवलज्ञानानाशौ वा प्रतिपतति, न च तथास्वभावे केवलज्ञानकेवलदर्शने, तयोः क्षायिकत्वादिति ते साद्यपर्यवसिते स्यातामिति वाच्यम्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमिकोत्पादपक्षे यस्मिन् समये यस्य नोत्पत्तिस्तस्मिन् समये तस्याभावेन सपर्यवसितत्वमेव स्यात्। अथ तदानीं व्यक्तिरूपेण तत्सत्त्वाभावेऽपि लब्धिरूपेण तत्सत्त्वमस्त्येव, तथा च तद्रूपेण कदापि प्रतिपाताभावेनापर्यवसितत्वं तयोस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि केवलज्ञानत्वावच्छिन्ने केवलदर्शनत्वावच्छिन्ने च विवादापन्नं क्रमिकत्वं प्रसाधनीयमिति तद्धर्मरूपेण तत्रापर्यवसितत्वमभिलषितं सिद्धं न स्यात्, प्रत्युत लब्धिरूपेण तत्सिद्धं स्यात्, केवलज्ञानत्वधर्मरूपेण केवलदर्शनत्वधर्मरूपेण तत्रापर्यवसितत्वमस्ति न वेति संशये सति प्रश्ने कृते यद्रूपेण जिज्ञासितं तद्रूपेणैव तदुत्तरदानेनैव निराकाङ्क्षबोधभावाज्जिज्ञासानिवृत्तिस्स्यात्, नान्यथा, न च लब्धिपक्षे तत्सम्भव इति। न च भवन्मतेऽपि द्वितीयसमये प्रथमसमयावच्छिन्नयोस्तयोर्विनष्टत्वाद्द्वितीयसमयावच्छिन्नयोस्तयोश्चोत्पादादपर्यवसितत्वं न स्यादिति वाच्यम्, तत्तत्समयविशिष्टत्वेनोत्पादविनाशशालित्वेऽपि केवलज्ञानत्वावच्छिन्न-केवलदर्शनत्वावच्छिन्नतदीयसन्तानस्य दीपशिखासन्तानवदविच्छेदात्, अत एवोत्पादादित्रैलक्षण्योपपत्तिः। एवं प्रथमसमयवर्तिनो यान् निखिलाननन्तपदार्थान् स्वस्वानन्तपर्यायविशिष्टान् वर्त्तमानप्रथमसमये वर्त्तमानस्वरूपेण तदनन्तरद्वितीयादिसमयवर्त्तिनस्ताननागतस्वरूपेण तत्पूर्ववर्त्तिनश्च तानतीतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, द्वितीयसमये च प्रथमसमयवर्त्तिनस्तान् षड्गुणहानिवृद्धिभाव प्राप्तानतीततया द्वितीयसमयवर्त्तिनश्च तान् षड्गुणहानिवृद्धिभाव प्राप्तान् वर्त्तमानतया अतीतांश्च षड्गुणहानिवृद्धिभावप्राप्तानन्तपर्यायविशिष्टान् तानेकसमयाधिकातीतस्वरूपेणाऽनागतांश्च तद्विशिष्टान् तानेकसमयन्यूनानागतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, एवमग्रेऽपि, तथा च प्रदर्शितप्रकारेण वर्त्तमानादिस्वभावविशिष्टार्थग्राहकयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्तत्तत्समयविशिष्टार्थग्राहकत्वपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणमुत्पादादित्रैलक्षण्यसिद्धिः। एवं द्रव्यमात्रस्य प्रतिक्षण पर्यायभेदेन

भिन्नरूपत्वात्तद्रूपद्वेयपरिणतिभेदेन तद्वाहकस्वपरिणतिभेदवत्त्वतो प्रतिक्षण त्रैलक्षण्यसिद्धि र्भावनीया, मदर्थैतद् मदन्मते तयोर्न सङ्गटते, यतस्समये तदुभयान्यतरस्यैव सद्भावेन तदुभयाभावात् । तथा च तत्तत्क्षणेऽन्यतरधर्मिणोऽभावेन तत्र त्रैलक्षण्यधर्मस्य सुतरामभाव एव, न चास्मन्मतेऽपि विकलप्रकाशपरिणामेन सदा ध्रुवा चेतनैव प्रयोदशगुणस्थानकाद्य क्षणे सम्पूर्णप्रकाशरूपकेवलज्ञानतया परिणता, अत एव त्रैलक्षण्योपपत्तिः, या चाद्यसमये केवलज्ञानस्वरूपेण परिणता सैव द्वितीयसमये केवलदर्शनरूपेण तृतीयसमये च केवलज्ञान स्वरूपेण च परिणमते, अत एव प्रतिक्षणं त्रैलक्षण्यसिद्धिरिति, सा चानुकेवलज्ञानोत्पत्ति केवलोपयोगस्वरूपं नैव कदापि परित्यजतीति तद्रूपेण तस्यास्सर्वदा ध्रुवत्वेन तद्रूपेण केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरपर्यवसितत्वं स्यादेवेति वाच्यम्, केवलोपयोगस्वरूपेण तयोरपर्य- वसितत्वाभ्युपगमे द्वितीयपक्षेऽपि तयोस्साद्यनन्तत्वप्रसक्तिः, अन्यथा तदविनाभावयोऽयोगस्स्यात् । किञ्च केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्यात्मकस्वस्वासाधारणधर्मरूपेण साद्यपर्यवसितत्वाऽभि हितं तयोस्सिद्धं न स्यात् । तदेव क्रमाभ्युपगमे तयोरागमविरोध इत्युपसंहरन्नाह—

> संतंमि केवले दंसणम्मि, णाणस्स संभवो नत्थि ।
> केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाई ॥ ८ ॥ ९२ ॥

केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन च स्वस्वासाधारणधर्मेण द्वयोः क्रमिकत्वेऽन्यतरकाले ऽन्यतराभावप्रसङ्ग इत्याशयेनाह—' संतंमि केवले दंसणम्मि ' सति केवले दर्शने, केवल दर्शने सति ' णाणस्स ' ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य ' संभवो नत्थि ' सम्भवो नास्ति । " केवलणाणम्मि य दंसणस्स " केवलज्ञाने च सति दर्शनस्य, तदनन्तरं ' संभवो नत्थि ' इत्यनुकर्षणीयम् । ' तम्हा सणिहणाई ' तस्मात्सनिधने, अत्र ' दुवयणे बहुवयणं ' इति प्राकृतनियमाद्विवचनस्थाने बहुवचनम् । निधनमन्तो विनाशस्तेन सहिते सनिधने, प्रसक्ते इति शेषः । तथा च केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यतरकालेऽन्यतराऽभावात् सनिधने सविनाशे प्राप्ते, एवं च सति तदपर्यवसितत्वप्रतिपादकश्रुतागमविरोधस्तुस्सह एवेति भावः । अत्र ' तम्हा अनिहणाई ' इति ज्ञानबिन्दौ पाठः, तस्य चाऽयमर्थः—स्वरूपतो द्वयोः क्रमिकत्वे ऽन्यतरकालेऽन्यतराभावप्रसङ्गः, तथा चोक्तरूपमागमवचनोपनिपातः, तस्माद् द्वावप्युप योगौ केवलिनः स्वरूपतोऽनिधनाविति ॥ ८ ॥

इत्थं प्रश्नकृतक्रमोपयोगद्वयाभ्युपगमेन क्रमोपयोगवादिनं पर्यनुयुज्य स्वपक्षं दर्शयितुमाह—

> दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयरं (यरो) ।
> होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे नत्थि उवओगा ॥ ९ ॥ ९३ ॥

' दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि ' दर्शनज्ञानावरणक्षये समाने निखिलसामान्य

प्रतिभासिकेवलदर्शनावरणक्षयो यस्मिन् समये तस्मिन्नेव समये निश्शेषविशेषावगाहिकेवलज्ञानावरणक्षय इत्येकसमयावच्छेदेन दर्शनज्ञानावरणक्षयलक्षणे तदुभयकारणे समाने सति 'कस्स पुव्वयर' कस्य प्रथमतस्समुत्पादो भवेत् ? उभयसामग्रीसद्भावेऽप्यन्यतरोत्पादे तदितरस्याप्युत्पादप्रसङ्गस्स्यात् । लोके क्रमिकसामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न चात्र स इति कथं केवलिगतवर्ती क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेदः । अन्यतरसामग्री अन्यतरप्रतिबन्धिकेति चेत्तर्हि विनिगमनाविरहादुभयोरप्यभावप्रसङ्गस्स्यात् । ननु "सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स" इत्याद्यार्षवचनमेव केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमोत्पादे प्रमाणम्, यतः केवलज्ञानस्य लब्धिरूपात्साकारोपयोगसमये तदुत्पत्तेराद्यसमये केवलज्ञानोपयोगः, न च तत्समय एव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्तिः, किन्तु द्वितीयसमय एव "जुगवं दो नत्थि उवओगा" इति सिद्धान्तवचनादिति पूर्वमेवोक्तमिति चेत्, सत्यमुक्तम्, न तु युक्तियुक्तमुक्तम्, एतद्वचनस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्य लब्धियौगपद्य एव साक्षित्वात्, उपयोगक्रमाक्रमयोरौदासीन्यात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्यौगपद्येनापि निर्वाहेऽर्थाद्दर्शनेऽनन्तरोत्पत्त्यसिद्धेः, एकक्षणोत्पत्तिककेवलज्ञानयोरेकक्षणन्यूनाधिकायुष्कयोः केवलिनोः क्रमिकोपयोगधारया निर्वाहयितुमशक्यत्वाच्च, अयोगिगुणस्थानचरमक्षणे एकस्य केवलिनो धाराक्रमेण केवलज्ञानं स्यात्, तदन्यस्य च दर्शनमिति तदव्यवहितोत्तरसिद्धिसमयेऽपि तथा स्यात्, न च तद्युक्तम्, सिद्धिलब्धेस्साकारोपयोगकाल एव भावादिति । ननूक्तबाधकबलाद्भिन्नसमयावच्छेदेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुत्पादो माऽभ्युपगम्यताम्, अभ्युपगम्यतामेकसमयावच्छेदेन सः, बाधकाभावादित्याशङ्कते आराध्यपादश्रीमल्लवादी 'होज्ज समं उप्पाओ' भवेत् सममेककालमुत्पादस्तयोः, एकसमयावच्छिन्नकारणद्वयसद्भावे सत्येकसमयावच्छेदेनैव कार्यद्वयस्यापि भावात् । अत्र 'होज्ज व समओप्पाओ' इत्यपि ज्ञानबिन्दुपाठः–भवेद्वा समयमेककालमुत्पादस्तयोरित्यर्थः । एकोपयोगी महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरस्स्वसिद्धान्त निष्टङ्कयति–'हंदि दुवे नत्थि उवओगा' ज्ञायतां द्वावुपयोगौ न स्तः एकत्रेति, सामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकत्वात् केवलज्ञानस्य, यदेव ज्ञानं तदेव दर्शनमित्यत्रैव निर्भरः, उभयहेतुसमाजे समूहालम्बनोत्पादस्यैव अन्यत्र दृष्टत्वात् नात्रापरिदृष्टकल्पनाक्लेश इति भावः ॥९॥

अखिलसामान्याखिलविशेषोभयविषयकसमूहालम्बनज्ञानाभ्युपगमे सत्येव केवलिनस्सर्वज्ञतासम्भवः, नान्यथेत्याह—

जइ सव्वं सायारं, जाणइ एक्कसमयेण सव्वण्णू ।
जुज्जइ सयावि एवं, अहवा सव्वं न जाणाइ ॥ १० ॥ ६४ ॥

'जइ सव्वं सायारं' यदि सर्वं सामान्यविशेषात्मकं जगत् साकार तत्तज्जातिव्यक्तिवृत्तिधर्मविशिष्टम्, साकारमिति क्रियाविशेषणं वा निरवच्छिन्नतत्तज्जातिनिष्ठप्रकारतानिरूपि-

तथाभूतकिंचिद्विशेष्यतासहितं परस्परं भावद्रव्यपर्यायनिरूपितविषयतासहितं वा यथा स्यात्तथेत्यर्थः। "जाणइ एकसमयेण सव्वं" जानाति एकसमयेन सर्वज्ञः, पश्यति चेति शेषः, "जुगवं तया वि सव्वं" तदा युज्यते 'सदाऽपि' सर्वकाले 'एव' सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च तस्येत्यर्थः। अयम्भावः–सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्वस्तुनो यदा सर्वं विशेषात्मकं जानाति तदैव विशेषानुस्यूतसामान्यमपि सर्वं पश्यति, तस्यैवम् वा तदपि विभागशून्यं निखिलविशेषमपि तदैव जानाति, निखिलसामान्यविषयताकत्वे सति निखिलविशेषविषयताकावबोधैकरूपत्वात् सर्वज्ञोपयोगस्य, तथाभ्युपगमे सत्येव तस्य सर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं सदापि युज्यते। 'अहवा' अथवा एतद्वैपरीत्ये सति "सव्वं न जाणइ" सर्वं न जानाति, सामान्यविशेषोभयात्मकं निखिलपदार्थमात्रं सर्वज्ञो न जानीयात्, एकदेशोपयोगवर्तित्वात्, मतिज्ञानिवत्, एकदेशोपयोगवर्ती च क्रमोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च सर्वज्ञः, तस्मात्सर्वं स न जानीयात्, तथा चोभयमतेऽसर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वञ्च तस्य स्यात्, न च तथाऽभ्युपगन्तुं युक्तमिति प्रतिपन्नसर्वदर्शित्वसर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या निखिलसामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकं यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्यभ्युपगन्तव्यमिति स्थितम् ॥ १० ॥

अव्यक्तत्वादपि पृथग्दर्शनं केवलिनि न सम्भवतीत्याह—

> परिसुद्धं सायारं, अवियत्तं दंसणं अणायारं।
> ण य खीणावरणिज्जे, जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥ ११ ॥ ६५ ॥

'परिसुद्धं' परिशुद्धं–व्यक्तस्वरूपं ज्ञानमिति शेषः। तत्र हेतुमाह–'सायारमिति' साकारमिति, यस्माकारं तद्व्यक्तस्वरूपम् यथा घटोऽयमिति ज्ञानम्। 'अवियत्तं दंसणं' अव्यक्तं दर्शनम्, तत्र हेतुमाह–'अणायारमिति' अनाकारमिति यदनाकारं तदव्यक्तम्, यथा घटत्वविषयकनिर्विकल्पज्ञानम् चक्षुर्दर्शनादिकं वा, न च क्षीणावरणेऽपि व्यक्तताऽव्यक्तता युज्येते इत्याह–'ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं' न च क्षीणावरणीये–क्षीणं निःशेषतया ज्ञानावरणीयमावरणज्ञानादिगुणात्मकस्वकं घातिकर्म यस्य तस्मिन् सर्वज्ञे युज्यते सुव्यक्तमव्यक्तम्। अयम्भावः–दर्शनं स्वसामग्रीवशादव्यक्तस्वरूपमुपयाचत इति तस्याऽव्यक्तता स्वरूपम्, ज्ञानञ्च व्यक्तस्वरूपमुपयाचत इति तस्य व्यक्तता न च क्षीणावरणीये सर्वज्ञे ते युज्यते, तस्य जगन्निखिलसामान्यविशेषोभयात्मकवस्तूनां करामलकवत् सुव्यक्ततयैव प्रत्यक्षभावात्। तस्मात् सामान्यविशेषप्रपञ्चस्पर्शुभयैकस्वभाव एवायं केवलिप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम्। न च सामान्यविशेषात्मकग्राह्यद्वित्वात् केवलदर्शनकेवलज्ञानात्मकग्राहकद्वित्वेनापि भाव्यमिति नियमोऽस्ति केवलज्ञानस्य प्राग्ज्ञानस्येनानन्तत्वापत्तेः। अथ ज्ञानभेदमपेक्षते न विषयभेद इति चेत्, तर्हि ग्राह्यद्वित्वात् ग्राहकद्वित्वमित्यव्याप्तिरो दृश्यताम्, आवरणद्वय

क्षयादुभयैकस्वभावस्यैव कार्यस्य सम्भवात् । न चैकस्मिन् केवलिप्रत्यये वह्नौ शीतोष्णत्व-स्वभावद्वयस्येव ज्ञानत्वदर्शनत्वस्वभावद्वयस्य विरोध इत्याशङ्कनीयम्, एकदेवदत्ते दर्शन-स्पर्शनशक्तिद्वयस्येव केवलिनिष्ठैककेवलोपयोगे ज्ञानत्वदर्शनत्वस्वभावद्वयस्याप्यविरोधात्, न च देवदत्ते दर्शनस्पर्शनशक्तिद्वयं लब्धिरूपम्, केवलिप्रत्यये दर्शनज्ञानस्वभावता कार्यरूपेति दृष्टान्तवैषम्यमित्यप्याशङ्कनीयम्, एकस्मिन् देवदत्ते शक्तिद्वयस्यैवैकस्मिन्नपि केवलिप्रत्यये केवलज्ञानत्वकेवलदर्शनत्वस्वभावद्वयस्यापि न विरोध इत्यविरोधांशमात्र एव दृष्टान्तो-पादानात्, केवलज्ञानत्वकेवलदर्शनत्वधर्मद्वयाभ्यां ज्ञानदर्शनयोर्भेदः न तु धर्मिभेदेनेति परमार्थः । अत एव स्तुतिकारेण—

> " एवं कल्पितभेदमप्रतिहतं सर्वज्ञतालाञ्छनं,
> सर्वेषां तमसां निहन्तृ जगतामालोकनं शाश्वतम् ॥
> नित्यं पश्यति बुध्यते च युगपन्नानाविधानि प्रभो !,
> स्थित्युत्पत्तिविनाशवन्ति विमलद्रव्याणि ते केवलम् ॥ १ ॥ "

इत्युक्तं सङ्गच्छते । ग्रन्थकृन्मते न केवलं केवलिप्रत्यय एवैकः किन्तु चाक्षुषप्रत्य-योऽपि चाक्षुषज्ञानत्वचाक्षुषदर्शनत्वधर्मभेदप्रयुक्तभेदशाल्यपि वस्तुगत्यैक एव, एवमुक्त-नीत्याऽवधिबोधोऽप्येक एव, इत्थञ्च केवलज्ञानदर्शनावरणकर्माऽपि चाक्षुषज्ञानदर्शनावरण-कर्माऽपि चावधिज्ञानदर्शनावरणकर्माऽपि च परमार्थत एकम्, कार्यविशेषत उपाधिभेदतो वा नैकमित्यत्रापि स्याद्वादस्यैव साम्राज्यम् । यदुक्तं निश्चयद्वात्रिंशिकायां ग्रन्थकर्तैव—

> " चक्षुर्दर्शनविज्ञानं, परमाण्वौष्ण्यरौक्ष्यवत् ।
> तदावरणमप्येकं न वा कार्यविशेषतः ॥ ८ ॥
> चक्षुर्वद्विषयाख्याति-रवधिज्ञानकेवले ।
> शेषवृत्तिविशेषात्तु, ते मते ज्ञानदर्शने ॥ इति ॥ "

अयम्भावः-आकाशस्य घटपटाद्युपाधिभेदेन घटाकाशपटाकाशादिभेदेऽपि परमार्थ-वृत्त्यैकत्वेनेव केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणयोरप्युपाधिभेदतो भेदेऽपि परमार्थवृत्त्यैकत्वेन तज्जन्यतावच्छेदकमेकमेव केवलिप्रत्ययत्वम्, न तु केवलज्ञानावरणक्षयजन्यतावच्छेदकं केवल-ज्ञानत्वं केवलदर्शनावरणक्षयजन्यतावच्छेदकं केवलदर्शनत्वम्, येन केवलज्ञानकेवलदर्शन-रूपधर्मिभेदेन क्षीणावरणे सर्वज्ञे व्यक्ताव्यक्तत्वे स्याताम् । न च दर्शनावरणीयकर्मक्षयो-पशमजन्यतावच्छेदको दर्शने य एवाऽव्यक्तत्वस्वभावस्स एव तत्क्षये सति तज्जन्यतावच्छेदको व्यक्तत्वस्वभावो भवतीति वाच्यम्, यस्य यस्स्वभावस्तस्य साधकसहस्रेणापि परावर्तयितु-मशक्यत्वात्, न च दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमजन्यतावच्छेदकं दर्शनेऽव्यक्तत्वं तत्क्षयजन्य-तावच्छेदकञ्च तत्र व्यक्तत्वमित्येवं स्वभावद्वयं तत्रेति वाच्यम्, केवलज्ञानात्पृथक्केवलदर्शन-

मभ्युपगन्तव्यम्, तत्र च दर्शनावरणक्षयजन्यतावच्छेदकत्वकल्पकधर्मोऽभ्युपगन्तव्यः, तदपेक्षया धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायेन सिद्धकेवलिप्रत्यये ज्ञानत्वधर्मस्येव दर्शनत्वधर्मस्यैव कल्पना श्रेयस्करी, ताभ्यां धर्माभ्यामेव च ज्ञानदर्शनयोर्भेदः, न तु धर्मिभेदेन, केवलिप्रत्ययश्च व्यक्तस्वरूप एव, तथाऽभ्युपगमे न तत्र कोऽपि दोष इति ॥ ११ ॥

क्रमिकोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च दूषणान्तरमाह—

> अरिहं अण्णाय च केवली एव भासइ सया वि ।
> एगसमयम्मि हंदी वयणविगप्पो ण संभवइ ॥ १२ ॥ ६६ ॥

एवेत्यस्य अरिहमित्यत्र अण्णायमित्यत्र चान्वयात् क्रमिकोपयोगपक्षे ज्ञानकाले 'अरिहं' अरहमेव-दर्शनकाले च 'अण्णायं' अज्ञातमेव, युगपदुपयोगद्वयपक्षे च सामान्यांशे अज्ञातमेव विशेषांशे चारहमेव " केवली भासइ सया वि " केवली भाषते सदाऽपि, तेन को दोष इत्याशङ्कायां तत्र दोषप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह प्रन्थकृत्-'एगसमयम्मि' एकस्मिन् समये सर्वमपि ज्ञातं यदा भगवान् भाषत इत्येव 'वयणविगप्पो ण संभवइ' वचनविकल्पो वचनस्य विकल्पो विशेषो भगवति न सम्भवतीति पूर्यताम् । अथ केवलदर्शने मुख्यवृत्त्या यद्यपि निखिलवस्त्वज्ञातप एव प्रतिभासन्ते तथापि गौणवृत्त्या निखिलवस्तुवृत्तिमानमपि तत्र भव त्येव, एवं केवलज्ञानमपि तद्विपरीत्येन ज्ञेयमिति गौणविषया विषयान्तरग्रहणादुक्तवचनविकल्पोपपत्तिस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि, भ्रान्तत्वस्येऽपि तथाप्रयोगप्रसङ्गस्स्यात्, यदा कदाचित् वृक्षग्राहिकतया ज्ञानदर्शनविषयस्यैव पदार्थस्य तद्गुणत्वानुमेयादिति स्मर्तव्यम् ॥ १२ ॥

उक्तपक्षद्वये अज्ञातदर्शित्वात् अपरिज्ञातृत्वाच्च भगवतस्सर्वज्ञत्वं न सम्भवतीत्युपदर्शनायाह—

> अण्णाय पासंतो, अरिहं च अरहा वियाणंतो ।
> किं जाणइ किं पासइ कह सव्वणू त्ति वा होइ ॥ १३ ॥ ६७ ॥

'अण्णायं पासंतो' अज्ञातं पश्यन् 'अरिहं च अरहा वियाणंतो' अदृष्टं चार्हन् विजानानः 'किं जाणइ किं पासइ' किं जानाति किं वा पश्यति ? न किञ्चिदपीत्यर्थः । अथवा-अत्र काकुपाठात् किम्पदं निषेधार्थतात्पर्यकम् । यथा च त्वं किं जानासि ? अर्थाच किमपीत्यभेव अयमेतद्विषये को जानाति ? न कोऽपीत्यर्थेन ईश्वरे किं मानमिति निरीश्वरवादिप्रभवाक्ये किम्पदतात्पर्यं न किमपीत्यत्रैव वा किं सर्वं जानाति किं सर्वं पश्यति ? अपितु न किमपि, अनन्तपर्यायविशिष्टनिखिलवस्तुविषयकदर्शनज्ञानाभावा यस्य । 'कह सव्वणु त्ति वा होइ' कथं सर्वज्ञ इति वा भवति, सर्वज्ञ इत्यस्य भाक्तप्रयोगप्रयोगत्वाद्वाऽन्यथा सर्ववस्त्वार्थकत्वेन कथं वा तस्य सर्वज्ञता भवेत् ? न कथमपीत्यर्थः ।

'तहेव एयं पि' तथैवैतदपि, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यतरोपयोगप्रवृत्तावपि केवली अपर्यवसितकेवलज्ञानी अपर्यवसितकेवलदर्शनी ज्ञानद्वयभावी चेत्यादिकमपि सार्वदिककेवलज्ञानदर्शनशक्तिसमन्वयादुपपद्यत एवेत्यर्थः। 'भण्णइ' भण्यते—अथोत्तरं दीयते एकत्ववादिना, 'ण पंच णाणी जहेव अरहा सहेयंपि' न पञ्चज्ञानी यथैवार्हन् तथैतदपि। "नट्ठम्मि य छाउमत्थिए नाणे केवलनाणं उप्पज्जइ" आव० नि० गाथा ५३९ इति वचनात्केवलज्ञानोत्पत्तिर्मतिज्ञानादिचतुष्टयस्य क्षायोपशमिकस्य घातिकर्मक्षये सति क्षयोपशमरूपकारणस्याऽभावादभावे सत्येव भवति, अत एवैककालावच्छिन्नमत्यादिज्ञानचतुष्टयाऽसमानाधिकरणं केवलज्ञानमिति गीयते सैद्धान्तिकैः। तत्क्षयोपशमनाशकतायाश्च 'पणगं खलु पडिवाए' इत्यादिवृहत्कल्पभाष्यगाथोक्तप्रकारेण पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात्केवलिनि क्षयोपशमाभावेन क्षायोपशमिकानां मत्यादिज्ञानानामभावात् यथैवार्हन् पञ्चज्ञानी तथैतदपि क्रमवादिना यदुच्यते—भेदेनो ज्ञानवान् दर्शनवांश्चेति तदपि न भवतीत्यर्थः। मत्याद्यावरणक्षयेऽपि एकदेशग्राहिणो मतिज्ञानादेरिव ज्ञानदर्शनावरणक्षयेऽप्येकदेशग्राहिणो ज्ञानस्य दर्शनस्य च केवलिनि भेदेनानुपपत्तेरिति भावः। इयांस्तु विशेषः—यदभेदेनापि केवलज्ञाने केवलदर्शनसंज्ञा सिद्धान्तसम्मता, न तु मतिज्ञानादिसंज्ञेति, तत्र हेतू अन्वर्थोपपत्त्यनुपपत्ती एव द्रष्टव्ये। तथाहि—केवलं सम्पूर्णं दृश्यतेऽनेनेति केवलदर्शनमित्यन्वर्थोपपत्तिसद्घटनात्केवलदर्शनसंज्ञा तत्र युक्ता, मतिज्ञानादिसंज्ञा तु न युक्ता, मननं मतिः मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमसहकृतचक्षुरादीन्द्रियसापेक्षं यज्ज्ञानं तन्मतिज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रियद्वारिका श्रुतानुसारिण्यभिलापप्लाविताऽर्थोपलब्धिः श्रुतज्ञानम्, रूपिद्रव्यमात्रविषयकं यज्ज्ञानं तदवधिज्ञानम्, मनोद्रव्यपर्यायमात्रसाक्षात्कारि यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमित्यन्वर्थोपपत्त्यभावात्तत्र, क्षायोपशमिकभावातीतत्वात् केवलज्ञानस्येति अयञ्च प्रौढिवादः। वस्तुतः क्रमवादे "केवली यदा जानाति तदा पश्यति" इत्यादेरनुपपत्तिरेव, यतस्तत्र दृश् धातोर्दर्शनं आख्यातस्य चाश्रयत्वं वर्त्तमानत्वञ्चार्थः, तथा च पश्यतीत्यस्य वर्तमानकालीनदर्शनाश्रय इत्यर्थः, न च स सङ्घटते, तदानीं दर्शनाभावात्। न च क्रमवादे केवलिनि यत्समयावच्छेदेन ज्ञानोत्पत्तिस्तत्समयावच्छेदेन दर्शनोत्पत्त्यभावेन दर्शनाश्रयत्वाऽभावेऽप्यत्र लब्धेरेवाख्यातार्थत्वेन दर्शनलब्धिसद्भावात्तदपेक्षयोक्तप्रयोगोपपत्तिरिति वाच्यम्, देवदत्तो घटं यदा नैव पश्यति तदानीमपि 'स घटं पश्यति' इति प्रयोगप्रसङ्गात्, घटदर्शनलब्धेस्तदानीमपि विद्यमानत्वात्। ननु भवन्मतेऽपि सर्वादर्शनवेलायामपि चक्षुष्मान् सर्वं पश्यति, न त्वन्ध इत्यादिप्रयोगस्य कथमुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अत्रानन्यगत्या लब्धेर्योग्यताया वाऽऽख्यातार्थत्वाऽभ्युपगमेऽपि न तु सर्वत्राऽप्ययं न्यायोऽनुसरणीयः, सुप्तश्चक्षुष्मान् सर्वं पश्यतीत्यादेरपि प्रसङ्गात्। निद्राकालेऽपि लब्धे-

तेषां जीवस्वाभाव्यादेव क्रमेणैव प्रवृत्तिः, अत एव सम्यक्त्वोत्पत्तिकाले समकालं मतिश्रुते लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य प्रोच्येते, न तूपयोगम्, उक्तञ्च–"इह लद्धिमइसुयाइं समकालाइं न तूवओगो सिं" इति। मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानि न युगपद्भवन्ति, भिन्नकाला वच्छिन्नभिन्नज्ञानत्वस्य प्रमाणत्वात्, घटपटज्ञानवत्, प्रत्यक्षानुमानादिविरोधस्य तु मानेनापि यौगपद्यनिषेधेनार्पितः क्रमभावित्वसिद्धिर्येस्यतः क्रमोपयोगप्रवृत्तोऽपि "चउ नाणी जुगवं नियमा" चतुर्ज्ञानी युगपदेव नियमात्, अपर्यवसितमतिज्ञानादिचतुर्ज्ञानो ज्ञातृत्वमात्री ज्ञाता द्रष्टा च नियमादुच्यते, तल्लब्धिभावात्। उक्तञ्च चतुर्ज्ञानित्वमेक स्यापि जीवस्य पञ्चमाङ्गेऽष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रे–"जे चउनाणी ते आभिणिबोहिय नाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी। न च मत्यादिज्ञानानां लब्धिरूपत्वे सिद्धे सत्येव तेषामपर्यवसितत्वादिकं स्यादिति वाच्यम्, "नाणलद्धीणं भंते! कइविहा पण्णत्ता? गोयमा! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा–आभिणिबोहियनाणलद्धी जाव केवलनाणलद्धी" इति पञ्चमाङ्गाष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रेण तेषां लब्धिरूपत्वस्य आभिणिबोहियनाण लद्धीणं भंते! जीवा किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी नो अन्नाणी! अत्थेगइया दुनाणी चत्तारि नाणाइं भयणाए" इत्यादिसूत्रेणाभिनिबोधिकज्ञानलब्धिकानां केषाञ्चि ज्जीवानां मतिश्रुतज्ञानयोः केषाञ्चिच्च मतिश्रुतावधिज्ञानानां मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानानां वा केषाञ्चिच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानां लब्ध्यपेक्षया यौगपद्यस्य च, मत्यादिज्ञान त्रयस्य च "उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं साइरेगाइं" मनःपर्यायज्ञानस्य च "उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी" इति सिद्धान्तोक्तस्थितिकस्यैतावत्कालपर्यन्तमपर्यवसितत्वस्य च प्रति पादनात्। न चैतावत्कालमुपयोगापेक्षयोक्तस्थितिकत्वं तेषां सम्भवति उत्कृष्टतोऽपि छाद्मस्थिकज्ञानोपयोगस्यान्तर्मुहूर्तिकत्वात्। एतेनाक्रमोपयोगात्मकतया युगपद्भवितव्यता कानां मत्यादिचतुर्ज्ञानानां बोधस्वभावता चेत् तदा स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानोपयोगेनापि सदा नियमेन भवितव्यमेव, अन्यथा अवरणापगमे बोधस्वभावत्वाऽनुपपत्तिरित्यापादिता रेकाऽपि निरस्ता, उक्तरीत्योक्तनियमे मानाभावात्, कथम् यथा "इहभविए भंते! नाणे परभविए नाणे तदुभयभविए नाणे? गोयमा! इहभविए वि नाणे परभविए वि नाणे तदु भयभविए वि नाणे" इति भगवतीप्रथमशतकप्रथमोद्देशकसूत्रोक्तमेवमेतदुभयस्य मति श्रुतज्ञानद्वयस्य मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयस्य चेहभवे परभवे तदुभयभवे परतरभवे चानुगमनं तत्र स्थले एतद्भवे इहेन्द्रियादिसद्भावेऽप्यन्तरागतौ तदभावेन तद्व्यापारभावेन स्वस्वयोग्या र्थविषयकज्ञानोपयोगस्यैवाभावात् तद्यथा मतिश्रुतज्ञानायुगमनाभावात्। तस्मात्स्व स्व योग्यार्थविषयकज्ञानानुकूलक्षयोपशमलक्षणलब्ध्यपेक्षयैव मतिज्ञानादिचतुष्टयस्यैककालावच्छिन्न त्वमित्यज्ञानमात्रनानाभिरूपसम्भव यौगपद्यमवसेयम्। उक्तार्थमेव भगवतोमास्वातिना— "एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि आचतुर्भ्यः"। १। ३१। इति सूत्रं प्रणीतम्।"

न हि पूर्वकालावच्छेदेनागृहीतशब्दसङ्केतादेरव्युत्पन्नस्य मतिज्ञानं जायत इति श्रुतज्ञानपरिकर्मितमतेर्मतिज्ञानोपयुक्तस्य तत्कालावच्छेदेन श्रुतपरिपाटीमन्तरेणापि पट्वभ्यासाज्जायमानस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यविषयकमानसज्ञानस्यैव मतिज्ञानत्वात् । यदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—

"आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवलद्धेसु तस्स मइनाणं।

पसरइ तब्भावणया, विणावि सुत्ताणुसारेण ॥ ४०५ ॥" इति ॥

ननु श्रुतपरिकर्मितमतेश्श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, अत एवोक्तगाथाया 'तब्भावणया विणा वि' इत्युक्तेस्तन्मतिज्ञानम्, तद्भावनया विनापि-श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्वासनामात्रत एव यद् द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रवर्त्तते तत्सूत्रादेशेन मतिज्ञानमिति भावः । तथा च मतिश्रुतयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयकतया तुल्यार्थत्वादेव मतिरपि श्रुतवदसर्वार्थग्रहणात्मकतया भावितैवेति भावनया प्रस्तुतगाथायां श्रुतज्ञानान्मतिज्ञानं पृथङ् नोक्तमिति । अत्रेदं चिन्त्यम्—ननु यदि धर्मास्तिकायादिद्रव्याण्यनन्तपर्यायावलीढान्येव वस्तुत्वं बिभ्रति तदा मतिश्रुतज्ञानाभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतयैव तद्ग्रहणेन भवितव्यमिति चेत्, मैवम्, तदितरसकलकारणसद्भावे सति मतिश्रुतज्ञानग्रहणयोग्यत्वसत्त्वे मतिश्रुतज्ञानसत्त्वम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्ग्रहणयोग्यत्वस्य कारणत्वसिद्धेर्मतिश्रुतज्ञानयोस्सावरणत्वेनानन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणयोग्यत्वस्यैवाभावात्ताभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणभवनाऽभावात्। तथाहि—मतिज्ञानं तत्तदिन्द्रियानिन्द्रिययोग्यार्थग्राहकम्, तत्र च योग्यता मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेति सा यस्य यस्य विषयस्य तस्य तस्य मतिज्ञानेन ग्रहणम्, नान्यस्य, तेन धर्मिग्रहणे न सर्वे तद्गताः पर्याया गृह्यन्ते, किन्तु कतिपया योग्या एव, न हि चक्षुषा योग्यदेशस्थघटधर्मिग्रहणे तद्गता अनन्तास्स्वपरपर्याया गृह्यन्ते, किन्तु रूपसङ्ख्यासंयोगादिनियतसङ्ख्यकाश्चक्षुर्विषयभावमापन्ना एवेति । नन्वेवं तर्हि धर्माधर्माकाशास्तिकायादीना द्रव्याणामतीन्द्रियत्वान्नैव मतिज्ञानेन ग्रहणं स्यादित्यसर्वतत्पर्यायग्रहणे का वार्त्तेति मतेरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयनिबन्ध इत्ययुक्तमुक्तमिति चेत्, न, व्यवहारकालात्पूर्वं श्रुतेन संस्काराधानरूप उपकारः कृतो यस्य पुंसस्तस्य मतिज्ञानोपयोगकाले पूर्वप्रवृत्तसंस्काराधायकश्रुतानपेक्षस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायाद्यतीन्द्रियविषयकस्यापि मानसज्ञानरूपमतिज्ञानस्य प्रवृत्तेः, व्युत्पन्नपुंसः कतिपयपर्यायविशिष्टपरमाण्वाद्यतीन्द्रियविषयकमानसज्ञानस्यैव, अनन्तपर्यायग्रहणे तु मनो नैव व्याप्रियते, तथाशक्त्यभावात्, केवलज्ञानगम्यत्वाचेषाम्, यदभ्यधायि भाष्यकारेण—

"आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।

धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेएण ॥ ४०३ ॥" इति ।

त्वाभ्युपगमात् । न च सिद्धान्ते विना निक्षेपविशेषमप्रसिद्धार्थे षट्षष्टिसागरोपमस्थितिकत्वादिकमपि मतिज्ञानादेर्नाभ्युपेयमेवेति दुर्वचम्, एकस्या एव क्षयोपशमरूपलब्धेस्तावत्कालमनवस्थानात्, द्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया विविधावरणक्षयोपशमसन्तानस्यैव प्रवाहतोऽभ्युपगमात् । किन्तु एकजीवावच्छेदेन अज्ञानातिरिक्तविरोधिसामग्र्यसमवहितषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वव्याप्यत्वसजातीयोत्पत्तिकत्वे सति तदधिककालाप्राप्तोत्पत्तिकत्वसजातीयत्वरूपं तत्सादिसापर्यवसितमेव वक्तव्यम्, अत्र व्यक्तज्ञानोत्पत्त्यव्यवहितपूर्वक्षणातिरिक्तक्षणे नियमतोऽज्ञानात्मकविरोधिसामग्रीसमवधानस्य भावाद्विरोधिसामग्र्यसमवहितषट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वमप्रसिद्धमतोऽज्ञानातिरिक्तेति विशेषणम् । एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ १५ ॥

क्रमेण युगपद्वा परस्परनिरपेक्षस्वविषयपर्यवसितज्ञानदर्शनोपयोगौ केवलिन्यसत्यौ ज्ञानात्मकत्वात् मत्यादिज्ञानचतुष्टयवत् इति दृष्टान्तभावनापूर्वमाह—

पण्णवणिज्जा भावा, समत्तसुअनाणदंसणाविसओ ।
ओहि मणपज्जवाण य(उ), अण्णोण्णविलक्खणाविसओ ॥१६॥७०॥

अभिलापयोग्यपर्यायैरेव स्थूलैः कालान्तरस्थायिभिर्व्यञ्जनपर्यायापराभिधानैर्घटनाभिधानस्य सकलवस्तुनोऽभिलाप्यत्वप्रतीतेरभिलाप्यस्वभावत्वमनभिलाप्ययोग्यपर्यायैरेव सूक्ष्मैः प्रतिक्षणभाविभिरर्थपर्यायाभ्यरनामधेयैस्तस्यैवानभिलाप्यत्वप्रतीतेरनभिलाप्यस्वभावत्वमिति स्याद्वादरत्नाकरप्रथमपरिच्छेदादमसूत्रटीकोक्तेः, इह भवति भावा अभिलापयोग्यव्यञ्जनपर्यायानभिलाप्ययोग्यार्थपर्यायापेक्षया प्रज्ञापनीयाप्रज्ञापनीयभेदेन *द्विविधाः*, तत्राप्रज्ञापनीयाः प्रतिक्षणभाविक्रमार्थपर्यायत्वेनावचनगोचरताऽऽपन्नाः केवलिनय- वज्ज्ञानगोचरा अपि न श्रुतज्ञानगोचराः, तदनन्तभागवर्तिनां प्रज्ञापनीयानामेव तत्रोपस्थापनात्—'पण्णवणिज्जा भावा' इति—प्रज्ञापनीयाः प्रकर्षेण संक्षयविपर्ययादि- राहित्येन ज्ञापयितुं योग्याः, प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते इति प्रज्ञापनीया वा कालान्तरभावि- स्थूलव्यञ्जनपर्यायपर्यवसायिवचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इति यावत्, भावा रूप्यरूपि- तिर्यग्लोकान्तर्निविष्ट-भू-भवन-विमान ग्रह-नक्षत्र-तारका-चन्द्रादयः,ते किंस्वरूपाः ? इत्याह—'सम्मत्तसुअनाणदंसणाविसओ' समस्तश्रुतज्ञानदर्शनाविषयाः, समस्तश्रुतज्ञानस्य द्वादशाङ्गवाक्यात्मकस्य दर्शनाया दर्शनप्रयोजिकायास्तत्क्षयोपशमजाताया पुर्वोविषय आख्यातम् । नन्वस्यां गाथायां श्रुतज्ञानवन्मतिज्ञानमपि कथं न तथा भावितमिति चेत्, अत्र समाधीयते, "मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" ॥ १ ॥ २७ ॥ इति तत्त्वार्थसूत्रेण मतिश्रुतज्ञानयोरसर्वपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्येषु विषयनियमः प्रदर्शित इति तयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयकत्वेन तुल्यार्थत्वमभिप्रायेणा मतिज्ञानमपि श्रुतज्ञानविषयविषयकमेव,

न हि पूर्वकालावच्छेदेनागृहीतशब्दसङ्केतादेरव्युत्पन्नस्य मतिज्ञानं जायत इति श्रुतज्ञान-परिकर्मितमतेर्मतिज्ञानोपयुक्तस्य तत्कालावच्छेदेन श्रुतपरिपाटीमन्तरेणापि पटुत्वभ्यासाज्जाय-मानस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायादिसर्वद्रव्यविषयकमानसज्ञानस्यैव मतिज्ञानत्वात्। यदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—

"आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवलद्धेसु तस्स मइनाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणावि सुत्ताणुसारेण ॥ ४०५ ॥" इति॥

ननु श्रुतपरिकर्मितमतेश्श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञानं तच्छ्रुतमेव, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, अत एवोक्तगाथायां 'तब्भावणया विणा वि' इत्युक्तेस्तन्मतिज्ञानम्, तद्भावनया विनापि—श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्भावनामात्रत एव यत् द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रवर्त्तते तत्सूत्रा-देशेन मतिज्ञानमिति भावः। तथा च मतिश्रुतयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयकतया तुल्यार्थ-त्वादेव मतिरपि श्रुतवदसर्वार्थग्रहणात्मकतया भावितैवेति भावनया प्रस्तुतगाथायां श्रुत-ज्ञानान्मतिज्ञानं पृथङ् नोक्तमिति। अत्रेदं चिन्त्यम्—ननु यदि धर्मास्तिकायादिद्रव्याण्य-नन्तपर्यायावलीढान्येव वस्तुत्वं बिभ्रति तदा मतिश्रुतज्ञानाभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतयैव तद्ग्र-हणेन भवितव्यमिति चेत्, मैवम्, तदितरसकलकारणसद्भावे सति मतिश्रुतज्ञानग्रहणयोग्य-त्वसत्त्वे मतिश्रुतज्ञानसत्त्वम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्ग्रहणयोग्यत्वस्य कारणत्वसिद्धेर्मतिश्रुतज्ञानयोस्सावरणत्वेनानन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणयोग्यत्वस्यैवाभावा-त्ताभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणभवनाऽभावात्। तथाहि—मतिज्ञानं तत्तदिन्द्रियानि-न्द्रिययोग्यार्थग्राहकम्, तत्र च योग्यता मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमलक्षणेति सा यस्य यस्य विषयस्य तस्य तस्य मतिज्ञानेन ग्रहणम्, नान्यस्य, तेन धर्मिग्रहणे न सर्वे तद्गताः पर्याया गृह्यन्ते, किन्तु कतिपया योग्या एव, न हि चक्षुषा योग्यदेशस्थघटधर्मिग्रहणे तद्गता अनन्तास्स्वपरपर्याया गृह्यन्ते, किन्तु रूपसङ्ख्यासंयोगादिनियतसङ्ख्यकाश्चक्षुर्विषय-भावमापन्ना एवेति। नन्वेवं तर्हि धर्माधर्माकाशास्तिकायादीनां द्रव्याणामतीन्द्रिय-त्वान्नैव मतिज्ञानेन ग्रहणं स्यादित्यसर्वतत्पर्यायग्रहणे का वार्त्तेति मतेरसर्वपर्यायसर्व-द्रव्यविषयनिबन्ध इत्ययुक्तमुक्तमिति चेत्, न, व्यवहारकालात्पूर्वं श्रुतेन संस्कारा-धानरूप उपकारः कृतो यस्य पुंसस्तस्य मतिज्ञानोपयोगकाले पूर्वप्रवृत्तसंस्कारा-धायकश्रुतानपेक्षस्याऽसर्वपर्यायधर्मास्तिकायाद्यतीन्द्रियविषयकस्यापि मानसज्ञानरूपमति-ज्ञानस्य प्रवृत्तेः, व्युत्पन्नपुंसः कतिपयपर्यायविशिष्टपरमाण्वाद्यतीन्द्रियविषयकमानसज्ञान-स्यैव, अनन्तपर्यायग्रहणे तु मनो नैव व्याप्रियते, तथाशक्त्यभावात्, केवलज्ञानगम्यत्वा-चेषाम्, यदभ्यधायि भाष्यकारेण—

"आएसो त्ति पगारो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं।
धम्मत्थिआइयाइं, जाणइ न उ सव्वभेएण ॥ ४०३ ॥" इति।

श्रुतज्ञानमपि श्रुतानुसारेण जायते, तत्र श्रुतं सङ्केतविषयपरोपदेशः श्रुतग्रन्थश्चेति शब्दसमयद्वारा तद्वाच्यार्थगोचरेण तेन श्रुतज्ञानेन नैकैकद्रव्यगताः सर्वे स्वस्वाऽऽधाराधर्मरूपेण पर्याया अभिलाप्यानभिलाप्यात्मका विषयीक्रियन्त इति श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याणि जानन्नपि न तद्गतान् तान् पर्यायान् सर्वान् जानीते, तेषां सर्वेषां श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमलब्धयोग्यत्वस्याऽभावादेवेति । अवधिमनःपर्याययोर्विभिन्नविषयकत्वमभिधातुमुपचारादिमाह–“ ओहिमणपज्जवाण उ अन्नोन्नविलक्खणा विसओ ” अवधिमनःपर्याययोः पुनरन्योन्यविलक्षणा विषया, गाथा इत्यस्याऽत्राऽप्यनुवर्तनात् अन्योन्यविलक्षणा गाथा विषय इत्यर्थः। अवधिज्ञानस्य रूपिद्रव्यमात्रं विषयः ‘ रूपिष्ववधेः । १ । २८ । इति तत्त्वार्थसूत्रस्य नियमपरतया तेनावधिज्ञाने रूपिद्रव्यत्वसमनियतविषयताकत्वस्यैव प्रतिपादनात् । यतः “ परमोहिणाणविओ, केवलमन्तोमुहुत्तमित्तेण ६८९ । इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेर्बहुलस्यानन्तरमन्तर्मुहूर्तकालमात्रेण नियमेन केवलज्ञानमुत्पद्यते इत्येवं लक्षणेन सुविहितेनापि ‘ रूवगयं लहइ सव्वं ” इति भाष्योक्तेस्सर्वलोकान्तर्गतपरमाण्वादिभेदभिन्ननिखिलपुद्गलद्रव्यविषयकेण केवलज्ञानभास्करोदये प्रथमप्रभास्फोटकल्पेन परमात्मविशुद्धिसमुत्पन्नेन परमावधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते, तान्यपि न सर्वपर्यायविशिष्टानि, किन्तु ‘ पेच्छइ चउग्गुणाई दव्वओ सुविमेयाई ” ८ ७ इति भाष्यवचनात् जघन्यत एकैकद्रव्यापेक्षया चतुःपर्यायविशिष्टानि “ पडरूवं संखाईपज्जवमाणं च सत्तमं ” ८०८ इति भाष्योक्तेरुत्कृष्टतस्त्वेकैकद्रव्यमाश्रित्यासङ्ख्येयपर्यायविशिष्टानि अवधिज्ञानी जानीते । ननु यद्यवधिज्ञानी उत्कृष्टतोऽपि कृत्स्नलोकवर्तिनिखिलानि रूपीण्येव द्रव्याणि जानीते तर्हि लोकप्रमाणान्यलोकेऽसङ्ख्येयखण्डानि परमावधिः पश्यति, उक्तञ्च–परमोहि असंखेज्जा लोगमित्ता ” इत्यादि। ततः क्षेत्रस्यारूपित्वात्कथं सङ्गच्छते इति चेत्, उच्यते, यदि तत्र तानि रूपिपुद्गलद्रव्याणि द्रष्टव्यानि स्युस्तदा पश्येदेवावधिज्ञानी न च तानि तत्र सन्तीत्यतस्सामर्थ्यमात्रवर्णनमेतदिति नोक्तविरोधः । उक्तञ्च भाष्यकृता—

> “ सामत्थमेत्तमेयं, जइ दट्ठव्वं हवेज्ज पेच्छेज्जा ।
> न य तं तत्थत्थि जओ, सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥६०५॥” इति

मनःपर्यायज्ञानस्य च ‘ इयरं मणोगयं मणुलोए जो मणिज्जमाणं ’ ८१२ इत्युक्तेर्मनुष्यक्षेत्रे संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवेन काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि नाम चिन्त्यविचारानुगुणानि अनन्तपरमाणुनिष्पन्नानि मनोद्रव्याणि विषयः । स च विषयोऽवधिज्ञानविषयसमस्त्रुपचये न, किन्तु तदनन्ततमभागरूपः “ तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ” १–२९ । इति तत्त्वार्थसूत्रेण यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्ततमभागे मनःपर्यायज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवतीति प्रतिपादनात् । ननु यदि मनःपर्यायज्ञानी अव

धिज्ञानविषयस्यानन्ततमभागरूपाणि अवधिज्ञानिनस्सकाशाद्बहुतरपर्यायाणि मनोद्रव्याण्येव जानीते तर्हि किं स संज्ञिजीवैर्मनसा चिन्तितं बाह्यवस्तु नैव जानातीति चेत्, क आह ? न जानातीति, तर्हि किं वेत्ति ? अवगच्छत्येव यद्यवधिज्ञानं स्यात्तदा तेन संज्ञिजीवैश्चिन्तितमपि, नो चेत्तदेङ्गिताकारं दृष्ट्वा ततोऽयमाचार्यभगवान् ईदृशाभिप्रायवान् ईदृशेङ्गिताकाराऽन्यथानुपपत्तेरित्येवमनुमानेनान्तेवासी विनयमूर्त्तिः पूज्याचार्याभिप्राय जानाति ।

" जाणइ य पिहु जणो वि हु, फुडमागारेहिं माणसं भावं ।
एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्थे ॥ ३६ ॥ " इति

बृहत्कल्पभाष्यवचनाद्, यद्वा मलीमसं प्रशान्तं वा मुखाकार चेष्टाविशेषवत्त्वं वा दृष्ट्वा ततोऽयं पुरुषो दुर्मनाः सुमना वा दृश्यमानेदृशमुखाकारस्येदृशचेष्टावत्त्वस्य वाऽन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेनान्यप्राकृतपुरुषोऽन्यपुरुषस्य स्फुटं मानसं भावं वेत्ति यथा तथा मनोद्रव्यपरिणामं स्तम्भाद्यविनाभाविनं दृष्ट्वा ततो मनोद्रव्याणामीदृशपरिणामान्यथानुपपत्तेरनेन संज्ञिजीवेनेदं स्तम्भादि वस्तु मूर्त्तमात्माद्यमूर्त्तं वा चिन्तितमस्तीत्यनुमानेन मूर्त्तामूर्त्ते अपि द्रव्ये मनःपर्यायज्ञानी वेत्ति, न तु साक्षादध्यक्षतः, यतश्चिन्तको मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तमात्मादिकं ज्ञानादिकं च वस्तु चिन्तयेत्, न च मनःपर्यायज्ञानी मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तं धर्मास्तिकायादिद्रव्यं चिन्तितज्ञानादिगुणादिकं च वस्तुमात्रं साक्षाद् जानाति, ततो ज्ञायते मनोद्रव्याणा तथाऽवस्थाकारपरिणामान्यथानुपपत्तिलिङ्गकानुमानादेव चिन्तनीय वस्त्ववगच्छतीति, उक्तश्च विशेषावश्यकभाष्ये—" तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं " इति । भावमनःपर्यायग्राहकत्वे सति साक्षात्तद्व्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायाऽग्राहकं यज्ज्ञानं तन्मनःपर्यायज्ञानमिति पर्यवसितवल्लक्षणम्, एतत्सर्वविवेचनमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरणटीकातोऽवसेयमिति । तथा च सिद्धमेतन्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानि तत्तत्क्षयोपशमकारणभेदप्रयुक्तपरस्परविलक्षणविषयकत्वेनासर्वार्थानीति ॥ १६ ॥

अत एव तेषां चतुर्णां विभागो युज्यते, न तु केवलिनि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्विभाग उपपद्यते, सर्वार्थत्वात्तयोरिति सहेतुकदार्ष्टान्तिकोपपादनायाह—

तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ, ण उ नाणदंसण जिणाणं ।
सयलमणावरणमणंत-मक्खयं केवलं जम्हा ॥ १७ । ७१ ॥

' तम्हा चउविभागो जुजइ ' तस्मादुक्तहेतोः चतुर्विभागः चतुर्णां मतिज्ञानादीनां विभागो युज्यते तत्तत्क्षयोपशमरूपकारणभेदात्, ' न उ नाणदसण जिणाणं ' न तु ज्ञानदर्शनयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्जिनाना क्षीणरागद्वेषादीनां केवलिनाम्, ' नाणदंसणत्ति ' अविभक्तिको निर्देशः सूत्रत्वात् । तत्र हेतूपदर्शनायोत्तरार्द्धमाह—सयलेत्यादि—सकलमना-

वरणमनन्तमक्षयं केवलं यस्मादिति। यस्मात्केवलं केवलज्ञानं सकलविषयकत्वात्सकलं परिपूर्णम्, यदार्थस्वभावकविषयताकमिति यावत्। तत्कुत इत्याशङ्कानिरासार्थं तत्र हेतुमाह–अनावरणम्, निरवशेषावरणमलरहितम्, अनावरणत्वाद्धेतोः सकलम्, न च प्रदीपोऽनावरणोऽपि न सकलार्थान् प्रकाशयतीति व्यभिचारस्तत्रेत्यर्थं विशेषणान्तरमाह—अनन्तं-यदन्तरहितमपर्यवसितमथार्कं तत् सकलार्थविषयकं, न च प्रदीपोऽन्तरहित इति न तत्र व्यभिचारः। यद्वाऽनन्तार्थग्रहणप्रवणम्, प्रदीपस्तु परिमितार्थग्रहणप्रवण इति न तेन व्यभिचारः, तदपि कुतः ?, यतोऽक्षयम्, यथा भास्करस्य प्रभाप्रकाशस्वभावोऽपि सततमतघनाघनपटलाद्यन्तरेणावृतः प्रतिकूलवायवादिना सर्वथा तद्विगमे सति सर्वकलाशेरभिव्यक्तोऽपि पुनरपि मलवायुनाऽऽनीयमानमेघपङ्क्त्याद्यन्तरेणाच्छाद्यते तद्वदात्मकेवलप्रकाशोऽपि निबिडतमज्ञानावरणकर्मावरणेनावृतः शुक्लध्यानादिना निरवशेषतस्तद्विध्वंसे सति सर्वथाऽभिव्यक्तो न पुनराभियते, तत्प्रतिरोधककर्मबन्धाभावात्, निरोधिशून्यत्वात् भावेन नापि क्षयाभावः, यतश्च तस्यानन्तत्वमिति भावः, तस्मादेकोपयोगवादमते एक एव केवलोपयोग इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तदेवं क्रमः व्यवस्था, इत्यादयस्तु नृसिंहसंवादि विशेषास्त्वन्तररूपत्वमित्येके, नाप स्निग्धोष्णादिवद्व्याप्त्यापृथिव्यादिविरूपत्वमित्यपरे, मद्गीयमाध्यमतिमैतस्यापाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायास्तु केवलस्यमावरणक्षयात्, ज्ञानस्य जातिविशेषः, दर्शनस्य च विषयताविशेषो दोषक्षयजन्यतावच्छेदक इत्याहुः ॥ १७ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्यमभ्युपगच्छन् ग्रन्थकारस्तत्पक्षे आगमविरोधं परिहरन्नाह—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु।
अत्थगईअ उ तेसिं, वियंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

'परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा' परवक्तव्यपक्षाऽविशिष्टाः, परस्य योग्यानि वक्तव्यानि तान्येव वक्तव्यानि परैर्वैशेषिकादिभिर्वक्तव्यानि परवक्तव्यानि, तेषां पक्षा अभ्युपगमाः "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः" "नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धिः" इत्यादिरूपास्ते 'अविसिट्ठा' अविशिष्टा अभिन्ना एकार्थप्रतिपादका इति यावत् 'तेसु तेसु सुत्तेसु' भगवन्महावीरमोक्षनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु "जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ" इत्यादिषु अभ्युपगमाः प्रतिभासन्ते भवन्तोऽपि तर्हि तेषां सूत्राणां किं तथैव व्याख्या कर्तव्या किं वाऽन्यथेत्याशङ्कानिरासार्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ उ' तु-शब्दस्यावधारणार्थत्वादर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ' तेषां व्यञ्जनं ज्ञः करोति, तेषां सूत्राणां व्यञ्जनं द्वादशाङ्गपरमप्रवचनाऽविरोधेनार्थव्यक्तीकरणम्, व्याख्यानमिति यावत्, जानातीति ज्ञः स एव ज्ञकः, अर्हदागमयथार्थज्ञाता करोति "जं समयं जाणइ नो तं समयं पासइ" इत्येतत्सूत्रं युगपदुपयोगद्वयाभावबोधकं केवलिसंबन्धिविषयकैकोपयोगाऽपेक्षयैव चरितार्थम्,

न तु केवलकेवल्यपेक्षया, तस्याऽसर्वज्ञताप्राप्तेः । 'सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसण-ट्ठयाए दुविहे अहं' इति सूत्रमपि ज्ञानत्वदर्शनत्वाभ्यां ज्ञानदर्शनभेदविवक्षयैवोक्तमिति सूरेरभिप्रायः ॥ १८ ॥

यद्वा ननु यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमित्येवं केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्योररीकारपरे भवन्मतेऽपि—केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं इत्यादिसूत्रे 'जं समयं' इत्यादौ यत्समकमि-त्याद्यर्थो न सर्वस्वरससिद्धः, तादृशप्रयोगे तथाविवरणाभावात्, तथा पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके दशमोदेशके "सोमिला दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं" इत्यनेनो-त्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता स्वयमेव स्वात्मनो ज्ञानदर्शनरूपभिन्नपर्यायापेक्षया द्वित्वविशि-ष्टत्वोक्त्या केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्स्पष्टाक्षरैर्भेदप्रतिपादनादुक्तागमविरोधोऽपि, यद्धर्मविशिष्ट-विषयावच्छेदेन भेदनयार्पणं तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव द्वित्वादेस्साकाङ्क्षत्वात्, अत्र यद्धर्मपदेन ज्ञानत्वदर्शनत्वयोर्ग्रहण, तद्विशिष्टं ज्ञानं दर्शनञ्च, तद्विषयो विशेषः सामान्यञ्च, तदवच्छेदेना-त्मनो भेदनयस्य भेदग्राहिनयस्यार्पणं विवक्षणं, विशेषात्मना सामान्यात्मना च आत्मनो भेदव्यवस्थापनम्, तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैव केवलज्ञानत्वविशिष्टापेक्षया केवलदर्शनत्वविशिष्टा-पेक्षयैव च द्वित्वादेः साकाङ्क्षत्वात्, आत्मनि द्वित्वादेरन्वये "नाणदसणट्ठयाए दुविहे अहं" इति वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वादित्यर्थः । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् इत्याशङ्क्य युक्तिसिद्ध-स्सूत्रार्थो ग्राह्यः, तेषां स्वसमयपरसमयादिविषयभेदेन विचित्रत्वादित्यभिप्रायवानाह सूरिः—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं, विअंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥ ७२ ॥

श्रीयशोविजयोपाध्यायैरियं गाथैव विवृता ज्ञानबिन्दौ, "परवत्तव्वयपक्खा" परवक्त-व्यकपक्षाः परेषां वैशेषिकादीनां यानि वक्तव्यकानि तेषां पक्षाः "अविसुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु" अविशुद्धास्तेषु तेष्वर्थेषु सूत्रे तत्तन्नयपरिकर्मणादिहेतोः निबद्धाः, नन्वेवं तर्हि ते किं तथैव स्याद्वादतत्त्वज्ञेन ग्राह्या उतान्यथेत्याशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ उ' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् अर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव 'तेसिं विअजणं' तेषामर्थानां व्यञ्जनं व्यक्तिं सर्वप्रवादमूलद्वादशाङ्गाऽविरोधेन 'जाणओ कुणइ' ज्ञको ज्ञाता करोति । तथा च 'ज समयं पासइ' इत्यादेर्यथाश्रुतार्थे केवली श्रुतावधिमनःपर्यायकेवल्यन्यतरो ग्राह्यः परमावधिकाधोऽवधिकछद्मस्थातिरिक्तविषये स्नातकादिविषये वा तादृशसूत्रप्रवृत्तौ तत्र परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिबद्धत्वं वाच्यम्, एवमन्यत्रापीति दिक् ॥ १८ ॥

अथ मनःपर्यायज्ञान पटुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यमिति तद्विषयस्य विशेषैकरूपत्वादेव तज्ज्ञानत्वेनैव निर्दिष्टं सूत्रे, अक्रमज्ञानोपयोगदर्शनोपयोग-

इत्यारमकैककेवलोपयोगस्तु तद्विषयस्य सामान्यविशेषभेदेन द्विविधत्वात्तदुभयांशे सर्वथाऽऽवरणकर्मक्षयसद्भावात् तद्ग्राहिज्ञानधर्मिण एकत्वेऽपि तदुभयग्राहको मुख्यत्वेन केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन च भिन्नप्रकारेण 'केवलनाणे केवलदंसणे' इत्यादिसूत्रे निर्दिष्ट इत्युपपादनायाह—

जेण मणोविसयगया-ण दसण मत्थि दव्वजायाण ।
तो मणपज्जवणाणं, णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥ १९ ॥ ७१ ॥

'जेण मणोविसयगयाण' येनेति हेत्वर्थे तृतीयाविधानात्, यस्मात्तयोर्मनोविषयगतानां मनःपर्यायज्ञानविषयतां प्राप्तानां संज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानां 'दव्वजायाण' द्रव्यजातानां बाह्यपदार्थचिन्तनानुगुणमनोद्रव्यविशेषाणां बाह्यचिन्त्यमानार्थविषयकानुमितिजनकक्षायोपशमिकविशेषरूपस्यैव सद्भावात् 'दसणं णत्थि' इत्यत्रेऽन्वेन तद्दर्शनमिति विग्रहसिद्धं दर्शनं सामान्यविषयकं नास्ति "तो मणपज्जवनाणं णियमा णाण तु णिद्दिट्ठं" अत्र तुरवधारणार्थे, ततो मनःपर्यायज्ञानं नियमाज्ज्ञानमेव निर्दिष्टम्। यद्वा दृश्यते यत्तद्दर्शनमिति विग्रहेण दर्शनपदप्राप्यं सामान्यं नास्ति 'तो' ततः ग्राह्यस्य सामान्यस्याभावे सति ग्राहकतया तद्ग्राहको मुख्यदर्शनाभावात् 'मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् मनःपर्यायज्ञानं विशेषाकारत्वान्नियमाज्ज्ञानमेव निर्दिष्टम्, आगम इति शेषः। केवलं तु सामान्यविशेषोभयविषयकैकोपयोगरूपत्वात्केवलज्ञानकेवलदर्शनोभयात्मकमेकमेव "केवलनाणे केवलदंसणे" इत्यादिवचस्तु प्रमपि केवलज्ञानत्वकेवलदर्शनत्वधर्मभेदेन धर्मिभेदप्रतिपादनपरमेव, न तु वस्तुभूतस्य धर्मिभेदप्रतिपादनपरमित्यागमे तदेकमेव निर्दिष्टमिति भावः ॥ १९ ॥

सूत्रे उभयरूपत्वेन परिपठितत्वादप्युभयरूपं केवलम्, न तु क्रमिकमात्मकं क्रमेणो त्पादादेककालावच्छिन्नभिन्नज्ञानमग्रीतो भिन्नभिन्नविषयकत्वेन युगपदुत्पादादेरनभिधानाच्च नाह सूरिः—

चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण समयम्मि दसणवियप्पा ।
परिपढिया केवलणाणदसणा तेण ते अण्णा (तेण विय अण्णा) ॥२०॥७२॥

'चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण' चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां 'समयम्मि' समये अर्हदागमे—"कइविहे णं भंते ! दंसणे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउविहे पं तं जहा—चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे" इत्यनेन 'दंसणवियप्पा' दर्शनस्य विकल्पा भेदाः 'परिपढिया' परिपठिताः—भणिताः, 'तेण' तस्माद्धेतोः "केवलनाणदंसणा ते अण्णा" केवलज्ञानदर्शने ते अन्ये, भिन्ने अत्र 'तेण विय अण्णा' इत्यपि पाठे ज्ञानभिन्नौ,

चक्षुरादिजन्यज्ञानवदेव केवलं ज्ञानमध्ये पाठात् ज्ञानमपि, दर्शनमध्ये पाठाच्च दर्शनमपीत्येकमेव तत् ज्ञानपदेन दर्शनपदेन च व्यवहार्यमिति परिभाषामात्रमेतदिति ग्रन्थकृतस्तात्पर्यम् ॥ २० ॥

मतिज्ञानादेः क्रम इव केवलस्याक्रमेऽपि तस्मिन् केवलोपयोगेऽखिलसामान्यविषयकत्वं नाखिलविशेषविषयकत्वमृते, तदपि तद्विना न, अल्पज्ञत्वप्राप्तेरित्यतः सामान्यविशेषाजहद्वृत्त्यैकोपयोगरूपतया ज्ञानत्वं दर्शनत्वञ्चेत्येकदेशिमतमुपन्यस्यति—

दंसणमुग्गहमेत्तं घडोत्ति निव्वण्णणा हवइ नाणं ।
जह इत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तियं चेव ॥ २१ ॥ ७५ ॥

मतिरूपे बोधे 'दंसणमुग्गहमेत्तं' दर्शनमवग्रहमात्रं इद तदित्येवं निर्देशानर्हम् । 'घडोत्ति निवण्णणा हवइ नाणं' घट इति-पुरोवर्त्तिपदार्थे अयं घट इति निर्वर्णना निर्वर्णयितुं निश्चयेन व्यपदेष्टुं योग्या निर्वर्णना, तदाकाराभिलाप इत्यर्थः । 'हवइ नाणं' भवति ज्ञानं मतिज्ञानम् । ननु निश्चयात्मिका वर्णना घटोऽयमित्याकाराभिलापरूपा द्रव्यश्रुतम्, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, कारणे कार्योपचारात्, तथा च घटाकाराभिलापजनकं यज्ज्ञानं तन्मतिज्ञानमिति भावः । उक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिके योजनामाह-" जह इत्थ केवलाण वि " यथा तथेत्यनयोर्नित्यसम्बन्धात्तथेत्यध्याहाराद् यथाऽत्र मतिरूपे बोधे तथा केवलयोरपि, यथा च मतिज्ञानात्केवलस्य वैलक्षण्यं तथा चाह-'विसेसणं एत्तियं चेव' एतावन्मात्रेण विशेषः, एकमेव केवलं सामान्यांशे दर्शनं विशेषांशे च ज्ञानमित्यर्थः ॥ २१ ॥

एकदेश्येव क्रमिकभेदपक्ष दूषयति--

दंसणपुव्वं नाणं नाणनिमित्तं तु दंसणं नत्थि ।
तेण सुविणिच्छियामो दंसणनाणा ण अण्णत्तं ॥ २२ ॥ ७६ ॥

'दंसणपुव्वं नाणं' दर्शनं सामान्यज्ञानं पूर्वं यस्मिन् तद्दर्शनपूर्वं ज्ञानम्, दर्शनं प्राक् पश्चाद् ज्ञानमित्येवं पूर्वापरीभावश्छाद्मस्थिकोपयोगावस्थायां भवति, यतो न हि सामान्यमनुपलभ्य कोऽपि क्षायोपशमिकज्ञानवान् विशेषमुपलभते, तथा च किमप्येतदिति प्राक् सामान्यमुपलभ्यैव तत्पश्चाद् विशेषोपलम्भाद् दर्शननिमित्तकं ज्ञानं छद्मस्थोपयोगदशायां प्रसिद्धम्, न चायं क्रमः केवल्युपयोगावस्थायाम्, पूर्वं केवलदर्शनस्याभावेऽपि केवलज्ञानस्य लब्धिरूपत्वेन साकारोपयोगोपयुक्ते पुंसि आद्यक्षण एवोत्पत्तेः, अथैवमुत्पद्यतामाद्यक्षणे तत्, तत्पश्चाद्द्वितीयक्षणे तन्निमित्तं दर्शन भविष्यतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-'णाणणिमित्त तु दसणं नत्थि' ज्ञानं निमित्त यस्य तज्ज्ञाननिमित्त तु दर्शनं नास्ति कुत्रापि,

तथाऽप्रसिद्धेः 'तेन सुविनिच्छियामो' तेन सुविनिश्चिनुमः 'दंसणनाणा ण अण्णत्तं' दर्शनज्ञाने नान्यत्वम्, न क्रमापादितभेदम्, केवलिनि भवत इति शेषः। क्रमाभ्युपगमे हि केवलिनि ज्ञाननिमित्तकं दर्शनमभ्युपगन्तव्यं स्यात्, तत्कारणं तु प्रागेवोक्तम्, न च छद्मस्थभूत वैस्पष्टकल्पना न प्रामाणिकीति भावः। 'दंसणणाणाण अण्णत्तं' इति सम्मति पाठः, तदर्थस्तु भगवताऽभयदेवसूरिणा "तेनाप्यवगच्छामः कर्माविषयोर्भेद इति, अयम क्षयोपशमनिबन्धनः क्रमः, केवलिनि च तदभावादक्रम इत्युक्तम्" इत्येवं कृतः ॥ २१ ॥

यदुक्तं मतिरूपे बोधे अवग्रहमात्रं दर्शनमित्यादि तदयुक्तमतिव्याप्तेरित्याह—

जइ ओग्गहमेत्तं दं-सणं ति मण्णसि विसेसिअं णाणं।

मइनाणमेव दंसण—मेवं सइ होइ निप्फण्णं ॥ २२ ॥ ७७ ॥

'जइ' यदि मत्यवबोधे "ओग्गहमेत्तं दंसणं ति" अवग्रहमात्रं दर्शनमिति "विसेसिअं णाणं" विशेषितं ज्ञानमिति च 'मण्णसि' मन्यसे 'एवं सइ' एवं सति "मइनाणमेव दंसणं होइ निप्फण्णं" मतिज्ञानमेव दर्शनं निष्पन्नं प्राप्तं भवति, भवत्वेवं सिद्धत्, को दोष इति चेत्, सोऽपि श्रूयताम्, "कतिविहे णं भंते! उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे प० तं० सागारोवओगे य अणागारोवओगे य, सागारोवओगे णं भंते! कतिविधे प०? गो०! अट्ठविहे प० तं० आभिणिबोहियणाणसागारोवओगे, सुयणाणसागारोवओगे, ओहिनाणसागारोवओगे, मणपज्जवणाणसागा० केवलणाणसागा० मतिअण्णाणसा० सुयअण्णाणसा० विभंगणाणसा०। अणागारोवओगे णं भंते! कतिविहे प०? गो०! चउविहे प, तं० चक्खुदंसणअणागारोवओगे, अचक्खुदंसणअणा, ओहिदंसणअणा, केवलदंसणअणागारोवओगे य" इति प्रज्ञापनैकोनत्रिंशत्पदोपयोगाख्य पदागमसूत्रविरोधप्रसङ्गस्स्यादिति। अस्मिन्पक्षे मतिज्ञानात्मकसाकारोपयोगतोऽभ्यागतदर्शनोपयोगस्य भेदेन प्रतिपादनात्, मतिज्ञानस्याकारद्वितयभेदोक्तिविरोधाच ॥ २२ ॥

यद्वा मतिज्ञानमेवावग्रहात्मना दर्शनम्, अवायात्मना च ज्ञानमिति यदुक्तं तन्नाद्यन्मार्गमिवलम्बिना तद्दूषयन्नाह—

जइ उग्गहमित्तं दं-सणं ति मण्णसि विसेसिआ णाणं।

मइनाणमेव दंसण-मेवं सइ होइ निप्फण्णं ॥

इति ज्ञानबिन्दुपाठः। तस्यायमर्थः—यदि मतिरेवावग्रहरूपा दर्शनम्, विशेषिता सा ज्ञानमिति मन्यसे, तदा मतिज्ञानमेव दर्शनमेवं सति प्राप्तम् तन्निर्णयं तथेति सिद्धं भवति, न चेष्टमुक्तम् "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः [तत्त्वार्थ अ० २, सू० ९] इति सूत्रविरोधादित्यर्थः ॥ २२ ॥

एवं सेसिंदियदं-सणम्मि णियमेण होइ ण य जुत्तं।

अह तत्थ णाणमित्तं, घेप्पइ चक्खुम्मि वि तहेव ॥ २४ ॥

"एवं सेसिंदियदंसणम्मि णियमेण होइ" एवं शेषेन्द्रियदर्शने नियमेन भवति, एवं पूर्वोक्तनीत्या श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादिदर्शनेष्वप्यवग्रहमात्रं दर्शनमित्यभ्युपगमे मतिज्ञानमेव तदिति नियमेन स्यात्, तच्च न युक्तमित्याह–'ण य जुत्तं' इति, पूर्वोक्तसूत्रविरोधतादवस्थ्यात्। 'अह तत्थ नाणमित्तं घेप्पइ' अथ तत्र ज्ञानमात्रं गृह्यते, श्रोत्रादीन्द्रियेषु दर्शनमपि भवज्ज्ञानमेव गृह्यते, मात्रशब्दस्य दर्शनव्यवच्छेदकत्वात्, तद्व्यवच्छेदश्च क्वचिदप्यागमे श्रोत्रदर्शनं घ्राणदर्शनमित्यादिव्यवहाराभावात्, श्रोत्रज्ञानं घ्राणज्ञानमित्यादिव्यपदेशस्तु शास्त्रे दृश्यत एवेति, तदुत्तरमाह–'चक्खुम्मि वि तहेव' चक्षुष्यपि तथैव, गृह्यतामिति शेषः, चक्षुरिन्द्रियेऽपि तज्जन्यावग्रहश्चक्षुर्ज्ञानमेव न तु चक्षुर्दर्शनमिति स्वीक्रियताम्। अथ तत्र दर्शनमिति चेत्, तर्हि श्रोत्रेन्द्रियादावपि तथैवाभ्युपगम्यताम्, युक्तेस्तौल्यादिति ॥ २४ ॥

कथं तर्हि शास्त्रे चक्षुर्दर्शनादिप्रवाद इत्याशङ्कायां तत्कारणमाह—

नाणमपुट्ठे जो अविसए अ अत्थम्मि दंसणं होई।
मुत्तूण लिङ्गओ जं अणागयाईयविसएसु ॥ २५ ॥

"नाणमपुट्ठे जो" चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वाद् घटादिविषयमप्राप्यैव ज्ञानं चक्षुः करोतीत्यतोऽस्पृष्टेऽर्थे चक्षुषा य उदेति प्रत्ययस्स ज्ञानमेव सत् 'दंसणं होइ' दर्शनं भवति, चक्षुर्दर्शनमित्युच्यते, परमाणावुष्णरूक्षस्पर्शद्वयसमावेशवच्चाक्षुषे ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मद्वयसमावेश इति भावः, इत्थं श्रीसिद्धसेनदिवाकरमते चाक्षुषज्ञानावरणचाक्षुषदर्शनावरणकर्माऽपि परमार्थत एकम्, कार्यविशेषत उपाधिभेदतो वा नैकमिति सिद्धम्। तदुक्तं स्तुतौ ग्रन्थकृतैव—

चक्षुर्दर्शनविज्ञानं, परमाण्वौष्ण्यरौक्ष्यवत्।
तदावरणमप्येकं, न वा कार्यविशेषतः ॥ निश्चय० ८ इति ॥

तच्च प्रागेव विवृतम्। 'अविसए य अत्थम्मि'–इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादावर्थे 'नाणं जो' इत्यस्यात्राप्यन्वयाद् मनसा य उदेति प्रत्ययस्स ज्ञानमेव सत् 'दंसणं होइ' अचक्षुर्दर्शनमित्युच्यते। नन्वेवं तर्ह्यनुमित्यादिकमपि ज्ञानमस्पृष्टेऽविषये चार्थे मनसोपजायत एवेति तत्रापि दर्शनत्वापत्तिरित्याशङ्कायामुक्तातिप्रसङ्गनिवृत्तये उत्तरार्द्धमाह–'मुत्तूणेत्यादि' लिङ्गतोऽनागताऽतीतविषयेषु यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वा। अत्र जमित्यस्य नाणमित्यनेनान्वयः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तदित्यपि दृश्यम्। अयम्भावः–सातिशयोन्नतत्वादिधर्मोपेतवारिवाहलिङ्गोपलम्भेनायं काल आसन्नभविष्यद्वृष्टिक इत्यनुमित्यात्मकं, पुनर्वसूदयलिङ्गदर्शनेन पुष्यनक्षत्रं मुहूर्तान्ते उदेष्यतीत्यनुमित्यात्मकं वा कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तिलिङ्गज्ञानेन भरणिर्मुहूर्तावधिकपूर्वकालोदयवतीत्यनुमित्यात्मकं श्यामताविशेषं दृष्ट्वा धूमलिङ्गस्मरणेनैतद्देश आसन्नातीतवह्निमानित्यनुमित्यात्मकं वाऽनागतातीतविषयकं यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वेति,

इदस्पष्टत्वं-भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तपरोक्षज्ञानमात्रस्य, तस्यास्पृष्टाविषयार्थत्वात् दर्शनत्वेनाव्यवहारात् । भावनाजन्यस्य तथाविधो कामिन्यादिज्ञानस्य परोक्षस्यापि दर्शनत्वेन व्यवहारादस्पष्टत्वाभावभवाद्भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तेति परोक्षज्ञानस्य विशेषणम् ॥ २५ ॥

ननु यद्यस्पृष्टाविषयार्थविषयकं ज्ञानं दर्शनमित्यभ्युपगम्यते तर्हि मनःपर्यायज्ञानमपि तथाविधत्वात्तद्रूपं स्यादिति तत्रातिप्रसङ्ग इति पूर्वार्धेनाशङ्क्योत्तरार्धेन तदुत्तरमाह—

मणपज्जवनाणं दं-सणंति तेणेह होइ ण य जुत्तं ।
भण्णइ नाणं णोइं-दियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥ २६ ॥

'मणपज्जवनाणं दंसणंति' मनःपर्यायज्ञानं दर्शनमिति 'तेणेह होइ' तेनोक्तलक्षणेनात्र सिद्धं भवति, परकीयमनोगतानां घटादीनामालम्ब्यमानां तथास्पष्टत्वेनास्पृष्टेऽविषये च घटादौ वर्ते तस्य भावात् । 'ण य जुत्तं' न च युक्तम्, एतदिति शेषः । मनःपर्यायज्ञानस्य आगमे दर्शनत्वेनानभिहितत्वात् 'भण्णइ' भण्यते, तदुत्तरमिति शेषः 'नाणं णोइंदियम्मि' ज्ञानं नोइन्द्रिये, अयम्भावः-संज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीता ये मनोवर्गणापुद्गला मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणामितास्तन्मयं मनो नोइन्द्रियसंज्ञयाऽभिप्रेतं गीयत इति मनोद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवर्तमानं मनःपर्यायरूपं ज्ञानमेव, न तु दर्शनम्, तत्र हेतुमाह-' ण घडादओ जम्हा ' यस्मात्तत्स्पृष्टा घटादयो नास्य विषय इति शेषः । नित्यं तेषां लिङ्गानुमेयत्वात् । अयम्भावः-मनःपर्यायज्ञानी द्रव्यमनश्चिन्तनीयान् तान् साक्षात् घटादीन् तादृशमनःपरिणामाऽन्यथानुपपत्तिलिङ्गतोऽनुमानेन जानाति, न तु साक्षात् । उक्तञ्च भाष्यसुधाम्भोनिधिना—

" तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं " ८१४ इति ।

एतच्च प्रागेव विवृतम् । मनस्त्वरूपेण परिणता मनोवर्गणास्तु परमनोगता अपि स्वात्मपरमस्पृष्टजातीया एवेति न तदंशेऽपि दर्शनत्वप्रसङ्ग इति । परकीयमनोगतार्थाकार विकल्पस्य एवास्य ग्राह्यता, तस्य बोधरूपत्वेऽपि छाद्मस्थिकोपयोगत्वात्परिपूर्णार्थग्राहित्वाभावात् मनःपर्यायज्ञाने दर्शनत्वमसम्भव इत्यप्याहुः ॥ २६ ॥ किञ्च—

मइसुयनाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो ।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो ॥ २७ ॥

'मइसुयणाणणिमित्तो' मतिश्रुतज्ञाननिमित्तः 'छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो' छद्मस्थे अक्षीणमोहादिघातिकर्मणि अर्थस्योपलम्भः, आगमे तथैवोक्तत्वात्-'एगयरम्मि वि तेसिं' तयोरेकतरस्मिन्नपि तद्द्वयोरप्यन्यतरस्मिन्नपीत्यर्थः 'ण दंसणं' न दर्शनं, सम्भवतीति शेषः, न तावदवग्रहो दर्शनम्, तस्य ज्ञानात्मकत्वात् । ततः 'दंसणं कत्तो ?' दर्शनं कुतः ? नास्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वस्पृष्टेऽर्थे श्रुतज्ञानं भवत्तत्किमिति दर्शनं न भवेदित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

जं पच्चक्खग्गहणं ण इंति सुअनाणसम्मिया अत्था ।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुअनाणे ॥ २८ ॥

'जं' यस्मात् 'पच्चक्खगहणं न इंति' प्रत्यक्षग्रहणं न यन्ति, न यान्ति वा । यन्तीति क्रिया कर्त्तृमापेक्षेति तत्कर्त्तृभूतानर्थानाह–"सुअनाणसम्मिया अत्था" इति श्रुतज्ञानेन सम्यग्मीयन्ते निश्चीयन्त इति श्रुतज्ञानसम्मिताः, अर्थ्यन्ते परिच्छिद्यन्ते ज्ञानविषयीक्रियन्त इत्यर्थाः । अयम्भावः–श्रुतज्ञानप्रमिता अर्थाः प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते, अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतं कार्यत्वेनाश्रितं प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्त्याऽक्षजस्यैव व्यावहारिकप्रत्यक्षत्वात् । पर्यवसितार्थमुत्तरार्द्धेनाह–तम्हेत्यादि 'तम्हा' तस्मात्–श्रुतज्ञानस्याक्षजत्वाभावात् परोक्षार्थग्राहकत्वाच्च 'सयले वि सुयनाणे' सकलेऽपि श्रुतज्ञाने 'दंसणसद्दो न होइ' दर्शनशब्दो न भवति, न प्रवर्त्तते, श्रुतज्ञानं चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनशब्दवाच्य न भवतीति तत्तदात्मकं नेति भावः । तथा च व्यञ्जनावग्रहाऽविषयार्थप्रत्यक्षत्वमेव दर्शनत्वमिति पर्यवसन्नम् । प्रत्यक्षपदादेव श्रुतज्ञानवदनुमित्यादेर्व्यावृत्तौ परोक्षभिन्नत्वे सतीति विशेषणं न देयम् । 'मुत्तूण लिङ्गओ जं' इत्युक्तस्याप्यत्रैव तात्पर्यं द्रष्टव्यम् । इत्थ चात्राब्राह्मणमादायेत्यादाविवाचक्षुर्दर्शनमित्यत्रापि नञर्थः पर्युदासात्मक एवाभावो ग्राह्यः, न त्वघटं भूतलममनुष्यमरण्यमित्यादाविवात्यन्तनिषेधकृत् प्रसज्यात्मकः, पर्युदासश्च सदृग्ग्राहीति अचक्षुर्दर्शनपदेन मानसदर्शनमेव ग्राह्यम्, न तु श्रोत्रदर्शनघ्राणदर्शनादिकम्, अप्राप्यकारित्वेन मनस एव चक्षुर्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वात् ।

पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासए अपुट्ठं तु ।
गंधं रसं फासं च बद्धपुट्ठं विआगरे ॥ ५ ॥

इत्यावश्यकसूत्रोक्तेः श्रोत्रघ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां प्राप्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकत्वेनाप्राप्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकचक्षुस्सादृश्याभावादिति । प्रज्ञापनोपयोगाख्यपदटीकायां तु–अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । ततोऽनाकारोपयोगशब्देन विशेषणसमासः इत्येवं "अचक्खुदंसणअणागारोवओगे" इत्यस्यार्थः कृतः, तथा च तत्राऽचक्षुर्दर्शनपदवाच्य श्रोत्रघ्राणरसनास्पर्शनेन्द्रियमनोदर्शनमित्युक्तं भवति ॥२८॥

नन्वेवं दर्शनत्वस्य पारिभाषिकरूपत्वेऽवधिदर्शनमपि सिद्धं न स्यात्, तस्य व्यञ्जनावग्रहाविषयार्थग्राहित्वेऽपि व्यवहारतः प्रत्यक्षत्वाभावादित्याशङ्कां समाधत्ते—

जं अपुट्ठा भावा ओहिण्णाणस्स होंति पच्चक्खा ।
तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो ॥ २९ ॥

'जं' यस्मात् 'अपुट्ठाभावा' अस्पृष्टा भावाः परमाण्वादयः ते किमित्याह—'ओहिण्णाणस्स होइ पच्चक्खा' अवधिज्ञानस्य भवन्ति प्रत्यक्षाः, अश्नुते व्याप्नोति ज्ञानात्मना सर्वार्थान्, अश्नाति वा सर्वान् समस्तार्थान्, पालयति भुङ्क्ते चेति 'उणादिनिपातनात्' अक्षो जीवः, तं प्रति साक्षात् गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यत्तत्प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तिसिद्धं नैश्चयिक प्रत्यक्षमवधिज्ञानमपि अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमसमुद्भूतात्ममात्रजन्यत्वेन तत्रेन्द्रियाद्य-पेक्षत्वाऽभावादिन्द्रियविज्ञानप्रत्यक्षविषया भवन्ति, तथा लोकदर्शनरूपपर्यवसितलक्षणपट कीभूतप्रत्यक्षपदेन सांव्यवहारिकप्रत्यक्षपारमार्थिकप्रत्यक्षसाधारणप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं ज्ञायते, तथाविधज्ञानविषयत्वमपीति तदात्मकमवधिदर्शनं सिद्धं भवति । तदेवोपदर्शनाह—

"तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो" तस्मादवधिज्ञाने दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः, दर्शनाभिधाननिमित्तस्योक्तलक्षणस्य सद्भावेन सार्थकश्च इति ॥ २९ ॥

अवधिज्ञाने पारमार्थिकविकलप्रत्यक्षत्ववत् केवलज्ञानेऽपि पारमार्थिकसकलप्रत्यक्षत्वस्य सद्भावेनोक्तलक्षणमभ्याहतमित्याह—

> जं अपुट्ठे भावे, जाणइ पासइ य केवली नियमा ।
> तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

'जं अपुट्ठे भावे' यस्मादस्पृष्टान् भावान् 'केवली नियमा' कृत्स्नसकलकेवलविषय विषयविषयत्वं लक्षणम् केवली नियमात्-अवश्यम्भावेन, 'जाणइ पासइ य' जानाति पश्यति च, नाना भविष्णोभयप्राधान्येन, न तु गौणप्रधानभावेन, तस्य क्षायोपशमिक-ज्ञाननिबन्धनत्वात्, केवलिनस्तु क्षायोपशमिकभावातीतत्वाच्च तज्ज्ञानं क्षायोपशमिक-ज्ञानात्मकमिति तन्निमित्तकसामान्यविशेषगौणप्रधानभावस्य तत्राभावात् । 'तम्हा तं नाणं दंसणं च' तस्मात्तत्केवलोपयोगरूपं ज्ञानं दर्शनञ्चोभयरूपं 'अविसेसओ सिद्धं' उभयाभिधाननिमित्तस्याविशेषात्सिद्धम्, अयम्भावः—केवलावबोधो न क्रमिकज्ञानोपयोग दर्शनोपयोगान्यतरात्मकः, न वा युगपज्ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगभेदेनोपयोगद्वयात्मकः, अपि त्वेक एव धर्मी उभयाभिधाननिमित्तसद्भावाज्ज्ञानदर्शनोभयात्मक इति । मनःपर्याय ज्ञानस्य तु व्यञ्जनावग्रहादिविषयार्थकप्रत्यक्षत्वेऽपि बाह्यविषये व्यभिचारेण स्वग्राह्यतावच्छेदका वच्छेदेन प्रत्यक्षत्वाभावाच्च दर्शनत्वमिति निरूप्य इत्युक्तं ज्ञानबिन्दौ । अयम्भावः—ऋजु मतिविपुलमतिभेदतो द्विविधेनापि चानेन मनःपर्यायज्ञानेन तदर्थचिन्तनपरिणतानि मनोद्रव्याण्येव गृह्यन्ते चिन्त्यमानास्त्वनुमानतस्तु बाह्याः पदार्था अनुमानेनैवाऽ-वगम्यन्ते तावत्पर्यन्तमेवोपयोगाभ्युपगमेऽनुमित्यात्मकज्ञानस्य पक्षप्राप्यरूपं विषयांशे परोक्षत्वेऽपि मितिमार्गे स्वप्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षस्य मनोद्रव्यांशे प्रत्यक्षत्वेऽप्यत्र बाह्यांशे परोक्षत्वमुपपादनीयम्, एकान्तप्रत्यक्षता तु स्वग्राह्यतावच्छेदेनैव वाच्या, लौकिके एकान्त-

परोक्षताया अपीत्थमेवोपपत्तेः। न्यायाचार्यमहोपाध्यायपूज्यपादश्रीयशोविजयकृततत्त्वार्थ-प्रथमाध्यायचतुर्विंशतितमसूत्रभाष्यविवरणोक्त्यनुसारेण तावत्पर्यन्तमेकोपयोगपक्षे यदि मनःपर्यायज्ञाने मनोद्रव्यवत् संज्ञिजीवचिन्तनीयघटादिबाह्यपदार्था अपि तद्विशेषणतया प्रतिभासन्ते तदा स्वं मनःपर्यायज्ञानं तद्ग्राह्यं मनोद्रव्यं तदवच्छेदेन मनःपर्यायज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि स्वग्राह्यतावच्छेदको घटादिबाह्यांशस्तदवच्छेदेन परोक्षत्वेन प्रत्यक्षत्वाभावान्न दर्शनत्वम्, अत्रत्यं विवेचनमस्मदब्धतत्त्वार्थविवरणगूढार्थदीपिकातोऽवसेयमिति ॥ ३० ॥

तस्माद् द्व्यात्मक एक एव केवलावबोध इति फलितं स्वमतमाह सूरिः—

साई अपज्जवसियं, ति दो वि ते ससमयं हवइ एवं।
परतित्थियवत्तव्वं, च एगसमयंतरुप्पाओ ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तनीत्या केवलावबोधो द्व्यात्मक एक एवेत्यभ्युपगमे स्वसमयः, अन्यथा परसमय इति तात्पर्यार्थः। एतद्गाथायास्तु पूज्याभयदेवसूरिभगवद्भिरेवमर्थः कृतः—द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने यदि युगपन्न नाना भवतस्तदा स्वसमयः—स्वसिद्धान्तः साद्यपर्यवसिते इति घटते, यस्तु तयोरेकसमयान्तरोत्पादः "यदा जानाति तदा न पश्यति" इत्येवमभिधीयते स परतीर्थिकशास्त्रं नार्हद्वचनं नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति। न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायाभिप्रायेण त्वेवं गाथाशब्दार्थः। 'साई अपज्जवसियं ति' साद्यपर्यवसितं केवलं शास्त्रे प्रोक्तमिति हेतोः 'दो वि ते' द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने, उभयशब्दवाच्यं तदिति यावत्। 'एवं' एवमभ्युपगमे सति 'ससमयं हवइ' स्वसमयः स्वसिद्धान्तोऽयं भवति, चस्त्वर्थे 'एगसमयंतरुप्पाओ' यस्त्वेकसमयान्तरोत्पादः, तयोर्मध्यत इति शेषः, तत् "परतित्थियवत्तव्वं" परतीर्थिकवक्तव्यं परतीर्थिकशास्त्रम् नार्हद्वचनं नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति ॥३१॥

जिनप्रज्ञप्तनिखिलतत्त्वविषयकं भावतो यत्समूहालम्बनश्रद्धानं तल्लक्षणं सम्यग्दर्शनमपि मतिज्ञानस्यैव सम्यग्रुचिरूपो योऽपायांशस्तद्रूपमेव, न ज्ञानादृतेऽन्यद्दर्शनमस्ति, पृथग्विभागादिप्रक्रिया तु गोवृषन्यायात्, अत एव सम्यग्दर्शनत्वं सम्यग्ज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषः, विषयताविशेषो वा, तदवच्छिन्ने च दर्शनावरणक्षयोपशमानामेकशक्तिमत्त्वादिना हेतुत्वमिति ज्ञानावरणविशेष एव दर्शनावरणमित्यभिप्रेत्याह—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ ३२ ॥

'एवं' अनन्तरोक्तविधिना 'जिणपण्णत्ते' अस्य 'भावे' इत्यनेनान्वयाज्जिनप्रज्ञप्तान् भावान् 'भावओ सद्दहमाणस्स' भावतः सम्यग्रुचिरूपतया श्रद्दधानस्य समूहालम्बनया रुच्याऽवगृह्णतः 'पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो' पुरुषस्याभिनिबोधे मतिज्ञानापायांशरूपे दर्शनशब्दो भवति युक्तः, जिनप्रज्ञप्तजीवाजीवादिपदार्थनवकविषयकसमूहालम्बन-

ज्ञानविशेषरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वात्, तथोक्तरुचिरूप सम्यग्दर्शनं ज्ञानम्, यावच्च तद् अनेकान्तागमवासनोपमीत सर्वाऽप्येकान्ततोऽप्रमादितत्त्वाधर्पात्सतमपीति भावः ॥ ३२ ॥

ननु यस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञान तस्मिन्नियमेन सम्यग्दर्शनम्, तद्व्यतिरेकेण सम्यग्ज्ञानत्वस्यैवानुपपत्तेरितिवद् यस्मिन् रुचिरूपं दर्शनं तस्मिन्नियमेन सम्यग्ज्ञानमस्ति न वेत्या शङ्कायामाह—

> सम्मण्णाणे णियमे-ण दसणं दंसणे उ भयणिज्जं ।
> सम्मण्णाणं च इमं, ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

'सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं' सम्यग्ज्ञाने नियमेन दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, "दंसणे उ भयणिज्जं" दर्शने तु पुनर्भजनीयम् अस्ति न वेति विकल्पनीयम्, सम्यग्ज्ञानमिति शेषः। अनेकान्ततत्त्वविषयकरुचिरूपसम्यग्दर्शने सति तदस्ति एकान्ततत्त्वविषयकरुचिरूप दर्शने सति तन्नास्तीति भावः। अविशेषितदर्शनेन सह भजनोक्तावपि सम्यक्त्वविशेषितेन भजनेऽस्याभावमेवोत्तरार्द्धमाह—सम्मण्णाणं चेत्यादि। 'इमं' "इदमस्तोः प्रत्यक्षे" इति वचनात् इदम्शब्दप्रयोगः प्रत्यक्षविषय एवार्थे भवतीतीदमित्यस्य सम्यग्दृष्टिप्रत्यक्षविषयी-भूतमित्यर्थः। अस्य च सम्यग्ज्ञानमित्यनेनान्वयः, चशब्दात्सम्यग्दर्शनम्। तथा चेदं सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनमित्यर्थत उपपन्नं भवति, अर्थापत्तिसिद्धमित्यर्थः, अयमर्थः तत्त्वार्थविवरणमनुसृत्योक्तः। यद्वा 'सम्मण्णाणं च इमं ति' अतः सम्यग्ज्ञानं चेदंसज्ञानं सम्यग्दर्शनञ्चेति "अत्थओ होइ उववण्ण" अर्थतः सामर्थ्यादित्येवोपपन्नं भवति, तथा च सम्यग्दर्शनं मतिज्ञानापायांशरूपत्वाज्ज्ञानविशेषरूपमेव, मिथ्यादर्शनमपि तद् ज्ञानविशेषरूपमेवेति स्थितम् ॥ ३३ ॥

सूत्रे च साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं दर्शितमिति तदभावमजानानाः केचिदत्र व्याचक्षते, केवलज्ञानस्य प्रतिबन्धकं केवलज्ञानावरणमिति सर्वथा तदुच्छेदे सत्येव तदुत्पद्यत इति कारणो पजायमानत्वात् घटादिवत् तत्सादि, न चोत्पन्नं सदप्युनर्विनश्यति प्रबलतरप्रतिरोधिगुणा न्तराभावेन तद्विनाशकसामग्र्यभावात्, न च कर्मान्तरेण पुनरावियते तद्, कारणाऽभावेन तदावारककर्मणोऽभावात्, विनाशाभावाच्च न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पाद स्येति पुनरुत्पादविनाशानारम्भकं केवलम्, अत एवापर्यवसितमिति, तन्मतमिरासायाह—

> केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
> तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ३४ ॥

'केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति' केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति 'दाइयं सुत्ते' दर्शितं सूत्रे 'तेत्तियमित्तोत्तूणा' तावन्मात्रेण दृप्ताः—एतावन्मात्रेण गर्विताः 'केइ विसेसं

ण इच्छंति ' केचन विशेषं विशेषपर्यायं पर्यवसितत्वात्मकं सन्तमपि नेच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति। ननु किं ते सम्यगवादिनः किं वा नेति चेत्, नेति जानीहि ॥ ३४ ॥ तदेवाह—

जे संघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया।
ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

' जे संघयणाईया ' ये संहननादयः-वज्रर्षभनाराचसंहननादयो यद्यपि शरीरधर्मत्वेन तत्पर्यायास्तथापि भवस्थकेवल्याऽऽत्मतच्छरीरयोर्दुग्धपानीययोरिवान्योन्यसम्बद्धतयैव व्यवस्थितेर्भवस्थकेवलिविशेषपर्याया इत्याह-'भवत्थकेवलिविशेषपज्जाया' इति, भवे तिष्ठतीति भवस्थः, स चासौ केवली-केवलज्ञानवान् भवस्थकेवली, तस्य विशेषपर्यायाः " ते सिज्झमाणसमये न होंति " ते सिध्यत्समये सिद्धस्वरूपावाप्तिसमये न भवन्ति, अपगच्छन्तीत्यर्थः। भवस्थकेवलिविशेषपर्यायतया तद्ध्वंसे सति किं भवतीत्याशङ्कायामाह—" विगयं तओ होइ " विगतं ततो भवति। भवस्थकेवलिविशेषपर्यायापगमे भवस्थकेवलज्ञानपर्यायतया केवलज्ञानं विध्वस्तं भवति। अयम्भावः-उक्तभवस्थकेवलिविशेषपर्यायनाशे तद्विशिष्टकेवल्यात्मविनाशः, विशेषणनाशे तद्विशिष्टनाशस्याप्यवश्यम्भावात्, शिखाविनाशे शिखी विनष्ट इति प्रतीतेः, न चात्रापि शिखात्मकविशेषणस्यैव नाशः, न तद्विशिष्टस्य इति वाच्यम्, एकान्ततया भेदेऽभेदे च विशेषणविशेष्यभावस्यावस्थाऽवस्थातृभावस्य चाऽयोगेन कथञ्चिद्विनाशस्यापि भावात्, तादृशात्मविनाशे च केवल्यात्माऽव्यतिरिक्तं केवलज्ञानमपि तद्द्वारा विनष्टमिति ॥ ३५ ॥

अथ केवलभावेनापर्यवसितस्यापि केवलज्ञानस्य पूर्वपर्यायात्मकभवस्थकेवलज्ञानपर्यायतया सिद्धिप्रथमसमये विनाशवत्सिद्धकेवलज्ञानपर्यायलक्षणोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिरप्यवश्यम्भाविनी, अपर्यवसितभावस्यापि तत्तदवस्थाविशेषनियतनाशोत्पादावश्यम्भावात् अन्यथा त्रैलक्षण्यासिद्धिस्स्यादिति प्रतिपादयितुम्, यद्वा विनाशस्योत्पत्तिनियतत्वात्केवलज्ञानस्य भवस्थकेवलज्ञानरूपपूर्वपर्यायरूपेण विनाशं प्रतिपाद्य सिद्धकेवलज्ञानपर्यायात्मकोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिं प्रतिपादयितुमाह—

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च, केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

' सिद्धत्तणेण य पुणो' सिद्धत्वेन-अनादिसन्तत्यागतकाञ्चनोपलसंयोगस्येवानादिजीवकर्मसयोगस्य सोपायं यस्सर्वथा विच्छेदस्तत्प्रयुक्तात्मकर्मसर्वांशपृथग्भावलक्षणं यत् सिद्धत्वं अस्य पूर्वं सिद्धत्व नासीत् किन्त्वधुनैव तत्सञ्जातमिति प्रतीतिसिद्धेन तेन रूपेण एष सिद्धस्थकेवलज्ञानाख्यार्थपर्याय उत्पन्नः, प्रागसतः सत्तालाभादित्याह-" उप्पण्णो एस अत्थप-

आओ" इति। एतदुक्तागमपदस्यैवोक्तं नन्दीसूत्रे-"केवलनाणे दुविहे पण्णत्ते भवत्थकेवलनाणे च सिद्धकेवलनाणे च" इति। नन्वेवं तर्हि केवलज्ञानमपर्यवसितं किमपेक्ष्य प्रोक्तमित्याशङ्कानिरासपर्यवसायि उत्तरार्धमाह—'केवलभावमित्यादि'। केवलभावं तु प्रतीत्य-अपेक्ष्य, "केवल-दायं सुत्ते" केवलज्ञानं दर्शितं सूत्रे, अपर्यवसितमिति शेषः। तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपादानभावेन विनाशोत्पत्तिशीलमपि प्रतिक्षणभेदपरिणतिभेदेन क्रमपर्यायभेदेन च प्रतिक्षणभिन्नस्वरूपमपि च केवलज्ञानं नैव कदापि तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायानुगतं केवलभावं केवलोपयोगभावं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेद इति कथञ्चिदात्मद्रव्यानतिरिक्तत्वात् तथित्वेन सदाऽपि निरपायस्वरूपं परिजहातीत्येतावता तदपर्यवसितमिति सिद्धान्ते गीयते इति भावः। तथा च केवलज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयेणोत्पत्तिमात्रापेक्षयादिः, तदनन्तरं ध्रुवत्वमात्रव्यञ्जनपर्यायापेक्षितध्रुवत्वाविनाभावकप्रागभावाभावात् प्रतिक्षणं ज्ञेयभेदप्रयुक्तनिखिलार्थान्वेषणावगाहिक्षणक्षणमात्रभेदवत्समयविशिष्टस्वस्वभावभेदभिन्नकेवलज्ञानानन्त्यार्थपर्यायानुगतव्यञ्जनपर्यायात्मकेन केवलभावेन न कदाऽपि विनश्यति, विनाशाभावाच्च न तद्रूपेण तत्पुनरुत्पद्यत इति तदुभयाभावात् केवलज्ञानोत्पत्तिप्रथमसमयादेव केवलभावेन सर्वदा ध्रुवत्वादपर्यवसितम्, अष्टकर्मविगमेन सिद्धस्वरूपावाप्तौ केवलज्ञानस्य पुनः पूर्ववसितत्वेन सिद्धस्वरूपकेवलज्ञानात्मनोऽर्थपर्याय उत्पन्न इति भवस्थकेवलज्ञानपर्यायसिद्धकेवलज्ञानपर्यायाभ्यां विनाशोत्पत्तिभावापेक्षयादिसपर्यवसितमप्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा त्रैलक्षण्यानुपपत्त्या सत्त्वमपि न स्यात्, न स्याच्च केवलज्ञानं स्यात्साद्यपर्यवसितं स्यात्सादिसपर्यवसितमित्यादिरूपेण सप्तभङ्गीसङ्घटनाऽपि तथेति भावनीयम् ॥ ३६ ॥

ननु जीवोऽनादिनिधनः केवलज्ञानं पुनस्साद्यपर्यवसितम्, तथा च केवलज्ञानं जीवस्वरूपाद्भिन्नं विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, यच्च यतो विरुद्धधर्माध्यस्तं तत्ततो भिन्नं, यथा घटात्पटः, जीवाद्विरुद्धधर्माध्यस्तं च केवलज्ञानं, तस्मात्तद्भिन्नमिति केवलज्ञानस्यात्मस्वरूपताभावित्वं तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलज्ञानस्य तौ भवत इत्युपपादनं कथं युक्तियुक्तमित्याशङ्कते—

जीवो अणाइनिहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं।
इय थोरम्मि विसेसे कह जीवो केवलं होइ ॥ ३७ ॥

'अणाइनिहणो' आदिश्च निधनमन्तश्च आदिनिधने ते न विद्येते यस्य सोऽनादिनिधनः, एवम्भूतः क इत्याह—'जीवो' जीवति-प्राणान् धारयतीति जीवः। 'केवलणाणं तु साइयं' केवलज्ञानं तु सादिकं, आदिना सह वर्तत इति सादिकम् आदिमत्, पुनस्तद्विशिनष्टि-'अणंतं' न विद्यते अन्तो यस्य तदनन्तम्-अपर्यवसितम्, 'इय थोरम्मि विसेसे' इति स्थूरे स्थूलबुद्धिगम्ये विशेषे विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे सति आत्मकेवलज्ञा-

नयोर्घटपटवदत्यन्तभेदात् 'कहं जीवो केवलं होइ' कथं जीवः केवलं भवेत्? कथं जीवस्वरूपं केवलज्ञानं भवेत्? ॥ ३७ ॥

ननु भवतु तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः, तेन किमित्यत आह—

तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
उवसमिआईलक्खणविसेसओ केइ इच्छंति ॥ ३८ ॥

'तम्हा अण्णो जीवो' तस्माद्विरुद्धधर्माध्यासादन्यो जीवो ज्ञानादिपर्यायेभ्य इति शेषः। 'अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स' तस्य जीवस्य ज्ञानादिपर्याया अन्ये जीवादिति शेषः। लक्षणभेदादपि तयोर्भेद इति प्रतिपादयितुमाह–उवसमियाईलक्खणविसेसओ' औपशमिकादिलक्षणविशेषतः। अयम्भावः–ज्ञानदर्शनयोः क्षायिकक्षायोपशमिकाऽन्यतरात्मको भावो लक्षणम्, जीवस्य तु पारिणामिकभावो लक्षणमित्येवं लक्षणभेदाज्ज्ञानदर्शनादिपर्याया जीवाद्भिन्ना इति 'केइ इच्छंति' केचिद्व्याख्यातारः इच्छन्ति–अभ्युपगच्छन्ति ॥ ३८ ॥ तन्मतं निरसितुमाह—

अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्थो एगंतपक्खपडिसेहे।
तहवि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोयणं वुच्छं ॥ ३९ ॥

'अह पुण' अथ पुनः, यद्यप्ययं 'एगंतपक्खपडिसेहे' एकान्तपक्षस्य द्रव्यपर्यायैकान्तभेदाभेदवादस्य यः प्रतिषेधः तल्लक्षणः 'अत्थो' अर्थः—

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं। १। १२॥

इत्यादिना द्रव्यपर्यायौ कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नौ परस्परविविक्तयोस्तयोः कदाचनाप्यप्रतिभासनादित्येवमनेकप्रकारेण 'पुव्वपयुत्तो' पूर्वमेव प्रयुक्तो योजितः पूर्वप्रयुक्तः, अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापनात् 'तहवि' तथापि 'हेउपडिजोयणं' कथञ्चिद्भेदाभेदप्रसाधकस्य हेतोः केवलज्ञानपक्षे आत्मनः कथञ्चिद्भेदाभेदसाध्येन सह प्रतियोजनं नियतसाहचर्यलक्षणव्याप्तिप्रदर्शकप्रमाणविषयं 'उयाहरणमिणंति वोच्छं' उदाहरणमिदमिति वक्ष्ये ॥३९॥ तदेवाह—

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो नराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्दो वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ४० ॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् पुरुषः 'सट्ठिवरिसो' षष्टिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्येति शेषः। 'तीसइवरिसो नराहिवो जाओ' त्रिंशद्वर्षस्सन्नराधिपो जातः, 'उभयत्थ' उभयत्र मनुष्ये राजनि च 'जायसद्दो' अयं मनुष्यो जातः, अयञ्च राजा जात इत्येवं प्रयुक्तो जात-

प्रश्नोऽयं ' परिसविभाग विसेसेइ ' वर्षविभाग विशेषयति दर्शयति षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य त्रिंशद्वयस्क नराधिपपर्यायोऽयं जातः, कथञ्चिद्भेदमापेक्षमेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, त्रिंशद्वर्षीयनराधिपपर्यायात्मकत्वेन चायं पुरुषः पुनर्जातः, कथञ्चिद्भेदसापेक्षाभेदात्म कत्वात्सामान्यस्य । अयम्भावः—जन्मादिमरणकालपर्यन्तं षष्टिवर्षायुष्क पुरुषसामान्य राजकुमारपर्यायपुवराजपर्यायनराधिपपर्यायानुगतमभिन्नमेव, सर्वेषु पूर्वोत्तरपर्यायेषु पुरुषोऽयं पुरुषोऽयमित्यनुगतप्रतीतेः यदनुगतप्रतीतिविषयभूतं तदभिन्नम्, स्थासकोशकुशूलादिपर्यायानुगतमृद्द्रव्यवत् । पूर्वोत्तरकालावच्छिन्नपूर्वापरपर्यायानुगतत्वेनोर्ध्वतासामान्यात्मकस्य पुरुषद्रव्यस्यैव च राजकुमारयुवराजनराधिपाः पर्याया इति पर्यायस्वरूपतया तद्भिन्नमपि, पुरुषद्रव्यमेव राजकुमारत्वेन युवराजत्वेन नराधिपत्वेन चोत्पन्नमिति व्यवहृतेः । न च पुरुषद्रव्य तत्पर्याययोरेकान्तभेदाभेदैकधर्मस्तदन्यस्मिन्निति नाभिन्नपुरुषद्रव्यस्वरूपतया राजकुमारादिपर्याया अभिन्नाः, विभिन्नराजकुमारादिपर्यायतया पुरुषद्रव्यमपि नैवाऽभिन्नमिति वाच्यम्, यत एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगेन पुरुषद्रव्यस्यैते राजकुमारादिपर्याया इति व्यवहृतिरेव न स्यात् । मन्वेवं तर्हि तु तयोरेकान्ताऽभेद एव, तैलस्य धारेति प्रतीतिवद् राहोश्शिर इति प्रतीतिवदाभेदेऽपि पुरुषस्यैते राजकुमारादिपर्याया इति प्रतीत्युपपत्तेरिति न कथमपि कथञ्चिद्भेदाभेदावकाश इत्यपि न च वाच्यम्, जन्मादिमरणान्तकालपर्यवसितत्वेनानुगतं पुरुषद्रव्यमेकं, राजकुमारादिपर्यायास्तु पुरुषद्रव्यस्यैवावस्थाविशेषाः, तत्तत्कालोत्पन्नत्वेन भिन्नस्वरूपा इति पुरुषद्रव्यतत्पर्याययोर्विरुद्धधर्माध्यासात् भेदेनाप्युपलभ्यमानत्वाभेदस्तयोः, तथा च तयोर्मिथो मान्तरीयकत्वेनैकतराऽभावे तदन्यस्याप्यभावात् प्रमाणार्पणया कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नौ, तथैव प्रतीयमानत्वादित्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ ४० ॥ दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिके तदुपनयमाह—

> एवं जीवद्दव्वं, अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा ।
> रायसरिसो उ केवलि-पज्जाओ तस्स स विसेसो ॥ ४१ ॥

' एवं ' पूर्वोक्तदृष्टान्तनीत्या ' जीवद्दव्वं अणाइनिहणं ' जीवद्रव्यमनादिनिधनम् आदिश्च निधनञ्च आदिनिधने ते न विद्येते यस्य तदनादिनिधनम् आद्यन्तरहितम् कस्मादेवमित्यत आह— ' अविसेसियं जम्हा ' यस्मादविशेषितम्-यथा पुरुषद्रव्य निर्विशेषितम् सामान्यरूपं तथा जीवद्रव्यमपि निर्विशेष सामान्यरूपम् । अथ सामान्य विशेषविकल्पनस्य दृष्टमिति पुरुषसामान्यस्य नराधिपत्वात्मको यो विशेषः प्रागुक्तस्तत्सदृशो जीवद्रव्यस्य सामान्यरूपस्य को विशेष इत्याशङ्कानिरासपर्यवसितमुत्तरमाह—रायसरिसो इत्यादि । ' रायसरिसो उ ' राजसदृशस्तु षष्टिवर्षायुष्कत्रिंशद्वर्षीयराजत्वपर्यायसदृशस्तु ' केवलिपज्जाओ ' केवलिपर्यायः केवलित्वपर्यायः, केवलज्ञानात्मकपर्याय इति यावत् ' तस्स स विसेसो ' तस्य ऊर्ध्वतासामान्यात्मकतयानुगतजीवद्रव्यस्य स केवलित्वपर्यायो विशेषः । तथा च

पुरुषद्रव्यस्य राजत्वपर्यायः प्रागमन्नेवोत्पन्नस्तद्वज्जीवद्रव्यस्य केवलित्वपर्यायोऽपि पूर्वमसन्ने-वोत्पन्न इति द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात्तदभिन्नजीवद्रव्यमपि तद्रूपेण कथञ्चिदुत्पन्नम्, केवलज्ञानञ्च छाद्मस्थिकज्ञाने नष्टे सत्येवोत्पद्यते इति प्राक्तनछाद्मस्थिकज्ञानाद्यात्मकछद्म-स्थत्वपर्यायविनाशे तद्रूपेण तदभिन्नं जीवद्रव्य कथञ्चिद्विगतम्, न च तथापि कदापि पूर्वोत्तरपर्यायानुगतजीवद्रव्यसामान्यमुपयोगलक्षणासाधारणजीवस्वरूप परिजहाति, अन्यथा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयादिति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणात्मकं जीवद्रव्यम्, हेमद्रव्यं प्राक्तन-कटकादिरूपेण विनष्टं सदुत्तराङ्गदादिपर्यायरूपेणोत्पन्नमपि नैव पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपा-दानप्रवृत्तमूर्ध्वतासामान्यात्मकस्वस्वरूपं कदापि परिजहातीति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणा-त्मकहेमद्रव्यवज्ज्ञेयम् । इत्थमेवोपदेशरहस्येऽपि "विकलप्रकाशपरिणामेन नष्टा ध्रुवा चेतनैव केवलज्ञानतया परिणमते इत्थमेव त्रैलक्षण्योपपत्तेः" इत्युक्तम् । तथा च विकल-प्रकाशपरिणतचेतनाया एव घातिकर्मक्षये सति सकलप्रकाशस्वभावकेवलज्ञानरूपेण परिण-मनभावात्केवलज्ञानं कथंचित् सादि, परिणामपरिणामिनोश्च कथञ्चिदभेदात्त्रिकालानुयायि-चेतनापरिणामरूपमेव केवलज्ञानमिति परिणामिभूतायाश्चेतनाया अनादित्वात्तदभिन्नकेवल-ज्ञानमपि तद्रूपेण कथञ्चिदनादि, अत एव परिणामिकारणस्वरूपतया कथञ्चित्सदेवोत्तर-पर्यायरूपकार्यस्वरूपतामधिगच्छतीति सिद्धान्तप्रवादोऽपि प्रमाणकोटिमाटीकते । घाति-कर्मक्षये सत्येव केवलज्ञानमुत्पद्यत इत्युत्पत्तिमत्त्वाच्च तत्सादि । तथा समयभेदेन भिन्नभिन्न-रूपाः केवलज्ञानपर्यायाः शास्त्रे प्रोक्ताः, "पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं अपढमसमय-सजोगिभवत्थकेवलनाणं" इति नन्दिसूत्रवचनात्, अत एव शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायात्मकस्य केवलज्ञानस्यापि ऋजुसूत्रादेशेन क्षणभेदभिन्नकेवलज्ञानपर्याया अर्थपर्याया इति मन्तव्यम् । तथा च केवलज्ञानस्य क्षणभेदाद् भेदे सति प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन तदवगाहित्वस्वभाव-भेदेन भेदे च सति तत्सपर्यवसानम् । यद्वा भवस्थकेवलज्ञानपर्यायसिद्धकेवलज्ञानपर्याय-योरप्यर्थपर्यायत्वात् ताभ्यां केवलज्ञानस्य विनाशोत्पत्तिभावात्तत्सपर्यवसानम्, क्षणभेदेन प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन च भिन्नभिन्नकेवलज्ञानार्थपर्यायाणां केवलज्ञानशब्दवाच्यत्वा-त्तत्रानुगतं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाख्यकेवलज्ञानमिति तद्भावात्मककेवलभावं प्रतीत्या-ऽपर्यवसानमिति भावः ॥ ४१ ॥

नैकान्ततो द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिन्नमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

जीवो अणाइनिहणो 'जीव' त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाउय जीवो देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ४२ ॥

'जीवो अणाइनिहणो' जीवोऽनादिनिधनः 'जीवत्ति य' जीव इति च, विशेषवि-कलो जीव एव, देवमनुष्यादिपर्यायाख्यविशेषेभ्य एकान्तभिन्नत्वेन तदनात्मकत्वात्तस्येति

'वियप्पओ य वत्तव्वो' नियमतो न वक्तव्यम्, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह–'जं' यत्, यस्मात्, 'पुरिसाउयजीवो' पुरुषायुष्कजीवः 'देवाउयजीवियविसिट्ठो' देवायुष्क जीवितविशिष्टो–देवायुष्कजीवाद्भिन्नः। अयम्भावः–द्रव्यस्य पर्यायेभ्य एकान्तभिन्नत्वाच्च दनात्मकमेवैतस्यतो जीवोऽपि पर्यायेभ्यो भिन्नत्वाचदनात्मक एवेति मनुष्यजीवदेवजीवादि विशेषात्मकं जीवद्रव्यं न, किन्तु जीवैकस्वरूपत्वादभिन्नमेवैक तदित्यभ्युपगमे तु सामान्यै करूपतया सर्वथाऽभिन्ने जीवे पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्भिन्न इति भेदप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, एवं पर्यायभेदेऽपि जीवभेदानभ्युपगमे मनुष्यजीवोऽयं देवजीवोऽयं तिर्यग्जीवोऽयं नारकजीवोऽयमित्यादिभेदप्रत्ययव्यवहारौ जीवे न स्याताम्, तन्निमित्तस्य मनुष्यजीव देवजीवादिविशेषस्य त्वयाऽनभ्युपगमात्, त्वदभ्युपगतस्य केवलजीवसामान्यस्य तु तद निमित्तत्वात्, अनुभवातीतत्वात्, भेदप्रत्ययव्यवहारयोर्निर्निमित्तं विनाऽप्यभ्युपगमे सामान्य प्रत्ययव्यवहारयोरपि निमित्तं विनाऽपि सम्भवात्तदविलम्बनभूतसामान्याभ्युपगमोऽप्ययुक्त स्स्यादिति सर्वाभावप्रसङ्गः। न च विशेषप्रत्ययव्यवहारयोर्मिथ्यात्वमेवेति वाच्यं, बाधा रहितयोरपि तयोर्मिथ्यात्वाऽभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरपि मिथ्यात्वप्रसक्त्या सामान्यस्याप्यसिद्धिप्रसक्तिस्स्यात्। तस्मात्सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरिव विशेषप्रत्ययव्य वहारयोरपि प्रामाणिकत्वमेवाभ्युपगन्तव्यमतोऽनुभवसामान्यप्रतीतिव्यवहारसिद्धसामान्य जीवद्रव्यमबाधितविशेषप्रत्ययव्यवहारान्यथानुपपत्त्या विशेषात्मकमप्यभ्युपगन्तव्यमिति वस्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मकं सिद्धमिति ॥ ५२ ॥

गुणगुणिनोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वेन पूर्वं व्यवस्थापितत्वात् व्यवस्थापयिष्यमाणत्वाच्च केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्माऽव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाऽव्यतिरेकात्कथञ्चिदेकत्वा त्तयोर्मिथो धर्मसङ्क्रम इति प्रतिपादयितुमाह—

> संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
> तह रागदोसमोहा, अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥ ५३ ॥

वस्तुतत्त्वस्य प्रमाणनयैरधिगम इति प्रमाणार्पणया द्रव्यपर्याययोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनात्मा द्रव्यपर्यायोभयात्मकः, द्रव्यार्थिकनयविवक्षायां त्वेकद्रव्यरूपत्वात् स एकः, कथञ्चित्तदभिन्न केवलज्ञानमप्येकम्, पर्यायार्थिकनयविवक्षायां तत्तत्पर्यायभेदभिन्नरूपत्वात्संख्येयाऽसंख्येय पर्यायरूप आत्मेति तदभिन्नकेवलज्ञानमपि संख्येयरूपमसंख्येयरूपञ्चेत्याह–संखेज्जमसंखेज्जं इति, 'अणंतकप्पं च केवलं णाणं' ज्ञेयज्ञानयोः कथञ्चिदभेदात् ज्ञेयाऽनन्त्यादनन्तकल्पम नन्तभेदं केवलज्ञानम्। अयम्भावः–प्रतिसमयं सम्भवत्परापरकालकृतबालकुमारतरुणनर नारकत्वादिपर्यायैस्सादिविनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थतयैक एवात्मा, पूर्वापरपर्यायानुयायेकद्रव्य त्वादिति कथञ्चित्तदभिन्नं केवलमप्येकम्, आत्मनस्तु वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्त-

द्व्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपः, प्रदेशार्थतया त्वात्माऽसङ्ख्येयः, असंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्तस्य, प्रदेशप्रदेशिनोश्च कथञ्चिदभेदात्, असङ्ख्येयप्रदेशस्वरूपतयात्मनोऽसङ्ख्येयत्वे च कथञ्चित्तदभिन्नं केवलमप्यसंख्येयम्, विषयविषयिणोः कथञ्चिदभेदादनन्तार्थविषयकत्वेन केवलज्ञानमनन्तमिति तदभिन्न आत्माऽप्यनन्तः। यद्वा "अनन्तपर्यायं ज्ञेयानन्त्यात्" इति न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायकृततत्त्वार्थविवरणोक्तेर्निखिलरूप्यरूपिविषयाऽऽनन्त्येन तदवगाहितयाऽनन्तपर्यायं केवलज्ञानम्। अयम्भावः-यमेकं विषयं येन स्वभावेनावगाहते केवलज्ञानं न तेनैव स्वभावेन विषयान्तर, किन्तु भिन्नेनैवेति विषयाणामानन्त्येनाखिलतत्तद्विषयावगाहनस्वभावात्मका अपि पर्याया अनन्ता एव तस्मिन्नित्येकस्मिन् समयेऽप्यनन्तपर्यायं तत्, समयान्तरेऽपि निखिलपदार्थानामुत्पादादित्रयात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या कथञ्चित्परावर्त्तनस्वभावानामत एव प्रतिसमयं भिन्नानां प्रत्येकं भिन्नभिन्नस्वभावतयाऽवगाहित्वेनानन्तपर्यायं तदिति तदभिन्न आत्माऽप्यनन्तपर्याय इति। "तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया" केवलज्ञानं यथा सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदं तथैव रागद्वेषमोहा अन्येऽपि च जीवपर्यायाश्छद्मस्थावस्थाभाविनसमङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदाः, यतश्छद्मस्थस्यैकस्यापि जीवस्य तत्तत्कालभेदेन रागद्वेषमोहाद्यालम्बनानि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदात्मकानीत्यालम्ब्यभेदात्तेऽपि तत्सङ्ख्यकाः, तदात्मकत्वात्संसार्यात्माप्युक्तभेदात्मकोऽवगन्तव्यः। सोमिलब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचनरूप पञ्चमाङ्गाष्टादशशतकदशमोद्देशकसूत्रमप्येतदर्थं संवदति, तथा च तत्सूत्रम्-एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ? सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव भविए वि अहं ? सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं, से तेणट्ठेणं जाव भविए वि अहं" इति। रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदः, यथा केवलावबोधः, आत्मपर्यायाश्च रागादयः, तस्मादेकाद्यनन्तभेदास्ते इति द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्या स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति।

एतावता सम्मतिटीकैकवाक्यतापन्नेन व्याख्यानेन यथाश्रुतार्थसम्यगवबोधफलावाप्तिमात्रकृतकृत्यानां पूर्वोत्तरपक्षभावावबद्धमूलगाथाकदम्बान्यतमावगतज्ञानदर्शनोपयोगद्वययौगपद्याभ्युपगन्तृमहनीयमान्य–श्रीमल्लवादिमत– तत्क्रमिकत्वाभ्युपगन्तृपूज्यपादश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमत-तद्द्वयाऽभेदोररीकर्त्तृ-सम्मतितर्कप्रणेतृश्रीसिद्धसेनदिवाकरमतानां शासनप्रभावकसूरित्रयाप्तत्वसन्देहपराङ्मुखतालक्षणमाध्यस्थ्याचान्तस्वान्तःकरणाना प्रदर्शितयुक्तिकदम्बोपेतमाननिर्णीताखिलतत्त्वगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वसमर्थितसमभ्यासाऽविरुद्धभेदाभेद–नित्याऽनित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वलक्षणानेकान्तत्वभावनादृढा–

पत्तिसम्यक्चारित्रकविषयोत्तरक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणपरमकारणत्रयसम्पत्त्य-
नन्यकारणास्तिप्रमत्तादिविषयकर्मास्पन्दितकषायादयस्मादिस्वस्वरूपाक्षणनिस्याऽऽम्यपरमान
न्यमनोरथानां न प्रस्तुतार्थे समीहितं किञ्चित्साक्षात्प्रयमयाशिष्टमिति न तान् प्रत्यानुव
प्रातिमः समुद्दिश्य वक्तव्यम्। येऽपि तत्त्व मतैकान्तमताग्रहाविलान्तःकरणतया तत्स्वरू
पाव्यतिरिक्तस्वरूपपरदर्शनेऽपि पराङ्मुखा यथा तथा स्वसमयेऽपक्षोद्गार-कदाग्र
हविलसितेनापरपक्षयुक्तिमात्र मानोपेतमपि कदाग्रहविजृम्भितमेवेत्यभिमन्यमानाःस्वान् मति
परपक्षदिग्दर्शनमप्यज्ञानाध्यासितत्वादरमणीयमिति न तानुद्दिश्यापि किञ्चिद् वक्तव्यम्,
ये तु स्याद्वादराद्धान्तसम्मतार्थमभिमन्यमाना मात्र मतिवक्तव्यं कश्चिदप्यंशे विरोधेन,
आपाततः परस्परविरुद्धतया भासमानोऽप्यंशोऽपेक्षाभेदेन परिहृतविरोध एव स्याद्वादरत्ना
न्तर्घटकः, नान्यथेति तथाविधांशेऽपेक्षाभेदान्वेषणपरायणाः। कथमपि स्वसन्देहस्यापनोदं
वस्त्वन्यन्निर्णयं विधातुं तथाविधग्रन्थपरीक्षणकवनजुषस्तान् प्रतीदं किञ्चिदुपदर्श्यते—

नन्वर्हत्प्रणीतप्रवचनस्थानमगमेऽप्यन्योपममविवेकमवगाहनीयमहत्पदार्थत्रयसत्पक्षपद्यया
न्यतमस्यैकस्यैव पक्षस्य वस्तुगत्या प्रामाणिकत्वेन तद्भिन्नपक्षद्वयस्यार्हत्प्रणीतसाधितत्वाभ्यु
पगम्यमानार्हत्प्रणीतविपरीतमहाशाक्तिसाम्यमिथ्यात्वमसङ्ग इति न चात्र चाक्यमपेक्ष-
णीयम्, प्रस्तारमप्रदेशानुसृतविशिष्टमार्हत्प्रवचनानुरागमुख्योपायासहृतानामविच्छिन्न
गुरुपरम्पराऽऽयातप्रवचनतात्पर्यमपक्षपातेन तत्त्वतो विदुषां मिथ्याभिनिवेशाभावात्, तथाहि—
स्याद्वादाऽभिहितस्वान्तास्तयोऽपि त्रयः स्वस्वाभ्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यार्थं प्रतिसन्धायाऽपि
पक्षपातेन न प्रतिपन्नवन्तः, किन्त्वविच्छिन्नस्वस्वगुरुपरम्परायातप्रवचनैकपरम्परया शास्त्र
तात्पर्यमेव स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिपन्नवन्त इति न ते मिथ्याभिनिवेशिनः, वीतराग
प्रणीतशास्त्रतात्पर्यप्रतिसन्धानपूर्वकाऽन्यथाभणनाभावात्, किञ्चानेकनयसमूहात्मके
भगवत्प्रवचने—" नत्थि नएहिँ विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि " इति सिद्धान्त
वचनादनेन नयेनेदं सर्वं प्रवृत्तम् अनेन नयेन चेदमिति सम्यक्तत्त्वतत्त्वसमालोचनां
विना नैव तत्त्वस्थानि याथार्थ्येन ज्ञायन्ते इत्यत्र स्वस्वगुरुसम्प्रदायाविच्छिन्नतत्त्वमय
मैवाचनाम्नायागतास्त्रयोऽपि सूरिपादाः प्रमाणकोटिप्रविष्टा इति तेषां त्रयाणां केषामपि
मापसिद्धान्तोक्त्या मिथ्यात्वप्रसङ्गः, तथाहि—यत् सर्वज्ञमिकमिति सामान्यव्याख्या
निखिलवस्तुनस्तद्रूपत्वेन क्षणिकत्वमिति पूर्वपूर्वक्षणिकवस्तुनस्तदुत्तरोत्तरक्षणिककार्य
पूर्वरूपकारणतया कारणत्वेन पूर्वपूर्वक्षणिकेनोत्तरोत्तरक्षणिककार्यं जायते इति पूर्वो-
त्तरक्षणवर्तिक्षणिकवस्तुद्वयकार्यकारणभावाऽभ्युपगन्तृबौद्धमतप्रकल्पद्वयनयापेक्षया केवल
ज्ञानकेवलदर्शनयोरभिप्रायं व्यवस्थापयन्तः पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनोः क्रमवदभ्युपगतकार्य
कारणभावादेव प्रस्तुतोपयुक्ता न सर्वज्ञाभ्युपगतनिखिलतत्त्वमाग इति तथोदासी-
न्यमुक्तकार्यकारणभावे च प्राधान्यमभिसन्दधानाः केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमिकत्वसार्थं

पूज्यश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः प्रतिपादयन्ति—यद्यपि चेतनालक्षणसामान्यात्मना केवलोपयोगलक्षणसामान्यात्मना वा केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरैक्यमेव तथापि सामान्यविशेषभेदग्राहितया तदुभयभेदग्राहकवैशेषिकनैयायिकमतप्रकृतिव्यवहारनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनसूत्राभिप्रायमुररीकुर्वन्तो व्यवहारनयाभ्युपगतभेदान्यतत्त्वभागे औदासीन्यं भजमानाः तदभ्युपगतभेदमात्रस्य प्रस्तुतोपयुक्तत्वात्तं प्रधानीकृत्य एकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिककेवलज्ञानकेवलदर्शनभेदं जगदर्च्यक्रमाब्जश्रीमल्लवादिन ऊचुः—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुत्या घटः सन् पटस्सन्नित्याद्यनुगतप्रत्ययगोचरीभूतेन सत्त्वेन रूपेणैकस्यैव सर्वजगतो घटत्वपटत्वाद्युपाधिभेदेन यः काल्पनिकभेदो यद्वाऽखण्डसच्चिदानन्दात्मकस्यैकस्यैव ब्रह्मणो मायावच्छिन्नत्वान्तःकरणावच्छिन्नत्वोपाधिभेदेन यः काल्पनिकभेदस्तद्ग्राहिवेदान्तिमतप्रकृतिसङ्ग्रहनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनसूत्राभिप्रायमभ्युपगच्छन्तः प्रवचनोपनिषद्वेदिमहातर्कवादिभगवच्छ्रीसिद्धसेनदिवाकराः, न तु व्यक्त्या भेदं, केवलज्ञानव्यक्तेरेकत्वात्, किन्तु ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मोपाधिभेदेनैकस्यापि केवलज्ञानस्य भेदं कथयामासुः, तथा चाविच्छिन्नप्रावचिकपरम्पराऽऽयाततत्तन्नयगर्भसूत्रतात्पर्यं स्वाभ्युपगतार्थानुकूलत्वेन प्रतिसन्धाय प्रतिपन्नवतां त्रयाणामपि सूरिभगवतां मध्ये नैकोऽपि स्वाभ्युपगतेऽर्थे भगवत्प्रणीतशास्त्रतात्पर्यबाधं प्रतिसन्धायैव पक्षपातेन तमर्थं श्रद्धत्ते इति तत्र शास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानाभाववति "विदुषोऽपि स्वरसवाहिभगवत्प्रणीतशास्त्रबाधितार्थश्रद्धानमाभिनिवेशिकम्" इति लक्षणाऽसङ्गतेर्नैकस्मिन्नपि सूरिवरे आभिनिवेशिकमिथ्यात्वप्रसङ्गः, प्रतिपादितश्चोक्तमतत्रयेऽपि तत्तन्नयापेक्षाभेदप्रयोज्यं प्रामाण्यं न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायैर्ज्ञानबिन्दौ—

"प्राचां वाचां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकायां,
येऽरण्यानी भयमधिगता नव्यमार्गाऽनभिज्ञाः।
तेषामेषा समयवणिजां सम्मतिग्रन्थगाथा,
विश्वासाय स्वनयविपणिप्राज्यवाणिज्यवीथी ॥ १ ॥
भेदग्राहिव्यवहृतिनयं संश्रितो मल्लवादी,
पूज्याः प्रायः करणफलयोस्सीम्नि शुद्धर्जुसूत्रम्।
भेदोच्छेदोन्मुखमधिगतः सङ्ग्रहं सिद्धसेनः,
तस्मादेते न खलु विषमाः सूरिपक्षास्त्रयोऽमी(पि) ॥ २ ॥
चित्सामान्यं पुरुषपदभाक्केवलाख्ये विशेषे,
तद्रूपेण स्फुटमभिहितं साद्यनन्तं यदेव।
सूक्ष्मैरंशैः क्रमवदिदमप्युच्यमानं न दुष्टं,
तत्सूरीणामियमभिमता मुख्यगौणव्यवस्था ॥ ३ ॥

तमोपगमचिह्ननुः क्षणमिवानिवानोद्भवाः,
श्रुताः बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा ।
तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षद्वये,
प्रधानपदवी धियां क नु दवीयसी दृश्यते ॥ ४ ॥
प्रसह्य सदसत्त्वयोर्न हि विरोधनिर्णायकम्,
विशेषणविशेष्ययोरपि नियामकं यत्र न ।
गुणाऽगुणविभेदतो मतिरपेक्षया स्यात्पदात्,
किमत्र भजनोर्जिते स्वसमये न संदृश्यते ॥ ५ ॥
प्रमाणनयसङ्गता स्वसमयेऽप्यनेकान्तधी—
र्नयस्मयतटस्थतोल्लसदुपाधिकिर्मीरिता ।
कदाचन न बाध्यते सुगुरुसम्प्रदायक्रम,
समञ्जसपदं वदन्त्युरुधियो हि सद्दर्शनम् ॥ ६ ॥
रहस्यं जानन्ते किमपि न नयानां हतधियो,
विरोधं भाषन्ते विविधबुधपक्षे बत खलाः ।
अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(रो),
निरातङ्काः कुर्वन्त्यहह न गुणान्वेषणपराः ॥ ७ ॥" इति ।

भाष्यमिति—ये मध्यमार्गानभिज्ञाः प्राचां वाचां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकया अरण्यानीभयमभिगताः तेषां समयपथभिज्ञा विश्रामाय एषा सम्मतिमन्दमाया सुनयविरचि प्रापयाविम्बधीसीत्यन्वयः । संक्षेपतस्तदर्थस्त्वयम्—ये प्रमाणविशेषा मध्यमार्गानभिज्ञा यन्मार्गानुसरणतः केवलज्ञानकेवलदर्शनयौगपद्यक्रमाभिसैक्यरूपपक्षत्रयाणामपि पूर्वोक्तसूरिभिः प्रतिपादितानामविरोधभावप्राप्तिः सुखेनोपजायते तथाभूत मध्यमार्गमजानन्तः प्राचां वाचां प्राचीनयौगपद्याद्युपपन्नसूरित्रयवचसां विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकयाम् आपाततः परस्परविरोधभासकत्वपक्षत्रयप्रतिपादकविषयेष्वपि वस्तुतस्तेषु नैव विरोध इति प्रतिपत्तिकरणक्षममर्मसूक्ष्मविचारणाया मध्यमार्गानभिज्ञत्वादेव अरण्यानीभयमभिगताः अतिमहागहनभुजगकण्टककण्टकादिभयजनकसम्पोपगतानां तत्पारगमनमार्गमप्रपद्यतां यादृशम् भयाक्रोऽन्नवन्तःकारादिमयक भयं भवति तादृशं भयमभिगताः प्राप्ताः, तेषां समयपथविज्ञां विश्रामभगवत्पूर्वरत्नपरीक्षाभ्यासापरायमानां, विश्रामाय प्राचां वचनेषु महोत्सव-नाय स्वनया एव परस्परसापेक्षभावं गता अन्यान्यौदासीन्येनैवाऽन्यत्राविनस्त्वनया वर्धस्यदर्शिनया एव विपत्तिः, सुनयेति पाठे तु सुनया एव विपत्तिः क्वचिदक्रमस्थानं तत्र भावप सुखदं यद्वाणिज्य क्वचिदक्रमपक्षसर्व वचिभं कर्म तस्य वीथी—मार्गः, एषा सम्मति ग्रन्थगाथा यथास्थानं तदन्यतापिगतये मया दर्शितेति शेषः ॥ १ ॥

नयभेदावलम्बनेन केवले स्वस्त्राभ्युपगमविशेषमुपवर्णयतां त्रयाणामपि सूरिप्रवराणामनेकनयमयजैनसिद्धान्तानतिक्रमणमेवेत्युपदर्शयितुमाह–भेदग्राहीति। यद्यपि चिल्लक्षणसामान्यात्मना केवललक्षणसामान्यात्मना वा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमेव तथापि तयोर्भेदं ग्रहीतुं शीलं यस्य तं भेदग्राहिणं व्यवहृतिनयं संश्रितः–तमवलम्ब्य तयोर्यौगपद्याभ्युपगमे प्रवृत्तो मल्लवादी, एकस्मिन्नेव समये विभिन्नकार्यजनकसामग्र्योस्सन्निपाते युगपदेव कार्यद्वय भवितुमर्हति, सामग्रीक्रमाभावे विभिन्नस्वरूपकार्ययोः क्रमस्याभ्युपगन्तुमनर्हत्वाद्विभिन्नस्वभावयोस्तयोरैक्याभ्युपगमस्याप्यन्याय्यत्वादिति भेदग्राहिव्यवहृतिनयमाश्रितवतो महनीयमान्यमल्लवादिनो ज्ञानदर्शनयौगपद्याभ्युपगमनं न्याय्यमेवेति हृदयम्। यद्वा 'भेदग्राही' इति पाठे त्वेतत्पदं मल्लवादीत्यस्य विशेषणम्, तथा च भेदग्राही मल्लवादी व्यवहृतिनयं संश्रित इत्यन्वयः। पूज्याः श्रीमन्तो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः प्रायो बाहुल्येन, येषां मतिज्ञानाद्युपयोगानामन्तर्मुहूर्त्ताद्यवस्थानं सिद्धान्तनिर्णीतमित्थम्–पूर्वमत्याद्युपयोगः कश्चित्कालं स्वस्थितिमनुभूयैवान्ते उपयोगान्तरलक्षणकार्यं जनयति, नोत्पत्त्यनन्तरमेवेति तेषु मतिज्ञानाद्युपयोगेषु क्षणिका एव सर्वे भावा इति पूर्वपूर्वक्षणानामुत्तरोत्तरक्षणकुर्वद्रूपस्वरूपाणां स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षण एव स्वकार्यकारित्वमित्यभ्युपगमप्रवणशुद्धर्जुसूत्रसमाश्रयणाभावेऽपि केवलोपयोगस्थले पूर्वक्षणे ज्ञानोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव दर्शनोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव ज्ञानोपयोग इत्येवमुपयोगधाराया आगमसिद्धाया निर्वाहायात्र तदाश्रयणमित्यावेदयितुमुक्त प्राय इति, करणफलयोस्सीम्नि कार्यकारणभावव्यवस्थालक्षणमर्यादायां, शुद्धर्जुसूत्रं–वचनव्यत्यासेन संश्रिता इत्यस्यानुकर्षेण सम्बन्धः, ये केवलज्ञानदर्शनयोर्यौगपद्यमुररीकुर्वन्ति ये वा तयोरैक्यमभ्युपगच्छन्ति तेषामपि मते द्वितीयादिक्षणे उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वोपपत्तये केवलोपयोगस्य केनचिद्रूपेणोत्पादः केनचिद्रूपेण विनाशः केनचिद्रूपेण ध्रौव्यमभ्युपेयमेवेति, तत्र पूर्वपूर्वकेवलपर्यायस्योत्तरोत्तरकेवलपर्यायहेतुत्वाभ्युपगमत एव केवलोपयोगधारोपपत्तिरिति तत्र शुद्धर्जुसूत्रसमाश्रयणेन केवलदर्शनकुर्वद्रूपात्मकेन केवलज्ञानेन केवलज्ञानकुर्वद्रूपात्मकस्य केवलदर्शनस्योत्पत्तिस्तथाविधेन केवलदर्शनेन तथाविधस्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिरित्येवं केवलोपयोगधारा निराबाधैव, तदपेक्षयाऽपर्यवसितत्वमपि सुसङ्गतम्। यथा च घटविषयकविज्ञानपटविषयकविज्ञानमठविषयकविज्ञानाद्यविच्छिन्नप्रवाहस्य प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानत्वं प्रवृत्तिविज्ञानत्वेन घटपटादिविज्ञानानां साजात्यमुपादाय निर्वहति, अन्यथा घटविज्ञानत्वादिना घटपटादिविज्ञानानां प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना वा प्रत्यक्षानुमानादीनां च साजात्याभावात्प्रवृत्तिविज्ञानसन्ततिरपि जाग्रद्दशाभाविनी न स्यात्, तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन वा साजात्याभावेऽपि केवलोपयोगत्वेन साजात्यात्प्रथमं केवलज्ञानं ततः केवलदर्शनं ततः केवलज्ञानमित्येवं केवलोपयोगाविच्छिन्नप्रवाहलक्षणा केवलोपयोगसन्ततिरनाकुलमवतिष्ठत

इत्यभिप्रायवतां पूज्यानां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणानां मतमतिमनोहरमेवेति। सिद्धसेन:- केवलज्ञानमेव केवलदर्शनं, न तयोर्भेद इत्यभ्युपयन्ता सम्मतितर्कप्रणेता सिद्धसेनदिवाकर स्तु, भेदोच्छेदो मुख्य-केवलज्ञानदर्शनयोर्यो भेदस्तदुच्छेदपरं तयोरैक्यमेवेत्यभ्युपगमपरं सद्गुरुमधिगत:-उक्तसद्गुरुमवलम्ब्य केवलज्ञानदर्शनयोरैक्यं स्वीकृतवान्, केवलज्ञान दर्शनयोरैक्ये यदेव केवलज्ञानावरणं तदेव केवलदर्शनावरणमिति तत्क्षयलक्षणकारणघटित- सामग्र्या एकस्यास्सामग्रीभेदाभावाच्च यौगपद्यं तयो:; नापि च केवलदर्शनम्प्रति केवल ज्ञानस्य कारणत्वान्तरं गौरवावहं कल्पनीयमिति न तयो: क्रमोऽपि, किन्त्वेकस्यामेव सामग्रीतो जायमानस्य केवलोपयोगस्याक्षेपसामान्यविषयकत्वाद्दर्शनत्वमक्षेपविशेषविषय कत्वाज्ज्ञानत्वमित्युपाधिप्रयुक्तो भेद:, न तु वस्तुगत्येति युक्तम्। तथा च सर्वनयमये स्याद्वादे तत्तन्नयमेदावलम्बनेन तत्तन्नयस्वरूपप्रकाराश्रयोऽपि दुरय: स्याद्वादस्यैवैकसिद्ध एवेति तेषां यथा युक्त्युपपन्नत्वाच्च विषमा इत्युपसंहरति-तस्मादिति स्पष्टम्।

अत्र-'अपि' इत्यस्य स्थाने 'अमी' इत्यपि पाठ: ॥२॥ यथा चोपयोगलक्षणो जीव इति निरुपयोगस्स कदापि न भवतीति चित्सामान्यमुपयोगापराभिधानमभायनन्तमेव तद्रूपं यत्पुरुषपदेनोच्यते तस्यैव च केवलोपयोगो विशेषस्सादिरनन्तश्चेति केवलोपयोगा त्मना तदपि चित्सापर्यवसितमिति गीयते, तथा तदेव चित्सामान्यं सविशेषस्य केवलो पयोगस्य यौ विशेषौ ज्ञानदर्शनस्वभावौ साकारोपयोगनिराकारोपयोगौ तद्रूपतामपेक्षा पेक्षया क्रमिकमपि सम्भवति। तथा च केवलोपयोगस्यैव चित्सामान्यविशेषस्य मुख्यतया विवक्षितत्वे तदंशयोरवान्तरविशेषयोस्साकारानाकारोपयोगयोस्तद्रूपप्रविष्टत्वेन गौणतया विवक्षितत्वे सापर्यवसितत्वं, साकारानाकारोपयोगयोरेव मुख्यतया विवक्षितत्वे उपयोग सामान्यस्य च गौणतयाऽऽश्रयणे क्रमिकत्वमित्येव व्यवस्था सूरीणामभिमता यथावद्वे- त्याशयेनाह-चित्सामान्यमिति, केवलाख्ये विशेषे पुरुषपदभाक्-पुरि वपुषि शेत इति पुरुष आत्मा, पुरुषपदं भजते सेवते इति पुरुषपदभाक्, स्याद्वादसिद्धान्ते गुणगुणिनोः कथञ्चिदभेदादात्मवाचिपुरुषपदवाच्यं यदेव चित्सामान्यं तदेव तद्रूपेण-केवलरूपेण सादनन्तं स्फुटं यथा स्यात्तथाऽऽगमे अभिहितम्-गदितम्, इन-तदेवेदं चित्सामान्य स्वभेदयो: ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणयो: क्रमवदप्युच्यमान एवैरभिधीयमानं न दुष्टं दुष्ट भवति, अपेक्षाभेदेनानन्तत्वक्रमिकत्वयोरेकत्र सत्त्वे विरोधाभावात्, तत्-तस्मात्कारणात्, सूरीणामियं मुख्यगौणव्यवस्थाऽभिमतेत्यर्थ: ॥ ३ ॥

यदेवं नयभेदावलम्बनेन सूरिपक्षत्रयाभिमतमुख्यगौणव्यवस्था सामञ्जस्यमञ्चति तदा विरोधोऽपि नात्र करणीय:, आगमे यथाऽन्ये नयविचारप्रकारास्तथैवैतेऽपि सुसङ्गता एवेत्याह- तमोपगमेति। यद्यपि निरावरणमप्यसर्वदापश्यित्स्वरूपमाविर्भूतचैतन्यस्वरूप एवात्मा नियतरूपतस्यापि मतिज्ञानाद्यावरणकर्मलक्षणतमसोऽपगमे सति चित्तनु: चैतन्यस्य अन्य

भवति, क्षणभिदा प्रतिक्षणं चैतन्यमन्यदन्यदेव विशिष्टविशिष्टतरं भवति निदानोद्भवः स्वस्वनियतकारणतोऽस्योद्भव इत्याद्या नयविवादपक्षाः बहुतरा यथा श्रुते आगमे श्रुता अभिहिताः, अपेक्षाभेदेन तेषामुपपन्नत्वान्न तेषु कथमेतदघटमानं घटामटतीति विस्मयो भवति यथा, तथा सूरिपक्षत्रये क इव विस्मयो भवतु, न कोऽपि विस्मयः, पक्षत्रयस्यापि नयभेदावलम्बनेनोपपादितत्वात्, नु-वितर्के, क्व-सूरिपक्षत्रयमध्ये कस्मिन् पक्षे, धियां प्रधानपदवी दवीयसी दृश्यते, काक्वा न कुत्रापीत्यर्थः, सूरिपक्षत्रयमप्य- पेक्षाभेदेनोपपद्यत एवेति भावः ॥ ४ ॥

ननु विरोधे जाग्रति सति कथ पक्षत्रयमपि समीचीनतयाऽभ्युपगन्तुमर्हमित्यत आह- प्रसह्येति-यत्र स्वसमये जैनसिद्धान्ते, प्रसह्य हठादेव एकान्तत इति यावत्, सदस- त्त्वयोः सत्त्वासत्त्वयोः, एतच्च नित्यत्वानित्यत्वादीनामप्युपलक्षणम्, विरोधनिर्णायकं यत्र सत्त्वन्तत्र नासत्त्वमित्येवमेकाधिकरणावृत्तित्वलक्षणस्य विरोधस्य निर्णायकं निर्णय- जनकं, न-नैव किञ्चित्, सत्त्वासत्त्वनित्यत्वाऽनित्यत्वाद्योर्विरुद्धयोरप्यपेक्षाभेदेनाविरु- द्धत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन सत्त्वस्येव परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासत्त्वस्यापि द्रव्यापेक्षया नित्यत्वस्येव पर्यायापेक्षयाऽनित्यत्वस्यापि चैकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वे बाधक- प्रमाणाभावात्, कपिसंयोगतदभावयोरिव सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादीनामव्याप्यवृत्ति- त्वेन भिन्नावच्छेदेन स्वाभावसामानाधिकरण्याऽनुभवात् तथा विशेषणविशेष्ययोरपि नियामकं न-इदमस्य विशेषणमिदञ्चास्य विशेष्यमित्येवं प्रतिनियतविशेषणविशेष्य- भावस्यापि नियामक न किञ्चित्, यद्यस्य विशेषणं तत्तस्य विशेष्यमपि सम्भवति, यद्यस्य विशेष्यं तत्तस्य विशेषणमपि सम्भवतीत्यर्थः। गुणेति स्यात्पदात्स्यादस्तीत्यादिवाक्या- त्स्यात्पदबलादस्तित्वादेः प्रधानतया नास्तित्वादेर्गौणतया अपेक्षया स्वस्वनिमित्तभेदापे- क्षया मतिर्बोधो भवतीत्यतो भजनोर्जिते अपेक्षाभेदेन विरुद्धयोरप्यविरुद्धतया प्रतिपादके अत्र अस्मिन् स्वसमये जैनसिद्धान्ते किं न सङ्गच्छते-सर्वमेव सङ्गच्छते, स्याद्यौगपद्यं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यादैक्यं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यात्क्रमिकत्वं केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यादपर्यवसितत्व स्यात्पर्यवसितत्वञ्च तयोरित्येव स्यात्पदयोजनया जैनसिद्धान्ते सर्वमेव नयभेदावलम्बनेन चतुरस्रमिति भावः ॥ ५ ॥

न केवलमन्यविषयेष्वेव स्याद्वादः किन्तु स्याद्वादेऽपि स्याद्वादोऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तः स्याद्वादः स्यादेकान्तवादः स्यादनेकान्तवाद इति अनेकान्तः स्यादेकान्तः स्यादनेकान्त इति प्रमाणापेक्षया स्याद्वादत्वमनेकान्तत्व च नयापेक्षयैकान्तवादत्वमेकान्तत्वञ्च, सेयमनेकान्तधी- र्नयस्य प्राधान्यताटस्थ्याभ्या विवक्षागोचरतापन्नैकान्तत्वानेकान्तत्वाद्युपाधिसंवलितार्थाव- गाहिनी सती न गुरुसम्प्रदायक्रमबाधिका भवति, प्रत्युतेत्थमेव सद्दर्शनं धीधना आप्ता सर्वथो-

पपन्नतासर्द कथयन्तीत्याह–प्रमाणेति, स्वसमयेऽपि जैनसिद्धान्तेऽपि, स्याद्वादे अनेका
न्तत्वे च, अनेकान्तधीः कथञ्चिदेकत्वतादात्म्यकथञ्चित्स्याद्वादतोभयधर्मप्रकारिका कथञ्चि
देकान्तत्वकथञ्चिदनेकान्तत्वप्रकारिका या बुद्धिः, प्रमाणनयसाधुता प्रमाणनयावलम्बने
नानेकान्तत्वादिरूपविषयीभूतार्थे प्रवृत्ता नयस्य यः स्वपक्षोऽभिमानः प्राधान्यमिति यावत्,
या च नयस्य तटस्थता प्रमाणस्य माध्यस्थ्ये नयस्य गौणता, ताभ्यामुभाभ्यां वस्तुनि
प्रकारतयाऽवभासमाना ये उपाधयोऽनेकान्तत्वादिधर्मास्तैः किर्मीरिता चित्रिता तादृशानेक-
धर्मावगाहिनीति यावत्, एवम्भूता सती, सुगुरुसम्प्रदायक्रम गुरुपरम्पराभ्युपगतार्थ-
परिपाटीं कदाचन न बाधते, वस्तुतेर्वैविध्याऽनेकान्तधीस्तत्परिपोषिकैव भवति, हि–यतः,
उभयविधाः धीवैभवशालिनः, समञ्जसपदं समञ्जसस्थानं यथाभ्युपगमे सति सर्वं समञ्जसं
भवति सम्यगुपपद्यते तद् सद्दर्शनं वदन्ति, तदेव सद्दर्शनं यत्र सत्त्वासत्त्वादिकं सर्वमपि
वस्तुनि सङ्गतिमञ्चति, एवम्भूतम् स्याद्वाद एवेति स्याद्वाद एव सद्दर्शनमिति भावः ॥ १ ॥

ये च नयानां तत्त्वमजानन्तः इतरविधस्वपरिपक्षेषु विरोधमुद्भावयन्ति तानधिकृत्याह–
रहस्यमिति, यत आश्चर्यं, आश्चर्यं सखेदत्, ज्वलता दुर्जनाः, इतरधियो अल्पबुद्धयो,
नयानां सङ्ग्रहादितत्पदवाच्यानां रहस्यं तात्पर्यार्थं, किमपि न जानन्ते, अक्षरमात्रमपि नैव
अवगच्छन्ति, अत एव विविधमुपपत्ते तत्प्रमाणाधिगम्यस्वतत्त्वसम्प्रदायायातधर्मयापेक्षत्व
स्वाभिप्रायप्राधान्यपूर्वोक्ततत्त्वप्रापणे विरोधं भावयन्तः, अमी चन्द्रादित्यप्रकृति
विकृतिभ्यस्त्वयगिरः(रः) चन्द्रस्वभावं रवावुद्गिरन्ति रवित्वभावं चन्द्रे प्रकल्पयन्तीत्येवं
स्वभावास्स्वीयातिशयत्वस्वभावं प्रकटितवन्तः, अहह खेदे कुत्रापि कस्मिन्नपि विषये,
निरातङ्का न गुणान्वेषणपरा–निर्गला भयमपनीनिर्मुक्तास्सन्तो यथावत्प्रकाशिनो न
गुणान्वेषणपराः किन्तु परदूषणान्वेषणतत्परा एवामीति भावः । यद्वा अमी चन्द्रादित्य
प्रकृतिविकृतिभ्यस्त्वयगिरः ।

" सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् ।
क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥ १ ॥ "

इति वराहमिहिरवचनात् जलमये चन्द्रमसि सूर्यकिरणानां प्रवेशादेव तमोनाशकत्वं
चन्द्रमसो भवतीत्यवगमात् चन्द्रमसो विकृतित्वं प्रकृतित्वन्तु आदित्यस्येति सिद्धं भवति
तत्र चन्द्रमस एव प्रकृतित्वं सूर्यस्यैव विकृतित्वमित्याकारकं व्यत्ययं व्यत्यासं गिरन्तो
जना यथा स्वीयमज्ञत्वमेव प्रकटयन्ति एवं नयस्वपरिपक्षेषु विरोधप्रदर्शनेन स्वीयमनव
बोधमात्रं प्रकाशयन्तोऽमी जना अपि अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः ।
तदर्थस्तु पूर्ववत् । ' अमी चन्द्रादित्यप्रभृतिविकृतिभ्यस्त्वयगिर ' इति पाठे तु चन्द्रादित्य
प्रभृतीनां चन्द्रसूर्यादीनां परस्परविरुद्धस्वभावानां विकृतेः–विकारस्य शीतोष्णस्पर्शादेः व्य
त्यय व्यत्यासं–चन्द्र उष्णस्पर्शवान् सूर्यश्च शीतस्पर्शवानित्याकारकं विपरिवर्तनं ये गिरन्ति

तद्वत् सूरिवचनेषु त्रयेषु विरोधमुद्भावयन्तः स्वीयमज्ञानमेव प्रदर्शयन्तोऽमी अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः, तदर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ७ ॥ इत्यलं पल्लवितेन ।

भ्रान्तायां चिदि धर्मिणि प्रमितिरूपत्वं प्रकारांशके ।
भ्रान्तत्वञ्च यथा तयोर्न कणभुक्छास्त्रे विरोधस्तथा ॥
ज्ञाने स्वार्थविनिश्चयेऽपि करणापेक्षप्रमाणात्मता ।
कार्यापेक्षप्रमात्मता पृथगपेक्षातो विरोधोऽत्र नो ॥ १ ॥

पक्षाः केवलबोधदर्शनसमुत्पत्तौ विरुद्धा इवा-
भासन्ते नयसूत्रकुण्ठितधियां सूरित्रयोक्तास्त्रयः ।
तत्सूत्रं किल तन्नयानुगतमेतत्तन्नयापेक्षक-
मित्थं सूत्रनयानुयोगविदुषां तथ्यास्त इत्यादिभिः ॥ २ ॥

तत्त्वैस्सम्मतितर्कसत्प्रकरणे रत्नैर्द्वितीये भृते ।
काण्डे देवगुरूत्तमातुलकृपा–भारेण पूर्त्तिं गता ॥
श्रीमद्दर्शनसूरिणा विरचिता गाथार्थसम्बोधिनी ।
सेयं सद्विवृतिस्तनोतु विदुषां चित्ते मुदान्दोलनम् ॥ ३ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

अर्हद्धर्मधुरीणमन्त्रिविमलश्रीवस्तुपालादिभि-
र्दृब्धैरिन्द्रनरेन्द्रचित्तहरणैरभ्रंलिहैर्मन्दिरैः ॥
नानाचित्रविचित्रभावरसदे तीर्थेऽर्बुदाद्रौ वरे ।
काण्डः पूर्त्तिमितश्चतुर्खगगनक्ष्मब्दे शुचौ मास्ययम् ॥ ४ ॥

ज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपयोनिधे !ऽर्हन् !,
नानाप्रफुल्लकुसुमैर्विजयादिदेवैः ।
स्वर्गेऽर्चित ! स्तुत ! मनोहरसूक्तिभिस्त्वत्-
प्रौढप्रभावगुरुदर्शनप्राज्ञसूरिः । ॥ ५ ॥

त्वद्दर्शनाश्रयगुणो विजयप्रतिज्ञ–ज्ञानां जगत्सु तिलको विजयात्सभायाम् ।
उप्त्वा त्वहद्भुवि जिनेश्वरधर्मबीजं, सिक्त्वा जिनोक्तिसुधया शुभ-
भावपत्रम् ॥ ६ ॥

वृक्षं सुमेरुविजयं त्रिजगज्जयाद्या–नन्द–प्रियङ्कर–महोदय–शान्तिपुष्पम् ।
सम्पाद्य मोक्षसुफलं जनयत्यरं य–स्तत्राऽस्ति नाथ ! जिन ! ते
चरणानुभावः ॥ ७ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

सम्यग्दर्शनमाप्यमोक्षफलदस्यामन्दनन्यप्रभं,
हस्तस्थे स्वगुरोः प्रविश्य मधुप विज्ञानरेणोर्लिहे ।
याम्यन्नागमसूतमचारकरणाक्षापण्यमूर्ति सुधीः,
सूरिं नेमिगुरुं मतश्च विबुधैर्ने स्तौति ! कस्तुरसा ॥ ८ ॥

येऽसूयाश्रितमानसाः परगुणान् सम्प्रपश्यन्ति क्षणात् ।
ये वा द्वेषविशेषदूषितहृदो निन्दन्ति चास्मामिह ॥
तानुद्दिश्य न यत्न एष मम तु स्यात्तुल्यशीलो जनो ।
स्पर्धी कश्चिदनेन भूरतिपुषः कालस्य वा मावधिः ॥ ९ ॥

इति दुःषमाकालनिशादिवाकरकल्पश्वेताम्बरशासनधुरीणाचार्याभिधान-प्रवचनोपनिषद्वेदि-महातर्क-
वादिशिरोमणि-श्रीविक्रमादित्यादिमहाभूपतिप्रतिबोधक-श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रण
यनीतस्याखिलमतधर्मगहनस्य सम्यग्दर्शनविशुद्धिकल्पद्रुमस्यानुयोगचतुरस्तत्त्वरत्ना
करस्य सकलनयस्यादनयपरिशुद्धिविधायकमहातर्कमुकुटितस्य निखिलवादनाय
कानकान्तवादमोचकपदार्थसम्पादकश्रीविरुद्धकथाभिरसदसद्वादिदमनप्रमाणकरस्य
“ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य ” सार्वतन्त्रस्वतन्त्रशास्त्रविशारदात्मसुवर्ण
मायाऽभङ्गुरा-ऽखर्वगर्ववादिवृन्दाप्रधृष्य-माहापार्श्वयमनमस्कारकृद्वा
गीर्विलासदुग्धामृतानुपमसम्पादितरसलक्षप्रमोदमरमसुतमसुरूप
धवलकीर्तिभरधवलितभूतलस्य-न्यायव्याकरणसिद्धान्तादिपारा-
वारसमस्तशास्त्रनिष्णातसद्वक्तृत्वानन्दवसुरत्नसंदृब्धवृद्धसम्मति-
वृत्तिवृत्ति-न्यायखण्डखाद्यप्रमुखन्यायग्रन्थसन्दर्भ-म-
ण्यारमसम्यग्दर्शनादिविशुद्धिकरणस्यमहातीर्थसह-
मतिकरस्तम्भ--श्रीतपागच्छनभोनभोमणिसूरि--
सम्राट्--भट्टारकाचार्य--श्रीविजयनेमिसूरि-
चरणपङ्कजमधुकर-समवायन्यायवाच-
स्पति-शास्त्रविशारदविजयभट्टारका-
चार्य-श्रीविजयदर्शनसूरीश्वर
विरचितायां सम्मतितर्क
महार्णवावतारिकाख्य
टीकायां 'द्वितीय
काण्डं' समाप्ति-
मगात् ॥

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

॥ तृतीयकाण्डम् ॥

मंगलाचरणम्

सपर्या पर्याप्ता त्रिकरणसमापत्तिविहिता,
फलं फुल्लं कर्त्तुं निखिलदुरितं हर्त्तुमनिशम् ॥
प्रभोर्यस्य प्राप्ता अगणितजनास्सिद्धिममलाः,
यतश्श्रीवीरेशोऽतुलमधुमतीपूर्मुकुटकः ॥ १ ॥

अपूर्वो यो मेघो भविकहृदये वर्षति भृशम्,
वचोवारिस्वच्छं जनयति सुधर्माङ्कुरमरम् ॥
मया बाल्येऽनल्पप्रणयभरतः पूजित इति,
स मे हृत्क्ष्मां तत्त्वाऽनुभवरसरम्यां रचयतु ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

एवं परस्परानुस्यूतसामान्य-विशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शन-ज्ञानस्वरूपद्वयात्मक उपयोगः प्रमाणार्पणया प्रमाणमिति प्रतिपाद्येदानीं तद्विषयभूतौ सामान्यविशेषावप्यन्योन्याविनिर्भागस्वरूपाविति प्रतिपादयितुं तृतीयकाण्डं प्रारिप्सुस्सूरिराह-यद्वा दर्शनज्ञानयोः परस्परमविनिर्भागरूपतां प्रतिपाद्याधुना सामान्यं विशेषानुगतं विशेषाश्च सामान्यानुगता इति तयोरपि मिथोऽनुस्यूतस्वरूपता प्रतिपादयितुं तृतीयकाण्डं प्रारिप्सुस्सूरिराह—

सामण्णम्मि विसेसो, विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।
दव्वपरिणाममण्णं, दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥

'सामण्णम्मि' इदं सत् इदमपि सदित्याद्यनुगतप्रतीतिविषये सत्ताख्यसामान्ये आत्माऽनात्मपदार्थमात्रे अस्ति अस्तीत्यनुगतप्रतीतिविषयेऽस्तित्वसामान्ये वा 'विसेसो' विशेष इदं द्रव्यं नाद्रव्यं इयं पृथिवी न जलादिकमित्येवं व्यावृत्तबुद्धिगोचरो द्रव्यपृथिव्याद्यात्मको विशेषः तथा " विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो " 'विशेषपक्षे च वचनविनिवेशः' द्रव्यपृथिवीघटाद्यात्मके विशेषपदार्थे च 'द्रव्यं सत्, पृथिवी सती, घटः पटश्च सन्नित्याद्यनुगतवचनस्य यद्वा 'द्रव्यमस्ति पृथिव्यस्ति घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्याद्यनुगत

वचनस्य-नामनामवतोरभेदात् सत्तासामान्यस्य अस्तित्वसामान्यस्य वा, यद्वा तदन्यतरोक्त वचनप्रतिपाद्यस्य सत्तासामान्यस्य अस्तित्वसामान्यस्य वा तथा पृथिवीजलादादिदं द्रव्यमिदमपि द्रव्यमित्यनुगतवचनस्य नामनामवतोरभेदात् द्रव्यसामान्यस्य यद्वा तदन्यतरोक्त वचनप्रतिपाद्यस्य द्रव्यसामान्यस्य पृथिवीजलादिपूर्वापरपर्यायानुयायितया त्रिकालानुगतत्वेनोर्ध्वतासामान्यात्मकस्य विनिवेशः विनियोजनं प्रदर्शनमिति यावत् ' दव्वपरिणाममण्णं दाएइ ' द्रव्यपरिणाममन्यं दर्शयति, सत्तारूपसामान्यस्यास्तित्वसामान्यस्य वा द्रव्यपरिणामं द्रव्यात्मविशेषं तथा जैनसिद्धान्ते पुद्गलानामेकजातीयत्वात् पृथिवीजलादीनां पुद्गल द्रव्यपरिणामत्वेन पृथिवीजलादिपूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकपुद्गलद्रव्यस्य पृथिव्याद्याकारपरिणामं पृथिव्याद्यात्मविशेषमन्यं विशेषस्य सामान्यात्मकत्वात् सामान्यस्वरूप परित्यागे विशेषस्वस्वरूपमपि परित्यजेदित्यतस्सामान्यस्वरूपाऽपरित्यागेनैव इदं दर्शयति, सामान्यानुविद्धविशेष इव सामान्यमपि विशेषानुविद्धमेव, यतो विशेषाऽभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसक्तिस्स्यात्-यद् यदात्मकं तदभावे न भवति, यथा मृत्पिण्डस्थासकोशकुसूलाद्यात्मकं मृद्द्रव्यमिति तदभावे तदभावः, विशेषात्मकञ्च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्यभावस्स्यात् । एतावत्प्रबन्धेन सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेन सामान्यस्य विशेषात्मकत्वं प्रतिपाद्याधुना विशेषस्यापि सामान्यात्मकत्व मतिपादयितुमाह-' तयं च नियमेइ ' तकं च नियमयति । तमित्यर्थकमव्ययप्रसिद्धं तकं विशेषं नियमयति, द्वितीयपक्षे सामान्यं विशेषात्मकमिति विशेषोऽपि सामान्यात्मक एवेति नमयति, अन्यथा मृदभावे मृत्पिण्ड स्थासकोशकुसूलाद्यभावप्रसक्तसामान्याभावे विशेषस्याप्यभावप्रसङ्गस्स्यादिति भावः ॥ १ ॥

न च सामान्यविशेषौ मिथो निरपेक्षत्वादतिभिन्नबुद्धिग्राह्यत्वादेकान्ततो भिन्नावेवेति न सामान्यं विशेषात्मकं न वा विशेषास्सामान्यात्मका इति न तदुभयात्मकं वस्त्वित्यभ्युपगन्तव्यम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधप्रसङ्गात्, तथापि तथाभ्युपगमे यत्स्यात्तदाह—

एगंतणिव्विसेसं, एयंतविसेसियं च वयमाणो ।
दव्वस्स पज्जवे प-ज्जवाहि दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

" एगतणिव्विसेसं वयमाणो दव्वस्स पज्जवे नियत्तेइ " ' एकान्तनिर्विशेषं वदन् द्रव्यस्य पर्यायान् निवर्तयति ' एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात्सामान्यात्तदेकान्तनिर्विशेषम्, विशेषानात्मकं सामान्यं वदन् द्रव्यस्य मृद्द्रव्यस्य पर्यायान् मृत्पिण्डस्थासकोशादीन् गोरसादेव पयोदधिघृतादीन् एवं द्रव्यान्तरस्य स्वीयस्वीयपर्यायान् निवर्तयति, न च तद्विरहितं छिपुक्ता, यतस्तन्निरभ्युपगमे मृत्पिण्डस्थासकोशकुसूलादिपूर्वापरपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य दुग्धदधिघृतादिपूर्वापरपर्यायात्मकगोरसादिद्रव्यस्याप्यभावादिप्रमाणप्रतीयमानस्य निह्नवप्रसङ्गस्स्यात्, परिणामपरिणामिनोः परिणामपरिणामिभावेन कथञ्चिदभेदाद्यपरिणा-

मात्मकपर्यायाभावे परिणामिद्रव्याभावस्याप्यवश्यम्भावात्, द्रव्यत्वजातियोगात् समवायिकारणत्वाच्च द्रव्यमित्यस्य तु प्रागेव निरस्तत्वाच्च पुनस्तन्निरस्यते, अत एवात्मानमधिकृत्य "न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्, पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात्। उत्पत्तिनाशनियतस्थिरतानुवर्त्ति, द्रव्यं वदन्ति भवदुक्तिविदो न जात्या ॥ ६२ ॥" इति खण्डखाद्याऽपरनाममहावीरस्तवोक्तं सङ्गच्छते, "एयतविसेसियं च वयमाणो पज्जवाहि दवियं णियत्तेइ" एकान्तविशेषञ्च एकान्ततस्सामान्यरहितं विशेषं च वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्यं निवर्त्तयति, न च तन्निवृत्तिर्युक्ता, यैव मृत्पिण्डव्यक्तिः सैव स्थासस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव कुशूलादिस्वरूपा, य एव गोरसो दुग्धरूपः स एव दधिघृतादिस्वरूप इत्याद्याकारायास्तत्तत्पूर्वोत्तरपरिणामलक्षणविशेषानुगतोर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यप्रतीतेर्भावात्, द्रव्यस्याबाधितानुगतप्रतीतिसिद्धत्वेऽपि निवृत्त्यभ्युपगमे एकस्यैवात्मद्रव्यस्य बालयुववृद्धत्वादिदेवनरनारकादिपर्यायाः न तत्तन्यद्रव्यस्येति व्यावृत्तबुद्धिग्राह्याणामपि विशेषाणां निवृत्तिप्रसङ्गात्, सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनानुभूयमानयोर्मध्यादेकस्याभावे तदपरस्याप्यभावो न्यायप्राप्त एव, न च द्रव्यपर्यायावेकान्तभिन्नौ भिन्नबुद्धिग्राह्यत्वात् घटपटवदित्यनुमानेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तभेदसिद्धौ तयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वमेवाऽसिद्धमिति नोक्तं सङ्गतमिति वाच्यम्, य एवाहं पूर्वं देवत्वेनाभूवं स एवाहं मनुष्यत्वेनोत्पन्नः, य एवाहं पूर्वं बालस्स एवाहं युवास्मि, य एव देवदत्तो बालत्वेन दृष्टस्स एव युवत्वेन मया दृश्यत इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलेन द्रव्यपर्यायरूपेण कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपस्यैव सिद्धेः, अत एव तयोरेकान्ताऽभेदोऽपि प्रतिक्षिप्तः, पूर्वोक्तयुक्तेः, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो भिन्नं यथा घटनिवृत्तावपि पटस्याऽनिवृत्तिरिति स ततो भिन्नो दृश्यते, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिः, ध्रुवस्वभावत्वादिति तस्य द्रव्यस्य पर्यायतो भिन्नत्वाच्च, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपवत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृत्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, न च तद् युक्तम्, यतो द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपतयैवानुभूयमानत्वेन द्रव्यस्वरूपाऽनिवृत्तावपि पर्यायनिवृत्तिः पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्यानिवृत्तिरपि नानुपपन्ना, कथञ्चिद्भेदपक्षसमाश्रयणात्, तदेवं वस्तुमात्रं सामान्यविशेषोभयात्मकम् अबाध्यमानानुगतव्यावृत्तबुद्धिगोचरत्वाऽन्यथानुपपत्तेरभ्युपगन्तव्यमिति सिद्धम्। यदभिहितं स्याद्वादरत्नाकरे—तत्सामान्यविशेषाख्या—ऽनेकान्ताक्रान्तमूर्त्तिकम्। वस्तु प्रमेयमायातं, प्रमाणस्योपपत्तितः ॥ १ ॥ इति। नन्वेतत्तृतीयकाण्डं नारब्धव्यम् अनेकगाथासन्दोहैरनेकधा पूर्वप्रतिपादितविषयकत्वेन पुनरुक्तत्वदोषाघ्रातत्वात्, पिष्टपेषणवदस्य निष्फलत्वाच्चेति चेत्, एवमेतत्, किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतारः प्राग्विहितः, इह त्वविद्यमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वासम्भवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेण 'सामण्णम्मि विसेसो' इत्यादिवाक्यावतार

इत्यपेक्षाभेदमपोह्य एवैतत्काण्डारम्भ इति नोक्तदोषः । यद्वा नैयायिकवैशेषिकावेकस्मिन्नेव भ्रान्तज्ञाने धर्म्यंशप्रकारांशावच्छेदेन *प्रामाण्याऽप्रामाण्ये शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी न* तु मूले इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलावच्छेदेन कपिसंयोगतदभावौ नियम्येते यद्वा वह्निर्न तु शिखरे इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव पर्वते नितम्बशिखरावच्छेदेन वह्नितदभावौ चाभ्युपगच्छतः, निरीश्वरसेश्वरभेदेन द्विविधा अपि सांख्याः प्रकाशोपष्टम्भावरणादिविरुद्धकार्यकारित्वेन परस्परविरुद्धसत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मकमेकं प्रधानं स्वीकुरुतः, स्वप्रकाशवादिनो वेदान्तिनोऽनुमितौ पक्षांशे प्रत्यक्षत्वं साध्यांशे च परोक्षत्वं मन्यन्ते । बौद्धस्तु नीलपीतेत्याद्याकारज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वेन यद् ग्राहकाकारं चित्रज्ञानस्वरूपं तद्रूपेण तदेकं, नीलाकारस्य पीताकारस्य च भिन्नत्वेन तद्रूपेण चानेकम्, एवमेकस्यैव रूपस्य स्वाव्यवहितोत्तरक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वं स्वाव्यवहितोत्तरसदृशं प्रति च निमित्तकारणत्वमुररीकरोति, इत्येवमपेक्षाभेदेन तत्तत्स्वभावमनेकान्तमभ्युपगच्छन्तोऽपि तद्वादिनोऽनेकान्तत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धे विरोधादिदोषानुद्भावयन्ति तत्परिहारोऽनेकधा क्रियमाणो न दोषपोषायेति न कश्चिद्दोषः 'सामण्णम्मि विसेसो' इत्यादि सूत्रसन्दर्भविरचने ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेव देवदत्ते पित्रपेक्षया पुत्रत्वम् पुत्रापेक्षया पितृत्वम्, एकस्मिन्नेव बदरादौ अल्पापेक्षया महत्त्वम्, महदपेक्षया चाणुत्वम्, एकस्मिन्नेवाङ्गुल्यादौ वक्रापेक्षया ऋजुत्वम्, ऋज्वपेक्षया च वक्रत्वम्, द्रव्यापेक्षया सामान्यात्मकत्वम्, पर्यायापेक्षया च विशेषरूपत्वमित्येवमापेक्षिकवचनमाप्तस्य, इदमित्थमेवेत्येवं निर्धारितस्वरूपप्रतिपादकत्वैकान्तवचनमनाप्तस्येत्येतत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–यद्वा सामान्यविशेषात्मकानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकं वचनमाप्तस्य, इतरदितरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह—

पच्चुप्पन्नं भावं, विगयभविस्सेहिं जं समण्णेइ ।
एयं पडुच्चवयणं, दव्वंतरणिस्सियं जं च ॥ ३ ॥

'पच्चुप्पन्नं भावं' प्रत्युत्पन्नं भावं–निखिलजीवाजीवादिद्रव्यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरीभूतं वर्तमानपर्यायं 'विगयभविस्सेहिं' विगतभविष्यद्भ्यां अतीतानागतपर्यायाभ्यां 'जं समण्णेइ' यत्समन्वेति–कालत्रयानुगतोर्ध्वतासामान्यात्मकद्रव्यस्य भूतवर्तमानमपि व्यस्तपर्यायपरिणामितया तद्रूपेण समानरूपतया नयति प्रतिपादयति वचः 'एयं पडुच्चवयणं' एतत्प्रतीत्यवचनम्, आपेक्षिकवचनम्, सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यथाऽनाप्तवचनम्, ननु वर्तमानपर्यायस्यातीतपर्यायात्मकत्वे तद्वदस्यापि प्राक् सत्त्वप्रसङ्ग इति सत्कार्यवादसाम्राज्यापत्तिः, तथा चेदानीन्तनतत्कारणव्यापारवैयर्थ्यप्रसङ्गः, कार्यात् प्रागपि तस्य सत्त्वे तत्कार्यस्य चोपलम्भप्रसङ्गश्च, अथ पूर्वमनाविर्भावात् न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, न, अनाविर्भावस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, उपलम्भाभावरूपत्वे इत्यात्माश्रयात्, अप्रकाश

भावरूपत्वे च व्यञ्जकादयः किं पूर्वं सन्तोऽसन्तो वाऽभ्युपगम्यन्ते, आद्ये तत्सत्त्वोपलम्भप्रसङ्गेन तदभावाऽयोगः। द्वितीये च तदनुत्पत्तिप्रसङ्गः, असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १॥ इत्युक्तेः। किञ्चैवमुत्पत्तिपदार्थ एव विलीयेत, कार्यस्य प्रागपि सत्त्वेनाद्यक्षणसम्बन्धलक्षणायास्तस्या इदानीमयोगात्। अथ पूर्वं कार्यं शक्तिरूपेण सत् नाभिव्यक्त्याऽपीति नोक्तदोष इति चेत्, तर्ह्यनायासेनैवासत्पक्षसिद्धिः, पूर्वमभिव्यक्तिरूपेणाऽसतोऽपि कार्यस्योत्पादाभ्युपगमात्। एवं भविष्यत्पर्यायात्मकत्वे च वर्त्तमानपर्यायस्य तद्विनाशहेतुव्यापारवैफल्यम्, तेन तद्विनाशकार्याकरणात्, उत्तरकालावच्छेदेनापि घटादिकार्यसद्भावेन तदुपलब्धिजलाहरणादितत्कार्यप्रसङ्गश्च, ततो यद्यत्कालावच्छेदेन स्वीयकार्यकृत्तत्तत्कालावच्छेदेनैव सत्, वर्त्तमानपर्यायश्च स्वकालावच्छेदेनैव कार्यकृदित्यर्थक्रियाकारित्वात् तदानीमेव सत्, न पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन, तदानीमर्थक्रियाकारित्वाऽभावादिति चेत्, मैवम्, कथञ्चित्सदसत्कार्यवादे दोषाभावात्, द्रव्यरूपेण प्राक् सतः पर्यायस्य द्रव्यरूपेण प्रागप्युपलम्भात्, पर्यायरूपेणासतस्तस्याऽऽद्यक्षणसम्बन्धलक्षणोत्पत्तेः सुघटत्वाच्च, न चेदेवम् उपादानकारणत्वमेव दुर्घटं स्यात्, पूर्वं समवायस्य निरस्तत्वेन स्वसमवेतकार्यकारित्वलक्षणस्योपादानत्वस्याऽसिद्धेः कार्यप्रागभावाधिकरणत्वमुपादानत्वमित्यपि न, यतोऽसतः कार्यस्य पूर्वं स्वरूपाभावे स्वरूपात्मकप्रतियोगित्वस्याप्यभावेन कार्यनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावात्मकः कार्यप्रागभाव एव न सिद्ध्येत्, एवं तस्य स्वरूपात्मकविशेषणत्वसम्बन्धस्याभावे तेन सम्बन्धेन तदधिकरणत्वस्याप्ययोगादिति। अत्राह बौद्धः—यद्यत्कुर्वद्रूपात्मकं तत्तस्योपादानकारणमिति चेत्, तदपि न सङ्गतम्, एकान्तक्षणिकतत्त्वस्य पूर्वं निरस्तत्वेन तस्याऽप्यसिद्धेः, एवं वर्त्तमानपर्यायस्य भविष्यत्पर्यायात्मकत्वेन तद्वृत्तस्यापि स्वस्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्ग इत्यपि न युक्तम्, ऊर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यस्य पूर्वकालावच्छिन्नतत्तदवस्थावर्तित्वेनेवोत्तरकालावच्छिन्नतत्तदवस्थावर्त्तित्वेन कथञ्चित्तदभिन्नवर्त्तमानपर्यायसत्त्वमपि तदानीं द्रव्यरूपेणैवाऽभ्युपगमात्, न तु स्वस्वरूपेणेति न तदानीं भविष्यत्पर्यायस्वरूपेणोपलम्भप्रसङ्गः, पूर्वोत्तरतत्तदवस्थायां प्रतिभासमानेन द्रव्यरूपेण तदुपलम्भस्त्विष्ट एव, अत एव पर्यायरूपेण तद्विनाशहेतुव्यापारवैफल्यमपि न, तेन रूपेण तद्विनाशभावदर्शनात्, तदेवं कारणे नैकान्तेन सत्कार्यमुत्पद्यते, कारणवैफल्यप्रसङ्गात्, न चैकान्तेनासत्, घटादेरिव शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, असत्त्वाऽविशेषात्। किन्तु कथञ्चित्सदेवेति कारणस्य कथञ्चित्सज्जननस्वभाव एव युक्तः। नन्वेकान्ताऽसत्पक्षेऽपि शशशृङ्गाद्युत्पत्त्यापादनं न सम्यक्पदं धत्ते, यतस्तदनुत्पत्तिः कारणाभावादेव, न त्वसत्त्वादिति चेत्, सोऽपि कुतः ?। असत्त्वादिति चेत्, तदपि कुतः ? कारणाभावादिति चेत्, तर्ह्यन्योन्याश्रयः। ननु यदसत्तदुत्पद्यत एवेति नियमो नाभ्युपगम्यते, येनोक्तदोषस्स्यात्, किन्तु यद्धर्मा-

यच्छिन्नं प्रति यद्धर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वे तदितरसकलसहकारिसम-
वधाने च पूर्वमसतोऽपि कार्यतावच्छेदकतद्धर्मावच्छिन्नस्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमोऽस्मा
कम्, तथा च घटपृष्ठादिकं यदि कस्यचित्कारणस्य सन्निधानात्पूर्वमसदपि यथानुत्पद्य
मानमुपलभ्येत तदाऽन्यापत्त्या घटपृष्ठत्वावच्छिन्नस्यापि यत्किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नस्य कारण
त्वमभ्युपगतं भवेत्, तेन च तस्योत्पत्त्यापादनं युक्तिमदेव भवेत्, न चैवम्, तथा च
पूर्वमसत्त्वाऽविशेषेऽपि तन्तु कारणसमाजादुत्पद्यमानस्योपलम्भाद्घटपृष्ठादेश्च तदितरस्य
नुपलम्भादनुपलभ्यमानकार्यस्यानुपलभ्यमानतत्कारणस्य च कल्पनायाः प्रयोजनं विना
गौरवमात्रसम्पादकत्वादापादकाभावादेव न तदापत्तिरिति चेत् मैवम्, यतो यदि
कारणे असदेव कार्यमुत्पद्यते तर्हि किमिति तन्तुभ्य एव पटो न कपालादिभ्यः, विनिगम
काभावात्, एकस्मादपि कपालादेर्घटपटादिनिखिलकार्योत्पत्तिस्स्यात्, सत्कार्यपक्षे च यस्य
कार्यस्य यत्र कारणे सत्त्वं तस्य तत्कारणादेवोत्पत्तिः, नान्यस्मात्, उपादानकारणानां
कथञ्चित्सत्कार्यजननस्वभावस्यैकस्यैवाभ्युपगमेन लाघवम्, असत्कार्यपक्षे तु प्रतिनियतकार्यजन
कत्वस्वभावकल्पने कार्यकारणभेदेनानन्तस्वभावप्रसङ्गेनाऽतिगौरवमित्यत्र दीयतां दृष्टिः,
नन्वसदुत्पत्तिपक्षे घटपृष्ठाद्युत्पत्तिगौरवापादनं तदा शोभेत यदि निष्प्रामाणिका कल्पना
मात्रविषयोऽभ्युपगतो भवेत्, यावता प्रत्यक्षप्रमाणमेव प्रतिनियतकार्यकारणभावं निश्चिन्वत्
कार्यस्य कारणभेदं पूर्वकालाऽसत्त्वं च निमिनोतीति प्रमाणसिद्धोऽसत्कार्यवादो वैकल्पिकं सद्
सद्वादं मिथ्यात्वेनाऽवबोधयति, अत एवोक्तमन्यत्र, ' संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः श-
रणम्" इति चेत्, न, येन संविद्भगवती प्रमाणत्वेन भवतोपन्यस्ता सा स्वयमेवात्मनः कथ
ञ्चिद्भेदाभेदवादं कथञ्चित्सदसत्कार्यवादं चाऽन्तरेणानुपपन्ना कथं तमेव बाधेत, तथाहि संविद्
भवद्भिरव्याप्यवृत्तित्वेनाभ्युपगम्यते, सा चात्मत्वेन ज्ञानत्वेनात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्योन्यात्र
स्यूतत्वेनाऽयुतसिद्धत्वेन चाभेद इत्येवं कथञ्चिद्भेदाभेदमन्तरेणानुपपन्नेति। ननूक्तमेव गुण-
गुणिनोस्समवायलक्षणोऽतिरिक्तसम्बन्धस्तेन भिन्नमपि ज्ञानमात्मनि वर्तत इति तयोर्गुण
गुणिभाव इति तत्किं विस्मृतम्! इति चेत् को नाम नोक्तमिति वदति, न वा विस्मृतं तत्,
किन्तु योऽयं समवायाख्यः सम्बन्धो भवद्भिरभ्युपगतस्तत्र प्रमाणाभाव इति ध्रुवमनवधृतवक्तव्यं
कृतोपेक्षितः, प्रमाणागोचरत्वलक्षणप्रमाणबाधितत्वं तु तस्य पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते,
नन्वेवं सति सदुत्पादपक्ष एवास्तु प्रमाणार्हो न तु कथञ्चित्सदसत्पक्षः, अनुभवपथातीतत्वात्
इति चेत्, मैवम्, सत्पक्षे हि कार्यस्य कारणात्मकत्वेनैवमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्य
सङ्कीर्णव्यवहारविलयनप्रसङ्गात्, यतो न हि भवतोऽप्यतिरिक्तं तदत्र कार्यं कारणं चेति
व्यपदेष्टुं शक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। तथा चोपादानकारणे कथञ्चित्सज्जनन-
स्वभावस्यैव प्रमाणगोचरत्वेन तत्र प्रागपि द्रव्यरूपेण सत्कार्यं कार्यरूपेणानुत्पन्नत्वात्-
द्रूपेण चाऽसदिति कार्यकारणभावस्य कथञ्चित्सदसत्पक्ष एव घटमानत्वेनोपादानकारणस्य

पूर्वोत्तरपर्यायरूपेण परिणमनात्तद्रूपान्वयिद्रव्यस्य त्रिकालास्तित्वात्तद्द्वारेण वर्त्तमानपर्यायस्य त्रिकालाऽस्तित्वप्रतिपादकं प्रतीत्य वचनमिति सिद्धम्। 'दव्वंतरणिस्सियं जं च' द्रव्यान्तरनिस्सृतं यच्च तदपि प्रतीत्य वचनम्। यद्यप्युपादानकारणरूपाः परमाणव एव विभक्तत्वाणुत्वपरिणामबहुत्वसङ्ख्यादिरूपतया ये पूर्वमासन् त एव संयुक्तत्वमहत्त्वपरिणामैकत्वसङ्ख्यादिभावमापन्ना द्व्यणुकत्र्यणुकादिव्यपदेशं भजन्ते, अत एव नोक्तस्वरूपेण पूर्वकालावच्छिन्नसत्ताकपरमाणुभ्यस्सर्वथाऽतिरिक्तमवयविद्रव्यमस्ति, न चैवं तर्हि विभक्तानामिव संयुक्तानामप्यणूनां चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरत्वं न स्यादिति वाच्यम्, विभक्तदशायां चाक्षुषप्रत्यक्षाऽजननस्वभावत्ववत् तेषां संहतदशायां चाक्षुषप्रत्यक्षजननस्वभावत्वात्, विप्रकृष्टसन्निकृष्टेषु रेण्वादिषु चाक्षुषप्रत्यक्षाजननतज्जननस्वाभाव्यदर्शनात्, उक्तनानास्वभावत्वे च तद्विषयकचाक्षुषज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमभावाभावावेव कारणम्। तथापि नैयायिकवैशेषिकमतेन समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्योऽवयविद्रव्यमतिरिक्तमेवोत्पद्यते इति तदभिप्रायतस्समवायिकारणपरमाणुतः कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादि द्रव्यान्तरं तेन निस्सृतं सम्बद्धं कारणं परमाण्वादि, केन सम्बन्धेन सम्बद्धमिति चेत्, संयुक्ततया परिणतस्य परमाणुद्वयादेः संयोगात्मकपर्यायस्यैकत्वेन तदभिन्नत्वादभेदः परमाणुत्वद्व्यणुकत्वादिना च भेद इति कथञ्चिद्भेदविशिष्टाभेद एव कथञ्चिद्भेदाभेद इति तदात्मकस्वरूपसम्बन्धेन न तु सम्बन्धान्तरेण, समवायस्य निरस्तत्वात् एकान्तव्यतिरिक्तसंयोगादिसम्बन्धस्य चाघटमानत्वात्, इत्थं यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, तथाहि—यदाऽणवो विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायान् परित्यज्य संयोगैकत्वसङ्ख्यामहत्त्वादिपर्यायान् गृह्णन्ति तदा स्थूलकार्यस्वरूपमासादयन्तीत्यणूनामेव संयोगैकत्वसङ्ख्यामहत्त्वादिपर्यायैरुत्पत्तिः, विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायैर्द्व्यणुकादिपूर्वसूक्ष्मस्वरूपतया वा विनाशः, स्थूलकार्यनिष्पत्तावपि परमाणवो न मूलभूतद्रव्यस्वरूपं परमाण्वात्मकं परित्यजन्तीति तद्रूपेण ते नित्याः, परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे तु पूर्वोत्तरावस्थयोर्निराधारविगमप्रादुर्भावप्रसक्तिः, न च तदवस्थयोरेवाधारत्वम् तयोस्तदानीमसत्त्वात्। न च समवेतकार्यं समवायिकारणे उत्पद्यत इति तदेव तदाधार इति वाच्यम्, तद्घटकसमवायस्य पूर्वमेव निरस्तत्वेन तदसिद्धेः, नन्वेवं तर्हि घटकार्योत्पत्तिः कथमिति चेत्, मृदुपादानात्, तथाहि–पूर्वमृत्पिण्डपर्यायं परिहायोत्तरघटपर्यायमुपादत्ते मृद्द्रव्यम्। उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवे "सामान्यमेव तव देव! तदूर्ध्वताख्यं, द्रव्यं वदन्त्यनुगतं क्रमिकक्षणौघे" इति। एतेन कार्यैकार्थप्रत्यासत्त्या कपालद्वयसंयोगस्यासमवायिकारणत्वमित्यपि निरस्तम्, संयोगस्य पर्यायरूपत्वेनातिरिक्तसंयोगगुणस्यैवाभावात्। तदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे—

"एगत्तं च पुहुत्तं संखा संठाणमेव च।
संजोगो य विभागो य पज्जवाणं तु लक्खणं॥" इति।

तदेवं कपालद्वयसंयुक्तावस्थैव घटोत्पत्तिरिति मन्तव्यम्। घटनाशस्तु मुद्गरादिना घटस्य विभक्तावयवात्मककपालोत्पत्तिककपालद्वयात्मकः, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायात् उत्पत्तिपर्यायेभ्य एव नाशस्य धर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्, अतिरिक्तनाशस्याननुभूयमानत्वाच्च। तथा च व्यवस्थितमेतत् मृद्द्रव्यमेव कपालद्वयसंयुक्तावस्थारूपेणोत्पन्नं घटरूपपर्यायरूपतया विनष्टं मृद्द्रव्यरूपतया ध्रुवमिति त्रिलक्षणत्वादस्तित्वेन सद्रूपम्, यदभिहितं स्याद्वादरत्नाकरे— "तेनोत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं यदिति भारती। ददाति त्रिलोकाय, सर्वं जयति भारती ॥ १ ॥" इति। अत एव कारणं कार्यतः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नमिति कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्वरूपसम्बन्धेन कार्यद्रव्येण सह सम्बद्धमिति तथाभूतवस्तुप्रतिपादकमेवात्र वचनम्, एकान्ततत्प्रतिपादकं त्वनाप्तवचनमिति। अथवा एकद्रव्यादन्यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरं तस्मिन् निरस्तं सम्बद्धं यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, यथा दीर्घतरं मध्यमाङ्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य ह्रस्वतरमङ्गुष्ठद्रव्यमिति यथा, ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिकस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तरविशेषाऽभिव्यङ्ग्यः पितेव पुत्रादिना। अयम्भावः—अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि महत्त्वं ह्रस्वत्वं गुरुत्वं लघुत्वमित्यादयो द्रव्यान्तरविशेषाभिव्यङ्ग्या ये धर्मास्ते तद्रूपा एवेति तत्र तेषामविरोधप्रतिपत्तये यानि निमित्तानि तानि तत्तत्प्रयोज्यानीति इदं वस्त्वेतदपेक्षया महत् ह्रस्वं चेति बोधे तत्तन्निमित्तोपस्थापकतया तत्तन्निमित्तोपष्टम्भनपरा नया अपेक्षिता भवन्ति, तत्र महत्त्वह्रस्वत्वादीनामेकत्र सत्त्वाविरोधाय यान्यपेक्षणीयानि तत्तत्प्रयोज्यत्वादिरूपतन्निमित्तानि तदपेक्षं यद्वचस्तदपि प्रतीत्यवचनमापेक्षिकवचनम्, यथेदं वस्त्वेतदपेक्षया महत्, एतदपेक्षया च ह्रस्वं एतदपेक्षया गुरु एतदपेक्षया च लघ्विति यथा ॥ ३ ॥

ननु वर्तमानपर्यायस्य वर्तमानकालावच्छेदेनेवातीतानागतकालावच्छेदेनापि सत्त्वदाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन वर्तमानपर्यायाभ्युपगमे वर्तमानकालवदतीतानागतकालयोरपि वर्तमानकालतापत्त्या तेषामैक्यं स्यात्, अन्ययोक्तसम्बन्धेन वर्तमानपर्यायाभ्युपगमे तयोर्न स्यादिति वर्तमानपर्यायस्य त्रिकालावच्छिन्नसत्त्वमेवानुपपन्नं स्यादिति तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्यवचनमेवेत्याशङ्क्याह—

> दव्वं जहा परिणयं, तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि।
> विगयभविस्सेहिं उ पज्जएहिं भयणा विभयणा वा ॥ ४ ॥

'दव्वं जहा परिणयं' द्रव्यं धर्मास्तिकायाख्यं तत्तज्जीवगमनभावोन्मेषनिमेषोपक्रमयोगप्रयोगादितत्तत्पुद्गलगमनागमनादिकमात्रोपष्टम्भकरूपतया परसंयोगजपर्यायेण, अधर्मास्तिकायाख्यं च तत्तज्जीवस्थितिक्रियोत्सर्गप्रयोगादितत्तत्पुद्गलस्थित्यादिस्थिरभावोपष्टम्भकतया परसंयोगजपर्यायेण, आकाशास्तिकायाख्यं च तत्तज्जीवतत्पुद्गलावगाहनक्रियोत्पत्तिनिमित्तभावतया परसंयोगजपर्यायेण पुद्गलास्तिकायाख्यं परमाण्वादिकं यद्गुणहानिवृद्धिभावापन्नतत्तद्वर्णगन्धरसस्पर्शादिभावापर्यतया लघुकम्प

णुकादियावद्घटपटादिकार्यतया च, जीवास्तिकायाख्यश्च मनुष्यनरकादितत्तद्गत्यादिपर्यायतया तत्तदर्थग्राहिज्ञानदर्शनादिपर्यायतया च विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमाऽध्यवसायादिपर्यायतया च, कालाख्यश्च तत्तत्पुद्गलनवपुराणादिभावहेतुतया हेमन्ताद्यृतुविभागेन च समयविभागेन च परिणतं यत्तत् " तहेव अत्थित्ति तम्मि समयम्मि " तथैव तस्मिन् समये वर्त्तमानकालेऽस्तीति । उक्तञ्च भगवत्यां त्रयोदशशतके चतुर्थोद्देशके " धम्मत्थिकाए णं भते ! जीवाणं किं पवत्तति ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए णं जीवाणं आगमणगमणभासोम्मेसमणजोगा वयजोगा कायजोगा जेयावण्णे तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति गतिलक्खणे णं धम्मत्थिकाए । अहम्मत्थिकाए ण जीवाणं किं पवत्तति ? गोयमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठाणनिसीयणतुयट्ठणमणस्स य एगत्तिभावकरणया जेयावण्णे तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तंति " इत्यादि । " विगय–भविस्सेहि उ पज्जएहिं भयणा " विगतभविष्यद्भिस्तु पर्यायैर्भजना–कथञ्चित्तैस्तस्यैकत्वम्, ' विभयणा वा ' विगतभजना विभजना कथञ्चिन्नैकत्वम् ' वा ' शब्दस्य कथञ्चिदर्थत्वात् । यतो यदेव द्रव्यमतीतपर्यायतया परिणतं तदेव वर्त्तमानपर्यायतया परिणमति भविष्यत्पर्यायतया परिणंस्यतीति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियममनुसृत्य वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्नान्वयिद्रव्याभिन्नातीतानागतपर्यायाणां वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्नत्वमिति द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामन्वयिद्रव्यद्वारा वर्त्तमानपर्यायस्यातीतानागतपर्यायैरेकत्वम्, पर्यायार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामतीतानागतपर्यायाणा विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनासद्रूपैस्तैर्वर्तमानपर्यायस्यार्थक्रियाकारित्वेन सद्रूपस्य भिन्नत्वम्, ततो वर्त्तमानपर्यायस्यातीतानागतपर्यायाभ्यां स्वस्वाभाधारणधर्मरूपेण भेदवदन्वयिद्रव्यरूपेणाऽभेदोऽपीत्यन्वयिद्रव्यवत्तदभिन्नस्य वर्त्तमानपर्यायस्यापि तद्रूपेण त्रिकालावच्छिन्नसत्त्वं नानुपपन्नमिति कथं तत्प्रतिपादकवचनस्याप्रतीत्यवचनतेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

नन्वात्मघटादिचेतनाचेतनपदार्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्वं कैश्च नास्तित्वमिति चेत्, उच्यते, सदृशासदृशपर्यायाभ्यामेकान्तभदभद्विलक्षणस्य जात्यन्तरात्मकस्यैवानुभूयमानत्वेन सदृशपर्यायैरस्तित्वं विसदृशपर्यायैश्च नास्तित्वमित्युपपादनायाह—

परपज्जवेहिं असरि–सगमेहिं णियमेण णिच्चमवि नत्थि ।
सरिसेहिं पि वंजणओ, अत्थि ण पुणत्थपज्जाए ॥ ५ ॥

' परपज्जवेहिं ' परपर्यायैः वर्त्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूत–भविष्यत्पर्यायाः परपर्यायाः, तैः,कथम्भूतैस्तैरित्याह–'असरिसगमेहिं' असदृशगमैः, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इत्युक्तेर्विजातीयज्ञानग्राह्यैः, अत्र " विसरिसगमेहिं " इत्यपि पाठः, विसदृशगमैः विजातीयज्ञानग्राह्यैः

विसदृशपर्यायैरिति यावत् "चियमेव णियमति मत्थि" नियमेन नित्यमपि नास्ति चेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यम्, तेऽपि तस्य सत्त्व सदैव स्यातामिति भूतभविष्यत्पर्यायात्मकत्व पर्यायाणां वर्तमानकाल सत्त्वं स्यात्, यथा मरणकीर्तनागमवर्तमानावस्थाश्रयसङ्गीणिता प्रसङ्गस्स्यात् "मरिसहिं पि पंश्रमणो भरिय" मदूदेरपि व्यञ्जनतोऽस्ति, येऽपि शब्द पर्यायास्तेऽपि मनुष्यपृथिव्यादिशब्दप्रतिपाद्या व्यञ्जनपर्यायाः कालत्रयानुगताः सामान्य विशेषात्मकास्तेऽत्र ग्राह्याः, तेषां शब्दवाच्यत्वात्, न तु ऋजुसूत्राभिमता अर्थपर्यायाः, तेषामन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणमात्रग्राहकऋजुसूत्राभिमतानां स्वलक्षणात्मकत्वेन प्रतिक्षणभिन्नरूपाणां शब्दाऽवाच्यत्वात्, अत एव "अभिलाप्यानभिलाप्यं, प्रमाणपर्यङ्कमासि निगमिदम्। तस्माद्रव्यार्थं, न स्वेच्छन्तव्यमनङ्गरूपम् ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्वस्तुमात्रमभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्व धर्मद्वयमात्मकं, अन्यथा तदुभयधर्मरूपेणानेकान्तात्मकत्वेन तन्न स्यात् न च शब्दवाच्यत्वाद् घटादेरभिलाप्यत्वधर्मकं तदेव शब्दावाच्यत्वादनभिलाप्यत्वधर्मकमिति कथं सङ्गतम्, घटत्वपटत्वयोरिवैतद्धर्मयोर्विरुद्धत्वेनैकत्र समावेशाऽसम्भवादिति वाच्यम् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरिव तयोर्भिन्नापेक्षत्वेन विरोधाऽभावात्, न च भिन्नापेक्षत्वं तयोरसिद्धमिति वाच्यम्, कालत्रय स्थायिस्थूलव्यञ्जनपर्यायैरभिलापयोग्यपर्यायापेक्षयाऽभिधानविषयत्वेन वस्तुन्यभिलाप्यत्वस्य प्रतिक्षणविभिन्नसूक्ष्मार्थपर्यायरूपानभिलापयोग्यपर्यायाऽपेक्षयाऽभिधानविषयत्वेनानभिलाप्यत्वस्य माथा दिसुखलक्षणैः सदृशव्यञ्जनपर्यायैस्त्वभ्यसागुणतेऽर्थमस्ति, तद्रूप्यं कालत्रये वर्तते, न सार्थपर्यायैरित्याह-'न पुनरर्थपर्याये' न पुनर्नैवार्थपर्यायैस्तदस्ति। अथान्यथा- सामान्यविशेषात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्दवाच्यम्, न तु सामान्यमात्रम्, यतोऽग्निगोघटादिशब्दप्रतिपाद्यसामान्यमात्रस्याग्नित्वगोत्वघटत्वादिरूपस्य दहनदोहना ऽऽद्युदकाहरणाद्यर्थक्रियाजनकत्वाभावेन सामान्यमात्रवाचकात् शब्दादर्थक्रियाकारित्वादर्थिनो रथवाहाद्यर्थिनां तत्र व्यक्तस्य प्रतिमात्र तदानयनरूपा प्रवृत्तिर्नोपपद्येत न च भिन्नस्य सामान्यस्यान्यथा सामान्यप्रतिपादनद्वारा स्वलक्षणमात्रस्यापरसत्त्व वरूपलक्षणाद नुमानतो नार्थक्रियासमर्थस्य विशेषस्य प्रतिपत्तावनुमानगमनाप्रवृत्तिः, तत्रापीदं तु सामान्यस्याऽऽनयनकर्मत्वादो प्रकारतादीनिमते, संसर्गतादिमते स्वाश्रयनाशे कर्मत्वादि सम्बन्धेन अतरन्वयाऽऽनुपपत्तिरेवेति वाच्यम्, शब्दसामान्यस्य प्रतिपादः यथासम्भवस्या- त्मकनिश्चयस्यैव क्रमप्रतीतेरननुभूयमानत्वात्, सत्त्वे तर्हि व्यवहारमात्रविशेषा एव शब्द वाच्यास्सन्त्विति चेत्, तदपि न मनोरमम् तेषामानन्त्येन सङ्केताऽसम्भवात्। न च परमकृपालिव्यक्तिरनेकैवेति तत्र शक्तिकल्पनायां यथा सकलगोव्यक्तिमानार्थं सा ज्ञोऽप्यक्तिषु शक्तिकल्पनापक्षे गौरवज्ञानं बाधकं विनिगमका तत्तेकव्यक्तिशक्तिरवे तथेति वाच्यम्, यत एकस्यामेव व्यक्तौ शक्तमभ्युपगमे व्यक्त्यन्तरमानार्थं तत्र लक्षणायां स्वीकृतायां स्वसमवेतानयत्वं संसर्गः कल्पनीय इति गौरवज्ञानं बाधकं तदवस्थमेव।

अथानुगतजात्यवच्छिन्नयावद्व्यक्तिष्वनुगतजात्यवच्छिन्नैकैव शक्तिः, अनुगतैककारण-तावच्छेदकधर्मावच्छिन्नकारणतावदिति जातिविशिष्टव्यक्तिशक्तिपक्षे गोत्वरूपेण सकल-गोव्यक्तिभानमुपपद्यत एवेति चेत्, अस्त्वेवम्, न च तथापि जातिव्यक्त्योरेकान्ततो भेद एव, तत्र सम्बन्धस्यायोगाद्, विशिष्टबुद्ध्यनुपपत्तेः। न चैकान्तभिन्नयोरपि तयोस्समवायसम्बन्धोऽस्तीति तद्बलात्सा भविष्यतीति वाच्यम्, प्रागेव तस्य निरासात्, तत्र स्याद्वादस्य सम्बन्धत्वव्यापकत्वेन कथञ्चिद्भेदाभेदसंसर्गस्यैव विशिष्टबुद्धिनियामक-त्वेनाभ्युपगन्तव्यतया गोत्वादेः कथञ्चिद्गवादिव्यक्तिस्वरूपस्यापि जातिरूपत्वादेव निर-वच्छिन्नप्रकारतया तद्व्यक्तिस्वरूपस्य तद्व्यक्तित्वस्येव भानोपपत्तेः किमतिरिक्तजाति-कल्पनया। किञ्च धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीतिन्यायेन कल्प्यमानजातौ सामा न्यत्वकल्पनापेक्षया सिद्धगवादिपिण्डेष्वेव गोसामान्यत्वकल्पनायां लाघवमिति तद्रूपेणा-नुगतस्य गोपदार्थस्य सङ्केतग्रहे तज्जन्यशाब्दबोधे च प्रकारतया भानोपपत्तेः सामान्यत्वेन रूपेणापूर्वव्यक्तिष्वपि सङ्केतविषयत्वमुपपद्यत एवेति सामान्यविशेषोभयात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति शब्दप्रतिपाद्यैस्सदृशैर्व्यञ्जनपर्यायैरेव सर्वमस्ति न त्वर्थपर्यायैरित्युपपन्नम् ॥ ५ ॥

नन्वेवमपि भावस्य प्रत्युत्पन्नपर्यायेण नियमेनाऽस्तित्वमेवेत्यभ्युपगमेऽप्येकान्तवादा-पत्तिरित्याशङ्क्याह–यद्वैकान्तवादापत्तिभिया न च वर्त्तमानपर्यायेणापि भावस्य नियमेन सत्त्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु सत्त्वासत्त्वोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

पच्चुप्पण्णम्मि वि प–ज्जयंमि भयणागइं पडइ दव्वं ॥
जं एगगुणाईया, अणंतकप्पा गमविसेसा ॥ ६ ॥

'पच्चुप्पण्णम्मि वि' प्रत्युत्पन्नेऽपि–वर्त्तमानेऽपि 'पज्जयम्मि' पर्याये, "भयणागइं पडइ दवं" भजनागतिं स्वपररूपतया सदसदात्मिकां अधो–मध्योर्ध्वादिरूपेण च भेदा-ऽभेदात्मिका विकल्पपद्धतिं पतति–आसादयति द्रव्यम्, तत्र हेतुमाह–" जं एगगुणाईआ अणतकप्पा गमविसेसा" इति, अत्र गुणविसेसा इत्यपि पाठो नयोपदेशवृत्तौ, एवमेव पाठ-मनुसृत्य पूज्यैरभयदेवसूरिभिरप्यर्थः कृत इति मयाऽपि तथैवार्थः क्रियते, यद्–यस्माद्धेतोः एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तप्रकारास्तत्र गुणविशेषाः, कल्पशब्दः प्रकारवाची, तेषां च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तत्, तथाहि कृष्णं द्रव्यं तद् कृष्णद्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकं न्यूनं वा भवेत् प्रकारान्तराऽभावात्, आद्यपक्षे निर्भेदकतयाऽभिमतधर्मेणापि तुल्यत्वे विरुद्धधर्माध्यासाभावाद्भेदाभावेनैक्यं तयोस्स्यात्, तथा चैतत्कृष्णद्रव्यं एतत्कृष्णद्रव्या-पेक्षया कृष्णतरपर्याय एतत्कृष्णद्रव्यापेक्षया च कृष्णतमपर्यायमिति कृष्णवर्णपर्यायतर-तमादिप्रतीतिबाधस्स्यात्, एवं नीलपीतादावपि ज्ञेयम्, उत्तरपक्षयोः कृष्णे तत्तदन्तर-

सजातीयद्रव्याणां नीलादौ च तदन्यान्यजातीयनीलादीनामनेकविधानां स्वरूपतो यथावस्थितानां सम्बन्धान्तरव्यपेक्षयोत्कर्षापकर्षप्रयोज्यसदृशभेदासदृशभेदानन्तभागगुणवृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानकपतितविचित्रपर्यायभाविनी, तथा च प्रतिनियतहानिवृद्धियुक्तपरमाणुत्वव्द्व्यणुकादिपर्यायेण सर्वं चान्येषु तत्रापि यज्ञनामनि पतति द्रव्यमिति सिद्धम् ॥ स्यादेतत् पुद्गलद्रव्यं पुद्गलद्रव्यान्तरेण सह रूपरसादिना सजातीयबुद्धिग्राह्यत्वेनाऽभिन्नम्, स स्पर्शादिचारधर्मेण विजातीयबुद्धिग्राह्यत्वेन च भिन्नम्, घटपटादिवदिति तथानेकान्तात्मकत्वा युक्ता, मनुष्यमपि चात्मद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता युक्तेति चेत्, उच्यते, आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्तत्प्रमाणार्थग्राहकत्वपरिणतिस्तत्र वर्तते, न तु तद्विपरीतेति ताभ्यां तत्र सत्त्वासत्त्वोभयसद्भावादनेकान्तरूपता पुद्गलवदविरुद्धा, अत एव ज्ञानत्वेनाऽभिन्नमपि ज्ञेयपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणं ज्ञानं भिन्नमेवोत्पद्यत इत्यभेदापेक्षया ध्रौव्यम्, भेदापेक्षयोत्पादव्ययाविति यथास्वसिद्धान्तं केवलज्ञानपर्यायेऽपि त्रैलक्षण्यं व्यवतिष्ठते, किञ्च स्याप्यात्मनो द्रव्यात्म-कषायात्म-योगात्म-उपयोगात्म-ज्ञानात्म-दर्शनात्म-चारित्रात्म-वीर्यात्मभेदतोऽनेकविधत्वप्रतिपादनेन पुद्गलवदनेकान्तात्मकत्वं सिद्धान्तसिद्धमेव, यदुक्तं पञ्चमाङ्गे द्वादशशतके दशमोद्देशके "कइविहा णं भंते ! आया पण्णत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पण्णत्ता, तं जहा-दवियाया-कसायाया-जोगाया-उवओगाया-णाणाया-दंसणाया-चरित्ताया-वीरियाया" इत्यादिसूत्रे, एतद्विस्तरार्थस्तट्टीकातोऽवसेयः। यथा चाह वाचकमुख्यः प्रशमरतौ।

> द्रव्यं कषाययोगावुपयोगो ज्ञानदर्शने चैव।
> चारित्रं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥ १९९ ॥
> जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा।
> योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥
> ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम्।
> चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥
> द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण।
> आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥
> एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः।
> जीवस्यैतत्सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥ इति ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणात्मनोऽनेकान्तरूपतामुपपादयितुमाह—

> कोहं उप्पायन्तो, पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।
> तत्तो विभयणिज्जो (वि य भइयव्वो) परम्मि सयमेव भइयव्वो ॥ ७ ॥

'कोवं' कोपपरिणामं 'उप्पायन्तो' स्वस्मिन् स्वयमुत्पादयन् उपनयन् वा 'पुरिसो' पुरुषः 'जीवस्स कारओ होइ' जीवस्य परभवप्रादुर्भावपरिणतिविशिष्टस्य कारको निर्वर्त्तको भवति, कोपपरिणतेः कर्मबन्धहेतुत्वेन तन्निमित्तकर्मण उपादानात्, तेन कथञ्चिद्भेदाभेदोभयं व्यवस्थापयितुमुत्तरार्द्धमाह—'तत्तो विभएयव्वो' कोपपरिणतिपरिणतश्च पुरुषः ततः परभवोत्पद्यमानजीवाद् विभजनीयः, 'तत्तो वि य भइयव्वो' इत्यप्यत्र पाठः, ततोऽपि च भजनीयः, कथञ्चिद्भिन्नो व्यवस्थापनीयः, पूर्वस्य कारणत्वेनोत्तरस्य च कार्यत्वेन कार्यकारणरूपयोस्तयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथञ्चिद्भेदात्। एकान्ताऽभेदे कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेदे सत्येव तद्भावात्। अथ वीतरागस्य जन्म न भवति किन्तु सरागस्यैव, संवदति चात्र "वीतरागजन्मादर्शनात्। ३। १। २५ इतिन्यायसूत्रम्, जातमात्रस्य रागश्च पूर्वानुभवं विना नेति। स्तन्यपानमिष्टसाधनमित्यादिस्मरणतः पूर्वभवीयानुभवैतद्भवीयतत्स्मरणकर्तुर्जीवस्यैकतयैव सिद्धेः कथं भवभेदेन तद्भेद इति चेत्, मैवम्, भवरूपविशेषणभेदेन कथञ्चित्तद्विशिष्टभेदस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्। अथ विशेषणभेदादेव विशिष्टयोर्भेदो न तु मुख्यवृत्त्येति चेत्, न, विशेषणविशेष्यभावस्य हि कथञ्चिद्भेदाभेदवाद एव घटमानत्वेन विशेषणभेदे तदभिन्नतद्वतोरपि कथञ्चिद् भेदो मुख्यवृत्त्यैवाश्रयितव्यः, न हि निमित्तभेदाश्रयणे मुख्यवृत्तिर्हीयते, येन विशेषणभेदाद्विशिष्टभेदाभ्युपगमे सा न स्यात्, अन्यथा घटपटादीनामपि मुख्यवृत्त्या भेदो न स्यात्, सत्त्वद्रव्यत्वादिनाऽभेदभाजां तेषामपि स्वस्वासाधारणधर्मरूपनिमित्तभेदेनैव भेदात्, तस्माद्भवभेदेनापि मुख्यवृत्त्यैव तद्विशिष्टभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। किञ्च कारणं कार्याकारेण पूर्वस्वरूपं परिहायैव परिणमति, अन्यथा कार्यकारणावस्थाद्वयसङ्कीर्णताप्रसङ्गस्स्यादिति कारणीभूतकोपपरिणत्यात्मकपूर्वस्वभावो निरुद्धः, कार्यात्मकोत्तरभवोत्पत्तिपरिणतिलक्षणस्वभावान्तरञ्चोत्पन्नमित्येकस्यापि जीवस्य स्वभावभेदेन कथञ्चिद्भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। नन्वेवं तर्हि परभवजीवात् कोपपरिणतिमापद्यमानः पुरुषो भिन्न एवास्त्वित्या शङ्कानिरासार्थमाह–'परमि सयमेव भइयव्वो' परस्मिन्, भव इति शेषः, स्वयमेव पुरुषो भजनीयः पूर्वोत्तरभवानुयाय्यात्मद्रव्यस्वरूपेणाऽभिन्नतया व्यवस्थापनीयः, य एवाहं बालत्वेनासं स एवाहं युवत्वेन वृद्धत्वेन वोपजात इति प्रत्यभिज्ञानवद् य एवाहं देवभवादिपूर्वभवे आसं स एवाहमेतद्भवे सञ्जात इत्यास्तिकानामभेदप्रत्यभिज्ञानात्। यद्वा जातिस्मृत्यादिमतां कोपपरिणतिवशेनाहं पूर्वमनुष्यभवं परिहायात्र तिर्यक्षूत्पन्न इत्यभेदप्रत्यभिज्ञानात्, तदेवमत्राऽप्यनेकान्त एव प्रमाणकोटिमाटीकते, एतच्च निश्चयनयमाश्रित्यावसेयम्, यतो निश्चयनयः कोपपरिणतिं स्वात्मैवोत्पादयति न त्वन्यात्मेति मनुते। यद्वा कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे उत्पादयन् पुरुषः कारको भवति, ततोऽसौ कोपकारकत्वेन विभजनीयः, कोपपरिणतियोग्ये जीवे कारकः, अन्यत्राकारक इति, एतच्च व्यवहारनयापेक्ष्यम्, यतस्स व्यवहारप्रधान इति कोपादिपरिणतिः परनिमित्तिकेति मनुते इति ॥ ७ ॥

अथ द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वमेव प्रतीतेस्तावनेकान्तात्मकत्वसिद्धिरिति भाविनामनुगोऽपरीक्षकं तत्तद्वादिमतामतमुपन्यस्यति—

रूवरसगंधफासा, असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छंति ॥ ८ ॥

‘ रूवरसगन्धफासा ’ रूपरसगन्धस्पर्शाः “ असमाणग्गहणलक्खणा जम्हा ” यस्मा दसमानग्रहणलक्षणाः । यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामीत्यनुसन्धानात् दार्शनं स्पार्शनञ्च यद्यपि द्रव्यमित्याद्यव्यवहाराच्च द्वीन्द्रियग्राह्यस्य घटपटादिद्रव्यस्य, रूपरसादेस्तु प्रतिनियतेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरत्वमित्येवं द्रव्यापेक्षया असमानग्रहणाः, तथा संयोगजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं विभागजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं अन्यतरजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा द्रव्यस्य लक्षणम्, द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वम्, सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं वा गुणस्य लक्षणमित्येवं द्रव्यापेक्षया असमानलक्षणाः, संवदति चात्र “ क्रियागुणवत्समवायिकारणम् ” । १-१-१५ इति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः ॥ १-१-१६ इति च गुणलक्षणम् । द्रव्यगुणभिन्नलक्षणप्रतिपादनपरं वैशेषिकसूत्रद्वयमपि । तथा च गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, यो यस्माद् भिन्नप्रमाणग्राह्यो भिन्नलक्षणश्च स तस्माद्भिन्नः, यथा जीवद्रव्यादजीवद्रव्यं घटादिरथा चेत्यनुमानेन गुणानां द्रव्याद्भिन्नत्वे सिद्धे यत्स्यादवद्यम्— ‘ तम्हा दव्वाणुगया गुणत्ति ’ तस्माद्द्रव्यानुगता गुणा इति द्रव्यमनुगता द्रव्यानुगता द्रव्याश्रिता गुणा इत्यर्थः, ‘ ते केइ इच्छन्ति ’ ते केचन वैशेषिकाद्यास्तदनुयायिनो वा सिद्धान्ततत्त्वमजानाना इच्छन्ति-अभ्युपगच्छन्ति ॥ ८ ॥

तन्मतनिराचिकीर्षयाऽऽह—

दूरे ता अण्णत्तं, गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं ।
किं पज्जवाहिए होज्ज, पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

‘ दूरे ता अण्णत्तं ’ दूरे तावद् अन्यत्वं, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वम्, असम्भावनीयमिति यावत् “ गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं ” गुणशब्द एव तावत्परीक्ष्यम् कथं परीक्ष्यमित्याशङ्कायां तत्स्वरूपमाह—“ किं पज्जवाहिए होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ” किं पर्यायाधिके पर्यायाद्भिन्ने गुणसंज्ञा गुणशब्दो भवेत्, किं वा पर्याय एव, अत्र ‘ पज्जवे वा वि गुणसण्णा ’ इत्यपि पाठः । वा विकल्पे, तत्र पर्यायेऽपि गुणसंज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते, अर्थात् पर्यायाद्भिन्ने गुणात्मकेऽर्थे गुणशब्दः प्रवर्तते, किं वा पर्याय एव । गुणशब्दवाच्यः पर्यायाद्भिन्नो गुणात्मकोऽर्थः किं वा पर्याय एवेति विवेचनार्हमिति भावः । ननु पूर्वोक्तेन भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वभिन्नलक्षणत्वहेतुद्वयेन गुणाः द्रव्याद्भिन्ना इति सिद्धे गुणशब्दः गुणात्मक

एवार्थे प्रयोगार्हः, न तु पर्यायात्मकेऽर्थे इति तत्र किं पारीक्ष्यमिति चेत्, तन्न विद्वन्मनोरञ्जकम्, उक्तहेतुद्वयस्य कथञ्चिद्भिन्नत्वेनैव सह व्याप्यत्वेन तेन कथञ्चिद्भेदसाधने सिद्धसाधनात्। एकान्तभेदे साध्ये तस्य क्वचिदप्यप्रसिद्ध्या व्याप्यत्वाऽसिद्धेः। न च रूपवान् घटः, ज्ञानवान् आत्मेत्यादिप्रतीत्या भेदे मतुप्प्रयोगाद् गुणगुणिनोरेकान्तभेदसिद्धेर्नोक्तदोष इति वाच्यम्, नित्ययोगेऽत्र मतुब्विधानात्, द्रव्यगुणयोस्तादात्म्यात् सदाऽविनिर्भागवर्त्तित्वात्, अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः। संज्ञा–सङ्ख्या–स्वलक्षणार्थक्रियाभेदाद्वा कथञ्चित्तयोरभेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मतुबनुपपत्तिः। किञ्च नित्ययोगविहितमतुप्प्रत्ययार्थस्य नित्यसम्बन्धस्य संसर्गविधया कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्यैव भानम्, एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगात्, अन्यथा हिमवद्विन्ध्याचलयोरपि संयोगसम्बन्धस्स्यात्। अथ व्यवधानाभावस्य संयोगकारणस्याभावान्न तदुभयसंयोग इति चेत्, तर्हि ययोस्संयोगस्तयोस्संयुक्ततया परिणतिभावेन तद्रूपेण तयोः कथञ्चिदभेदेनैवोपपत्तेर्नैकान्तभेदः प्रमाणविषयतामास्कन्दति, नन्वेकान्तभिन्नयोरपि गुणगुणिनोस्समवायसम्बन्ध इति रूपवान् घट इत्यादिप्रतीतिस्समवायेनैवोपपत्स्यत इति चेत्, मैवम्, समवायस्य निरस्तत्वात्, सम्बन्धान्तरस्य चाऽभावात्, किञ्च गुणो धर्मितया पर्यायात्मकोऽभिप्रेतः, किं वा तदनात्मकः, नाद्यः, यतः पर्यायस्य कथञ्चिद्द्रव्यानतिरिक्तत्वेन तदात्मकगुणस्यापि द्रव्याऽव्यतिरिक्तत्वाद्बाधः, नान्त्यः आश्रयासिद्धेः, एतेन द्रव्यं गुणादिभ्यो भिन्नं गुणवत्त्वादित्यनुमानं निरस्तम्, रूपादेरपि सङ्ख्यात्मकगुणवत्तया प्रतीयमानत्वेन तत्र व्यभिचारात्। एकं रूपमत्र द्वे रूपे बहूनि रूपाणि इत्यादिप्रतीतिर्भ्रान्त्यात्मिकेति चेत्, तर्हि पृथिव्यादौ कथमभ्रान्तिरूपा सेति वक्तव्यम्। तत्र बाधकाभावादिति चेत्, तुल्यमन्यत्रापि। गुणस्य गुणवत्तायां द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः १–१–१६ इति गुणलक्षणमेव वैशेषिकसूत्रोक्तं बाधकमिति चेत्, न, अगुणवानिति लक्षणांशस्याद्याप्यसिद्धेः, सङ्ख्यावत्तया प्रतीतेर्विद्यमानत्वात्। असौ भ्रान्तिरिति चेत्, तर्हि परस्पराश्रयः, तथाहि–तस्या भ्रान्तित्वे लक्षणांशस्य सिद्धेर्विशिष्टलक्षणसिद्धिः, तत्सिद्धौ च बाधकबलात् सङ्ख्याप्रतीतेर्भ्रान्तित्वसिद्धिरिति। न च लिङ्गान्तराद्रूपादिष्वगुणवत्त्वसिद्धेस्तस्या भ्रान्तित्वमिति नान्योऽन्याश्रय इति वाच्यम्, तत्रोपन्यस्यमानदृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यावत्तया प्रतीयमानत्वेनागुणवत्त्वासिद्धेः। सङ्ख्यायामनवस्थितिप्रसङ्गेन निस्सङ्ख्यत्वव्यवस्थितावगुणवत्त्वसिद्धेस्सैव दृष्टान्त इति चेत्, न, तत्रापि पृथक्त्वादिप्रतीतेस्तत्सिद्धेरयोगात्। पृथक्त्वस्यापि च सङ्ख्यावत्त्वेन प्रतीतेर्न तदपि दृष्टान्तीकर्त्तुं योग्यमिति। न च द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे सङ्ख्यैकार्थसमवायसम्बन्धेन रूपादावपि सङ्ख्याप्रत्ययव्यवहारोपपत्तौ कल्पनालाघवाद् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति वाच्यम्; घटे रूपरसगन्धस्पर्शा इति बहुत्वप्रतीतेरनुदयप्रसङ्गात्, आश्रयस्यैकत्वात्। व्यासज्यवृत्तिसंयोगादावेकत्वप्रत्ययानुदयप्रसङ्गाच्च, आश्रयस्यानेकत्वात्। किञ्च गुण एव साक्षात्सम्बन्धेन

सद्गुणादिप्रत्ययव्यवहारौ, द्रव्ये तु स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धेनैवेत्येवं ह्यतो न स्यात्, अन्यथा द्रव्य एव साक्षात्सम्बन्धेन सद्गुणादिवत् सत्ता वर्तते, गुणादौ सद्बुद्धिस्तु परम्परासम्बन्धेनैवेत्येवं कल्पनालाघवात् किमर्थं नाङ्गीक्रियते । किञ्च गुणस्य सर्वथा द्रव्याद्भिन्नत्वाभ्युपगमेऽवयवगुणानामवयविनि स्वसजातीयोत्कृष्टगुणारम्भकत्वनियमेनाऽवयव इव उत्कृष्टगुरुत्वादवयविन्यप्युत्कृष्टतरगुरुत्वोत्पत्तेरवयवस्यापि तदानीं सत्त्वेन तद्गुरुत्वस्य चाव नमनोन्नयनादिलिङ्गकानुमानादिना द्विगुणगुरुत्वोपलब्धिप्रसङ्गः, तदानीमवयवानभ्युपगमे समवायिकारणाभावात् कार्यनाशोपगमेन परस्यापि नायं प्रसङ्गः । अथावयवोत्कृष्टगुरुत्वापेक्षयाऽवयविन्यपकृष्टगुरुत्वेऽवयविनस्तत्सम्बन्धित्वेन कारणत्वमिति विशेषसामग्रीबलादवयविन्यपकृष्टगुरुत्वमेवेत्यतो नोक्तदोष इति चेत्, नैवम्, अतिगौरवात्, मतान्तरे सति विशेषकल्पनाया अनवकाशत्वाच्च । तथा चेदमत्र तत्त्वं-वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकम्, तत्र कालत्रयावच्छिन्नं पूर्वोत्तरपर्यायेष्वनुगतबुद्धिग्राह्यं परिणामिकारणत्वलक्षणं द्रव्यम्, व्यावृत्तबुद्धिग्राह्यश्च पर्यायो द्रव्यविकारात्मकपरिणामलक्षणः, स च क्रमभाविसहभाविभेदेन द्विविधः, तत्र क्रमभाविनः पर्याय इति सहभाविनो गुण इति च संज्ञा क्रमभाविपर्यायाः पुद्गलादीनां नीलादयः, सहभाविगुणा रूपादयः, यतः पुद्गला नीलादिरूपपर्यायं परित्यज्यानीलामयन्तोऽपि न हि रूपाद्यरूपिणो भवन्ति, स्वस्वरूपहानिप्रसक्तेः, उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवे न्यायखण्डखाद्यपरनामके ' स्वद्रव्यपर्यायगुणानुमता हि घटेत्यादिश्लोकव्याख्यायां स्वद्रव्यं मृदादि, तद्गुणो रूपादिः, तत्पर्यायो रक्तत्वादिरिति । आत्मनि क्रमभाविपर्याया औपाधिकस्य सुखदुःखहर्षविषादघटादिज्ञानादयः, सहभाविगुणास्तूपयोगादयः, अत एव तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके पञ्चमाध्यायद्वितीयवार्त्तिकवर्णनटीकायां-' पर्याय एव च द्वेधा, सहक्रमविवर्त्तिनः ' इत्युक्तम् " विशेषोऽपि द्विरूपः, गुणः पर्यायश्च ॥ ५-६ ॥ गुणः सहभावी धर्मः, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्ति-शक्त्यादिरिति ॥ ५-७ ॥ पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुख-दुःखादिरिति ॥ ५-८ ॥" इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारपञ्चमाध्यायसूत्रत्रयमप्युक्तमेवार्थं संवदति, यतो विशेषो भेदः पर्याय इत्यर्थः पर्यायशब्दत्वेनात्र विवक्षितस्य पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यार्थकत्वात्तद्भेदोक्त्या पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यस्यैव भेदद्वयोक्तिः प्रतिपादिता । गुणपर्याययोः पर्यायत्वेन रूपेणैक्येऽपि सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनश्च पर्याया इति लक्षणभेदेन कथञ्चिद्भेदमभिप्रत्यैव ' गुणपर्यायवद्द्रव्यम् " ५-३७ । इति पञ्चमाध्यायसप्तत्रिंशत्तमसूत्रं भगवतोमास्वातिना प्रणायि, तत्र गुणपदसाहचर्यात्पर्यायपदेन क्रमभाविलक्षणपर्यायविशेष एव गृहीतः, न तु पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यमिति सिद्धमेतत् वस्तुतो गुणाः पर्यायभेदरूपत्वात्तद्धर्मता एव, न तु तद्व्यतिरिक्ता इति ॥९॥

तथा च द्रव्यार्थिकनयगोचरद्रव्यत्वेन पर्यायार्थिकनयविषयपर्यायत्वेन द्रव्यं पर्यायाश्चेति विभागो युक्तः, न तु द्रव्यं गुणाः पर्यायाश्चेति द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति

प्रकारत्रयेण, यदि च गुणोऽपि पर्यायातिरिक्तस्स्यात्तदा तद्ग्राहकतृतीयगुणास्तिकनयोऽपि त्रिलोकाधिपतिप्रभुणा प्रवचनीयस्स्यादित्याह—

दो उण णया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया णियया।
एत्तो य गुणविसेसे, गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो ॥ १० ॥

'दो उण णया भगवया' द्वौ पुनः नयौ-द्वावेव मूलनयौ भगवता 'दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिया णियया' द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नियमितौ 'एत्तो य गुणविसेसे' एतस्माच्च पर्यायादधिके गुणविशेषे ग्राह्ये सति तद्ग्राहकः 'गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो' गुणार्थिकनयोऽपि युज्यमानः, नियमयितुं स्यादिति शेषः। अन्यथा नयानामव्यापकत्वं स्यात्, केवलिभगवतो वा तदपरिज्ञानं प्रसज्येत ॥ १० ॥

न च भगवता गुणार्थिकनयोऽपि नियमितः, किन्तु पर्यायार्थिकनय एवेत्याह—

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।
पज्जवसण्णा णियया, वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

'ज च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु' यच्च पुनरर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु 'वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं' (भग० सू० शत० १४; उ० ४) इत्यादिना 'पज्जवसण्णा णियया' पर्यायसंज्ञा नियमिता, वर्णादिष्विति शेषः 'गोयमाईणं वागरिया' गौतमादिभ्यो व्याकृता व्याख्याता 'तेण पज्जाया' तेन पर्यायाः, ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्तः किं न स्यादित्याशङ्कायामाह—

परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुणत्ति तुल्लत्था।
तह वि ण गुणत्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥

'परिगमणं पज्जाओ' परि-समन्तात्सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैर्वस्तुनः परिणतस्य गमनं 'ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था' इति वचनात् परिच्छेदो यः स पर्यायः। नन्वेवं सति शास्त्रान्तरे पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्याय इति व्युत्पत्त्योत्पादविनाशशाली वस्त्वंश एव पर्यायः प्रतिपादित इति कथमनेन सह न विरोध इति चेत्, मैवम्, अत्र विषयविषयिणोरभेदविवक्षणेन तथोक्तत्वात्। "अणेगकरणं गुणत्ति" अनेककरणं गुण इति अनेकरूपतया वस्तुनः करणं 'करोतेर्ज्ञानार्थत्वात् 'परौ भ्रुवोऽवज्ञाने' इति ज्ञापकात्' धातूनामनेकार्थत्वात् ज्ञानं, पूर्ववद्विषयविषयिणोरभेदादेव गुणः, पर्यायस्य परिगमणमिति गुणस्यानेककरणमिति च व्युत्पत्तिनिमित्तमपेक्ष्य 'तुल्लत्था' तुल्यार्थौ गुणपर्यायशब्दौ 'तह वि ण गुणत्ति भण्णइ' तथापि न गुणा इति भण्यन्ते, पर्याया गुणशब्दवाच्यत्वाद्रूपादिवद्गुणा एवेति नाभिधीयन्ते, पर्यायविशेषवाचकस्य गुणशब्दस्य पर्यायविशेषोक्तावेव

प्रवृत्तिभावात् पर्यायसामान्योक्त्यप्रवृत्तेः, न च गुणशब्दस्य पर्यायसामान्य एव शक्तिः कल्पनीया, तत्र हेतुमाह–' पज्जवणयदेसणा जम्हा ' यस्मात् पर्यायनयदेशना, पर्यायार्थिकनयद्वारेणैव भगवता देशना कृता, न तु गुणार्थिकनयद्वारा, अतो व्युत्पत्तिनिमित्तभेदेऽपि गुणपर्यायशब्दयोस्सामान्यविशेषभावापन्नप्रवृत्तिनिमित्तभेदाच्च पर्यायशब्दत्वमिति। अत्र भावः–यथा गवये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य गमनाश्रयत्वस्यैव गुणे पर्याये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य ज्ञानत्वस्य समानतया विद्यमानत्वेऽपि गुणशब्दस्य पर्यायविशेषत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायविशेषत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्, पर्यायशब्दस्य च पर्यायत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायसामान्यत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमित्येव तयोः गोगवयशब्दयोरिव प्रवृत्तिनिमित्तभेदाच्च पर्यायशब्दत्वमिति ॥ १२ ॥

ननु पर्यायाणां प्रतिसमयपरावर्तनस्वभावत्वात् पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मवाचक एव, गुणानां यावद्द्रव्यभावित्वात् गुणशब्दश्च सहभाविधर्मवाचक एव, तथा च गुणाः पर्यायेभ्योऽतिरिच्यन्त, पर्यायातिरिक्तगुणाभिधानान्यथाऽनुपपत्त्या च गुणार्थिकनयोऽपि भगवताऽर्थादुपदिष्ट एवेत्याशङ्कां प्रतिपादयति—

जंपंति अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।
रूवाइपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

' जपंति ' जल्पन्ति, प्रतिपादयन्ति द्रव्यगुणान्यत्ववादिन इति शेषः, किं जल्पन्तीति कर्माकाङ्क्षायामाह–' अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ' इति। अस्ति विद्यत एव, समये सिद्धान्ते, ' एगगुणकालए दुगुणकालए ' इत्यादिवचनात् एकगुणकालः दशगुणकालः संख्येयगुणकालः असंख्येयगुणकालः अनन्तगुणकाल इत्यादि व्यपदेशोपलब्धौ, ततः किमित्यत आह–' रूवाइपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ' इति, तस्माद्रूपादिकपरिणामो गुणविशेष एवेति भण्यते, ततोऽस्ति गुणार्थिकोऽपि नयः, उपदिष्टश्च भगवतेति नाऽयमपसिद्धान्तप्रसङ्गः ॥ १३ ॥

अत्राह सिद्धान्तवादी—

गुणसद्दमंतरेणा-वि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।
सिज्झइ णवरं संखा-णसत्थधम्मो तइ (म उ) गुणोत्ति ॥ १४ ॥

" गुणसद्दमंतरेणावि तं तु पज्जवविसेससंखाणं सिज्झइ " तत्तु एकगुणकाल इत्यादि प्रगुणवचनं तु गुणशब्दमन्तरेणापि गुणत्वावच्छिन्नरूपरसादिगुणात्मकार्थबोधानुकूलशक्तिमद्गुणशब्दं विनाऽपि, पर्यायविशेषसङ्ख्यानं पर्यायविशेषसङ्ख्यावाचकं सिध्यति, न त्वतिरिक्तगुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनपरम्, नन्वेवं तर्ह्येकगुणकालः दशगुणकाल इत्यादिव्यपदेशः किं निबन्धन इत्यत आह–णवरं संखाणसत्थधम्मो तइगुणोत्ति, नवरं सङ्ख्यानशास्त्रधर्मः

तावद्गुण इति, तत्र गुणशब्दस्यैतावताऽधिको न्यूनो वा मात्र इति गणितशास्त्रधर्मवाचकत्वादिति। अत्र 'न उ गुणो त्ति' इति 'ण य गुणो त्ति' इत्यपि च पाठः। उक्तव्यपदेश एतावताऽधिको न्यूनो वा मात्र इति गणितशास्त्रधर्मवाचकशब्देनैव भवति, न तु गुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनाभिप्रायेण, येन च रूपेण विभिन्नमूलव्याकरणिनयग्राह्यता तेनैव रूपेण विभागः, अन्यथा विभागस्य सम्प्रदायविरुद्धत्वात्, अत एव "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्" ५-३७ इति तत्त्वार्थसूत्रे गुणपर्यायपदाभ्यां युगपदऽयुगपद्भाविपर्यायविशेषोपादानेऽपि न द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति त्रैविध्येन विभाग इति भावः ॥ १४ ॥

दृष्टान्तद्वारेणामुमर्थं दृढीकर्तुमाह—

जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तणं समं चेव।
अहियम्मि वि गुणसद्दे, तहेव एयंपि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥

"जहा दससु एगंमि य" यथा दशसु, द्रव्येष्विति शेषः, एकस्मिंश्च, द्रव्य इति शेषः, तद्विशिनष्टि–'दसगुणम्मि' दशगुणे दशगुणिते "अहियंमि वि गुणसद्दे" अधिकेऽपि गुणशब्दे, गुणशब्दातिरेकेऽपि, "दसत्तणं समं चेव" दशत्वं समं चैव, चस्य पादपूरणार्थकत्वात् सममेव। दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके उपनयमाह–" तहेव एयं पि दट्ठवं" तथैवैतदपि द्रष्टव्यम्, तथैवैतदपि न भिद्यते, परमाणुरेकगुणकृष्णादिरिति, एकादिशब्दाधिकगुणशब्देनापि तदधिकार्थाऽप्रतिपादनादिति द्रष्टव्यम्, तथा च तेनापि नातिरिक्तगुणसिद्धिरिति भावः। न चैवं गुणानां पर्यायानतिरेके वाचकचक्रवर्त्तिसूत्रं "गुणपर्यायवद् द्रव्यं" इति विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात्तस्य, सहभाविधर्मवाचकगुणशब्दसमभिव्याहृतस्य पर्यायशब्दस्य क्रमभाविधर्मवाचकस्यापि 'गोबलीवर्द'न्यायेन तदतिरिक्तधर्मप्रतिपादकत्वे दोषाभावात्, न हि काल्पनिको गुणपर्याययोर्भेदो वास्तवं तदभेदं विरुणद्धि, कल्पनाबीजं च तत्र तत्र प्रदेशे व्युत्पत्तिविशेषाधानमेव ॥ अत एव—

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥

इत्युत्तराध्ययनाष्टाविंशतितमाध्ययनषष्ठगाथावचनं 'दव्वनामे गुणनामे पज्जवणामे' इत्याद्यनुयोगद्वारवचनं च शिष्यव्युत्पत्तिविशेषाय काल्पनिकगुणपर्यायभेदाभिधानपरमेव, स्वाभाविकतद्भेदाभिधानपरत्वे तु गुणार्थिकनयप्रसङ्गस्स्यात्। 'न च नाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं' इत्यादि भगवतीसूत्रवचनमेव गुणार्थिकनयप्रतिपादकमित्याशङ्कितव्यम्, यत उक्तसूत्रवचनस्य द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतस्याऽऽत्मद्रव्यत्वरूपेणैकस्यात्मनः पर्यायार्थिकनयमतेनैव ज्ञानदर्शनादिभेदेन द्वैविध्यादिप्रतिपादनपरत्वान्नातो गुणार्थिकनयप्रवृत्तिर्युक्तेति। तदेवं गुणस्य पर्यायान्तर्भावेण पर्यायस्य च संज्ञासङ्ख्याऽर्थक्रियादिभेदेन कथञ्चिद्भिन्नत्वेऽपि

व्यतिरिक्तरूपतया द्रव्यात्मकत्वेन गुणस्यापि कथञ्चिद्द्रव्यात्मकत्वमिति नैकान्तभिन्नगुण सिद्धेरवकाश इति सिद्धम् ॥ १५ ॥

एवं द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तप्रतिषेधे सत्यमेदसिद्धावपि तदाक्षेपार्थं सोपनयमुदाहरणम् मेदैकान्तवाद्याह—

> एयंतपक्खवाओ, जो उण दव्व-गुण-जाइभेयम्मि ।
> अह पुव्वपडिक्कुट्ठो, उयाहरणमित्तमेयं तु ॥ १६ ॥

" अह दव्वगुण-जाइभेयम्मि " अथ द्रव्य-गुण-जातिभेदे द्रव्य-गुणक्रियाभेदेषु, ' जो उण एगंतपक्खवाओ ' यः पुनरेकान्तपक्षपातः एकान्तमेदाभ्युपगमपातः पक्ष द्वयोर्नित्यसम्बन्धात् स यद्यपि ' पुव्वपडिक्कुट्ठो ' पूर्वं प्रतिक्रुष्टः पूर्वमेव प्रतिषिद्धः, मेदैकान्त ग्राहकप्रमाणाऽभावात्, अमेदग्राहकस्य च प्रमाणस्य पूर्वमेव प्रदर्शितत्वात् तथाप्येकान्ता मेदवादप्रदीकरणार्थं " उयाहरणमित्तमेयं तु " उदाहरणमात्रं दृष्टान्तमात्रमेतद् प्रदर्शयति ॥१६॥

अत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं गुणकर्मादि किञ्चिन्नास्ति, रूपरसादयो द्रव्यद्वारेणैवोपलभ्य मानाः द्रव्यविभागत्वेनावधार्यन्ते, न भिन्नजातीयत्वेन चक्षूरसनादिग्राह्यभेदाद रूपरसादिपरिणतयो द्रव्यस्य भिद्यन्ते, पितृपुत्रमातुलाद्यनेकसम्बन्धमेदादेकस्यैव पुंसः पुत्रपित्रादिनामापरिमितिवत् यथैकस्यैव भिन्नद्रव्यादेर्जन्यजनकत्वाद्यनेकसम्बन्धापेक्षाः पुत्रपित्रादिव्यपदेशाः प्रवर्तन्ते, न तु तस्मात्पुरुषात्तदात्मभूतोऽर्थान्तरभूतं पुत्रत्वं पितृत्वं वा मामात्वं भावान्तरमस्ति, पुरुषविभागत्वात्, तथा द्रव्यमपि चक्षुर्घ्राणादिविषयभूयमासाद्य चक्षुरादिव्यपदेशमनेकमासादयति, अतो रूपरसादयो द्रव्यादनर्थान्तरम्, कर्मापि विस्रसा प्रयोगसापेक्षो द्रव्यपरिणामस्वभावस्तद्भावो द्रव्यादव्यतिरिच्यमानो द्रव्यमेवेत्याशय मनसि कृत्वा एकान्तद्रव्याऽभेदवादी पूर्वं दृष्टान्तमेवाह—

> पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-(भाणिज्ज)-भाऊण एगपुरिससंबंधो ।
> ण य सो एगस्स पियत्ति सेसयाणं पिया होइ ॥ १७ ॥

' पिउ-पुत्तत्यादि '–पितृ-पुत्र-नप्तृ-भागिनेय-भ्रातृणामेकपुरुषसम्बन्धः । अत्र षष्ठी विभक्तेस्तृतीयाविभक्त्यर्थकत्वात् पितृ-पुत्र-नप्तृ-भागिनेय-भ्रातृभिरेकपुरुषस्य सम्बन्धः, यद्वा पितृ-पुत्र-नप्तृ-भागिनेय-भ्रातृणां एकपुरुषेण सह संसर्गः, अत्र 'भव्य' इति स्थाने ' भाणिज्ज ' इत्यपि पाठः । अयम्भावः–यथैकस्मिन्नेव देवदत्तादिपुंसि स्वपितृपुत्रपौत्रादि सम्बन्धतः पुत्रपित्राद्यनेकव्यपदेशाद्भूतैकव्यक्तिमहिम्ना पुत्रपितृपितामहादिव्यपदेशो भवति । न च पुत्रादिसम्बन्धभेदेन भिन्नत्वम्, एकस्याप्यनेकत्वप्रसङ्गात्, न च पुत्रोत्पत्त्या तस्मिन् यतस्य एकस्य पितेति पैतामानामपि पिता भवतीत्याह–ण य सो इत्यादि ॥ १७ ॥

तथातिरिक्तगुणाभावेऽप्येकस्मिन् द्रव्य एव चक्षूरसनाघ्राणत्वक्श्रोत्रात्मकतत्तदिन्द्रियसम्बन्धतश्चक्षूरसनाघ्राणत्वक्श्रोत्रेन्द्रियसन्निकर्षजानेकप्रत्यक्षानुकूलैकशक्तिमत्त्वेन रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दव्यपदेशगोचरत्वं भविष्यति, किमन्तर्गडुनाऽतिरिक्तगुणेन, न चैकस्यानेकसञ्ज्ञाकरणमात्रेण नानात्वम्, एकस्यापि गीर्वाणनाथस्य शक्रेन्द्रपुरन्दरादिशब्दैर्व्यवह्रियमाणत्वेन भिन्नत्वप्रसङ्गादिति द्रव्यैकान्तवादस्यैव प्रामाणिकत्वेन द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भेदवादो मिथ्येत्याशयेन द्रव्याद्वैतवाद्येवाह—

जह संबंधविसिट्ठो, सो पुरिसभावनिरइसओ।
तह दव्वमिंदियगयं, रूवाइविसेसणं लहइ ॥ १८ ॥

'जह सो पुरिसो पुरिसभावनिरइसओ' यथा स पुरुषः देवदत्ताद्याख्यः पुरुषभावेन पुरुषत्वेन निरतिशयः पुरुषरूपतयाऽभिन्नोऽपि सन् 'संबंधविसिट्ठो' सम्बन्धविशिष्टः पूर्वोक्तपितृपुत्रादिसम्बन्धं निमित्तीकृत्य पुत्रपित्रादिव्यपदेशं लभते, दृष्टान्तमुपदर्श्य तद्धर्मं दार्ष्टान्तिके उपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह–'तह दव्वमिंदियगयं रूवाइविसेसणं लहइ' तथा द्रव्यमिन्द्रियगतं रूपादिविशेषण लभते। अयम्भावः–तथा द्रव्यं द्रव्यस्वरूपतयाऽभिन्नमपि चक्षूरसनादितत्तदिन्द्रियसम्बन्धं निमित्तमवाप्य रूप-रस-गन्धादिव्यपदेशमात्रं लभते, न चैतावता भिन्नरूपतामवाप्नोति, यतो न हि शक्रेन्द्रपुरन्दरादिशब्दभेदाद्गीर्वाणनाथस्येव रूपादिशब्दभेदाद् घटादिवस्तुनो भेदो युक्तः, न चैवं देवदत्तादौ पित्रादिवद् घटादौ रूपादेरपि सावधिकत्वप्रसङ्गः, पित्रादिव्यवहारस्येव रूपादिव्यवहारस्य चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धापेक्षया सावधिकत्वेऽपि वस्तुनोऽतथात्वात्। न च चक्षुर्ग्राह्यताविशिष्टद्रव्यस्य रूपादित्वे ग्राह्यतायाः शक्तिरूपाया अतीन्द्रियत्वेन रूपादेरप्यतीन्द्रियतापत्तिः, विशेषणस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि विशेष्यविषया तत्प्रत्यक्षत्वसम्भवात्, शक्तिभेदाच्च न चाक्षुषादिज्ञानसङ्कर इति दिक् ॥ १८ ॥

अस्यैकान्तद्रव्याद्वैतवादस्याप्रामाण्यज्ञापनाय स्याद्वादसिद्धान्तवाद्याह—

होज्जाहि दुगुणमहुरं, अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं।
ण उ डहरओ महल्लो, वा होइ संबंधओ पुरिसो ॥ १९ ॥

'जं दव्वं दुगुणमहुरं अणंतगुणकालयं तु होज्जाहि' यद्द्रव्यं रसतो द्विगुणमधुरं रूपतोऽनन्तगुणकृष्णं तु भवेत्, तत्कुत इति शेषः। अयम्भावः–यदि नामाम्लादिद्रव्यमेव रसनेन्द्रियसम्बन्धवशाद्रस इति व्यपदेशमात्रमासादयेत्, तर्हि तद् द्विगुणमधुरं उपलक्षणन्यायेन त्रिगुणादिमधुरं यावदनन्तगुणमधुर च रसतः कुतो भवेत्, एवं नयनसम्बन्धादेव यदि नाम कृष्णरक्तादिप्रतीतिर्भवेत्तर्हि सङ्ख्यातगुणकृष्णमसङ्ख्यातगुणकृष्णमनन्तगुणकृष्णं तद् द्रव्यं कुतस्स्यात्, न हीन्द्रियसम्बन्धमात्रेण षड्गुणहानिवृद्धिरूपवैषम्यप्रतीतिर्भवतीति नयो

मवद्भिर्विनाऽप्येसम्बेतोमिर्वक्तुं शक्यते, भवदुक्ते पुरुषशब्देऽपि भवपेक्षये भयोभेदेनास्सो महान्वेति विशेषप्रतीतिर्नैव भवेदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह–न उ इत्यादि–न सम्बद्धो महान् वा भवति सम्बन्धतः पुरुषः । अयम्भावः–पुत्रादिसम्बन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेत्, न सम्बो महान् वेति युक्तः, विशेषप्रतिपत्तिर्लोकव्यतिरेकेण मिथ्यारूपैव वेति चेत्, तर्हि सामान्यप्रतिपत्तिरपि तथाविधैव स्यात्, विनिगमनाविरहभावात् । एतेनैकस्मिन्नपि पुरुषे पितृपुत्रादिगतपुत्रपित्रादिसंस्कारजनकत्वमात्रतया तादृक्संस्कारजनकसहकारिभेदा भिन्नपुत्रपित्रादिव्यपदेशो भविष्यतीत्यत्रमेककामेकत्वत्वस्येत्यपि निरस्तम्, कार्यतामेदेन तभिरूपककारणतास्वभावभेदस्यावश्यकत्वेनैकस्याप्यनेकात्मकत्वात्, अन्यथैकस्यानेकप्रकारिसंयोगेन विविक्तव्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न चैव तदेकत्वेनानुभूयमानस्य घटस्य जलाहरणाद्यनेककार्यकारित्वेनानेकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, तथाऽभ्युपगन्तृनयमपेक्ष्यैतत्परत्वा परिहृतत्वात् । योऽप्येकस्यानेकरूपताऽऽपादनतर्क उक्तः, सोऽपि तथाभासः, मयतमूहरमकजैनसिद्धान्ते समभिरूढनयाभिप्रायेण सम्बन्धभेदेनैकस्याप्यनेकत्वेन स्वीकृतत्वेष्टत्वात् ॥१९॥

अथैकान्तामेदवाद्याशङ्कते—

> भण्णइ सम्बन्धवसा, जइ संबंधित्तण अणुमयं ते ।
> णणु सम्बन्धविसेसे, संबंधिविसेसणं सिद्धं ॥ २० ॥

' भण्णइ ' भण्यते–एकान्तामेदवादिना समाधीयते, किं भण्यत इति कर्माकाङ्क्षायामाह संबधवसा इत्यादि ' संबंधवसा जइ ' यदि सम्बन्धवशात् सम्बन्धसामान्यवशात्, ' संबंधित्तण अणुमयं ते ' सम्बन्धित्वमनुमतं सम्बन्धित्वसामान्यमनुमतं तव, तदा " णणु संबंधविसेसे संबंधिविसेसणं सिद्धं " ननु सम्बन्धविशेषे सम्बन्धिविशेषणं सिद्धम् । सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धिविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? इत्यर्थः ॥ २० ॥

स्याद्वादसिद्धान्तवादी समाधत्ते—

> जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसणं ण उण एयं ।
> णयणाइविसेसकओ(गओ) रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

' जुज्जइ संबंधवसा संबंधिविसेसणं ' युज्यते सम्बन्धवशात् सम्बन्धिविशेषणं, सम्बन्धविशेषयुक्तः सम्बन्धिविशेषोऽपि युक्त एव, यथा पुरुषसामान्यापेक्षया दण्डकुण्डलादिसम्बन्धविशिष्टः पुरुषो भिन्न एव प्रतीयते, पुरुषसामान्ये दण्डी पुरुष इति कुण्डली पुरुष इति च प्रतीत्यभावात् दण्डविशिष्टे कुण्डलविशिष्टे पुंसि लोकप्रतीतिभावात् । अत्र भिन्नतायोग्यो दण्डकुण्डलादिसम्बन्धविशेषजनितसंयोगसम्बन्धविशेष एवेति सम्बन्धविशेषात् सम्बन्धिविशेषोऽस्मन्मते सिद्धस्त्वेवेति सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धिविशेषापादनमप्यस्मन्मतानुकूलमेव, इष्टत्वात्, भवन्मते तु न सम्बन्धिविशेषो नापि सम्बन्ध-

विशेषस्सङ्गच्छत इति कुतो नयनादिसम्बन्धिविशेषजनितसम्बन्धविशेषकृतो रूपादिविशेषपरिणाम इत्याह–' न उण एय ' इत्यादि ॥ २१ ॥

नन्वनेकान्तवादिनां भवतां मतेऽपि रूपरसादेः षड्गुणहानिवृद्धिरूपवैषम्यपरिणतिः कथमुपपन्ना भवतीति पराशङ्कामुपदर्श्य तादृशपरिणत्युपपादनायाह ग्रन्थकारः—

भण्णइ विसमपरिणयं, कह एयं होहिइत्ति उवणीयं ।
तं होइ परनिमित्तं, ण वत्ति एत्थत्थि एगंतो ॥ २२ ॥

' भण्णइ ' भण्यते द्रव्यैकान्तवादिना, तेन यद् भण्यते तदाह–" विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति " विषमपरिणतं कथमेतत् भविष्यतीति । अयम्भावः–शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधादेतदाऽऽम्रफलादि द्विगुणाद्यनन्तगुणवृद्धिहानिरूपविषमपरिणतिपरिणतं कथं भविष्यतीति, एव परेण प्रेरिते सति तदुपपादनायाह–उवणीयं इत्यादि । ' विसमपरिणई कह एयं होहिइत्ति ' इत्येवं पाठे त्वयमर्थः–शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधादेकत्राम्रफलादौ विषमपरिणतिः कथमेषा परिदृश्यमाना भवतीति यद्भण्यते परेण तदुपपादनायाह–उवणीयं इत्यादि, उपनीतं उपदर्शितमाप्तेनेति शेषः, तेन स्वगिरा श्रोतृश्रुतज्ञानगोचरीकृतमित्यर्थः, यदुपनीतं तदेवाह–' तं होइ परणिमित्तं ' तद् वैषम्य भवति परनिमित्तम्, यथा कारणं तथा कार्यमिति न्यायेन कार्यमात्रे द्रव्यक्षेत्रकालभावानां कारणत्वात् तद्रूपसहकारिवैचित्र्य बलतः कार्यमपि विचित्रभावमवाप्नोतीति तदाऽऽम्रादिफलमपि तेन विषमरूपतया परिणमतीति वैषम्यं परनिमित्तमित्यर्थः ' ण वत्ति एत्थत्थि एगंतो ' न वा ' परनिमित्तमेव ' इत्यत्राप्येकान्तोऽस्ति, उपादानविधया स्वस्यापि कथञ्चिन्निमित्तत्वात्, अन्यथा द्विगुणरसादीनां एष एवोपादानाख्याश्रयो न त्वन्य इत्याश्रयनियमो नैव स्यात्, विरोधश्च कालभेदेन देशभेदेन वा निरसनीयः, न चैकत्रैव प्रदेशे द्विगुणरसादित्वे एकगुणरसादिद्वयमभावेशाद्विरोधस्सम्भावनीयः, एकैकगुणापेक्षया द्विगुणपर्यायवतो रसस्य प्रत्येकातिरिक्तत्वेनाविरोधात्, अत एव परापेक्षया षट्स्थानपतितत्वमप्यविरुद्धम्, आपेक्षिकधर्मयोर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरिव विरोधासिद्धेरिति दिक् । तन्नैकान्तद्रव्याद्वैतवादः सङ्गतिमङ्गति । एतेन अथास्तु तर्हि प्रमाणकोटिं नीत एकान्तगुणाद्वैतवादः, रूपादिगुणैरेव द्रव्यकार्योपपत्तेः, अनेकान्तवादस्य तु विरोधादिदोषाघ्रातत्वेन कथमपि नावकाश इत्यपि निरस्तम्, आश्रयाभावे आश्रितानुपपत्तेः, निराधार एवेति चेत्, न, यमहमद्राक्षं तमेव स्पृशामीति प्रतिसन्धानेन तदाश्रयद्रव्यस्यानुभूयमानत्वात्, न च तद्विषयो रूपादिरेवेति वाच्यम्, जात्यन्धस्यापि नीलादिप्रत्ययप्रसङ्गेन तस्य द्वीन्द्रियाऽग्राह्यत्वात्, न चैकमेव वस्तु नयनेन रूपत्वेन त्वचा स्पर्शत्वेन गृह्यत इत्यपि वाच्यम्, तयोर्विरुद्धत्वेन तदाश्रयैकवस्तुनोऽभावात् । अथ रूपत्व स्पर्शत्वयोरेक एव धर्मी, विरोधे मानाभावादिति चेत्, आः ! कीदृशमज्ञानविलसितम्,

येन तयोर्विरोधित्वेऽप्यविरोधित्वम्, भिन्नापेक्षया कथञ्चिद्भेदाभेदयोस्त्वविरोधित्वेऽपि विरोधित्वमभ्युपगतम्। किञ्च रूपवान् घटः, ज्ञानवानात्मेत्याद्रिप्रतीतिर्नैवं भवेत्, किन्तु भवन्मते रूपं घटः ज्ञानमात्मेत्यादिप्रतीतिस्स्यात्। अन्यच्च पीतशङ्ख इति भ्रान्तप्रतीतौ श्वैत्यानुपलम्भेऽपि तदाश्रयोपलम्भतो भासमानपुंसा शङ्खगुणसाऽन्यत्वारे च रूपाद्येऽपि शङ्खस्य तथा प्रताप द्रव्यस्यैव सामान्यं किमिति न कल्पयसि?। पीतात्मकत्वयोस्तत्र शङ्ख एवोक्तभ्रान्तप्रतीतौ भासत इति चेत्, न, स्वस्थपुरुषैः श्वैत्यस्यैवोपलम्भात्। भ्रान्त पुरुषापेक्षया पीतात्मकः, स्वस्थपुरुषापेक्षया च श्वैत्यात्मक एवैकदा शङ्ख उभयथ इति तन्म तथ्यतद्रूपेक्षयैवमेव, एकस्य शङ्खस्यैककालावच्छेदेनोभयात्मकतया केनापि विदुषाऽनभ्यु पगमात्। तदेवं सिद्धान्तोपनिषद्विचारास्यप्रमाणकान्तमनेकान्तवादं स्वीकृत, परिहर च द्रव्यैकान्तवादमितोक्तदोषसङ्करमहारमीत्या गुणैकान्तवादमपीत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन ॥ २२ ॥

अथ द्रव्यगुणयोर्भेदैकान्तवादिनो द्रव्यगुणलक्षणानुपपत्तिमुद्भावयन्ति—

दव्वस्स ठिई जम्मवि–गमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं ।
एवं सइ केवलिणो, जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥ २३ ॥

'दव्वस्स ठिई' द्रव्यस्य स्थितिर्ध्रौव्यं लक्षणमिति शेषः तथा 'गुणलक्खणं' इत्यस्मादिहापि लक्षणमिति सम्बन्धः। 'जम्मविगमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं' जन्म विगमौ उत्पादव्ययौ च गुणानां लक्षणं गुणलक्षणमिति वक्तव्यं स्यात्। 'एवं सइ केवलिणो जुज्जइ त' एवं सति, एवमभ्युपगमे सति, केवलिनः कलामसकलदशापासकविषयविष तत्समस्य युज्यते तदेतल्लक्षणम्, तथाहि–केवलिनः केवलज्ञानस्वरूपं सत्ताविष्कस्वात् एव रूपतो न व्ययमेतीति तदभिन्नस्वात्मरूपेण केवलिनो ध्रौव्यम्–प्रतिक्षणचेतनाचेतनात्मक ज्ञेयपरिणतिपराङ्मुखा तद्विषयकं केवलज्ञानमपि प्रतिक्षणं परावर्तत इत्युत्पादव्ययस्वभाव- केवलज्ञानरूपेण तदभिन्नत्वात् केवलिनोऽपि प्रतिक्षणोत्पादव्ययाविति तस्य त्रिलक्षणत्वं घटते 'णो उ दवियस्स' न तु द्रव्यस्याकाशादेर्लक्षणमिदं युज्यते, न यतो रूपादयो व्यापन्ते भत्यन्तभिन्नत्वात् घटपटादिवत्, अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते, न चापि द्रव्यस्याचेतनस्य, गुणगुणिनोरत्यन्तभेदे सति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकलक्षणं सत्त्वं यद्रूपतोऽनुमतं तत्र द्रव्ये,तत्र ध्रौव्यस्यैकस्य भावात्, नापि गुणे तयोरुत्पादव्ययोरेव सद्भावात्,तथा च सत्त्व किञ्चिल्लक्षणाक्रान्तं भवतीति भवदनुमतोक्तसत्त्वाभावादसतोस्य द्रव्य गुणयोः खपुष्पवादेरिव लक्षणाऽसम्भवादिति द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनो युक्तम् ॥२३॥

अत्रोपरमाह परः—

दव्वत्थंतरभूया, मुत्तामुत्ता य (च) ते गुणा होज्ज ।
जइ मुत्ता परमाणू, णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥ २४ ॥

'ते दव्वत्थंतरभूआ गुणा मुत्ता मुत्ता व होज्ञा' ते तत्र, मत इति शेषः। द्रव्यार्थान्तरभूता गुणा मूर्ता अमूर्ता वा भवेयुः, अथवा द्रव्यार्थान्तरभूतास्ते पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता गुणा मूर्त्ता अमूर्त्ता वा भवेयुः, ते गुणाः किं मूर्त्ता अमूर्त्ता वेति भावः। 'जइ मुत्ता परमाणू नत्थि' यदि मूर्त्ताः यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तर्हि परमाणवो न सन्ति न भवन्ति, मूर्त्तिमद्रूपाद्याधारत्वात्, अनेकप्रादेशिकस्कन्धवत्। अथ यद्यमूर्त्तास्तर्हि तेषामग्रहणम्, अमूर्त्तत्वात्, आकाशवदित्याशयेनाह-'अमुत्तेसु अग्गहणं' अत्र सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् अमूर्त्तानामग्रहणमित्यर्थः, ततो द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भेदाभेदावभ्युपगमनीयौ, अन्यथा प्रतीतिविरोधस्स्यात्, तथाहि-द्रव्यगुणयोर्यथाक्रममेकानेकप्रत्ययावसेयत्वात्कथञ्चिद्भेदः प्रतीयते, कथञ्चिदभेदोऽपि, रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः, अन्यथा तदभावापत्तेः ॥ २४ ॥

एतच्च विवक्षामात्रेणोच्यते, अन्यथा जात्यन्तरात्मके वस्तुनि भेदाभेदाद्यन्यतरकथाया एवासम्भवात्, न हि चित्रं वस्तु नीलपीताद्यन्यतरतया कथ्यते चर्च्यते वा, एकतरजिज्ञासया केवलं तथा प्रतीयत इति। एतदेवाह-'सीसमई' इत्यादि। यद्वा यद्यप्यार्हतसिद्धान्तोक्तानेकान्ततत्त्वाभ्यासजन्यतद्विषयरूपरिपुष्टबुद्धीना सप्तभङ्ग्यात्मकप्रमाणवाक्यस्यैव सप्तविधजिज्ञासानिवर्त्तकसप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकाखण्डबोधजनकतापर्याप्तिमत्त्वादुत्सर्गतस्स्याद्वादरूपप्रमाणवाक्यस्य तथाऽनन्तधर्मात्मकवस्त्वेकदेशोऽपि स्याद्वादरूप एवेति हेतोरितरधर्माऽप्रतिक्षेपितयाऽन्याशेषदेशसाकाङ्क्षैकदेशबोधजनकानां स्याद्वादैकवाक्यतापन्नतत्तन्नयवाक्यानां चाभिधानमेवोचितम्, ताभ्यामेव यथार्थतत्त्वाधिगतेः, संवदति चात्र "प्रमाणनयैरधिगमः।" १-६ इति तत्त्वार्थसूत्रमपि, न त्वितरधर्मानपेक्षितयैकधर्ममात्रप्रतिपादकस्वतन्त्रतत्तन्नयवाक्यानाम्। एकान्ततत्त्वानामसद्रूपत्वेन तत्प्रतिपादकानां तेषां मिथ्यारूपत्वात्, तथापि स्याद्वादवाक्यात्मकप्रमाणवाक्यतज्जन्याशेषांशविशिष्टपरिपूर्णवस्तुविषयकनिराकाङ्क्षशाब्दबोधात्मकज्ञानविशेषकार्यकारणभावविज्ञानरूपा या स्याद्वादव्युत्पत्तिस्तदर्थितया शिष्याणामशग्राहिषु नयवादेष्वप्यपवादतः प्रवृत्तिरुचितैव, न हि प्रत्येकतत्तदंशज्ञानाभावे निखिलांशविशिष्टार्थज्ञानं भवितुमर्हतीत्यशेषांशविशिष्टार्थबोधे एकैकतत्तदंशविषयकनयज्ञानानामपि हेतुत्वम्। ननु तदितरांशनिरपेक्षतत्तदंशविषयकनयवादानां मिथोविरोधिनां तद्विषयाऽसत्यत्वेनायथार्थज्ञानजनकत्वात्तत्त्वतो मिथ्यारूपत्वादसत्यत्वेन तदुक्तयुक्त्याश्रयणं नोचितमिति चेत्, सत्यम्, तथापि "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः सत्यं समीहते" इत्यादिन्यायेन शिष्यमतिविस्फारणार्थं तदुक्तयुक्त्याश्रयणमपि न्याय्यम्, एकान्तविषयाऽसत्यत्वेन तत्प्रतिपादकानां सर्वेषां नयवादानां स्वरूपतोऽसत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्युत्पादकतया फलतः सत्यत्वादित्याशयेनाह—

सीसमईविप्फारण-मेत्तत्थोय कओ समुल्लावो ।
इहरा कहामुहं चेव, नत्थि एवं ससमयम्मि ॥ २५ ॥

" सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोय " शिष्यमतिविस्फारणमात्रार्थोऽयं, विनीतविनेयबुद्धिविकासनमात्रफलकोऽयं, द्रिकरणयोगशुद्धिपुरस्सरमत्यन्तकृतनानामन्तेवासिनां विनयभक्तिभावेन सुगुरूपासकानां सप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्यजन्यप्रमाणात्मकाऽखण्डशाब्दबोधजनकाद्यान्तरनयवाक्यार्थविषयकखण्डबोधोत्पादनमात्रफलकोऽयमिति यावत् । " कओ समुल्लावो " कृतः समुल्लापः, विहितः प्रबन्धः । 'इहरा' इतरथा स्याद्वादस्य वस्तुस्वरूपापकत्वेन वस्तुमात्रस्यानेकान्तात्मकत्वात् 'कहामुहं चेव नत्थि एवं ससमयम्मि' किमेते गुणा गुणिनो भिन्ना आहोस्विदभिन्ना इत्येवं स्वसमये अर्हत्सिद्धान्ते कथैवैषा नास्ति, एकान्तनयविषयाऽसत्त्वेन तद्रूपा नैव प्रमाणमार्गं भजत इति स्याद्वादागमतत्त्वज्ञेन न सा प्रतिपादनीया, अत एव " नैकान्तवादस्यां भाषां भाषेत " इति सिद्धान्तोक्तमपि सङ्गच्छते । नयवाक्यनिषेधः स्वतन्त्रनयविषय एव, स्याद्वादैकवाक्यतापन्ननयवाक्यानां तु परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयताकनिराकाङ्क्षाऽखण्डमहावाक्यार्थबोधानुकूलांशबोधजनकतया सुनयरूपत्वादेव तद्रूपा नाप्रतिपादनीया, अपेक्षावचनात्मकसुनयवाक्यप्रकारेण सापेक्षप्रतिनियतधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधद्वारा निर्दुष्टस्य सत्यतया व्यवहारस्य विशेष्यविशेषणभावादिव्यवहारस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारस्य च सिद्धेरिति भावः ॥ २५ ॥

यद्वस्तु यद्धर्मान्वितं यद्वस्तु तद्रूपेणैव प्रतिपादयन्तस्सम्यग्वादिनः, न त्वन्यथेति पूर्वोक्तनीत्या जीवाजीवादिनिखिलवस्तु अनेकान्तात्मकतया प्रत्यक्षानुमानागमादिप्रमाणसिद्धम् एकान्तात्मकतया ये तत्प्रतिपादयन्ति ते मिथ्यावादिन इति न ते यथार्थतत्त्वमवगच्छन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

ण वि अत्थि अण्णवाओ, ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।
तं चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति ॥ २६ ॥

'ण वि अत्थि अण्णवाओ' अत्रापेरेवार्थत्वान्नैवास्ति अन्यवादः, गुणगुणिनोरेकान्तभेदवादः । 'ण वि तव्वाओ' नाऽपि तद्वादः, तयोरेकान्ताऽभेदवादः, कस्मिन् सिद्धान्त इत्याकाङ्क्षायामाह—'जिणोवएसम्मि' जिनोपदेशे, अर्हत्प्रणीतसिद्धान्ते, वस्तुस्वरूपापकत्वादनेकान्तात्मकत्वस्य, वस्तुमात्रस्य कथञ्चिद्भेदाभेदोभयधर्मार्पितत्वात् । 'तं चेव य मण्णंता' तदेव अभिन्नमेव एकान्तभिन्नमेव वा वस्त्विति मन्यमाना अर्थाद् गुणगुणिभावेकान्तेनाभिन्नावेव भिन्नावेवेति मन्यमाना 'अवमण्णंता' अत्र मननीयं वादिनमेवेति शेषः, तथा च मननीयमवमन्यमाना वादिनः, 'ण याणंति' न जानन्ति, यथार्थं तत्त्वमिति शेषः, पारमार्थिकप्रमोक्षविषयाऽवगमनाविषयाविचारदशा भवन्ति, ये च जिनेन्द्रागमित

द्वादशाङ्गोक्तामलतत्त्वावगणनाविधायिनो न ते यथार्थतत्त्वमवगच्छन्ति, अन्यथावादिनिक्षेपादिवदिति तात्पर्यार्थः ॥ २६ ॥

एतावता प्रबन्धेनाऽनेकान्तवाद एव सद्युक्त्या सिद्धिकोटिं नीतः, तथाहि—ज्ञानात्मनोर्घटरूपाद्योश्च न तावदेकान्तभेदः, तथा सति हिमवद्विन्ध्याचलयोरिव सम्बन्धाऽयोगत आत्मनोऽज्ञत्वं घटादेश्च नीरूपत्वादि प्रसज्येत, भिन्नत्वाविशेषाद्वाऽऽकाशादावपि सचेतनत्वं रूपादिमत्त्वं च भवेत् । ननु नैवं भवेत्, यतः सर्वथा भिन्नयोरप्यव्यवहितयोर्घटभूतलयोस्संयोगस्येवायुतसिद्धयोर्ज्ञानात्मनोर्घटरूपाद्योश्चापि समवायसम्बन्ध इति तेनात्मनि ज्ञानस्य घटे च रूपादेस्सद्भावादिति चेत्, मैवम्, यतो न सम्बन्धिनोरसम्बद्धस्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धिमाधातुं क्षमः, तथा सत्यात्मज्ञानयोरिवाकाशज्ञानयोरपि समवायसम्बन्धो विशिष्टबुद्धिं विदध्यात्, अतस्सम्बद्धस्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धिं जनयतीत्यभ्युपगन्तव्यम्, अथ समवायसम्बन्धस्स्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्ध इति ज्ञानप्रतियोगिकस्स आत्मना सहैव स्वरूपसम्बन्धेन सम्बद्ध इति तत्रैव विशिष्टबुद्धिं करोतीति चेत्, तर्हि वरं प्रथमत एव तस्याभ्युपगमनं, किमन्तर्गडुना समवायेनेति, अधिकं पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते, तन्नैकान्तभेदो युक्तः । नाप्येकान्ताऽभेदः, तथा सत्यात्मनि ज्ञानं ज्ञानवानात्मा, घटे रूपं रूपवान् घट इत्यादिभेदावगाहिप्रतीतिर्नैव प्रामाणिकी भवेत्, अभिन्नयोराधाराधेयभावाभावात्, प्रत्युत आत्मा ज्ञानं ज्ञानमात्मा घटो रूपं रूपं घट इति इति प्रतीतिस्स्यात्प्रमात्मिकेति प्रमाणप्रथा मनोरथमात्रार्था स्यात्, घटादिवद्रूपस्यापि द्वीन्द्रियवेद्यत्वं रूपादिवद् घटादेरपि प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वं च स्यात्, अथाभिन्नयोरपि तादात्म्यसंसर्गेणाधाराधेयभावो भविष्यतीति चेत्, तदपि न युक्तम्, तस्य स्वस्मिन् स्वसम्बन्धित्वस्यैव नियामकत्वात्, अन्यथा घटे घटो घटवान् घट इत्यादिप्रतीतिरपि स्यात् प्रमात्मिका, ओमिति चेत्, तथाप्याधारत्वाधेयत्वधर्मभेदेनैव भिन्नत्वप्रसङ्गः, धर्मयोर्धर्मिरूपत्वान्नैवमिति चेत्, तथाप्येकानेकत्वस्यैव सुदृढनिरूढत्वं प्राप्तम्, द्विरूपस्यैकरूपत्वान्यथाऽनुपपत्तेः, आधारत्वाधेयत्वधर्मयोः काल्पनिकत्वकथनं त्वनुचितमेव, तद्वतोऽपि तथात्वापत्तेः, विशेषणस्यापारमार्थिकत्वे विशिष्टस्याप्यपारमार्थिकत्वस्याविगानेन सिद्धत्वादिति कथञ्चिद्भेदाभेदस्यैव सम्बन्धव्यापकत्वेन तदभावे तदभावस्स्यात्, व्यापकाभावस्य व्याप्याभावनान्तरीयकत्वात्, तथा च द्रव्यगुणौ भिन्नावच्छेदेनैकाधिकरणवृत्तित्वसंसर्गेण भेदविशिष्टाभेदवन्तौ सम्बन्धाऽन्यथाऽनुपपत्तेरित्याद्यनुमानेन भेदाभेदात्मकत्व सिद्धिसौधमध्यास्ते । अथ साध्याऽप्रसिद्धिश्वपाकसस्पर्शमाजित्वात् तत् तत्साधनक्षमं नेति चेत्, मैवम्, अनुयोग्युपस्थापकपदसमानविभक्तिकप्रतियोग्युपस्थापकपदसमभिव्याहृतस्य नञो भेदप्रत्यायकत्वेन मूले महीरुहो न कपिसंयोगीति प्रत्ययबलात् प्राज्ञशिरोमणिना शिरोमणिना शाखामृगसंयोग्यऽभिन्न एव वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसंयोगिभेदप्रसाधनात् । अथास्तु तं प्रति तत्सिद्धिः, तद्भिन्न प्रति सा कथमिति चेत्, उच्यते,

भेदाभेदोभयरूपत्वेन भेदाभेदोभयस्य साम्यता विभाय सा प्रसाधनीयेति । न चोभयत्व
स्याप्येकधर्मिविशिष्टपरस्परूपत्वेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्, विरुद्धयोरपि घटत्वपटत्व
योरुभयत्वेन प्रत्ययात् तस्य तद्रूपत्वाभावात् । भेदाभेदोभयपक्षे सिद्धान्ते ईश्वरवादिमते
क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमानेनोपादानाभावरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वमिति कर्तृत्व
लक्षणेन किञ्चिज्ज्ञत्वं द्व्यणुकोपादानपरमाणुविषयकप्रत्यक्षज्ञानाद्यसम्भवेन तद्रूपाभावात् च
यमेतावत्कालीनसर्वसिद्धिप्रकारसम्बन्धात्मक एव सिध्यति, तदुक्तं श्रीमहावीरस्तवे पूज्यपादो-
पाध्यायैः " स्याद्वादवस्तव तु वाचमनान्तरार्ह, समग्रधर्म स्वपरत्वं न जहाति नाथ "
इत्यादि ॥ अनेकधर्मिणि स्वधर्मभेदाभेदाभ्यमभिन्नवस्तुन्यान्तरीयास्तु..., अहो आर्हता
केनेदं सुदृढं दुष्कमिति प्रत्ययमकारि, येन परस्परविरुद्धरूपत्वात् वह्निजलयोरिव विरुद्धा
वपि भेदाभेदावविरुद्धावित्यङ्गीकुरुथ । न च परस्परविरुद्धरूपत्वहेतुरेवासिद्धः पक्षे एकान्ते
चैतिस्वरूपासिद्धिव्याप्यत्वासिद्धिदोषद्वयग्रस्तत्वस्य इति वाच्यम्, यतो वह्निमति वह्न्यभावस्या
प्रतीतेस्तदभावस्य व्यवहाराच्च धूमवतो वह्न्यभावविरहात्मकत्वं, एवं वह्न्यभाववति वह्ने-
प्रतीतेस्तदभावस्य च संवेदनाद्वह्न्यभावो वह्निविरहात्मक इति न स्वरूपासिद्धिः, एवं
घटभेदवति घटे घटभेदस्याप्रतीतेः तदभावस्य च व्यवहियमाणत्वाच्च घटभेदो घटाभेद
विरहात्मकः, एवं घटाभेदोऽपि घटभेदविरहात्मको ज्ञेय इति न स्वरूपासिद्धिरपि, तथा
चैकत्राभिधेयेऽपराभिधेयत्वं भावेनैकरूपमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा दृष्टहानेरदृष्ट
कल्पनापातश्च प्रसङ्ग इति चेत् अहो पण्डितम्मन्यानां भवतां न्यायनिष्णातत्वम्, विरोध
लक्षणमपि नैव सम्यग्ज्ञातम्, यतो विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम् । यथात्र किं वाच्यम्,
एकाधिकरणावृत्तित्वं तदिति चेत्, तत्र सहृदयानां चमत्कृतिं विचये, यत इदं रजत-
मित्याविभ्रान्तज्ञाने धर्म्यंशे प्रामाण्यं प्रकारांशे चाऽप्रामाण्यमिति तयोरप्येकस्मिन्नेव ज्ञाने
वृत्तित्वाद्विरोधो न स्यात्, एवमिह पर्वते नितम्बे वृक्षाश्च न शिखरे इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव
गिरिवरे नितम्बशिखरदेशावच्छेदेन वृक्षतदभावयोर्वृत्तित्वेन तयोरप्यविरुद्धत्वं स्यात् ।
एवमिदानीं तन्तौ न घट इति प्रतीतेः घटवत्यपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य सद्भावात्
घटतदभावयोरपि विरोधो न स्यात् । अथ यद्देशावच्छेदेन प्रतियोगी यत्र वर्तते तद्देशावच्छेदे
नैव तदभावो न तत्र वर्तते इत्येतावता तयोर्विरोधोऽस्त्वेव एवेति चेत्, तदपि न, इदानीन्त
ननघटवत्यपि भूतलेऽतीतानागतघटप्रागभावावच्छेदेन तदभावप्रतीतेर्भिन्नकालावच्छेदेनाप्येकत्र
तत्तदभावयोरपि वृत्तेर्विरोधो न स्यात् । अथ तथाऽविरोध नाभ्युपगम्यत इति चेत्, नैवम्,
घटविनाशकाले इह कपाले न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि कपाले घटप्रागभावकालावच्छेदेन
तदभावस्याप्यभ्युपगमात् । प्रतियोगितदोरपि देशकालयोः कालदेशभेदावच्छेदेन तदभाव
इति विरोधमविचयनात् । अथ यद्देशकालावच्छेदेन यत्र यो वर्तते तद्देशकालावच्छेदेन तत्र
तदभावो न वर्तत इत्येवं विरोधलक्षणं क्रियत इति मौलदोष इति चेत्, तदापि पर्वते

संयोगेन वह्निर्यद्देशावच्छेदेन यत्कालावच्छेदेन च वर्त्तते तद्देशकालावच्छेदेन पर्वते समवायसम्बन्धावच्छिन्नवह्निनिष्ठप्रतियोगिताकाभावस्य विद्यमानत्वेन वह्नितदभावयोर्विरोधो न स्यात्। अथ येन सम्बन्धेन यद्देशकालावच्छेदेन यत्र प्रतियोगी तत्र तेन सम्बन्धेन तद्देशकालावच्छेदेन तदभावो नेत्येवं सम्बन्धदेशकालघटितमेव विरोधलक्षणं क्रियत इति चेत्, तर्हि स्वद्रव्यक्षेत्रकालाभावैर्घटस्सन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चासन् द्रव्यार्थतया नित्यः पर्यायार्थतया चाऽनित्य इत्येवमेकवस्तुन्यापेक्षिकतत्तदभावप्रतिपादकस्याद्वादागमतत्त्वज्ञैर्भेदाभेदयोर्भिन्नावच्छेदेनैकवस्तुन्यभ्युपगमे का प्रोक्तलक्षणविरोधक्षतिरिति विभाव्यताम्। अथ परस्परविरहनिष्ठापाद्यतानिरूपितापादकताकत्वलक्षणं विरोधस्येति चेत्, तदप्यत्र नोपयुक्तम्, यतश्शीतत्वोष्णत्वयोरिव ययोः परस्पराभावव्याप्यत्वं तयोरेवोक्तलक्षणविरोधो घटते, न तु घटतदभावयोरिव परस्परविरहरूपयोर्भेदाभेदयोः, तथा च यदि भेदस्स्यात् तर्ह्यभेदो न स्यादित्यापादनमापादकस्य भेदस्यापाद्याभेदाभावरूपत्वेन तथा यद्यभेदस्स्यात्तर्हि भेदो न स्यादित्यापादनमभेदस्यापादकस्यापाद्यभेदाभावरूपत्वेनापाद्यापादकयोर्भेदो नेति तयोर्व्याप्यव्यापकभावाऽभावान्नोक्तलक्षणं कर्तुं शक्यमिति प्रकृते तन्न सङ्गच्छते, सहानवस्थानलक्षणं त्वत्रैव चरितार्थमिति, तन्नानेकान्ततत्त्वाभ्युपगमे विरोधगन्धलेशोऽपि। यदुक्तमध्यात्मोपनिषदि—

> "भिन्नापेक्षा यथैकत्र, पितृपुत्रादिकल्पना।
> नित्यानित्याद्यनेकान्त,-स्तथैव न विरोत्स्यते ॥ १ ॥" इति।

एतेन यदवच्छेदेन भेदस्तदवच्छेदेन भेद एव, यदवच्छेदेनाभेदस्तदवच्छेदेनाभेद एवेति कथमेकमेवोभयरूपम्। अथ भेदावच्छेदकरूपेणाऽभेदोऽपि अभेदावच्छेदकधर्मेण भेदोऽपीति चेत्, तर्हि सङ्करदोषप्रसङ्गः, सर्वेषां युगपत्प्राप्तेः, तदुक्तम् "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः" इति, इत्यपि निरस्तम्, स्वस्वरूपापेक्षयैकस्वरूपेऽपि धर्मिणि स्वीयस्वीयभिन्नभिन्ननिमित्तापेक्षयोभयरूपत्वे विरोधाभावात्, यतो न ह्येकापेक्षयैव भेदाभेदोभयेन भाव्यमित्येवं तत्त्वविन्नीतिरिति। भेदावच्छेदकरूपेणाभेदोऽपीत्यादि व्यायानभिज्ञताविलसितमेव, यतो न हि सकर्णेन सनिरूपकपदार्थानामेकापेक्षयैवैकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वमभ्युपगम्यते, अन्यथा यदपेक्षया ह्रस्वत्वं तदपेक्षयैव दीर्घत्वं च स्यात्। एतेन सङ्करप्रसङ्गोऽपि निरस्तः, एकावच्छेदेन युगपद्भेदाभेदोभयस्यानभ्युपगमात्। अत एव भिन्नभिन्नापेक्षकभेदाभेदाद्युभयावगाहिप्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरत्वाद्वस्तुमात्रं यथार्थभानाङ्कितानेकान्तात्मकतयैव निश्चीयत इति न संशयाऽप्रतिपत्त्यादयः केऽपि दोषा उद्भावयितुं योग्याः। तदेवं विरोधादिदोषाकलङ्कितयाऽनेकान्ततत्त्वमेव प्रमाणकोटिमाटीकत इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

नन्वनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वा, आद्ये तत्राप्यनेकान्तः, तत्राप्येवमित्येवमनेकान्त-

प्रायशा अविच्छिन्नेरनवस्थाप्रसक्त्याऽऽकाङ्क्षितार्थकत्वाभाविनी स्यात्, द्वितीये एकान्तत्वप्रसक्तिः, द्वौ नञौ प्रकृतं गमयत इति न्यायात्, तथा चात्र घटपटादिकमनेकान्तात्मकं वस्तुत्वादिति पर्यवसितानुमानेऽनेकान्त एव व्यभिचारदोषप्रसक्तिः, अनेकान्तात्मकत्वाभावस्यैकान्त एव वस्तुत्वहेतोस्सत्त्वादिति चेत्, उच्यते, यो हि वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकमिति ब्रूते स कथमनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वेति पर्यनुयुज्येत, अनेकान्तस्यैव वस्तुत्वव्याप्यत्वेन विनानुगैकत्वसाधनेनानेकान्तेऽनेकान्तत्वाभावे वस्तुत्वव्यापकत्वाभावप्रसङ्गेन तथात्वं न स्या दिति तदन्यथानुपपत्त्याऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तत्वस्याङ्गीकारात्, न चानवस्था, तृतीयचतुर्थयो न्योन्याभावयोर्न्यूनत्वे प्रथमद्वितीयात्मकत्वाभावात्मकत्वात् तृतीयचतुर्थानेकान्तयोरपि प्रथम द्वितीयानेकान्तात्मकत्वाभ्युपगमात्, यथा नैयायिकादीनां घटाभावोऽतिरिक्त एव, तदभावश्च घट एव, तृतीयाभावश्चाद्याभाव एव चतुर्थाभावश्च द्वितीयाभाव एव, इत्यादिरीत्या नानवस्था तथाऽस्माकं "अनेकान्ता । १ । अनेकान्तानेकान्त एकान्तः ॥ २ ॥ घटाभावाभावो घट एवेति द्वितीयभेदः । तदनेकान्त भाव एव, घटाभावाभावाभावो घटाभाव एवेति तृतीयभेदः । " तदनेकान्तश्च द्वितीय एवेति का नामानवस्थेत्याशयेनाह—

भयणा वि हु भइयव्वा, जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं ।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण ॥ २७ ॥

"जह भयणा भयइ सव्वदव्वाइं" यथा भजना भजते सर्वद्रव्याणि, यथाऽनेकान्तो जीवाजीवसर्ववस्तूनि विभाजयति नित्यानित्यमित्यादिविकल्पस्वभावात्मकतया ज्ञापयति तथा "भयणा वि हु भइयव्वा" भजनाऽपि अनेकान्तोऽपि खलु भजनीया, स्यादेकान्ता स्यादनेकान्त इत्येवमनेकान्तोऽप्यनेकान्तः । यद् यद्वस्तु तत्तदनेकान्तात्मकम्, यथाऽस्य घटादिकमिति व्याप्त्याऽनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वव्यापकत्वेन सिद्धेस्तन्नापेतनयोरिवानेकान्तेऽपि व्याप्यस्य वस्तुत्वस्य नियमेन सत्त्वाद्व्यापकस्यानेकान्तत्वस्याऽप्यवश्यम्भावेना नैकान्तस्याप्यनेकान्तानुविद्धैकान्तगर्भत्वात् । कथमनेकान्तेऽनेकान्त इति चेत्, उच्यते, नयापेक्षया स्यादेकान्तः प्रमाणापेक्षया च स्यादनेकान्तः, "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः" इत्यभिधानात् । तथाहि—यथा भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैकस्वरूपे वस्तुनि भिन्नत्वाभिन्नत्वाद्यन्यतरधर्मावच्छेदकावच्छेदेनैकतरधर्मात्मकत्वम् उभयधर्मावच्छेदका वच्छेदेन चोभयधर्मात्मकत्वं तथा नित्यत्वानित्यत्वादिसप्तधर्मात्मकत्वप्रतिपादकवाक्य पर्यात्मविकल्पेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छेदेनोभयरूपत्वेऽनेकान्तात्मकत्वं प्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्वं च न दुर्घटमिति भावः । एतदेवाह—" एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण " भजनानियमस्य चक्रगर्भत्वात्, एवं पूर्वोक्तरीत्या भजना अनेकान्तो नियमश्चैकान्तश्च समयस्य सिद्धान्तस्य " रयणप्पभा सिय सासया सिय

असासया" इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य "दव्वट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया" इत्येवं चैकान्ताभिधायकस्याऽविरोधेन सिद्धो भवति। खण्डखाद्ये—

देशेन देशदलनं भजनापथे तु, त्वच्छासने निजकरेण मलापनोदः।
व्याघातकृन्न भजनाभजना जनाना,-मित्थं स्थितौ शबलवस्तुविवेकसिद्धिः॥४२॥

इति श्लोकटीकायामित्थमुक्तम्—भजनाभजना स्याद्वादेऽपि स्याद्वादः, न व्याघातकृत् न स्याद्वादलक्षणक्षतिकृत्, एकत्र धर्मिणि प्रतिधर्मं सप्तधर्मप्रकारकबोधजनकतापर्याप्तिमद्वाक्यत्वस्य स्याद्वादलक्षणस्य प्रतिभङ्गमेकधर्मावधारणत्वरूपनयत्वेऽप्यविरोधात्। तदाह समन्तभद्रः—अनेकान्तेऽप्यनेकान्त इत्यादि, प्रमाणत्वमाश्रित्यानेकान्तः नयत्वमाश्रित्य चैकान्त इत्येतदर्थः। यदि च स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्ग्यात्मकमहावाक्ये स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेव तदर्थः, तदा सामान्यतोऽवच्छेदकलाभे विशेषतस्तज्जिज्ञासायां तदनन्तर स्वद्रव्यापेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिरेकान्तेन नयवाक्यप्रयोग इति तस्यापि प्राक्तनानेकान्तसापेक्षत्वेनानेकान्ताऽनेकान्तत्वं परिभाषते, अत एव नानवस्था, तृतीयचतुर्थानेकान्तयोः प्रथमद्वितीययोरेव विश्रामात्, अन्योन्याश्रयस्तु प्रामाणिक इति बहवः। विशेषतोऽवच्छेदकजिज्ञासाया अपि सप्तविधाया औत्सर्गिकत्वात्, भङ्गद्वयप्रयोगस्य च व्युत्पन्नापेक्षत्वात्, सामान्यविशेषभावेन सप्तभङ्गीद्वयविश्रामे तदादिवत् स्यात्पदेन लब्धस्यार्थस्य विवरणेन स्पष्टत्वार्थं चोत्तरप्रयोगान्न दोषस्पर्शोऽपीति वयमित्यादि। अत्र प्रमाणत्वमाश्रित्येत्यादेरयमर्थः—स्याद्वादः प्रतिभङ्गमेकधर्मावधारणरूपत्वेन नयात्मकः, सप्तभङ्ग्यपेक्षया तु सप्तधर्मावधारणरूपत्वात् प्रमाणरूपः, अतो नयत्वप्रमाणत्वोभयधर्मशालित्वात् स्याद्वादोऽपि स्याद्वादरूप इति। अस्मिन् कल्पेऽवच्छेदकस्य सङ्कोचविकासभावेनैकान्तत्वानेकान्तत्वविचारणा न कृता, यदि चेति कल्पे तु तथाविचारणा कृतेति विशेषः। अयम्भावः—स्यादस्त्येवेति भङ्गे स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयत्वेन रूपेण स्वद्रव्यादीनां चतुर्णामप्युपसङ्ग्रहादनेकावच्छेदकमुखेनावच्छेद्यप्रतिपादनादनेकान्तत्वम्, विशेषावच्छेदकजिज्ञासया प्रतिपाद्यमाने च स्वद्रव्याद्यपेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिभङ्गे प्रतिनियतावच्छेदकविशेषमुखेनावच्छेद्यप्रतिपादनादेकान्तत्वमिति कृत्वा स्यादस्त्येवेत्यादि सप्तवाक्यापेक्षयाऽनेकान्तः, स्वद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्त्येवेत्यादिमसप्तभङ्गापेक्षयैकान्त इत्यनेकान्ते सामान्यतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तत्तद्भङ्गस्यावच्छेदकांशेऽनेकान्तत्वं विशेषतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तत्तद्भङ्गस्यावच्छेदकांशे एकान्तत्वमित्येवमनेकान्तत्वैकान्तत्वोभयधर्मयोगादनेकान्तता, पूर्वं स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्ग्यास्सामान्यतोऽवच्छेदकमादाय सप्तधर्मज्ञानम्, ततश्च सामान्यज्ञानाद्विशेषजिज्ञासया स्वद्रव्याद्यपेक्षया स्यादस्त्येवेत्यादिसप्तभङ्गीप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्त्या च प्रथमसप्तभङ्ग्यात्मकाने-

कान्तस्य स्वस्वरूपेणानेकान्तत्वेऽपि द्वितीयसप्तभङ्गयपेक्षया एकान्तत्वमित्यनेकान्तता, एवं द्वितीयसप्तभङ्ग्यास्स्वस्वरूपेणैकान्तत्वेऽपि प्रथमानेकान्तसप्तभङ्गयपेक्षयाऽनेकान्तत्व मित्यनवस्थैवेति। अन्यत्सर्वमत्र भगवत्प्रणीतमहाशास्त्रकल्पलतिकातोऽवसेयम्, विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते ॥ २७ ॥

नन्वनेकान्तत्वस्य वस्तुस्वभावत्वे षड्जीवनिकायास्तित्वानुपाते चारित्रं इत्यभ्युपगमेऽप्य- न्यापत्तिरस्त्यादिस्याद्वादानभिज्ञतया परिहर्तुमाह—

> णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ ण सद्दहइ ।
> हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता ॥ २८ ॥

'णियमेण सद्दहंतो" नियमेनावधारणेन श्रद्दधते जीवाः कायाएवेत्येवं श्रद्दधानः "छक्काए भावओ न सद्दहइ" षट्कायान् भावतः परमार्थतो न श्रद्धत्ते, जीवराशेरेकत्वेन तदपेक्षया जीवैकत्वस्य कायेष्वपि पुद्गलत्वेन रूपेणैकत्वस्य जीवपुद्गलप्रदेशानां परस्पर विनिर्भागवृत्तित्वाज्जीवप्रदेशेष्वपि कथञ्चिदजीवत्वस्य च निकायेष्वपि प्रत्येकं प्राधान्यविव क्षया कथञ्चिदनिकायत्वस्य च सद्भावेऽपि, एवं प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसेति हिंसा लक्षणाक्षेपः प्रमादकृतहिंसा हिंसैवेति यथा स्याद्वादः, अप्रमादकृतहिंसा त्वहिंसैव, उक्त हिंसालक्षणाभ्यटनादिति यथा नाथमतः, सूत्रविहितविधिना प्रवृत्तत्वात्, इत्युभयधर्मस्य सद्भावेऽपि च तदुभयरूपेण यथावस्थितानेकान्तात्मकवस्तुज्ञानाभावान्न भावसम्यग्दृष्टिरसौ, प्रमाणसङ्कलनचतुरगर्भमतप्रवीणप्रज्ञत्वाभावात् कथञ्चित्षट्त्वादिकथञ्चित्षट्त्वादिकथञ्चिन्निकायत्व कथञ्चिदनिकायत्वादिसप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकबोधाभावेन जिनप्रज्ञप्तषट्त्वाषट्त्वादि सप्तधर्मान्वितभावविषयकसमूहालम्बनस्याभावात्, प्रत्येकधर्मघटितसप्तभङ्गजन्यसप्तधर्मधर्मि- प्रकारकबोधसम्यक्त्वबोधजनितसमूहालम्बनरूपेणैव भावप्रत्यासत्तिसत्त्वात्, द्रव्यसम्यग्दृष्टिरेव स्यादेव, सम्यग्दर्शनासद्भावनिबन्धनया जिनवचनरुचिस्वभावस्य संक्लेशसम्भवस्य तत्र सद्भा वात् । उक्तञ्च सङ्क्षेपसम्यक्त्वलक्षणप्रधानाभ्ययनाद्भगवद्व्याख्याप्रज्ञप्तौ—

> 'अणभिग्गहियकुदिट्ठी, संखेवरुइत्ति नायव्वो ।
> अविसारओ पवयणे, अणभिग्गहिओ य सेसेसु ॥ २९ ॥" इति ।

नियमेन षड्कायान् श्रद्दधत् भावतो न श्रद्धत्ते इति भावतो न सम्यग्दृष्टिरित्यत्रैव हेतु सर्वमार्थप्रवरार्थमाह–हंदीत्यादि । 'हंदि' इत्युपदर्शने यतः अपर्यायेषु सप्ताप्यपर्यायरूपघटितेषु धर्मेषु अपेक्षिताक्रमत्वात् सद्दहणाप्यविभक्ताऽसम्पूर्णा भवति, द्रव्यसम्यग्दर्शनरूपा भवतीति यावत् । यद्वा 'हंदि' इत्युपदर्शने, यतः अपर्यायेषु एकत्वादिप्रकारघटितेषु षट्सु कायेषु अपेक्षित क्रमत्वात् श्रद्धाप्यविभक्ता अविविक्ता–संक्लिष्टा भवति, द्रव्यश्रद्धारूपैवशुद्धा भवतीति यावत् ।

एगविह दुविह तिविहा, चउव्विहा पंच छव्विहा जीवा।
चेयण-तस इयरेहिं, वेय-गइ-करण-काएहिं ॥ १ ॥

इति सिद्धान्तोक्तैरेकविधद्विविधत्रिविधत्वादिसिद्धान्तोक्तयावत्प्रकारैः ... जीवतत्त्वावबोधो न तस्येति स्याद्वादेन विविक्तषट्कायपरिज्ञानं विना ... विवेचनं विना चौघतस्तद्रागमात्रसद्भावात्। अतएवोपदेशरहस्ये—

" सदसदविसेसणाओ, विभज्जवायं विणा ण सम्मत्तं।
जं पुण आणारुइणो तं निउणा विंति दव्वेणं ॥ १०० ॥"

इति गाथटीकायां " यत्पुनराज्ञारुचेः प्रियगीतार्थाज्ञस्य मार्गानुसारिणः सम्यक्त्वं ... तन्निपुणाः सिद्धसेनदिवाकरप्रभृतयः द्रव्येण ब्रुवते स्याद्वादपरिणतिं ... निर्जराजनककर्मक्षयोपशमरूपायास्तेऽनखंडितत्वादित्युक्तम्।

तथा च नियमतः षट्कायश्रद्धानेऽपि भगवतैवमुक्तमिति जिनवचनरुचिमत्त्वाद् द्रव्यतः सम्यग्दृष्टित्वम्, न तु भावतः, भावसम्यग्दर्शनस्य सकलनयविषयविवेचनसाध्यत्वात्, ... विधद्विविधादिपर्यायाऽपरिच्छेदे तदनुपपत्तेरिति भावः। अत एव शास्त्रे सम्यक्त्वं ... भावभेदाद् द्विविधं प्रोक्तम्, तत्र परमार्थाऽपरिज्ञानेऽपि भगवद्वचनतत्त्वरुचिराद्यम्, पर... परिज्ञानतश्च द्वितीयम्, तच्च नयनिक्षेपादिपरिच्छेदाधीनयथाऽवस्थितवस्तुतात्पर्य... ज्ञानजन्यविशिष्टप्रवचनतत्त्वरुचिस्वभावम्। तदाह—

" तुह वयणतत्तरुई, परमत्थमयाणओ वि दव्वगयं।
इयरं पुण तुह समये, परमत्थावगमओ होइ ॥ १ ॥ " इति।

उक्तलक्षणं द्रव्यसम्यक्त्वमपि शुभात्मपरिणामविशेषानुगतं भावसम्यक्त्वरूपम... व्यभिचरति, अर्पितानर्पितसिद्धेरुभयरूपाविरोधात्, अत एव रुचिभेदा अपि द्रव्य... स्वरूपेण भासमाना अपि क्षायोपशमिकादिभेदेष्वंतर्भाविता वाचकचक्रवर्तिना ... तदयमपेक्ष्यैव द्रव्यभावविभागो भावनीय इत्युक्तं प्रतिमाशतकटीकायाम्।

यद्वा अपर्यायेषु एकादिप्रकाररहितेषु षट्सु कायेषु श्रद्धाऽविभक्ता भवति, स्याद्वा... परिसमाप्याकाङ्क्षाऽपरिपूर्त्याऽविश्रान्ता भवति, एगविहदुविहेत्यादिपूर्वगाथोक्तप्रक... तद्विश्रान्तिसम्भवात्, यतो नियमेन षडेव जीवनिकाया इति श्रद्धानवतः प्रकृतप... धर्मघटितसप्तभङ्गप्रतिपाद्यसप्तधर्मपर्याप्तप्रकारताकस्य स्याद्वादजन्यबोधस्याऽभावेन ... समाप्यायास्तादृशबोधनिवर्त्याया आकाङ्क्षायास्सप्तविधधर्मजिज्ञासाया निवृत्तिलक्ष... पूर्तेरभावेन षडेव जीवनिकाया इति श्रद्धा अविश्रान्ता अपरिपूर्णा भवति। अत्र ... जिज्ञासुभिर्नयोपदेशटीकाऽनेकान्तव्यवस्थाऽष्टसहस्रीप्रतिमाशतकाद्योऽवलोकनीया

तदेवमत्राप्यर्थव्यञ्जनपरिकल्पितमतेर्भेदनिबन्धपर्यायेषि स्यादेकस्यानेकस्यावक्तव्यस्यादित्य-
त्यादिना सप्तभङ्गीप्रयेन स्यादेकस्त्वस्यादनेकस्वस्यात्स्यादवक्तव्यस्यादवक्तव्यस्यादिसप्तधर्म
प्रकारकसप्तबोधस्यैवोत्पत्तेर्नाव्याप्यकोऽनेकान्त इति ध्येयम् ॥ २८ ॥

ननु वस्तुत्वस्यानेकान्तत्वव्याप्यत्वेन तद्वत्स्वभावात्मकं वस्तुमात्रमित्यभ्युपगमे गच्छति तिष्ठतीत्यत्रापि तथास्वभावापत्त्या गमनक्रियावद्द्रव्ये गच्छति स्थितिक्रियावद्द्रव्ये च तिष्ठतीति नियतव्यवहारो विलुप्त एव स्यादित्याशङ्कापरिहारार्थमाह—

गइपरिणयं गई चेव, केइ णियमेण दवियमिच्छंति ।
तं पि य उड्ढगईयं, तहा गई अण्णहा अगई ॥ २९ ॥

“गइपरिणयं दवियं णियमेण गई चेव केइ इच्छंति” गतिपरिणतं गतिक्रियापरिणतं द्रव्यं नियमेन गतिमदेव, एवकारेण नागतिमदित्युक्तं भवति, इत्येवं केचिदिच्छन्ति मन्यन्ते तन्निषेधार्थमुत्तरार्द्धमाह—तं पि चेत्यादि । तदपि च गतिक्रियापरिणतं जीवद्रव्यं स्वतोऽमगमाऽयोमार्गपूर्वादिप्रतिनियतदिग्व्यवच्छिन्नमिति तैर्वादिभिरभ्युपगमे कृते सत्येवोर्ध्वं गच्छतीति विवक्षितप्रतिनियतदिगवच्छिन्नगतिव्यवहार उपपन्नो भवति, नान्यथा, यस्मात् मान्यतो गच्छतीत्युक्ते कस्यां दिशीति जिज्ञासा समुत्पद्यत एव, सा च विवक्षितदिगुल्लेखेन शान्ता भवतीति, तथा च विवक्षितप्रतिनियतदिगपेक्षया गतिमत्, दिगन्तरापेक्षया चाग तिमदेवेति सिद्धं भवति । अयम्भावः—यथा पर्वते शिखरे वह्निः, न तु नितम्बे इति प्रतीति बलाच्छिखरावच्छेदेन पर्वतो वह्निमान्, न तु नितम्बदेशावच्छेदेनेति तथैव द्रव्यमूर्ध्वदिशि गच्छति न तु दिगन्तर इति प्रतीतिबलात् गतिक्रियापरिणतं द्रव्यमूर्ध्वदिगप्रतिनियतदिग वच्छेदेन गतिमत्, न तु दिगन्तरावच्छेदेनेति तयतन्नादिगवच्छेदेनोभयस्वभावं तदभ्यु पगन्तव्यम्, अन्यथाऽभिमतदिगवच्छेदेनेवानभिमतदिगवच्छेदेनापि गतिमत् स्यात्, तथा चैककालावच्छेदेनानुपलभ्यमानविरोधमपरदेशप्राप्तिस्स्यात्, न च सानुभवसिद्धेत्यनुभववाधः, न चैकदैकस्मिन्नेव पर्वते भिन्नदेशावच्छेदेन स्थितवह्नितदभावाविव एवमिदानीं तन्तौ न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य घटविनाशकाले इह कपाले न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि कपाले घटनाशकालावच्छेदेन घटाभावस्य च नैयायिकैरभ्युपगमेन भिन्नदेशकालावच्छेदेनैकाऽधिकरणावस्थितघटघटाभावाविव भिन्नभिन्नदिगवच्छिन्नगतितद भावौ विरुद्धौ, येनैकस्मिन् द्रव्ये एककाले तौ न स्याताम्—तथा च कारणसमाजेन विवक्षित प्रतिनियतदिगवच्छिन्नगतिपरिणामस्वभाववति द्रव्ये तदानीमेव तदन्यदिगवच्छिन्नाऽगति परिणामस्वभावोऽभ्युपगन्तव्य इति नात्राप्यव्यापकोऽनेकान्तः । यथाभीष्टदेशगतिदेशानभि मतदेशागतिरिति विभेकस्वरूपस्याभावानेकान्तोऽनवकाश भवत इति चेत्, तर्हि यद् यस्य विरोधि तद् तदभावसत्त्व एव स्वस्वरूपं बिभर्तीति विरोधिन्या जनभिमतदेशगतेरभावा-

भावेऽभीष्टदेशगतिकमेव द्रव्यं न स्यात्। किञ्चानभिमतदेशागतिरेवाभीष्टदेशगतिरिति विपर्ययमपि वक्तुर्वक्त्रं नैव वक्रीभवेत्, तथा चानभिमतदेशागतिस्वभावस्य प्राधान्ये शौद्धनयेनाभावस्य तुच्छरूपत्वादभीष्टदेशावच्छेदेनापि द्रव्यं गतिकार्यार्जनाय समर्थं न स्यात्। नन्वभीष्टदेशगतिस्वभावः प्रतिनियतवस्तुन्येव वर्त्तत इत्यसाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाभ्युपगमो युक्तः, न चैवमनभीष्टदेशागतिस्वभावस्य, तस्य वस्तुमात्रवृत्तित्वेन साधारणधर्मत्वादिति चेत्, मैवम्, यतोऽभीष्टदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेनानभिप्रेतदेशागतिस्वभावस्याभीष्टदेशावच्छिन्नवस्तुन्येव सत्त्वेनासाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाभ्युपगमो नायुक्त इति। न चात्र शुद्धद्रव्यत्वेन रूपेणाभिन्नस्यापि गतिमत्त्वेनागतिमत्त्वेन च भेदस्सिद्धस्स्यात्तदाऽनेकान्तावकाशस्स्यात्, न चैवम्, तथा सति गच्छति द्रव्ये न गच्छतीत्यपि व्यवहारापत्तिस्स्यादित्याशङ्कितव्यम्, विवक्षितप्रतिनियतदेशावच्छेदेन गतिसामान्यवत्त्वस्येव तद्भिन्नदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेन गतिसामान्याभाववत्त्वस्यापि तद्द्रव्ये सत्त्वेनोक्तव्यवहारस्येष्टत्वात्। एतेन गतिमदेवेत्येकान्तेन गतिसामान्यवति गतिसामान्याभावो निषिध्यते स च गतिविशेषाभावेन न बाध्यते, न हि विशेषाभाव एव सामान्याभाव इति कोऽयमनेकान्त इत्याशङ्कापि निरस्ता, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभिन्नत्वेन गतिविशेषस्यापि गतिसामान्यरूपतया गतिविशेषाभावस्यापि गतिसामान्याभावत्वात्, न हि विशेषस्सामान्याद्व्यतिरिक्त एव, तथा सति यत्र विशेषस्तत्र सामान्यस्य सत्त्वे पृथक् पृथक् विशेषः सामान्यश्चैकत्रोपलभ्येत, न च विशेषस्य कस्यचिदभावे सामान्यस्यास्ति सम्भव इति गतिसामान्यस्य गतिविशेषाभावस्य च संवलने स्यादेवानेकान्तः, यत्किञ्चिद्गतिविशेषाभाववति योऽयमगतिव्यवहारस्स गतिविशेषाभावस्वरूपमेव गत्यभावमुपादायेति यत्किञ्चिद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिसामान्याभावो गतिविशेषाभावानतिरिक्त एव, अर्थात् गतिसामान्यवति गतित्वेन रूपेण गतिसामान्यस्य सत्त्वेऽपि गतिविशेषत्वेन रूपेण गतिसामान्यस्याभावोऽपि विद्यत इति तादृशस्य गतिसामान्याभावस्य गतिविशेषाभावानतिरिक्तत्वमेव, तादृशाभावसम्वलनेनानेकान्तोऽनारितप्रसर एव, यश्च यावद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन विद्यमानो गतिसामान्याभावस्तस्य गतिविशेषाभावासमनियतत्वेन भवतु गतिविशेषाभावातिरिक्तत्वम्, तमुपादायानेकान्तत्वाभावेऽपि न नो हानिः, गतिसामान्यस्य येन केनचिद्गतिसामान्याभावेन सहैकत्र समावेशत एव भावाभावोभयरूपसमावेशप्रयुक्तानेकान्तवादसाम्राज्यात्, नन्वेकान्तवादिना यदेव निषिध्यते तस्यैव विधानेऽनेकान्तवादसाम्राज्यम्, गतिपरिणतं गतिमदेवेत्येवकारेण गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव निषिध्यते, गतिविशेषत्वेन गतिसामान्याभावस्तु न गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति तद्विधानेऽपि नैकान्तव्याघात इति चेत्, न, गतित्वेन गतिविशेषाभावस्य गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन तमुपादायैकान्तव्याघातापत्तेः, न च

गतित्वावच्छिन्नगतिसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभावेन सह गतिसामान्यस्य नैकत्र समावेश इति तद्विरोधैकान्तस्याप्यपायात् एवेति वाच्यम्, गतिसामान्याभावस्यैकस्य परिच्छिन्नप्रतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिविशेषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यावत्प्रति-विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमित्यस्याभ्युपगमेन यावत्प्रतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिसामान्याभावस्य गतिसामान्यविरुद्धत्वेऽपि यत्किञ्चिद्विशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन तस्य गतिसामान्येन सममविरोधस्यापि भावेन विरोधाविरोधयोरप्यनेकान्तस्य साम्राज्यादिति । एवमेव भूतलादिप्रतिनियतदेशापेक्षयैकस्मिन् द्रव्ये स्थितिमत्त्वं न तु देशान्तरापेक्षयेति भिन्नभिन्नदेशापेक्षया स्थितितदभावोभयरूपत्वेनाप्यनेकान्तो भावनीयः ॥ ३१ ॥

ननु वस्तुमात्रं तदतत्स्वभावात्मकमिति स्याद्वादपक्षे दहनात् अर्थाद् दाहानुकूलशक्ति-मत्त्वाद् दहन इतीव स किमदहनात् अर्थाद् दाहानुकूलशक्त्यभावाद् दहनीभवाददहनोऽपि । एवं पचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्तिमत्त्वात् पचन इव स किमपचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्त्य-भावाद् दहनीभवाऽपचनोऽपि ? । ओमिति चेत्, तर्हि विरुद्धस्वभावापत्त्या तेन तत्स्वरूपमपि परिहृतं स्यादिति चेत्, स्यादेतद् यदि दहने यदपेक्षया दहनत्वस्वभावः पचनादौ च पचनत्वादिस्वभावस्तदपेक्षयैव तद्विरुद्धस्वभावस्स्यात्, न चैवम्, स्वभावद्वयस्य भिन्ना-पेक्षकत्वादित्युपपादयन्नाह—

> गुणणिव्वत्तियसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा ।
> जं तु जहा पडिसिद्धं, दव्वमदव्वं तहा होइ ॥ ३२ ॥

" गुणनिव्वत्तियसण्णा दहणादओ वि " गुणनिर्वर्तितसंज्ञा दहनादयोऽपि, गुणेन दह-तीति दहनः पचतीति पचन इत्यादिव्युत्पत्तिसिद्धदाहानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणदहनत्वपाकानु-कूलशक्तिमत्त्वलक्षणपचनत्वस्वभावात्मकेन निर्वर्तिता उत्पादिता संज्ञा येषां तेऽपि दहन पचनादयः, ' एवं दट्ठव्वा ' तथैवानेकान्तात्मका द्रष्टव्याः, कथञ्चिद्दहनाददहनोभयात्मका अभ्युपगन्तव्याः, दहनस्य दाह्यपरिणामयोग्यतृणाद्यपेक्षया दहनत्वात्, पचनस्य च पाकपरिणामयोग्यौदनाद्यपेक्षया पचनत्वात्, तत्परिणामायोग्यापेक्षया चादहनत्वात्, तदेवाह—' जं तं तु जहा पडिसिद्धं तहा अदव्वं होइ " यद्द्रव्यं तु यथा प्रतिषिद्धं तथा अद्रव्यं भवति, यद्द्रव्यं स्वाश्रयाऽऽश्रयाकाशाद्यपेक्षया यथा दाहाऽननुकूल-शक्तिमत्त्वलक्षणादहनादिरूपतया प्रतिषिद्धं तद्द्रव्यं तदपेक्षया दाहकत्वादिस्वभावाभावाद् अद्रव्य-मदहनादिरूपं, दहनाद्यभावरूपमिति यावत्, तथा भवनाप्रकारेण भवति, दाह्यं तृणादिकं दहतो दहति न त्वदाह्यमाकाशाऽऽकाशादिकमिति प्रतीतेर्दहनः स्याद्दहनः स्याददहन इत्य-त्राप्यनेकान्त एव निरवद्यं सिद्धिसोपानमधिरोहति, तथाऽदहन इत्याप्यनेकान्तो भावनीयः,

तथाहि—यदुदकद्रव्यं दाहकत्वशक्त्यभावाद्दहनरूपेण प्रतिषिद्धं तदपि न सर्वथाऽदहनद्रव्यं भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्यावृत्ततया कथञ्चिदऽतथात्वात्, अन्यथा दहनव्यतिरिक्त-भूतैकत्वप्रसङ्गः, इत्यत्राप्यऽनेकान्त एव, समयाऽविरोधेन भजनाप्रवृत्तेरिति दिक् ॥ ३० ॥

अथ जीवः स्वस्वरूपापेक्षया जीवः कुम्भादिपररूपापेक्षया च न जीवः, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवो जीवात्मकपररूपापेक्षया च नाजीव इति तयोः कथञ्चिदुभयात्मकत्वादनेकान्तात्मकत्वमित्युपपादनायाह—

कुंभो ण जीवदवियं, जीवो वि ण होइ कुंभदवियं ति ।
तम्हा दोवि अदवियं, अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥ ३१ ॥

कुम्भो न जीवद्रव्य भवति, जीवोऽपि न भवति कुम्भद्रव्यं, तस्माद् द्वावप्यद्रव्य-मन्योन्यविशेषितौ परस्परव्यावृत्तात्मकौ भवतः। अयम्भावः—कुम्भाद्यजीवद्रव्यं जीवाद् व्यावृत्तं एवं जीवद्रव्यमपि कुम्भादेरजीवद्रव्याद्व्यावृत्तम्, अन्यथा सर्वस्य सर्वात्मकत्वं स्यादिति प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावस्स्यात्, खरविषाणवत्, तथा च प्रतिनियतरूपान्यथाऽनुपपत्त्या तयोः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वे च स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्यं कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यम्, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवद्रव्यं जीवापेक्षया तु नाजीवद्रव्यम्, ततो वस्तुमात्रस्याऽऽपेक्षिकतदतत्स्वभावात्मकत्वात् सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्यवस्थितम्। नन्वेवमजीवो जीवापेक्षया नाजीव इति द्वौ नञौ प्रकृतं गमयत इति न्यायाद् जीवोऽपि स्यादिति चेत्, मैवम्, अभावपरिणतेः परापेक्षत्वेऽपि भावपरिणतेः स्वापेक्षत्वात् स्वस्वरूपापेक्षया जीवः कुम्भाद्यपेक्षया न जीवः, स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवोऽपि जीवापेक्षया नाजीव इति व्यवहारोऽपि स्याद्वादव्युत्पत्तिमहिम्ना सूपपाद एवेति सुधीभिर्भावनीयम्। न चायमनेकान्तः कल्पनामात्रनिर्मितवपुष्ट्वेन न वस्तुगतसद्धर्मसाधकः, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेनाप्रमाणभूतत्वादिति वाच्यम्, निपुणं निरूपणे प्रज्ञावद्भिः सर्ववस्तूनामनेकान्तात्मकतयैवाकलनादिति ॥ ३१ ॥

अथोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता "उप्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इति त्रिपद्या प्रवचनाधारभूतया जीवाजीवात्मकं जगत् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावपेक्ष्य प्रतिक्षणोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमाख्यायि, अत एव प्रवचनोपनिषद्वेद्येतद्ग्रन्थकृत्सूरिवरेण—"उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खण एयं" इत्यनेन नयद्वयविषयकप्रमाणार्पणया परस्परानुविद्धोत्पादस्थितिभङ्गलक्षणं वस्तुतत्त्वसमनियतं प्रोक्तम्, अत्रोत्पादः 'उत्पन्नमिदम्' इति धीसाक्षिको धर्मः, स किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्कायामाह—

यद्वोत्पादादयो "मृदि घट उत्पन्नो मृदि घटो विनष्टो मृद्द्रव्यरूपेण स्थिरश्चेति धीसाक्षिका आधारत्वादिवदतिरिक्ता अपि, न स्वाद्यक्षणसम्बन्धादिरूपा एव, क्षण एवा-

मावात्, यथै भावधर्मस्य पर्यायस्यासिद्धये तत्रापि पर्यायान्तरस्यापायस्य मन्तव्यत्वमा पाजनवस्थापत्तेः, तयोरुत्पादादीनां घटत्वादिना प्रतियोगित्वम्, मृदादिना चानुयोगित्वम्, द्रव्ये तु पर्यायोपहितरूपेण प्रतियोगित्वम्, तत्र चानुयोगितायाः प्रतियोगित्वेन समावेशात् द्रव्यस्य चाऽनुयोगित्वम् यथा 'घटविशिष्टं मृद्द्रव्यमुत्पन्नम्,' इति। इदमत्रावधेयम्-कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिवृत्तिर्घटस्योत्पाद इत्युक्त्यैव भवति, कस्ये त्याकाङ्क्षानिवर्तकस्य प्रतियोगित्वम्, यथा अयं गुरुरित्युक्तौ कस्य गुरुरित्याकाङ्क्षानिवृत्ति चैत्रस्येत्युक्त्या भवतीति गुरुत्वप्रतियोगित्वं चैत्रस्य, तयोरुत्पादप्रतियोगित्व घटत्वेन घटस्य, एवं विनाशादिप्रतियोगित्वमपि, कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवर्तकस्यानुयोगित्वम् यथा पर्वते संयोग इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवृत्तिः पर्वते इत्युक्त्या भवतीति पर्वतस्य संयोगानुयोगित्वम्, तथा घट उत्पद्यते इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिवृत्तिः मृदि घट उत्पद्यते इत्युक्त्या भवतीति मृदादिना मृदादीनामनुयोगित्वम्, किमुत्पन्नमित्याकाङ्क्षानिवर्तकं घटविशिष्टमृद्द्रव्यमुत्पन्नमिति, यदा कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिवर्तकं घटविशिष्टमृद्द्रव्यस्योत्पाद इति प्रयुज्यते तदा तत्र घटात्मक- पर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यस्य किमित्याकाङ्क्षायाः कस्येत्याकाङ्क्षायाश्च निवर्तकत्वात्प्रतियोगित्वं, कुत्रेत्याकाङ्क्षा तत्र नास्त्येव, यन्निवर्तकत्वान्मृदोऽनुयोगित्वं तस्याम्येतापि, घटस्य पर्याय- मात्रस्योत्पादविवक्षायामेव मृदि घटस्योत्पाद इत्यनुयोगित्वं स्यात्, सा विवक्षा तु नादृता, किन्तु घटपर्यायविशिष्टमृद्द्रव्यस्यैवोत्पादो विवक्षित इति अनुयोगित्वा अपि घटः प्रतियोगित्वेनैव प्रविष्टत्वादिति। न चात्र विशेषणस्यैवोत्पादो विषय इति वाच्यम् विशिष्टस्यैव प्रतियोगित्वानुभवात्, इतरत्रान्वितस्य घटस्योत्पादेऽन्वयायोगात्। न च विशिष्टहेतुकल्पने गौरवम्, घटहेतूनामेव घटविशिष्टहेतुत्वात्। अत एव घटहेतूनामेव घटविशिष्टहेतुत्वात् तत्तत्पदार्थान्तरक्षणेषु सर्वत्राप्यविशिष्टैकत्वसिद्धोत्पत्तिसिद्धिः, तथा चायोक युक्तिसिद्धातिरिक्तोत्पादः किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तरतोऽपीत्याशङ्कायामाह-

> उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ अ विससा चेव।
> तत्थ य पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

"उप्पाओ दुवियप्पो" उत्पादो द्विविकल्पः, प्रायोगिकवैस्रसिकभेदाभ्यां प्रकार द्वयात्मकः विकल्पद्वयमेवाह-"पओगजणिओ अ विससा चेवत्ति" स्तम्भकुम्भादीनां प्रेक्षावत्पुरुषक्रियाजन्यत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण पुरुषप्रयत्नेनेति यावत् जनितो निर्वर्त्य उत्पादः प्रयोगजनितः, पुरुषव्यापाराजन्य उत्पादो विस्रसाजनितः, न च पुरुषेतरकारकव्या- पारजन्यत्वं विस्रसाजनितोत्पादस्य लक्षणमस्त्विति वाच्यम् प्रायोगिकेऽतिव्याप्तेः, तन्मात्र जन्यत्वं तु पुरुषस्यात्रैव विभाव्यति, तस्मात्पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्वं स्वरूपकथनमात्रम्, न तु लक्षणम्। तत्राद्यभेदस्वरूपप्रतिपादनायोत्तरार्धमाह-तत्थेत्यादि। तत्र च-उक्तभेद

द्वयमध्ये चेत्यर्थः, प्रयोगजनितो मूर्त्तिमद्‌द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयवादः, तथाभूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्, तत एव चासावपरिशुद्ध इति गीयते, अत्रापरिशुद्धत्वं स्वाश्रययावदवयवोत्पादापेक्षया पूर्णस्वभावत्वम्, न ह्यपूर्णावयवो घट उत्पद्यमानः कार्त्स्न्येनोत्पन्न इति व्यवह्रियत इति । ननु न प्रयोगजन्य उत्पादः, घटादेरेव प्रयत्नजन्यत्वात्, उत्पादस्य स्वाद्यक्षणसम्बन्धलक्षणस्यातथात्वात्, यतः कपालादीनां घटत्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वम्, न तु घटोत्पादत्वावच्छिन्नं प्रतीति चेत्, मैवम्, 'मुद्गरपाताद् नष्टो घटः' इति व्यपदेशाद् नाशे मुद्गरपातजन्यत्ववत् 'पुरुषव्यापारादुत्पन्नो घटः' इति' व्यवहारादुत्पादेऽपि पुरुषव्यापारजन्यत्वस्यावश्यकत्वात् । विविच्याननुभूयमानत्वेनोत्पादापलापे च नाशस्याप्यपलापप्रसङ्गात् । उत्पत्तेराद्यक्षणसम्बन्धेनान्यथासिद्धौ नाशस्यापि चरमक्षणसम्बन्धेनान्यथासिद्धेः सुवचत्वात्, घटप्रतियोगिकत्वेन नाशो विलक्षण एवानुभूयत इति चेत् तथोत्पादोऽपीति तुल्यम् । किञ्चाद्यक्षणे 'आद्यक्षणसम्बन्धवान् घटः' इतिवत् 'आद्यक्षण उत्पन्नो घटः' इति प्रयोगो न सूपपादस्स्यादिति न किञ्चिदेतत् ॥ ३२ ॥

द्वितीयभेदरूपो विस्रसाजनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह—

साभाविओ वि समुदयकओव्व एगत्तिओव्व होज्जाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥ ३३ ॥

'साभाविओ वि' स्वाभाविकोऽप्युत्पाद एकः 'समुदयकओ व' समुदयकृतो वा जीवप्रयत्नमन्तरेण विस्रसापरिणतपुद्गलसमुदायेन जनितो मूर्त्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयजनित उच्यते इति भावः । द्वितीयश्च "एगत्तिओव होज्जाहि" ऐकत्विको वा भवेत् । तत्राद्यः स्वभावपरिणताभ्रेन्द्रधनुरादीनामुत्पादः, घटादीनामप्रथमतयोत्पादश्च प्रतिक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यान्यथानुपपत्तिसिद्धद्वितीयादितत्तत्क्षणविशिष्टविनाशस्य विशिष्टोत्पादनियतत्वात्, न हि मूर्त्तावयवसंयोगकृतत्वं समुदयजनितत्वम्, विभागकृतपरमाण्वाद्युत्पादेऽव्याप्तेः, किन्तु मूर्त्तावयवनियतत्वम्, तच्च तदवस्थावयवस्यापि नवपुराणभावलक्षणावस्थाविशेषात् सम्भवत्येवेति । नन्वभ्रेन्द्रधनुरादिवदप्रथमतया घटाद्युत्पादस्यापि स्वाभाविकत्वेन कारणान्तरानपेक्षत्वे घटोत्पादार्थं दण्डग्रहणादौ प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत्, मैवम्, उत्पादस्य प्रायोगिकवैस्रसिकभेदेन द्विविधत्वोक्त्या स्वाभाविकोत्पादे हेत्वनपेक्षायामपि प्रायोगिकोत्पादे तदपेक्षाध्रौव्यात्प्रवृत्त्युच्छेदाभावात् । एतेन कालादिहेतुपञ्चकसामग्र्याः कार्योत्पत्तिनियतत्वं जिनानुगैरभ्युपगतं तदपि स्वाभाविकोत्पादपक्षे न स्यादित्यपसिद्धान्तभीरपि निरस्ता, उक्तद्वैविध्यस्य प्रयोगविस्रसाप्राधान्येनैव व्यवस्थितेर्गौणविषया कालादिहेतुपञ्चकसामग्रीनिष्ठकारणत्वाभ्युपगमादिति । विस्रसापरिणामिनो वस्तुनो हेत्वन्तरमन्तरेण स्वभावत एव विनाशशीलत्वमिव हेत्वन्तरमन्तरेण स्वभावादेवोत्पादशीलत्वमपि न्याय्यम्, एवं उत्पादविनाशयोः

कारणान्तरानपेक्षत्वे च व्यवस्थिते स्थितेरपि तस्येव स्वाभाविकत्वं युक्तम्, स्थानिवृत्त्वस्येव कादाचित्कत्वस्यापि स्वभावनियतत्वात्, तथा च विस्रसापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्षमेव स्वभावप्रयुक्तत्वादित्रयमिति सिद्धम्, ऐकत्विकापरद्वितीयभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह–'आगासाईयाण' इत्यादि। "आगासाईयाणं तिण्हं" आकाशादीनां त्रयाणाम्, आकाशास्तिकायधर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायानां त्रयाणां 'परपच्चओ' परप्रत्ययः, अवगाहकगन्तृ–स्थातृजीवपुद्गलात्मकपरद्रव्यनिमित्तो अवगाहनागतिस्थित्युपग्रहकारित्वोत्पादः, सोऽपि न नियमेन, किन्तु कथञ्चिद्भावेनेत्याह–'अणियमा' अवधारणमन्तरेणावार नियमादनेकान्ताद्भवेत्, आकाशादीनां त्रयाणां तत्तदवगाहक–गन्तृ–स्थातृद्रव्यसन्निधानतोऽवगाहन–गति–स्थित्युपग्रहकरणक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परस्परमनयो मूर्त्तिमदमूर्त्तिमद्द्रव्यद्वयोत्पादवत्त्वादवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेत्यत्राप्यनेकान्त एव सिद्धिसौधमध्यास्ते। अयम्भावः–न हि तेषु पौरुषेयः प्रयोगो विस्रसा वा कथम् इत्यतः परप्रत्ययावुत्पादविनाशौ त्रयाणाम्, जीवपुद्गलानां तु प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ सम्भवतः, ध्रौव्यं तु सर्वेषामविशिष्टमिति तत्त्वार्थटीकोक्तेर्जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ यथा सम्भवतः, न तथाऽऽकाशादीनां त्रयाणाम्, किन्तु उतोऽप्युत्पादव्ययौ तौ तत्र, तथापि यदाप्युत्पादस्तत्र आकाशादित्रयेषु प्रायोगिक उत्पादः, न वा विस्रसापरिणतपुद्गलस्कन्धनिष्ठेन्द्रधनुराद्युत्पादवद्वैस्रसिकः, आकाशादेरुत्पादस्य प्रयोगविस्रसास्वरूपामूर्त्तिमद्द्रव्यानारभ्यत्वात्, किन्त्ववगाहकगन्तृस्थातृजीवपुद्गलात्मकपरनिमित्तकस्तत्रोत्पादः, एवमेव विनाशोऽपि परनिमित्तो विज्ञेयः, अत एव लघुसारे "आकाशादावपि परप्रत्ययोत्पादध्वंसावागमसिद्धावित्युक्तम्"। अस्य चायमर्थः–यस्मिन्नुपरततदेशावच्छिन्नावगाहकसम्बन्धे चैत्रे तन्निमित्तकतद्देशावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वभाववत्तयाऽपैति स एवाकाशास्तिकायः, समुपगतवदन्यदेशावच्छिन्नावगाहकसम्बन्धे चैत्रे तन्निमित्तकदेशान्तरावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, एवं यस्मिन्नुपरतगतिव्यापारे चैत्रे तद्गत्युपग्रहव्यापारवत्तयाऽपैति स एव धर्मास्तिकायो गतिमच्चैत्रद्रव्ये तद्गत्युपग्रहदायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, अधर्मास्तिकायेऽपि मतिपरस्तुते स्थितिपदं संयोज्य सर्वं ज्ञेयम्, इत्येवमवगाहक–गन्तृ–स्थातृद्रव्यनिमित्तोत्पादध्वंसानामागमसिद्धत्वादिति। नन्वाकाशधर्माधर्मास्तिकायानां सर्वदाऽपि एकस्थितस्वरूपतयैवावस्थितत्वेनाविक्रियात्मकानाम् यद्रूपेण पूर्वमवस्थितत्वम् तद्रूपेण परिणमनमेव नास्तीति तेषूत्पाद एव न सम्भवतीति कुतस्तत्रोत्पादानैकान्त्य इति चेत्, उच्यते, तेष्वपि स्वाभाविक उत्पाद ऐकत्विकोऽनैकत्विकश्च द्विप्रकारोऽप्यस्ति भजनया, यतस्तथाऽऽकाशादेर्न केवलमाकाशादि द्रव्यत्रयं सर्वप्रकारेणाविकार्येव, किन्तु द्रव्यार्थतया नित्यमपि पर्यायार्थतया पूर्वावगाहकावगाहनाद्युपग्रहकारित्वस्वभावत्वेन विनश्यति, पूर्वावगाहकादिव्यतिरिक्तावगाहकावगाहनाद्युपग्रहकारित्वस्वभावत्वेनोत्पद्यते चेत्यनित्यमित्यतो विकार्यमपि, आकाशादित्रयाणां कथञ्चिद्

नित्यत्वे च तेऽप्यवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेनैकत्विक उत्पादः कथञ्चिद्भावेनैव, न त्वेकान्तेन । नन्वाकाशादित्रयाणामवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावतयोत्पादोऽवगाह्यावगाहका-भ्यां तादृशस्वभावस्याऽऽत्मलाभलक्षणः, तस्य त्वेकमात्रनिबन्धनत्वाभावादैकत्विकत्वमेव न सङ्घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्ताऽभावात्कथमैकत्विक इति संज्ञा तत्र युक्तेति चेत्, उच्यते, आकाशेऽवगाहकानुप्रवेशेऽवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा च तादृश-स्वभावस्याऽऽकाशगुणत्वादाकाशगतैव, तज्जनकत्वादवगाहकमवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, व्यञ्जकश्चाकाशादन्यदेव भवति व्यङ्ग्याद् घटादेरिव प्रदीपादि, इत्थं चाभिव्यक्तेराकाशव्यतिरिक्ताऽवगाहकमात्रनिमित्तकत्वादैकत्विकत्वमेवेति तत्रैकत्विक इति संज्ञा युक्तैव, एवं धर्मास्तिकाये तत्तज्जीवपुद्गलगतौ सत्यां तदुपग्रहदायित्वस्वभावस्यो त्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा चोक्तस्वभावस्य धर्मास्तिकायगुणत्वाद्धर्मास्तिकायगतैव, तज्जन-कत्वाद्गन्तृद्रव्यं गत्युपग्राहकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, इत्थं चाभिव्यक्तेर्धर्मास्ति कायव्यतिरिक्तगन्तृद्रव्यमात्रनिमित्तकत्वात्तल्लक्षणोत्पाद ऐकत्विकः, एवमधर्मास्तिकायेऽपि स्वयमेव ज्ञेयम्, नन्वेव तर्ह्यनैकत्विक उत्पादः कथमिति चेत्, तदप्युच्यते, आकाशस्य तत्त त्पुद्गलजीवावगाहनादायित्वस्वभावत्तयोत्पादोऽवगाह्यावगाहकद्वयसमुदायजन्यत्वात्, धर्मा-स्तिकायस्य च तत्तत्पुद्गलजीवगत्युपग्राहकत्वस्वभावत्वयोत्पादो गन्तृधर्मास्तिकायद्रव्यद्वय-समुदायकार्यत्वात्, अधर्मास्तिकायस्यापि च तत्तत्पुद्गलजीवस्थित्यनुग्रहहेतुत्वस्वभावरूपेणोत्पा दस्स्थात्रधर्मास्तिकायद्रव्यद्वयसमुदायजन्यत्वाच्चानैकत्विकः, तत एव समुदायजनित इत्यपि च गीयते सैद्धान्तिकैः । विवेचितश्चैतत्तत्त्वार्थत्रिसूत्र्यां विस्तरार्थिभिस्तत एवावसेयम् ॥ ३३ ॥

उत्पादवद्विगमोऽपि तथाविध एवेत्याह—

> विगमस्स वि एस विही, समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
> समुदयविभागमेत्तं, अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥

" विगमस्स वि एस विही " विगमस्यापि नाशस्यापि एष विधिः, प्रायोगिकः वैस्रसिकश्चेति भेदद्वयम्, तद्द्वयातिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात्, पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्त रावस्थोत्पत्त्यऽनुपपत्तेः, तत्राद्य आत्मव्यापारान्निष्पन्नः, द्वितीयस्तु जीवव्यापारनिरपेक्षः । ननु विनाशो निर्हेतुकः प्रतियोग्यतिरिक्तभावान्तरानपेक्षत्वादित्यनुमानेन विनाशस्य निर्हेतु-कत्वे सिद्धे कालान्तरे हेतुमपेक्ष्य जायमानो प्रायोगिकविनाश एव नास्तीति भेदद्वयस्यैवा-सिद्धिरिति वाच्यम्, मुद्गरादिना घटो विनष्ट इति प्रात्यक्षिकप्रतीतिबलादेव विनाशस्य सहेतुकत्वे सिद्धे उक्तानुमानस्य बाधितत्वात् । ननु भावस्स्वहेतोरेवोत्पद्यमानस्तादृशो भवति, येनोत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्यतीति, अयुक्तमेतत्, प्रतिज्ञामात्रत्वात्, वयमपि ब्रूमो-भावः

स्योत्तरेण तादृश उपजायते, येन क्षणान्तरमवस्थाय विनश्यतीति, अस्मिँश्च पक्षे प्रत्यक्षा-
द्यपि प्रमाणं सहकारि भवति । ननु भावो विनश्वरस्वभावोऽविनश्वरस्वभावो वा, आद्ये
नाशप्रति पक्षः कः ? येनोत्पन्नानन्तरमेव स न नश्यति ?। द्वितीयपक्षे च नैव कदापि
विनश्येत, यतो विनश्वरस्वभावस्यैव विनाशः, अन्यथा नित्यत्वेनाभ्युपगतानामपि विनाश-
स्स्यादिति चेत्, नैवम्, " प्रागभूतात्मलाभस्याभावः कारणवान् भवेत् " इत्युक्तेः
प्रागसत्त्वे सति सत्त्वलक्षणकादाचित्कत्वहेतुना विनाशस्य सहेतुकत्वसिद्धेर्हेतुसमवधाने सत्येव
प्रध्वंसादिरवश्यमविप्रलम्भेन । स्थितमिदम्-प्रायोगिकोऽप्यस्ति विनाश इति । स च समुदय
जनित एवैकस्यैकप्रकारात्मकः, वैस्रसिकस्तु द्विविधः-समुदयजनित ऐकत्विकश्च, तत्रैकत्विक-
विनाश आकाशादित्रयाणां तदवगाहकतज्जीवावगाह-गति-स्थित्युपष्टम्भकत्वपर्यायोत्पादस्य
तदनुपष्टम्भकत्वलक्षणपूर्वावस्थाध्वंसपूर्वकत्वेनावश्यं अवगन्तव्यः तद्विधिध्वंसनियमादभ्यु-
पेयः । प्रयोगजनितविस्रसाजनितभेदद्वयान्तर्गतसमुदयजनितविनाशस्य द्वैविध्यप्रतिपाद-
नायाह-' समुदयजणियम्मि सो उ दुविअप्पो ' समुदयजनिते स विनाशस्तु द्विविकल्पः,
उभयत्रापीति शेषः । विकल्पद्वयमेवाह-" समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च "
समुदयविभागमात्रम्, अर्थान्तरभावगमनञ्च । तत्र समुदयविभागमात्रं केवलसमुदयविभाग
लक्षण एकः, यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणीभूततन्त्वादिविभजनकरणे विनाशस्तन्तुविभागा
त्मा, पटविनाशश्च कपालविभागात्मा, न तु तदतिरिक्तस्तत्र, तथा सत्यतिरिक्तध्वंसाकल्पो-
ऽभावः कल्पनीयः, तत्र चानुयोगितावच्छेदकरूपं ध्वंसत्वमिति धर्मिधर्मोभयाभ्युपगमापेक्षया
" धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति " न्यायात्कारणावयवसमवायानुमते तदवयवविभागा
त्मके धर्मिणि ध्वंसत्वधर्मसिद्धौ तद्रूपेण मुद्गरेण घटो विनश्यति विनष्टो वेति प्रतीतिस्त
दुत्तरविभागात्मकध्वंसावगाहिन्यभ्युपगन्तव्येति तदवयवविभागात्मैव ध्वंसोऽभ्युपगन्त
व्यः । अयमाशयः-पटावयवानां तन्तूनां विभक्तीकरणे नातिरिक्तः पटस्य विनाशो जायते
किन्तु विभक्ततन्तुसंहतिलक्षणोत्तरकार्यस्यैवेति तल्लक्षणः प्रायोगिकः पटविनाशः, एवं मुद्गरा-
दिना नातिरिक्तो घटादिध्वंसो जन्यते, किन्तु विभक्तकपालकद्रव्यकाद्यात्मक एव, अतिरिक्त
नाशाश्रयत्वेनातिरिक्त विभक्तकपालकद्रव्याद्यात्मकोत्तरकार्यात्मा विनश्यमानस्य घटस्य प्रायोगिको
विनाशोऽभ्युपगन्तव्यः । एवमभ्रेन्द्रधनुरादिरूपावयवानां विभक्तावयवोत्पत्तौ विपद्यमानानामभ्रेन्द्र
धनुरादीनां स्वाभाविको विनाशो विभक्ततदवयवात्मैवाभ्युपगन्तव्यः । संवदति चात्र-
"पर्युत्पत्तौ कार्यस्याभावं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभाव इति । १ । ५७ ॥ यथा कपालद्रव्य
स्योत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकद्रव्यकमिति । १ । ५८ । इति प्रमाणनय
तत्त्वालोकालङ्कारसूत्रद्वयमिति । द्वितीयमर्थान्तरभावगमनलक्षणः, यथा तन्तव एव पटरूपा
र्थान्तरभावेन परिणमन्ते इति तन्तूनां विनाशः पटरूपार्थान्तरभावप्राप्तिलक्षणः, न चैवं तर्हि
पूर्वावस्थाविनाशवैवोत्तरावस्थोत्पादाभ्युपगमात् तन्त्वादिपरिणामनाशेनैव घटादिपरिणा

मोत्पत्तेः पटकाले तन्तुप्रतीतिर्न स्यात्, नष्टस्यातीतवदग्रहणादिति वाच्यम्, यत्र पटस्य समुदितत्वस्तन्त्ववयवास्ततो विभक्तास्तत्र समुदयविभागलक्षणपटविनाशस्य पटात्मकप्रतियोगिप्रतीतिविरोधित्वेऽपि यत्र विभक्तानां तन्तूनां या संयुक्तावस्था तद्रूपपटात्मकार्थान्तरभावलक्षणविनाशस्तेषां तत्र विभक्ततया तन्तूनां विनाशेऽपि संयुक्ततया तेषामविनाशात्तद्रूपप्रतियोगिप्रतीत्यविरोधित्वात्, पटकाले तन्तुप्रतीतिभावात्, एवं मृत्पिण्डस्य विनाशो घटरूपार्थान्तरभावलक्षणो विज्ञेयः। न चैवं तर्हि तद्विनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिः, पूर्वोत्तरावस्थयोस्स्वभावतोऽसङ्कीर्णत्वात्, वर्त्तमानकालावच्छिन्नवस्त्वन्तररूपेऽतीतकालावच्छिन्नवस्त्वन्तरस्यापादयितुमशक्यत्वात्, अतीतस्य च वर्त्तमानत्वायोगात्। न च "आगासाईयाणं तिण्हं परपच्चओ नियमा" इत्युक्त्याऽऽकाशादित्रयाणामुत्पादव्ययोः परनिमित्तकत्वात्तावौपचारिकौ स्यातामिति वाच्यम्, "उप्पज्जेइ वा धुवेइ वा विगमेइ वा" इति त्रिपद्या भगवतोत्पादादित्रयात्मकतया जगत्स्वरूपमविशिष्टमेवोक्तमिति परमार्थभूतोत्पादव्ययशून्यं ध्रौव्यं न च कुत्रापि सम्भवतीति यत्र परमार्थभूतं ध्रौव्यं तत्र नियमेन पारमार्थिकावुत्पादव्ययौ, यथा पुद्गलजीवयोः, परमार्थभूतं ध्रौव्यञ्चाकाशादिषु त्रिष्विति तत्रापि नियमेन पारमार्थिकौ तावभ्युपगन्तव्यौ, अन्यथा त्रिपद्या प्रतिपादितं यदुत्पद्यते यद्व्येति यच्च ध्रुवं तत्सदिति सल्लक्षणं सिद्धं न स्यात्, सदात्मकलक्ष्यैकदेशे आकाशादावेव तदभङ्गतेः, तत्रोत्पादव्यययोरौपचारिकत्वेनासद्रूपत्वेन भवताऽभ्युपगमात्। अथोपचारो व्यवहारमूलक इति तत्सिद्धौ तौ तत्रेति चेद्, व्यवहारः प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा, आद्यश्चेत्तर्ह्यनायासेन तौ पारमार्थिकौ सिद्धौ, प्रामाणिकव्यवहारस्यागममूलकत्वात्। द्वितीये सल्लक्षणमाकाशादावव्याप्तं स्यात्, तस्माद् व्यवहारतो नित्यस्याकाशादेरनित्यस्य च प्रदीपादेः स्याद्वादशैल्या द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयापेक्षया कथञ्चिन्नित्यानित्यतयैव सिद्धेस्तदपेक्षया वस्तुमात्रं पारमार्थिकोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततयैव सदित्याकाशादित्रयमपि तद्रूपतयैव सदिति व्यवस्थितम्। स्थितिश्चाविचलितस्वभावरूपत्वान्न विभक्ता शास्त्रकारेणेति ॥ ३४ ॥

अथाऽत्रोत्पादव्ययस्थितयः किं भिन्नकाला अभिन्नकालाश्च सन्ति न वेति चेत्, सन्तीति ब्रूमः। तथाहि—एकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चोत्पादव्ययस्थितीनां भिन्नकालता, यथा घटोत्पादसमये घटविशिष्टमृदुत्पादसमये वा न तद्विनाशः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः। नापि घटविनाशसमये घटविशिष्टमृद्विनाशसमये वा तदुत्पत्तिः, अविनाशप्रसक्तेः। न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणावस्थितस्यानवस्थाप्रसक्त्या प्रादुर्भावाऽयोगात्। अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ताः, भिन्नकालत्वेन नानास्वभावानां तासामेकद्रव्यरूपत्वाऽयोगात्। भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वाऽभिन्नकालता तासां, यथा कुशूलतद्विशिष्टमृन्नाशघटतद्विशिष्टमृदुत्पाद–मृत्स्थितीनाम्। अतो द्रव्यादनर्थान्तरभूतास्ताः, अभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वादिति प्रतिपादनायाह—

तिण्णि वि उप्पायाई, अभिन्नकाला य भिन्नकाला य ।
अत्थंतरं अनत्थंतरं च, दवियाहि णायव्वा ॥ ३५ ॥

"तिण्णि वि उप्पायाई" त्रयोऽप्युत्पाद-विगम-स्थितिस्वभावाः, ते किंस्वरूपा इत्याह—"अभिन्नकाला य भिन्नकाला य" अभिन्नकालाश्च भिन्नकालाश्च, यतो यदा घटस्य कम्बुग्रीवाद्याकारतयोत्पत्तिस्तदैव न पिण्डकपालकर्परमात्राकारतया तस्य च्युतिः, स्थोलेऽपि पूर्वकत्वात्स्वविनाशस्य । नापि पिण्डकर्परादित्यक्तरोत्तरपर्यायासक्तविनाशसमये तस्य कपालकर्परप्रत्याकारस्वोपादानभावपर्यायात्मिका समुत्पत्तिः, तदा तदुत्पत्त्यभ्युपगमे तदानीं विनाशापत्तेः, न च तत्प्रादुर्भावकाल एव स्वस्थितिः, उत्पत्तिमात्रप्रसङ्गात्, स्वस्वरूपेणा-वस्थितस्यानवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावाऽयोगात्, न च घटरूपस्थितिकाले तस्या विनाशः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशाऽनुपपत्तेः, न च घटविनाशविशिष्टमृत्काले घटविशिष्टा एव मृद उत्पादः, नापि तदुत्पादविशिष्टसमये तस्या एव मृदो ध्वंसः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः, इत्येवमेक-प्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चोत्पादादित्रयः परस्परतो भिन्नकालाः, *घटोत्पादसमये घटविनाशस्य घटविनाशसमये घटोत्पादस्य तदुत्पादविनाशयोरुत्पत्ति* विनाशानवच्छिन्नकालसम्बन्धरूपायास्तत्स्थितेर्घटविनाशविशिष्टघटरूपस्थित्योर्वा विरोधेन परस्पराऽभावात्मकत्वात् । अत एवान्योन्यव्यतिरिक्तकालोत्पादविनाशस्थितिव्यतिरिक्तत्व स्यैकत्वाऽयोगात् तद्रूपत्वं नावाप्तमावम् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्य निरूपितत्वेन चोत्पादादित्रयोऽभिन्नकालाश्च यथाहि—कपालप्रयत्नकर्परपर्यायस्थितिविशिष्टमृदा यदैव विशीयते तदैव घटाद्यारम्भकोत्तरपर्यायस्थितिविशिष्टमृदोत्पद्यते, यतो न हि पूर्वपर्याय-विनाशोत्तरपर्यायोत्पादयोः पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यनाशोत्तरपर्यायविशिष्टद्रव्योत्पादयोर्वा भिन्न कालता दृश्यते, यदि च पूर्वस्य विनाशकालोऽन्यस्स्यात् उत्तरस्योत्पादकालोऽन्यस्स्यात् तदा प्राक्तने विनष्टमुत्तरमनुत्पन्नम् तथाऽभ्युपगमे च पूर्वस्य तस्मिन् क्षणे विनाशादेवोत्तरस्य चानुत्पादादेव न सत्त्वम्, ध्वंसानुत्पादयोस्तदानीं सत्त्वेऽप्यभावरूपत्वेन तुच्छत्वादेव न वस्तुत्वमिति वस्तुशून्यस्य कालस्य भावात्, भवत्वेवमिति चेत्, तदुक्तं निष्कारणत्वप्रसङ्गेन, ध्वंसस्य तुच्छत्वेन जनकत्वाभावात्, अन्यथाऽस्तित्वपूर्वकत्वे चास्तत्वायोगाच, एतेन ननु यत वस्तुसमभेरिव तत्पूर्वादिभागात् घटावयवेषु क्रियोत्पत्तिः, ततोऽवयवविभागः, तत आरम्भक संयोगनाशः, तेन च घटविनाशः, कपालस्तु स्थित एव, तद्विनाशेऽपि तदवयवा स्थिता एव, न तु तदुत्पाद इति तयोरेकस्मादेवोत्पादाच घटविनाशारम्भा कपालोत्पाद इति निरस्तम्, यस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियाद्योतनस्याप्रातीतिकत्वात्, यत्र वस्तुसमभेरिव मुद्गरादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनम् मुद्गरव्यापारेण घटो विनष्टः कपालमुत्पन्नम् इति प्रतीतेः, तस्मात्पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादावभिन्नकालौ, ते च पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पत्ति क्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या, इत्थं

भिन्नप्रतियोगिकानामुत्पादादित्रयाणामभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वात्तदभिन्नं द्रव्यमेकस्वभावञ्च न नानास्वभावम्, अत एवोत्पादादयस्त्रयोऽपि द्रव्यादर्थान्तरमनर्थान्तरञ्च, उत्पादादित्रिभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरञ्चेत्याह—" अत्थंतरं अनत्थंतर च दवियाहि णायव्वा " इति। अथ प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरित्युत्पादादयस्त्रयोऽप्येककाला विभिन्नकालाश्चेत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते, तत्रोत्पादविनाशयोरेककालतायां सिषाधयिषितायां उत्पादविनाशौ परस्परमेककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वात्, एकक्षणवर्त्येकरूपवदित्यनुमानमेव प्रमाणम्, न चात्र हेतुस्स्वरूपासिद्धः, यतो न हि उत्पादविनाशयोः स्वात्मा भिद्यते, यथैकस्मिन्नेकक्षणवर्त्तिनि रूपे विभागाभावात् स्वात्मलाभकाल एवैकः कालो नान्यः समस्ति, यन्नैककालं न भवति तदेकमपि नियमेन न भवति, यथा गवाश्वयोर्जन्मविनाशाविति। एवं ध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्योत्पादविनाशाभ्यां सहाभिन्नकालत्वसाधनाय ध्रौव्यात्मकं द्रव्यमुत्पादविनाशैककालं स्वात्मत्वापृथग्भूतत्वादित्यनुमानम्, उत्पादविनाशयोर्द्रव्येण सहाभिन्नकालत्वसाधनाय उत्पादविनाशौ द्रव्यैककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वादित्यनुमानञ्चानुसन्धेयम्, उभयत्रैकक्षण वर्त्त्येकरूपवदेवेति दृष्टान्तो वाच्यः, न च सिद्धसाधनादुक्तानुमानानवतार इत्याशङ्क्यम्, एकान्तवादिभिस्तेषां भिन्नकालतया विभिन्नतयैव चैकान्तेनाभ्युपगमेन तान् प्रत्येवोक्तानुमानप्रयोगात्। नन्वेवं सत्युक्तहेतोस्स्वरूपासिद्धिदोषोपेतत्वमेव, एकान्तवादिभिरुत्पादविनाशयोः परस्परं ध्रौव्यात्मकद्रव्यस्यापि च ताभ्यां सह, तयोश्च द्रव्येण सह स्वात्मत्वाऽपृथग्भावस्यानङ्गीकारादित्यपि न चाशङ्कनीयम्। यदेव सर्पद्रव्यमुत्फणाकारेणोत्पद्यते तदेव च विफणाकारेण विनश्यति तदेव चोत्फणाकारविफणाद्याकारानुगतोर्ध्वतासामान्यस्वरूपेण ध्रुवमिति य एव सर्पद्रव्यात्मा पूर्वं विफणाकारेणाऽऽसीत् स एवोत्फणाकारेणोत्पन्नोऽस्तीति सर्पद्रव्यात्मैवोभयाकारः, यतो न हि विफणाकारकाले यस्सर्पद्रव्यात्मा स नोत्फणाकारकाले, अनुभवविरोधात्। अत एव वस्तुमात्रं न केवलद्रव्यरूपम्, उत्पादव्ययरूपपर्यायस्वरूपत्वस्यापि तत्र सद्भावात्, नापि केवलोत्पादव्ययरूपपर्यायैकरूपं, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतध्रौव्यात्मकद्रव्यस्वभावत्वस्यापि सद्भावात्, किन्त्वविभक्तद्रव्यपर्यायोभयससर्गात्मकत्वाद् जात्यन्तरम्, अत एव "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति न दोषापत्तिरपि। उक्तञ्च—

" नान्वयो भेदरूपत्वान्न भेदोऽन्वयरूपतः।
मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥ " इति

तथा च सर्पस्यापि प्रमाणार्पणया परस्परानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयरूपेण परस्परसाकाङ्क्षोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमिति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन विफणाकाराभिन्न सर्पद्रव्याभिन्नस्योत्फणाकारस्य विफणाकाराऽभिन्नत्वं ततश्च स्वात्मत्वाऽपृथग्भाव उभयावस्थस्य सर्पस्य सिद्ध इति हेतोर्न स्वरूपासिद्धिदोष इत्युक्तहेतुनैककालत्वसिद्धौ ततोऽनर्थान्तरताप्युत्पादविनाशयोस्सिद्ध्यत्येव, अत्रानुमानप्रयोगश्चैवम्—भिन्नापेक्षावुत्पादविनाशौ

मनर्थान्तरं, विनाशेन सहोत्पादस्यैककालत्वात्, यावेककालौ तावनर्थान्तरम्, यथैकद्रव्य-वर्तिरूपम्, एककालौ चोत्पादविनाशाविति तावनर्थान्तरमिति, एवमेव ध्रौव्योत्पादध्रौव्य-विनाशात्मकद्वयेऽनर्थान्तरता भावनीया, उक्तोदकदृष्टान्तबलादेव, यथा चोत्पादादीना-मभिन्नकालत्वमनर्थान्तरत्वञ्च, तथैव घट तत्पट कस्मिंश्चित्काले स्थिरता विनश्यत्त्वतो भिन्न-कालत्वमर्थान्तरत्वञ्च भावनीयम् । अनुमानप्रयोगश्चात्र एकप्रतियोगिनिरूपिता उत्पादादयो नान्योन्यमेकतां बिभ्रति, अत्यन्तपृथग्भूतस्वरूपत्वादत्यन्तभिन्नकालत्वाच्च घट व्योमादिवत् । एवमुत्पादादयोऽर्थान्तरं मिथस्त्वलक्षणभेदात् घटपटादिवदित्यप्यनुमानं ज्ञेयम् । एवं भिन्नाभिन्नकालत्वोत्पादादीनामर्थान्तरताऽनर्थान्तरता च स्याद्वादप्रक्रियायां सकल प्रमाणाऽविरोधिनी सिद्धिकोटिमुपनीयते, न त्वेकान्तवादप्रक्रियायाम्, तत्रोत्पादादित्रयाणां तत्र च भिन्नाभिन्नकालत्वादेरनभ्युपगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

उक्तार्थस्पष्टीकरणार्थमेव प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणं प्रतिपादयितुं घटिताह—

जो आउंचणकालो, सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो ।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं णत्थि ॥ ३६ ॥

'जो आउंचणकालो' अङ्गुल्यादिद्रव्यस्य य आकुञ्चनकालः "सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो" स एव प्रसारितस्यापि न युक्तः, अङ्गुल्यादेः प्रसारणस्यापि स एव कालो न युक्त इत्यर्थः । यदैवाङ्गुलिः आकुञ्च्यते न तदैव प्रसार्यते, यदैव च सा प्रसार्यते न तदैवा-कुञ्च्यते, किन्तु भिन्नकाल एवैतयोरङ्गुल्यादिद्रव्यस्याकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशकाल एव प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्तेः तयोः पूर्वोत्तरपर्याययोर्भिन्नकालावच्छेदेनैव प्रतीतेर्भेदः, अत एव भिन्नकालः, अन्यथा तयोस्सहवर्तमानतया तदीयासाधारणस्वरूपं परिक्षतं स्यात् । कथञ्चित्तत्पर्यायाऽभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टतया भिन्नत्वमावश्यकत्वात् तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम्, यतो न हि भिन्नस्वभावमभिन्नरूपं युक्तम्, स्वभावभेदेनैव रूपभिन्नत्वाभ्युपगमात् । आकुञ्चनप्रसारणपर्याययोस्तद्विशिष्टद्रव्यस्य च भिन्नकालत्वमत एव भिन्नत्वं पूर्वार्द्धेन प्रतिपाद्याङ्गुलिद्रव्यस्यैव प्रसारणमावमवक्ष्यमानमाकुञ्चनभावेन यदैव विनष्टं तदैव प्रसारणभावेनोत्पन्नमङ्गुलित्वेन सामान्यात्मनाऽवस्थितमित्याकुञ्चनात्मकपूर्व-पर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पादाङ्गुलित्वावच्छिन्नाङ्गुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्न-कालत्वम् यताऽभिन्नरूपतां प्रतिपादयितुमुत्तरार्द्धमाह—'तेसिं पुण पडिवत्तीविगमे' 'तयोः पुनः प्रतिपत्तिविगमे' प्रतिपत्तिश्च विगमश्च प्रतिपत्तिविगमौ, अनयोस्समाहारः प्रतिपत्ति-विगमं, तस्मिन्, प्रतिपत्तिः—प्रादुर्भावः, विगमो—विनाशः, प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायस्योत्पत्तिः आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायस्य विध्वंसः तत्र, 'कालंतरं नत्थि' कालान्तरं भिन्नकालत्वं नास्ति । आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्यावस्थितीनामभिन्नका

लता अत एवाऽभिन्नरूपता च प्रतीयते,आकुञ्चनादिपूर्वपर्यायरूपेण परिणतमेवाङ्गुलिद्रव्यमाकुञ्चनादिपूर्वपरिणामपरित्यागकाल एव प्रसारणाद्यात्मकोत्तरपर्यायरूपेण परिणमत इत्येकस्यैव द्रव्यस्य तथापरिणामात्मकस्य यैवाङ्गुलिः पूर्वमाकुञ्चिता सैव प्रसारितेति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणतः प्रतीतेः । एतेन ये क्षणिकान् पदार्थानभ्युपयन्ति त एवं प्रतिपादयन्ति-उत्पत्तिसमनन्तरमेव स्वभावतो विलीयन्ते, न हेतुमपेक्षन्ते ध्वंसमानाः, स्वात्मलाभक्षणानन्तरक्षयः क्षण उच्यते, निरुक्तविधानात्, तद्योगात् क्षणिकमिति । तथा चोक्तम्—

क्षणो वाचेह नैरुक्तै--रुत्पत्त्यनन्तरं क्षयः ।
निर्हेतुः सोऽनपेक्षत्वात्, तद्योगात् क्षणिकं मतम् ॥ १ ॥ इति ।

यथा पयःप्रदीपादयः प्रतिक्षणमन्ये चान्ये चोत्पद्यन्ते निरवशेषपूर्वनाशसमकालम्, एवमन्येऽपि महीध्रादयः इति, तन्मतमपास्तम्, पयःप्रदीपादिषु परिणाममावस्यैव सद्भावेन सर्वथाऽन्यथात्वाभावात्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यं स्वजात्यनुच्छेदेनैव कञ्चित्पूर्वपर्यायं परित्यज्य पर्यायान्तरमुपादत्ते, पुद्गलत्वचैतन्यजात्यनुच्छेदेन तस्य तस्य तथाभावः परिणामः, सोऽन्यत्वबुद्धेः कारणम्, उत्फणविफणाकुण्डलप्रसारणाद्यनेकावस्थसर्पवदेकमन्वयि यद्द्रव्यं तत्परिणमते, न तु सर्वथा पूर्वोच्छेदेनान्य उत्पद्यत इति, इत्थञ्च ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियताः, यथान्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रति, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति विनाशनियतास्ते इति परेषां बौद्धानामभिधानमपि न प्रकृतबाधकम्, प्रत्युतानुकूलमेव, भावस्योत्तरपरिणामं प्रत्यनपेक्षतया तद्भावनियतत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरपरिणामान्वयिद्रव्यगतपूर्वपरिणामस्य स्वयमेवोत्तरपरिणामी भवत उत्तरपरिणामं प्रत्यपरापेक्षाऽभावतस्तं प्रतिक्षेपायोगात्, तथा च नैकान्तक्षणिकत्वं युक्तम् । नन्वेवं तर्हि जलोर्मिवदुत्पादव्ययादिविकाराः काल्पनिका एवेति कूटस्थमेव नित्यं द्रव्यमस्त्विति चेत्, मैवं वद, यतो जलोर्मयोऽपि नैव काल्पनिकाः, तेषां प्रेक्षादक्षैरपि प्रत्यक्षप्रमाणेनानुभूयमानत्वेन वस्तुभूतत्वात्, ततो जले पूर्वापरोर्मय इव पूर्वापरपर्यायानुगतप्रतीतिविषयीभूतद्रव्ये पूर्वापरस्वपर्यायाः प्रतिक्षणं विनश्यन्ति समुत्पद्यन्ते च । तदुक्तम्—

अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥ इति ।

तदेवं पूर्वापरोर्मिभावेन जलमेव यथा परिणमते, तथैव तत्तद्द्रव्यमेव पूर्वापरपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामवाद एव न्याययुक्तः, उत्पादविनाशादिविकाराणां काल्पनिकत्वे प्रमाणाभावात्, प्रेक्षावद्भिर्यथार्थतयैव ग्रहणात्, न चोत्पादादित्रयाणां विरोधः, पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात्, अन्यथा गोत्वा-

वच्छेदेन नश्यद्भेदस्य प्रथमत्वावच्छेदेन तदभेदस्य चाविरोधे औपनिषदाभिमतोऽपि कथं स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

अथ यथा भिन्ननिरूपितानामुत्पादादित्रयाणामेकधर्मीणामेकद्रव्याभिधानां परस्परस्वरूपत्वमिति हेतोस्तदन्तर्गत प्रत्येकमेकैकं रूपमुत्पादादित्रयात्मकम्, अन्यथा तत् सत्तापयुक्तया वस्तु अनेकान्तात्मकम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमुख्यव्याप्तिसिद्धत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, वियत्कुसुमवदित्यनुमाने वस्त्वात्मकपक्षैकदेशे उत्पादे व्यये ध्रौव्ये चैकैकस्मिन् हेतोरभावेन भागासिद्धिः स्यात्, तथा भूतवर्तमानभविष्यत्कालत्रययोगेनाप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयतीति प्रतिपादयितुमाह—

उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं ।
दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥ १७ ॥

' उप्पज्जमाणकालं ' उत्पद्यमानकालमित्यनेनाद्यसमयादारभ्योत्पत्तेः तत्समयं यावत् उत्पद्यमानत्वस्येष्टत्वाद्वर्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तम्, ' उप्पण्णं ' उत्पन्नमित्यनेन त्वतीतकालविषयम्, एवं ' विगयं ' विगतमित्यनेनातीतकालविषयं, ' विगच्छंतं ' विगच्छदित्यनेन च वर्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तम्, तत्त्वोत्पद्यमानमुत्पन्नं विगतं विगच्छत् " दवियं पण्णवयंतो " द्रव्यं प्रज्ञापयन् प्ररूपयन् ' विसेसेइ ' विशेषयति विशिनष्टि, कथं ? ' तिकालविसयं ' त्रिकालविषयं यथा भवतीत्येवं भावार्थः। भावार्थस्त्वयम्—यद्यपि निश्चयनयेनैकस्मिन्नेव कार्योत्पत्त्यनुकूलव्यापारान्त्यसमये कार्योत्पत्तिरिति स एव कार्योत्पत्तिक्षणः " भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते " इति वचनात्, तथापि व्यवहारनयेन दीर्घः क्रियाकाल आदिक्षणप्रभृतिचरमक्षणकोटिविषयोऽभ्युपगतः, तथा च तस्मिन् दीर्घे कार्योत्पत्तिकाले विवक्षितकार्यस्य यस्मिन् समये वर्तमानपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव समयेऽतीतपर्यायविनाशः, विनाशपूर्वकत्वादुत्पत्तेः, उत्पत्तिविनाशक्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्येत्येवमभिन्नकालानामुत्पादादित्रयाणां प्रत्येकमेकधर्मिसम्बन्धितया त्रैकाल्यं तेन नयेन प्रतिपाद्यते, तथाहि—पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एव किञ्चिद्रूपेणोत्पन्नो भवति तथोत्पद्यमानत्वं तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशक्षणादारभ्य पट उत्पद्यत इत्येवं व्यवहारदर्शनात्प्रसिद्धमेव उत्पन्नत्वं तूपपत्त्या प्रसाध्यते, तथाहि—उत्पद्यमानः पटः प्रथमतन्तुप्रवेशक्षणावच्छेदेन किञ्चिद्रूपेण नोत्पन्नश्चेत्तदाऽऽद्यक्रियाया वैयर्थ्यं स्यात्, यथा चाद्यक्रियया नोत्पन्नस्तथैवोत्तरक्षणेष्वप्युत्तरक्रियाभिर्नोत्पन्नः स्यात्, को ह्युत्तरक्रियायां विशेषो ? येन प्रथमया नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्पत्स्यते, अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः, वृथा चोत्पत्तिः, अन्त्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात्। न च तन्तुसंयोगस्यैव पटत्वाद्भिन्नं प्रथमसमयाविच्छिन्नत्वात्तन्तुक्रियया तन्तुद्वयसंयोगे द्वितन्तुकस्योत्पत्तिः,

तत्र च तन्त्वन्तरसंयोगे त्रितन्तुकादिपटक्रमेणान्त्यतन्तुसंयोगे सत्येव महापटोत्पत्तिरिति नोक्त युक्तमिति वाच्यम्, समवायसम्बन्धस्य सखण्डकारणत्वस्य च निषिद्धत्वेन समवाय्य-समवायिनिमित्तकारणेभ्यस्त्रिभ्यः कार्योत्पत्तिरिति गौतमीयप्रवादस्याश्रद्धेयत्वेन प्राक्प्रति-पादनात् शक्तिरेव कार्योत्पादिकेति प्रथमतन्तुप्रवेशकालेऽप्यंशतस्साऽस्त्येवेत्युत्पद्यमानमपि पटद्रव्यं तद्रूपकारणवशात्तदानीं किञ्चिदंशेनोत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यम्, संवदति चैनमर्थं "चलमाणे चलिए जाव निज्जरमाणे निज्जिण्णे" इति भगवद्वचनम्। यथा चोत्पद्यमानं पटादिद्रव्य प्रथमतन्तुप्रवेशसमये किञ्चिदंशेनोत्पन्नं तथैव द्वितीयतृतीयादितन्तुप्रवेश-समयेऽप्यपरापरांशेनैवोत्पन्नमभ्युपगन्तव्यम्, नोत्पन्नांशेनैव, तथा सति तस्मिन्नेव कार्यांशे द्वितीयतृतीयादिसमयभावितन्तुक्रियाव्यापाराणां व्यग्रतया तैरपूर्वापूर्वांशेन कार्योत्पत्तिर्न स्यादित्यशेषांशविशिष्टपटादिकार्योत्पत्तिः कदापि न स्यादिति प्रथम-तन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधियावत्प्रबन्धेनोत्पद्यमानं तत्तदंशेनोत्पन्नम्, तदेव चाभिप्रेतरूपतयोत्पत्स्यते इत्युत्पद्यमानमुत्पन्नमुत्पत्स्यमानञ्च भवति। एवमुत्पन्नमप्युत्पद्य-मानमुत्पत्स्यमानञ्च तथैवोत्पत्स्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नञ्च ज्ञातव्यमित्येवमेकैकमुत्पन्नादि-कालत्रयेण त्रैकाल्यं यथा प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पद्यमानादिरेकैकस्त्रै-काल्यं प्रतिपद्यते, तथाहि—यद् यदैवोत्पद्यमानं तत्तदैव किञ्चिदंशेन विगतं विगच्छद् विग-मिष्यच्च, एवं यदेव यदैवोत्पन्नं तदैव तदपि विगतादिकालत्रयसंस्पर्शि ज्ञेयम्। एवमेवोत्पत्स्य-मानमपि द्रव्यं तथैव तद्रूपं ज्ञेयम्। एवमेवोत्पन्नोत्पद्यमानोत्पत्स्यमानभेदाः प्रत्येकशो विगत-विगच्छद्विगमिष्यद्रूपैरिव स्थिततिष्ठत्स्थास्यद्रूपैरपि सप्रभेदा ज्ञेयाः, एवं स्थितिविगमावपि कालत्रयस्पर्शित्रिलक्षणयोगेनोत्पत्तिप्रणालिकया सप्रभेदौ विज्ञातव्याविति, न चैते भेदाः कल्पनामात्रनिर्मितवपुषो, निपुणं निरूपणे प्रज्ञावद्भिः परमार्थस्वरूपतयैव सर्वेषामेवाकलनात्। यत्तु वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्व भविष्यत्त्वं वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगित्वं चातीतत्वमिति न वर्त्तमानक्रियाकाले कालत्रयवाचिप्रत्ययप्रयोगसम्भव इति नैयायिकादीनां मतम्, तत्स्थूलव्य-वहारैकान्ताभिनिवेशविजृम्भितम्, नयविशेषेणैकदा त्रैकाल्यस्पर्शस्य सर्वसम्मतत्वात्, अन्य-थोत्पत्तिकाले उत्पन्नोऽयमिति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, सामुदायिकोत्पादे स्थूलकालभाविनि ऐकत्विकोत्पादानां सूक्ष्मकालस्पर्शिना त्रैकाल्यस्पर्शे तु न काचिदनुपपत्तिः, तस्माद्वर्त्तमान-क्रियाकाले कालस्य स्थूलत्वसूक्ष्मत्वाभ्यां त्रैकाल्यं नयविशेषेण यौक्तिकमेवेति सिद्धा यथो क्तभङ्गाः। सैद्धान्तिकास्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्समागमन्तविपतिततया निष्ठाभ-विष्यत्तयोः समावेशाच्चैकक्षणेऽपि कालत्रयवाचिप्रत्ययार्थोऽविरोधमादिशन्ति। तदेवं सर्वै-रेभिर्धर्मैस्त्रिकालस्पर्शिभिरविनाभूतं द्रव्यं प्रज्ञापयंस्त्रिकालविषयं विशेषयति, अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादयद्वाक्यं प्रमाणम्, तद्व्यतिरिक्तं तु वाक्यमप्रमाणम्,

अन्यप्रकारस्य द्रव्यत्वाभावात्, अत्र व्यवहारनयाभिमते तीर्थे कार्योत्पत्तिकालेऽपित काकानां बहुत्वविभागस्थितीनां प्रत्येकं कालत्रयत्वाद्विशिष्टत्वयोगेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः, भिन्नकालानां च कालत्रययोगेन सप्तविंशतेस्त्रिधा गुणने एकाशीतिर्भङ्गा यथा भवन्ति तथा—

"यद्गृह्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव, तद्गृह्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।
इत्थं भिदामपि स किं न विदांकरोतु, यः पाठितो भवति लक्षणमङ्गजालम् ॥५४॥"

इति श्लोकटीकायामस्मत्कृतमहावीरस्तवकल्पलतिकाख्यायां प्रदर्शिता इति सद्बाल विज्ञाशुभिस्तत एव ते वेदितव्याः । अत्र ग्रन्थगौरवभीत्या न प्रतन्यन्त इति ॥ ३७ ॥

अव्यर्थान्तरपयमसम्बन्धस्य विनाशस्य विभागजस्य चोत्पादस्याप्यसम्भवात् तदुत्पादाभावे स्थितेरप्यभावात् त्रैलक्षण्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकमाह—

दव्वंतरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पायं ।
उपायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥ ३८ ॥

संयोगानां द्रव्यम् । अ १, आ १, सू० १८ । इति वैशेषिकसूत्रस्य नित्यसर्वगानां द्रव्याणामन्त्यावयविनां च विजातीयद्रव्याणां च ये संयोगास्तान् विहाय बहूनां तन्तुप्रभृतीनां संयोगानां पटादिरूपमेकं द्रव्यं कार्यम्, अर्थात् अनेकेभ्यस्सजातीयतन्त्वादिसंयोगेभ्य एकं पटादिकार्यमुत्पद्यत इत्यर्थकस्य बलाद्वैशेषिकादयो यथा कार्यद्रव्योत्पादं व्यावर्णयन्ति तथा प्रदर्शयितुं पूर्वार्द्धमाह—"दव्वंतरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पायं " ' केचि ' केचिद्वैशेषिकनैयायिकादयः ' दवियस्स ' पटादिकार्यद्रव्यस्य ' दव्वंतरसंजोगाहि ' द्रव्यान्तरसंयोगैः, तन्मतेऽवयवावयविनोर्भेदास्तत्र विभक्तावयवभूततन्त्वादिसंयोगैरनेकैः, अथवा तन्मते सजातीयासजातीययोरप्यभ्युपगमात् पृथिवीत्वेन सजातीयैस्तथा तन्त्वाद्यवयवसमवायिद्रव्यान्तरैस्तदवयवतन्त्वाद्यवयवसमवायिद्रव्यान्तराणां संयोगैरसमवायिकारणभूतैः तथाविधनिमित्तसहकृतैस्समवायिकारणे ' उप्पायं बेंति ' कार्यद्रव्योत्पादं ब्रुवते, अवयविकार्यद्रव्यं निमित्तकारणासमवायिकारणसमवायिकारणत्रयेभ्य उत्पद्यत इति वदन्ति, द्वयोस्तन्त्वोस्संयोगेनापि तथाविधनिमित्तसहकृतेन द्वितन्तुकपटस्य उत्पत्तौ, कपालद्वयसंयोगेनापि च कपाले समवायिकारणे घटस्योत्पादाभ्युपगमाद्बहुत्वमतन्त्रमेवेदं, ये चोत्पादविषयकयथार्थज्ञानाः किं वा नेत्याशङ्कायामाह—' उप्पायत्थाऽकुसला ' उत्पादार्थाऽकुशला उत्पादार्थानभिज्ञाः, ' विभागजायं ण इच्छन्ति ' विभागजातमुत्पादं नेच्छन्ति-नाभ्युपयन्ति, आरम्भकसंयोगस्यैव कार्यद्रव्यासमवायिकारणत्वेन तैरभ्युपगमाद्विभागस्य कारणत्वाभावादिति भावः ॥ ३८ ॥

नन्ववयवसंयोगेनैव कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति न तु विभागेन इत्यमभ्युपगन्तारो वैशेषिकनैयायिकादयः कुत उत्पादार्थं नाभिजानन्तीत्याशङ्कायामाह—

अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे तिअणुयंति ववएसो ।
तत्तो य पुण विभत्तो अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥

'दुअणुएहिं दवे आरद्धे' द्वौ चाणुकौ च द्व्यणुकौ ताभ्यां, द्वाभ्यां परमाणुभ्यां 'आरद्धे दवे' आरब्धे द्रव्ये कार्यद्रव्ये 'अणु' इत्यस्य "येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः" इति न्यायेन "इति ववएसो" इत्यनेन सम्बन्धात् अणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धे द्व्यणुके परमाणुद्वयगतद्वित्वसङ्ख्याजन्याऽणुपरिमाणस्यैव सद्भावात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैरारब्धे द्रव्ये "तिअणुअंति ववएसो" त्र्यणुकमिति व्यपदेशः, त्र्यणुके च द्व्यणुकत्रयगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्त्वपरिमाणमुत्पद्यते, अन्यथा तत्प्रत्यक्षमेव न स्यात्, बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वस्योद्भूतरूपवत्त्वस्य च कारणत्वात् । अयमत्र भावः— नैयायिकमते "सङ्ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते" इत्युक्तेरनित्यपरिमाणं त्रिधोत्पद्यते, तत्र परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्यातो द्व्यणुकेऽणुपरिमाणमुत्पद्यते, न तु परमाणुपरिमाणतः, एवं त्रसरेणुपरिमाणमपि न द्व्यणुकपरिमाणत उत्पद्यते, यतः परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमाद् द्व्यणुकस्याणुपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाणं तु न द्व्यणुकपरिमाणसजातीयम्, अतः परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यासमवायिकारणम्, अत एव त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पञ्चभिर्वा परमाणुभिर्न किमप्यणुपरिमाणं कार्यद्रव्यमारभ्यते, कारणगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्परिमाणोत्पत्त्यभ्युपगमात्, संवदति चात्र "कारणबहुत्वाच्च" ७ अ० १ आ० ९ सू० इति वैशेषिकसूत्रम्, एतत्प्रकरणकारेणापीत्येवं सूचयितुं "अणु दुअणुएहिं दवे आरद्धे" इत्युक्तम् । द्वाभ्यां तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारब्धे पटे केवलं महत्त्वमेवासमवायिकारणम्, बहुत्वप्रचययोस्तत्राभावात्, यत्र द्वाभ्यां तूलपिण्डाभ्यां तूलपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् शिथिलसंयोगलक्षणप्रचयः कारणम्, बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्षे प्रत्यप्रयोजकत्वात् । एवं च सति यदि महत्त्वं तत्र कारणं तदा न दोषः । तदुक्तं "द्वाभ्यामेकेन सर्वैर्वा" इति । इत्थं नैयायिको वैशेषिकश्च द्व्यणुकत्रसरेण्वादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोत्पत्तिप्रक्रियां निरूपयन्तावऽप्रेक्षितवस्तुयाथात्म्यतया स्वीयाज्ञतां व्यञ्जयतः, यतो न द्व्यणुकं केवलं द्वयोः परमाण्वोः संयोगे सत्यन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणसङ्घातादुत्पद्यते, किन्तु यस्मिन्नेव समये द्व्यणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते तस्मिन्नेव समयेऽपरस्संहन्यत इत्येवमेकसामायिकाभ्यां सङ्घातभेदाभ्यामप्युत्पद्यते तत्, एवं पर्यन्तवर्तिस्कन्धादेकद्वित्र्यादिपरमाणुभेदक्रमेणाधोऽधो यावद्द्विप्रदेशस्कन्धोत्पत्तिः,

स्कन्धाद्भिद्यमानमणुकोत्पत्तिर्भेदमात्रेण भावनीया, व्यणुकमपि न केवलं व्यणुकभेदा देवोत्पद्यते, किन्तु द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाण्वन्तरेण संयोगे सति द्वयणुकानां परमाणूनां वा संयोगे सति संघातपरिणामे त्र्यणुकमुत्पद्यते, चतुरणुकस्कन्धादेकोऽणुर्यदा पृथग्भवति तदैव त्र्यणुकमेदात्, तथैकस्मिन्नेव समये व्यणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते परस्संबध्यते समकमेवेत्थतः संघातभेदाभ्यामुत्पद्यते त्र्यणुकम्, एवमेव चतुःपञ्चषडादिसङ्ख्येयानामसङ्ख्येयानन्तप्रादेशिकस्कन्धो त्पत्तिर्भावनीया । उक्तञ्च तत्त्वार्थे ' संघातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ' ५-२६ इति । तत्र सङ्ख्येया-ऽसङ्ख्येयप्रदेशिकस्कन्धास्तु नैव चक्षुर्गोचराः, अनन्तप्रदेशिकस्कन्धा अपि बादरपरिणामकस्पर्शाद्यभावात् प्रत्यक्षतामायान्ति, अत एव त्रसरेणुचाक्षुषप्रत्यक्षमपि नैयायिकैरभ्युपगतम्, सूक्ष्मपरिणामत्वात्तस्य, किन्तु सूक्ष्मपरिणामापन्नानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानां सूक्ष्मपरिणामो यदा तत्र केचन परमाणवस्संबध्यन्ते केचन भिद्यन्ते इत्येवमेकसामयिकाभ्यां भेद संघाताभ्यां शैत्यस्नेहविशेषात् सूक्ष्मतात्यागेन स्थूलपरिणामा एव चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यतां प्राप्ता बादरस्कन्धाः प्रत्यक्षगोचरा भवन्तीत्यभ्युपगतम् । उक्तञ्च तत्त्वार्थे " भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः " ५-२८ इति सूत्रतो न सर्व एव संघातमात्रात्प्राप्ताः, यतोऽनन्तानन्ता संहतिनिष्पाद्योऽपि स्कन्धो बादरपरिणतिमानेव नयनादिगोचरतां प्रतिपद्यते, न शेष इति । विचित्रपरिणामाः पुद्गलाः कदाचिदुत्सर्पिबादरपरिणाममनुभूय पश्चादुत्सर्पिसूक्ष्म परिणाममासादयन्तो न चक्षुर्गोचराः, सूक्ष्मपरिणाममप्यनुभूय कदाचिच्च शैत्यस्नेहविशेषात् बादरपरिणामपरिणता चक्षुर्गोचरतां प्रतिपद्यन्त इति चाक्षुषप्रत्यक्षे बादरपरिणाम एव कारणम्, बादरपरिणामस्कन्धद्रव्यमप्यनुभूतरूपं व्यवहितञ्च दूरवर्त्यादिकञ्च नैव साक्षात् दृश्यते चर्मचक्षुर्भिरिति तत्प्रत्यक्षे उद्भूतरूपवत्त्वव्यवधानाभावालोकादिकं चाक्षुषज्ञाना वरणीयकर्मक्षयोपशमाद्यायत्ततया कारणं वाच्यम् । एतेन " जालान्तरगते भानौ, यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः । भागस्तस्य च षष्ठो यः, परमाणुः स उच्यते ॥ १ ॥ " इति निरस्तम्, जालान्तरगतसूर्यमरीचिप्रतिभासमानस्यापेक्षिकसूक्ष्मरजोद्रव्यस्य बादरपरिणामवतोऽप्यप्रत्यक्षा-स्यकारणस्यकस्यनैश्चयिकपरमाणुभिरनन्तैरुत्पन्नभावात् नैश्चयिकस्कन्धरूपतां तीमवता षष्ठभागेषु चाक्षुषत्वयोग्यत्वव्यावहारिकपरमाणूनामनन्तानां स्कन्धरूपत्वेन तदनन्तभाग रूपत्वान्नैश्चयिकपरमाणोरिति । न च नैयायिकादिवत्तार्किकैः परमाणुरपि नित्य एवाभ्युपगतः किन्तु विभक्तभावेनोत्पत्तिमत्त्वात् कथञ्चिन्नित्यानित्योभयरूप इत्याशयेनोपदर्शयमाह- ' तत्तो य पुण विभत्तो ' तस्मादेकत्वपरिणतिपरिणततया स्कन्धपरिणाममापन्नात्कार्य द्रव्याच्च पुनर्विभक्तः विभागात्मकपर्यायरूपेणोत्पन्नः ' अणुत्ति जाओ अणू होइ ' अणुरिति अणुपरिमाण इति हेतोः अणुः परमाणुर्जात उत्पन्नो भवति । कार्यद्रव्ये स्कन्धात्मके संयुक्त वस्थारूपेण य एव पूर्वं परमाणुः कथञ्चिदेकत्वपरिणाममापन्नो यदन्यत एकं समय मुत्कर्षतोऽसङ्ख्येयकालं यावदासीत् स एव समयान्तरे असङ्ख्येयकालानन्तरं वा कथञ्चि-

देकत्वपरिणामभावविनाशे ततो विभक्ते सति विभक्तावस्थारूपेणोत्पन्नस्सन् परमाणुसञ्ज्ञां भजते, विभक्तावस्थापन्नपरमाणुभावेन पूर्वमसत्त्वात्, सत्त्वे वा स्थूलकार्याभावप्रसङ्गात्। तदेवं पृथग्भावलक्षणभेदे सति विभागपर्यायरूपेण परमाणोरुत्पादस्सिद्धः, संवदति चात्र "भेदादणुः ॥ ५-२७ ॥ इति तत्त्वार्थसूत्रम् 'भेदादेव परमाणुरुत्पद्यते न सङ्घातादिति' भाष्यसनाथम्। न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः परमाणवस्त एवारम्भकसंयोगनाशप्रयुक्तद्रव्यनाशोत्तरकालं स्वस्वरूपेण व्यवस्थिता इति तेषां नित्यत्वान्नोत्पत्तिर्युक्तेति वाच्यम् कार्यद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसाभावयोरेकत्वविरोधात्, घटद्रव्यप्रागभावात्मकमृत्पिण्डतत्प्रध्वंसाभावात्मककपालयोरिव, तथाहि-यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभाव इति ॥ ३-५५। यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्ड इति ॥ ३-५६। यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभाव इति। ३-५७। यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति। ३-५८। इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारवचनाद् घटद्रव्यप्रागभावः पूर्वपर्यायमृत्पिण्डात्मको घटद्रव्यप्रध्वंसाभावश्चोत्तरपर्यायकपालात्मकः, न चैवं तर्हि प्रागभावेऽनादित्वं ध्वंसे चानन्तत्वं न स्यादिति वाच्यम्, ऋजुसूत्रनयादेशात्तत्सन्तानापेक्षया तदुभयस्य निरवधित्वादिति तयोरेकत्वं यथा विरुद्धं तथैव परमाणूनां तादवस्थ्ये पूर्वकालावच्छेदेन वर्त्तमानकार्यद्रव्यप्रागभावात्मान उत्तरकालावच्छेदेन च तद्द्रव्यविनाशात्मानस्ते भवेयुरिति तेषामेकत्वं विरुद्धं स्यादिति द्रव्यार्थिकनयादेशाद् द्रव्यस्वरूपतयाऽवस्थिता एव परमाणवस्तत्तत्कार्यात्मना पर्यायनयादेशात् परिणमन्त इत्यणुत्वपरिणामपरिणतत्वमपहाय रौक्ष्यस्नेहविशेषाद् यदा स्थूलपरिणाममाप्नुवन्ति तदैकत्वसङ्ख्या-संयोगमहत्त्वापरत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति ते कार्यात्मकाः, यदा च स्नेहरौक्ष्यविगमात् स्थितिक्षयाद् द्रव्यान्तराभिघातेन भेदात् स्वभावगत्या च तद्द्रव्यभेदादणुपरिणामं भजन्ते तदा बहुत्वसङ्ख्या-विभागाणुपरिणाम-परत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति पर्यायनयादेशात्तत्तत्कार्यभावेनोत्पद्यमानाः कथञ्चिद्भिन्नास्तेऽभ्युपगन्तव्याः। नन्वेवं पूर्वपरिणामोपमर्देनोत्तरपरिणामभावात्तदानीं पूर्वपरिणामस्याभाव एव, भावान्तरापत्तिफलत्वात्परिणामस्येत्यतस्सूक्ष्मपरिणामाद्बादरपरिणामस्यार्थान्तरत्वात्तत्राणुपरिणामाभाव एव, तथा च बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणवः स्वेन रूपेण न सन्ति, परिणामान्तरापन्नत्वात्, सिन्धुपरिणतौ गुडादय इवेति तदानीं परमाणुभावेन परमाणूनां नाशाभ्युपगमात्, अवयवविभागोत्तरं परमाणुभावेन विभक्ततया चोत्पादाभ्युपगमात्—

"कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥"

इति पारमर्षोक्तिविरोधस्स्यादिति चेत्, नैवम्, यतस्सर्वमेव मूर्त्तद्रव्यं स्थूलं विदार्य-

नाशमध्यक्षमेव परमाणुपर्यवसानं आपद्यते, न पुनरत्यन्ताभावरूपं निरूपाख्यमिति एवमाप त्युक्तिरिति न विरोधः । यद्वा कारणमेवेत्यवधारणेन ज्ञापितमेतद् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकत्र्यणुकादिद्रव्याणां परमाणुरेव मूलकारणमिति, ततस्तन्नयादेशाद् ध्वंसस्यापि तथा तस्य नित्यत्वमक्षतमेवेति विरोधाभाव एव । एतेन द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकाले परमाणोः परमाणु भावेन नाशस्य तदवयवविभागकाले च विभागरूपेणोत्पादस्याभ्युपगमादनित्यत्वप्रसङ्गेन परमाणुर्नित्य इति व्यवहारोऽपि भ्रान्तस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, यतो ध्वंसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमिति व्यावहारिकनित्यत्वलक्षणे विशेषणविधया समुदायवि भागलक्षणध्वंस एवोपादेयः, स च द्व्यणुकादिरूपपूर्वपर्यायस्यैव, न तु परमाणोः, तस्य तु द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तद्रूपेण परिणमनादवस्थान्तरमात्रगमनलक्षणध्वंसस्यैव भावात् । तथा चोक्तलक्षणनित्यत्वं परमाणावक्षतमेव, समुदायविभागलक्षणध्वंसप्रतियोगित्वस्य द्व्यणुकादि पूर्वपर्याय एव सत्त्वेन तदप्रतियोगित्वस्य परमाणौ सद्भावात्, द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तदारम्भ कार्यभावात्परमाणोः परमाणुत्वरूपेण निवृत्तावपि द्रव्यस्वरूपतया नैव तस्य निवृत्तिरिति प्रागभावाप्रतियोगित्वस्यापि द्रव्यरूपेण सद्भावादेवेति तत्र नित्यत्वव्यवहारे न भ्रान्तत्व प्रसङ्ग इति । एतेन पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वनित्या इति नैयायिकप्रक्रिया निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽवस्थान्तरगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्य समर्थनात् । अत एव द्वादशारनयचक्रटीकायां " यदि कारणं यदि कार्यं तदा को दोषः ?, इष्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणं द्व्यणुकादेर्मृत्पिण्डशिवकादीनां कार्यमपि, तद्भेदकत्वादित्याद्युक्तं सङ्गच्छते ॥ ११ ॥

ननु जन्यपृथिवीत्वावच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वात्परमाणूनां नित्यता तु कार्यतावच्छेदकसमानाक्रान्तत्वस्याप्रसक्तिर्न युक्तेति न चापादनीयम्, समवायस्य निषिद्ध त्वात्, तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वावच्छिन्ने स्वध्वंसत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादान कारणत्वस्यैवोचितत्वेन विभागजातोत्पत्तिपक्षेऽपि द्व्यणुकादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्ते र्भावात् । अस्त्वेवं तथापि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति संयोगत्वेन कारणत्वे तदन्यतरेणापि विभागात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः, एवं विभागत्वेन कारणत्वे तदभावेऽपि संयोगा त्कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो दोष इति चेत्, नैवम्, संयोगजातकार्यद्रव्ये विभागजात कार्यद्रव्ये च वैजात्योपगमात्, यद्वा संयोगाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्यं प्रति संयोगत्वेन विभागाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्यं प्रति च विभागत्वेन कारणत्वोपगमात् फलमुख गौरवदोषस्यादोषत्वात्, अथवा संयोगविभागयोरुद्भावभेदादेकयोरपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रत्येकव्यक्तिमत्त्वेनोभयानुगतस्य कारणत्वस्योपगमात् । तथाऽनभ्युपगमे तु त्रिप्रदेशिकस्कन्धा देकाणुभेदे द्विप्रदेशिकस्याकस्मिकत्वापत्तेः, तत्कारणसद्भावविशेषाभावात्, सर्वत्र परमाणु पर्यन्तभेदेन परमाणुद्व्यणुकादिसंयोगात् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवात् । उक्तञ्च—

"संयोगाच्च विभागाच्च, द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् ।
वैजात्यं वापि वैशिष्ट्यं, कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥ १ ॥

अणुद्व्यणुकसंयोगा-दणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ।
तद्विभागादणूत्पत्तौ, प्रद्वेषः किं निबन्धनः ? ॥ २ ॥

केयूरकुण्डलीभावे, तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ।
साधारणमुपादानं, क्ष्मादि किं चिन्तयाऽत्र नः ? ॥ ३ ॥

तादात्म्यनियताधारा-धेयभावनिबन्धनम् ।
कारण प्रत्युपादेयं, विभिन्नं परिणामि वा ॥ ४ ॥

तावत् सञ्जातभेदा वा, हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ।
गच्छत्यविनिगम्यत्व-मप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥

जात्यन्तरात्मके वस्तु-न्येवं किञ्चिन्न दुष्यति ।
कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥

संयोगवद्विभागेऽपि, वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ।
एकस्य हेतुताऽन्यस्य, नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥

संयोगे समवायश्चे-द्धेतुताया नियामकः ।
मृद्द्रव्ये सविभागे स्ता-दंशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥

स्वध्वंसत्वेन योगेनो,-पादानं हेतुरस्तु वा ।
तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्यान्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥

संयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ।
मया तत्र विजातीय इति गौरवभीः कुतः ? ॥ १० ॥ इति ॥

यथा बहूनां संयोगे एकप्रत्ययव्यवहारनिदानं समुदयजनित उत्पादोऽभ्युगतस्तथैकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशे बहुप्रत्ययव्यपदेशनिदानं विभागजातोऽप्युत्पादः किन्नाभ्युपेयः ? व्यवहरन्ति हि 'भग्ने घटे बहूनि कपालान्युत्पन्नानि' इति, एवं परमाणूनामप्येककार्यनाशे युक्तो विभक्ततया बहुत्वेनोत्पादः । तदेवाक्षेपद्वारेणाह—

बहुआण एगसद्दे जइ संजोगाहि होइ उप्पाओ ।
न णु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुआण उप्पाओ ॥ ४० ॥

'जइ बहुयाण संजोगाहि' यदि बहूनां द्व्यणुकादीनां संयोगैः, 'एगसद्दे' एकशब्दः-एकशब्दव्यपदेशनिदानं 'होइ उप्पाओ' भवत्युत्पादः, एकस्य त्र्यणुकादेरिति

देशः, अन्यथैकाऽभिधानप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, यतो न हि बहुषूत्पन्नेषु एको घट उत्पन्न इति प्रयुङ्क्ते प्रत्येति वा प्रमाता, 'नयु' भणितिस्वप्रमाणां, 'एगविभागम्मि वि' एकविभागेऽपि, एकस्य कार्यस्य विनाशे तत्कारणावयवविभागेऽपि, " हुज्ज बहुयाण उप्पाओ " उच्यते बहूनां विभक्तानामवयवानामुत्पादः, मुद्गरादिसहकारिकलापात् घटस्य तदवयवविभागलक्षणे विनाशे सति बहूनि विभक्तानि कपालानि, कपाले च भग्ने विभक्तानि बहूनि शकलानि जातानीति व्यवहारोऽन्यथाऽनुपपत्तेः, न च मुद्गरपाताद् विनष्टो घट इत्येव प्रतीयते व्यवह्रियते चेत्यतिरिक्तनाशस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम्, यतो घटविनाशस्वरूपेण विभक्तकपालकदम्बकारम्भकत्वेतरकार्यारम्भ एव प्रायो भिन्नो घटविनाशः प्रतीयते, न तु तद्व्यतिरिक्तः, पूर्वपर्यायनाशस्योत्तरपर्यायोत्पादनान्तरीयकत्वानुभवात् दीपादिनाशेऽपि तमःपर्यायोत्पादस्यानुभवात्, पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादयोरेकसामग्री प्रभवत्वाच्च । उक्तञ्च " यस्त्वाददर्थ घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्त्वया मुद्गरो, दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः । तेनाभाव इति श्रुतिः क निहिता किं वाऽत्र तत्कारणम्, स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥ १ ॥" इति । ये तु तावत्प्रपथिनोऽपि कपालोत्पादिकां भिन्नां सामग्रीम्, घटनाशोत्पादिकां च भिन्नामेव कल्पयन्ति तेषां क्वचित् पूर्वैव वैदग्धी । न च ध्वंसस्योत्तरपर्यायस्वरूपत्वे तस्य सान्तत्वात्सावनन्तो ध्वंस इति ध्वंस लक्षणमेवानुपपन्नं स्यादिति वाच्यम्, पक्षे उत्तरपर्ययेऽपि घटध्वंसत्वकल्पने लाघवाद् व्यक्तित्वादिना सादित्वेऽपि घटध्वंसत्वेनानन्तत्वस्याप्यक्षतेः, अत एव पूर्वपर्यायात्मा प्रागभावोऽपि तद्व्यक्तित्वादिना सादिरूपोऽपि प्रागभावत्वेनानादिरूपो भावनीयः । तदेवं मृद्द्रव्यस्यैवानुगतस्य मृत्पिण्ड-शिवक-स्थासक-कोशक-कुशूल-घट-कपाल-शकल-शर्करा-चोक्षादियावत्त्रसरेणुद्व्यणुकपरमाणुपर्यन्तक्रमिकपर्याया इति तत्तत्पर्यायरूपेण परिणममानं मृद्द्रव्यं तत्तत्पूर्वपर्यायात् परित्यजन्नेव तत्तदुत्तरपर्यायानुपादत्त इति तद् द्रव्यरूपेण ध्रुवं सत् पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पादात्मकमिति त्रयात्मकम्, तद्वितयविकलस्य तस्याऽनुपलम्भ रसत्त्वात् सिद्धम्, यथा चोत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावा नैव मिथ एकान्तेन भिन्नाः, किन्तु द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इति कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्वभावा इत्येककालीनधर्मिकतया परस्परमभेदेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायेन प्रत्येकमेकैकरूपं त्र्यात्मकं तथैव कालत्रयापेक्षयाऽपि पूर्ववत्त्र्यात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अतोऽनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यमिति व्यवस्थितमेतत् ॥ ४० ॥

ननु यथोत्पादादीनां भेदाभेदौ यदैकपर्यायमाश्रित्यैकस्मिन् द्रव्येऽनेकरूपतामापयन्ति तदा प्रतिसमयमपि भिन्नभिन्नपर्यायसमाश्रयत्वेनानन्तकाले स्वपर्ययानन्तत्वं बिभ्राणाः कथञ्चित्स्वाभिन्ने द्रव्येऽनन्ततामानयन्तीति कैमुतिकन्यायप्राप्तमेवेति न तत्र विप्रतिपद्यामहे, तथाप्येकक्षण एवैकस्मिन् द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वमिति कौतुकमिति न चाशङ्कनीयम्,

एकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तदन्यूनानतिरिक्तसङ्ख्यकविगमानां तन्नियतस्थितीनां च सम्भवात्। तदेवाह—

एगसमयम्मि एगदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया।
उप्पायसमा विगमा ठिई उ (ठिइओ) उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥

'एगसमयम्मि' एकसमये-एकस्मिन् क्षणे 'एगदवियस्स' एकद्रव्यस्य 'बहुया वि होंति उप्पाया' बहवोऽपि भवन्त्युत्पादाः। 'उप्पायसमा विगमा' उत्पादसमा उत्पादसमसङ्ख्यका विगमाः पूर्वपर्यायविनाशा अपि तदैव भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणोत्पादासम्भवात्, 'ठिई उ उस्सग्गओ णियमा' अत्र तुशब्दस्याप्यर्थकत्वात्स्थितिरपि उत्सर्गतो नियमात्, स्थितिरपि उत्सर्गतस्सामान्यरूपतया अन्वितरूपेण तथैव नियता, स्थितिरहितोत्पादव्ययासम्भवात्, तत्सम्भवे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिव्ययप्रसङ्गस्स्यादिति। अत्रैकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समाना विगमानां तन्नियतस्थितीनां च सम्भवादिति शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीकोक्तेरनन्तोत्पादव्ययवत्तत्समसङ्ख्यकस्थितयोऽप्यनन्ता एकक्षणे एकधर्मिणि सम्भवन्तीति सिद्धं भवति, तत्सङ्गतिः प्रकृतगाथोक्तजात्येकवचनान्त "ठिई" इतिपदमहिम्ना कर्त्तव्या, यतस्तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थितिर्भिन्ना भिन्नैव विशेषण भेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यकस्थितयोऽपि नियमाद्भवन्तीति। 'ठिइओ उस्सग्गओ णियमा' इत्येवं पाठे तु तस्य चायमर्थः-स्थितय उत्सर्गतो नियमात्, यद्यपि पूर्वोत्तरपर्यायेष्वन्वितासामान्यद्रव्यस्यानुगतत्वात्तदात्मकसामान्यरूपतया स्थितिरेकैव, तथापि तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थितिर्भिन्ना भिन्नैव, विशेषणभेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यकस्थितयोऽपि नियमाद्भवन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

एकक्षणावच्छिन्नसंयोगविभागजानन्तोत्पादतावन्नाशकिर्मीरितध्रौव्यैकस्वभाववस्तु दृष्टान्तद्वारेण विनिश्चेतुमाह—

काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गई विसेसओ वावि।
संजोयभेयओ जाणणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ ४२ ॥

कायेति-यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारमात्रपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरसरुधिरादिपरिणतिवशाविर्भूतशिरोऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्गमात्रपरिणतस्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कायस्योत्पत्तिस्तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिपरिणतमनस उत्पादोऽपि, तदैव च वचनस्यापि काययोगाकृष्टभाषावर्गणापरिणतिप्रतिलब्धवृत्तिरुत्पादः, तदैव च काया-

दयः, अन्यथैकाऽभिधानप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, यतो न हि बहुष्वप्येषु एको घट उत्पन्न इति प्रयुङ्क्ते प्रत्येति वा प्रेक्षावान्, 'बहु' नभिस्पन्दमानां, 'एकविभागमि ति' एकविभागेऽपि, एकस्य कार्यस्य विनाशे तत्कारणावयवविभागेऽपि, "मुग्गरं बहुयाण उप्पाओ" इत्यत्र बहूनां विभक्तानामवयवानामुत्पादः, मुद्गरादिसहकारिव्यापारात् घटस्य तदवयवविभागलक्षणे विनाशे सति बहूनि विभक्तानि कपालानि, कपाले च भग्ने विभक्तानि बहूनि शकलानि जातानीति व्यवहारान्यथाऽनुपपत्तेः, न च मुद्गरपाताद् विनष्टो घट इत्येव प्रतीयते व्यवच्छिन्न घटव्यतिरिक्तनाशस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम्, यतो घटविनाशस्वरूपेण विभक्तकपालशकलादिकारणकार्यस्यैव प्राप्तो घटविनाशः प्रतीयते, न तु तद्व्यतिरिक्तः, पूर्वपर्यायनाशस्योत्तरपर्यायोत्पादनान्तरीयकत्वानुभवात्, दीपादिनाशेऽपि तमःपर्यायोत्पादानुभवात्, पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादयोरेकसामग्री प्रभवत्वाच्च। उक्तञ्च "घटस्तावदयं घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्तथा मुद्गरो, दृष्टा कर्परसंहतिः परमतोऽभावो न दृष्टोऽपरः। तेनाभाव इति श्रुतिः क निहिता किं वाऽत्र तत्कारणम्, स्वाधीना कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली ॥ १ ॥" इति। ये तु तावन्नैयायिकोऽपि कपालोत्पादादिकां भिन्नां सामग्रीम्, घटनाशोत्पादिकां च भिन्नामेव कल्पयन्ति तेषां क्वचित् पूर्वेव वैदग्धी। न च ध्वंसस्योत्तरपर्यायस्वरूपत्वे तस्य सान्तत्वात्सादित्वापत्त्या ध्वंस इति ध्वंस लक्षणमेवानुपपन्नं स्यादिति वाच्यम्, यतो उत्तरपर्याये घटध्वंसत्वकल्पने तावताव व्यभिचारात्विना सादित्वेऽपि घटध्वंसत्वेनानन्तत्वस्याप्यनुपपत्तेः, अत एव पूर्वपर्यायात्मा प्रागभावोऽपि तद्व्यक्तित्वादिना सादिरूपोऽपि प्रागभावत्वेनानादिरूपो मन्तव्यः। तदेवं मृद्रव्यस्यैवानुगतस्य मृत्पिण्ड-शिवक-स्थासक-कोशक-कुशूल-घट-कपाल-शकल-शर्करा-पांस्वादियावत्सरेणुद्व्यणुकपरमाणुपर्यन्तक्रमिकपर्याया इति तत्तत्पर्यायरूपेण परिणममानं मृद्द्रव्यं तत्पूर्वपर्यायाम् परित्यजदेव तदुत्तरपर्यायानुपादत्ते इति तद् द्रव्यरूपेण ध्रुवं सद् पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पादात्मकमिति त्रयात्मकम्, तत्त्रितयविकलस्य वस्तुत्वानुपलम्भे सत्त्वात् सिद्धम्, यथा चोत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावा नैव भिन्न एकान्तेन भिन्नाः, किन्तु द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इति कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्वभावा इत्येककालीनधर्मिरूपतया परस्परात्मकत्वेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायेन प्रत्येकमेकैकरूपं त्र्यात्मकं तथैव क्रमभाविपर्यायापेक्षयाऽपि पूर्ववत्त्र्यात्मकत्वमनुगन्तव्यम्, अतोऽनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यमिति व्यवस्थितमेतत् ॥ ४० ॥

ननु यद्यप्युत्पादादीनां भेदाभेदौ यदैकपर्यायमाश्रित्यैकस्मिन् द्रव्येऽनेकस्वरूपतामानयन्ति तदा प्रतिक्षणमाविर्भावतिरोभावपर्यायसमाश्रयणेनानन्त्यकाले स्वयमनन्तत्वं विज्ञायते कथञ्चित्स्वाभिन्ने द्रव्येऽनन्ततामानयन्तीति यैस्तु तीर्थान्यायप्रमाणमेवेति न तत्र विप्रतिपद्यामहे, तथाप्येकक्षण एवैकस्मिन् द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वमिति यौक्तिकमिति न चाध्यवसीयते,

रोक्षान्तर्गतागमप्रमाणं प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमाणान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्भेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

'दुविहो धम्मावाओ' द्विविधो धर्मावादः, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात् वादस्तत्प्रतिपादक आगमः, तद्द्वैविध्यमेवाह—'अहेउवाओ य हेउवाओ य' अहेतुवादश्च हेतुवादश्च । तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्याद्यभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एवम्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, यद्वा हिनोति–गमयत्यर्थमिति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्धेतुवादात्मकद्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातुं शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह–तत्थेत्यादिना । तत्र त्वहेतुवादः, तत्र भेदद्वयमध्ये, अहेतुवादस्तु "भवियाभवियादओ भावा" भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । प्रतिपाद्यग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात् । न हि 'अयं भव्यः, अयन्त्वभव्यः' इत्यत्रास्मदादीनामागममृते प्रमाणान्तर प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्, जीवाजीवाख्यद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्तं युक्तमिति चेत्, मैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टभव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगमसापेक्षस्यैव प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनायं भव्यः, अयञ्चाभव्य इति ज्ञातुमस्मदादिभिश्शक्यते । अयम्भावः–यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवानेव, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्वं तद्वान् भव्यः, एतद्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येवं वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि आगममन्तरेणागमैकगम्यभव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्वं भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्वं प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्तानुमानगम्यत्वाद्धेतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह–अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्मिण्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मद्दंसण–नाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो–त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

रमनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विवक्षीकृताऽनुग्रुपात्तात्मप्रदेशे क्रमशक्रियोत्पत्तिः, तदैव च चक्षुराद्या निवृत्तिभावेन नीलरक्तादिरूपमधुराम्लादिरससुरभ्यादिगन्धशीतोष्णादिस्पर्शसमकालानामपि प्रतिविषयोत्पत्तिनश्वराणां सजातीयविजातीयस्वभावतयोत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुपार्जितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽत्मीयमतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वादिततप्रमाणसंयोगविभागानामुत्पत्तिः, तदैव च तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, यदैव शरीरादेरेकस्य द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैस्सह साक्षात्पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्याणामाश्रित्य स्थिताकाश-धर्माधर्मास्तिकायादिद्रव्यसम्बन्धात्, एवं तत्र त्रैलोक्यान्तर्गतासेषपदार्थान्तर्गतैकैकापेक्षया भिन्नत्वादिपर्यायाणामुत्पत्तिः, किं बहुना ! मयूराण्डकरसे प्रथमक्षण एव शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छो दर-चरणाद्यनेकावयवोत्पादनानुगुणचञ्चुरुत्पत्तिवत् मात्रानन्तस्वपरपर्यायोत्पत्त्यनुकूलशक्तीनामुत्पत्तिः, न चैवं तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसक्तिः स्यात्, तदैव कायमनोवचनक्रियारूपादिमतिविशेषापेक्षया संयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वापेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकोत्पत्तिभावादनन्तपर्यायात्मकत्वं सिद्धम् । भिन्नभिन्नवस्तुनोऽपि कथञ्चित्सम्बन्ध एकद्रव्येण सह समस्तीति सम्बन्धितयैकक्षणवस्तुत्पत्त्याऽपि तदुत्पत्तिभावात् । अथ यद्यप्येकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समानां विगमानां तथैव स्थितीनां च पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भवादस्त्येकद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकम्, तथापि न च तथात्वेनास्मदादिभिरध्यक्षेण गोचरीक्रियत इति तथात्मकमिति कथं श्रद्धेयमिति चेत्, नैवम्, यतोऽस्मदाद्यध्यक्षस्याखिलस्वसामग्र्यभावस्वधर्मरूपेण निरवशेषधर्मविशिष्टवस्तुग्राहकत्वसामर्थ्याभावादेव तथा तदुल्लेखेन तदग्रहणम्, न तु तदभावात्, अन्यथा गुरुत्वादेरप्यध्यक्षाग्रहणादसत्त्वं स्यात्, अथ गमनोत्पतनादिकार्यलिङ्गेनानुमीयमानत्वात्तदस्त्यमिति चेत्, अत्रापि यद्येकैकं द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं न स्यात् तर्हि साक्षात्सम्बन्धेन स्वपर्यायाणां त्रिभुवनान्तर्गतसमस्तसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपरपर्यायाणां च स्वाभावस्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तत्र सत्त्वमेव न स्यात्, सत्त्वञ्चास्ति, तस्मात्तदनन्तपर्यायात्मकमिति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धेः, तथा च वैलोक्यस्यापि तत्सत्त्वान्यथाऽनुपपत्तिलिङ्गकानुमानेनानन्तपर्यायात्मकं द्रव्यमिति सिद्धम् । अत एवानन्तधर्मात्मकं वस्तु इत्यर्हत्सिद्धान्तपूर्वसंस्कारवतां प्रयोजनवशादेकमपि पर्यायं गृह्णतां भावतस्तथा परिज्ञानमस्त्येव, तदानीं तेषां मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजनितस्याहर्दसंस्कारसद्भावेन भावतोऽनन्तपर्यायात्मकतया वस्तुग्रहणपरिणामस्याक्षीणत्वादिति सिद्धान्ते गीयते । तदाह-भाष्यसुधाम्भोधिः—

> पज्जायमाणवन्तो, एक्कं पि तओ पभायणवसाओ ।
> तत्तियपज्जाय च्चिय, त गिण्हइ भावओ वत्थुं ॥ ४१ ॥

अथ प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रमाणं द्विविधं प्राह योऽकप

रोक्षान्तर्गतागमप्रमाणं प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमाणान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्भेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

'दुविहो धम्मावाओ' द्विविधो धर्मावादः, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात् वादस्तत्प्रतिपादक आगमः, तद्वैविध्यमेवाह—'अहेउवाओ य हेउवाओ य' अहेतुवादश्च हेतुवादश्च । तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्याद्यभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एवम्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, यद्वा हिनोति-गमयत्यर्थमिति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्धेतुवादात्मकद्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातुं शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—तत्थेत्यादिना । तत्र त्वहेतुवादः, तत्र भेदद्वयमध्ये, अहेतुवादस्तु "भवियाभवियादओ भावा" भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । प्रतिपाद्यग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात् । न हि 'अयं भव्यः, अयन्त्वभव्यः' इत्यत्रास्मदादीनामागममृते प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्, जीवाजीवाख्यद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्तं युक्तमिति चेत्, नैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टभव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगमसापेक्षस्यैव प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनायं भव्यः, अयञ्चाभव्य इति ज्ञातुमस्मदादिभिश्शक्यते । अयम्भावः-यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवानेव, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्वं तद्वान् भव्यः, एतद्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येवं वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि आगममन्तरेणागमैकगम्यभव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्वं भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्वं प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्तानुमानगम्यत्वाद्धेतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह-अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्मिण्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मद्दंसण-नाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो-त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

रसनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषमीकृताऽसङ्ख्यातात्मप्रदेशे कम्पक्रियोत्पत्तिः, तदैव च तद्गुणता निवृत्तिभावेन नीलरक्तादिरूपमधुराम्लादिरससुरभ्यादिगन्धशीतोष्णादिस्पर्शात्मकवर्णानामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणां सजातीयविजातीयस्वभावयोरुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽत्मनि मतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वादितत्तत्समानसंयोगविभागाद्युत्पत्तिः, तदैव च तत्तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, यदैव शरीरादेरेकस्य द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैस्सह साक्षात्पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्यव्यापित्वेन स्थिताकाश-धर्माधर्मास्तिकायादिद्रव्यसम्बन्धात्, एवं तत्र त्रैलोक्यान्तर्गताशेषपदार्थान्तर्वर्तिकतिपयपर्यायापेक्षया भिन्नत्वादिपर्यायाणामुत्पत्तिः, किं बहुना ? मयूराण्डकरसे प्रथमक्षण एव शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छो दर-चरणाद्यनेकावयवोत्पादनानुगुणशक्त्युत्पत्तिवद् भाव्यनन्तस्वपरपर्यायोत्पत्त्यनुकूलशक्तीनामुत्पत्तिः, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्युत्पत्तिर्न स्यात्, तदेवं कायमनोवचनक्रियारूपादिगतिविशेषापेक्षया संयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वाद्यपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकोत्पत्तिभावादनन्तपर्यायात्मकत्वं सिद्धम्। भिन्नभिन्नवस्तुनोऽपि कथञ्चित्सम्बन्ध एकद्रव्येण सह समस्तीति सम्बन्धितयैकमपि वस्तुन स्याऽपि तदुत्पत्तिभावात्। अथ यद्यप्येकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां वस्तुमानां विगमानां चभिमतस्थितीनां च पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भवादस्त्येकद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकम्, तथापि न च तथात्वेनास्मदादिभिरध्यक्षेण गोचरीक्रियत इति तथात्मकमिति कथं श्रद्धेयमिति चेत्, नैवम्, यतोऽस्मदाद्यध्यक्षस्याखिलस्वसाधारणधर्मरूपेण निरवशेषधर्मविशिष्टवस्तुग्राहकत्वस्वभावत्वादेव तथा तथोल्लेखेन तदग्रहणम्, न तु तदभावात्, अन्यथा गुरुत्वादेरस्मदध्यक्षाग्रहणादसत्त्वं स्यात्, अथ गमनोद्गमनादिकार्यलिङ्गेनानुमीयमानत्वात्सत्त्वमिति चेत्, अत्रापि यद्येकैकं द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं न स्यात् तर्हि साक्षात्सम्बन्धेन स्वपर्यायाणां त्रिभुवनान्तर्गतसमस्तभिन्नसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपरपर्यायाणां च स्वाभावस्वरूपपरम्परासम्बन्धेन तत्र सत्त्वमेव न स्यात्, सत्त्वञ्चास्ति, तस्मात्तदनन्तपर्यायात्मकमिति प्रमाणविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धेः, तथा च त्रैलोक्यव्याप्यन्यथानुपपत्तिलिङ्गकानुमानेनानन्तपर्यायात्मकं द्रव्यमिति सिद्धम्। अत एवानन्तधर्मात्मकं वस्तुभिरर्हत्सिद्धान्तवृद्धसम्प्रदायविदां प्रयोजनवशादेकमपि पर्यायं पृच्छतां भावतस्तथा परिज्ञानमस्त्येव, तदानीं तेषां मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजनितस्वात्मसंस्कारसद्भावेन भावतोऽनन्तपर्यायात्मकतया वस्तुग्रहणपरिणामस्याधीनत्वादिति सिद्धान्ते गीयते। तदाह-भाष्यसुधाम्भोधिः—

पज्जायमासयन्तो, एक्कं पि तओ पओयणवसाओ।
तत्तियपज्जायं चिय, तं गिण्हइ भावओ वत्थुं। ११९। इति ॥ ४२ ॥

अथ प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रमाणं द्विविधं प्राक् प्रोक्तम्, तत्र प्रत्यक्षभेदस्वरूपवक्तव्यता

परोक्षान्तर्गतागमप्रमाणं प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमाणान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्भेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

'दुविहो धम्मावाओ' द्विविधो धर्मावादः, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात् वादस्तत्प्रतिपादक आगमः, तद्वैविध्यमेवाह—'अहेउवाओ य हेउवाओ य' अहेतुवादश्च हेतुवादश्च । तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्याद्यभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एवम्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, यद्वा हिनोति-गमयत्यर्थमिति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्धेतुवादात्मकद्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातुं शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—तत्थेत्यादिना । तत्र त्वहेतुवादः, तत्र भेदद्वयमध्ये, अहेतुवादस्तु "भवियाभवियादओ भावा" भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । प्रतिपाद्यग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात् । न हि 'अयं भव्यः, अयन्त्वभव्यः' इत्यत्रास्मदादीनामागममृते प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्, जीवाजीवाख्यद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्तं युक्तमिति चेत्, मैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टभव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगमसापेक्षस्यैव प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनायं भव्यः, अयश्चाभव्य इति ज्ञातुमस्मदादिभिश्शक्यते । अयम्भावः-यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवानेव, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्वं तद्वान् भव्यः, एतद्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येवं वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि आगममन्तरेणागमैकगम्यभव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्वं भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्वं प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्तानुमानगम्यत्वाद्धेतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह-अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्मिण्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मद्दंसण-नाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो-त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

स्तमोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषमीकृताऽप्रभूतावास्तप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च तद्गुणता निवृत्तिभावेन नीलरक्तादिरूपमधुराम्लादिरससुरभ्यादिगन्धशीतोष्णादिस्पर्शरूपपर्याया-णामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिनश्वराणां सजातीयविजातीयस्वभावतयोत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वा-विरति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिप्रसूताद्विकर्मबन्धनिमित्ताऽऽयामि पत्तिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्पद्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वादिततत्स्वभावसंयोगविभागानामुत्पत्तिः, तदैव च तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, तदैव शरीरादेरेकस्य द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलोक्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैस्सह साक्षात्पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्याणामित्थम्स्थितत्वात्-धर्माधर्मास्तिकायादिद्रव्यसम्बन्धात्, एवं तत्र त्रैलोक्यान्तर्गताशेषपदार्थान्तर्गतैकैकापेक्षया भिन्नत्वादिपर्यायाणामुत्पत्तिः, किं बहुना ! मयूराण्डकरसे प्रथमक्षण एव शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छो दर-चरणाद्यनेकावयवोत्पादनानुगुणशक्त्युत्पत्तिवद् भाव्यनन्तस्वपरपर्यायोत्पादयोग्यतालक्षणशक्तीनामुत्पत्तिः, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्युत्पत्तिरसम्भवस्यात्, तदेवं द्रव्यमनोवचनक्रियारूपादिगतिविशेषापेक्षया संयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वाद्यपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकोत्पत्तिभावादनन्तपर्यायात्मकत्वं सिद्धम् । भिन्नभिन्नवस्तुनोऽपि कथञ्चित्सम्बन्ध एकद्रव्येण सह समस्तीति सम्बन्धितयैकवस्तुत्व यथाऽपि तदुत्पत्तिभावात् । अथ यद्यप्येकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां वर्तमानानां विगमानां तथिष्यतां स्थितीनां च पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भवादस्त्वेकद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकम्, तथापि न च तत्तथात्वेनास्मदादिभिरध्यक्षेण गोचरीक्रियत इति तदात्मकमिति कथं श्रद्धेयमिति चेत्, नैवम्, यतोऽस्मदाद्यध्यक्षस्याखिलवस्तुस्वभावावगमपर्यन्तरूपेण निरवशेषधर्मविशिष्टवस्तुग्राहकत्वस्वभावत्वादेव तथा तयोर्विशेषेण तदग्रहणम्, न तु तदभावात्, अन्यथा गुरुत्वादेरप्यप्रत्यक्षत्वादसत्त्वं स्यात्, अथ गमनोपगमनादिकार्यलिङ्गेनानुमीयमानत्वादसत्त्वमिति चेत्, अत्रापि यद्येकैकं द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं न स्यात् तर्हि साक्षात्सम्बन्धेन स्वपर्यायाणां त्रिभुवनान्तर्गतस्वभिन्नसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपरपर्यायाणां च स्वाभावपररूपपरम्परासम्बन्धेन तत्र सत्त्वमेव न स्यात्, तच्चास्ति, तस्मादनन्तपर्यायात्मकमिति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां तत्सिद्धेः, तथा च त्रैलोक्यव्याप्यनन्तलक्षणा यथाऽनुपपत्तिलिङ्गकानुमानेनानन्तपर्यायात्मकं द्रव्यमिति सिद्धम् । अत एवानन्तपर्यायात्मकं तत्त्वमित्यर्हत्सिद्धान्तदृढसंस्कारवतां प्रयोजनवशादेकमपि पर्यायं पृच्छतां भावतस्तथा परिज्ञानमस्त्येव, तदानीं तेषां मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजनितस्याऽऽदृढसंस्कारसद्भावेन भावतोऽनन्तपर्यायात्मकतया वस्तुग्रहणपरिणामस्याधीनत्वादिति सिद्धान्ते गीयते । तदाह-भाष्यसुधाम्भोधिः—

पज्जायमासयन्तो, एक पि नओ पओयणवसाओ ।
तत्तियपज्जायं चिय, तं गिण्हइ भावओ वत्थुं । १२१ । इति ॥ ४२ ॥

अथ प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन प्रमाणं द्विविधं प्राक् प्रोक्तम्, तत्र प्रत्यक्षस्वरूपदर्शना

परोक्षान्तर्गतागमप्रमाणं प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमाणान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्भेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

'दुविहो धम्मावाओ' द्विविधो धर्मावादः, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात् वादस्तत्प्रतिपादक आगमः, तद्द्वैविध्यमेवाह—'अहेउवाओ य हेउवाओ य' अहेतुवादश्च हेतुवादश्च। तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्याद्यभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एवम्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवादः, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, यद्वा हिनोति-गमयत्यर्थमिति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः, तदितरश्चाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्धेतुवादात्मकद्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातुं शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह-तत्थेत्यादिना। तत्र त्वहेतुवादः, तत्र भेदद्वयमध्ये, अहेतुवादस्तु "भवियाभवियादओ भावा" भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः। प्रतिपाद्यग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात्। न हि 'अयं भव्यः, अयन्त्वभव्यः' इत्यत्रास्मदादीनामागममृते प्रमाणान्तरं प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादकं वचनं यथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्, जीवाजीवाख्यद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्तं युक्तमिति चेत्, नैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टभव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगमसापेक्षस्यैव प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनायं भव्यः, अयश्चाभव्य इति ज्ञातुमस्मदादिभिश्शक्यते। अयम्भावः-यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यतावच्छेदकधर्मवानेव, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्वं तद्वान् भव्यः, एतद्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येवं वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि आगममन्तरेणागमैकगम्यभव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येतावताऽहेतुवादत्वं भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्वं प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्तानुमानगम्यत्वाद्धेतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह-अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्धर्मिण्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मद्दंसण-नाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो-त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

भविओ इत्यादि । 'सम्मद्दंसणनाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो' इति–अत्र 'सम्मद्दंसणनाण चरित्तगुणलद्धिसंपन्नो'' इत्यपि चास्मत्प्रतिवादे पाठः, साध्यहेतुघटितोऽयं प्रयोगः, तथा च अयं भव्यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पन्नत्वात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रगुणलब्धि सम्पन्नत्वाद्वा सम्प्रतिपन्नपुरुषवदित्यनुमानं पर्यवस्यति । उक्तहेतोः किमित्याशङ्कानिरासार्थ-मुत्तरार्द्धमाह–'नियमा दुक्खंतकडो त्ति' नियमात् दुःखान्तकृदिति, नियमात्संसारदुःखान्तं करिष्यति कर्मव्याधेस्समूलकार्षं कषणमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्यास सात्मीभावात् व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधातुरवत् । यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्यास सात्म्यभाक् नासौ दुःखान्तकृद्भविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधातुरवत्, इति 'लक्खणं हेउवायस्स' हेतुवादस्य लक्षणम् । ननु भव्याभव्यादेर्लक्षणमागम एव प्रोक्तमित्यागमात् तल्लक्षणे ज्ञाते सति तेनैव तज्ज्ञानं भविष्यतीति किमेतादृशानुमानप्रयोगपरिक्लेशेनेति चेत्, नैवम्, यत आगमाधिगतभव्यत्वे सिसाधयिषयाऽनुमित्सतेऽनुमानरसिकाः, इत्थमेव मनन साम्यप्रज्ञाविशेषस्योत्पत्तेः । अत एव "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति पक्षताग्रन्थोक्तं शिरोमणिवाक्यमपि सङ्गच्छते, ततोऽहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थेऽनेकान्तात्मकत्वसाधिका निराकाङ्क्षतात्पर्यार्थप्रतिपत्तिर्यन्त्राय वा उपपत्तयस्ता हेतुवादविषयत्वमुपपादयन्ति, श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात्, तासूपपत्तयः श्रुतोपयोगाऽनन्यत्वाच्च श्रुतत्वव्यपदेश्याः, श्रुतानुसारिमतेः श्रुतान्तर्भूतत्वेन शास्त्रोक्तत्वात् । अत एव प्रेक्षावन्त आगमाननुमानाच्च प्रवर्तमानास्तत्त्वं लभन्ते, न केवलादनुमानात्, प्रत्यक्षादिवत्तेषामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, नापि केवलादागमादेव, विरुद्धार्थमतेभ्योऽपि प्रवर्तमानानां प्रेक्षावत्त्वप्रसक्तेः, एतेन हेतुवादैकान्तवादिनो ये केचित् हेतुत एव सर्वमुपादेयतत्त्वं सिध्यति, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन् सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, पुरस्था यत्र घटनाद्युपैति तदहं क्वापि न भजे, इत्यादेरैकान्त्यस्य बहुल दर्शनात् अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात् तद्विप्रतिपत्तेस्तल्लक्षणस्यापगमात् इत्यादि वचनात् । प्रत्यक्षस्याभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सङ्करव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासम्भवादिति मन्यन्ते तन्मतं निरस्तम्, यतस्तेषां मतेऽनुमानप्राक्कालेऽपि प्रत्यक्षप्रमाणात् पक्षस्य साधनस्योदाहरणस्य च ज्ञानं न स्यात्, तज्ज्ञानाभावे च न च कस्यचिदनुमानं प्रवर्तेत, अनुमानान्तरात्तज्ज्ञानाभ्युपगमे तत्रापि पक्षादिज्ञान-पूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । तथा च प्रामाण्यसंशयमूलार्थसंशय-निराकरणरूपविवेचनमनुमानस्यैव तन्मूलव्याप्त्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याप्युपयोगाद् द्वयोस्तुल्यत्वमिति नैकान्त्यमेषाम् । आगमैकान्तवादिनो ये च कथिदागमादेव सर्वं सिध्यति, अनुमानविषयेऽपि विनिश्चयस्तयागमापेक्षणात् आगमगम्याधिगतपक्षस्यानुमानस्याऽऽगमकत्वादिति मन्यन्ते तेषां मते विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्सिद्धिरिति चेत्, तर्हि युक्तिरपि तत्सिद्धिनिबन्धनम्, तत एव तेषां

सम्यक्त्वनिर्णयात्। अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात्। न चैते सम्यगुपदेशा युक्तिनिरपेक्षाः, अन्यथा परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गस्स्यात्। युक्तिश्चानुमानात्मिकैव। ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धिप्रसङ्गादित्यत्रापि नैकान्तो युक्तः। प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेऽपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः, यतः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपदेशमन्तरेण न ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः, अथ सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिः, अनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेत्, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाऽभावे तदुत्पत्त्ययोगात्, ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा, तथाऽनुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याऽविनाभाविसाधनप्रतिपत्तिः सम्भवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, ततो नात्राप्येकान्तः प्रामाणिक इति। तदुक्तमष्टसहस्र्याम्—

> "सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं, न प्रत्यक्षादितो गतिः।
> सिद्धं चेदागमात्सर्वं, विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ १ ॥" इति

तदेवमागमग्राह्येऽप्यर्थे हेतुग्राह्यत्वमविरुद्धमिति व्यवस्थितम्। अत एव 'भव्यो ज्ञानादिमान् सिद्ध्यति' इत्याज्ञागम्येऽर्थे हेतुग्राह्यत्वमविरुद्धमित्यस्पृशद्गतिवादेऽभिहितं सङ्गच्छते ॥ ४४ ॥

अथागमस्याहेतुवादहेतुवादागमोभयरूपत्वे सिद्धे स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य तत्परिज्ञाननिबन्धनत्वात्तदुभयज्ञ एव स्वसमयस्य प्रज्ञापकः, किमत्र प्रमाणमिति तर्कानुसारिप्रश्नविषयभूते हेतुवादागमविषयेऽर्थेऽप्रधृष्यामोघहेतुयुक्तिप्रकरलक्षणैः अहेतुवादागममात्रगम्येऽर्थे आगममात्रप्रज्ञापनालक्षणैस्तैस्तैर्यथोचितोपायैः प्रतिपादकवचसि श्रोतृगतावितथाविचलश्रद्धाविधायित्वात्तस्य, तदितरस्तु तद्विराधकः प्रतिपादकवचस्यऽनास्थादिदोषोत्पादकत्वादित्युपपादनायाह—

> जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ।
> सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ(गो) अन्नो ॥ ४५ ॥

'जो हेउवायपक्खम्मि' यः कश्चिद्धेतुवादपक्षे जीवकर्मादौ युक्तिमार्गसहे वस्तुनि 'हेउओ' हेतुकः प्रबलतमयुक्तिप्रणयनप्रवीणः, 'आगमे य आगमिओ' आगमे च देवलोकपृथ्वीसङ्ख्यादावर्थे आगममात्रगम्ये, आगमिकः, आगममात्रप्रज्ञापनाप्रवीणः 'सो ससमयपण्णवओ' स स्वसमयप्रज्ञापकः स्वसमयस्य द्रव्यानुयोगादिभेदभिन्नस्य प्ररूपकः तैस्तैरुपायैरुपदेशक उच्यते, ननु यदि हेतुवादागमविषयमर्थं हेतुवादागमेन यः प्रदर्शयति,

महेतुवादागमविषयं चार्थमागममात्रेण प्रज्ञापयति, न तु तत्रापि मतिमोहिनीं युक्तिं तनोति स स्वसमयप्रज्ञापकस्तद्विपरीतः कीदृश इत्याशङ्कायामाह– 'सिद्धंतविराहओ अन्नो' सिद्धान्तविराधको जिनवचनानुयोगविनाशकोऽन्यः, प्रागुक्तविशेषणविकल साधुः, तदाज्ञाबाधनात्। तथाहि–युक्तिप्रक्रमेऽप्यागमगम्यस्यैव पुरस्कारम् स नास्ति प्राप्तिप्रणीतयुक्तिनिराकरणाभावाम् श्रोतृणां तर्कानुसारिणां दृढां प्रतीतिं कर्तुं शक्नोति, आगमगम्येषु तु युक्तिप्रपातीतेषु युक्तिप्रदर्शनप्रयासाश्रितनियतार्थप्रतीतिविरिञ्चनारम्भत्वेन स्वयमेव वेदस्य मन्त्र, श्रोतृमानादेयवचनो भवतीति न विपरीतव्यवहारिणा तेन सम्यक्सिद्धान्ताराधितो भवतीति। तदेवमागमोक्तविधिना श्रोतारमाश्रित्यागमोक्त्या हेतुयुक्त्या वा यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा तत्त्वोपदेशश्रोतृविवेचकः कार्योऽर्थसमर्पणेनेति। प्रकृतस्तु केऽप्युक्तं गाथाचतुष्टयम्—

> जइ वक्खाणेअव्वं, जहा जहा तस्स अवगमो होइ।
> आगमिअमागमेणं जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ १९१ ॥
>
> जम्हा उ दोण्हवि इदं, भणिअं पवयण कहणभावाणं।
> लक्खणमणपधम्मेहिं, पुव्वापरिएहिं आगमओ ॥ १९२ ॥
>
> जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ।
> सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ १९३ ॥
>
> आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो।
> दिट्ठंति अ दिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इहरा ॥१९४॥ इति।

यो हेतुवादविषयमर्थं हेतुना भाषयति, आगममिदं चागमेन, तस्य नयवादः परिशुद्धः, नान्यस्येति प्रतिपादयन्नाह–यद्वा वस्तुधर्मप्रतिपादकस्याहेतुहेतुवादभेदभिन्नागमस्य वाक्यनयरूपस्य परिशुद्धताभेदेन द्विरूपतां प्रतिपादयितुमाह—

> परिसुद्धो नयवाओ, आगममेत्तत्थसाहओ होइ।
> सो चेव दुण्णिगिण्णो, दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ ॥ ४६ ॥

"आगममेत्तत्थसाहओ नयवाओ परिसुद्धो होइ" आगमवाक्यमात्रसाधको न समागमार्थसाधकः, नयवादः श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रयोजनवशान्मुख्यत्वे कधर्मस्य गुणीभूतसकलेतरधर्मस्य प्रतिपादको नयवादः, परि समन्तात् शुद्धः परिशुद्धो भवति, स्वेतरनिखिलांशसापेक्षवस्त्वेकांशावगाहिपर्यायनिबन्धनकजनकनयवादस्यैव सुनयवाक्यत्वात्, गजनिमीलिकान्यायेन स्वप्रतिपाद्यांशभिन्नाशेषांशविधाननिषेधाकरणात्, स एव स्वप्रतिपाद्येतरसकलांशनिषेधकत्वे स्वपरिशुद्धः अपेक्षामन्तरेणैकधर्म

निश्चायकवाक्यस्य दुर्नयवाक्यत्वादिति प्रतिपादयितुमुत्तरार्द्धमाह–'सो चेव त्ति' अयम्भावः–वस्तुमात्रं किं नित्यमनित्यं वा, आद्यपक्षे एकान्तनित्यस्य पूर्वोत्तरतत्तत्कालावच्छेदेन तत्तदर्थक्रियायाः कारित्वे कार्यभेदेन स्वभावभेदप्रसक्त्याऽनित्यत्वापत्तिः, अकारित्वे चासत्त्वापत्तिः। सत्तायोगात्सदिति चेद्, न, प्राग् विहितोत्तरत्वात्, अथैकान्तनित्योऽप्यर्थोऽनेककार्यानुकूलैकशक्त्यैव तत्तत्कार्याणि करोतीति नोक्तदोष इति चेद्, मैवम्, कार्यताभेदेन तन्निरूपितकारणतास्वभावभेदस्याप्यवश्यम्भावेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात्। द्वितीयपक्षे चैकक्षणवर्त्तिनोऽप्यर्थस्य तत्तदन्यदेशावच्छेदेन सामर्थ्यासामर्थ्याभ्याम्, एवं पूर्वरूपस्याऽव्यवहितोत्तररूपं प्रत्युपादानकारणत्वम्, अव्यवहितोत्तररमादिकम्प्रति च निमित्तकारणत्वमिति स्वभावभेदाभ्यां, विरुद्धधर्माध्यासाद्भेदप्रसक्तिः, तदेवं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकं अर्थक्रियाकारित्वात्, स्वविषयाकारसंवित्तिवत्, तथा वस्तुतत्त्वं न किञ्चिदेकान्तं तथात्वे सर्वथाऽर्थक्रियाऽसम्भवादित्यादिनाऽनेकान्ततत्त्वसिद्ध्यैकान्ततत्त्वस्य बाधेनासद्रूपतया तथाभूतविषयाभावेन तद्विषयिणोऽप्यप्रमाणत्वमिति यदा 'सो चेव दुण्णिगिण्णो' स एव नयवादः दुर्निगीर्णः दुर्निक्षिप्तः प्रमाणविरुद्धैकान्तार्थप्रतिपादकत्वेन प्रयुक्तस्तदाऽपेक्षामन्तरेण कस्यापि धर्मस्य सद्रूपत्वं नेति निरपेक्षस्य तद्विषयस्यासद्रूपस्यापि सद्रूपतया प्रतिपादनाद् भ्रान्तबुद्धिजनकत्वेनापरिशुद्धो भवति, तत्तन्महद्वस्तुनि स्वावधिकमहत्त्वापेक्षया लघुत्ववत्तत्तदपेक्षगर्भतत्तदनेकपर्यायधर्माणा सद्भावेऽपि तन्निराकृतेर्दुर्नयरूपत्वात्, अत एव "दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ" द्वावपि पक्षौ विधर्मयति सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्पराप्रामाण्यज्ञापकनययुक्तिभिः परस्परनयविषयाऽसद्रूपकरणेनासद्रूपतया ज्ञापयति दुर्निक्षिप्तो नयवाद एव। तदेवमहेतुवादागमः श्रुतप्रमाणम्, हेतुवादागमो नयवादः, ताभ्या संस्कृतमलङ्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राऽविरुद्धार्थगोचरत्वात् सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वादिति भावः॥ ४६॥

अथानन्तधर्मात्मकवस्त्वेकधर्मोऽपि स्वेतरसकलधर्मापेक्षितया स्याद्वादरूप एवेति तत्प्रतिपादकः परिशुद्धनयवादः स्याद्वादैकवाक्यतापन्नः तत्त्वाधिगमकारणत्वेन सम्यग्रूपतया स्वसमयरूपः, इतरधर्मप्रतिक्षेपितया वस्त्वेकधर्मप्रतिपादकस्त्वपरिशुद्धनयवादः स्याद्वादैकवाक्यतारहितो मिथ्यारूपतया परसमयात्मकः। नन्वेवं तर्हि स कियत्सङ्ख्यक इत्याशङ्कायामाह—

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति णयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥ ४७॥

'जावइया वयणपहा' यावन्तो वचनपथाः–वक्तृविकल्पहेतवोऽध्यवसायविशेषाः 'तावइया चेव हुंति णयवाया' तावन्त एव भवन्ति नयवादाः तज्जनितवक्तृविकल्पाः शब्दात्मकाः, सामान्यतो नैगमादिसप्तभेदोपग्रहेऽपि प्रतिव्यक्ति तदानन्त्यात्। 'जावइया

णयवाया' यावन्तो नयवादाः 'तावइया चेव परसमया' तावन्त एव परसमयाः, स्वेच्छापरिकल्पितवस्तुविकल्पमात्रकल्पितत्वात्तेषाम् । स्याद्वादैकवाक्यतारहिता एकैकनया वस्तुनो यावन्तोऽनन्ता धर्मास्तान् सर्वान् नाभ्युपगच्छन्ति, किन्त्वेकैकांशानित्येवैकांशग्राहका यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायास्तावन्तो नयानां वचनपथतुल्यसंख्याकत्वमपरिमितत्वेन तत्कल्पितनयवादात्मकपरसमया अप्यपरिमिता एव, अभिनिवेशान्वितत्वेनैकांशविषयकप्रतिपत्त्रभिप्रायलक्षणनयप्रभवनयवादस्यैव परसमयलक्षणत्वादिति परमार्थः। नन्वेवं नयवादानां वचनपथतुल्यसंख्याकानामपरिमितत्वेन तत्तन्नयवादात्मकपरसमयानामपि परिमितिर्न विद्यते, तर्हि तन्निबन्धनभूतानां नयानामप्यवसायलक्षणानां "से किं त णए ? सत्त मूलणया पण्णत्ता, तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभूए" इत्यनुयोगद्वारसूत्रेण यः सप्तधा विभागो विहितस्सोऽपि प्रमाणतां नैव प्राप्नुयादिति, चेद्, उच्यते स्थूलन्यायेन मूलजातिभेदतस्सोऽपि प्रमाणभावमक्षतस्यैव, ततोऽपि सूक्ष्मतरभेदविवक्षायामेकैकनय शतभेद इति नयसप्तशताद्यन्याप्यवान्तरविकल्पानां सप्तनयानां प्रभेदात्सप्तनयशतानि भवन्ति, नयसप्तशताद्यवान्तरव्याप्यप्रभेदत्वात्, तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—"इक्किक्को य सयविहो सत्तणयसया हवंति एमेव" इति। उपदर्शितनयसङ्ख्याऽपरिमाणत्वविधानन्तु ततोऽपि सूक्ष्मतरतद्विपर्यालोचनेनैव, ततोऽनन्तधर्मात्मक वस्तुन्येकैकांशव्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तॄणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः, ते च नियतसङ्ख्यया सङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, अत एव तदुत्थनयप्रवादानामपि परसमयरूपाणां सावधारणत्वेनैकान्ततत्त्वप्रतिपादकानां नियतसङ्ख्या न विद्यत इति। एतेन सूक्ष्म एव नयविचारो नारम्भणीयः निष्फलत्वात्, काकदन्तपरीक्षावदिति शङ्का भवतु मा वा किं तद्विज्ञानेनेति निरस्तम्, नयविचाराऽकरणे नयविधिविज्ञानतो नयज्ञानाऽभावेन सम्यग्वागुच्चारणमेव अन्योन्ययाम्युक्तायुक्तत्वविवेकोऽपि च न स्यात्, एवं नैगमादिनयापान्नपेक्ष्य जीवाजीवादयः पर्यवसन्न इति सूक्ष्मविकल्पविचाराऽकरणे यथार्थज्ञानाऽभावेनाऽयुक्तमपि युक्तं युक्तमप्ययुक्तं प्रतिभासेत, किञ्च परसमयरूपं यदेकान्तनित्यत्वादिप्रतिपादकमेकान्तमत तदेकान्तानित्यत्वादिप्रतिपादकेन तत्प्रतिपक्षभूतेनान्येन नयेन नयविधिज्ञो यदि स्याच्चेत् निराकुर्यात् नान्यथा, किञ्च स्वसिद्धान्तेऽपि यथा नयवादिकल्पितवस्तु कोऽपि दोषयुक्तः किमपि यद्वीणादिवस्तु अन्यथा परिगृह्णीयात् तदपि यो नयविधिज्ञस्स एव नयोक्तिभिर्यथार्थतया स्थापयेत्, अन्यथा तु कथं, तस्मान्नयविचारस्याकरणेनारम्भणीय एवेति सिद्धम्। नन्वेवं तर्हि जीवो जीवस्वरूपतया व्यवहर्तव्यः चेतनावत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, घटादिवत्, एवमजीवोऽजीवस्वरूपतया व्यवहर्तव्यः अचेतनावत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, आत्मवदित्येवं छद्मस्थस्य कल्पनारूपतया व्यवहारप्रयोजनकत्वेन छद्मस्थव्यवस्थापकं लक्षणमेव, अत एव लक्षणवादिना सत्यस्य व्यवस्थितिरिति गीयते लक्षणैः, जीव इतरभिन्नः

चेतनावत्त्वात्, यश्चेतरभिन्नं तन्न चेतनावत् यथा घटः; एवमजीव इतरभिन्नः अचेतनावत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथात्मा इत्येवमितरभेदानुमापकमपि लक्षणमेव, तथा च नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इति व्यवहारज्ञानप्रयोजनको नयः स्वेतरसंशयविपर्ययादिभिन्न इत्यनुमित्युपपादकश्च नयसामान्यलक्षणं किमित्याशङ्कायां तत्प्रतिपादनीयम्, तन्निरूपणे च कृते तज्ज्ञानेन नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इतरभिन्नत्वेन च ज्ञातव्य इति सामान्यतो नयगोचरज्ञाने जाते सति नयभेदजिज्ञासया कतिभेदा नयानामिति प्रश्ने कृते मूलजातिभेदतो नया नैगमादयस्सप्तेत्युत्तरे दत्ते नयत्वावान्तरतत्तद्धर्मावच्छिन्नतत्तन्नयलक्षणजिज्ञासया नैगमादितत्तन्नयलक्षणमव्याप्त्यादिदोषाऽकलङ्कितं किमिति प्रश्ने कृते शिष्येण तदपि वाच्यमिति चेत्, उच्यते, श्रूयतां सावधानीभूय, श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्माध्यासितवस्तुनो गजनिमीलिकान्यायेन तदितरधर्मौदासीन्यतस्त्वाभिप्रेतैकधर्मावगाही प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति नयसामान्यलक्षण जानीहि। तदुक्तं प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे—

" नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदि-
तरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥ " इति

तत्संवादी चाय श्लोकः—

" श्रुतार्थांशांश एवेह, योऽभिप्रायः प्रवर्त्तते।
इतरांशाऽप्रतिक्षेपी, स नयः सुव्यवस्थितः ॥ १ ॥ " इति।

न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायभगवन्तस्तु अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिनियतधर्मप्रकारकापेक्षात्मकशाब्दबोधत्वं ज्ञानात्मकनयत्वं, वाक्यात्मकनयत्वं तु तादृशशाब्दबोधजनकवचनत्वमिति नयलक्षणं प्राहुः। तदुक्तं नयोपदेशे—

" सत्त्वासत्त्वाद्युपेतार्थे-ष्वपेक्षावचनं नयः।
न विवेचयितुं शक्यं, विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम् ॥ २ ॥ " इति।

अपेक्षात्वञ्च क्षयोपशमजन्यतावच्छेदको जातिविशेषो विषयिताविशेषो वेत्यन्यदेतत्। ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नविशेष्यत्वाऽभिन्नघटत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितास्तित्वनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोधो मे जात इत्येव लोकाः प्रतीयन्ति, न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षात्मकनयज्ञानसत्त्वे किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते—विरुद्धत्वेन प्रतीयमाना ये सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादयो नानाधर्मास्तद्विशिष्टं वस्त्वपेक्षा विना विवक्षितैकधर्मप्रकारकनिश्चयविषयीकर्त्तुं न शक्यम्, तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षात्मकस्यानुपपत्तेः, तथाहि—तदभाववद्व्याप्यवत्त्वादिनिश्चयदशायामपि तद्वत्ताज्ञानस्याव्याप्य-

प्रमितिज्ञानकालीनस्याहार्यस्य च दोषविशेषजन्यस्य च लौकिकसन्निकर्षजन्यस्य चोत्वेन तेषां सर्वेषां प्रत्येकं भेदानां प्रतिबध्यतावच्छेदकतया निवेशापेक्षया तेषु सर्वेष्वपेक्षात्वजाति-मभ्युपगम्य तद्वदन्यत्वनिवेशे लाघवमिति प्रतिबध्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टभेदप्रतियोगितावच्छेदकतया तत्सिद्धिः, एवञ्च तद्धर्मप्रतिपक्षतया निश्चिते धर्मिणि तद्धर्मवत्ताज्ञानमन्यथानुपपन्नं सत्तस्य गतत्वेनाऽप्रमात्वं नियमयतीत्यन्यथाऽनुपपत्तिरत्र प्रमाणम्, सैव सर्वत्रसाधिका, व-स्तुप्रमापकत्वात्। तदाह श्रीहर्षः–खण्डनखण्डखाद्ये परि० १, श्लो० ६

" अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका।
पिनष्टि दृष्टवैमत्यं, सैव सर्वत्रसाधिका ॥ १ ॥
बाध्याऽन्यथोपपत्तिर्वा, स्यात्पक्षो वा स्वपनाऽऽग्रहः।
न ह्येकत्र समावेश–स्तथाताऽन्यथतैतयोः ॥ २ ॥" इति।

न चापेक्षां विना लौकिकोऽपि व्यवहारः सङ्गच्छते, शाखायां कपिसंयोगी वृक्षो न तु मूले इत्यत्र मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववति वृक्षे शाखापेक्षयैव कपिसंयोगवत्त्वव्यवहारात्, न च शाखावच्छेदेन कपिसंयोगवत्त्वमात्रमेवाय व्यवहारो न त्वपेक्षात्मक इति वाच्यम्, शाखा-वच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगवान् न तु सम्पूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धादेरपेक्षां विनाऽनुपपत्तेः, यतः शाखावच्छिन्ने वृक्षे कपिसंयोगवत्त्वे सम्पूर्णे तत्र कपिसंयोगाभावः स्कन्धरूपदेशे कपिसंयोगाभावयुक्त एव, अन्यथा शाखावच्छिन्ने वृक्षे कपिसंयोगवत् स्कन्धावच्छिन्नेऽपि यदि कपिसंयोगस्स्यात् तर्हि कोऽयं शाखा–स्कन्धाद्यपेक्षः सम्पूर्णो वृक्षः ? यत्र कपिसंयोगा-भावो भवतीति, ततश्च स्कन्धे कपिसंयोगो नास्तीत्यतएव सम्पूर्णो वृक्षः 'कपिसंयोगा-भाववान्' इति व्यवह्रियते, अतस्स्कन्धाद्यवच्छेदापेक्षामाश्रित्यैव तथा व्यवहारः, अन्यथा तदनुपपत्तिरिति। घटपटयोः रूपमिति प्रत्ययः महत्त्वनयाभिप्रायेण रूपत्वेन रूपेण सर्वत्र रूप-सामान्यमेकमस्तीति तत् घटपटोभयत्र वर्तते इति सामान्यापेक्षया यथार्थ इति साऽपेक्षां नि-श्चयति, घटपटयोर्न रूपमिति प्रत्ययश्च व्यवहारनयाभिप्रायेण नीलपीतादिरूपविशेषातिरिक्तं रूपसामान्यं नास्त्येवेति तत्तद्रूपव्यक्तित्वेन रूपेण तत्तद्रूपविशेषो नोभयत्रेति विशेषापेक्षया यथार्थो भवत्ययमपि, बदरापेक्षया महत् एतदपेक्षया च ह्रस्वमिति प्रत्ययोऽपि च तां साधयत्येव, दुर्नयानामपि सम्यग्दृष्टिभिः परिग्रहे सति तेषां सुनयीकरणमप्युक्तापेक्षयैव, तादृशापेक्षाविनिर्मोके तु वस्तुस्थित्या दुर्नयत्वमेव तद्व्यतिरेकवैयर्थ्यं तत्त्वतद्ग्राहित्वात्तेषां मिथ्यात्वं प्रतिपादितेन च अधिकविस्तरस्तु नयोपदेशप्रभृतिप्रकरणाभ्यां ज्ञेयः, गौरवभीत्या नाधिकमुच्यते।

तत्रायमत्र निष्कर्षः–निगमेषु भवाऽभिहिताच्छब्दात्तदर्थः शब्दार्थपरिज्ञानञ्च देशसमग्रग्राही नैगम इत्युक्तं नैगमलक्षणं तत्त्वार्थभाष्ये। अस्य चायमर्थः–निश्चयेन गम्यन्ते उच्चार्यन्ते प्रयुज्यन्ते यत्र शब्दास्ते निगमा जनपदाः, तेष्वभिहिता उच्चारिता ये शब्दा

घटादयः, तेषामर्थो जलाहरणादिसमर्थः, शब्दार्थपरिज्ञानञ्च, अयं शब्द एतस्यार्थस्य वाचकः, अयमर्थ एतस्य शब्दस्य वाच्य इत्येवं वाच्यवाचकमात्रपरिज्ञानञ्च नैगमनयः, स च सामान्यविशेषावलम्बीत्येतद्दर्शयति-देशो विशेषः समग्रं सामान्यं तद्ग्राही, अयं हि सामान्यग्राही जातिमेव पदार्थमाह, विशेषग्राही च द्विकत्रिकादिकम्, तथा चोक्तं विचित्रप्रकारं नैगमनयमाश्रित्य—

"एकं द्विकं त्रिकं चाथ, चतुष्कं पञ्चकं तथा ।
नामार्थ इति सर्वेऽमी, पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः ॥ १ ॥" इति ॥

तत्रैकमिति केवलजातिम्, पक्षान्तरे केवलव्यक्तिं जातिविशिष्टं वेत्यर्थः, द्विकमिति जातिव्यक्ती इत्यर्थः, त्रिकमिति जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः, चतुष्कमिति सङ्ख्यासहितं त्रिकमित्यर्थः। पञ्चकमिति कारकसहितं चतुष्कमित्यर्थः। केचित्तु शब्देन सह षडपि नामार्थाः, तस्यापि नियतं शाब्दबोधे भानात्, अन्यथा विष्णुमुच्चारयेत्यादावगतेः, अर्थोच्चारणासम्भवादित्याहुः। अन्ये च बुद्धिप्रतिबिम्बकान्यापोह एव शब्दार्थ इति प्रतिपादयन्ति। अस्य विस्तरतोऽर्थः तत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणतोऽस्मत्प्रणीततट्टीकातश्चावसेयः । एवमेते सर्वेऽपि शब्दार्थाध्यवसाया नैगमनये सम्भवन्ति, प्रस्थकवसतिदृष्टान्तेन विचित्रस्य तस्य सूत्रे प्रतिपादनात्, तथा चैतादृशाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमलक्षणमनुगतं बोध्यम्। अत्र नैगमनयस्य नानाप्रकारत्वान्नैगमत्वजातिमादाय तत्सर्वप्रकारसंग्रहार्थं द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिपर्यन्तानुधावनं कृतमिति। तद्वृत्तिजातिमात्रनिवेशे नैगमत्वजातिमादाय नानाप्रकारसर्वनैगमनयसङ्ग्रहेणाव्याप्तिदोषनिवृत्तावपि महासामान्यसत्ताजातिमादाय वस्तुमात्रेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तन्निवारणाय तद्वृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिनिवेशे नयत्वजातिमादाय पर्यायार्थिकनयेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तद्वारणाय तद्वृत्तिनयत्वव्याप्यजातिनिवेशे द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सङ्ग्रहादावतिव्याप्तिस्स्यादित्यतस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशः कृतः, न चैवमपि द्रव्यार्थिकत्वजातेस्स्वाभाववदवृत्तित्वात्स्वव्याप्यत्वेन तामादाय सङ्ग्रहनयादावतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशङ्कनीयम्, तत्समानाधिकरणभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वलक्षणन्यूनवृत्तित्वार्थकस्य व्याप्यत्वस्यात्र ग्रहणात्, यदि तदभाववदवृत्तित्वमेव व्याप्यत्वमित्येवाग्रहस्तदा स्वस्य स्वव्याप्यत्ववारणाय स्वभिन्नत्वेनापि व्याप्यजातिर्विशेषणीयेति। एवमग्रेऽपि भावनीयम्। दव्वत्थिओत्ति कोइ नत्थि णओ नियमसुद्धजाइओ ॥ ९ ॥ इत्यादि सम्मतिग्रन्थपर्यालोचनया अनुगतद्रव्यार्थिकत्वजात्यभावपक्षे तु नैगमनयस्य यावन्तोऽध्यवसायविशेषास्तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वं नैगमलक्षणमवसेयम् । एवमग्रेऽपि यस्य नयस्य यावन्तोऽध्यवसायविशेषास्तस्य नयस्य तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वमेव लक्षणं बोध्यमिति। "सामान्यविशेषोभयस्वीकर्तृजातीयैकदेशबोधत्वं नैगमत्वम्" इति नयोपदेश-

इत्युक्तनैगमलक्षणमनवद्यम्, अथवा प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमत्वमित्यपि लक्षणमूह्यम्। अत्र सत्यन्तनिवेशाच्च व्यवहारेऽतिव्याप्तिः, सुनयत्वेऽप्यस्य व्यवहारत्वस्य गौणतया सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्राधान्येन तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, व्यवहारनयेन प्रधानतया विशेषविषयकाध्यवसायस्यैवाऽभ्युपगमात् प्राधान्येन विशेषविषयकस्याप्युपादानाच्च संग्रहनयेऽतिव्याप्तिः, सुनयत्वेऽस्य संग्रहत्वस्य गौणतया विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्रधानतया तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, प्राधान्येन सामान्यविषयकत्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायत्वं नैगमत्वमित्येतावन्मात्रोक्तौ च यद्यपि प्रमाणात्मकज्ञाने नातिव्याप्तिः, यतस्तस्य प्राधान्येन सामान्यविशेषोभयविषयकत्वेऽपि सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेन जात्यन्तरस्वरूपवस्तुग्राहित्वत एव तस्य निरुक्तोभयग्राहित्वमिति तत्र सामान्यविषयत्वविशेषविषयत्वयोरेकावच्छेदकावच्छेदेन समानाधिकरणयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावः, नयनिरूपितयोश्च तयोरेकवस्तुविभिन्नांशमात्रगतयोर्नावच्छेद्यावच्छेदकभाव इति मिथोऽवच्छेद्यावच्छेदकभावानापन्नयोरेव सामान्यविशेषविषयत्वविशेषयोर्निरुक्तनैगमलक्षणे प्रवेशात्। तथापि—

इत्युक्तलक्षणनैगमस्य "सच्चैतन्यमात्मनि १। वस्तु पर्यायवद्द्रव्यं २। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीवः ३।" इति नैगमनयोदाहरणत्रयेऽव्याप्तिस्स्यात्, तत्र प्रधानोपसर्जनभावविवक्षणादिति तद्वारणाय प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्युक्तम्। तथा च नैगमस्य धर्मद्वयविषयके प्रथमभेदे धर्मियुग्मगोचरे द्वितीयभेदे धर्मधर्म्यालम्बने तृतीयभेदेऽपि च नैगमत्वजातिमादायोक्तलक्षणसमन्वयान्नाव्याप्तिः यथा घटोऽयं घटोऽयमित्याद्येकरूप्यमात्रावगाह्यध्यवसायेष्वपि तादृशाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यनैगमत्वजातिर्वर्तत इति न तेष्वप्यव्याप्तिः। अत्रापि अन्यत्सर्वं पूर्ववदूह्यम् इति।

"धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च विवक्षणम्।
गुणप्रधानभावेन, नैगमस्तत्त्रिधा मतः ॥ १ ॥"

इति श्लोकेन "धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥७-७॥ इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रानुसारिणोक्तस्य नैगमनयलक्षणस्य सर्वस्य समन्वयं ज्ञेयम्—पर्याययोर्द्रव्ययोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यो विवक्षात्मकअभिप्रायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमनयत्वमिति। अत्र नैगमस्य धर्मद्वयगोचरप्रथमभेदस्योदाहरणम्—"सच्चैतन्यमात्मनीति" अत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य

विशेष्यतया मुख्यत्वेन सत्त्वाख्यस्य च व्यञ्जनपर्यायस्य चैतन्यविशेषणत्वेनामुख्यत्वेन विवक्षणम्, नैगमस्य धर्मिद्वयगोचरद्वितीयभेदस्योदाहरणम्–" वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति " अत्र पर्यायवद्द्रव्यं वस्तु वर्तत इति विवक्षायां पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिण उद्देश्यतया विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्त्वाख्यस्य तु धर्मिणो विधेयत्वेन प्रकारतया गौणत्वम् । यद्वा किं वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति विवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्यं, पर्यायवद्द्रव्यस्य विधेयतया प्रकारत्वविवक्षणाद्गौणत्वम्, धर्मधर्मिगोचरतृतीयभेदस्योदाहरणम्–" क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति "। अत्र विषयासक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशेष्यत्वात्, सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता तद्विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति। न चास्य प्रमाणत्वानुषङ्गः, धर्मधर्मिणोर्द्वयोः प्राधान्येनात्र ग्रहणासम्भवात् । तयोरन्यतरस्यैव हि नैगमनयः प्रधानतया विषयीकरोति " प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यत्" इत्याकरे प्रोक्तत्वात्प्रमाणं तु प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयरूपं जात्यन्तरात्मकमर्थं गृह्णाति न तु नयवत्प्रधानगुणभावेनेति तदुक्तनयलक्षणभङ्गस्याभावान्नातिप्रसङ्ग इति ।

सङ्ग्रहलक्षणं त्वेवम्–" अर्थानां सर्वैकदेशसङ्ग्रहणं सङ्ग्रहः " इति तत्त्वार्थभाष्ये प्रोक्तम् । तस्यायमर्थः–अर्थानां घटादीनां सर्वं सामान्यमेकदेशो विशेषस्तयोः सङ्ग्रहणमेकीभावेनाश्रयणं सर्वमेकं सदविशेषादित्यध्यवसाय इति यावत् स सङ्ग्रहो गण्यते । तत्र सदविशेषादित्यस्य चेतनाचेतनपदार्थमात्रे सत् सदित्यनुगतप्रतीतिमात्रात्तद्विषयीभूतसत्त्वेन रूपेणाशेषार्थानामविशेषादभेदादित्यर्थः । तथा चाशेषविशेषेष्वौदासीन्यं भजमानो यः सत्तारूपेण वस्तुमात्राभेदाध्यवसायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति पर्यवसितसङ्ग्रहनयलक्षणमवसेयम्, तेनापरसङ्ग्रहस्य द्रव्यत्वादिरूपेण धर्मास्तिकायादिद्रव्याऽभेदावगाहिन उक्ताध्यवसायत्वाभावेऽप्युक्ताध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यसङ्ग्रहत्वजातेस्तत्र सत्त्वान्नाव्याप्तिः, अत एव न प्रस्थकस्थलप्रदर्शितसङ्ग्रहेऽप्यव्याप्तिः, तस्मिन्नपि तादृशसङ्ग्रहत्वजातिसद्भावात्, न वा नैगमनयेऽतिव्याप्तिः, तन्मते द्रव्यादित्रयवृत्तिसत्ताजातिस्वीकारेऽपि तद्रूपेण निखिलवस्तुन्यभेदाध्यवसायानभ्युपगमादिति । अन्यत्सर्वं पूर्ववद्भावनीयम् । सङ्ग्रहस्यापि प्राधान्येन विशेषविषयको य एकदेशबोधस्तद्वृत्त्यवृत्तिप्राधान्येन सामान्यविषयकैकदेशबोधवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं सङ्ग्रहत्वमिति पर्यवसितं लक्षणान्तरमप्यवसेयम् । अत्राद्यन्तोपादानान्नैगमत्वजातिमादाय नैगमे नातिव्याप्तिः । व्यवहारत्वजातेरपि तत एवोपादानासम्भवेन गौणतया सामान्यविषयके व्यवहारेऽतिव्याप्त्यभावेन प्राधान्येन सामान्यविषयकैकदेशबोधवृत्तीत्यन्तं स्वरूपोपरञ्जकमेव । तच्च लक्षणस्य व्यवहारप्रयोजनकत्वे उपादातुं शक्यते, इतरभेदानुमितिप्रयोजनकत्वे तु व्यभिचारस्वरूपाऽसिद्ध्याद्यवारकस्योक्तविशेषणस्य लक्षणात्मकहेतोर्व्यर्थविशेषणघटितत्वप्रयोजकतया व्याप्यत्वासिद्धिदोषपोषकत्वेन नोपादानं यद्यप्युचितं, तथाप्युक्तयुक्त्या तादृशजातेः

स्वभावविशेषाऽऽसिद्धिरुपलक्षणमिव्यक्तत्वेन तादृशव्यक्त्यैकैवाऽनभिप्रेते जातिवच्चि-
दुभयस्य जातिविशेषविभागादन् यदि दुर्ज्ञेयत्वमेव स्यादिति हेतुस्वरूपाज्ञानकृतासिद्धिवारक-
तया न तस्य स्वार्थविशेषणघटितत्वप्रयोजकत्वेऽस्तूपादेयमेव तदितरभेदानुमितिपक्षेऽपीति।
द्रव्यार्थिकत्वमात्रव्याप्यजाति विशेषणस्य जातावनुपादाने यद्यपि ज्ञानरूपनयस्य द्रव्यार्थिक-
त्वादिव्यापकजातीरादाय नातिव्याप्तिरत्र सम्भविनी, तासां प्राधान्येन विशेषविषयकैक-
देशोपयोगित्वविशेषेणाऽगृह्यमाणत्वेनैव वारणात्, तथापि नैगमस्य व्याप्यसामान्यमात्रविषय-
कत्वोपगतजातिमादाय नैगमविशेषेऽतिव्याप्तिवारणायोपादेयमेवेति।

“लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः” इति तत्त्वार्थभाष्यस्वारस्या-
ल्लौकिकव्यवहारप्रधान उपचारबहुलो विस्तृतार्थविषयको योऽध्यवसायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिक-
त्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति व्यवहारनयपर्यवसितलक्षणं सिद्ध्यति। लौकिकव्यवहारप्रधान
इत्यनेनर्जुसूत्रादौ नातिव्याप्तिः, तन्मते क्षणिकपदार्थस्यैवाभ्युपगमेन घटादिपदार्थानां
स्थैर्ये सत्येव दृश्यमानस्य तदानयनादिलौकिकप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्यैवानुपपत्तेः, उपचारबहु-
लत्वञ्च सैद्धान्तिकनयापेक्षया विवक्षणीयम्, नातः सङ्ग्रहे नैगमे नयेऽपि च स्वस्वसिद्धान्ताविरो-
धेनोपचारसद्भावेऽप्यतिव्याप्तिः। उपचारबाहुल्यस्यास्मिन्नेव नये सद्भावात्। नानाव्यक्तिक-
घटपटत्वादिधर्मस्य रूपकं विस्तृतार्थ इति विशेषणं नयान्तरतो व्यवहारस्य विषय-
वैलक्षण्यप्रदर्शनेन विविक्तानेकविशेषविषयकलौकिकव्यवहारस्वरूपावबोधार्थमुपात्तम्। उक्त-
लक्षणे नयसम्बन्धाप्यजातिनिवेशे द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सङ्ग्रहादावतिव्याप्तिस्स्यात्,
अतस्तद्वारणाय द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशः कृत इति। व्यवहारनयलक्षणान्तर-
मेवम्–व्यवहारो हि सामान्यमतद्रूपादपरापरमनेकमभ्युपगच्छति, न तु विप्रकारमनेकत्वो
विप्रकारमना सामान्याभ्युपगन्तृव्यवस्थापि विशेषविस्ताराभ्युपगमवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वसाक्षात्
व्याप्यजातिमत्त्वं व्यवहारनयत्वम्, अत्रापीत्यन्तोपादानान्न नैगमेऽतिव्याप्तिः, तेन
नयेन विप्रकारमना सामान्याभ्युपगमात्। सङ्ग्रहस्याप्युदासस्याप्युक्तविशेषणेनैव सम्भवे
स्थिरविशेषाभ्युपगमवृत्तीत्युक्तिर्जातिविशेषस्वरूपाभिव्यक्त्यर्थमेवेति, द्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्व्या-
प्यत्वस्य जातिविशेषणत्वोपादानाभ्युपगमत्वात्तत्रस्थिरविशेषाभ्युपगममात्रवृत्तिजातिमादाय
नैगमविशेषे नातिव्याप्तिः। अस्मिंल्लक्षणे व्यवहारत्वजातिमादाय सर्वव्यवहारनयस्य
सङ्ग्रहो भावनीय इति। ‘दव्वट्ठियवत्तव्वं सुद्धा’ इत्याद्युक्त्या द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिशुद्धा
सङ्ग्रहाख्या, अशुद्धा तु सा व्यवहाराख्येति द्रव्यार्थिकस्य सङ्ग्रहव्यवहाराख्यामेव विभाग-
करणादेतत्प्रकरणकारमते नातिरिक्तो नैगमनयः, अत एव ‘एवं सत्त विअप्पो’ इत्यादि
गाथाव्याख्याने सप्तसङ्ख्यया न कश्चिद्भङ्गो नैगमनयोऽथ प्रतिपादितः, सर्वनये सङ्ग्रह
व्यवहारर्जुसूत्रशब्दात्मकचतुष्टयस्यैव प्रकरणादिति तद्विचारणामो निष्फल एव, एतन्मते
सङ्ग्रहस्य परसङ्ग्रहापरसङ्ग्रहाभ्यां भेदद्वयमपि नास्ति तथा चैतन्मते सङ्ग्रहत्वाति मतेन

रूपेण सर्वं वस्तु क्रोडीकरोति एकीकरोतीति सङ्ग्रह इति व्युत्पत्तिबललभ्यं सत्त्वेन रूपेण सर्ववस्त्वभेदग्राहिनयस्सङ्ग्रहनय इति सङ्ग्रहनयलक्षणं पर्यवस्यति, व्यवहारनये हि घटोऽस्ति पटोऽस्ति कटोऽस्तीत्यादि व्यवहारस्सोऽपि स्वरूपसत्त्वयैव, न त्वतिरिक्तैकानुगतसत्तया, स्वरूपसत्ता तु घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्यादेर्घटस्स्वरूपमन् पटस्स्वरूपमन्नित्यर्थकत्वेन प्रतिव्यक्तिनियतभिन्नभिन्नरूपैवेत्येकानुगतसत्तालक्षणं महासामान्यं नास्त्येव, अत एव स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिसप्तभङ्ग्याः सत्तारूपास्तित्वप्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य सङ्ग्रहमूलकत्वम्, सत्त्वाभावपर्यवसितसत्ताप्रतिपक्षरूपनास्तित्वात्मकविशेषप्रतिपादकस्य द्वितीयभङ्गस्य व्यवहारमूलकत्व सङ्गच्छते, न चैतत्स्वकल्पनामूलम् 'एवं सत्त वियप्पो' इत्यादिसम्मतिगाथाटीकायां "तत्र सामान्यग्राहिणि सङ्ग्रहे प्रथमः, विशेषग्राहिणि व्यवहारे द्वितीय इत्यादिनोक्तत्वादिति। उपपादितश्चैतन्नयोपदेशवृत्तौ यद्धर्मप्रकारकः सङ्ग्रहाख्यो बोधः प्रथमभङ्गफलत्वेनाभिमतः तद्धर्माभावप्रकारको व्यवहाराख्यो बोध एव द्वितीयभङ्गफलत्वेनेष्टव्य इति निरूपणेन, किन्तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वपटत्वादिलक्षणमवान्तरसामान्यमेवास्ति तत्तदवान्तरसामान्यात्मकोपादेयतावच्छेदकीभूतधर्मेणोपादेये इष्टसाधनत्वज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नोपादेयार्थविषयकप्रवृत्तेः हेयतावच्छेदकेन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेण हेयेऽनिष्टसाधनत्वज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नहेयार्थविषयकनिवृत्तेश्चोपेक्षणीये चोपेक्षणीयतावच्छेदकेनेष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वान्यतरानवच्छेदकधर्मपर्यवसितेन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेणेष्टसाधनत्वानिष्टसाधनत्वाऽन्यतराभावज्ञानेन तादृशधर्मावच्छिन्नोपेक्षणीयार्थविषयकोपेक्षायाश्च भावात्। तथा चोपादेयहेयोपेक्षणीयविषयकप्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकप्रतिवस्तुवचनार्थनिश्चयो व्यवहारनय इति व्यवहारनयस्य पर्यवसितलक्षणम्। यद्वा सत्ताभिन्नपरापरसामान्ययावदन्त्यविशेषाभ्युपगमप्रवणनयो व्यवहारनय इत्येतत्प्रकरणकृत्सूरिभगवदाशयः। इदन्त्ववधेयम्, प्रतिव्यक्तिस्वरूपसत्ताऽभ्युपगमो यो व्यवहारनयस्य, स महासामान्यसत्त्वानभ्युपगमपरो ज्ञेयो न तु महासामान्यसत्त्वानभ्युपगमवद् द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाणामनभ्युपगमोऽपि तस्य, तथा सति द्रव्यत्वादिरूपेणास्तित्वप्रतिपादके द्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथमभङ्गे सति स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गो यदि व्यवहारनयसमुत्थः तदा प्रथमभङ्गो नैगमानभ्युपगन्तृसिद्धसेनमते न नैगमनयसमुत्थो, न वा केवलमहासामान्यसत्त्वाभ्युपगन्तृसङ्ग्रहाभ्युपगमप्रवणे तन्मते सङ्ग्रहनयसमुत्थ इति मूलीभूतस्य कस्यचिन्नयस्याभावाद्द्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथमभङ्ग एव न प्रवर्तेत, तदभावे तत्प्रतिपक्षप्रतिपादको द्वितीयभङ्गोऽपि द्वितीयस्थाने नाभिधातुं शक्येत, अतो नैगमानभ्युपगन्तृसिद्धसेनमते महासामान्यसत्त्वमात्राभ्युपगमप्रवणत्व सङ्ग्रहस्य, तदतिरिक्तावान्तरद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिसर्वसामान्यविशेषाभ्युपगन्तृत्वं यन्नैगमगतं पराभिप्रेत लक्षण तद्व्यवहारस्य, तथा नैगमनयाभ्युपगन्तृमते यत्तत्तद्व्यक्तिविशेषात्मकस्थिराभ्युपगन्तृत्व व्यवहारस्य, तदप्यवश्यमभ्युपेयम्,

एवञ्च व्यवहारस्याशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकस्याशुद्धता तदैव स्याद्यदि तस्य सङ्ग्रहविषययोग्य
विधिरूपसामान्यभिन्नस्वरूपविषयकत्वं भवेत्, तथा च शुद्धद्रव्यार्थिकसङ्ग्रहाशुद्धता
विशेषात्मकत्वेनाशुद्धमवान्तरसामान्यं मा नाम विषयीकरोतु तथापि तत्सङ्ग्रहविषययोग्यता
वच्छेदकविधिरूपसामान्यस्वाक्रान्तत्वेन सङ्ग्रहविषययोग्यं भवति, तच्च विशेषावगाहित्वस्य
भावेन व्यवहारेण विधिरूपतया विषयीकर्तुमशक्यमपि अतद्व्यावृत्तिरूपतया विषयीक्रियते,
तदभिलापकञ्च द्रव्यसत्त्वादिशब्दो यावत् तद्रूपेणाद्यं सङ्ग्रहविषययोग्यतावच्छेदकविधि
रूपसामान्यस्वाक्रान्तं तदवगमयति, यदि व्यवहारनयादेशादतद्व्यावृत्तिस्वरूपतयैव तदवगम
मेवदा सङ्ग्रहविषययोग्यविधिस्वरूपाऽविगमनमाशुद्धतैव तदादेशकस्य व्यवहारस्य न स्यात्,
अभ्युपगम्यते चाशुद्धता तस्य, न चैवमेकान्तेनाशुद्धतैव व्यवहारस्य, स्वान्त्यविशेषविषय
कत्वेन शुद्धत्वस्यापि सम्भवात्, एवञ्च सङ्ग्रहस्यापरसङ्ग्रहभेदानभ्युपगमे अपरसङ्ग्रह
स्थानाभिषिक्तेनाशुद्धव्यवहारविशेषेण विधिरूपाऽसद्रूपतद्व्यावृत्तिस्वरूपेण द्रव्यत्वादिना
अस्त्येव घट इति प्रथमो भङ्गस्सङ्ग्रहविषययोग्यतावच्छेदकविधिरूपसामान्यस्वाक्रान्ताव्यव
व्यावृत्तिविषयकव्यवहारमूलको प्रवर्तते, कथञ्चिदतद्व्यावृत्तिस्वरूपेण चान्त्यविशेषेण स्यान्ना
स्त्येव घट इति द्वितीयभङ्गः प्रथमभङ्गविषयधर्मप्रतिपक्षधर्मविषयकोऽन्त्याशुद्धव्यवहारमूलकः
प्रवर्तत इति द्रव्यत्वादीनां यदतद्व्यावृत्तिरूपत्वं तदेव विशेषरूपत्वं, अतद्व्यावृत्तिरूपात्मनैव
द्रव्यत्वादिकं विषयीकरोति प्राधान्येन व्यवहार इति व्यवहाररूपत्वमेवं सति सुरक्षितं भवति,
विधिरूपता तत्र द्रव्यत्वादौ सती नापलपितुं योग्या, तथा सत्यशुद्धतैव तस्य न स्यादिति
विधिरूपेण व्यवहरणमपि युक्तमेव, स्वरूपमभ्युपगमस्तु व्यवहारस्य महासत्त्वाभ्युपगम
विरोधी न तु द्रव्यत्वाद्यभ्युपगमविरोधी, इत्थमभ्युपगमे न कापि क्षतिः सम्भवतीति ।

भूतानां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्त्वार्थभाष्यम्, अत्र
ऋजुनयेऽतीतानागतकालावच्छिन्नार्थयोर्विनाशानुत्पत्तिभ्यामसत्त्वमेव, यदि स्यातामतीताना
गतेन तर्हि मृतपुत्रिका युवतिः पुत्रवत्यपि स्यात्, न च पुत्रार्थिनी योषित् औपयाचिकादि
विशिष्टदेवताभक्तौ निरन्तरत्, रोदनादिकमर्थपर्यवसाने न स्तः, तयोरसद्रूपयोरभ्युपगमस्य
कुटिल इति हेतोरतीतानागतकालभेदेनार्थभेदः, तद्भेदे च तद्वाचकशब्दोऽपि भिन्न एव,
वाच्यभेदे वाचकभेदस्यावश्यम्भावात्, तज्ज्ञानमपि भिन्नमेव न त्वेकम् अतीतार्थविषया
दित्वस्वभावानागतार्थविषयादित्वस्वभावात्मकधर्मभेदेन ज्ञानात्मकधर्मिभेदस्यापि भावात्,
अत एवोक्तभाष्यस्य-' अर्थमभिधानं परिज्ञानञ्च वर्तमानमेव योऽध्यवसायो
ऽभ्युपैति स ऋजुसूत्रः' इत्यर्थस्तत्त्वोपाध्यायैः कृतः । अत्र यद्यपि वर्तमानक्षणमात्रवर्ति
परमार्थसदर्थशब्दपरिज्ञानाभ्युपगन्तृत्वलक्षणविशेषा यावन्तस्तावद्व्यवसायविशेषान्यतम
त्वमृजुसूत्रसामान्यलक्षणं पर्यवस्यति तादृशान्यतमत्वेन सर्वेषु तत्प्रकाराणां सङ्ग्रहेणा
व्याप्त्यव्याप्त्यादिदोषः, तथाप्यस्य—

" अतीतानागताकार-कालसंस्पर्शविवर्जितम् ।
वर्त्तमानतया सर्वं-मृजुसूत्रेण सूत्र्यते ॥ १ ॥ इत्युक्ति
भावत्वे वर्त्तमानत्व-व्याप्तिधीरविशेषिता ।
ऋजुसूत्रः श्रुतः सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषितः ॥ २९ ॥ "

इति नयोपदेशपद्योक्तिश्चानुसृत्य अविशेषिताऽतीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वाध्यवसायविशेषा ये ये तदन्यतमत्वमृजुसूत्रत्वमित्यृजुसूत्रानुगतलक्षणमित्यत्रैव तात्पर्यमवसेयमिति " पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो " इत्यनुयोगद्वारसूत्रतात्पर्यमप्यत्रैव बोद्धव्यमिति । अत्राविशेषितपदोपादानाद्विशेषितविशेषिततरविशेषिततमार्थग्राहिणि शब्दादिनयत्रये नातिव्याप्तिः, अतीतेत्यादिविशेषणान्न नैगमादावप्यतिव्याप्तिः, द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वजातिपक्षे त्वविशेषितातीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वाध्यवसायवृत्तिपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं ऋजुसूत्रत्वमिति लक्षणं महातार्किकानुसारिपक्षे, पर्यायार्थिकत्वव्याप्यर्जुसूत्रत्वजातिमादाय ऋजुसूत्रप्रवर्तितसौत्रान्तिकाद्यभ्युपगता यावन्तः प्रकाराः क्षणिकत्वाभ्युपगमोपपादनपरा एकान्तत्वाऽऽकटाक्षितास्तावत्सु सर्वप्रकारेषु लक्षणसमन्वयः । ऋजुसूत्रनयो द्रव्यार्थिकनयभेदात्मक एवेत्यभ्युपगन्तृसिद्धान्तानुसारिपक्षे तु अतीतानागतसम्बन्धाभावव्याप्यभावत्वाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वमित्येवमृजुसूत्रलक्षणं कर्त्तव्यम्, तत्र शब्दादिनयत्रये द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजात्यभावादेव नातिव्याप्तिरिति तन्निवारणायाऽविशेषितपदोपादानं न कर्त्तव्यमिति दिक् ।

" नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्ययः साम्प्रतः " इति तत्त्वार्थभाष्यनिष्कर्षलभ्यं भावमात्रप्रमितशक्तिकशब्दजन्यं ज्ञानमिति साम्प्रतापरसंज्ञकशब्दनयलक्षणम्, जन्यता चात्र नयत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यवच्छिन्ना ग्राह्या, अत्र साक्षात्पदोपादानाद् विचित्रत्वान्नैगमस्य भावमात्रग्राहिणि तद्भेदे नातिव्याप्तिः, नैगमावान्तरभेदे उक्तशब्दजन्यताया नैगमत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नत्वेन नयत्वसाक्षाद्व्याप्यनैगमत्वजात्यवच्छिन्नत्वाभावात्, जनकता च निरुक्तशब्दत्वेन, तेन समभिरूढनये संज्ञाभेदेनार्थभेद इति तत्तच्छब्दवाच्यविषयकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नम्प्रति तत्तत्पदविषयकज्ञानत्वेन, एवमेवम्भूतनयेऽपि तत्तत्कालावच्छिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदेनाप्यर्थभेद इति तत्तत्क्रियाकालविशिष्टार्थविषयकशाब्दबोधत्वावच्छिन्नम्प्रति तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिकतत्तत्पदज्ञानत्वेन हेतुत्वाभ्युपगमेन निरुक्तशब्दत्वेन कारणत्वानभ्युपगमान्न तत्रातिव्याप्तिः, एतत्सर्वविस्तृतविवेचनमस्मत्कृततत्त्वार्थविवरणटीकायां कृतमिति तत एव विस्तरार्थिनाऽवसेयम्, गौरवभीत्या नेह प्रतन्यते । " इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्ण नओ सद्दो " इति विशेषावश्यकनिर्युक्त्यनुयोगद्वारसूत्रोक्त्यनुसारेण तु विशेषिततरर्जुसूत्राभिमतार्थग्राहिनयवृत्तिपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं शब्द-

नयस्यामित्यनुमतशब्दनयलक्षणं सिद्ध्यति, न च समभिरूढनयस्यातिव्याप्तिः, तस्य विशेषितरतमार्थग्राहित्वात् । अत्र ऋजुसूत्रनयो लिङ्गवचनकारकादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमभ्युपगच्छति शब्दनयस्तु न तथा, पुरुस्तटस्तटीतटमित्यादिशब्दानां भिन्नान्यर्थाभिधेयानि, भिन्नलिङ्गयुक्तत्वात् स्त्रीपुरुषनपुंसकवत्, तथा गुरुर्गुरव इत्यत्राप्यभिधेयभेद एव, भिन्नवचनयुक्तत्वात् पुरुषः पुरुषा इत्यादिवदित्येवमसौ प्रतिपद्यते । नामस्थापनाद्रव्यरूपाश्च नेन्द्राः तत्कार्याकरणात् खपुष्पवत्, किन्तु भावरूप एवेन्द्र इत्यृजुसूत्रापेक्षया विशुद्धत्वाद्विशेषिततरोऽस्याभ्युपगमः, समानलिङ्गवचनानां तु बहूनामपि शब्दानामेकमभिधेयमसौ मन्यते, यथेन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानामिन्द्ररूप एकोऽभिधेयः, घटकुम्भकलशादिशब्दानाञ्च घटात्मक एकोऽभिधेयः । तथा चोक्तलक्षणस्यापि लिङ्गसङ्ख्याकारकपुरुषभेदप्रयुक्तार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वे सति भावनिक्षेपमात्राभ्युपगन्तृत्वे सति समानलिङ्गकशब्दवाच्यार्थाभेदाभ्युपगन्ता च य भ्रज्ञ सूत्राभिमतार्थग्राहकोऽभिप्रायविशेषस्तद्व्यतिरिक्तपर्यायार्थिकनयत्वव्याप्यजातिमत्त्वं शब्दनयत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः । अत्राद्यविशेषणेनर्जुसूत्रनयातिव्याप्तिनिरासेऽपि द्वितीयं विशेषणं स्वरूपोपरञ्जकमेव, यद्वा द्वितीयविशेषणे भावपदोपादानेनर्जुसूत्रातिव्याप्तिनिरासेऽपि आद्यविशेषणं स्वरूपोपरञ्जकमेव, समानलिङ्गेत्याद्युक्तेर्न समभिरूढादावप्यतिव्याप्तिरिति ।

"वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थु नए समभिरूढे" इत्युक्तमनुयोगद्वारसूत्रे विशेषावश्यकनिर्युक्तौ च, वस्तुन इन्द्रादेः सङ्क्रमणमन्यत्र शक्रादाविति यावत्, भवति अवस्तु, अवस्तु भवतीत्यर्थः, केत्याह–नये समभिरूढे, समभिरूढमतेनेत्यर्थः । यदा इन्द्रशब्दः शक्रशब्देन सहैकार्थ उच्यते तदेन्द्रशब्दाभिधेयस्यैश्वर्यलक्षणवस्तुनः शकनलक्षण शक्रशब्दार्थे वस्त्वन्तरे सङ्क्रमणं कृत भवति, तयोरेकत्वमापादित भवतीत्यर्थः, तथा सत्यभिमतस्यावस्तुत्वमेव, नहि य एव परमैश्वर्यपर्यायः स एव शकनपर्यायो भवितुमर्हति, सर्वपर्यायसाङ्कर्यापत्तितोऽतिप्रसङ्गात्, तथा च वस्तुनो वस्त्वन्तरसङ्क्रमणाभाव एव लक्षणं समभिरूढनयस्याभिमतमित्यभिप्रेत्य "सत्स्वर्थेष्वसङ्क्रमः समभिरूढः" इत्युक्तं तत्त्वार्थभाष्ये, सत्सु वर्तमानेषु भावरूपेषु च घटादिष्वर्थेषु, असङ्क्रमः स्ववाचकस्याभिमतशब्दान्तरस्यावाच्यत्वं समभिरूढः, अयम्भावः–घटशब्दवाच्यः कुम्भोऽपि इन्द्रशब्दवाच्यः शक्रोऽपि नाभिमन्यते शब्दनया, तेन समानलिङ्गकशब्दानामेकार्थकत्वेनाभ्युपगमात्, तन्मते हि न यदेव व्युत्पत्तिनिमित्तं तदेव प्रवृत्तिनिमित्तं, किन्तु भिन्नमेव, तथा च समानलिङ्गकघटकुम्भादिशब्दा एकार्थवाचकाः अपरव्युत्पत्तिलक्षणघटत्वात्मकैकप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् ये चैकार्थवाचका न न ते एकप्रवृत्तिनिमित्तका घटपटादिशब्दवत् । प्रवृत्तिनिमित्तव्युत्पत्तिनिमित्तयोरैक्यमेवेत्यभ्युपगतवता समभिरूढनयेन तु विरुद्धलिङ्गादिशब्दानामिव समानलिङ्गकघटकुटकुम्भादिशब्दानामप्यर्थभेद एवाभ्युपगतः, भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्, घटपटादिशब्दवदिति घटादिष्वर्थेषु स्व

वाचकत्वाऽभिमतकुम्भादिशब्दान्तरवाच्यत्वं नेति तादृशासङ्क्रमलक्षणं नामङ्गतम्, तथा च व्युत्पत्तिनिमित्तभेदव्याप्यशब्दार्थभेदाभ्युपगमप्रवणो भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकशब्दनिष्ठकारणताभेदप्रयुक्तभेदशालिकार्यताश्रयः शाब्दबोधो वा समभिरूढनयपर्यवसितलक्षणम्। नयः समभिरूढोऽसौ यः सतस्वर्थेष्वसङ्क्रमः। शब्दभेदेऽर्थभेदस्य व्याप्त्यभ्युपगमश्च सः ॥ २६ ॥ इति नयोपदेशश्लोकव्याख्यायां यत्र यत्र सञ्ज्ञाभेदस्तत्र तत्रार्थभेद इति व्याप्त्यभ्युपगमोऽसङ्क्रमपदार्थ उक्तः, तथा च सञ्ज्ञाभेदनियतार्थभेदाभ्युपगन्तृत्वं समभिरूढत्वमिति समभिरूढनयलक्षणं पर्यवस्यति। अत्र घटपटादिसंज्ञाभेदेनार्थभेदाभ्युपगन्तरि नैगमनयादावतिव्याप्तिवारणाय नियतपदोपादानम्, तथा चैकस्यैव घटस्य घटकुटकुम्भकलशादिनानासंज्ञाऽस्ति नैगमादिनय इति न संज्ञाभेदनियतोऽर्थभेदस्तत्रेति नातिव्याप्तिः, एवम्भूतनयोऽप्युक्तलक्षणभागिति तत्रातिव्याप्तिवारणाय तदन्यत्वे सतीति विशेषणोपादानमपि तत्र कर्त्तव्यम्। ननु यस्मिन् लक्षणेऽतिव्याप्तिस्तद्धेतुकानुमाने व्यभिचारदोष इति लक्षणेऽतिव्याप्तिवारकविशेषणमनुमितिसाधकहेतौ व्यभिचारनिवारकमेवेति लक्षणे व्यभिचारस्थलान्यत्वपर्यवसाय्यतिव्याप्तिवारकविशेषणोपादाने न कोऽपि हेतुरसद्धेतुस्स्यादिति यदि कोऽपि ब्रूयात्तदा प्रतियोगिव्यधिकरणो यस्स्वव्युत्पत्तिनिमित्ताभावस्तदभाववत्त्वलक्षणस्वप्रवृत्तिनिमित्तक्रियोपलक्षितत्वालिङ्गितार्थवाचकत्वस्य नामत्वव्यापकतयाऽभ्युपगन्तृत्वं समभिरूढत्वमित्येवं समभिरूढनयलक्षणं कर्त्तव्यम्। तेन व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालावच्छिन्नार्थवाचकत्वस्यैव नाम्न्यभ्युपगन्तरि एवम्भूतनयेऽपि नातिव्याप्तिः,उक्तलक्षणसङ्गमनञ्चैव कर्त्तव्यम्—स्वं घटपदं तद्व्युत्पत्तिनिमित्तं घटनक्रिया, तदभावः प्रतियोगिव्यधिकरणस्सन् न घटनक्रियामकुर्वति गृहकोणादिस्थितघटात्मकेऽर्थे, प्रतियोगिभूतव्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियाया घटनक्रियाकालावच्छेदेनाधिकरणे तस्मिन् तदभावस्य घटनक्रियाकरणाभावकालावच्छेदेन सत्त्वेन प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्, किन्तु कटनादिक्रियां कुर्वति कटादावेव वर्त्तते, तदभाववत्त्वं घटनक्रियां कुर्वतीव घटनक्रियामकुर्वत्यपि घटात्मकेऽर्थे, तल्लक्षणस्वप्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वालिङ्गितघटात्मकार्थवाचकत्वं व्याप्यीभूतघटनामत्ववति घटनाम्नि वर्त्तते इत्येवमभ्युपगन्तृत्व समभिरूढनये इति लक्षणसमन्वयः। तथा च तन्मते सर्वेषा शब्दानां क्रियाशब्दत्वाद् व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तस्वरूपव्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वात् तदानीं न घटनक्रियां करोति किन्तु तामऽघटत घटिष्यते वेत्येवं यदा कदापि घटनक्रिया करोति सोऽपि घटो घट एव इत्यभ्युपगमस्समभिरूढनयस्य, एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य नामार्थं न प्रतिपद्यते किन्तु विशेषणीकृत्येति घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटो घट इति व्यपदेशं नासादयति, अत एवैतन्मते घटपदजन्यतावच्छेदकं जलाहरणकर्तृत्वविशिष्टविषयकशाब्दबोधत्वमेव, समभिरूढनये व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य बोध इत्यनयोर्नययोर्विशेष इति।

एवम्भूतनयस्वरूपं विशेषावश्यकभाष्ये एवमुक्तम्—

"एवं जह सद्दत्थो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेणं ॥ २२५१ ॥" इति ।

एवं यथा 'घट चेष्टायाम्' 'पट आच्छादने' इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः तथैव यो वर्तते घटादिकोऽर्थः स एव सन् भूतो विद्यमानः । 'तदन्नहाऽभूओ त्ति' यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्त्वभूतोऽविद्यमानः, तत्त्वतो घटनामार्थ एव न भवति । येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अयं हि घटपदव्युत्पत्त्यर्थविरहाभावात् कुटपदार्थं न घटपदार्थमभ्युपगच्छति यथा तथा जलाहरणादिक्रियाविरहकालावच्छेदेन गृहकोणादिव्यवस्थित-घटमपि घटशब्दार्थं नाभ्युपगच्छति, अघटाकाराविशेषात्, किन्तु योषिन्मस्तकारूढं जला-हरणादिक्रियानिमित्त चेष्टमानमेव चेष्टमानमेव घटं घटशब्दार्थं मनुते इत्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमित्यर्थः । तथा चैतेन व्युत्पत्तिनिमित्तविशिष्टार्थवाचकत्वस्य नामसामान्या-पकतयाऽभ्युपगन्तृत्वं, पदानां व्युत्पत्तिनिमित्तावच्छिन्नार्थबोधकत्वाऽभ्युपगन्तृत्वं वा, पदवाच्यव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थसत्त्वाऽभ्युपगन्तृत्वं चैवम्भूतनयत्वमित्येव-म्भूतनयलक्षणं लभ्यते । "वंजण-अत्थ-तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ" इति निर्युक्ति "व्यञ्जनार्थयोरेवंभूतः" इति तत्त्वार्थभाष्याद्युक्तस्य ।

"एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
राजचिह्नैर्यथा राजा, नान्यथा राजशब्दभाक् ॥ १९ ॥"

इति नयोपदेशश्लोकस्य व्याख्यायामुपाध्यायैः पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधक-त्वाभ्युपगन्तृत्वमेवम्भूतत्वमित्येवम्भूतनयलक्षणं निष्कर्षितम् । नियमश्चात्र कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरिति । यद्यपि विषयनिरूप्यं ज्ञानमिति तत्तन्नयलक्षणघटकतत्तन्नयविषयोऽप्यत्र व्याख्येयतयोपयुक्तस्तथापि तत्तन्नयलक्षणव्याख्यानावसर एव पृथक्तया नानेकधा विवेचित इत्यत्र ग्रन्थगौरवभीत्या स नोच्यते, परन्तु प्रस्तुते तयोर्विस्तारविशिष्टतया सप्तनयविषयोप-दर्शकानि प्राचीनाचार्योक्तपद्यान्युल्लिख्यन्ते । तथाहि—

'सर्वं द्रव्यं समाश्रित्य, सङ्ग्रहस्तद्व्यवस्थितः ।
नैगमव्यवहारौ स्तां, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥
अन्वयेन हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यस्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥
सद्रूपतामतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत् ।
सत्तारूपतया सर्वं, सङ्गृह्णन् सङ्ग्रहो मतः ॥ ३ ॥
व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यापारयति देहिनः ॥ ४ ॥

तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्यात्, शुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य, भावास्थितिवियोगिनः ॥ ५ ॥
विरुद्धलिङ्गसङ्ख्यादि,-भेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ६ ॥
तथाविधस्य तस्यापि, वस्तुनः क्षणवर्त्तिनः ।
ब्रूते समभिरूढस्तु, संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ७ ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं, सदा तन्नोपपद्यते ।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वा-देवंभूतोऽभिमन्यते ॥ ८ ॥" इति ॥ ४७ ॥

ननु यदि परस्परमापेक्षाशेषनयसमूहात्मकाऽसमग्रांमीर्यशालिसकलनयवादनायकानेकान्तवादजैनेन्द्रागमसमुद्रबिन्दुकल्पा वस्त्वेकांशग्राह्यन्यनयनिरपेक्षैकनयविकल्पप्रसूतास्तत्तत्परसमयाः, अत एव तत्तद्दर्शनमूलकारणत्वात्तत्रयः प्रकृतिः, तस्मादाविर्भूतत्वात् परसमयात्मकतत्तद्दर्शन विकृतिस्तर्हि किं दर्शनं किं मूलभूतनयप्रभवमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

जं काविलं दरिसणं, एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।
सुद्धोअणतणयस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ ४८ ॥

'जं काविलं दरिसणं' यत् कापिलं कपिलस्येदं कापिलं, कपिलर्षिणा प्रणीतं दर्शनम्, साङ्ख्यदर्शनमिति यावत् "एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं" एतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्, एकान्ताशुद्धद्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रसूतमित्यर्थः, द्रव्यार्थिकपदमत्र व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्धद्रव्यार्थिकपर दृष्टव्यम् । शुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रकृतेः सङ्ग्रहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलायाः "दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ" इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वात् । अत एव अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसाङ्ख्यदर्शनाश्रित इति सम्मतिटीकाकारवचनमपि सङ्गच्छते, सङ्गच्छते चामुमभिप्रायमादृत्य—

"अशुद्धाद्व्यवहाराख्यात्ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम् ।
चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥" इति ।

नयोपदेशोक्तं, तस्यायमर्थस्तत्र कृतः–ततो द्रव्यार्थिकनयात्साङ्ख्यदर्शनमभूत्, कीदृशं तत् चेतनश्चाचेतनद्रव्यं च अनन्तपर्यायाश्चाविर्भावतिरोभावात्मकाः, तेषां दर्शकं प्रतिपादकमिति । अत एव—

"साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।
इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकः सम्मतो वयम् ॥ ११६ ॥" इति ।

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायामेवमुक्तम्–"साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्मना व्यवस्था प्रतिनियतजन्ममरणादिव्यवहारकृद्भवति, इत्येतावत्पुरस्कृत्यायं विवेकः सम्मतो, यद्रुत व्यवहार-

प्रकृतिरूपं साङ्ख्यदर्शनम्, तद्विकृतिरूपञ्च वेदान्तदर्शनमिति, वेदान्तप्रकृतिभूतसाङ्ख्यदर्शने चैकतया विपरीतत्वस्यापत्तया तदङ्गत्वेन तद्विषयमद्वैतमप्यमन्यथा व्यवहार प्रकृतिरूपं साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम्, तेन तस्यार्थापत्त्या व्यवहारप्रकृतित्वाऽभावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनभागित्वेन मुख्यत्वात्, मुख्योद्देशेनैव च तयोर्मध्ये प्रकृतिविकृतिचिन्तायाः मुख्यत्वादिति भावः। निरीश्वरसाङ्ख्यदर्शनस्यान्यतमान पेक्षव्यवहारनयप्रयुक्तस्य मिथ्यात्वे च श्रीशङ्करिक कर्मकेन्द्रव्यापाऽप्रतामूर्तं मुख्यविवक्षणीयं प्रतिपादनमुचितमप्युपगम्यतेऽपि यात्रप्रवर्तनमन्यापेक्षं समानमत, यतस्तेश्वरसाङ्ख्यमतप्रवर्तक पतञ्जलिमुनेरपि प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्यपि सम्मतानीति व्यवहारनयमहत् मूलं तदपि मिथ्यात्वेन व्याख्यातम्। "शुद्धोदनतनयस्य तु" शुद्धोदनतनयस्य तु, शुद्धोदनतनयबुद्धप्रणीतस्य तु बौद्धदर्शनस्य 'परिशुद्धो पञ्चविपन्नो' परिशुद्धः पर्याय विकल्पः पर्यायविकल्पः 'चतुर' मित्यस्यानुकर्षणीयस्य निकृष्टपर्यायात् चतुष्ट्यः। अथ स्माकं—बौद्धदर्शनं निरपेक्षशुद्धपर्यायाभिज्ञत्वपरिकल्पनाप्रतिनियतम्, यतस्तस्य मूलनयः पर्यायार्थिकः, बौद्धदर्शनञ्च सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकभेदेन चतुर्विधम्—पर्यायार्थिकनयोऽप्यृजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतभेदतश्चतुर्विधः इत्यतः सौत्रान्तिकाख्यबौद्धदर्शनमृजुसूत्रनयप्रभवम्, वैभाषिकाख्यबौद्धदर्शनं शब्दनयप्रसूतम्, योगाचाराख्यबौद्धदर्शनं समभिरूढनयप्रभवम्, माध्यमिकाख्यशून्यवादिदर्शनमेवम्भूतनयोत्थमित्येवं सौत्रान्तिकवैभाषिकादिचतुर्विधबौद्धदर्शनस्य ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयात्मकपर्यायार्थिकनयप्रकृतिकत्वमवसेयम्। अत एव सम्मतौ वैभाषिकादिक्रमेण चतुर्विधस्यापि तस्य तत्र तत्र ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयप्रकृतिकत्वस्य सम्मत्यादिसिद्धत्वादित्युक्तं भवति। तथैवोक्तञ्च नयोपदेशेऽपि—

> "ऋजुसूत्राश्रिताः सौत्रा-न्तिकवैभाषिकौ क्रमात्।
> अस्तुवम् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाविति ॥ १२० ॥"

सौत्रान्तिकादीनां स्वरूपमतेन चान्यत्र ग्रथम्—

> "अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते।
> प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः॥
> योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा।
> मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम्॥ १॥" इति।

अयम्भावः—ज्ञेयज्ञानोभयं सर्वं सत्यं, किन्तु यत्सत्यत्वं क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेवेत्यास्थाभिमतसौत्रान्तिकवैभाषिकयोः क्षणिकत्वार्थाभ्युपगमसमान एव, परमाद्यस्य मते ग्राह्यग्राहकयोर्विभिन्नत्वे निष्पत्तिः ज्ञानरूपस्य च तयोर्विषयविषयिभावाभावेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्था ज्ञानस्य प्रतिबिम्बतयाऽर्थाकारत्वमित्यर्थानुमानाद्भवति तदाकारं यज्ज्ञानं तेन तत्सिद्धि

रिति व्याप्तेः, अत एवैतन्मतेऽनुमानादर्थसिद्धिः, न तु प्रत्यक्षत इति साकारविज्ञानवादस्तस्य । द्वितीयस्य मते ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एवोत्पत्तिः, प्रतिनियततत्तदर्थोत्पादकसामग्रीप्रभवत्वादेव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थेति निराकारविज्ञानवादस्तस्य । ज्ञानज्ञेययोस्सहोपलम्भनियमाद् विज्ञानमात्राभ्युपगमपरस्य तृतीययोगाचारस्य मते तु बाह्यं नास्त्येव, योऽयं व्यवहारो भूत-भौतिकाद्याश्रयः स सर्वः सांवृतः, न परमार्थः, ज्ञानस्य तु स्वात्मैव तत्तदाकारो विषयः, ज्ञानज्ञेययोस्तादात्म्यमेव सम्बन्धः, आकारप्रतिनियमोऽपि पूर्वपूर्वविज्ञानवैचित्र्योद्भावित-वासनाविशेषपरिपाकतः, ततो विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात्स्वाभिन्ननीलपीताद्याकार-मवभासते, अतो न बाह्योऽर्थः परमार्थः । उक्तञ्च—

"बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुण्ठितं चित्त-मर्थाकारं प्रवर्त्तते ॥ १ ॥" इति ।

तस्मात् अयं नील इत्यादिजाग्रद्विज्ञानं स्वाप्नविज्ञानवत्स्वावभासमात्रम्, बहिर्वेद्य-भासस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम एव, ननु अनेनेदमुक्तं भवति–विज्ञानं ग्राहकान्तरनिरपेक्षं ग्राह्यान्तरनिरपेक्षं च स्वात्मानं स्वस्मादभिन्ननीलाद्याकारञ्च गृह्णातीति, इदञ्चानुपपन्नम्—एकस्यैव कर्तृकर्मक्रियात्मकतानुपपत्तेरिति चेत्, सत्यम्, न वयमात्मसंवेदनम् ग्राह्यग्राहक-भावलक्षणं ब्रूमः, तद्वैधुर्यात्, किन्तु स्वप्रत्ययेभ्यो जडभिन्नत्वेन रूपेणास्य प्रकाशात्मतयो-त्पत्तिरेव स्वसंवेदनम् । तदुक्तं तत्त्वसङ्ग्रहे—

"विज्ञानं जडरूपेभ्यो, व्यावृत्तमुपजायते ।
इयमेवात्मसंवित्ति-रस्य याऽजडरूपता ॥ १ ॥
क्रियाकारकभावेन, न स्वसंवित्तिरस्य तु ।
एकस्यानंशरूपस्य, त्रैरूप्यानुपपत्तितः ॥ २ ॥
तदस्य बोधरूपत्वाद्, युक्तं तावत्स्ववेदनम् ।
परस्य त्वर्थरूपस्य, तेन संवेदनं कथम् ? ॥ ३ ॥" इति ।

सोऽयं बाह्यनिरपेक्षः क्षणिकसाकारवादस्तस्य । सर्वशून्यतावादिमाध्यमिकमते तु—

"न सन्नासन्न सदसत्, न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं, तत्त्वं माध्यमिका जगुः ॥ १ ॥"

इत्युक्तेर्ज्ञानस्यापि विचारत उपप्लुतत्वात्तदपि सदसदादिचतुष्कोटिविनिर्मुक्तमेव तत्त्वम्, यत्सर्वभावाना शून्यतेति गीयते, सर्वशून्यता पश्यत एव परमं निर्वाणम्, हेयोपादेयत-त्साधनविरहे निषिद्धभयविहितरागादिविरहात्, तन्मते तत्त्वविचारकुशलैर्विचार्यमाणाः सर्व एव भावा निस्स्वभावा अविद्यातिमिरोपहतमतिनयनानां बालकानां भासमानाः

कर्ता कर्म, गन्ता गम्यं, हेतुः कार्यं, द्रष्टा दृश्यमिति परस्परमापेक्षतामात्रेण प्रसिद्धिरुपगता गन्धर्वनगरोपमा । उक्तञ्च—

" बुद्ध्या विविच्यमानानां, स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते, निःस्वभावाश्च कीर्तिताः ॥ १ ॥

इदं वस्तुबलायातं, यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ २ ॥" इति ।

यद्यप्ययं स्कन्धायतनधातुविभेदः प्रदश्यते नाम तथापि सांवृत एवायम्, संवृत्या-भावरूपेण मायया कल्पितोऽयं भेदव्यवहारः । उक्तञ्च—

" फेनपिण्डोपमं रूपं, वेदना बुद्बुदोपमा ।
मरीचिसदृशी संज्ञा, संस्काराः कदलीनिभाः ॥ १ ॥
मायोपमं च विज्ञान-मुक्तमादित्यबन्धुना ॥ " इति ।

अन्यद् सर्वं तद्ग्रन्थेभ्योऽवसेयम् । उक्तबौद्धमतचतुष्टयनिरासस्तु प्रागेव विहित इत्यधिकं ग्रन्थगौरवभीत्या नोच्यत इति । ननु पूर्वं परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयो-र्मिथ्यात्वे द्रव्यार्थिकनयविषयं सामान्यं पर्यायार्थिकनयविषयं विशेषमभ्युपगच्छतो वैशेषिक-दर्शनस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयावलम्बित्वेन सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह-

दो हि वि णएहि णीयं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाण-त्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

'दोहि वि णएहि' द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकनयाभ्यां, 'णीयं सत्थमुलूएण' नीतं प्रणयनविषयीकृतं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावात्मक-सप्तपदार्थप्ररूपकं शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन 'तह वि मिच्छत्तं' तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्तितं तन्मिथ्यारूपमेव, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्धमाह-'जं' यद् यस्मात् ताविति शेषः, तौ वैशेषिकदर्शनप्रवर्तकतया मुख्यभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-नयौ 'सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा" स्वविषयप्रधानत्वेन सावधारणत्वमि-यायनमाहित्वेन, अन्यान्यनिरपेक्षौ स्वस्वकल्पनाधिष्ठितविविधविततकुयुक्तिभिरितरांशापलापिनौ, अनाश्रितौ तु तौ स्याच्छब्दलाञ्छितत्वेन परस्परसापेक्षत्वाभावे मिथ्यारूपौ इत्युक्तमर्थतो-ऽनेकान्तव्यवस्थायां विशेषावश्यकभाष्ये उक्तगाथाटीकायां नयविवेचने चेति । तथा च वैशेषिकदर्शनं मिथ्या मिथो निरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयविषयपरस्परविविक्तसामान्य-विशेषोभयात्मकैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात् यदेकान्ततत्त्वप्रतिपादकं तन्मिथ्यारूपम्, यथा साङ्ख्यादिदर्शनम्, एकान्ततत्त्वप्रतिपादकञ्च वैशेषिकदर्शनमिति तदपि मिथ्यारूपम् । यद्वा ननु पूर्वं नयान्तरनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयोर्मिथ्यात्वे समुदितनयव्यवहार

नयद्वयविषयसामान्यविशेषोभयमभ्युपगच्छतो वैशेषिकदर्शनस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयोभयाऽवलम्बित्वेन सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—' दोहि वि णएहि णीअं ' इत्यादि ।

" दोहि वि णएहिं " द्वाभ्यामपि सामान्यविशेषग्राहिभ्यां सङ्ग्रहव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां " णीय सत्थं " पृथग्व्यवस्थापितं शास्त्रं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्था इति सप्तपदार्थप्रतिपादकं, केनेत्यत आह–' उलूएण ' उलूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन, तत्किं प्रामाणिकं न वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–' तह वि मिच्छत्तं ' तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्तितं तन्मिथ्यारूपमेव, तत्रैव हेतूपदर्शनायोत्तरार्द्धमाह–जं यत् यस्मात् ' सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ' स्वविषयप्रधानत्वेन सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमेव अनुगतबुद्धिहेतुत्वात्, विशेषा अपि सामान्याद्भिन्ना एव व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वात्, एवमाश्रयादपि सामान्यं भिन्नमेव, अन्यथा व्यक्तिवदनुगतत्वानुपपत्तिस्स्यादित्येवं स्वमताग्रहेण सावधारणस्वविषयावगाहित्वेन अन्योन्यनिरपेक्षात्, अस्य प्रयोगस्य भावप्रधानत्वादन्योन्यनिरपेक्षत्वादित्यर्थः, एकान्ततः परस्परविविक्तसामान्यविशेषोभयप्रतिपादकत्वादिति भावः । उक्तश्च नयोपदेशे " द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना । अन्योन्यनिरपेक्षत्वान्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ॥ ११८ ॥ " इति ।

न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकम्, किन्तु यथास्थाने तद्विनियोजनम्, तच्च यद्यपि सामान्यग्राहकसङ्ग्रहनयाभिप्रायेणाद्यभङ्गः प्रवर्तते, विशेषाभ्युपगन्तृव्यवहारनयप्रयुक्तश्च द्वितीयभङ्ग इत्येवं भङ्गद्वयं प्रधानीभूतसङ्ग्रहव्यवहारैकैकनयप्रभवम्, तथापि तद्भिन्नपरस्परसाकाङ्क्षस्याद्वादलाञ्छिततृतीयादिभङ्गविवेचने तृतीयभङ्ग ऋजुसूत्राधीनप्रवृत्तिक एव, चतुर्थभङ्गश्च सङ्ग्रहव्यवहाराधीनप्रवृत्तिकः, पञ्चमः सङ्ग्रहर्जुसूत्राभिप्रायेण प्रवृत्तः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्राधीनप्रवृत्तिकः, सप्तमश्च सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रनयत्रयाश्रितः, तत्राद्यत्रिभङ्गा एकनयनियम्याः, चतुर्थादिभङ्गा अन्योन्यसम्बद्धनयद्वयत्रयापेक्षका भवन्तीत्येवं रूपे तात्पर्ये सत्येव सम्पद्यते, तदेव सम्यक्त्वप्रयोजकम्, एकतरस्यापि भङ्गस्याऽतात्पर्ये सिद्धान्तविराधनाया अपरिहारात्। परस्परसापेक्षतत्तन्नयविनियुक्तमिथःसाकाङ्क्षस्यात्पदघटितसप्तभङ्गात्मकमहावाक्यस्यैव सप्तविधधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकसमूहालम्बनाखण्डबोधजनकत्वेन पूर्णोत्तररूपत्वात् । अनन्तधर्माध्यासितवस्तु यावद्धर्मैर्जिज्ञासितं तावद्धर्माभिधान एव वाक्यस्य निराकाङ्क्षताभावात् । यच्च वक्त्रा क्वचिद्भङ्गद्वयमात्रप्रतिपादनं विधीयते तत्तु स्याद्वादव्युत्पन्नपुरुषापेक्षयैवेति प्रतीहि । तत्रापि हि वक्तुस्तद्भिन्नभङ्गविवेचने तात्पर्यमस्त्येव, स्याद्वादाव्युत्पन्नश्रोतॄणां भङ्गद्वयप्रयोगमात्रेण न सप्तधर्मावगतिरिति तदर्थं तान् प्रति सप्तविधभङ्गप्रतिपादनमावश्यकमेव । तच्चैकैकस्मिन् वस्तुनि परस्परसापेक्षसामान्यविशेषनित्यत्वानित्यत्वभेदाभेदाद्यनन्तधर्माध्यासिते एकैकं पर्यायमाश्रित्य विधिनिषेध-

कर्ता कर्म, गन्ता गन्तव्यं, हेतुः कार्यं, द्रष्टा द्रष्टव्यमिति परस्परसापेक्षतामात्रेण प्रसिद्धिमुपगता मन्तव्यमवतारयन्ते । उक्तञ्च—

" बुद्ध्या विविच्यमानानां, स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते, निःस्वभावाश्च कीर्तिताः ॥ १ ॥

इदं वस्तुबलायातं, यद्वदन्ति विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ २ ॥" इति ।

यद्यप्ययं स्कन्धायतनधातुविभेदः प्रदश्यते नाम तथापि सांवृत एवायम्, संवृत्या—आवरणेन मायया कल्पितोऽयं भेदव्यवहारः । उक्तञ्च—

" फेनपिण्डोपमं रूपं, वेदना बुद्बुदोपमा ।
मरीचिसदृशी संज्ञा, संस्काराः कदलीनिभाः ॥ १ ॥
मायोपमं च विज्ञान-मुक्तमादित्यबन्धुना ॥ " इति ।

अन्यत् सर्वं तद्ग्रन्थेभ्योऽवसेयम् । उक्तबौद्धमतचतुष्टयनिरासस्तु प्रागेव विहित इत्यपि ग्रन्थगौरवभीरुतया नोच्यते नन्वेवं परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयो-र्मिथ्यात्वे द्रव्यार्थिकनयविषय सामान्यं पर्यायार्थिकनयविषय विशेषमभ्युपगच्छतो वैशेषिक-दर्शनस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयावलम्बित्वेन सम्यक्त्वं स्यादित्याशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह-

दो हि वि णएहि णीयं, सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाण-त्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

'दोहि वि णएहि' द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिनय-पर्यायास्तिकनयाभ्यां, 'णीयं सत्थमुलूएण' नीतं प्रणयनमवस्थापितं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावात्मक-सप्तपदार्थप्ररूपकं शास्त्रमुलूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन 'तह वि मिच्छत्तं' तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्तितं तन्मिथ्यारूपमेव, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्धमाह-'जं' यत् यस्मात् तावित्ति शेषः, तौ वैशेषिकदर्शनप्रणयनकृता मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक नयौ 'सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णनिरवेक्खा" स्वविषयप्रधानत्वेन सावधारणत्वावि पयावगाहित्वेन, अन्योन्यनिरपेक्षौ स्वस्वकल्पनाधिष्ठितविविधविकल्पयुक्तिभिरितरांशापलापिनौ, अनाभिमतौ तु तौ स्यात्पदसमुल्लाञ्छितत्वेन परस्परसापेक्षत्वाच्च मिथ्यारूपौ इत्युक्तमर्थतो ऽनेकान्तव्यवस्थायां विशेषावश्यकभाष्ये तत्कृतगाथाटीकायां नयविवेचने चापि । तथा च वैशेषिकदर्शनं मिथ्या मिथो निरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयविषयपरस्परविविक्तसामान्य विशेषोभयात्मकैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात् यदेकान्ततत्त्वप्रतिपादकं तन्मिथ्यारूपम्, यथा साङ्ख्यादिदर्शनम्, एकान्ततत्त्वप्रतिपादकञ्च वैशेषिकदर्शनमिति तदपि मिथ्यारूपम् । यद्वा नन्वेवं नयान्तरनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साङ्ख्यसौगतमतयोर्मिथ्यात्वे सद्व्यवहार

तथा घटस्सन् पटस्सन् मठस्सन्नित्यादौ सर्वत्र ब्रह्मात्मकमद्रूपमनुगामि, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति सङ्ग्रहनयमूलकस्य वेदान्तदर्शनस्य, एवं—

"अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिः शब्दस्त्वमात्रं प्रणवस्वरूपं ब्रह्मैवेति शब्दमन्मात्रस्वरूपब्रह्मवादस्य च भर्तृहरिणा स्वीकृतस्य शब्दार्थयोरभेद एव सम्बन्ध इति वैयाकरणाभ्युपगममूलकस्य शब्दब्रह्मत्वेन सर्वस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् सङ्ग्रहनयप्रकृतिकस्य, तथा शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणमिन्नसम्बन्धः, स च सम्बन्धो नित्य एव, "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (मीमां० १. १. ५.) इति मीमांसकसूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विरुद्धलक्षणया नित्य इत्यर्थकत्वेन व्याख्यानादित्येवं प्रतिपादकस्याशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिव्यवहारनयप्रसूतस्य मीमांसकादिदर्शनस्यैकान्तैकैकनयावलम्बित्वान्मिथ्यात्वमवसेयमिति दिक् । नन्वनेकान्तवादिनामिवैकान्तनयवादिनामपि घटत्वविशिष्टे घटे घटोऽयं पटत्वविशिष्टे पटे पटोऽयं तद्गतरूपादौ चेदं रूपम् अयं रस इत्येवमेव प्रत्यक्षज्ञानं भवतीति तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेत्, उच्यते–परमार्थवृत्त्या घटे घटत्वधर्मवत् पटे च पटत्वधर्मवत् रूपे च रूपत्वधर्मवत्तदितरानन्तधर्मसद्भावेऽप्येकान्तनयवासनासंवलिततयैकान्तवादिनां घटत्वमात्रस्य पटत्वमात्रस्यैकस्यैव धर्मस्य ग्राहकं घटोऽयमिति पटोऽयमिति प्रत्यक्षाद्यात्मकं यज्ज्ञानं समुत्पद्यते तन्मिथ्याज्ञानमेव, एकान्तधर्माभाववति घटादिवस्तुन्येकान्तधर्मावगाहित्वेनैकान्तनयात्मकत्वात्, यतो घटस्यापि पटस्यापि तद्गतरूपादेश्चाप्यनेकान्तात्मकतयाऽनन्तस्वपर्यायाणां साक्षात्सम्बन्धेन परपर्यायाणां च स्वाभाववत्त्वरूपपरम्परासम्बन्धेन परमार्थवृत्त्या तत्र सद्भावेऽपि मिथ्यात्वदोषबलात्तज्ज्ञानाभावेन तन्निराकरणपूर्वकवस्त्वेकदेशमात्रग्राहिमिथ्यानयजनितवासनादोषप्रभवं सर्वथा घट एवाऽयं पट एवाऽयं, इद रूपमेवेत्येवमेकनयगोचरघटत्वपटत्वादिप्रतिनियतैकधर्मवत्त्वलक्षणैकान्ततत्त्वग्राहित्वेन तज्ज्ञानं भ्रान्तमेव, एकस्मिन्नपि कलानिधौ तिमिरादिदोषबलाद् भ्रान्तद्वित्वप्रत्ययवत्। अयम्भावः–मिथ्यादृष्टेर्यद्घटे घट एवायं पटे पट एवायमित्याद्याकारमेकान्तज्ञानं तत् तद्वति तत्प्रकारकत्वाद् व्यवहारदृष्ट्या प्रामाण्यकमप्यवधारणेन घटत्वपटत्वाद्यन्यानन्तधर्माणां सतामपि प्रतिषेधकरणाच्च निश्चयदृष्ट्या प्रामाण्यकम्–अनेकान्तवासनोपनीतानेकान्तविषयकज्ञानस्यैव स्यादस्त्येव घट इत्याकारकस्य सर्वनयविषयताव्यापकविषयताकत्वेन प्रामाण्याभ्युपगमादिति मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानमेव, सदसतोः कथञ्चिद्भावेनानवगाहित्वादिति, अत एव तद्भवबीजमिति गीयते त्रिभुवनगुरूपदिष्टानेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वज्ञैः, स्याद्वादिनान्तु जिनेन्द्रभगवन्मुखारविन्दविनिर्गतस्याद्वादस्य

प्रकाराभ्यां ये सप्तभङ्गाः प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगसप्तकाधीनसप्तविधनियतजिज्ञासा-प्रयुक्तवस्तुसंदेहसप्तकाधीनास्तत्प्रतिपाद्यसप्तविधधर्माभ्युपगमे सत्येव सम्भवति, सैषा एवोक्त-रूपा प्रागुपदर्शितस्वरूपा सप्तभङ्गीप्ररूपणा स्याद्वादनिष्पन्निका स्वसमयार्थप्रज्ञापना, अर्हद्भा-षितकथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकपदार्थविषयवस्तुतत्त्वप्रतिपादकत्वात् यथैव तथैव, यथैका-न्ततत्त्वदर्शनप्रज्ञापना, तथैकान्तभिन्नसामान्यविशेषप्रतिपादकं वैशेषिकदर्शनं तत्समानतन्त्र-त्वान्नैयायिकदर्शनञ्च परस्परनिरपेक्षसङ्ग्रहव्यवहारनयद्वयावलम्ब्यपि न यथोचितवर्ति-नियोगकारीति न सम्यक्त्वप्रयोजकम्, अत एव मिथ्यारूप तदुभयमिति सिद्धमिति । वैशेषिकदर्शनस्य सङ्ग्रहव्यवहारप्रकृतिकत्वे च नैगमनयो न कस्यापि दर्शनस्य प्रवर्तके यतस्सामान्यग्राहके प्रवृत्तस्य तस्य सङ्ग्रह एव विशेषग्राहके च प्रवृत्तस्य व्यवहारनय एवा-न्तर्भाव इति तदुभयभिन्नस्य सङ्ग्रहव्यवहारविषयातिरिक्तविषयाप्रसिद्धेस्स्वातन्त्र्यमेवाऽलभ-मानस्य तस्य न भिन्नदर्शनप्रकृतित्वमभिधातुं युज्यत इत्ययं प्रवचनोपनिषद्विदां श्रीसिद्ध-सेनदिवाकराणां पक्षः । अत एव नयोपदेशेऽपि—

"हेतुर्मतस्य कस्यापि, शुद्धाशुद्धो न नैगमः ।
अन्तर्भावो यतस्तस्य, सङ्ग्रहव्यवहारयोः ॥११७॥" इत्युक्तम् ॥

येषां पूज्यश्रीमद्वादिदेवसूर्यादाचार्याणां तु मते पृथक् नैगमनयो विद्यते तन्मतेन नैगमनयप्रकृतिकं वैशेषिकदर्शनम् । अत एवानेकान्तव्यवस्थायाम्—

" दर्शितेयं यथा काणादं, नैगमस्य नयस्य दिक् ।
कणादपदष्टिहेतुश्रीयशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥"

स्याद्वादरत्नाकरे च सप्तमपरिच्छेदे सप्तदशसूत्रटीकायां " नैयायिकवैशेषिकयोर्दर्शनं नैगमाभासतया ज्ञेयम् " इत्युक्त सङ्गच्छत इति । नैगमनयस्य चान्यनयनिरपेक्षस्य मिथ्या ज्ञानरूपतया तत्प्रकृतिकवैशेषिकदर्शनस्य तत्समानतन्त्रनैयायिकदर्शनस्यापि च तथात्व-मवसेयमिति ।

जं सविसयप्पहाणत्तणेण, अण्णुण्णनिरवेक्खम् ।

इत्यपि शास्त्रस्यार्थसिद्धये अर्धगाथायाः पाठ-तयोपरार्धेन हेतुमाह-'जं' इत्यादि, यस्मात् स्वविषयप्रधानत्वेन अन्योन्यनिरपेक्षं अन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रितं तत्, अन्योन्य निरपेक्षनयाश्रितत्वस्य च मिथ्यात्वाविनाऽविनाभूतत्वादित्यर्थः । एवं "सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" ॥ १ ॥ "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" ॥ २ ॥ "नेह नानास्ति किञ्चन" ॥ ३ ॥ इत्यादि श्रुत्या सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव सत्, तदन्या शेषजगतो मिथ्यात्वमेव, घटपटादिरूपजगतस्सत्ता ब्रह्मसत्तैव, यतो ब्रह्मैव तेन तेन घटाद्याकारेणावभासते, यथा चायं सर्प इव माला इदं रजतमित्याद्याविर्भावस्वरूपमज्ञानमि

तथा घटस्सन् पटस्सन् मठस्सन्नित्यादौ सर्वत्र ब्रह्मात्मकमद्रूपमनुगामि, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति सङ्ग्रहनयमूलकस्य वेदान्तदर्शनस्य, एवं—

"अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥"

इत्युक्तेः सर्वेषां शब्दाना सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिः शब्दब्रह्ममात्रं प्रणवस्वरूपं ब्रह्मैवेति शब्दसन्मात्रस्वरूपमब्रह्मवादस्य च भर्तृहरिणा स्वीकृतस्य शब्दार्थयोरभेद एव सम्बन्ध इति वैयाकरणाभ्युपगममूलकस्य शब्दब्रह्मत्वेन सर्वस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् सङ्ग्रहनयप्रकृतिकस्य, तथा शब्दस्यार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणभिन्नसम्बन्धः, स च सम्बन्धो नित्य एव, "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (मीमां० १. १. ५.) इति मीमांसकसूत्रे औत्पत्तिक इत्यस्य विरुद्धलक्षणया नित्य इत्यर्थकत्वेन व्याख्यानादित्येवं प्रतिपादकस्या-शुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिव्यवहारनयप्रसूतस्य मीमांसकादिदर्शनस्यैकान्तैकनयावलम्बित्वा-न्मिथ्यात्वमवसेयमिति दिक् । नन्वनेकान्तवादिनामिवैकान्तनयवादिनामपि घटत्व-विशिष्टे घटे घटोऽयं पटत्वविशिष्टे पटे पटोऽयं तद्गतरूपादौ चेद रूपम् अयं रस इत्येवमेव प्रत्यक्षज्ञानं भवतीति तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेद्, उच्यते–परमार्थवृत्त्या घटे घटत्वधर्मवत् पटे च पटत्वधर्मवत् रूपे च रूपत्वधर्मवच्चादितरानन्तधर्मसद्भावेऽप्येकान्त-नयवासनासंवलितत्वैकान्तवादिना घटत्वमात्रस्य पटत्वमात्रस्यैकस्यैव धर्मस्य ग्राहकं घटो-ऽयमिति पटोऽयमिति प्रत्यक्षाद्यात्मकं यज्ज्ञानं समुत्पद्यते तन्मिथ्याज्ञानमेव, एकान्तधर्मा-भाववति घटादिवस्तुन्येकान्तधर्मावगाहित्वेनैकान्तनयात्मकत्वाद्, यतो घटस्यापि पटस्यापि तद्गतरूपादेश्चाप्यनेकान्तात्मकतयाऽनन्तस्वपर्यायाणां साक्षात्सम्बन्धेन परपर्यायाणा च स्वाभाववत्त्वरूपपरम्परासम्बन्धेन परमार्थवृत्त्या तत्र सद्भावेऽपि मिथ्यात्वदोषबलात्तज्ज्ञाना-भावेन तन्निराकरणपूर्वकवस्त्वेकदेशमात्रग्राहिमिथ्यानयजनितवासनादोषप्रभवं सर्वथा घट एवाऽयं पट एवाऽयं, इद रूपमेवेत्येवमेकनयगोचरघटत्वपटत्वादिप्रतिनियतैकधर्मवत्त्वलक्षणै-कान्ततत्त्वग्राहित्वेन तज्ज्ञानं भ्रान्तमेव, एकस्मिन्नपि कलानिधौ तिमिरादिदोषबलाद् भ्रान्तद्वित्वप्रत्ययवत् । अयम्भावः–मिथ्यादृष्टेर्यद्घटे घट एवायं पटे पट एवायमित्याद्याकार-मेकान्तज्ञान तद् तद्वति तत्प्रकारकत्वाद् व्यवहारदृष्ट्या प्रामाण्यकमप्यवधारणेन घटत्व-पटत्वाद्यन्यानन्तधर्माणा सतामपि प्रतिषेधकरणान्न निश्चयदृष्ट्या प्रामाण्यकम्–अनेकान्त-वासनोपनीतानेकान्तविषयकज्ञानस्यैव स्यादस्त्येव घट इत्याकारकस्य सर्वनयविषयता-व्यापकविषयताकत्वेन प्रामाण्याभ्युपगमादिति मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानमेव, सदसतोः कथञ्चिद्भावेनानवगाहित्वादिति, अत एव तद्भवबीजमिति गीयते त्रिभुवनगुरूपदिष्टानेका-न्तात्मकवस्तुतत्त्वज्ञैः, स्याद्वादिनान्तु जिनेन्द्रभगवन्मुखारविन्दविनिर्गतस्याद्वादस्य

पदार्थस्वव्यापकत्वेन ज्ञानादनेकान्ततत्त्वविषयकमुद्भूतवासनावासिततया स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण घटोऽयं घटोऽयं न तु परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणापीति कथञ्चिद्घटोऽयं कथञ्चिदघटोऽयमित्येवं घटे घटे च कथञ्चिद्घटत्वघटत्वप्रत्यक्षज्ञानं समुत्पद्यते, तथानन्तधर्मात्मकत्वयोतककथञ्चित्पदेनैवानुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मद्वारा सर्वधर्मज्ञानमिति तज्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्, प्रमाणज्ञानमिति यावत्, यद्यप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा सर्वस्य सर्वात्मकत्वादनन्तपर्यायस्य वस्तुनः प्रयोजनादिवशादेकपर्यायप्रकारेण ग्रहेऽपि " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ " इत्याद्युक्तेः सर्वमनन्तपर्यायात्मकमित्याचाराममार्गभगवानोपनीतसर्वात्मकत्वानन्तपर्यायात्मकत्वावगाहित्वं सम्यग्दर्शिज्ञाने सर्वत्रैवेति तदेव प्रमाणम्, अत एव मोक्षौपयिकं तदेव ज्ञानमिति तत्त्वविद्भिर्गीयते, अत एव परदर्शनाभिमतेऽर्थे स्यात्पदोपादानमात्रेण तत्परदर्शनस्यापि स्वदर्शनरूपतया तत्रापि स्वदर्शनत्वबुद्धिरिति तत्तद्दर्शनीयेषु स्वीयत्वात्मपरत्वाभावात् मोक्षौपयिकी साम्यसम्पत्तिः स्याद्वादिनां कर्मदोषादज्ञाननिमग्नं परं तत्त्वगम्। परेषां तु स्वपक्षसिद्धावन्योन्यं सुन्दोपसुन्दन्यायेन कलहायमानानां यावज्जीवमपि पक्षाभिनिवेशानुपरमेण द्वेषानुच्छेदात् नास्त्येव साम्यवार्ताऽपीति संसारहेतुत्वात्तेषां ज्ञानमप्यज्ञानमिति परिभाषन्ते परमप्रावचनिकाः, ततो मिथ्यादर्शनगरलकवलनानिरपायं स्याद्वादामृतपानमेव विधेयं विवेकिनेति परमरहस्यम् ॥ ४९ ॥

अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वाऽविनाभूतत्वमेवेत्याह—

जे संतवायदोसे, सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥

'जे संतवायदोसे' यान् सद्वाददोषान्, एकान्तसद्वादपक्षे यान् दोषान् 'संखाणं' सांख्यानां प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतितत्त्वप्रतिपादककपिलमुनिप्रणीतसांख्यदर्शनाभिमतानां 'सक्कोलूया भणन्ति' शाक्यौलूक्या भणन्ति बुद्धकणादप्रणीतदर्शनभक्ताः प्रतिपादयन्ति, 'संखा य असव्वाए' सांख्याश्चासद्वादे, शाक्यौलूक्याभ्युपगते असत्कार्यवादे यान् दोषान् सांख्याश्च भणन्ति 'तेसिं सव्वे वि ते सच्चा' तेषां पूर्वोक्तवादिनां सर्वेऽपि ते दोषाः सत्याः, तदुभयोरप्येकान्तविषयाऽसत्यत्वज्ञापकत्वात्, तदुभयोरेकान्ततत्त्वविषयकत्वाभावाऽप्रामाण्यज्ञानोत्पादकत्वाच्चेयात्, अत एव सदोषत्वप्रतिपादकत्वादेकान्तनयप्रणीतशास्त्रं सर्वं मिथ्यारूपमिति सिद्धम्। अयम्भावः—सांख्याभ्युपगतसत्कार्यवादे असत्कार्यवादिन एवं दोषान् प्रतिपादयन्ति, सत्पक्षे कार्यस्य कारणात्मकत्वेनेदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्यसङ्कीर्णव्यवहारनिश्चयनप्रसङ्गस्स्यात्, यतो न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति व्यपदेष्टुं शक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्, अथोच्येत न सर्वात्मना कारणे कार्यस्य सत्त्वमभ्युपगतं, येनोक्तदोषस्स्यात्, किन्तु शक्त्या, नाभिव्यक्त्यापीति, येन यस्याभिव्यक्तिर्जायते तत्तस्य

कार्यमिति नोक्तदोष इति चेत्, तर्ह्यनायासेनैवास्मत्पक्षसिद्धिः, पूर्वमसत्या अप्यभिव्यक्तेरुत्पादाभ्युपगमात्। अयञ्च सत्कार्यवादः प्रागेव निरस्त इति किं पिष्टपेषणेन ? । एतेन प्रधानस्य महद्रूपेण महदादेश्चाहङ्कारादिरूपेण परिणतत्वात्, कारणमेव कार्याकारेण परिणमत इति परिणामवादोऽपि निरस्तः, कारण कार्याकारेण किं पूर्वस्वरूपं परिहाय परिणमति उत अन्यथेति कक्षाद्वयम्, तत्राद्यायां पूर्वस्वभावो निरुद्धः, अन्यस्वभावश्चोत्पन्न इति स्वरूपहानिप्रसक्तेर्नित्यैकस्वरूपताविरोधः। द्वितीयकक्षायां चावस्थाद्वयसाङ्कर्यप्रसङ्गः। किञ्च कार्याकारोऽपि कारणव्यापारात् पूर्वं सन्नसन् वा किं वा सदसदात्मकः, आद्ये कारणव्यापारवैफल्यप्रसङ्गः, द्वितीये च शशशृङ्गादिवदनुत्पत्तिप्रसक्तिः, असदकरणादुपादानग्रहणादित्यादिभवदीयोक्तेरेव, तृतीये चानेकान्तापत्तिः, कारणाकारेण सत एव पूर्वकालावच्छिन्नासद्भूतकार्याकारेण परिणमनाभ्युपगमात्। एवं बौद्धवैशेषिकाभ्युपगतासत्कार्येऽपि साङ्ख्या एवं दोषानभिदधति, असत् चेत्कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्त्तुं केनापि शक्यम्, न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्त्तुं शक्यम्, तत उपादानकारणे यदेव सत् तस्यैव कारणव्यापारादभिव्यक्तिर्जायते, पीडनेन तिलेषु तैलस्येव, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानामिवेत्यभ्युपगन्तव्यम्, किञ्च कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवतीति कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यमभ्युपगन्तव्यम्। नन्वसम्बद्धमेव कार्यं कारणव्यापारेण जन्यताम्, तत्र को दोष इति चेत्, तर्ह्यसम्बद्धत्वाऽविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद्भवेत्, अथ नैवं भवेत्, असम्बद्धमपि सत्तदेव करोति यस्मिन् कार्ये यत्कारणं शक्तम्, तत्तत्कार्यानुकूलकुर्वद्रूपत्वशक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते इति चेत्, हन्त भो ! कारणगता शक्तिः कार्यसम्बद्धा असम्बद्धा वा, आद्ये तादृशशक्तेर्नासता कार्येण सम्बन्ध इति सत्कार्यमभ्युपगन्तव्यम्, तथा च सत्कार्यजननशक्तिर्यस्मिन् कारणे तस्मादेव कारणात् सत्कार्योत्पत्तिरिति सत्कार्यवादप्रसङ्ग इति भावः। द्वितीये असम्बद्धत्वाऽविशेषात्सर्वस्मात्सर्वकार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यव्यवस्थातादवस्थ्यम्, कार्यस्य कारणात्मकत्वाच्च सत्कार्यम्, न हि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणञ्च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद्भवेत्, तथा च कारणे कार्यजननशक्तिरूपेण कार्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, सा च शक्तिर्घटकार्यानुकूला कपालोपादान एवेति तस्मादेव सहकार्यन्तरसहकृताद् घटकार्यनिष्पत्तिः, न तु तन्तुभ्यः, तत्र घटकार्यानुकूलशक्त्यभावात्, यद्यपि तत्तत्कार्यभेदेन तत्तत्कार्यानुकूलशक्तिर्भिन्नैव, तथापि शक्तित्वेन शक्तिरेकैवेति कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वाभ्युपगमे एक एव कार्यकारणभावः, असत्कार्यवादपक्षे तु प्रतिनियततत्तद्धर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति प्रतिनियततत्तद्धर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यादित्यनेककार्यकारणभावापत्तिर्दोषः। तदुक्तम्—

> " असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाऽभावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥ " इति।

तदेव सुन्दोपसुन्दन्यायेनासद्वादिबौद्धौलूक्योक्तयुक्तयस्साङ्ख्याभ्युपगतसत्कार्यपक्षं साङ्ख्योक्तयुक्तयश्च बौद्धौलूक्याभ्युपगतासत्कार्यपक्षं प्रतिघ्नन्ति, न तु कार्यकारणयोः कथञ्चिदभेदादुपादानकारणद्रव्यात्मना कारणे कार्यं सत् पर्यायलक्षणपर्यायात्मनाऽसदिति सदसदात्मकानेकान्तपक्षम्, यतोऽनेकान्तस्य जात्यन्तरमेव, अविभक्तपरस्परसापेक्षसदसद्रूपद्वयसंसर्गात्मकत्वात्, न पुनरेकान्तपरस्परनिरपेक्षसदसदुभयात्मकस्वरूपं तत्, प्रत्येकपक्षदोषस्योभयपक्षेऽपि सद्भावात्। "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इत्युक्तेः, किन्तु नरसिंहादिवद्विलक्षणमखण्डस्वरूपमेव, अत एव प्रत्येकपक्षोक्तदोषाऽस्पृष्टम्। यदाह—

" न नरः सिंहरूपत्वात्, न सिंहो नररूपतः।
शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि तत् ॥ १ ॥" इति।

तथा च शास्त्रान्तरयुक्त्यप्रतिहन्यमानं परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयप्रतिपाद्य भजनादिरूपतत्त्वप्रतिपादकमर्हच्छासनमेव सम्यग्मार्गं भवे, तदन्यत्तु परस्परोक्तयुक्तिभिर्निराक्रियमाणमन्यनयनिरपेक्षेण केवलद्रव्यार्थिकनयेन केवलपर्यायार्थिकनयेन वा परस्परनिरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यां वा व्यवस्थापितं सर्वं शास्त्रं मिथ्येति सिद्धम्। अत एव शाक्यौलूक्यानां सत्कार्यवादे साङ्ख्यानां चासत्कार्यवादे पर्यनुयोगा एकान्तवादनिरसने फलवन्त एव सैद्धान्तिकैरुक्ता इति ॥ ५० ॥

अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह—

ते उ भयणोवणीया, सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं, दो वि न पूरेंति पाडिक्कं ॥ ५१ ॥

'ते उ भयणोवणीया' तौ तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ भजनोपनीतौ उपसर्जनीभूतेतरनयविषयप्रधानीभूतस्वविषयप्रतिपादकत्वेनोपवर्णितौ, अत्र यदा भवतस्तदेति शेषः 'सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति' सम्यग्दर्शनमनुत्तरं नास्ति उत्तरं प्रधानं यस्मादिति व्युत्पत्त्या भवविच्छेदकर्मविधिरन्यथास्ति तथाभूतं भवतः, तादृशसम्यग्दर्शनरूपतामवाप्नुतः परस्पराविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्त्वविषयकज्ञानात्मकाबाधितावबोधस्वभावत्वात् भजनापतिततदुभयवादस्य सर्वनयसम्मतत्वेन जिनमतरूपतया सम्यक्त्वरूपत्वात्। यदा त्वन्योन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ तौ भवतस्तदा न सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते, नयान्तरानपेक्षतया स्वतन्त्रैकनयपक्षस्य दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् तयोरेकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वे च पक्षस्यावराह—'जं भवदुक्खविमोक्खं' यत् यस्मात् भवदुःखविमोक्षं भवे संसारे जायमानं यज्जन्ममरणादिदुःखं तस्मात् विमोक्षं विशेषेणापुनरावृत्त्या मोक्षं परिमोचनं अथवा भवस्य दुःखं भवदुःखम् तस्य विमोक्षम्, दुःखकारणम् तथा स्वकारणीभूतकर्मपरत्, तत्सम्बन्धः सम्बन्धः कार्यकारणभावात्मा,

तस्य प्रकारतया भानाभ्युपगमे भवनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताऽऽश्रयीभूतकर्माऽत्यन्तोच्छेदमित्यर्थः। संसर्गतया भानस्वीकारे तु स्वनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतासम्बन्धेन भवविशिष्टं यत् कर्म तस्याऽत्यन्तोच्छेदमित्यर्थः। 'दो वि न पूरेंति पाडियक्कं' द्वावपि प्रत्येकं न पूरयतः, तौ द्वावपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेकैकौ परस्परनिरपेक्षौ न विधत्तः, मिथ्याज्ञानरूपत्वाद्, यच्च मिथ्याज्ञानात्मकं तन्न दुःखविमोक्षं विधत्ते, यथा मरुमरीचिकादौ जलभ्रान्तिः, मिथ्याज्ञानरूपौ च तौ नयाविति तावपि सम्यक्क्रियाऽनङ्गतया भवदुःखविमोक्षं न विधत्तः, तयोर्नययोर्मिथ्यात्वे च कारणात्कार्यमभिन्नमत एव सत्कार्यमित्येवमेकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रतिपादितमेव पूर्ववर्त्तिनः कारणात् पश्चाद्भावि कार्यं भिन्नमेव, अत एवासत्कार्यम् असतः सत्तालाभलक्षणत्वात्कार्यत्वस्येत्येवमेकान्तपर्यायार्थिकनयप्रतिपादितश्चासत्यमेव, नन्वेवं तर्हि किमत्र तत्त्वं मतमिति चेत्, उच्यते–कारणात् कार्यं कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नञ्च अत एव कथञ्चित्सदाऽसच्चेत्युभयरूपमिति जानीहि ॥ ५१ ॥

अमुमेवार्थमुपसंहरति—

> नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडोत्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो ।
> जं पुण घडोत्ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥ ५२ ॥

"नत्थि पुढवीविसिट्ठो घडो त्ति जं" यद् यस्मात् पृथ्वीविशिष्टः पृथिव्या मृत्तिकायाः कारणीभूताया विशिष्टो विश्लिष्टो वा व्यतिरिक्तो भिन्नः कार्यभूतो घटो नास्ति मृत्तिकाव्यतिरिक्तस्वभावतया न दृश्यते 'तेण जुज्जइ अणण्णो' तेन तस्माद्धेतोर्युज्यते अनन्यः, मृत्तिकातोऽभिन्नः, यत्कार्यं यत्कारणात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलबुद्बुदो जलस्वरूपकारणात्मक इति स तदभिन्नः, मृत्तिकास्वरूपकारणात्मकश्च घट इति सोऽपि तदभिन्नः, यद्वा यत्कार्यं यद्विकारात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलबुद्बुदो जलविकारात्मक इति तदभिन्नः, यथा वा वेदान्तमते मायाविकारात्मकं घटपटादिजगत् इति तदभिन्नं, पृथिवीविकारात्मकश्च घट इति सोऽपि तदभिन्नः, नन्वेवं सति कार्यकारणयोर्दृश्यमाना भेदप्रतीतिरेव लुप्ता स्यात्। किञ्च तयोरभेदे कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेद एव तद्भावादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह–' जं पुण ' यत्पुनः ' घडोत्ति ' घट इति, पृथुबुध्नोदराद्याकारतालक्षणव्यक्तस्वरूपेण ' पुव्व न आसि ' पूर्वं घटोत्पत्तेः प्राक् स नासीत्, नाभूत्, किन्तु ' पुढवी ' पृथ्वी मृत्तिकैवासीत्, अयम्भावः–कार्यकारणयोस्सर्वथैक्ये स्वकाल इव मृत्तिकात्मकपृथ्वीकालेऽपि घटः पृथुबुध्नोदराद्याकारेणोपलभ्येत, न चोपलभ्यते ' तओ अण्णो ' ततः तस्मात्कारणात् ज्ञायते कारणीभूतमृदात्मकपृथ्वीतोऽन्यो घट इति। दशवैकालिकप्रथमाध्ययनवृहट्टीकायां साक्षिभूतगाथोत्तरार्द्धपाठस्त्वेवम्–" जं पुण घडुत्ति पुव्वं नासी पुढवीइ तो अन्नो " इति। यत्पुनर्घट इति पूर्वं नासीत् ततः तस्मात्कारणात् पृथिव्या अन्य इत्यर्थः। अयम्भावः–यो घटस्सोऽपि

मृपिण्डेन, यतो घटो मृत्स्वरूपं परित्यज्य न स्वस्वरूपं धत्ते, ततोऽनुगतद्रव्यसामान्यस्वरूप-मन्तरेण घटात्मकविशेषस्वरूपानुपपत्तेर्घटो मृद्द्रव्यात्मक एव, मृपिण्डोऽपि तदानीं घट एव, घटस्यापि घटात्मकविशेषस्वरूपं परित्यज्य तदानीमन्यस्वस्वरूपं न बिभर्ति, ततो घटात्मकविशेषस्वरूपमन्तरेण मृद्द्रव्यसामान्यस्वरूपानुपपत्तेर्मृद्द्रव्यमपि घटविशेषात्मकमेव, तयोरन्योन्यानुस्यूतत्वादिति तयोस्तद्रूपेणाऽभेदः, यदेव नियमेनाव्यवहितपूर्ववर्ति तदेव कारणम्, यच्च तत्कार्यमानत्वेन तदव्यवहितोत्तरवर्ति तत्कार्यमिति मृदः कारणत्वेन घटस्य च कार्यत्वेन पूर्वापरवर्तितया तयोर्भेद इत्येवं यथा मृद्-घटयोः कथञ्चिद्भेदाभेदोभयात्मकत्वम्, एवं सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयम्, अत एव कार्यकारणयोः कथञ्चिदभेदात् कारणात्मना कार्यं सत्, तयोश्च कथञ्चिद्भेदात् कार्यात्मना कार्यं पूर्वमसदिति कार्यं कथञ्चित्सदसदात्मकमवसेयम् ॥ ५२ ॥

सदाद्येकान्तवादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

> कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
> मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

कैश्चिदेकान्तवादिभिः 'कालो' काल एवासाधारणत्वेन हेतुः कार्यमात्रं प्रति मन्यते । यदाह—

> " कालः पचति भूतानि, कालः संहरति प्रजाः ।
> कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥ " इति । 'सहावणियई'

> " कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
> स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥ १ ॥ "

इति वचनात् कैश्चित् स्वभावो हेतुत्वेनाभ्युपगम्यते ।

> "प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
> भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥"

इत्युक्तेः अन्यैश्च नियतिः, तदपरैश्च—

> " यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते ।
> तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥ १ ॥ "

इत्यभिधानात् 'पुव्वकयं' पूर्वकृतं कर्मैव, अन्यैश्च 'पुरिसकारण' पुरुषकारं प्रधानपुरुषोऽसाधारणहेतुत्वेन—

> " ऊर्णनाभ इवांशूनां, चन्द्रकान्त इवाम्भसां ।
> प्ररोहाणामिव प्लक्षः, स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥ १ ॥ "

तथा—"पुरुष एवेदमग्रं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादिवचनादभ्युपगम्यते, इत्येवं "एगंता

मिच्छत्तं" एकान्ता मिथ्यात्वम्, जगन्निखिलकार्यं प्रति यत्कारणीभूतं कालाद्येकैकं, तत्प्रतिपादकैकान्तवादास्सर्वेऽपि मिथ्यावादाः, यतो न हि किमप्येकमात्रं स्वान्यहेत्वनपेक्षं कारणं कार्यमुत्पादयद्दृष्टम्, दृष्टानुसारिणी कल्पना प्रमाणभावमश्नुते, न तु यथा तथा कल्पना, सामग्री वै जनिकेति न्यायात् तदितरसकलकारणसत्त्वे सति तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदितरनिखिलकारणसहकृतस्यैव विवक्षितस्यैकस्य प्रधानतया कारणत्वे सिद्धे सति तदन्येषां गौणतया कारणत्वं सिद्ध्यत्येवेति स्वान्यकारणनिरपेक्षैकमात्रकारणपक्षस्य दुर्नयत्वात्, ननु यदि कालाद्येकैकहेत्वभ्युपगमरूपैकान्तपक्षा एकैकनयवादरूपत्वेन मिथ्यारूपास्तर्हि सर्वनयदृष्ट्याऽर्हत्सिद्धान्तसिद्धास्सम्यग्रूपाः के इत्याशङ्कां परिहरन्नाह–"ते चेव उ समासओ हुन्ति सम्मत्तं" त एव तु समासतो भवन्ति सम्यक्त्वम्, अयम्भावः–त एव तु समुदितास्सामग्रीप्रविष्टत्वेन मिथस्सहकारिभावं प्राप्ताः, तत्राप्येको विवक्षितो हेतुः प्रधानीभूतः, तदितरहेतवो गुणीभूता इत्येवमङ्गाङ्गिभावेन परस्पराजहद्वृत्तयस्सम्यग्भावमधिगच्छन्ति, परस्परसापेक्षकालादिपञ्चकारणसमुदायपक्षस्यैव सम्यग्रूपत्वेन सर्वनयदृष्ट्या सिद्धान्तसिद्धस्य जिनमतरूपत्वात्। "सवणयमयं जिणमयं" इत्युक्तेः। एकैककारणमात्रेण क्वापि जायमानस्य कस्यापि कार्यस्यानुपलब्धेः कालादिकारणसमुदाये कार्योपधायकत्वनियमादेककारणपरिशेषपक्षस्य च दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वादिति ॥ ५३ ॥

अन्यनिरपेक्षकालादिप्रत्येककारणाभ्युपगमात्मकैकान्ततत्तत्पक्षा मिथ्यारूपाः, स्यात्पदोपादानेनाशेषान्यकारणसापेक्षास्तु त एव सम्यग्रूपा इति प्रतिपाद्य नास्त्येवात्मा १ न नित्य आत्मा २ न कर्त्ता ३ कृतं न वेदयते ४ नास्ति निर्वाणम् ५ नास्ति मोक्षोपायः ६ इति षडेकान्तविकल्पा अपि स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिभिश्चार्वाकबौद्धसाङ्ख्यवेदान्तिमीमांसकादिभिः प्रकल्पिता मिथ्यारूपाः, त एव स्यात्पदाङ्किताास्तु सम्यग्रूपा इति प्रतिपादयितुमाह—

> नत्थि ण निच्चो ण कुणइ, कयं ण वेएइ नत्थि निव्वाणं।
> नत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

मद्याङ्गेभ्यो मदशक्तिवज्जले बुद्बुदवद्वा पञ्चभूतेभ्यः कायाकार आत्मोत्पद्यते तत्रैव च विनश्यतीति भूतपरिणामत्वान्न तद्व्यतिरिक्त आत्मा परलोकानुयाय्यस्ति। तदुक्तम्–"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति। यदि तद्व्यतिरिक्तस्स्यात्तर्ह्युपलभ्येत, न चोपलभ्यते चक्षुरादीन्द्रियैः, ततो नास्त्येवात्मेति चार्वाकमतमाश्रित्याह 'नत्थि' नास्ति आत्मेति शेषः ॥ १ ॥

> "सुखी भवेयं दुःखी च, मा भूवमिति तृष्यतः।
> यैवाहमिति धीः सैव, सहजं सत्त्वदर्शनम् ॥ १ ॥"

तत्र सम्प्रमाणस्येत्यर्थः । कामयमानाश्च सुखादिकं विहितनिषिद्धसाधनमनुतिष्ठन्तः कर्माशयानाचिन्वाना भवादिकमनुभवन्ति । यदुक्तम्—

> “ आत्मनि सति परसंज्ञा, स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
> अनयोः सम्प्रतिबद्धाः, सर्वक्लेशाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥ ” इति ।

यदि पुनरमी, नाहं कश्चित् किमपि मम नास्ति, न किञ्चिदपि वस्तु स्थिरम्, किन्तु सर्वमेव क्षणभङ्गुरमङ्गीकृत्येत्यवधारयेरन्, न किञ्चिदपि कामयेरन्, न चाकामयमानाः केचिदपि प्रवर्त्तन्ते, न चाप्रवर्त्तमाना अपि कर्माशयेन लिप्यन्ते न चान्तरेणापि कर्माशयं सम्भवो भोगस्येति भवति नैरात्म्यदर्शनं साधनमपवर्गस्येत्यभ्युपगन्तृबौद्धमते चित्तमात्रमात्मा, यस्तत्परक्षणिकम्, यथा प्रदीपपटलम्, संघातस्येति सोऽपि क्षणिकः ‘ सर्वे संस्काराः क्षणिकाः ’ इत्युक्तेरित्यत आह–‘ ण णिच्चो ’ न नित्य इति क्षणिकवादिमते ॥ २ ॥

साङ्ख्यमते यद्यप्यात्मा नित्यः, तथापि पुरुषः पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति स भोक्ताऽपि न कर्त्ता, किन्तु कर्त्री प्रकृतिरेव । उक्तञ्च साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम्—

> “ इत्येष प्रकृतिकृतो, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
> प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥ ”

“ प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते ” तथा ‘ पुरुषस्यापरिणामित्वमर्थं पुरुषश्चेतयते ” इति च । तन्मतमाश्रित्याह–‘ न कुणइ ’ न करोति आत्मा । ३ । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं जीव इति वेदान्तिभिरभ्युपगमादन्तःकरणधर्मस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वस्य तदुपाधिकजीवे चौपचारिकमेव भोक्तृत्वम्, न तु पारमार्थिकमिति वेदान्तिमतमाश्रित्याह “ ण वेयइ ” न वेदयते, न सुखादिकमुपभुङ्क्ते आत्मा परमार्थरूपा । यद्वा येन कृतं कर्म नासौ तद्भुङ्क्ते क्षणिकत्वाच्चित्तसन्ततेः, अत एव कृतं न वेदयत इति बौद्धमतमाश्रित्योक्तम्–“ ण वेयइ ” इति । अत्र यद्यपि वासनावासितपूर्वपूर्वविज्ञानक्षणादुत्तरोत्तरं विज्ञानमुपनिबध्नातीति वासनावासितैः पूर्वपूर्वविज्ञानैरुत्तरोत्तरविज्ञानोत्पाद सिद्धे मरणकालिकं विज्ञानमप्यनपेतवासनतया तत्सभागमपि मनोविज्ञानान्तरमुत्पादयेदेव, तच्च मनोविज्ञानमनोपविज्ञानसन्तानक विविधवासनावासितं जन्मनः पूर्वं मरणतः पश्चादनुगतसन्तानकममेवेत्येव युक्तिसिद्धोऽन्वयमन्यो विज्ञानसन्तान एव कर्म करोति तत्फलभोक्ता इति बौद्धैरुपगमादन्यमतमाश्रित्य ‘ ण वेयइ ’ इति न युक्तम्, तथापि ज्ञानसन्तानस्य सन्तानिभ्यो ज्ञानक्षणरूपात्मकेभ्यो भिन्नत्वाभ्युपगमे नामान्तरेणात्मन एवाभ्युपगतत्वस्यादिति तदभिधानं तस्यापि पूर्वोत्तरज्ञानक्षणानां भविष्यन्नभ्यात्मपरत्वेन तथात्वापत्त्या परमार्थरूपस्याऽननुगामित्वेन न तत्र कर्मकर्तृभोक्तृभावो यथार्थ इत्यभिप्रेत्य तथोक्तिरित्यवधेयम् ॥ ४ ॥

न केनापि पुंसा रागादीनामत्यन्तक्षयः कर्तुं शक्यत इति सर्वज्ञो न सम्भवति, किञ्च ये सातिशया दृष्टास्तेऽपि स्वस्वविषय एव न विषयान्तर इति देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थविषयकमिन्द्रियजज्ञानं न सम्भवति, तदुक्तं भट्टैः सर्वज्ञनिराकरणप्रस्तावे—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थाऽनतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्या–न्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥ १ ॥
येऽपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन, न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥" इति

सर्वज्ञाभावात् 'अग्निहोत्रं जरामर्यं वा कुर्यात्' इति श्रुत्या यावज्जीवमग्निहोत्रक्रियाविधानतो मोक्षसाधकक्रियानुष्ठानकालाऽप्रदर्शनाच्च सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तॄणां यज्वना मते सर्वदुःखविमुक्तिलक्षणस्य निर्वाणस्याभाव एवेत्याशयेनाह–'नत्थि निव्वाणं' नास्ति निर्वाणमिति ॥ ५ ॥ अस्ति मुक्तिः पर तदुपायो नास्ति, सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमतेन यद्वा स्वभावादेव मुच्यते न मुक्तौ स्वभावादन्यः कोऽपि हेतुरिति मोक्षोपायो नास्तीति स्वभाववादिमतेनाह–"नत्थि य मोक्खोवाओ" नास्ति च मोक्षोपाय इति ॥ ६ ॥ एतानि षट् किमित्याशङ्कायामाह–"छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं" षट् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, षड्भिस्स्थानैस्तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणं मिथ्यात्वं भवति । चार्वाकबौद्धसाङ्ख्यवेदान्तिमीमांसकादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियावादिना अनाकलिततत्त्वाऽप्रज्ञापनीयताप्रयोजकस्वस्वाभ्युपगतार्थश्रद्धानलक्षणमाभिग्रहिकमिथ्यात्वं भवतीति यावत् । तत्तन्मतखण्डनञ्चैवम्–चार्वाकमतेन "यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद् विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नापरः कश्चिदात्मा" इत्यादिप्रकारेणात्मा नास्तीत्यर्थकं "नत्थि" इति प्रथमस्थानमुक्तम्, तन्महामोहविजृम्भितम्, यतश्शरीरं विद्यमानकर्तृकं आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात् यद् यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारं च शरीरं दृश्यते तस्माद्विद्यमानकर्तृकमिति यस्तत्कर्त्ता स एवात्मा, न चाङ्कुरादिवनस्पतौ वल्मीकादौ च व्यभिचारः, तत्रापि गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिनानाविधविचित्रकर्मोदयपरिणामिन आत्मन एव शरीरकर्तृत्वेनाभ्युपगमात्, ननु तथाप्यस्यानादित्वं कथमिति चेत्, उच्यते–उपयोगलक्षण आत्मा गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाद्यनुभवनोपयोगात्मतया तान् पुद्गलान् परिणमयतीत्यात्मनः परिणामकत्वं, तेषां परिणाम्यत्वम्, पुद्गलाश्चात्मानं मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगसुखदुःखोदयक्षयोपशमादिभावेन परिणमयन्ति, तद्भावेनात्मा परिणम्यते, स च मिथ्यादर्शनोदयादिभावो भवभ्रमणहेतुः, तद्वशस्य समरणात्, एतस्य कर्मकर्मिद्वयस्यान्योन्यपरिणामकत्वादनादित्वम्, अत एव कर्मजीवसम्बन्धस्य बीजाङ्कुरन्यायेनानादित्वेनोक्तमसम्बन्धजस्य समारस्याप्यनादित्

तत्र सत्त्वमात्मेत्यर्थः । कामयमानाश्च सुखादिकं विहितनिषिद्धसाधनमनुतिष्ठन्तः कर्माशयानाचिन्वाना जन्मादिकमनुभवन्ति । यदुक्तम्—

> " आत्मनि सति परसंज्ञा, स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।
> अनयोः सम्प्रतिबद्धाः, सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥" इति ।

यदि पुनरमी, नाहं कश्चित्, किमपि मम नास्ति, न किञ्चिदपि वस्तु स्थिरम्, विश्व मेव क्षणभङ्गुरमशीकमित्यवधारयेरन्, न किञ्चिदपि कामयेरन्, न चाकामयमानाः केचिदपि प्रवर्तन्ते, न चाप्रवर्तमाना अपि कर्माशयेन लिप्यन्ते न चान्यतोऽपि कर्माशयं सम्भवो मोक्षस्येति भवति नैरात्म्यदर्शनं साधनमपवर्गस्येत्यभ्युपगन्तृबौद्धमते चित्तमात्रमात्मा, यस्सचारुचितम्, यथा घटपटादिकम्, संसारमेति सोऽपि क्षणिकः ' सर्वे संस्काराः क्षणिकाः ' इत्युक्तेरित्यत आह–' न निच्चो ' न नित्य इति क्षणिकवादिमते ॥ २ ॥

साङ्ख्यमते यद्यप्यात्मा नित्यः, तथापि पुरुषः पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति स भोक्ताऽपि न कर्ता, किन्तु कर्त्री प्रकृतिरेव । उक्तञ्च साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्याम्—

> " इत्येष प्रकृतिकृतो, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
> प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥ "

" प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते " तथा " पुरुषस्यापरिणतमर्थं पुरुषश्चेतयते " इति च । तन्मतमाश्रित्याह–' न कुणइ ' न करोति आत्मा । ३ । अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं जीव इति वेदान्तिभिरभ्युपगमादन्तःकरणधर्मत्वात्कर्तृत्वस्य तदुपाधिकजीवे औपचारिकमेव भोक्तृत्वम्, न तु पारमार्थिकमिति वेदान्तिमतमाश्रित्याह " न वेयइ " न वेदयते, न सुखादिकमुपभुङ्क्ते आत्मा परमार्थतया । यद्वा येन कृतं कर्म नासौ तद्भुङ्क्ते क्षणिकत्वादेव सन्ततेः अत एव कृतं न वेदयत इति बौद्धमतमाश्रित्योक्तम्–" न वेयइ " इति । अत्र यद्यपि वाधमावासितपूर्वपूर्वविज्ञानमुत्तरोत्तरं विज्ञानमुपनिबध्नातीति वासनाया सिद्धेः पूर्वपूर्वविज्ञानैरुत्तरोत्तरविज्ञानोत्पादे सिद्धे मरणकालिकं विज्ञानमप्यनपेतवासनतया तत्तमा-दपि मरणान्तो विज्ञानान्तरमुत्पादयेदेव, तथैव मनोविज्ञानमालयविज्ञानसम्बन्धि विविधवासना वासितं जन्मनः पूर्वं मरणतः पश्चादनुवर्तसन्तानकमेवेत्येवं युक्तिसिद्धोऽनाद्यनन्तो विज्ञान-सन्तान एव कर्म करोति तत्फलञ्चोपभुङ्क्ते इति बौद्धमतमाश्रित्य ' न वेयइ ' इति न युक्तम्, तथापि ज्ञानसन्तानस्य सन्तानिभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यो भिन्नत्वाभ्युपगमे नामान्तरेणात्मैवाभ्युपगतस्स्यादिति तदभिन्नस्य तस्यापि पूर्वोत्तरज्ञानव्यक्तीनां प्रतिक्षण सम्पाद्यत्वेन तथात्वापत्त्या परमार्थतस्त्वनुमाश्रित्येन न तत्र कर्मकर्तृभोक्तृभावो घटत इत्यभिप्रेत्य तदोक्तिरित्यवधेयम् ॥ ४ ॥

नास्ति, तदुत्तरभवीयसंज्ञाभावादिति। भूतचैतन्यादिवादस्तु पूर्वमेव निरस्त इत्यत्र नाधिकं विस्तृतिभयादुच्यते ।१। एतेन भवतु पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽत्मसिद्धिस्तथापि स क्षणिकज्ञानसन्तानात्मैव, न तु तदाश्रयत्वेन तद्व्यतिरिक्तो नित्य आत्मास्तीत्यर्थकम् 'ण निच्चो' इति द्वितीयस्थानमपि बौद्धानां निरस्तम्, नित्यात्मनोऽभावे योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवतीति वाच्यम्, आलयविज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत्, न, तस्यापि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात् सुखदुःखानुभवाभावप्रसङ्गः, क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तभिन्नत्वात् कृतनाशाऽकृताभ्यागमापत्तिरिति, आलयविज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति चेत् तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतत्, भावे वा पर्यवसितं विवादेन, नामान्तरेणात्मन एव स्वीकारात्। कः पुनरात्मस्थैर्यसाधकन्यायप्रयोग इति चेत्, उच्यते, परप्रतीतिः पूर्वप्रतीत्याश्रयाश्रिता पूर्वप्रतीत्याश्रये साक्षात्क्रियमाणत्वात् पूर्वप्रतीतिवदिति। न च हेत्वसिद्धिः, योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं तं स्पृशामि स्मरामि वेति प्रत्यभिज्ञया पूर्वप्रतीत्याश्रये उत्तरप्रतीतेः साक्षात्क्रियमाणत्वात्। सा च प्रत्यभिज्ञा कर्तृभेदेऽनुपपद्यमाना पूर्वापरप्रतीत्योरेककर्तृकत्वं व्यवस्थापयति, प्रत्येतव्यादनन्यस्यैव प्रत्येतुरहमास्पदत्वात्, न हि भवति चैत्रोऽह यमद्राक्षं मैत्रोऽहं तं स्पृशामि स्मरामि वेति प्रतिसन्धानम्, अथ पूर्वापरप्रतीतीनामेककर्तृकत्वनिश्चयोऽपि तासामुपादानोपादेयभावेनैवोपपद्यते, तथा चोक्तप्रत्यभिज्ञानेन द्रष्टुः पूर्वज्ञानस्याभेदो घटविषयकस्पार्शनप्रत्यक्षात्मके घटविषयकस्मरणात्मके वा स्मर्तर्युत्तरज्ञाने आरोप्यते, तद्बलादेव चानुभवितरि पूर्वज्ञाने स्पार्शनप्रत्यक्षवत्त्वं स्मरणवत्त्वं वाऽऽरोप्यत इत्येवं दिशा स्थैर्याऽभावेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्योपपत्तिरिति चेत्, नैवम्, एकजातीयत्वे सति येन यदुत्पन्नं तयोरुपादानोपादेयभाव इति लक्षणस्यैव भवदभ्युपगतस्याऽसङ्घटमानत्वात्, तथाहि—तत्रोत्पत्तिस्साक्षाद्विवक्षिता, किं वा परंपरयाऽपीति विकल्पद्वयम्, आद्यपक्षे यत्र चैत्रस्य प्राग् घटानुभवः, अन्तरा ज्ञानान्तर कालान्तरे पुनर्घटस्मृतौ य घटमद्राक्षं तमेव स्मरामीत्याकारक प्रतिसन्धानं तत्रापि व्यवहित योरेकसान्तानिकयोर्घटानुभवघटस्मृत्योरुपादानोपादेयभावाभावप्रसक्त्या प्रतिसन्धानं न स्यात्, द्वितीयपक्षे च शिष्याचार्यधियामप्युपादानोपादेयभावप्रसङ्गस्स्यात्, तथा च तत्रापि कदाचित् प्रतिसन्धानापत्तेः। अथ तत्र शिष्याचार्यविवक्षाप्रयत्नादिना विजातीयेन व्यवधानान्न तत्प्रसङ्गः, सति सम्भवे सजातीयव्यवधानस्यैव विवक्षितत्वादिति चेत्, तर्हि एकसन्तानान्तःपातिनामपि विजातीयविवक्षादिना व्यवधानं केन निवारणीयम्, तथा च तत्रापि प्रतिसन्धानं न स्यात्। अथैकाधारत्वे सति कार्यकारणभाव एवोपादानोपादेयभाव इति शिष्याचार्यधियां न प्रतिसन्धानप्रसङ्ग इति चेत्, तदप्यसङ्गतमेव, यतस्तत्रैकाधारत्वं किमेकदेशवृत्तित्वरूपम्, किं वैककालवृत्तित्वात्मकम्, नाद्य', यतो ययोः पूर्वापरक्षणवर्तिनोः कार्यकारणभावस्तयोर्नैकदेशवृत्तित्वम्, आधारस्य भवन्मते क्षणिकत्वेन क्षणद्वयावस्थायित्वाभावात्,

मिदम्, किं त्वममीत्विरूपा तदुच्यते ? आहोस्विदन्यस्यान्य किञ्चिदुपनिबन्धनमार्पमस्तीति ? अस्तीत्युच्यते उपनिबन्धनमस्य-' पुव्विं भंते ! कुक्कुडी पच्छा अंडए, पुव्विं अंडए पच्छा कुक्कुडी ' इत्यादि प्रश्नव्याकरणम् ' रोहा पुव्विं पेते पच्छा वि एए दो वि एते सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा इत्यादि। (भग० श० १, उ० ६, सू० ५२) एवमन्यदपि ज्ञेयम्। एवं पुरुषानुपमिपतासारतपमनुपतिपु क्षितसमपरीरोदनन्यायविषोपाहरोऽन्ययपक्षाद्गुमाद्गमभावानां ज्ञगतपाऽपि अनन्यत्वादापामभिरूपा नाक्तपमिचारः, निरदूपति अन्यामाप्यमावाया प्रपमाप्यपनपमोऽवश्व वचनम्-' से बेमि इमं पि जाइ धम्मयं, एयं पि जाइ धम्मयं, इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिण्णं मिलाइ एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं, इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं ' ॥ ४७ ॥ इति। न च देवसाक्षिकोऽनेकान्तोऽत्र व्यभिचार इति वाच्यम्, पवनरसायोगिकं प्रतिनियताकारभिरपत्र इत्यवस्तम्, यथा देव सिद्धभिमते भवीति हेतो निश्चयात्। न च शरीरमपि चक्षुरिन्द्रियेषुकानुमानामोऽक्षात्म सिद्धिस्तत्रेति वाच्यम्, तथा सति तस्मिन् विनष्टेऽपि तदावस्थोपपत्तेन न स्यान्मृतशरीर इति। तथा इन्द्रियाणि विद्यमानाधिष्ठातृकाणि करणत्वात्, यदिह करणं तदधिष्ठानाधिष्ठातृकं दृष्टम्, यथा दण्डचक्रादिकम्, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः, यथाकाशस्य, यश्च हृषीकाणां करणभूतानामधिष्ठाता स एवात्मा, स च तेभ्योऽन्यः, तथा इन्द्रियविषयक विद्यमानादायक आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्रादानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः, यथा संदंशकायःपिण्डयोः सन्निधौ अयस्कारः, यथात्रेन्द्रियैः करणैर्विषया णामादाता-ग्राहकः स नियम आत्मेति, यथा च तिले तैलं कुसुमे सौरभं ततः पृथक् तथा शरीरादात्माऽपि पृथक्, न च तिलपुनादिभ्यस्तैलसौरभयोः कार्यात्मकाः पृथग्भूतास्तत्राधार दृश्यन्ते इति तिरोभूतत्वया न तत्र सन्तीति कार्यलिङ्गतोऽनुमीयन्ते, न चात्मा शरीरात् पृथग्भूत उपलभ्यत इति स तत्र नास्त्येवेति वाच्यम्, अरूपित्वादेव न चाक्षेन्द्रियैर्नोपलभ्यते न त्वभावतः, आकाशादिवत्, अहं जाने अहं पश्ये अहं सुखी अहं दुःखी, इत्यादिमानसप्रत्यक्षेण तूपलभ्यत एव, न चाहम्प्रत्ययार्थः शरीरमेवेति वाच्यम्, अन्धकारेऽपि सोऽहं सोऽहं सुखवान् दुःखवानहमित्यादिप्रतीतेः, यच्च ' विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य ' इत्याद्युक्तं तेनाप्यात्मसत्ता प्रतीयत एव, तथाहि- विज्ञानघनो ' प्रतिप्रदेशमात्मनोऽनन्तज्ञानपर्यायभवत्वाद्विज्ञानघन आत्मा ' एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थायेति प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाकारसमपरिणामं प्रति कायाकारपरिणतभूतानामपि कारणत्वात्तेभ्यः कायाकारात्मपर्यायतया समुत्थाय कायाकारा स्वकर्मफलमनुभूय पुनः कायविनाशे आत्माऽपि तदानीं तेनाकारेण विनश्यापर कायाकारात्मपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तदैवैतेन सह विनश्यतीति परलोके प्राक्तनी संज्ञा

न्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वस्यैवात्मन्यऽसिद्धत्वेन तत्र कल्पिते कल्पितस्यापारमार्थिकस्य सुखदुःखादिसंवेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, यथा च वेदान्तिप्रक्रिया युक्तिरिक्ता तथा प्रागेवोपदर्शितेति पुनर्ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्श्यते । बौद्धमतमाश्रित्य च "ण वेएइ" इत्यस्य यत्समर्थनं कृतं तदपि न युक्तम्, स्थिरात्मनः पूर्वमेव साधितत्वेन येनात्मना पूर्वकालावच्छेदेन यत्कर्म कृतं तस्मिन्नेवात्मनि तदुदयकाले तत्फलवेदनोपपत्तेः, मयैव यत्कृतं पुण्यपापकर्म तस्य सुखदुःखफलमहमेवानुभवामीति प्रतीतेः । ४ ॥ यच्च मीमांसकमतमाश्रित्य सर्वज्ञाभावात् 'नत्थि निव्वाणं' इति पञ्चमस्थानमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, रागादयस्सर्वथा क्षयिणः, देशतः क्षयोपलब्धेः, दिनकरकरनिकरप्रतिरोधकमेघमालावत् । तथा चोक्तम्—

"दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ १ ॥"

इत्यादिना प्राक् सर्वज्ञस्य साधितत्वात् तस्य परमशुक्लध्यानजन्याशेषकर्मक्षये सति तज्जन्यपरमानन्दरूपस्य निर्वाणस्य सिद्धेः । "यच्च यत्राप्यतिशयो दृष्टः" इत्याद्युक्तं, तदप्यज्ञानविलसितमेव, तस्येन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षयैव चरितार्थत्वात्, सर्वज्ञज्ञानं त्वतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवेति । ननु सुशिक्षितोऽपि नटोऽतिशयितव्यायामसमासादितलङ्घनातिशयो विंशतिहस्तादिविस्तीर्णां क्षुद्रनदिकां लङ्घयति, न त्वतिशयितपरिणाहाम्भागीरथ्यादिनदीमिति । यदुक्तम्—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ १ ॥" इति ।

यथा लङ्घनस्य व्यवस्थितोत्कर्षता, तथैव ज्ञानस्यापि, दृश्यते च न्यायादिशास्त्रपारंगतोऽपि व्याकरणशास्त्रविज्ञानशून्यो व्याकरणादिशास्त्रपरिनिष्ठितोऽपि न्यायादितन्त्रधियाऽस्पृष्टः, एवञ्च प्रकर्षप्राप्तमपि ज्ञानं व्यवस्थितप्रकर्षत्वान्न सर्वथा मिथ्याज्ञानमुन्मूलयितुमलम्, एवं वैराग्यादेरपि व्यवस्थित एवोत्कर्षः, अतो न रागादेरपि सर्वथा विलयो न्याय्य इति चेत्, अबोधविलसितमेतत्, यतो दृष्टान्तीकृत लङ्घनं क्रियाविशेषश्शरीरधर्मस्तत्पटुताप्रसाध्यः, पटुता च शक्तिविशेषरूपा व्यवस्थितलङ्घनानुकूलैव, कायो हि तत्तत्पूर्वोत्तरदेशविभागसंयोगार्थमेव तादृशक्रियामपेक्षते, तौ च कायस्योपादेयौ तदन्यदेशता नात्ममात्रकर्तुं प्रभविष्णू, लङ्घनमपि तदर्थमपेक्षमाण न कायान्यदेशतामवलम्बते, कायोऽपि च यावल्लङ्घयितव्यदेशप्रापकोक्तशक्तिविशेषसहकृतस्वगत्युपष्टम्भकत्वेन परिणतधर्मास्तिकायसहकृतश्च तावद्देशव्याप्त्यैव गतिविशेषलङ्घनमुत्पादयितुं प्रभुर्नान्यथा, धर्मास्तिकायश्च लोकव्याप्यपि त तं जीवं पुद्गलं प्रति तथैव तत्तत्स्वभावमव्यपेक्ष्य परिणतो, यथा कस्यचित्कुत्रचिदेव गत्युपष्टम्भको न तु सर्वस्य सर्वत्र, उक्तशक्तिविशेष एव तादृशलङ्घनप्रतिबन्धकश्लेष्मापनयनद्वारा व्यायामप्रयत्न उपोद्बलको, न त्वपूर्वलङ्घनातिशयजनकः, श्लेष्माणश्च तत्तल्लङ्घनविघातका

न द्वितीयः, ययोरेकक्षणवर्तिनोरेकाधारत्वं तयोः कार्यकारणभावाभावात्। कारणनिवेश्या धारत्वाभ्युपगमे तु शरीरबुद्ध्योरप्येकदेशत्वाऽभिमानात्कार्यकारणभावाभिमानाच्चोपादा नोपादेयभावप्रसङ्गस्स्यात्। तदेवं बौद्धमते उपादानोपादेयभावस्यासम्भवेनाऽऽत्मद्वैनोक्तं युक्त मिति पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञया पूर्वापरशरीरयोरेककर्तृकत्वसिद्धेराऽऽत्मनो नित्यत्वाभ्युपगम एव श्रेयान्। तथा बौद्धागमोऽपि नित्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्—

"इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः! ॥ १ ॥" तथा—

"कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनि गर्हणेन।
प्रकाशनात्संवरणाय तेषा-मत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि ॥ १ ॥"

इत्येवमादि। गौरवमीरयाऽपि च यदत्र मोक्ष तदात्मकृत्यमनन्तलाघवत्वविज्ञोऽव सेयम्, मविस्तरपूर्वकत्वदपि कर्मपक्षनिरासेनात्मनो नित्यत्वं बोद्धव्यम्।२। एतेन मनसा ऽऽत्मनो नित्यत्वम् तथापि न पुष्करपलाशवन्निर्लेप इति न कर्ता, प्रकृतेरेव कर्तृत्वादित्यर्थकं 'न कुणइ' इति तृतीयस्थानमपि निरस्तम् चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवेनात्मन एव कर्तृ त्वात्, तथाभ्युपगम एव य एव शुभमशुभं वा प्रवर्ति करोति स एव शुभमशुभं वा कर्म करोति स एव च सुखदुःखादिकं स्वर्गनरकादौ तत्फलमनुभवतीति प्रतीतिरप्युपपद्यते, अन्यथाऽन्यः कर्ताऽन्यश्च भोक्तेत्यसमञ्जसमापद्येतत्त्वात्। 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति पुरुषे भुक्तिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न सिध्यति, तस्या अपि क्रियात्वात्, य एव क्रियां करोति स एव तत्फलमुपभुङ्क्ते इत्यनुभवसिद्धस्य क्रियाकर्तृत्वेन भोक्तृत्वस्याभ्युपगमश्रेयान्। अथ बुद्धिप्रतिबिम्बोदयान्यथात्वेन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्ये ष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव। तथा नित्ये चापि कारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावात् परिणामित्वादिति। ननु कर्तृत्वाभावो न चेतनो ऽन्यधर्माभावत्वात् घटवदिति बाधकसद्भावाच्चेतनोऽहं करोमीति चेतन्यांशे भ्रम इति चेत्, कृत्यंशेऽपि स किं नेष्यते, तथापि बुद्धिः कर्तृत्वाभाववती अन्यत्वात् घटवदिति बाधकस्य सत्त्वात् चेतनस्य कर्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यप्रतीतावपि चेतनस्याकर्तृत्वे तस्मिन् सुख दुःखौ न स्यातामिति सुखार्थं दुःखोच्छेदार्थं च न कोऽपि प्रवर्ति कुर्यादिति निरीहं जग त्स्यात्, न च निरीहं जगदिति चेतनात्मैव कर्तेति सिद्धम् ॥ ३ ॥

वेदान्तिमतमाश्रित्य 'ण वेएइ' न वेदयते इति तुरीयं स्थानं यदुक्तं तदपि न युक्तम्, यतोऽनेकान्तस्वरूपस्य पारमार्थिकसतो निराकर्तुमशक्यत्वेन अद्वैताऽद्वितीयं सत्, अथवा कल्पितोऽविद्या दोषविषया तत्र कारणम्, अद्वैतादिप्रातिभासिकप्रपञ्चगतरूपेणावभासते, अतोऽयं सर्वं, ब्रह्मभिन्नं किञ्चित्पारमार्थिकं नास्तीत्यादिरूपाया वेदान्तिप्रक्रियाया अयुक्तत्वेना

न्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वस्यैवात्मन्यऽसिद्धत्वेन तत्र कल्पिते कल्पितस्यापारमार्थिकस्य सुखदुःखादिसंवेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, यथा च वेदान्तिप्रक्रिया युक्तिरिक्ता तथा प्रागेवोपदर्शितेति पुनर्ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्श्यते। बौद्धमतमाश्रित्य च "ण वेएइ" इत्यस्य यत्समर्थनं कृतं तदपि न युक्तम्, स्थिरात्मनः पूर्वमेव साधितत्वेन येनात्मना पूर्वकालावच्छेदेन यत्कर्म कृतं तस्मिन्नेवात्मनि तदुदयकाले तत्फलवेदनोपपत्तेः, मयैव यत्कृतं पुण्यपापकर्म तस्य सुखदुःखफलमहमेवानुभवामीति प्रतीतेः। ४॥ यच्च मीमांसकमतमाश्रित्य सर्वज्ञाभावात् 'नत्थि निव्वाणं' इति पञ्चमस्थानमुक्तम्, तदप्ययुक्तम्, रागादयस्सर्वथा क्षयिणः, देशतः क्षयोपलब्धेः, दिनकरकरनिकरप्रतिरोधकमेघमालावत्। तथा चोक्तम्—

"दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥ १॥"

इत्यादिना प्राक् सर्वज्ञस्य साधितत्वात् तस्य परमशुक्लध्यानजन्याशेषकर्मक्षये सति तज्जन्यपरमानन्दरूपस्य निर्वाणस्य सिद्धेः। "यच्च यत्राप्यतिशयो दृष्टः" इत्याद्युक्तं, तदप्यज्ञानविलसितमेव, तस्येन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षयैव चरितार्थत्वात्, सर्वज्ञज्ञानं त्वतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवेति। ननु सुशिक्षितोऽपि नटोऽतिशयितव्यायामसमासादितलङ्घनातिशयो विंशतिहस्तादिविस्तीर्णां क्षुद्रनदिकां लङ्घयति, न त्वतिशयितपरिणाहाम्भागीरथ्यादिनदीमिति। यदुक्तम्—

"दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति।
न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि॥ १॥" इति।

यथा लङ्घनस्य व्यवस्थितोत्कर्षता, तथैव ज्ञानस्यापि, दृश्यते च न्यायादिशास्त्रपारगतोऽपि व्याकरणशास्त्रविज्ञानशून्यो व्याकरणादिशास्त्रपरिनिष्ठितोऽपि न्यायादितन्त्रधियाऽस्पृष्टः, एवञ्च प्रकर्षप्राप्तमपि ज्ञानं व्यवस्थितप्रकर्षत्वान्न सर्वथा मिथ्याज्ञानमुन्मूलयितुमलम्, एवं वैराग्यादेरपि व्यवस्थित एवोत्कर्षः, अतो न रागादेरपि सर्वथा विलयो न्याय्य इति चेत्, अबोधविलसितमेतत्, यतो दृष्टान्तीकृत लङ्घनं क्रियाविशेषश्शरीरधर्मस्तत्पटुताप्रसाध्यः, पटुता च शक्तिविशेषरूपा व्यवस्थितलङ्घनानुकूलैव, कायो हि तत्तत्पूर्वोत्तरदेशविभागसंयोगार्थमेव तादृशक्रियामपेक्षते, तौ च कायस्योपादेयौ तदन्यदेशता नात्मसात्कर्तुं प्रभविष्णू, लङ्घनमपि तदर्थमपेक्षमाण न कायान्यदेशतामवलम्बते, कायोऽपि च यावल्लङ्घयितव्यदेशप्रापकोक्तशक्तिविशेषसहकृतस्वगत्युपष्टम्भकत्वेन परिणतधर्मास्तिकायसहकृतश्च तावद्देशव्याप्येव गतिविशेषलङ्घनमुत्पादयितु प्रभुर्नान्यथा, धर्मास्तिकायश्च लोकव्याप्यपि त तं जीवं पुद्गलं प्रति तथैव तत्तत्स्वभावसव्यपेक्षं परिणतो, यथा कस्यचित्कुत्रचिदेव गत्युपष्टम्भको न तु सर्वस्य सर्वत्र, उक्तशक्तिविशेष एव तादृशलङ्घनप्रतिबन्धकश्लेष्मापनयनद्वारा व्यायामप्रयत्न उपोद्बलको, न त्वपूर्वलङ्घनातिशयजनकः, श्लेष्माणश्च तत्तल्लङ्घनविघातका

भूयो भूय उत्पादयतीति न तदेकप्रयत्नेनैव निर्वर्तयितुं योग्या, यतो निष्पन्नपञ्चहस्तादि-हस्तमानलङ्घनाऽपि भूयो व्यायामाभ्यासेन नोत्तरकालं वलङ्घयति, तत्कस्य हेतोः, उभूतो ऽपि तदतिशयः पुनः श्लेष्मोपचयादभिभूत एव सम्पद्यते, अत एव युवावस्थायामनवरत व्यायामसम्पर्कशतयादिहस्तमानव्यापिलङ्घनातिशयो यावल्लङ्घयति न तावद्वृद्धावस्थायामपि स्युपलभ्यमानमुपपन्नतरम्, तत एव च द्विहस्तादिपरिच्छिन्नलङ्घनप्रयत्न एकहस्तादिमित-लङ्घनोपष्टम्भकारी, न चैकं हस्तमलङ्घयित्वैव द्विहस्तं लङ्घयति कश्चित्, द्विहस्तादिक्रमलङ्घयि त्वा त्रिहस्तादिकमिति द्विहस्तादिलङ्घनातिशये एकहस्तादिलङ्घनस्यान्तर्भावात् तत्प्रयत्नस्यु पष्टम्भक इति न्यायप्राप्त एवेति लङ्घनातिशये व्यवस्थितप्रकर्षत्वं युज्यते। एतेन ताप्यमानो दकस्य व्यवस्थितप्रकर्षवद्दृष्टान्तेन ज्ञानस्य व्यवस्थितप्रकर्षताऽपि निरस्ता, ताप्यमानस्योद कस्य प्रतिक्षणमपचयतोऽत्यन्ततापप्रकर्षे नाशस्यैवाभ्यासा तत्राभितापप्रकर्षस्य व्यवस्थित त्वस्यैव न्याय्यत्वात्, दार्ष्टान्तिके तु लङ्घनादिवज्ज्ञानस्य प्राप्यकारित्वेनार्थक्रियाकारित्वा भावेन यथाद्विपयावच्छेदेन स्वप्रतिबन्धकावरणापगमस्तथाद्विषयप्रकाशकत्वं तयोऽप्यपगमा दीनां च प्रतिबन्धकापगम एव व्यापारः, न स्वपूर्वज्ञानोत्पादन, भीरुभावभाविनो ज्ञानस्य पूर्वस्याभावात्, सर्वथा प्रतिबन्धकापगमे च यावद्वस्तुपरिच्छेदिज्ञानमाविर्भवत्येव, न च ज्ञानस्य प्रतिनियतज्ञेयपरिच्छेदकत्वमेव स्वभावो न तु यावद्वस्तुपरिच्छेदकत्वमित्यत्र मानं, स्वपरिच्छेदकत्वेनाभिमतादन्यस्यापरिच्छेदकत्वे च नावरणं प्रतिबन्धकम्, तस्यापि तद्विषय एव व्यवस्थितरूपत्वात्, नापाद्यत्वं, परिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकत्वस्य स्वापेन वस्तुत्व एव कल्पनीयत्वात्, तत्तज्ज्ञानपरिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकप्रतिनियततद्विषयधर्मगतानेक मुगतधर्माणां कल्पने महागौरवात्। न च लङ्घनप्रयत्नाभ्यासवदुत्तरोत्तरज्ञानजनकाभ्या सादेः पूर्वपूर्वज्ञानव्यवस्थितो व्यापारः। तत्र हि उत्तरोत्तरलङ्घनस्य पूर्वपूर्वलङ्घननियतत्वम्, न चैवं प्रकृते, व्याकरणादिशास्त्रज्ञानस्य न्यायादिशास्त्रज्ञानतो भिन्नविषयत्वेन नियत त्वाभावात् अत एव श्रुतविस्मरणादिदोषदुष्टस्य पुंसः व्याकरणादिशास्त्रमधीत्य न्यायादिशा स्त्रमभ्यस्तुमुत्तराध्ययनकाले पूर्वस्य विस्मरणमपि सङ्गच्छते, अन्यथा द्विहस्तादिलङ्घनाभ्यासे एकहस्तादिलङ्घनानुवृत्तिवद्व्याकरणाद्यनुवृत्तिरेव स्यात्, न तु विस्मरण, पूर्वजन्माभ्यस्त लङ्घनातिशयः शरीरनिष्ठत्वात् यथा जन्मान्तरमनुगच्छति न तथा ज्ञानातिशयः, तथा सति एकत्र पात्रेऽस्पृश्यमानप्रवेशो वस्तुः पित्रादिभिर्भाषान्तरे अभ्यस्यमानतद्गतातिशय कथं गच्छेत्, तस्मिन् न जन्मयोरपि ज्ञानयोर्स्त्व प्रत्यभिज्ञेयात्। तस्मात् यदि ज्ञाने यत्न पूर्वत्र जन्मन्यधीते तस्य तद्विषयकसंस्कारोऽनुवर्तते इत्युत्तरजन्मनि तत्र झटिति प्रवेशो मात्यश्रत्यन्तरजन्मन्यनभ्यस्तमिश्रमिश्रशास्त्रार्थविषयकसंस्कारेभ्यस्त्वहुर्लभ्योऽपि प्रभूताति प्रभूतविषयकज्ञानानामानुत्पत्तिप्रसक्तीति न तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता युक्तिमती। तथा ज्ञानस्य भीरुस्वभावत्वेन न प्रकर्षगमनेऽप्याभवनाय इति न ताप्यमानोदकेन समानो

योगक्षेमाविति। सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षस्य विषयाः प्रमेयत्वात् घटादिवदित्यनुमानं च तत्र प्रमाणम्। अथात्र सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानविषयत्वं साध्यते? किं वा प्रतिनियत-प्रतिभासकभिन्नभिन्नप्रत्यक्षविषयत्वम्?, तत्र नाद्यः, घटादिषु प्रमेयत्वहेतोर्नियतावगाह्यनेक-प्रत्यक्षविषयत्वव्याप्ततयैवोपलभ्यमानत्वेन हेतोर्विरोधाघ्रातत्वात्, साध्यविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य। नापि द्वितीयः, अर्थान्तरत्वापत्तेः। एवमशेषज्ञेयावलम्बिप्रमाणविषयत्वमुत तत्तद्विषयकप्रमितिविषयत्वं किं वाऽन्यल्लक्षणं प्रमेयत्वं हेतुत्वेनोपन्यस्यते?–तत्राद्यस्तु विवाद-गोचरीभूतेषु प्रत्येकरूपेण तस्याऽसम्भवेन भागासिद्धिप्रसङ्गतोऽसम्भवी, सम्भवे वा तत एव साध्यसिद्धेरनर्थकमनुमानोपन्यसनम्, दृष्टान्ते च तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्याप्यप्रसिद्धे-रसिद्धान्वयश्च हेतुः। द्वितीयपक्षोऽप्यसङ्गत एव, पक्षान्तर्गतेष्वतीन्द्रियेषु तस्यासम्भवेन भागासिद्धत्वात्, अन्त्योऽप्यसिद्ध एव, तादृशस्य प्रामाणिकैरनभ्युपगमादिति न च प्रेर्यम्, सकलानुमानस्यैवमेवोच्छेदप्रसङ्गात्, तथा हि, पर्वतो वह्निमानित्यत्रापि कृशानुः प्रतिनियतो किं वा पक्षदृष्टान्तोभयवृत्तित्वविशिष्टस्साध्यते, तत्राद्ये यदि महानसधर्मिकस्तदा तद्व्याप्य धूमः पक्षेऽभावात्स्वरूपासिद्धः, पर्वतधर्मिकस्तदा धूमस्तद्व्याप्यतयाऽगृहीतत्वाद् व्याप्य-त्वासिद्धः। न द्वितीयोऽपि, कस्यापि वह्नेरुक्तोभयवृत्तित्वाभावात्। एवं धूमहेतावप्येवमेव कक्षाद्वयी, तत्राद्यस्साध्यधर्मिधर्मो दृष्टान्तेऽनन्वयी, दृष्टान्तधर्मिकश्च स्वरूपासिद्ध इत्यसम्भवी। द्वितीयोऽप्यसिद्धः, कस्यापि धूमस्योभयवृत्तित्वासम्भवात्। अथ नैवं सविशेषणौ साध्य हेतू क्रियेते, किन्तु निर्विशेषणौ सामान्यरूपावेवेति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि कथं नैवं विचार-पद्धतिशरणं क्रियते। न च वाच्यं धूमत्वावच्छिन्नस्य वह्नित्वावच्छिन्नजन्यत्वेन तयोः कार्य कारणभाववतः कार्येण कारणानुमानं प्रमाणमात्रमवलम्बते, अत्र तु कार्यलिङ्गस्यैवाभावतो नोक्तसिद्धिरिति, ग्रहोपरागमन्त्रौषधिशक्त्यादितथाविधफलप्रसाधकातीन्द्रियगोचरवचन-विशेषः तत्साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकस्तद्विषयाविसंवादिलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचन विशेषत्वाद् अस्मदादिप्रवर्त्तिततथाभूतवचनविशेषवदित्यनेन तथाभूतवचनविशेषात्मककार्यलिङ्ग-स्यापि तत्प्रसाधकस्य सद्भावात्, इदञ्च प्रागेव निवेचितमिति नेह विविच्यते, तदेवं सिद्धः सर्वज्ञः, सिद्धे च तस्मिन् परमशुक्लध्यानेनावशिष्टभवोपग्राहिकर्मणि निश्शेषतः क्षीणे तस्य मुक्त्यवाप्तिरित्यस्त्येव निर्वाणमिति सिद्धम् 'अग्निहोत्रं जरामर्यं वा कुर्यात्' इति श्रुतावपि विकल्पार्थक 'वा' शब्देन मोक्षार्थिनां मोक्षसाधकक्रियाकालोऽपि प्रदर्शित एवेति। अधिकञ्च प्रथमगाथाविवृतावेवोक्तमिति नेह विस्तार्यते ॥५॥ एतेन 'नत्थि य मोक्खोवाओ' सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावात्, स्वभावाद्वा भावादित्यनुपायवादिमतात्मकं षष्ठं मिथ्यात्व-स्थानमपि निरस्तम्, अकस्माद्भवतीत्यत्र यदा किं शब्दो हेतुपरस्तदा तस्य नञाऽभि-सम्बन्धाद्धेत्वभावे सति भवतीत्यर्थो लभ्यते, यदा तु भवनक्रियाया नञा सम्बन्धस्तदा

प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थो सम्पन्न, किमन्यसमक्षमाननापि मया सह भवतीत्यस्यान्वयात् । तथा चाकस्माद्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः । यद्वा अकस्माद्भवतीत्यस्य स्वस्माद्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे स्वतया स्वभावादेव कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन कालमयादापरिच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात् । यदुक्तं—

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति ।

न द्वितीयोऽपि पक्षःसङ्गतः, भवनप्रतिषेधे प्रागभावादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न तृतीयोऽपि, यतस्स्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स्वं स्यात्तदा नियतकालीनकार्योत्पत्तौ हेतुस्स्यात्, न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्वं न सम्भवतीति भावः । न चतुर्थोऽपि, अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रायस्त्वनुपाख्यस्यानुपाख्यतया भावात्तत्र कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तौ सदातनत्वं स्यात् । नापि पञ्चमः, स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः । किं स्वस्य भावः स्वभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्वधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा च न युक्ता, स्वधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्वधर्मस्यैवाभावात्, आश्रयाभावे आश्रिता नुपपत्तेः, न च द्वितीयोऽपि, पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकवस्तुन्यसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वमपरं च भवितुमर्हतीति, यदेव पञ्चविकल्पमध्ये पक्षोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावस्याभावापातात्, तस्याभावे च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, यदुक्तं कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येण—

" हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वतः ॥ १ ॥ " इति ।

तदेवमेकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यपि मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम् ।६। तस्मादभ्युपगतमेवदेकान्तरूपतया षडप्येतानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नैतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि किन्तूक्तविपरीतान्यप्येकान्तवादे तथेत्याह—

अत्थि अविणासधम्मी, करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं ।
अत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाई ॥ ५५ ॥

'अत्थि' अस्त्यात्मेत्येकं स्थानम् 'अविणासधम्मी' अविनाशधर्मा इति द्वितीयस्थानम्,

'अविणासधम्मी' इत्यपि मुद्रितसम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः 'करेइ' करोतीति तृतीयं 'वेएइ' वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मा कर्त्ता-भोक्ता चास्तीत्यर्थः, 'अत्थि निव्वाणं' अस्ति निर्वाणमिति पञ्चमम्, 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' एतानि षड् मिथ्यात्वस्य तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणस्य स्थानानि। तत्र 'अत्थि' अस्त्यात्मेति पक्षः चार्वाकभिन्नात्मवादिनाम्, 'अविणासधम्मी' अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकसाङ्ख्यमीमांसाकादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम्। 'करेइ' करोतीति मतमात्मनिष्ठकर्मादिकर्तृत्ववादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम् 'वेएइ' वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफलं सुखदुःखमनुभवतीत्यभ्युपगमस्तेषामेव। 'अत्थि निव्वाणं' अस्ति निर्वाणमिति 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वय नास्तिकमीमांसकव्यतिरिक्तानां 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' एतानि षड् आत्मत्वस्वस्वरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया कर्मकर्त्ता तत्फलभोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकर्त्ता अभोक्ता चेत्यादिस्याद्वादमुद्रामुद्रणरहितानि मिथ्यात्वाधारतां भजन्ते। एतद्विवेचनमनेकधा पूर्वमुक्तमिति नोच्यते, चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं' इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्त्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसंवादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य "षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि" इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिश्चैवम्–एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षट् सम्यक्स्थानान्यपि भवन्ति, अस्त्यात्मा, नित्यः, कर्त्ता, साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारणं रत्नत्रयसाम्राज्यमिति। तदिदमुक्तम्—

" अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाणं।
अत्थि धुवं निव्वाणं, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा॥ १॥" इति॥ ५५॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्यैवाविसंवाद्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणव्याप्तिमद्धेतोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वा एकान्तसाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानवताराददिति प्रतिपिपादयिषुस्सूरिराह—

साहम्मओ व्व अत्थं, साहेज्ज परो विहम्मओ वावि।
अन्नोन्नं पडिकुट्ठा, दोण्ण वि एए असव्वाया॥ ५६॥

"साहम्मओ व अत्थं साहेज्ज परो" साधर्म्यतो वा अर्थं साधयेत् परः, समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः साधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततोऽर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं साधयेत् परः एकान्तनयवादी, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मिणि विवक्षित साध्यं यदि वैशेषिकादिः साधयेत्, यद्वा समानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा, सधर्मणो

प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थो सम्पन्नः, किमन्त्यमसमासमपि नञा सह भवतीत्यस्यान्व याद् । तथा चाकस्माद्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः । यद्वा अकस्माद्भवतीत्यस्य स्वस्माद्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे स्वतया स्वभावादेव कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिषेधे भवन-स्यानपेक्षत्वेन कालत्रयावच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात् । यदुक्तं—

> " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
> अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ " इति ।

न द्वितीयोऽपि पक्षस्सङ्गतः, भवनप्रतिषेधे प्राक्पश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न तृतीयोऽपि, यतस्स्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स स्यात्तदा नियतकालीनकार्योत्पत्तौ हेतुस्स्यात्, न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्वं न सम्भवतीति भावः । न चतुर्थोऽपि, अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रामाण्यमुपाख्य स्यादनुपाख्यतया भावात्तः कार्यस्य सततप्रसक्तौ सदातनत्वं स्यात् । नापि पञ्चमः, स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः । किं स्वस्य भावः स्वभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्वधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा च न युक्ता, स्वधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्वधर्मस्यैवाभावात्, धर्म्यभावे धर्मिता नुपपत्तेः, न च द्वितीयोऽपि पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकवस्तु न्यसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वमुत्तरं च भवितुमर्हतीति, तदेव पञ्चविकल्पमध्ये एकोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा कादाचित्कत्वस्वभावव्याघातापातात्, तस्याभाव्ये च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, यदुक्तं कुसुमाञ्जलावुदयनाचार्येण—

> ' हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
> स्वभाववर्णना नैव—मवधेर्नियतत्वतः ॥ १ ॥ " इति ।

तदेवमकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरस्सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रात्मको मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम् ।५। तस्मात्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्ये-तानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नैतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि किन्तूक्तविपरीतान्यप्येकान्तवादे तथेत्याह—

> अत्थि अविणासधम्मी, करेइ वेएइ अत्थि निव्वाणं ।
> अत्थि य मोक्खोवाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५५ ॥

' अस्ति ' अस्त्यात्मेत्येकं स्थानम् अविनाशधर्मा ' अविनाशधर्म इति द्वितीयस्थानम्,

'अविणामधम्मी' इत्यपि मुद्रितसम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः 'करेइ' करोतीति तृतीयं 'वेएइ' वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मा कर्त्ता-भोक्ता चास्तीत्यर्थः, 'अत्थि निव्वाणं' अस्ति निर्वाणमिति पञ्चमम्, 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं' एतानि षड् मिथ्यात्वस्य तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणस्य स्थानानि। तत्र 'अत्थि' अस्त्यात्मेति पक्षः चार्वाकभिन्नात्मवादिनाम्, 'अविणामधम्मी' अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकसाङ्ख्यमीमांसाकादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम्। 'करेइ' करोतीति मतमात्मनिष्ठकर्मादिकर्तृत्ववादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम् 'वेएइ' वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफलं सुखदुःखमनुभवतीत्यभ्युपगमस्तेषामेव। 'अत्थि निव्वाणं' अस्ति निर्वाणमिति 'अत्थि य मोक्खोवाओ' अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वयं नास्तिकमीमांसकव्यतिरिक्तानां 'छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइ' एतानि षड् आत्मत्वस्वरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया कर्मकर्त्ता तत्फलभोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकर्त्ता अभोक्ता चेत्यादिस्याद्वादमुद्रामुद्रणरहितानि मिथ्यात्वाधारतां भजन्ते। एतद्विवेचनमनेकधा पूर्वमुक्तमिति नोच्यते, चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं' इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्त्तमाना एते षड् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसंवादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य "षडेतद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि" इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिश्चैवम्–एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यो विपरीतानि षड् सम्यक्स्थानान्यपि भवन्ति, अस्त्यात्मा, नित्यः, कर्त्ता, साक्षाद्भोक्ता, अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारणं रत्नत्रयसाम्राज्यमिति। तदिदमुक्तम्—

> " अत्थि जिओ तह णिच्चो, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाणं।
> अत्थि धुवं निव्वाणं, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा॥ १॥" इति॥ ५५॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्यैवाविसंवाद्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणव्याप्तिमद्धेतोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वा एकान्तसाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानवतारादिति प्रतिपिपादयिषुस्सूरिराह—

> साहम्मओ व्व अत्थं, साहेज्ज परो विहम्मओ वावि।
> अन्नोन्नं पडिकुट्ठा, दोण्ण वि एए असव्वाया॥ ५६॥

"साहम्मओ व अत्थं साहेज परो" साधर्म्यतो वा अर्थं साधयेत् परः, समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितः साधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततोऽर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं साधयेत् परः एकान्तनयवादी, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादिः साधयेत्, यद्वा समानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा, सधर्मणो

भावः साधर्म्यं, तस्मात्, साध्येन सह हेतोरन्वयव्याप्तिर्गृहीता यत्र तल्लक्षणसाधर्म्यदृष्टान्त द्वाराऽन्वयिहेतोरित्यर्थः, अयं साध्यधर्मिणि विवक्षित साध्यं यदि परो वैशेषिकादिः साधयेत् तदा अयं श्यामः तत्पुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यनुमाने तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्, अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात् । " विदम्मओ वा वि " वैधर्म्याद् विगतलक्षणामूतः साधनधर्मो यस्मादसौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, तस्माद् व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृत साध्यं साधयेत् । यद्वा विसदृशो धर्मो यस्य स विधर्मा विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्, तस्मात्, अर्थात् साधनाभावेन सह साध्याभावस्य व्याप्तिर्यत्र गृह्यते यत्र तल्लक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तद्वारा व्यतिरेकिहेतो र्यदि साध्यं साधयेत्, भावाभावयोः वाक्यद्वयस्य समुच्चयार्थत्वात् वाक्यद्वयस्य विकल्पार्थत्वे त्वपि उभयस्य समुच्चयार्थत्वादुभाभ्यां वा, तथापि तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः, श्यामत्वा-भावे तत्पुत्रत्वादेरन्यत्र गौरपुत्रेऽभावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने अत एव भाव्यसिद्धि प्रसक्तिस्स्यात् । ' अथोर्ध पतिकृता दोष्यपि एव असदाया " अन्योन्यं प्रतिकुष्टौ द्वावपि एतावसद्वादौ । अयम्भावः—परः साध्यं साधयन् न तावत्सामान्यं साधयेत्, केवलस्य तस्य वह्नित्वाद्यवस्थयोस्तादेर्दहनपेयपचनदोहनाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावेनाप्रयोजकतया प्राक् प्रति पादितत्वात् । नाऽपि विशेषम्, प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपत्वेन तस्याननुगतत्वेन व्याप्तिग्रहाभावेन साधयितुमशक्यत्वात् । न च विशेषरूपयोस्साध्यहेत्वोरसर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहाभावेऽपि सामान्यरूपेणानुगतत्वात् समवायसम्बन्धेन तद्विशिष्टयोस्तयोस्स सम्भवस्येवेति वाच्यम्, समवायस्य पूर्वं निषिद्धत्वेन तेन सम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वाऽसिद्धेः, "पर्वतो वह्निमान् धूमा दावतिप्रसङ्गश्च " अयमाशयः—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमानित्येवं सामान्यरूपेणा न्वयव्याप्तेस्सद्भावेन धूमाद्धेतोर्वह्निविशेषेणेव सामान्यतो वह्नित्वाक्रान्तवह्नित्वेनापि वह्नेस्सिद्धि प्रसङ्गस्स्यात्, न चेतापत्तिरिति वाच्यम्, धूमवह्न्योर्धूमत्वेन वह्नित्वेन वा कार्यकारणभाव स्वीकारेण तयोरन्वयव्याप्तिग्रहक्रमेण वह्न्यनुमानं युक्तम्, यद्यपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निमानिति व्याप्तिस्सम्भवति परं सा न कार्यकारणभावमूलिका, न हि धूमत्वावच्छिन्न म्प्रति वह्नित्वावच्छिन्नस्य यत्कारणत्वं तज्जातित्वावच्छिन्नवह्नित्वनिष्ठावच्छेदकत्वानिरूपितं किन्तु निरवच्छिन्नवह्नित्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितमेवेति तद् धूमत्वेन धूमहेतुना निरवच्छि-न्नवह्नित्वेन वह्नेरेवानुमानेऽन्वयव्याप्तिग्राहकतयोपयुक्तमितीतरापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यु भयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः, नाप्यनुभयम्, तस्याऽसतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वाऽयोगात्, तदेवमन्योन्यं प्रतिकुष्टौ प्रतिषिद्धौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्तावसद्वादाविति सिद्धम्, इतरनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव साधयितुमशक्यत्वात् । अत्राह नैयायिकः—अव्यभि चारिकसम्बन्धो व्याप्तिरिति तत्पुत्रत्वादौ शाकपाकजत्वस्य साध्यव्यापकत्वे सति साधना व्यापकत्वरूपोपाधित्वेन सोपाधिकत्वेनाव्यभिचारित्वाभावादुक्तहेतुव्याप्यत्वासिद्धः, यस्मिन्न हेतौ व्याप्यत्वासिद्धिस्तत्र व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारित्वनियमात् व्यभिचार

दोषोऽपि, अत एव सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावेन पञ्चरूपाऽभावान्नास्य गमकत्वमिति चेत्, तर्ह्यन्यथाऽनुपपन्नत्वनिश्चयाभावादेवागमकत्वं तत्पुत्रत्वहेतोरुक्तं स्यादिति निश्चिताऽन्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वमस्तु। एतेन रूपत्रयवादी बौद्धोऽपि तत्पुत्रत्वहेतौ विपक्षे असत्त्वं निश्चितं नास्ति, न हि श्यामत्वाऽसत्त्वे तत्पुत्रत्वेनावश्यं निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति वदन् निरस्तः। निश्चितान्यथानुपपन्नत्वमात्रस्यैकरूपस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेस्त्रैरूप्यस्यापि पञ्चरूपत्वस्येवाऽकिञ्चित्करत्वात् "तदेवं अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति" न्यायबिन्दुद्वितीयपरिच्छेदसूत्रोक्तानुपलब्धिस्वभावकार्यभेदभिन्नहेतुत्रयेषु "उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः"। ३४। "तथा वैधर्म्यात्" ३५ इति प्रथमाध्यायप्रथमाह्निकचतुस्त्रिंशत्पञ्चत्रिंशन्न्यायसूत्रोक्तान्वयिव्यतिरेक्यन्वयिव्यतिरेक्यात्मकहेतुत्रयेषु च "अस्येदं कार्यं कारणं संयोगिविरोधिसमवायि चेति" ९-२-१ इति वैशेषिकसूत्रनवमाध्यायद्वितीयाह्निकप्रथमसूत्रोक्तकार्यकारणसंयोगिविरोधिसमवायिरूपेषु हेतुभेदेषु च एवमन्यवाद्युक्तसकलहेतुभेदेषु प्रवर्तमानस्य सद्धेतुरूपलक्ष्यव्यापिनः सर्वस्माच्चालक्ष्यादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्य निश्चितान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वं युक्तिसिद्धमभ्युपगन्तव्यम्, तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किञ्चित्कस्यचिल्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत, तदुक्तं प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कारे—

"निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः॥ ३। ११।
न तु त्रिलक्षणकादिरिति। ३। १२।
तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवादिति। ३। १३।"

अत्र बौद्धाः प्राहुः–ननु निश्चितसाध्याविनाभूतहेतावेवान्यथाऽनुपपन्नत्वं रूपम्, तत्र पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वात्मकरूपत्रयमप्यस्त्येवेति तद्वत्त्वमेव हेतुलक्षणमस्तु, यतः पक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणाऽघटकत्वे शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवदित्यत्र शब्दरूपपक्षे चाक्षुषत्वहेतोरभावात्स हेतुस्स्वरूपाऽसिद्धोऽपि सपक्षे घटादौ वर्तते विपक्षे च शशशृङ्गादौ न वर्तत इति तस्य सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वद्वयरूपसद्भावात्सद्धेतुत्वापत्त्या तज्ज्ञानेनानुमित्यापत्तिस्स्यात्, न च सा भवतीत्यसिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं पक्षधर्मत्वं गमकताङ्गमभ्युपगन्तव्यम्, सपक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणाघटकत्वे च विरुद्धत्वव्युदासाऽसम्भवेन शब्दो नित्यः कृतकत्वादित्यत्र नित्यत्वसाध्याभावव्याप्यतया विरुद्धेनाऽपि कृतकत्वहेतुना साध्यानुमितिस्स्यात्, न च सा भवतीति विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थं सपक्षसत्त्वमप्यभ्युपगन्तव्यम्। विपक्षासत्त्वस्य हेतुलक्षणघटकत्वाऽभावे ह्रदो वह्निमान् प्रमेयत्वादित्यत्रानैकान्तिकत्वव्युदासस्याऽसम्भवेन व्यभिचारिणः प्रमेयत्वहेतोः पक्षे ह्रदे सपक्षे च महानसादौ सत्त्वेन पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वरूपद्वयविशिष्टेन तेन हेतुना ज्ञातेनानुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति तत्रानैकान्तिकत्वव्यवच्छेदार्थं विपक्षा-

ऽसत्त्वरूपमप्यभ्युपगन्तव्यमिति पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयमेव सर्वस्मिन् हेतावस्तीति यदेव लक्षणमभ्युपगन्तव्यमिति चेत्, अस्तु, न च नियमेनानुमित्युपयुक्तं तत्, निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वात्मकनियतैकरूपमात्रेणाप्यनुमित्युपपत्तेरिति तल्लक्षणमकिञ्चित्करम्, अत एव पात्रस्वामिनाऽप्येवमुक्तम्—

" अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम्? ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्? ॥ १ ॥ " इति ।

किञ्च न खलु कृत्तिकोदयाच्छकटोदयानुमाने पक्षधर्मता सम्भवति, अथ कालाकाशादि भविष्यच्छकटोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालाकाशादिवदितीत्थमत्र पक्षधर्मताऽभिधीयते इति चेत्, तर्हि न कश्चिदपक्षधर्मको हेतुः स्यात्, काककार्ष्ण्यादेरपि प्रासादधावल्यादौ साध्ये जगतो धर्मित्वेन पक्षधर्मत्वस्य कर्तुं शक्यत्वात् । तथाहि जगत् प्रासादधावल्ययोगि काककार्ष्ण्ययोगित्वात् । तन्न नियमेन पक्षधर्मत्वं साध्यगमकताङ्गम्, अत एव महोऽप्याह—

" पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥
नदीपूरोऽप्यधो देशे, दृष्टः सन्नुपरिस्थिताम् ।
नियम्यो गमयत्येव, वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥ २ ॥ " इति ।

ननु हेतोर्लक्षणद्वयम्, एकं व्याप्तिरूपम्, द्वितीयञ्च पक्षधर्मतारूपम्, तत्राद्यलक्षणेनानुमितौ नियतसाध्यस्य भानम्, द्वितीयलक्षणेन पक्षस्य तत्र भानमिति, यदि पक्षधर्मताऽङ्गं नाङ्गी क्रियते तदाऽनुमितौ कथं पक्षभानं नियमेन स्यादिति चेत्, उच्यते, अनुमितौ पक्षधर्मत्व स्याभावेऽपि यत्सम्बन्धेन हेतोस्साध्यं विनाऽनुपपत्तिः प्रतिसन्धीयते तस्य धर्मिणोऽनुमितौ धर्मितया भानमित्येवं प्रतिनियतधर्मिभान निर्वाहस्येव, यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, अत्र नहि समुद्रादिदेशान्तरवर्ति चन्द्रं विना जलचन्द्रोऽनुपपन्नः, किन्तु नभसि चन्द्रं विनैवेति नभ एव बिम्बभूतचन्द्रानुमितौ धर्मितया भासते, यद्वा पक्षसिद्धि हेतोर्धर्मत्वं पक्षधर्मताऽऽधारात्मकं साध्यानुमितिं जनयितुमलं तस्य धर्मिणोऽनुमितौ धर्मितया भानम्, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यत्र, अत्र नहि सम्पदेशस्थितो धूमो गृहीतस्सन् व्याप्तिग्रहणदेशातिरिक्तदेशस्थितवह्न्यनुमितिं जनयितुं समर्थः, किन्तु यस्मिन् देशे गृहीतस्तत्र अनुमितिं जनयति स एव देशोऽनुमितौ धर्मितया भासत इति । न चान्यथाऽनुपपन्नत्वलक्षणस्याप्यवच्छेदकत्वेन पर्वतस्यानुमितौ कथं न भानमिति वाच्यम्, सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहे धूमाधिकरणमात्रानुगामिनः पर्वतस्य विशिष्यप्रतिभासनेनाव च्छेदकत्वाऽसम्भवादिति । एतत्प्रकारेण सपक्षसत्त्वं विपक्षासत्त्वमपि च साध्यगमकताङ्गं

ज्ञेयम्, सर्वमनेकान्तात्मकं उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः, सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सपक्षविपक्षाभावात् सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाभावेऽप्यनुमित्युपपत्तेः। ननु सपक्षसत्त्वस्य साध्यगमकतानङ्गत्वे तेन साध्यवदसत्त्वलक्षणविरोधदोषाऽव्युदासाद्विरुद्धेनापि हेतुना, एवं विपक्षासत्त्वस्य तदनङ्गत्वे तेन साध्याभाववद्वृत्तित्वलक्षणव्यभिचारदोषाऽव्युदासाद्व्यभिचारिणाऽपि हेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति न च वाच्यम्, निश्चितान्यथानुपपन्नत्वलक्षणत्वादेव हेतोर्विरुद्धत्वादिदोषपरिहारसिद्धेः, न ह्यसिद्धविरुद्धादिषु हेत्वाभासेषु निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिस्सम्भवतीति न विरुद्धादिहेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिप्रसङ्ग इति निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिरेव लक्षण हेतोरभ्युपगन्तव्यमिति। अत्र नैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते, बौद्धाभ्युपगतं त्रैरूप्यं हेतोर्लक्षणं मा भूत्, एतानि सहकारफलानि पक्वानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलवदित्यादावामताग्राहिप्रत्यक्षबाधितविषये, अयं देवदत्तो मूर्खः चैत्रपुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यादौ अयं देवदत्तो मूर्खो न भवति विविधशास्त्रव्याख्यानादिकलाकौशलशालित्वात् प्रतिपन्नप्राज्ञपुरुषवदिति प्रतिपक्षानुमानेन सत्प्रतिपक्षितेऽपि च हेतावस्य सम्भवात्, पञ्चरूपत्वं तु हेतुलक्षणं भवत्येव, निर्दोषत्वात्, तथाहि यस्य पक्षधर्मता नास्त्यसावसिद्धो हेत्वाभासः, यथा शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवदिति, सपक्षे सत्त्वं यस्य नास्ति स विरुद्धः, यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति, यस्य विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्यसावनैकान्तिकः यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् शब्दो नित्यः प्रमेयत्वाद्वेति, यस्याबाधितविषयत्व नास्ति स कालात्ययापदिष्टः, यथा वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति प्रत्यक्षबाधितविषयः, ब्राह्मणेन जैनेन वा सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरवदित्यागमबाधितविषयः, अतः स हेतुः कालात्ययापदिष्टः, यस्य निष्प्रतिपक्षता नास्ति स प्रकरणसमः, यथा शब्दोऽनित्यः नित्यधर्माऽनुपलब्धेर्घटवत्, शब्दो नित्योऽनित्यधर्माऽनुपलब्धेः आकाशवदिति। तथा च पञ्चरूपाणि यस्मिन् हेतौ स एव निर्दुष्ट इति ज्ञातस्सन् व्याप्तिस्मृतिद्वाराऽनुमित्युत्पादक इति पञ्चरूपत्वमेव हेतुलक्षणमभ्युपगन्तव्यम्। यथोक्तं जयन्तेन—

" पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद्, गृहीतान्नियमस्मृतेः।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञान-मनुमानं प्रचक्षते ॥ १ ॥ " इति।

अत्रोच्यते प्रतिविधानम्-हेतोः पञ्चरूपत्वं लक्षणं न युक्तम्, त्रैरूप्यवत्तस्यापि हेत्वाभासेऽपि भावात्। यतोऽग्निजन्योऽयं धूमः सत्त्वात्, पूर्वोपलब्धधूमवदित्यत्र अग्निजन्यत्वाभाववति घटे सत्त्वहेतोर्विद्यमानत्वेन व्यभिचारदोषाक्रान्ततया हेत्वाभासरूपेऽपि तस्मिन् हेतौ पक्षधर्मत्वं तावदस्ति, पक्षीभूते धूमे सत्त्वहेतोरसंदिग्धत्वात्, सपक्षसत्त्वमपि तत्र विद्यते, पूर्वदृष्टे धूमेऽग्निजन्यत्वेन निश्चिते सत्त्वहेतोस्सद्भावात्, विपक्षाऽसत्त्वमपि तत्र विद्यते खरविषाणादौ साध्याभावे साधनस्य सत्त्वस्याभावनिश्चयात्। अबाधितविषयत्वमप्यत्रास्ति,

विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य बाधकाभावात्, विवादापन्नो धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्तर्हि धूमार्थी वह्न्यानयनार्थं नैव प्रवर्तेत, प्रवर्तते च तदर्थी तस्माद् धूमो वह्निजन्य इति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य सिद्धेः। एवमसत्प्रतिपक्षत्वमपि, अनधि जन्यत्वसाधकस्यानुमानस्यात्राऽसम्भवादिति सिद्धं हेत्वाभासेऽपि सम्यग्घेतौ पञ्चरूपत्वम्, तथा चाऽऽत्मन्ये सम्यग्घेत्वनुपलक्षणमनादृत्याभ्यायाँ तल्लक्षणं न समीचीनतामञ्चति। सामस्त्येन व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चयस्यात्राभावात् सम्यग्घेत्वासिद्धं पञ्चरूपत्वमिति चेत्, न, तस्य निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वरूपत्वेन तद्भावे शेषरूपाणामकिञ्चित्करत्वापत्तेस्तदेकलक्षणस्यैव पञ्चलक्षणत्वस्याभ्युपगमेन साध्यत्वात्, यत्पुनरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोरभावादेव हेत्वाभासत्वमुक्तत्वाद्धेतोरगमकत्वमभाणि, तत्राप्यन्यथानुपपन्नत्वाभाव एव निमित्तम्, न पुनरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वयोरभावः। तयोः सतोरप्यगमकत्वस्यानन्तरमेव दर्शित त्वात्। किञ्चाबाधितविषयत्वस्य तावन्निश्चितस्यैव हेत्वङ्गत्वमङ्गीकार्यम्, अन्यथा पक्षधर्म त्वादेरप्यनिश्चितस्य हेत्वङ्गत्वमसङ्गतं स्यात्। न च तन्निश्चयः सम्भवति, तन्निश्चयसाध्य निश्चययोः परस्पराश्रयणात्। सति हि बाधाभावनिश्चये हेतोः साध्यनिश्चयः, तन्निश्चयाच्च बाधाभावनिश्चय इति न तयोरन्यतरस्य सिद्धिः। यच्चान्यतः कुतश्चिद् बाधाऽभावनिश्च यात् परस्पराश्रयपरिहारप्रतिपादनं क्रियते, तदपि न मनोरमम्, यतस्तन्निश्चायकमनुपलम्भः संवादो वा स्यात् न तावदनुपलम्भः, सर्वसम्बन्धिनस्तस्याऽसिद्धेः, आत्मसम्बन्धिनस्त स्यानैकान्तिकत्वात्। नाऽपि संवादः, प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्याऽसिद्धेः, अनुमानोत्तरं तस्याभ्य भ्युपगमे परस्पराश्रयः, अनुमानात्प्रवृत्तौ संवादनिश्चयः, ततश्चाबाधितविषयत्वाऽवगमेऽनु मानप्रवृत्तिरिति, न चाविनाभावनिश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चयः, हेतौ पञ्चरूपयोगित्वपरि माणावपरिसमाप्तिप्रसङ्गात्, अबाधितविषयत्वाऽनिश्चयेऽविनाभावनिश्चयस्यैवाऽसम्भवात्। नन्वे वमन्यथानुपपत्तिलक्षणोऽविनाभावोऽपि हेतुलक्षणे न सम्भवति, तन्निश्चयोऽपि साध्य सद्भावनिश्चयापेक्षः, सोऽपि चाविनाभावनिश्चयाधीन इत्येवमितरेतराश्रयस्य प्रसङ्गादिति चेत्, न, अविनाभावनियमस्य हेतौ तर्काख्यप्रमाणान्तरान्निश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवका शात्, नन्वेवं तर्हि यस्मात्तर्काख्यप्रमाणादविनाभावनिश्चयो हेतौ तत एव साध्यस्यापि सिद्धे स्तत्र हेतोरकिञ्चित्करत्वमिति चेत्, न, हेतोर्देशादिविशेषावच्छिन्नस्य साध्यस्य साधनात्। तर्कप्रमाणात्तु सामान्यत एव तत्सिद्धेः। तदेकलक्षणाभावादेवाबाधितविषयत्वाद्धेत्वाभास त्वम्, किमन्यथानुपपत्त्यभावादेवेति। नाऽपि तत्पुत्रत्वादेरसत्प्रतिपक्षत्वाद्धेत्वाभासत्वम्, यतः प्रतिपक्षस्तुल्यबलोऽतुल्यबलो वा स्यात् द्वयोस्तुल्यबलत्वे बाध्यबाधकभावाऽनुपपत्तिः, अतुल्यबलत्वं त्वनयोः किं पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतमनुमानबाधजनितं वा, न तावदाद्यः पक्षो निरवद्यः, पक्षधर्मत्वादेरुभयहेतुद्वयस्याऽविशेषात्, मूर्खत्वाभावे साध्ये प्रागुक्तपाक्षा मादिकृतावशेषतच्छास्त्रस्येव मूर्खत्वे साध्ये तत्पुत्रत्वस्यापि पक्षधर्मत्वादिसम्भवात्। द्वितीय

पक्षोऽप्यसम्भाव्यः, अनुमानबाधजनिताऽतुल्यबलत्वस्याऽऽद्याप्यसिद्धेः, नहि द्वयोः पक्षधर्मत्वाद्यविशेषे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य बाधकत्वं युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्, परस्पराश्रयश्च, तथाह्यतुल्यबलत्वे सत्यनुमानबाधा, तस्यां च सत्यामतुल्यबलत्वमिति। तदेवं हेतौ पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपाग्रहं मुञ्च स्वीकुरु च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रमेकरूपम्। तदुक्तम्–

" अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम्?।
नान्यथानुपपन्नत्वं, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम्?॥ १॥" इति।

तथा च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वैकलक्षणको हेतुरिति सिद्धम्। तदन्यो हेत्वाभासः, हेतुवदाभासते इति व्युत्पत्तेर्दुष्टहेतुरिति यावत्। अत्र नैयायिकास्तल्लक्षणन्त्वेवं वदन्ति–अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयवत्त्वं दुष्टहेतुत्वम्। दोषसामान्यलक्षणन्तु–अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्, अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धकताबच्छेदकयथार्थज्ञानविषयत्वमिति यावत्, तेनोदासीनविषयस्य समूहालम्बनात्मकतादृशज्ञानविषयत्वेऽपि नातिप्रसङ्ग इति बोध्यम्। अस्यापि यद्रूपावच्छिन्नविषयकज्ञानसामान्यमनुमितिप्रतिबन्धक तद्रूपावच्छिन्नत्वं दोषत्वमित्यत्रैव तात्पर्यम्, तेन न वह्न्यभावादावतिव्याप्तिः, वह्न्यभाववत्त्वावच्छिन्नविषयकस्य 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' इति ज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि तादृशज्ञानसामान्यान्तर्गतस्य 'वह्न्यभावः' इत्याकारकज्ञानस्याऽप्रतिबन्धकत्वेन वह्न्यभावत्वादेर्यद्रूपपदेनोपादानाऽसम्भवात् जैनमते तु सद्धेतुभिन्नहेतुत्वमेव दुष्टहेतोर्लक्षणम्, अत एव जैनतर्कपरिभाषायां " सोऽयमनेकविधोऽन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरुक्तः, अतोऽन्यो हेत्वाभासः" इत्युक्तं सङ्गच्छते। स त्रिविधः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात्, तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः, स्वरूपाप्रतीतिश्च कस्यचित्पुंसो हेतोरज्ञानात्, कस्यचित् हेतुस्वरूपे सन्देहात्, कस्यचित्पुनः विपर्ययाद्भवति, असिद्धोऽपि हेत्वाभास उभयासिद्धाऽन्यतरासिद्धभेदेन द्विविधः, यो हेतुर्वादिप्रतिवाद्युभयमतेन पक्षात्मके धर्मिण्यसिद्धः स आद्यः, उभाभ्यामपि पक्षे हेत्वभावाभ्युपगमात्, यथा शब्दः परिणामी चाक्षुषत्वादिति, अत्र चाक्षुषत्वहेतुः परिणामवादिना जैनेन नैयायिकेन च प्रतिवादिना शब्दात्मके पक्षे नाभ्युपगत इति उभयासिद्धः, यश्च हेतुः पक्षे वादिप्रतिवाद्यन्यतरेणासिद्धः स द्वितीयः, यथा अचेतनास्तरवः विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादिति प्रयोगं बौद्धो जैनं प्रति कुर्यात्तदा " से बेमि इमं पि जाइधम्मयं एयं पि जाइधम्मयं, इमं पि वुड्ढिधम्मयं एयं पि वुड्ढिधम्मयं, इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं, इमं पि छिण्णं मिलाइ एयं पि छिण्णं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं,

इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं" (सू० ४७) इत्याचाराङ्गसूत्रोक्ते-तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमभ्युपगच्छत। प्रतिवादिनो जैनस्योक्तहेतुर्न सिद्ध इति प्रतिवाद्यसिद्धोऽयं हेतुः। एवं बौद्धो वैशेषिकादिकं प्रस्तुतानुमानं कुर्वाणस्तदापि "यद्यपि वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्, न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेण जीवन-मरणस्वप्नजागरणभेषजप्रयोगबीजसजातीयानुबन्धात् क्षतोपगमप्रतिक्षतोपगमादयः सम्भवन्ति, दोहदभग्नसंरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव। आगमोऽप्यस्ति—

"नर्मदातीरसम्भूताः, सरलार्जुनपादपाः।
नर्मदातोयसंस्पर्शात्, ते यान्ति परमां गतिम् ॥१॥" इत्यादि।

"श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः" इत्यादि च, इत्येवं वैशेषिकदर्शन चतुर्थाध्यायद्वितीयाह्निकस्थप्रशस्तटीकायामुक्तत्वात्तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमभ्युपगच्छतः प्रतिवादिनो वैशेषिकादेरपेक्षयोक्तहेतुर्न सिद्ध इति प्रतिवाद्यसिद्धोऽयं हेतुः। सुखादयोऽचेतना उत्पत्तिमत्त्वादित्येवं जैनं प्रति सांख्यो यद्यनुमानं विदधीत तदेकान्त सत्कार्यवादिसांख्यमते प्रागसतः सत्तालाभलक्षणोत्पत्तिमत्त्वं क्वचिदपि न सिद्धमिति सुखादिपक्षेऽप्यसिद्धमेवेति वाद्यसिद्धत्वादन्यतरासिद्धोऽयं हेतुः। साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः, अत एव जैनतर्कभाषायां साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्ध इत्युक्तं लक्षणम्, तत्र साध्यविपरीत इत्यस्य साध्यस्य तदभावेन सह परस्पराभावरूपत्वलक्षणप्रतिषेध्यप्रतिषेधकभावो विरोध इति साध्यस्य विपरीतः साध्यस्याऽभाव एवेत्यर्थः, यथा शब्दोऽपरिणामी कृतकत्वादिति, अत्राऽपरिणामित्वस्य साध्यस्याभावः परिणामित्वमेव, अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वात्, तस्य व्याप्तत्वात्कृतकत्वहेतुर्विरुद्धः। यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः, अस्यान्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यत्रैव पर्यवसानम्, यतो यस्मिन् हेतौ साध्याभाववद्वृत्तित्वं सन्दिह्यते यदा तदानीं तस्मिन् हेतौ साध्यं विनाऽनुपपत्तिनिर्णयो न भवत इत्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुः, यस्मिँश्च हेतौ तन्निर्णीयते यदा तदानीं तन्निर्णयस्य प्रतिबन्धकसत्त्वात् साध्याभाववद्वृत्तित्वात्मकव्याप्तिलक्षणाऽन्यथानुपपत्तिनिर्णयाऽसम्भवादप्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिकः, अस्य सव्यभिचार इति नामान्तरम्। स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च, आद्यो यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् आकाशवदिति, अत्र नित्यत्वसाध्यस्याऽभावोऽनित्यत्वं तद्वत्तया निश्चिते विपक्षे घटादौ प्रमेयत्वस्य हेतोर्वृत्तिर्निर्णीतेति भवति प्रमेयत्वहेतुर्निर्णीतविपक्षवृत्तिकोऽनैकान्तिकः, द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदित्येवं मीमांसकेन जैनाभ्युपगतसर्वज्ञे सर्वज्ञत्वा-भावसाधने वक्तृत्वहेतुस्सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकः, सर्वज्ञत्वाभावात्मकसाध्यस्याभावः सर्व

ज्ञत्वं वक्ति सर्वज्ञे वक्तृत्वहेतोस्सन्देहात्। एवं स श्यामो मित्रातनयत्वादित्याद्युदाहार्यम्। एतेनोक्तानुमाने शाकपाकजत्वस्य मित्रातनयत्वसाधनाव्यच्छिन्नश्यामत्वसाध्यव्यापकत्वे सति मित्रातनयत्वसाधनाऽव्यापकत्वादुपाधित्वेन तद्वत्त्वेन सोपाधिकतया मित्रातनयत्वहेतुर्व्याप्यत्वाऽसिद्ध इति नैयायिकाऽभ्युपगमोऽपि निरस्तः, मित्रातनयत्वहेतोश्श्यामत्वसाध्याभाववति विपक्षे वृत्तिस्सन्दिग्धेत्यस्यापि सन्दिग्धविपक्षवृत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यत्रैवान्तर्भावादिति। एतेनाप्रयोजकापरनामाऽकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनाभिहितो निरस्तः, सिद्धसाधनबाधितविषयभेदाभ्यां द्विविधतया व्यावर्णितस्यास्य प्रतीतनिराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्। अयम्भावः—यत्र सिद्धसाधनदोषस्तत्र साध्यस्य सिद्धत्वेन यत्र च बाधितविषयत्वं तत्र साध्यस्य निराकृतत्वेन "अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम्" ३–१४॥ इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारतृतीयपरिच्छेदचतुर्दशसूत्रोक्तलक्षणलक्षितसाध्यस्यैवाभावेन तद्विशिष्टस्य सत्पक्षस्याभावात्तत्र पक्षाभास एवेत्यतस्तदात्मकदोषाभिन्नत्वात्तदुभयदोषस्य न तदुभयभेदभिन्नोऽकिञ्चित्कराख्यश्चतुर्थो दोषोऽतिरिक्त इति। अत एव कालात्ययापदिष्टोऽपि नैयायिकादिनाऽतिरिक्तदोषतयाऽभ्युपगतो निरस्तो वेदितव्यः, साध्यसन्देहकाल एव साध्यसाधनकालस्तदत्ययस्तदतिक्रमस्तस्मिन् काले बाधितसाध्यसाधनायाऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापदिष्ट इत्यनेन बाधितविषय एवोक्तो भवति, तस्य पूर्वोक्तरीत्या निराकृतपक्षाभासदोषरूपतया हेत्वाभासत्वाऽसम्भवात्। न च यत्र पक्षदोषस्तत्र नियमेन हेतुदोषोऽपीति वाच्यम्, तथा सति साध्यविकल–साधनविकल–तदुभयविकल–दृष्टान्तलक्षणसाधर्म्यदृष्टान्तदोषाणां साध्याभावविकल–साधनाभावविकल–साध्याभावसाधनाभावोभयविकलदृष्टान्तलक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तदोषाणामपि वाच्यत्वापत्तेः। प्रकरणसमोऽपि नैयायिकेन पञ्चमभेदतयाऽभ्युपगतो हेत्वाभासो नातिरिक्तः, तुल्यबलसाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाध्यसाधनयोरन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणाविनाभावाऽनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावात्तस्येति। यथा न्यायमते सव्यभिचारस्य साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदेन त्रयो भेदाः, न तथा जैनराद्धान्ते, यतः पक्षमात्रवृत्तिर्हेतुरसाधारणोऽभिमतः, तस्य साध्येन सहान्तर्व्याप्तिसद्भावे सद्धेतुत्वमुरीकृतमेव स्याद्वादिभिः, अत एव प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र पक्षमात्रवर्त्तिनोऽपि प्रमाणत्वस्य गमकत्वम्, शब्दस्यानित्यत्वे कृतकत्वमेव प्रयोजकम्, न तु शब्दत्वमित्यप्रयोजकत्वादन्तर्व्याप्तेरभावादेवागमकत्वं, तस्य पौद्गलिकत्वादनित्य एव शब्द इत्यनित्यमात्रवृत्तित्वादनित्यत्वेन सह शब्दत्वस्य व्याप्तिरस्त्येवेति यदि विभाव्यते तदा गमकमनित्यत्वस्य तद्भवत्येवेति न तत्र कोऽपि दोषः, सर्वमनेकान्तात्मकं वस्तुत्वादित्यत्र पक्षतावच्छेदकस्य साध्यस्य च केवलान्वयित्वेऽपि सदनुमानमिष्टमिति नानुपसंहारिण्यपि कोऽपि दोष इति जैनमते साधारणानैकान्तिकलक्षण एक एव

व्यभिचारः, यथा नित्यः प्रमेयत्वादित्यत्र निर्णीतविपक्षवृत्तिकः प्रमेयत्वहेतुरनैकान्तिक एव, गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वादित्यत्र हेतुर्न दुष्टः, किन्तु पक्षाप्रसिद्धयैवानुमानं न सम्भवतीति पक्षासिद्धिस्तत्र पक्षदोष इति। तदेवं स्थिते च हेतुदोषाभावे तत्प्रतीतत्वाभिमितान्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणको हेतुर्गमकोऽभ्युपगन्तव्यः, न तु त्रिलक्षणकः पञ्चलक्षणको वा, उक्तदोषप्रसरपरिहारसमर्थत्वात्, सोऽपि गमको न साधर्म्यमात्रात्, न वा वैधर्म्यमात्रात्, न वा परस्पराननुविद्धोभयमात्रात्, किन्तु प्रधानगौणभावेन परस्परसम्बद्धानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यरूपात्। नन्वेवं तर्हि केवलान्वयिहेतुना केवलव्यतिरेकिहेतुना च कथं साध्यानुमितिरिति चेत्, उच्यते समाधिः, जैनमते नैव कश्चिदेकान्तेन केवलान्वयी, वस्तुत्वप्रमेयत्वादिरपि यत्र तत्र यदवच्छेदेन वस्तुत्वप्रमेयत्वादिकं तदन्यावच्छेदेन तदभावो ऽपीति वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वलक्षणकेवलान्वयित्वस्य तत्राभावात्, नाप्येकान्तेन कश्चिद् व्यतिरेकी, अन्वयरहितस्य व्यतिरेकस्याप्रसिद्धेः, व्याप्तेरन्यथानुपपन्नत्वरूपतया तथैवोपपन्नत्वरूपतया चाभिधानं भवति, तत्र प्राथमिकी अन्वयव्याप्तिरभिधीयते द्वितीया व्यतिरेकव्याप्तिरिति गीयते, तत्र वस्तुत्वप्रमेयत्वादेर्व्याप्तिग्रहणस्थलेऽपि व्यवहारोऽन्वयव्याप्तित एवेति केवलान्वयीति व्यपदिश्यते, तदन्यापाततःकेवलेन व्यवहार इतरभेदसाधने व्यतिरेकव्याप्तित एवेति केवलव्यतिरेकीति व्यपदिश्यते, तथैवोपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलान्वयिहेतुनाऽनुमितिः,अन्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलव्यतिरेकिहेतुनाऽनुमितिरिति केवलम्। तादृशोहेतुरपि नैकान्ततस्सामान्यात्मा,न वा विशेषात्मा,न वा परस्परानुविद्धोभयात्मा साध्यसाधकः, साध्यमपि नैकान्ततस्सामान्यात्मकं, न वा विशेषात्मकं, न वा परस्परानुविद्धोभयात्मकं साधयितुं शक्यम् एकान्तसामान्यात्मकस्य एकान्तविशेषात्मकस्य परस्परानुविद्धसामान्यविशेषोभयात्मकस्य चार्थस्य पूर्वमेव विस्तरेण निरस्तत्वात्, किन्तु परस्परानुविद्धसामान्यविशेषात्मक एव हेतुस्तदात्मकस्यैव साध्यस्य साधक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति ॥५६॥

अथ सामान्यमनुगतबुद्धिहेतुत्वेनानुगतस्वरूपम्, विशेषाश्च विभिन्नसामग्रीजन्यमानत्वेन व्यावृत्तबुद्धिहेतुतया च प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपा इति तयोस्स्वरूपं मिथो विभिन्नमेव अत एव परस्परनिरपेक्षमेवैतद्द्वयं तन्निराचिकीर्षुस्सूरिराह—

> दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं, पज्जवस्स य विसेसो ।
> एए समोवणीया, विभज्जवायं विसेसेंति ॥ ५७ ॥

" द्रव्यार्थिकवक्तव्यं सामान्यं " द्रव्यार्थिकवक्तव्यं सामान्यम्, द्रव्यार्थिकनयमते वक्तव्यं मन्तव्यमभ्युपगमनीयमिति यावत्, विशेषनिरपेक्षं सामान्यमात्रं, यदनुगतबुद्धिविषयः तदेव सत्, तद्रूपं च सामान्यमेवेति तदेव सत्, न विशेषा अननुगतत्वाद्येषामित्येवं सामान्यवादित्वात्तस्य, " पज्जवस्स य विसेसो " पर्यायस्य च विशेषः, पर्यायास्तिक-

' एयन्तासब्भूयं ' एकान्ताऽसद्भूतम्, " सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो " सद्भूतमनिश्चितञ्च वदन् ' लोइयपरिच्छियाणं ' (परिच्छयाणं इत्यपि पाठः) लौकिकपरीक्षकाणां लौकिकाश्च ते परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षकाः, तेषां लौकिकानां परीक्षकाणाञ्चेत्यर्थः ' वयणिज्जपहे पडइ वादी ' वचनीयपथं वचनीयमार्गं निन्द्यमार्गमिति यावत् पतति वादी, निन्द्यमार्गमवाप्नोति वादीत्यर्थः, स्याद्धर्महेतोः स्याद्धर्मसाध्यं परस्परसामान्यविशेषात्मके पक्षे साधयन् वादी यथार्थतत्त्ववादितया निग्रहस्थानं तत्त्ववित्पर्षदि नासादयतीति निश्चितान्यथाऽनुपपन्न एव हेतुः पक्षे तेन प्रयोक्तव्यः, तन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः, त्रिरूपादिकं विद्यमानमप्यऽकिञ्चित्करत्वेन न प्रदर्शनीयम्, इतरथा हेतुगतेतरधर्मा अपि प्रदर्शनीयास्स्युः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनात्मकं पञ्चावयववाक्यमपि नैव नियमेन परार्थानुमितिजननोपयुक्तम्, मन्दमतिश्रोत्रपेक्षया तदुपयुक्तत्वेऽपि व्युत्पन्नमतिश्रोत्रपेक्षया तदनुपयुक्तत्वात्तस्य, प्रतिज्ञाहेतुमात्रादप्यनुमित्युत्पत्तेः, उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे " पक्षहेतुवचनात्मक परार्थानुमानमुपचारात्। ३–२३ ॥ पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ ३–२८ ॥ इति " ॥ ५९ ॥

अनेकान्तात्मकवस्तुन एवाऽध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेनाऽबाधिततया तत्प्ररूपणैव सन्मार्ग इत्युपसंहरन्नाह—

> दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
> भेदं च पडुच्च समा, भावाणं पन्नवणपज्जा ॥ ६० ॥

" दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय–देस संजोगे भेदं च पडुच्च " द्रव्य क्षेत्रं कालं भावं पर्याय–देशसंयोगान् भेदं च प्रतीत्य ' उक्तानष्टौ भावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति " समा भावाणं पण्णवणपज्जा " " समा भावाना प्रज्ञापनापर्या "–समा समानरूपतया भावानां निखिलवस्तूनां प्रज्ञापना प्रकर्षेण प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽबाधिततया ज्ञापना प्ररूपणा स्याद्वादात्मिका या सा पर्या पन्था मार्ग इति यावत्, सैव परमार्थवृत्त्या वस्तुतत्त्वसाधिकेत्यर्थः। तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि,क्षेत्रं स्वारम्भकावयवस्वरूपं तदाश्रयं वाऽऽकाशम्,कालं युगपदयुगपच्चिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गानुमेयम्, नवपुराणभावलक्षणवर्त्तनात्मकं वा, भावं मूलाङ्कुरादिलक्षणम्, पर्यायं रूपादिस्वभावम्, देशं मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रमभाविविभागम्, सयोगं भूम्यादिप्रत्येकसमुदायम्, भेद द्रव्यपर्यायलक्षण प्रतिक्षणविवर्त्तात्मक वा, जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन [illegible]पना निरूपणा या सा सत्पथ इति। यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभा[illegible] [illegible]देशसंयोगभेद[illegible] [illegible]वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावमोद्धु शक्यम्, न च [illegible] [illegible]स्य [illegible] [illegible]पतेत्येकानेकात्मकत्वेनानुभूयमानं वस्तुमात्रमनेकान्ता- [illegible] वस्तु प्रतिक्षिपन् विरोधभीतो वैशेषिको

पर्वते वह्निरस्ति न वेति संशयो न निवर्तेत, एवं पर्वतविशेषे साध्यसामान्यस्य पर्वतोऽयं धूमवानित्येवं सिद्धौ पर्वतोऽयं धूमवत्त्वावच्छेदकेन वह्निमात्रवत्सामान्य विशेषेण पर्वतीयवह्निव्यक्तिविशेषवान् वेति संशयस्य न निवर्तेतेति। तदेवं विवादास्पदी भूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारधर्मिणि अन्योन्यानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यलक्षण द्व्यात्मकैकहेतुप्रदर्शनमतो नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः सम्भवी, अत एव गाथापूर्वार्धेन—एतौ सामान्यविशेषौ सद्भूतनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया 'स्यात्पदप्रयोगतो धर्मिणि अवस्थापितौ विभज्यवादं परस्परसापेक्षसामान्यविशेषोभयात्मकवस्तुनो विभज्य पृथक्कृत्य सामान्या द्विशेषं विशेषात्सामान्यं परस्परनिरपेक्षतया सर्वथा भेदमवलम्ब्य वादो विभज्यवाद एकान्तसामान्यवाद एकान्तविशेषवादश्च, तं विशेषयतः निराकृतः, एवमेव तयोरात्म लाभात् अन्यथाऽनुमानविषयस्योक्तन्यायतोऽसत्त्वादित्यपि दर्शितम् ॥ ५७ ॥

अनुमाने विषयतयोपन्यस्ते यस्मिन् साध्ये अतिकुशलबुद्धिरपि पक्षवादी पक्षमपि दूषणं मोचयितुं शक्नोति तदेव साध्यं साधयितुं योग्यम्, नापरम्, तच्च स्याद्धर्मीव, न त्वेकान्तात्मकमित्युपदर्शयन्नाह—

> हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
> जइ तं तहा पुरिल्लो, दाइंतो केण जिव्वंतो ॥ ५८ ॥

'हेउविसओवणीय' हेतुविषयोपनीतम्, हेतुविषयतया हेतुज्ञानजन्यानुमितिविषयत्वेन तयोपनीतमुपन्यस्तं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना "कार्यत्वलिङ्गकशब्दोऽनित्यः" इत्येवं "जह वयणिज्जं" यथा वचनीयं यथा प्रतिपाद्यं 'परो नियत्तेइ' परो दूषणवादी निवर्तयति दूषयति, बौद्धमतेन शब्देऽनित्यत्वस्यैकत्वेन कार्यत्वस्य व्यतिक्रमस्यान्येन घटत्वपटत्वादिभिन्नलक्षणस्याननुगतस्यैव प्रागभावप्रतियोगित्वलक्षणस्यापि च प्रतियोगि-भेदेन भिन्नरूपतयाऽननुगतत्वेन सिद्धसाध्यताऽननुगमदोषावुपन्यासेन एकान्तवचनीयस्य तदितरधर्मानुपगतस्यानेकदोषदुष्टतया निवर्तयितुं शक्यत्वात्, 'जइ तं तहा' यदि तथा द्वितीयधर्माक्रान्तं, स्यात्पदगर्भमिति यावत् 'पुरिल्लो दाइंतो' पुरिल्लः पूर्वपक्षवादी प्रदर्शयिष्यत् ततोऽसौ 'केण जिव्वंतो' केनाजेष्यत ?, स्यात्पदगर्भं साध्यविशिष्टधर्मिणं दर्शयन् वादी न केनापि जेतुं शक्य इत्यर्थः। तदेवं विजिगीषुणा प्राश्निकपुरतः स्याद्धर्मं साध्यप्रयोग एव कर्तुमुचितः। तदकरणे स्वैकान्तसाध्यस्याभावात् तत्प्रदर्शनेऽपरवादि तया निग्रहस्थानमवाप्नुयात् ॥ ५८ ॥

एतदेवाह—

> एयम्मासब्भूयं, सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
> लोइयपरिच्छियाणं, वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥ ५९ ॥

'एयन्तासब्भूयं' एकान्ताऽसद्भूतम्, "सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो" सद्भूतमनिश्चितञ्च वदन् 'लोइयपरिच्छियाणं' (परिच्छयाणं इत्यपि पाठः) लौकिकपरीक्षकाणां लौकिकाश्च ते परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षकाः, तेषां लौकिकानां परीक्षकाणाञ्चेत्यर्थः 'वयणिज्जपहे पडइ वादी' वचनीयपथं वचनीयमार्गं निन्द्यमार्गमिति यावत् पतति वादी, निन्द्यमार्गमवाप्नोति वादीत्यर्थः, स्याद्धर्महेतोः स्याद्धर्मसाध्यं परस्परसामान्यविशेषात्मके पक्षे साधयन् वादी यथार्थतत्त्ववादितया निग्रहस्थानं तत्त्ववित्पर्षदि नासादयतीति निश्चितान्यथाऽनुपपन्न एव हेतुः पक्षे तेन प्रयोक्तव्यः, तन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः, त्रिरूपादिकं विद्यमानमप्यऽकिञ्चित्करत्वेन न प्रदर्शनीयम्, इतरथा हेतुगतेतरधर्मा अपि प्रदर्शनीयास्स्युः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनात्मकं पञ्चावयववाक्यमपि नैव नियमेन परार्थानुमितिजननोपयुक्तम्, मन्दमतिश्रोत्रपेक्षया तदुपयुक्तत्वेऽपि व्युत्पन्नमतिश्रोत्रपेक्षया तदनुपयुक्तत्वात्तस्य, प्रतिज्ञाहेतुमात्रादप्यनुमित्युत्पत्तेः, उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे "पक्षहेतुवचनात्मक परार्थानुमानमुपचारात्। ३-२३॥ पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्ग न दृष्टान्तादिवचनम्॥ ३-२८॥ इति"॥ ५९॥

अनेकान्तात्मकवस्तुन एवाऽध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेनाऽबाधिततया तत्प्ररूपणैव सन्मार्ग इत्युपसंहरन्नाह—

> दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
> भेदं च पडुच्च समा, भावाणं पन्नवणपज्जा॥ ६०॥

"दव्वं खित्तं काल भाय पज्जाय-देस संजोगे भेदं च पडुच्च" द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं पर्याय-देशसंयोगान् भेदं च प्रतीत्य' उक्तानष्टौ भावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति "समा भावाणं पण्णवणपज्जा" "समा भावानां प्रज्ञापनापर्या"–समा समानरूपतया भावानां निखिलवस्तूनां प्रज्ञापना प्रकर्षेण प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽबाधिततया ज्ञापना प्ररूपणा स्याद्वादात्मिका या सा पर्या पन्था मार्ग इति यावत्, सैव परमार्थवृत्त्या वस्तुतत्त्वसाधिकेत्यर्थः। तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि, क्षेत्रं स्वारम्भकावयवस्वरूप तदाश्रयं वाऽऽकाशम्, कालं युगपदयुगपच्चिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गानुमेयम्, नवपुराणभावलक्षणवर्त्तनात्मकं वा, भावं मूलाङ्कुरादिलक्षणम्, पर्यायं रूपादिस्वभावम्, देशं मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रमभाविविभागम्, संयोगं भूम्यादिप्रत्येकसमुदायम्, भेदं द्रव्यपर्यायलक्षण प्रतिक्षणविवर्त्तात्मकं वा, जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना निरूपणा या सा सत्पथ इति'। यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगभेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावबोद्धुं शक्यम्, न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहारयोग्यतेत्येकानेकात्मकत्वेनानुभूयमानं वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकमभ्युपेयम्, एवमनुभवसिद्धमप्येकानेकात्मकं वस्तु प्रतिक्षिपन् विरोधमीतो वैशेषिको

नैयायिकैर्वा चित्रपटे चित्रैकरूपमपि कथमभ्युपेयात्, यत्र नव्यनैयायिका अवच्छेदकता-सम्बन्धेन शुक्लादिकं प्रति शुक्लादेः कारणत्वात् चित्रपटे तत्तदवयवगतशुक्लनीलादिवच्छुक्ल-नीलादीनि नानारूपाण्येवाव्याप्यवृत्तीन्युत्पद्यन्ते, चित्रव्यवहारस्तु परस्परसमानाधिकरण-नानारूपनिबन्धन इत्यभ्युपयन्ति। प्राचीननैयायिकास्तु सविषयाव्यवृत्तिभिन्नाव्याप्यवृत्तिविजाती-यानामव्याप्यवृत्तित्वविरोधाच्चित्रपटे न नानारूप, किन्तु विजातीयं चित्ररूपमेवातिरिक्त-मभ्युपगच्छन्ति, अत एवैकं चित्ररूपमिति प्रतीत्युपपत्तिः, अतिरिक्तचित्ररूपत्वावच्छिन्ने विषयताकल्पनायां लाघवात्, अन्यथा चित्रमितिप्रतीतेर्नीलत्वपीतत्वाद्यवच्छिन्नाना-विषयता कल्पनीया स्यादिति गौरवं स्यात्, तदुभयमप्यनुभवविरुद्धं, शुक्लनीलादिनाना-रूपाणामेकस्य चित्ररूपस्य च चित्रपटेऽनुभूयमानत्वात्, तत्र तत्तदवयवावच्छेदेन शुक्ल-नीलादिरूपाणां सम्पूर्णावयवावच्छेदेन चित्ररूपस्यैकस्य चैकत्र चित्रपटे द्वयोर्विरोधाभावे नानुभवानुरोधेन नानारूपसमानाधिकरणचित्ररूपस्य स्वीकार एव न्याय्यः। न चावयव-गतशुक्लनीलादीनामेव परम्परासम्बन्धेनावयविनि प्रतीत्युपपत्तेरवयविनि साक्षात्सम्बन्धेन चित्ररूपमेवैकं रूपं, तथाकल्पनायामवयविगतनानारूपाऽकल्पनेन लाघवमिति वाच्यम्, शुक्लादीनां साक्षात्सम्बन्धेनैव तत्रावयविनि प्रतीतेरित्थं बाधकल्पने त्रुटिमात्रगतत्वमेव नीलाद्यशेषरूपाणां स्यात्, यतस्त्रुटिगतानामेव शुक्लादीनां परम्परासम्बन्धेनावयविनि प्रतीत्युपपत्त्या तत्र नानारूपाऽकल्पनप्रयुक्तलाघवं सुस्पष्टमेव। यदि साक्षात्सम्बन्धेना-वयविनि शुक्लादिप्रतीतेरनुभूयमानायास्तदबाधामेवमभ्युपगन्तुं युक्तं, तर्हि चित्रपटेऽपि साक्षात्सम्बन्धेन चित्रप्रतीतेरिव नानाशुक्लादिरूपप्रतीतेरप्यनुभूयमानत्वात् तदबाधाय परम्परासम्बन्धेनावयवगतशुक्लादिरूपविषयकत्वेन तत्रावयविनि शुक्लादिप्रतीत्युपपादन युक्तिमत्त्वम्, किन्तु साक्षात्सम्बन्धेनैव शुक्लादिविषयकत्वेनैव, एतेन चित्रपटादौ न शुक्लादिविशेषरूपं, नापि चित्ररूपं, किन्तु सामान्यमेव रूपं चित्रपटप्रत्यक्षायथाऽनुपपत्त्या कल्पनीयम् अन्यथा प्रत्यक्षम्प्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वेन तदभावे चाक्षुषप्रत्यक्षमेव न स्यादित्यपास्तम्। रूपविशेषाभावे चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो न भवेत्, किन्तु रूपवान् पट इत्येव स्यात्, यद्यपि सर्वविशेषविनिर्मुक्तं सामान्यं नास्त्येवेति तथा कल्पना न सम्भवत्येव, तथापि यदि कथञ्चिदेवं कल्प्यते साऽपि उक्तप्रतिभासाभावप्रसक्त्या निरव-नीया, अत्र यथा चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो न भवतीति दोषस्तथा तत्तदवयवावच्छेदेन चित्रपटे चक्षुःसन्निकर्षे सति शुक्लः पटः पीतः पट इत्यादिप्रतिभासानामनुभूयमानानाम भावप्रसङ्गोऽपि दोषः, न वैजात्यविशेषावच्छिन्नशुक्लादिसद्भाव एव कथञ्चिन्महत्त्वा-तिरिक्त चित्रमिति शुक्लादिपदे भवेत् चित्रप्रतिभास इति चित्रप्रतिभासाभावात् शुक्लादि प्रतिभासाभावप्रयुक्त एवेति दैनोऽचित्रप्रतिभासाभावप्रसङ्गः शुक्लादिप्रतिभासाभाव प्रसक्तिरप्यविशेष, यथा शुक्लादीनां द्रव्यादीनां च प्रतिभासे सम्भवतावगतस्य

चित्ररूपस्यापि प्रतिभासस्स्यादेव, तस्माच्चित्रपटे चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमप्युररीकर्त्तव्यम् । किञ्च यदि चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमपि पटे स्वीक्रियते तदा शुक्लाद्येकैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लाद्येकैकरूपस्य प्रत्यक्षं शुक्लपीतादिनानावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे चित्ररूपस्य प्रत्यक्षमिति विभाग उपपद्यते, चित्ररूपस्यैकस्यैव सद्भावे तु शुक्लाद्येकैकावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्सन्निकर्षे चित्ररूपप्रत्यक्षं स्यात्, तत्र तत्सद्भावात्, शुक्लादिनानारूपाणामभावेन तत्प्रत्यक्षं न स्यात् । ननु रूपप्रत्यक्षं तत्र भवत्येव, चित्रत्वप्रत्यक्षे तु परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिग्रहस्य कारणत्वेन शुक्लाऽवयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लेतररूपग्रहस्याभावेन, एवं पीतावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे पीतेतररूपग्रहस्याभावेन कारणाभावादेव न चित्रत्वस्य प्रत्यक्षम्, अत एव च व्यणुकावयवगतरूपस्याऽप्रत्यक्षत्वेन परम्परया त्रसरेणावपि तस्य ग्रहाभावेन तद्रूपकारणाभावात् व्यणुकचित्रस्य प्रत्यक्षं न भवतीति स्वीकुर्वन्त्युदयनाचार्याः । यदि च चित्रत्वनिष्ठविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षे स्वविशेष्यसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य हेतुत्वे परम्परया घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्यापि स्वविशेष्यसमवेतसमवेतत्वसम्बन्धेन चित्रपटगतचित्ररूपगतचित्रत्वे सत्त्वम्, यतः स्वं घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहः तद्विशेष्यो घटः तत्समवेतं घटगतचित्ररूपं तत्समवेतत्व चित्रत्वे, तच्च चित्रत्वं यथा घटगत चित्ररूपे तथा पटगतचित्ररूपेऽपीति तादृशग्रहात्मकहेतोस्सत्त्वाच्छुक्लावयवावच्छेदेन चित्रपटेन सह चक्षुस्सन्निकर्षे सति चित्रपटगतचित्ररूपवृत्तिचित्रत्वस्य प्रत्यक्षापत्तिस्स्यादिति विभाव्यते, तदा विशेष्यतासम्बन्धेन चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्ष प्रत्येव परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुत्वम्, एवञ्च घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन घटगतचित्ररूप एव सत्त्व, न तु चित्रपटगतचित्ररूपे इति न तस्योक्तकारणाभावात् प्रत्यक्षापत्तिः, न चावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्य नीलेतररूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकग्रहत्वेन हेतुत्व न सम्भवति, यत्रावयवगतनीलेतररूपादेर्न नीलेतररूपत्वादिना ग्रहः, किन्तु पीतत्वनीलत्वशुक्लत्वादिना ग्रहस्तत्राप्यवयविचित्रप्रत्यक्षोत्पत्तिर्भवति, न च तत्र नीलेतररूपत्वादिना ग्रह इति व्यभिचारेण तद्रूपेण चित्रप्रत्यक्षं प्रति कारणत्वाऽसम्भवादिति वाच्यम्, विलक्षणचित्रप्रत्यक्षम्प्रति नीलेतररूपत्वादिना ग्रहस्य कारणत्व तद्विलक्षणचित्रप्रत्यक्षम्प्रति तु नीलत्वपीतत्वादिनाऽवयवगतनीलपीतादिग्रहस्य कारणत्वमित्येवं कार्यतावच्छेदकभेदेन कारणताभेदोपगमे व्यभिचाराऽप्रसक्तेः । अथवा नीलेतररूपादेः पीतादेश्च नीलेतररूपत्वादिव्याप्यधर्मेण ग्रहस्य चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वं नीलेतररूपत्वादिव्याप्यं च नीलेतररूपत्वं पीतत्वादिकञ्चेति नीलेतररूपादिग्रहस्य पीतादिग्रहस्य च नीलेतररूपत्वादिव्याप्यधर्मप्रकारकग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वसम्भवाद्वैलक्षण्यस्य

कार्यतावच्छेदकक्रोडीकारप्रवेशेऽपि न व्यभिचारः, तथा चोक्तकारणाभावात् त्र्यणुकचित्ररूपप्रत्यक्षं न भवतीत्युदयनाचार्यमतं सङ्गतमेवेति चेत्, अत्र ममाभाति–अवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिमत्त्वप्रकारकप्रत्यक्षस्य पूर्वोक्तस्याभावात्त्र्यणुकचित्ररूपप्रत्यक्षानभ्युपगमे चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षं न स्यात्, यतो यत्र चित्ररूपं तत्र शुक्लादिनानारूपं यदीदं भवता स्वीक्रियते तदा त्र्यणुकचित्ररूपग्रहेऽपि शुक्लादिरूपग्रहसम्भवेन नीलेतररूपादिमत्त्वेन तस्य चित्ररूपग्रहस्याऽपि कारणस्वीकारेण चतुरणुकचित्रप्रत्यक्ष भवदुक्तकार्यकारणभावकल्पनासम्भवेऽपि, न च तदेवम्, तथा च चित्रावयवारब्धचित्रावयविनि चित्रग्रहेऽवयवविशेष्यकनीलेतररूपत्वादिव्याप्यचित्रत्वावच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वं वाच्यम्, तथा च चतुरणुकचित्रप्रत्यक्षं तदा स्यादि त्र्यणुकचित्रप्रत्यक्षं भवेत् न च भवदुक्तकार्यकारणभावे तत् सम्भवतीति विशेष्यतासम्बन्धेन चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्षं परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य स्वविशेष्यसमवेतत्वसम्बन्धेन हेतुत्वं न युक्तम्, तथा च सन्निकर्षमात्रस्यैव हेतुत्वेन यदि चित्रावयविनि नानारूपं नाभ्युपगम्यते तदा शुक्लावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्सन्निकर्षे चित्रप्रत्यक्षापत्तिस्स्यादेवेति चित्रावयविनि नानारूपमभ्युपेयमिति चित्रावयविनि शुक्लावयवावच्छेदेन शुक्लरूपस्यैव प्रत्यक्षमिति निर्गलितार्थः। यदि चावयविनि शुक्लादिनानारूपस्याऽभावेऽपि न शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे सति चित्ररूपप्रत्यक्षापत्तिः, शुक्लेतरनीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य चित्ररूपप्रत्यक्षे कारणत्वेन शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षस्थले तदऽभावात्, न च यत्रावयवनीलादिगतनीलत्वादिग्रहमपि न चक्षुर्दोषसद्भावस्तत्रावयवनीलाद्यग्रहे चित्ररूपप्रत्यक्ष न भवति, तदपि स्यात्, नीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवावच्छेदेन सन्निकर्षस्य सद्भावात्। यदि च तदनुरोधेनावयवगतनीलेतररूपादिमत्त्वग्रहस्यापि कारणत्वं तर्कोपेयते तदा त्रसरेणुचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्यं, अवयवगतनीलादिगतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषाभावानामपि चित्रत्वप्रत्यक्षे हेतुत्वाभ्युपगमेन तत्र चित्रत्वप्रत्यक्षापत्तिवारणात्। एवञ्च त्रसरेणुचित्रप्रत्यक्षमप्युपपद्यते, यतो यत्रैकस्य त्र्यणुकस्य नीलं रूपमपरस्य पीतमित्यादिस्थल एव चित्रं त्र्यणुकं भवति, तत्र नीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवकारणावयवावच्छेदेन त्र्यणुके चक्षुस्सन्निकर्षो नियत, द्व्यणुके महत्त्वाभावादेव न तद्गतनीलादिप्रत्यक्षमिति तत्प्रतिबन्धको दोषस्तत्र नास्तीति तदभावोऽपि नियत इति त्र्यणुकचित्रप्रत्यक्षं तेन स्यादेवेति विभाव्यते, तथा नीलपीतादिव्यक्तीनां भवन्मतनीलत्वादिमदप्रतिबन्धकदोषाणामननुगतत्वात्तदभावानामप्यनेकत्वात्तेषां चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वेऽनन्तहेतुहेतुमद्भावकल्पनगौरवं स्यात् अतः वक्ष्यमाणेवैव नीलादिनानारूपेषु चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्यभ्युपगन्तव्यम्, तस्य च समानाधिकरणनानारूपवत्त्वरूपत्वमिति नानारूपवद्रूपत्वमेव चित्रत्वमिति शुक्लावयवावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्लादेरेकस्यैव तदानीं समानाधिकरणनानारूपवद्रूपत्वप्रकारकप्रत्यक्षाभावेन न तत्र चित्रत्वग्रहः। न चैवमपि गौरवम् समानाधिकरणनाना

रूपाणामननुगतत्वेन समानाधिकरणनीलपीतग्रहः, एवं समानाधिकरणरक्तशुक्लग्रहः, इत्यादीनां भिन्नानां भिन्नरूपेण कारणत्वेनानेकविधकारणत्वप्रसङ्गादिति वाच्यम् । समानाधिकरणनानारूपग्रहाणां भेदगर्भसामानाधिकरण्यसम्बन्धेन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वस्यैव चित्रत्वप्रत्यक्षम्प्रत्यभ्युपगमेनोक्तगौरवाभावात् । यत्र रूपविशिष्टरूपग्रहो नास्ति तत्र सन्निकर्षमात्राच्चित्रत्वानवगाह्येव चित्रप्रत्यक्षं भवति। एतच्च परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्त्वग्रहस्य चित्रत्वप्रकारकचित्रप्रत्यक्षे हेतुत्वपक्षेऽपि भवदभ्युपगते समानम्, एतत्पक्षे चित्ररूपमतिरिक्तं नास्ति, किन्तु नानारूपाणामेव चित्रत्वजात्या व्यासज्यवृत्तिरूपया ग्रहणे सति चित्रत्वव्यवहारो भवति । यदि च यत्र शुक्लादिनानारूपाण्यवयविन्यनुभूयन्ते तत्र नानावयवावच्छिन्नपर्याप्तवृत्तिकमेकं चित्ररूपमप्यनुभूयते, तस्य चैकावयवावच्छेदेनाभावादेवैकावयवावच्छेदेन चित्राभावप्रतीतिरप्युपपद्यते तदा चित्रावयविद्रव्यस्य शुक्लादिनानारूपस्वभावत्वं चित्रैकरूपात्मकस्वभावत्वञ्चेत्येकानेकचित्रद्रव्यस्वभावः स्याद्वादतत्त्ववेद्भिः परिदृष्टोऽभ्युपगन्तव्य एव, तत्र शुक्लादिस्वभावो देशनियतधर्मः, चित्रस्वभावः स्कन्धनियतधर्म इति देशग्राहकसामग्रीतः शुक्लादिग्रहः, स्कन्धग्राहकसामग्रीतः चित्ररूपस्वभावग्रहः इति कदाचिद्देशावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे शुक्लाद्येकैकरूपवत्तया शुक्लः पट इत्याकारकं चित्रपटप्रत्यक्षं कदाचिच्च स्कन्धावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षे चित्रः पट इत्याकारकं चित्रप्रत्यक्षमिति नियम उपपद्यते, अनयैव दिशा द्विहस्तादिमितेऽवयविनि देशावच्छेदेन वितस्त्यादिमितानेकपरिमाणवत्त्वं स्कन्धावच्छेदेन द्विहस्तादिमितैकपरिमाणवत्त्वमित्येकानेकपरिमाणवत्त्वमपि स्वीक्रियते, तत्र च नानापरिमाणानि देशनियतधर्मात्मकानि, विवक्षितैकपरिमाणं तु स्कन्धनियतधर्मात्मकमिति देशावच्छेदेन सन्निकर्षे देशनियतवितस्त्यादिपरिमाणस्य प्रत्यक्षं स्कन्धावच्छेदेन सन्निकर्षे स्कन्धनियतविवक्षितपरिमाणस्य प्रत्यक्षम्, एवं चित्ररसस्पर्शगन्धादिस्थलेऽपि ज्ञातव्यमिति दिक् । चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्, तत एव चित्रतदितररूपोभयस्वभावस्य द्रव्यस्य सम्भवः, न त्ववयवगतशुक्लादिप्रत्येकरूपेणावयविनि शुक्लादिसमानजातीयरूपस्य शुक्लेतररूपादिषट्केनावयवगतेन तत्र चित्ररूपस्य चोत्पत्तिरित्येकान्ताभ्युपगमो युक्तः, तथा सति यत्रैकस्मिन्नवयवे उत्कृष्टं नीलमपरस्मिंश्चापकृष्टं नीलं तदन्यस्मिन्नवयवेऽपकृष्टतरं नीलं तैरप्यवयविनि चित्ररूपमुत्पद्यते, उत्कर्षापकर्षाश्च नीलादिप्रत्येकगता अनन्तप्रकाराः, तैरुत्पद्यमानमपि चित्ररूपमनन्तप्रकारं तत्र नैयायिकपरिकल्पितनीलेतररूपादिषट्कं नास्ति । अथ च चित्ररूपं भवतीति व्यभिचारेण नीलेतररूपादिषट्कस्य चित्ररूपसामान्यम्प्रति कारणत्वं न सम्भवति, विजातीयचित्रम्प्रति नीलेतररूपादिषट्कस्य कारणत्वं तदन्यविजातीयचित्रम्प्रति उत्कृष्टनीलाऽपकृष्टनीलादिसमुदायस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमे तरतमभावेन नीलत्वाद्यवान्तरजातिभेदानामनन्तत्वेन तद्वत्समुदायप्रभवचित्ररूपवैजात्यानामप्यनन्तत्वेन तत्तद्विजातीयचित्रम्प्रति

तत्तद्विभागीयोत्कृष्टापकृष्टनीलादिसमुदायस्य कारणत्वेऽनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गतो गौरवं स्यादतो वृद्धिहानिभ्यां षट्स्थानपतितवर्णपर्यायवच्चित्रद्रव्यं स्वसामग्रीप्रभवमेवाभ्युपेयम्, न च तत्र नीलत्वादिकमवयवगतनीलादिकार्यतावच्छेदकं, चित्रत्वञ्चोत्कृष्टापकृष्टावयवगतनीलादिकार्यतावच्छेदकम्, घटत्वादिकञ्च तन्त्वादिकार्यतावच्छेदकमित्येवं तत्तत्कारणनियम्यतत्तत्कार्यतावच्छेदकभेदप्रसङ्गात् एकानेकस्वभावचित्रद्रव्यत्वस्य कार्यसमानाधिकरणत्वेन न तदवच्छिन्नम्प्रति कस्यचित्कारणत्वमिति चित्रद्रव्यस्य स्वसामग्रीप्रभवत्वाभ्युपगमो न सम्भवतीति वाच्यम्, उक्तदिशाऽर्थसमाजसिद्धतया परसमर्थितस्य निरुक्तचित्रद्रव्यत्वस्य तथात्वेऽप्यन्यस्य स्वभावविशेषस्य कार्यतावच्छेदकत्वं स्वीक्रियते, तथा च स्वस्वभावतोत्पद्यमानं तद्रूपमेकानेकस्वभावमेवोत्पद्यते, न तु तदन्तर्गतचित्रनीलत्वचित्रत्वादिधर्माणां स्वस्वप्रतिनियतसामग्रीवशाच्च सम्पत्तिः, अतो वस्तुतो नार्थसमाजसिद्धत्वं निरुक्तचित्रद्रव्यत्वस्येति । एतेन यत्र शुक्लापेक्षयैकावयवावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षस्तत्रैकचित्ररूपवति चित्रप्रत्ययापादनं यस्माकृतं तत्र शुक्लम्, चित्रप्रत्ययजनकतावच्छेदकतया चक्षुःसंयोगगतवैजात्यस्य स्वीकारेण तादृशवैजात्यस्यैकावयवावच्छेदेन चक्षुःसंयोगेऽभावेन तत्र चित्रप्रत्ययस्यासम्भवादिति निरस्तम्, एतस्मिन्पक्षेऽनन्तवाच्यानुमवादनन्तवैजात्यकल्पनायाश्च रसान्तादावपि वैजात्यसिद्धेरिति दृष्टव्यम् । चित्रावयविनि नैकं चित्ररूपं किन्त्ववयवावयवीनि शुक्लनीलादीनि नानारूपाण्येवेति नव्यनैयायिकमतेऽप्यवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्यामवयविन्यवच्छिन्नयोरुत्कृष्टापकृष्टनीलयोरुत्पत्तिः स्यात्, तत्तदवयवावच्छिन्नोत्कृष्टनीलम्प्रति कारणस्य तत्तदवयवगतोत्कृष्टनीलस्य तत्तदवयवावच्छिन्नापकृष्टनीलम्प्रति कारणस्य तत्तदवयवगतापकृष्टनीलस्य च सत्त्वात्, तथा समवायसम्बन्धेन नीलम्प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलं कारणमिति तद्घटितसामान्यसामग्रीवशादनवच्छिन्नस्य नीलस्य चोत्पत्तिः प्रसज्येत, यदि च अवयविगतनीलत्वस्यावच्छिन्नं प्रति अवयवगतनीलत्वत्वादिनाऽवयवगतनीलत्वादेरेव कारणत्वमुपपद्यते, न तु नीलम्प्रति नीलस्य सामान्यतः कार्यकारणभाव इति न तथाऽनवच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिः, तदा एतावत्कारणसमुदायलक्षणसामग्रीसत्त्वे नीलत्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिरिति नियमाभावलक्षणाकस्मिकत्वतो नीलत्वावच्छिन्नार्थितया प्रवृत्तिरिह नासम्भवेत्, यत्र चोत्कृष्टापकृष्टनीलादिकमवयवावच्छिन्ननीलविशेषाः प्रतीयन्ते तथाऽनवच्छिन्नं नीलसामान्यमपि प्रतीयते तादृशप्रतीतेर्नीलसामान्यमुखत्वानुपपद्यमानत्वं स्यात्, यत्र च पटे केवलशुक्लमेव रूपं, तत्रापि स्वस्वावयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षेऽशुभ्रत्वोपेतशुक्लविशेषास्तदगुणक शुक्लसामान्यं च प्रतीयत इत्येवमनेकरूपविषयितया द्रव्यप्रतीतेरेकानेकधर्मविशिष्टद्रव्यपरिणामाभ्युपगमं विना न कथमपि सम्भवतीत्येकानेकस्वरूपद्रव्याभ्युपगमः स्याद्वादिनः प्रमाणपूतामवलम्बते । एतेन चित्ररूपस्य व्याप्यवृत्तेरेकस्याभ्युपगमपक्षे रूपमात्रस्य सर्वत्र व्याप्यवृत्तेरेवाभ्युपगमात् तस्य

किञ्चिदवच्छेदेन प्रत्यक्षं, यदुपपत्तये कारणान्तरं कल्पनीयं भवेत्, अव्याप्यवृत्तिनीलाद्यभ्युपगमपक्षे तु किञ्चिदवच्छेदेन तत्प्रत्यक्षोपपत्तये कारणान्तरं कल्पनीयमिति गौरवमिति न, यतोऽव्याप्यवृत्तिसंयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेन अव्याप्यवृत्तिद्रव्यसमवेतनिष्ठविषयतासम्बन्धेन चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसंयोगावच्छेदकावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण यत्कारणत्वं तेनैवाव्याप्यवृत्तिनीलादिप्रत्यक्षस्य सम्भवे न तदर्थं कारणान्तरं कल्पनीयं, यत्र नीलपीतकपालिकाभ्यामेकं नीलपीतोभयरूपवत्कपालं द्वितीयमपि तथाविधमेव कपालं ताभ्यामारब्धस्य घटस्य नीले नीलकपालिकैव परम्पराऽवच्छेदिकेत्युक्तसन्निकर्षतश्चक्षुषा तत्प्रत्यक्षमप्युपपद्यत इति निरस्तम्, शाखामूलोभयावच्छेदेन वृक्षे दीर्घतन्तुसंयोगस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषो यथा स्वसंयोगावच्छेदकशाखामूलोभयावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण कारणत्वं तथा नीलनीलतरोभयाद्यवयवावच्छिन्नविलक्षणरूपस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषः स्वसंयोगावच्छेदकनीलनीलतरोभयपर्याप्तावच्छेदकताकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षेण कारणत्वकल्पनस्यावश्यकत्वात्, यदि चोक्तसंयोगस्थले नैकः संयोगोऽवयवद्वयावच्छिन्नः, किन्त्वेकैकावयवावच्छिन्नसंयोगद्वय एव, एवं नीलनीलतरावयवोभयावच्छिन्नमपि न विलक्षणैकरूपं, किन्तु नीलावयवावच्छिन्नं नीलमवयविन्यन्यदन्यच्च नीलतरावयवावच्छिन्नं नीलतरमिति न नीलनीलतरोभयपर्याप्तावच्छेदकताकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतासन्निकर्षकल्पनस्यावश्यकत्वमित्युच्यते, तदा सजातीयविजातीयपदार्थेषु जायमानं समूहालम्बनं ज्ञानं यथैकं तथा नीलनीलतरावयवरूपैश्च सर्वैरवयविनि स्वस्वावच्छेदेन समुत्पद्यमानं रूपमविरोधाच्चापकमेवोत्पद्यत इति वृत्तिकृतोऽभिमतमसङ्गतमापद्येत, ननूपदर्शितसंयोगस्थले तत्तदवयवावच्छेदेन संयोगद्वयमप्यनुभूयते कार्त्स्न्येनैकसंयोगोऽप्यनुभूयत इत्येकानेकसंयोगकल्पनं तथैवैकानेकरूपकल्पनमपि युक्तमेवेत्युच्यते तदैकानेकस्वरूपवस्तुस्वीकर्तृस्याद्वादिन एव जेतृता, एतेन नानारूपवदवयवारब्धे व्याप्यवृत्तीन्येव नीलपीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिकं प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलादिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मतं निरस्तम्, नीलकपालावच्छेदेन चक्षुःसन्निकर्षे पीताद्युपलम्भापत्तेरपि तत्र दोषत्वात्, तदाहुः सम्मतिटीकाकृतः–" आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति "। न च नीलाद्यवयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य नीलादिग्राहकत्वकल्पनया न दोषः, यत्र नीलपीतकपालिकाभ्यां नीलपीतरूपद्वयवत्कपालमेकमपरञ्च तथा ताभ्यां नीलपीतोभयवद्घटस्योत्पत्तिः, तत्र निरुक्तघटे नीलरूपस्य पीतकपालिकावच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षात्प्रत्यक्षापत्तेः। नीलग्राहकस्य नीलपीतोभयरूपवत्कपालात्मकनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षस्य सद्भावात्, न च नीलप्रत्यक्षे

केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्ष एव कारणमिति नीलपीतोभयमयकपालस्य केवलनीलावयवरूपत्वाभावात्पीतकपालिकायाम् नीलरूपव्यवस्थापकत्वाभावाच्च पीतकपालिकावच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन सन्निकर्षात् घटनीलप्रत्यक्षापत्तिरिति वाच्यं, यत्र नीलपीतपरमाणुभ्यामेकं नीलपीतोभयमयद्व्यणुकं तथा द्वितीयं तथा तृतीयं च द्व्यणुकमुत्पन्नं, तैश्च त्रिभिर्नीलपीतोभयमयद्व्यणुकैर्नीलपीतोभयमयत्र्यणुकमुत्पद्यते तस्य त्रसरेणोर्नीलस्य प्रत्यक्षं न स्यात्, तदवयवस्य द्व्यणुकस्य केवलनीलत्वाभावेन तदवच्छिन्नत्रसरेणुचक्षुःसन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षत्वाऽभावात्, नीलपरमाणुरूपावयवपरम्परावच्छिन्नत्रसरेणुचक्षुःसन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षरूपत्वेऽपि तस्य परमाणुसन्निकर्षस्येव द्रव्याग्राहकत्वेन तद्गतरूपाग्राहकत्वादिति, यथा चोक्तदिशा एकानेकतया रूपस्य चित्रत्वं व्यवस्थितिं पद्धतिमेति तथा वस्तुमात्रेऽपि, यत्र यथा चैकानेकतया चित्रत्वमावश्यकमनुभवसिद्धं तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि, तत्रालम्बनया एकाकारतायाः सम्यग्ज्ञानानाञ्च नानाप्रकारताविशेष्यतासांसर्गिकविषयतानां परनिरूपितानां ज्ञानानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानसंविरसंवेव तानियामकवैचित्र्यशालिनीनाञ्च बह्वीनामनुभवात्, अत एव "सामन्नमोमविरमो तिगुणो उभ एगओ, तयतो वयमाणो भासा सामन्नं होइ" सप्तनयात्मकमहावाक्यार्थज्ञाने एव विशिष्टा प्रमाणाकारता अनेकान्ताधिकयो नयविषयताः परस्परसंयोगमवाप्य बह्व्यो व्युत्पन्न इति, यथा च चित्ररूपदृष्टान्तावष्टम्भेन सर्वेषां भावानां ग्राह्यभावानेकान्तात्मकत्वं प्रमाणकोटिमाटीकते तदा तन्निराकरणं चित्रे एकानेकस्वरूप एव प्रामाणिकमनुपम व्यक्तिनैयायिकवैशेषिकौ कर्तुमशक्यमिति सुष्ठूक्तम्—

" चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।
योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ १ ॥" इति ॥ ६० ॥

ये तु स्वीयागमवचनतात्पर्यविवेचनाक्षमशालिनः प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितार्थस्याप्यागमस्याम्नायपरम्पराम्नायेन प्रामाण्यमावेदयन्ति ते परमार्थतयाऽऽगमवचनतात्पर्यानभिज्ञा एवेति प्रतिपादयितुमाह—

पाडेक्कनयपहगयं, सुत्तं सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा ।
अविकोविपसामत्था, जहागमविभत्तपडिवत्ती ॥ ६१ ॥

"पाडेक्कनयपहगयं सुत्तं" प्रत्येकनयपथगतं सूत्रम्—एकैकद्रव्यादिनयमार्गमनुगततत्पर वाचामनुगतं सूत्रं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिवेदान्तदर्शनसूत्रं, 'अथातो धर्मजिज्ञासा' 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यादिमीमांसादर्शनसूत्रं ।

धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥ इत्यादिवैशेषिकदर्शनसूत्रं ।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ इत्यादिनैयायिकदर्शनसूत्रम्, परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः । १ । इत्यादिचार्वाकमतसूत्रम्, " क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदं भो जिनपुत्राः ! यद् इदं त्रैधातुकं " इति " ग्राह्यग्राहकोभयशून्यं तत्त्वम् " इति बौद्धदर्शनसूत्रञ्चाधीत्य " सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा " सूत्रधरशब्दसन्तुष्टाः—'सूत्रधरा वयम्' इति शब्दमात्रसन्तुष्टा अखर्वगर्वगर्विष्ठाः, 'अविकोविदसामत्था' अविकोविदसामर्थ्याः—विशिष्टाः कोविदाः पण्डिता विकोविदाः पण्डिततमाः, न विकोविदा इत्यविकोविदाः, तेषां सामर्थ्यमिव सामर्थ्यं येषा ते अविकोविदसामर्थ्याः, अविदितसूत्रान्तर्गतपरमरहस्यभूतभावार्थाः । कथं ते तथाविधा इत्याशङ्कायां तत्र हेतुमाह—यथागमविभत्तपडिवत्ती–अत्राकारप्रश्लेषाद् यथागमाविभक्तप्रतिपत्तयः, आगममनतिक्रम्येति यथागमं यथाश्रुतमित्यर्थः, यथागममेवाविभक्ता अविविक्ता प्रतिपत्तिर्बोधो येषां ते तथा, यस्मिन्नर्थे सूत्राभिप्रायस्तदनभिज्ञत्वेन तद्व्यतिरिक्तविषयप्रतिपत्तित्वादितरजनवत्, तत्तन्नयाधीनसप्तभङ्ग्यादिसङ्घटितयथार्थसूत्रार्थविवेचनतत्परबुद्धिहीना इत्यर्थः । अथवा स्वयूथ्या एव एकनयदर्शनेन कतिचित्सूत्राणि अधीत्य केचित् 'सूत्रधरा वयम्' इति गर्विता यथावस्थिताऽन्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानाद् अविदितस्वनैदुष्यस्वरूपा यथागमाविभक्तप्रतिपत्तय इत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

अन्यनयानपेक्षैकनयमाश्रित्य सूत्राभिप्रायं व्यावर्णयता तेषा दूषणोपदर्शनायाह—

सम्मद्दंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं ।
अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा विणासेंति ॥ ६२ ॥

'सम्मद्दंसणमिणमो' सम्यग्दर्शनमेतत्, तत्किं स्वरूपमित्याशङ्कायामाह–'सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं' सकलसमाप्तवचनीयनिर्दोषम्–गजनिमीलिकान्यायेन परस्परस्वविषयेतरविषयापरित्यागप्रवृत्ताशेषतत्तन्नयगोचरजिनप्रज्ञप्ताशेषभावविषयकसमूहालम्बनज्ञानविशेषात्मकं सम्यग्दर्शनम्, तच्च स्यान्नित्यमित्यादिसकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयतया निर्दोषम्, निरुक्तस्वरूप सम्यग्दर्शन स्यात्पदघटितमेव वचन प्रवर्त्तयति, स्यात्पदञ्च तत्रैकैकधर्मप्रतिपादकवचनघटकमपि सदनेकान्तद्योतकत्वात्सकलानपि धर्मानवबोधयतीति तद्घटित स्यान्नित्यमित्यादिवचनं सकलधर्मप्रतिपादकत्वलक्षणसकलधर्मपरिसमाप्तत्ववदिति तत्प्रवर्त्तकं सम्यग्दर्शन सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयं तत्त्वेन च निर्दोषम् । ननु स्यात्पदघटितं वचनं सकलधर्मप्रतिपादकं चेत्तर्हि सकलधर्मान्तर्गताऽनभिलाप्यधर्मप्रतिपादकमपि स्यात्, ओमिति चेत्तर्हि वचनप्रतिपाद्यत्वादनभिलाप्यभावा एव न स्युरिति चेद्, मैवम्, यतोऽनभिलाप्यभावा अपि स्वस्वासाधारणधर्मस्वरूपेणानभिलाप्याः, न तु प्रमेयत्वादिस्वरूपेणापि,

अन्यथा प्रमेयत्वादिविकल्पास्ते पक्षानुकूलकस्यास्तु। अत एवानभिलाप्यभावे प्रमेयत्वादिना स्यादवक्तव्यः स्यामाधारणधर्मस्वरूपेण स्यादवक्तव्य इत्यादिसप्तभङ्गीप्ररूपणा युज्यते, नान्यथेति। तर्हि कुर्वन्तीत्येव किंप्रकाशवतामाह—'विनाशेन्ति' विनाशयन्ति, ते के इत्याशङ्कायां तत्कर्तृभूतमाह—'भगुओऽवि भहा सबहमाणा' आत्मोत्कर्षविनाशः ख्यापयमानाः। अयमभावः—एकनयवादिनस्तद्विषये यथाभिप्रायं व्यावर्ण्य तत्परिवार्यं तत्त्वेनात्मोत्कर्षेण विनश्य अनेकान्तात्मकवस्तुबोधं प्रत्यनादरभावप्रदर्शनेन स्याद्वादतत्त्वप्रतिपादकागमप्रत्यनीकाः 'वयं सम्यक्ता' इत्येवं स्वं प्रदर्शयन्तः सम्यग्दर्शनं न स्वात्मनि व्यवस्थापयन्ति ॥ ६२ ॥

अथ न ते आगमप्रत्यनीकास्तद्भक्तत्वात् तदेकपरिज्ञानमन्तरेणेति कथं तद्विनाशयन्ती स्याद्वादानिष्टमर्थमाह—

> न हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धतजाणओ होइ।
> न विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णाम ॥ ६३ ॥

'न हु सासणभत्ती' इत्यादि—न खलु शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता प्रमाणगोचरानन्तधर्माध्यासितैकवस्तुप्रतिपादकस्याद्वादसिद्धान्तस्य ज्ञाता भवति, न च सिद्धान्तप्रतिपाद्यस्याद्वादगर्भयथावस्थितवस्तुतत्त्वपरिज्ञानमन्तरेण भावसम्यक्त्वम्, जिनप्रणीतभिमाऽपेक्षाऽविरुद्धनित्यानित्यत्वादिस्याद्वादधर्माध्यासितनिखिलभावावगाहिश्रुतलक्षणज्ञानात्मकस्वरूपमात्रस्य, स्याद्वादतत्त्वरूपेणाज्ञातस्यार्थस्य तद्रूपेण रुचिविषयत्वानुपपत्तेः, अतथाभूतार्थज्ञानस्य च परमार्थतस्तस्याऽज्ञानादिरूपतयाऽनेकान्तविषयस्यापि तदावरणदोषेणानेकान्तविषयत्वेनानुद्भासितत्वस्य तथा रोचयितुमशक्यत्वात्, यथाऽऽसाद्यं प्रथम प्रस्थानं प्रवचनानुराग एव सूपाय इति मन्यमानानां शासनभक्तिमात्रेण भद्रानुसारिणां सम्यक्त्वं ननु 'सत्संख्यादिमार्गणास्थानैस्तद्विषयो भावसम्यक्त्वं, सामान्यतस्तु द्रव्यसम्यक्त्वम्' इति ज्ञानबिन्दुवचनात् तेषामोघतो प्रवचनानुरागमात्रेण "तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम्" इति ज्ञानादिपरिणामानुरूपं द्रव्यसम्यक्त्वमेवेति जानीहि, 'न विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णामं' न विज्ञाताऽपि जीवादितत्त्वैकदेशविज्ञाताऽपि, नियमात् प्रज्ञापनानिश्चितो नाम—नामेति कोमलामन्त्रणे, अनेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपयथार्थप्ररूपणायां निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतस्समस्तपर्यायविशिष्टवस्तुज्ञानविकलतया सम्यक् तत्प्ररूपणाऽसम्भवात्, तथा च पूर्वापरैकवाक्यतया सकलानन्तधर्मात्मकजीवादितत्त्वप्रतिपादकसम्यक्सन्दर्भस्य प्रमाणनयद्वारेण ग्राहकस्य तात्पर्यज्ञानेन सिद्धान्तज्ञाता न पुनरपरिचितविरोधादेकदेशज्ञाता, तस्यैकनयद्वारा प्रवृत्तत्वात् अत एव न स स्याद्वादप्ररूपणायां सम्यक् समर्थ इति सिद्धम्। जीवाजीवाद्यर्थनवतत्त्वार्थगतनिरूपणं द्रव्यानुयोगतर्क-

तत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणटीकायां च विस्तरेण कृतमिति तत एव चावसेयम्, ग्रन्थगौरव-भीत्या नेह प्रतन्यते ॥ ६३ ॥

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ १ ॥ इति लक्षणं सूत्रम्, अत एव महापुरुषप्रणीतत्वेन गम्भीरार्थमिति न तन्मात्रं प्रमाणनयगर्भतात्पर्यार्थबोधक्षमम्, किन्तु पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैदम्पर्यार्थभेदभिन्न-व्याख्यानद्वारैवेति प्रतिपादयितुमाह—

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ ६४ ॥

'सुत्तं' अल्पाक्षरैर्बह्वर्थान् सूचयतीति सूत्रम्, 'अत्थनिमेणं' अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः, स च द्विविधः, तत्रैकोऽर्थस्सूत्रेण सूत्रितः साक्षात्सूत्रस्याऽभिधेयः, द्वितीयश्च सूचितोऽर्थापत्त्याऽऽक्षिप्तः, सामर्थ्यगम्य इति यावत्, अत एव चतुर्दशभिरपि पूर्वैः कश्चित्साक्षात्, कश्चित्तु गम्यतया सर्वोऽप्यभिलाप्यः पदार्थोऽभिधीयत एवेति विशेषावश्यकटीकोक्तं सङ्गच्छते, तस्य निमेनं स्थानं सूत्रम्, अनन्तार्थभृतमेव सूत्रम्, अर्थप्रतिपत्तिश्च न निर्युक्त्यादिनिरपेक्षसूत्रमात्रेण, यतः 'मूअं केवलसुत्तं जीहा पुण होइ पायडा अत्थो ॥ १५५ ॥' इत्युपदेशरहस्योक्तेर्व्याख्यानरहितं सूत्रं मूकं मूकपुरुषतुल्यम् कस्यचिदर्थस्याऽवाचकम्, सूत्रमात्रेण प्रमाणतत्त्वनयगर्भतात्त्विकार्थाऽप्रतीतेः, अर्थः पुनः प्रकटा जिह्वा, परावबोधहेतुत्वात्। अर्थः पुनः—"पयवक्कमहावक्कत्थमेदंपज्जं च एत्थ चत्तारि। सुयभावाऽवगमम्मि हंदि पगारा विणिदिट्ठा ॥ ८५९ ॥" इत्युपदेशपदोक्तेः सूत्रमात्रावगमहेतुभूतः पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैदम्पर्यार्थभेदेन चतुर्द्धा भणितः। तत्र पदार्थो यथाश्रुतार्थः, पद्यते गम्यतेऽर्थः सामान्यरूपोऽचालिताऽप्रत्यवस्थापितो येनेति व्युत्पत्तेः। तदाह—"अत्थपदेण हु जम्हा एत्थ पयं होइ सिद्धं" इति। वाक्यार्थो दूषणोक्तिलक्षणचालनात्मकः, महावाक्यार्थश्च युक्त्या दूषणपरिहारलक्षणप्रत्यवस्थानायोच्चरितस्य वाक्यसमूहात्मकमहावाक्यस्यार्थः, ऐदम्पर्यार्थश्च तात्पर्यार्थः। एवं प्रतिसूत्रमुक्तक्रमेण व्याख्याने निश्चितप्रामाण्यकं सम्यग्ज्ञानं व्युत्पन्नस्य निराकाङ्क्षप्रतीतिरूपं स्यात्, तच्च वाक्यार्थादिज्ञाने शब्दप्रयोज्यमतिरूपं श्रुतज्ञानाभ्यन्तरं ब्रुवते श्रुतवृद्धाः, अत एव समानाक्षरलाभानां चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वं यथोक्ताक्षरलाभानुसारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयकैः क्षयोपशमवैचित्र्यादिविचित्रैर्मतिविशेषैश्श्रूयते, तथा चोक्तं विशेषावश्यकभाष्ये—"अक्खरलम्भेण समा ऊणहिया होंति मईविसेसेहिं। ते वि य मईविसेसे सुयनाणब्भंतरे जाण। १४३।" इति। 'अत्थो वक्खाणं ति य एगट्ठा ॥ ८५६ ॥' इत्युपदेशपदवचनाद् जिह्वातुल्यनिर्युक्त्यादिव्याख्यानात्म-

कार्यसापेक्षत्वेन निश्चितप्रामाण्यकवाक्यपर्यायप्रतीतिः, न तु सूत्रमात्रेणेत्याह ' न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ' न सूत्रमात्रेणार्थप्रतिपत्तिः, निस्सीमसिद्धान्ताबाधितपरमार्थग्राहिबुद्धिरत्न निधिगुरुपरम्पराविदितसूत्रार्थमार्गाचार्यकृतव्याख्यानरहितेन सूत्रेणार्थप्रतिपत्तिः पौर्वापर्याबाधितार्थप्रतिपत्तिर्न, अविद्धतेन सूत्रेणायथार्थप्रतीतेरपि भावात्। यथाऽवस्थितार्थप्रतिपत्तिस्सूत्रमात्रेण दुरापेत्यत्र हेतुगर्भविशेषणमाह ' अत्थगई पुण णयवायगहणलीणा ' ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात् अर्थगतिः अर्थस्य यथाऽवस्थितस्य मतिः प्रतिपत्तिः पुनर्नयवादगहनलीना, " नत्थि णएण विहूणं सुत्त अत्थो य जिणमए किंचि " इत्युक्तेः सप्तशतप्रभेदविविधैकैकनैगमादिसप्तनयभेदविविधद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनय वादरूपं गहनं विपिनम्, तत्र लीना तदात्मा तद्विषयविषयिकेति यावत्, अत एव ' दुरभिगम्मा ' दुरधिगम्या दुरवबोधेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अशेषनयगहनात्मकत्वादपि दुरधिगमार्थविषयकत्वेन कुशाग्रबुद्धिभिरेवासेव्या इति तस्य दुरधिगम्यार्थप्रतिपत्तिरपि मन्दमेधसां दुष्करेत्यतोऽधीतसूत्रार्थसम्पादने विधिनाऽधिकतरो यत्नः कर्तव्यः, यतोऽर्थशुद्धेरुभयविशुद्धिस्सम्यग्ज्ञानमयनिर्मलतारूपा सम्पद्यते, अन्यथा विपरीतयथार्थप्रतिपत्तिलक्षणविपर्यासप्रापकशासनमालिन्यकारित्वं स्यादित्याशयेनाह—

तम्हा अहिगयसुत्तेण, अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था, हंदि महाणं विलंबेन्ति ॥ ६५ ॥

' तम्हा अहिगयसुत्तेण ' तस्मात् सूत्रादर्थो बलीयानिति हेतोः, अधिगतसूत्रेण अधिगतमधीतमशेषं सूत्रं येनासौ अधिगतसूत्रः, तेन, ' अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं ' अर्थसम्पादने, अर्थविषयकप्रमाणनयसप्तभङ्गस्वरूपावधारणे, पतितव्यं दृढयत्नपरेण भाव्यम्, ततो यत्नः कर्तुमुचित इति यावत्। अधीत्य सूत्रं नयप्रयुक्तितत्परप्रतिस्पर्धिनयपुक्ति संवादः श्रोतव्यः, श्रुत्वा च सर्वनयसंवादविनिश्चयपरिशुद्धयथावस्थितार्थतया सूत्रं भावनीयम्, प्रमाणपरस्परसापेक्षनयापेक्षयाऽनेकान्तार्थप्रतिपादकतया सूत्रपदार्थतात्पर्यमाव माऽकरण चातुर्यमविहम्बनादोषप्रतिपादनायोक्तमाह—" आयरियधीरहत्था " आचार्यधीरहस्ताः, धीरो कर्मादिनयविभाजनादिरहितत्वेन पूर्णताग्राही हस्तो येषां ते धीरहस्ताः, आचार्याश्च ते धीरहस्ताश्च आचार्यधीरहस्ताः, यथा केचिदनभ्यस्तकर्माणोऽपि धृष्टतया कर्मणि व्यापृतहस्ताः तथा सद्गुरूपासनादिभिरधिगतनयगर्भशास्त्रार्था अपि शास्त्रार्थविवेचने धृष्टतया व्यापृताः, एवम्भूताऽऽचार्याः किं कुर्वन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—" हंदि महाणं विलंबेंति " महाऽऽज्ञामात्मज्ञानं विडम्बयन्तीति ज्ञापयाम्, तदेवमनधीताऽश्रुत यथावदपरिभावितागमतात्पर्या जिनशासनं विडम्बयन्तीति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

बहुश्रुतत्वादिदर्पात्सूत्रतात्पर्यार्थानवधारणादनिश्चितयथार्थस्य सिद्धान्तप्रत्यनीकत्वमाह—

जह जह बहुस्सुओ संमओ अ, सिस्सगणसंपरिवुडो अ।
अविणिच्छिओ अ समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥ ६६ ॥

'जह जह बहुस्सुओ' यथा यथा बहुश्रुतः परिपठितबह्वागमः श्रुतपल्लवग्राहितया बहुश्रुतत्वख्यातिमानिति यावत्, 'संमओ अ' सम्मतश्च सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरजनाविदितशास्त्राभिप्रायाणां गतानुगतिकप्रवाहपतितानां तदनुवर्तिनां चान्येषां बाह्याडम्बरदर्शनमात्रोदितविस्मयानां मुग्धमतीनां च शास्त्रज्ञत्वेन बहुमतः, 'सिस्सगणसंपरिवुडो अ' शिष्यगणसंपरिवृतश्च शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्विनेयवृन्दैः समन्तात् परिवृतश्च 'अविणिच्छिओ अ' अविनिश्चितश्च तथाविधपरिवारदर्पाच्छास्त्रपर्यालोचनेऽनादरादविनिश्चितागमैदम्पर्यश्च, यद्वा सम्यगपरिणतश्च प्रवचने ऐदम्पर्याऽज्ञानात् विरत्यप्रह्वत्वाच्च, 'तह तह सिद्धंतपडिणीओ' तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः, यथावदपरिभावितागमतात्पर्यस्सोऽपरिणतदेशनया यथास्थितसिद्धान्तस्य विपर्यासापादनान्मुग्धजनानामश्रद्धोत्पादकत्वेन वस्तुस्थित्या सिद्धान्तविनाशकः, अन्यागमेभ्यस्तल्लाघवापादनादिति। अभिहितश्च सिद्धान्ते—

"सव्वन्नूहिं पणीयं, सो उत्तममइसएण गंभीरं।
तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ सिद्धंतं ॥ १ ॥
अविणिच्छिओ ण सम्मं, उस्सग्गाववायजाणओ होइ।
अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥ २ ॥" इति।

तदर्थश्चायम्—सर्वज्ञैः प्रणीत सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गंभीर भावार्थसारं तुच्छकथनया अपरिणतदेशनयाऽधः शेषाणामपि सिद्धान्तानां करोति तथाविधलोकं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः। अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाऽविषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोस्तथाविधस्स्वपरविनाशको नियमात् कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

तस्माच्छास्त्रमधीत्य तदर्थावधारणं विधेयम्, अवधृतश्च तदर्थो प्रमाणनयाभिप्रायतो यथावत्परिभावनीयः, अन्यथा तत्फलपरिज्ञानविकलताप्रसक्तिस्स्यादित्यत आह—

यद्वा स्याद्वाद एव प्रवचनसारः, एतद्बोधेनैव प्रवचनस्य फलवत्त्वात्, "एगे आया" इत्यादिनापि तन्त्रपरिकर्मितमतीनामात्मा स्यादेकः स्यादनेक इत्यादिसप्तभङ्गीपरिकरितबोधस्यैवोत्पत्तेः, एकनयावधारणे मिथ्यादृष्टिवचनाऽविशेषप्रसङ्गात्। अत एव भगवदुपदिष्टया प्रवचनमूलत्रिपद्याप्येकवस्तुनि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयापेक्षकथञ्चिन्नित्यत्वानित्यत्वोभयधर्मसमावेशलक्षणस्याद्वाद एव प्रोक्त इत्येतस्मिन्नऽविज्ञाते चरणकरणानुष्ठानस्य निश्चयशुद्धस्साराोऽविज्ञातस्स्यात्, स्याद्वादमुद्रामुद्रितजीवाजीवादिनवतत्त्वविषयकापायज्ञानात्मकरुचिरूपसम्यग्दर्शनशुद्धिशून्यत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥ ६७ ॥

' चरणकरणप्पहाणा ' चरणकरणप्रधानाः—चरणं " वयसमणधम्म " इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, करणमपि " पिंडविसोही समिई " इत्यादिगाथोक्तसप्ततिभेदम्, ताभ्यां प्रधानाः, तदुभयानुष्ठानसततप्रवृत्त्येकलीनाः, ' ससमयपरसमयमुक्कवावारा ' स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः, स्वसमयपरसमययोर्मुक्तोऽभावितो व्यापारः स्याद्वादपरिकर्मितधिया विवेचनात्मा यैस्ते तथा, चरणकरणानुष्ठानेनैव कृतार्थां वयं किं स्माकं तर्ककर्कशेन मतद्वयसिद्धान्तविमर्शनेन स्याद्वादेन प्रयोजनमित्येवं द्रव्यानुयोगशास्त्राभ्यासपराङ्मुखा इत्यर्थः, ' चरणकरणस्स सारं ' चरणकरणस्य चरणकरणानुष्ठानस्य सारं सम्यक्फलोत्कर्षाधायकम्, ' णिच्छयसुद्धं ' निश्चयशुद्धं परमार्थतोऽव्याकुलम्, न तु बाह्यक्रियाकलापोत्कर्षमात्रतो रमणीयमित्यर्थः, ' ण याणंति ' न जानन्ति, न विचारयन्ति, अज्ञानदोषात्, एवञ्च तेषामसत्फलमेव चरणकरणानुष्ठानमित्यर्थः।

यद्वा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः, स्वसमय–परसमयमुक्तव्यापाराः अयं स्वसमयः प्रमाणनयाभ्यां यथावस्थितानेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वप्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयः प्रमाणान्तराबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, न चात्र प्रमाणान्तराबाधितत्वस्य विशेषणस्याप्रसिद्धत्वात् तद्विशिष्टहेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, तत्तन्नयप्रवर्तिततत्समयान्तरतत्त्वेषु नयान्तरप्रतिपाद्ययुक्तिप्रकारैरनेकधा बाधितत्वस्य प्रदर्शितत्वादित्येतस्मिन् परिज्ञानेऽव्यापृताः, नरसिंहवज्जात्यन्तररूपमत एव समयान्तरतत्त्वविलक्षणमनेकान्ततत्त्वं यथावदवबुध्यमानाश्चरणकरणयोः सारं फलं निश्चयशुद्धं निश्चयेन तच्छुद्धञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकं निष्कलङ्कं न जानन्ति नावबुध्यन्ति, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात्तस्य, कारणाभावे च कार्यस्याऽसम्भवात्, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः, चरणकरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात्, द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावसम्यग्भावेऽभावात्, अथवा चरणकरणयोस्सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वबोधमन्तरेण तच्छुद्धिः, न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यानवगमे तदवबोधो कोटिकारे रिव सम्भवी। ननु जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थाऽपरिज्ञानेऽपि यदर्हत्प्रोक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः " सव्वइ तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पण्णत्तं " इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, न, स्वसमयपरसमयपरमार्थाऽनभिज्ञैरितरथा ज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपाज्ञानादर्हत्त्वस्य निश्चितमात्राणां तेषां यथावत्तत्त्वप्रत्ययाभावेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, नन्वेवमागमविरोधः सामायिकमात्रविदो माषतुषादेर्मोक्षचारित्रिणस्तत्र मुक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थज्ञतावैकल्यस्य प्रधानाचरणैरर्थक्यापत्तेः, तस्मात्स्य-

स्त्वाऽनवबोधो, न च यथोपदर्शितयथाक्रमेण सम्यग्दर्शनमैकान्तेन सम्भवता, आगमादिष्वपि तत्र पाठादिति, नैवम्, ये यथोदितचरणकरणप्रधानाः स्वसमयपरसमयनिःसारा न भवन्तीति तथोक्तेन सम्भवान्, ते चरणकरणसारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुणवृक्षः प्रवृत्तः, चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धतयाऽभ्युपगमान् " तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू " इत्यागमप्रामाण्यात्। अगीतार्थस्यापि गीतार्थनिश्रितस्य तत्पारतन्त्र्यवर्तिन चरणो ज्ञानदर्शनलक्षणत्वात्। आह च हरिभद्राचार्यः—

" गुरुपारतंतनाणं, सद्दहणं एय सङ्गयं चेव।
एत्तो उ चरित्तीण, मासतुसाईण निद्दिट्ठं ॥ ११-७ ॥ त्ति "

गीतार्थोऽनिश्रितागीतार्थस्य स्वतन्त्रचरणकरणप्रवृत्तस्यैतावन्मात्रपरिणतस्य तथाऽभ्युपगम्यत एव। "गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनीसि(निस्सि)ओ भणिओ। इत्तो तइयविहारो, नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥ १ ॥" इत्याद्यागमप्रामाण्यादिति।

यद्वा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानाः-तदनुष्ठानाविशिष्टकरणाः, स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः-अयं स्वसमयः द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्याद्नित्यमेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया स्यादनित्यमेवेत्यादिस्याद्वादविरचितार्थबोधकत्वात्, अयश्च परसमयः अन्यनयानपेक्षनयगोचरैकान्तवस्तुप्रतिपादकत्वात्, इत्येवम्भिन्न परिज्ञानेऽनाकूता, तत्र स्वसमयपरसमयप्रतिपादकान्तमतपरज्ञाने तथान्तप्रतिपाद्येन तत्तन्यनिराकरणयुक्तिसमूहेनाप्रामाण्यज्ञाने सत्येव तद्विपर्यासन्यस्तनिश्चयः, तस्मिंश्च सति प्रमाणनयाभ्यां स्वसमयप्रतिपादितसापेक्षाविरुद्धक्षणिकाक्षणिकत्वनित्यानित्यत्वानन्तधर्मकान्तानेकान्तात्मकार्थयथार्थनिश्चयो भवितुमर्हतीति स्वपरसमयतत्वमन्यमन्यत्वविवेचनानुपपत्तो ऽनेकान्ततत्त्वं यथावदनवबुध्यमानाः चरणकरणयोस्सार निश्चयेन शुद्ध सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, यतो भगवता प्रवचनं भव्यात्मनां स्याद्वादज्ञानार्थमेवोपदिष्टमिति यथार्थस्याद्वादनिश्चयबोधमन्तरेण स्वपक्षस्थापन परपक्षनिराकरणयोर्विधिनिषेधयोः कर्तुमशक्यत्वात् नास्ति स्याद्वादवर्त्तनिलक्षणसम्यक्त्वम्, जिनप्रज्ञप्तमात्रविषयकसमूहालम्बनज्ञानविशेषस्यैव रुचितयाऽभ्यनुगन्तव्यात्, तादृशबोधश्च वस्तुत्वव्यापकानेकान्तत्वप्रतिसन्धानादिहवासनाचनामेव, तादृशवासनाऽपि च स्वपरसमयनिरन्तरबद्धव्यापाराणामेव, न च ते तादृशव्यापारा इति न निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनमनुभवन्ति, " छप्पिय जीवनिकाए, सद्दहमाणो ण सद्दहइ भावा " इत्यादिनाऽत्र प्रागेवोक्तत्वादविविक्तषट्कायपरिज्ञानेऽपि स्याद्वादेन विविक्तषट्कायपरिज्ञानं विनोपदसद्भावमात्रेण द्रव्यसम्यक्त्वस्येवात्रापि स्वसमयपरसमयविवेचनं विना द्रव्यसम्यक्त्वस्यैव भावात्। नन्वेवं तथाविधाऽगीतार्थस्य सद्धेपरिणतसम्यक्त्वमुच्छिद्येतेति चेत्, नैवम्, यत आज्ञारुचेः प्रियगीतार्थाऽऽश्रस्य

मार्गानुसारिणो परसम्यक्त्वं तद्गमेन भुवते निपुणाः स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतावास्त्र सन्यनिर्जरामकर्मक्षयोपशमरूपायासेष्वसम्भितत्वात्। अमिहितञ्च—

" जिणवयणमेव तत्तं, एत्थ रुई होइ दव्वसम्मत्तं ।
जह भावा माणसिद्धा, परिसुद्धं तस्स सम्मत्तं ॥ " इति ।

एतच्च विवेचितं प्रागेव। यद्वा मे पदोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानादाचार्यात् स्वसमयपरसमयमुक्तम्यापारा न भवन्तीति ममोऽत्र सम्बन्धात् ते चरणकरणसारं निश्चयशुद्धं आनन्त्येव, ग्राह्यया प्रवृत्तेरिति ॥ १७ ॥

परस्परनिरपेक्षे ज्ञानक्रिये न मोक्षप्रापिके किन्तु परस्परसापेक्षे एव ते, यतो मोक्षस्य चक्रिसम्प्रति न केवलक्रिया, न वा ज्ञानमात्रं कारणम्, किन्तु मोक्षानुकूलप्रक्रियमपेक्ष रूपेण मिथस्सापेक्षज्ञानक्रियोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दो वि एगंता ।
असमत्था दाएउं, जम्म-मरणदुक्खमा भाई ॥ १८ ॥

' णाणं किरियारहियं ' ज्ञानं स्याद्वादाद्वितजीवादिपदार्थसार्थप्रकाशकं ज्ञानं क्रियारहितं ज्ञानविहितपञ्चमहाव्रतादिसदनुष्ठानक्रियानिरपेक्षम्, ' किरियामेत्तं च ' क्रियामात्रं च, मात्रपदेन शदितस्यबच्छेदानुकूलसम्यग्ज्ञाननिरपेक्षा क्रिया च यथोक्तानुष्ठानात्मिका, ' दो वि एगंता ' ' द्वावप्येकान्तौ ' अम्यते गम्यते निर्णीयते इत्यन्ताः, धर्माः, एतद्व्यावस्यैकान्ता, एकान्तमैकान्तावेकान्तौ, मिथापेक्षाप्रविरुद्धधर्मान्तरविनिर्मुक्तत्वेन केवलैकधर्मा स्मकौ द्वावपि यतौ ' जम्ममरणदुक्खमामाई ' जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैषीरिति ' दाएउं असमत्था ' दर्शयितुमसमर्थौ। नन्वेवं तर्हि तेभ्यो मा भैषीरिति दर्शयितुं कस्समर्थ इति चेत्, उच्यते, परस्परसापेक्षसमुदितद्वयात्मकपक्ष एव, तथाहि-पुरुषो न ज्ञानमात्रेण भयेभ्यो मुच्यते क्रियारहितत्वात् महानगरे दह्यमाने सति दृष्टपलायनमार्गपङ्गुवत्, न वा पुरुषः क्रियामात्रेण भयेभ्यो मुच्यते सज्ज्ञानरहितत्वात् महानगरे प्रदीप्यमाने सति दह्यमानपुरायमिमुखपलायमाना चवत्। तदुक्तं विशेषावश्यकनिर्युक्तौ—

" हयं नाण कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया ।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥ १ ॥ " इति ॥ ११५९ ॥

यद्वा ज्ञानमात्रं नेप्सितार्थप्रापकं सत्क्रियासहकृतज्ञानत्वात्, महारण्यदाहे सति दृष्टपलायनमार्गस्वदेशप्राप्त्यभिमुखगमनक्रियाशून्यपङ्गुज्ञानवत्, क्रियाऽपि केवला नेप्सितार्थ साधिका सज्ज्ञानासहकृतक्रियात्वात्, अविरलज्वलद्दाहे दह्यमानपुरायमिमुखप्रपलायमानान्धपुरुषगतिक्रियावत्। समुदितज्ञानक्रियोभयपक्षे त्वेवमनुमानप्रयोगः-सम्यग्ज्ञान

सम्यक्क्रियोभयवान् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते उभयसंयोगवत्त्वात्, महाऽऽरण्यदाहभीतान्ध-स्कन्धारूढपङ्गुवदिति । तदुक्तं विशेषावश्यकनिर्युक्तौ—

" संजोगसिद्धीए फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥१॥ " इति ।

एतदर्थसंवादकतयोक्तश्चान्यत्र—

" चक्षुष्मानेकः स्यादन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।
गन्तारौ गन्तव्यं प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥ १ ॥ " इति ।

यद्वा सम्यक्क्रियासम्यग्ज्ञानोभयं इष्टफलसिद्धिजनकं परस्परसहकारित्वात्, अन्धपङ्गु-सम्यक्क्रियाज्ञानोभयवदिति । नन्वनेन ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यां जन्ममरणभयविमुक्ति-लक्षणमोक्ष इति प्रतिपादितम् ।

" नाणं पयासगं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिकरो ।
तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥११६९॥ " इति ॥

विशेषावश्यकनिर्युक्त्या तु ज्ञानतपःसंयमेभ्यस्त्रिभ्यो मोक्ष इत्यभिहितमिति कथं न विरोध इति चेत्, अज्ञानविलसितमेतत्, तपःसंयमयोः क्रियारूपत्वेन तयोः क्रियाया-मेवान्तर्भावात् । तदुक्तम्—

" संजमतवोमई जं संवरनिज्जरफला मया किरिया ।
तो तिगसंजोगो वि हु, ताउ च्चिय नाण-किरियाओ ॥११७४॥ " इति ।

एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति तत्त्वार्थाधिगमाख्यसूत्रेणापि सह विरोधो निरस्तः, यतो ज्ञानग्रहणेनैवेह सम्यग्दर्शनमाक्षिप्यते, तदन्तरेण तस्याप्यभावात्, मिथ्या-दृष्टिज्ञानस्याज्ञानत्वेन पूर्वमेव प्रतिपादनात् । यद्वा मतिज्ञानस्यैव रुचिरूपो योऽपायांश-स्तद्रूपत्वेन सम्यग्दर्शनस्य ज्ञानात्मकतया सद्ग्रहनयाभिप्रायेण सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानत्वेन रूपेणैकत्वविवक्षणादिति, गोबलीवर्दन्यायेन सम्यग्दर्शनज्ञानयोः पृथग् विवक्षया तु सम्यग्दर्शनादित्रितयस्यैव मोक्षानुकूलैकशक्तिमत्त्वावच्छिन्नकारणत्वलक्षणं मोक्षमार्गत्वं तत्त्वार्थाधिगमाख्यसूत्रेण विहितमिति सर्वमनवद्यम् । ननु सम्यग्दर्शनादित्रयस्य ज्ञान-क्रियोभयस्य वा मोक्षकारणत्वमस्तु तथापि तत्केन रूपेणेति चेत्, उच्यते, अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावग्रह इति ताभ्यां सम्यग्दर्शनत्वेन सम्यग्ज्ञानत्वेन सम्यक्-चारित्रत्वेन यद्वा ज्ञानत्वेन क्रियात्वेन प्रत्येकरूपेण मोक्षम्प्रति स्वेतरसकलकारणसहकृतस्य सम्यग्दर्शनादेः कारणत्वग्रहाच्चत्त्वत्रयापेक्षयैकैकस्यापि परस्परसापेक्षस्य कारणत्वम्, सामग्री

वै भनिकेति न्यायात्प्रमाणापेक्षया सम्यग्दर्शनादित्रयसमूहस्य ज्ञानक्रियोभयस्य वा मोक्षं प्रत्युक्तक्रमत्वेन रूपेणैकमेव कारणत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्, तत्र द्वारद्वारिभावकल्पनादि क्रमविकं पूर्वमेवोक्तमिति ॥ ६८ ॥

दुरवगाहगम्भीराशेष्यपदार्थरत्नरत्नाकरस्य नानाविधतरङ्गोपमविविधवचनप्रसरणमाऽऽत्मकस्याऽनादित्यसमूहपरकुगतिविकल्पदार्थप्रकाशकस्य सविस्तारत्नाकरत्वमेवाऽप्यभिमननीयस्य जिनवचनस्यापूर्वमाहात्म्यज्ञापनात्मकस्तुतिरूप शिष्यप्रशिष्यादावेतत्प्रकरणाध्ययनाऽविच्छेदार्थञ्चाऽन्तिममङ्गलं प्रतिपिपादयिषुः जिनवचनयथार्थगुणस्तवकरणैकलालसो विमलविमार्शैकमात्रप्रभोसूरिः प्रकरणपरिसमाप्तावन्तिममाधामाह—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ, संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥

'भद्दं' इत्यस्य 'जिणवयणस्स' इत्यनेनान्वयः, भद्र—कल्याणं यथास्थितवस्तु ज्ञानोत्पादनद्वारा मध्याह्नमार्तण्डाऽप्रतिहत्यऽनन्तसन्दोहाऽप्रतिपातिनीकस्यमपादकत्वं सर्वं वाक्य क्रियया परिसमाप्यत इतिवचनात् अस्तिपति शेषः, रागद्वेषमोहान् मावारीन् जयन्तीति जिनाः, उच्यते यत्तद्वचनम्, जिनानां वचनं जिनवचनं तस्य, जिनप्रणीतवचनस्येति यावत्, अमनास्य 'जिनानं शासनं सिद्धं' इत्यनेनोक्तं विधिरपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धनं प्रामाण्यं निगमयति, "सव्वणयमयं जिणवयणं" इत्यागमोक्तिमनुस्मरन्नाह—'मिच्छादंसणसमूहमइयस्स' इति—मिथ्यादर्शनसमूहमयस्य—एकान्ततत्तद्धर्मप्रवृत्तनिखिलपरसमयार्थविषयताभ्यापकविषयताकयोरपादकस्य, अथवाऽऽगमपदार्थे अपदृश्यमपवित्रानामिमिथ्यादर्शनसमूहा नैगमादयः "एक्केक्को वि सयविहो" इत्यावश्यकनिर्युक्तिवचनात् एकैकस्य नैगमादेर्नयस्य शतभेदत्वेन पूर्वं प्रतिपादितत्वात् शतशतभेदभिन्नाः नयाः परस्परसापेक्षतया वाक्यप्रातपदिततया अथवा यस्य तन्मिथ्यादर्शनसमूहमयं, तस्य । सर्वैरेव येकैकांशग्राहिभिर्नयभिन्नैः सम्पूर्णमनन्तधर्मात्मकं वस्तु निर्णीयते इति तन्मिथ्यदर्शनसमूहात्मकं प्रमाणम्, अत एव सम्पूर्णाभिमतफलसाधकम्, तदन्यशासनं लोकायतादिनय मात्रमतावलम्बित्वेन समग्रनयविकलमप्रमाणम्, अतो न सम्पूर्णाभिमतफलसाधकं विकल क्रियावत्, यथा निरस्तप्रतिचारकातुरौषधादन्यतराङ्गविकला क्रिया न संपूर्णाभिमतफलसाधनी तथाऽन्यशासनमपि । जिनशासनं तु सकलनयात्मकत्वाविकलाङ्गसम्पन्नत्वेन न तथा विधमिति संभूतस्य तस्य । ननु मिथ्यादर्शनानां तत्तन्नयप्रसूतपरमतवादानां प्रत्येकावस्थायां मिथ्यादर्शित्वात् तत्समूहेऽपि प्रचुरविषलवसमुदाये विषमातुर्यवत् महामिथ्यादर्शित्वसम्पत्त्या तन्मयं जिनवचनमपि कथं सम्यग्भावं प्रपद्यते, यतो न हि विषकणिकासमूहमय किमपि वस्तु अमृतभावं प्रपद्यमानं क्वाऽपि दृष्टिगोचरं भवतीति चेद्, नैवम्, वस्तुतत्त्वावग-

बोधात्, यतस्साक्षाद् दृश्यत एव प्रचुरविषलवसमूहोऽपि प्राज्ञकुशलक्रियपीयूषपाणिमहावैद्यकृतमिथोविशिष्टद्रव्यसंयोगविशेषापादितपरिणामान्तराऽऽपन्नो निर्विषीसन्नगदरूपतां लोहसमूहोऽपि स्पर्शमणिस्पर्शतस्सुवर्णभावमात्मसात्कुर्वाण इत्येतस्मिन् लोकसिद्धे किं विवादेन ? तद्वत् मिथ्यादर्शनसमूहोऽपि स्याद्वादतत्त्वज्ञयथास्थानविनियोजितपरस्परसापेक्षभावोऽत एव दूरीभूतविरोधभावत्वेनाऽविरोधभावङ्गतः समासादितस्याद्वादस्वरूपस्सम्यक्त्वमासादयतीति यथार्थभावेन सर्वनयविषयप्रतिपादकतया तन्मयं जिनवचनमपि सम्यग्रूपमेव, अत एव जिनवचनसमुद्रस्यैते प्रत्येकनयान्तरङ्गा वेदान्तसाङ्ख्यबौद्धादितत्तद्दर्शनप्रकृतिभूताः, तन्मयश्च जिनवचनसमुद्रो रत्नत्रयममलं प्रसूत इति तदर्थिनस्तत्कर्तारं भवन्तं नम्रीभूयाऽऽश्रयन्ते, अभिहितार्थसंवादि चेदं वादिगजकेशरिश्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवद्वचनम्—

" नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥१॥" इति।

'अमयसारस्स' इति–न विद्यते मृत मरणं यस्मिन् असौ अमृतो मोक्षः, तं सारयति–गमयति मोक्षस्वरूपप्रतिपादकत्वाद् बोधयति मोक्षकहेतुतया तं प्रापयतीति वा यत्तत् अमृतसारम्–तस्येत्यर्थः। 'अमयसायस्स' इति पाठे तु अमृतवत् स्वाद्यते यत्तदमृतस्वादम्–अमृततुल्यमिति यावत्, अमृतमास्वाद्यमानमनिर्वचनीयानन्दसन्दोहं जनयति तद्वदिदमपि जिनवचनमधीयमानं श्रूयमाणं वा शुक्लपाक्षिकसंविग्नभवित्रातानामनुपमप्रमोदभरमुत्पादयति, एवंविधस्य तस्येत्यर्थः। भगवओ–क्षीराश्रवाद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्याद्यर्थसमन्वितत्वेन भगवतः, अनेन विशेषणेन तस्य ऐहिकसम्पद्विशेषजनकत्वमाह। संविग्गसुहाहिगम्मस्स' संविग्नसुखाधिगम्यस्य, संविग्नैः " यथेह लवणाम्भोभिः पूरितो लवणोदधिः। शारीरमानसैर्दुःखैरसङ्ख्येयैर्भवस्तथा ॥ १ ॥" इत्येव भवस्वरूपभावनया भवविमुखैः, कारागारविमुखैः कारागार इव संसारोऽनन्तदुःखमयस्थानत्वेन तैर्हेय एव, अव्याबाधाखण्डपरमानन्दैकनिकेतनत्वेन तद्विपरीतलक्षणो मोक्षश्चोपादेय एवेत्येवं परमार्थतत्त्वविचारणया मोक्षमभिलिप्सुभिः " काम ! जानामि ते मूलं, सङ्कल्पात् किल जायसे। अतस्त्वं न करिष्यामि, ततो मे किं करिष्यसि ? ॥ १ ॥" इति भावनया कारणात्मकसङ्कल्पोच्छित्त्या तत्कार्यभूतकामभोगासक्तिनिवृत्तैः, भवाभिनन्दिनां जिनवचनं कर्णशूलायमानमिति न तु तैः, इदमेव जिनवचन श्रोतृयथार्थावबोधजनकत्वेन तथ्यं भ्रमप्रमादविप्रलिप्साधनासक्तपुरुषप्रणीतत्वेनाऽविसंवाद्यऽसंदिग्धत्वादिगुणोपेतमित्यतः सुखेनाधिगम्यतेऽवबोध्यते यत्तत् संविग्नसुखाधिगम्यम्, एतद्विशेषणेनापि विशिष्टबुद्ध्यतिशयसवित्समन्वितयतिवृषनिषेव्यत्वमस्य प्रतिपादितम्। एवंविधगुणगणालङ्कृतस्य जिनवचनस्य

सामायिकादिबिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्भोधेः कल्याणमस्त्विति प्रकरणपरिसमाप्तौ अन्त्यमङ्गल-
सम्पादनार्थमसाधारणयथार्थगुणोत्कीर्तनादिमद्यं स्तुतिमाह सूरिर्भगवानिति भावः।

कल्याणकृद्धर्मसूरिगीत-गुणौघधीरोदयसूरसूरिम् ।
भव्या सदाऽऽनन्दनवाब्धिसूरिम्, विशुद्धविज्ञानविकाशसूरिम् ॥ १ ॥

भव्यारमपद्मोल्लसनार्कसूरिं, पिपासुतत्त्वाऽमृतपायिसूरिम् ।
सद्धर्मलावण्यधरास्यसूरिं, कस्तूरधा स्तौमि च नेमिसूरिम् ॥ २ ॥

दिङ्मात्रमेव समदर्शि तृतीयकाण्डे, द्रव्यानुयोगमितिमञ्जुलवागमाम्बेः ।
तन्मोक्तिमेतमपनाद् पिबतातुरस्य, सन्त्यज्य दुर्नयविषं सुनयामृतं भोः ॥ ३ ॥

पवित्रेऽर्हच्चैत्यैर्नूपुर इव महाराधनपुरे, चतुर्मासीं स्थित्वा सगुरुकृपया वैक्रमशुभे ।
धराभ्रयुग्मङ्के नवतिथिजिनकल्याणकदिने, तृतीये काण्डेऽर्थं सुविवृतिपूर्तिं विहितवान् ॥४॥

इत्थमिति विषमैदंयुगीनकालप्रभावकलिकमहीयमानापूर्वघोरसावद्यबहुलैदमपकाकाहाऽप-
पारमार्थिकशक्तीनां भव्याङ्गिव्रातानां प्रमाणनानाविधनयनिक्षेपसप्तभङ्ग्यादिसङ्घटितजिन-
वचनप्रतिपाद्यमेकान्ततत्त्वमवगमेव दुर्लभम्, श्रुत्वाऽप्यतिकुण्ठितप्रज्ञसार्थेभ्यो सर्वनयमय-
संस्कृतपीयूषतत्त्वावबोधो दुरवधम्यः कदाचित्कथञ्चिदुपजाततथाविधज्ञानावरणकर्मक्षयोप-
शमभावस्यापि तत्त्वावबोधे सुगमपेऽप्यल्पायनकाले परमत्राणं प्रत्यादरः कार्यसन्तुलनार्थं
यमपितुमशक्यः, तस्य तथाभावेन ममापि तु तत्परस्येऽपि महाग्रन्थार्थसंस्मरणं स्वतार्थप्रतिपाद-
कत्वादल्पकथेवेति मत्वा जिनागमिदितत्त्वजिज्ञासवो विस्तारग्रन्थभीरवोऽमी विनीतविनेया
सम्यक्सम्यग्बोधे पयोऽस्य यथाभ्यासरिनो विशेषभावेनोपलब्धाः कथं भावारूपग्रन्थेनाल्पीयसा कालेन
पूर्वोक्ततत्त्वमधीयेरन्निति मनुप्रबुद्ध्वा "दुसमनिसादिवायरकप्पतरुणो" इत्यादि प्रवचनस्तुतिव-
नाद् दुःषमाकालनिशादिवाकरकल्पस्येत्याद्युपपादनाम्ना तार्किकशिरोमणिश्रीसिद्धसेन
दिवाकरेण प्रणीतस्य निर्मलतरतुच्छतमतामरवादिप्रवादिद्विरदघटाकुण्ठधीनिर्मोचित
युक्तिभावरसकदम्बपीठमेदिवतोपमद्रव्यानुयोगप्रतिपादनापेक्षामेदप्रयोग्यापिरोधमाश्रयद्व
दशाङ्गनयगर्भतत्त्वप्रामाण्यमितायसाऽमेयमुक्तिजातसहितस्य सम्मतितर्कप्रकरणस्य
विशुद्धपदमीक्षमभावप्रभावितवीतरागप्रवचनशासन—तीर्थोद्धारैकधुरीण—श्रीतपोगच्छाम्भोधमो-
मणि—शासनसम्राट्—भट्टारकाचार्य—श्रीविजयनेमिसूरीश्वरचरणारविन्देन्दिन्दिरायमाण
—तत्पट्टाब्धिचन्द्र—समयसन्मार्गदशयसति—सिद्धान्तविशारदविरुद—तपोगच्छभट्टारकाचार्य—
विजयदर्शनसूरि—विरचिता सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यसम्मतितर्कस्फुटीका
समाप्तिमगादिति ।

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

ग्रन्थे सम्मतितर्कनामविदिते काण्डत्रयोल्लासिते,
मूले सूक्तिरगाधधीधनवता वादप्रथोल्लासिनी।
अभ्याभाऽभयदेवसूरिविदुषा विद्वन्मनोरञ्जिनी,
दृब्धा या प्रभवन्ति कुण्ठमतयस्तत्राऽवगाढुं न वै ॥ १ ॥

तेषां तत्र सुखावगाहनकृते नौकोपमेयं मया,
व्याख्याल्पा रचिता प्रमाणनयनिक्षेपैश्च भङ्गीभरैः।
तत्तत्तत्त्वविचारसारकलिताऽस्त्वानन्दकेल्यै सदा,
न्यायाचार्ययशस्समीकृतपथोल्लासा विदां दृष्टिगा ॥ २ ॥

नित्यो नागम इति मानपदवीं नाऽपौरुषेयस्ततो,
नेशो विश्वविधायकोऽस्ति प्रमितस्तत्कर्तृको नागमः।
आप्तः किन्तु जिनस्तदुक्तिरमलाऽनेकान्ततत्त्वान्वया,
स्याद्वादागमसंज्ञिता ननु भवेन्मानं न चान्यागमः ॥ ३ ॥

वादिव्रातसमर्थिता तु सकलैकान्तप्रथा युक्तितो,
वादेऽन्योऽन्यकदर्थिता न विमलां सिद्धिं प्रयाति स्फुटम्।
स्याद्वादोऽमलनीतिसप्तकलितो यत्सप्तभङ्गीमयो,
निक्षेपानुगतो न वादिनिकरैर्दूष्यो भवेत्तत्त्वतः ॥ ४ ॥

नीतिन्यासिसमासतोऽत्र सकला संलक्षिता लक्षणं,
प्रत्येकं तु विभावितं बुधवरैर्यद्यथा दर्शितम्।
सूरीणां वचनं तदिष्टगतये संवादनायादृतम्,
यत्तन्त्रं च यदुद्भवं तदपि तद्युक्त्या समुल्लासितम् ॥ ५ ॥

भङ्गास्सप्तनयप्रचारसुभगाः सन्दर्शिता भेदतो,
यो भङ्गश्च यतो नयादुदयते प्रत्येकमावेदितम्।
यो धर्मो यदपेक्षयाऽत्र घटते तस्यापि निस्संशयं,
युक्तिव्रातसमर्थनं सुविहितं यस्माद्विरोधो हतः ॥ ६ ॥

मुख्यैकैकसदादिधर्मविषया आद्या निरंशास्त्रयः,
भङ्गा द्वित्रिकधर्मबोधनपरास्सांशास्तदन्ये च ते।
तेषामत्र विचारणा मितिनयाऽऽस्थां सप्तभङ्ग्याश्रितां,
कर्तुं पल्लविता यथाऽत्र सुगमा स्यात्सप्तभङ्गीगतिः ॥ ७ ॥

निक्षेपेषु सुघटितेषु सकलरूपादिरूपमेकैकशो,
नामादेरुपपादितं मतमिदाप्याभिरूह्यता सागमा ।
नीतानामिह योजना नियमिता संवादिता कल्पना-
स्त्यागो वचनैः सुयुक्तिकलितैः पद्मप्रभामाधुरैः ॥ ८ ॥
द्रव्यार्थस्य नयस्य यत्र विषयः सामान्यमामासिल-
व्यापी द्रव्यपदार्थ एक उदितो नित्योऽनुगामिरवमात्र ।
यः पर्यायनये विशेष इतराऽसम्भिमरूपस्तयो-
रेकान्ताऽनुमतिं निपूय विमतो सापेक्षता स्थापिता ॥ ९ ॥
धौर्म्यं द्रव्यनयाभितं जनिलयौ पर्यायनीत्याश्रितौ,
धर्मित्वं त्रितयं प्रतिक्षणमयत सर्वं समस्तेष्वपि ।
प्रोक्तं सन्मतिसूपा यथा प्रमितितो निश्चैस्तया साधितम्,
यथैकाम्लिमतं करामलगतं सर्वं इतं तत्स्फुटम् ॥ १० ॥
सत्कार्यादिमताऽपि कापिलमुखैराघेदिता सङ्गता,
अन्योन्यप्रतिपक्षभावकलिता साऽन्योऽन्ययुक्त्याऽऽहता ।
स्याद्वादिप्रविभाविता तु सकलसत्कार्यसंपया मानतो,
निर्णीता परवादियुक्तिनिकरैर्नैवायनेया क्वा ॥ ११ ॥
एकान्तस्य पतमप्रवर्तितमते क्वापि नो युज्यते,
हिंसादिर्नियतप्रवेकनियतो भेदप्रभेदाश्रितः ।
स्याद्धिंसादिकमार्हते तु सकलं सद्भावग युक्तितो-
ऽनकान्त परकीययुक्तिनिवहाऽनासीदतुपम्भितम् ॥ १२ ॥
संसारो न च युज्यते परमते तत्कारणाऽन्योन्यतो,
नो मुक्तिः परवादिकल्पनमता तद्धेत्वयोगाच्चतः ।
स्याद्वादोक्तिसमर्पितौ सम्रनकौ स्तो बन्धमोक्षौ तथा-
नित्यादि स्फुटमार्हते तु सकलं युक्त्या व्यवस्थापितम् ॥ १३ ॥
ज्ञानं नैकमपि स्वभावकलतः सर्वावभास्येव यत्,
तस्मिन्विनियपायमास्ति नियताऽऽवृत्त्यैव कर्मोत्थया ।
ज्ञानं पञ्चविधं ततस्त्वभिमतं नैव स्वतस्त्वत्र्व-
सत्यज्ञोपरहेतुयुक्तिनियमः संस्थापितो युक्तिभिः ॥ १४ ॥
सर्वज्ञस्य प्रसिद्धिरेव-कथिता तत्त्वस्वप्नप्रक्रिया,
मिमांसादुपयैक्रिया मधिक्रता संक्षेपतो मानतः ।

चर्चा चात्र प्रसङ्गतो बहुविधा सन्दर्शिता सागमाऽ-
नेकान्तप्रविचारणा परमतोत्खातेन पुष्टिकृता ॥ १५ ॥

स्याद्वादे सकलार्थगे स्वयमपि स्याद्वादयुक्ते ततोऽ-
नेकान्तस्त्वनवस्थया न हि यथा दूष्यो भवेद्वादिभिः ।
तत्सद्युक्तिप्रदर्शनं ननु तथा नव्योक्तिकान्तं कृतं,
श्रीमद्वाचकपुङ्गवोक्तिविमलाऽऽलोकोऽत्र सन्दर्शितः ॥ १६ ॥

यत्कर्माष्टकमार्हते तनुतयाऽनाद्यात्मसंयोगि तद्,
मान्यं पौद्गलिकं भवभ्रमणकृत् संछादनादावृतिः ।
तत्संपूर्णलये निरावृतिरसौ जीवोऽमलज्ञानवान्,
मुक्तस्सिद्धिशिलातले विजयते स्वानन्दपूर्णो विभुः ॥ १७ ॥

मुक्तेर्मार्ग उदीरितो जिनवरै रत्नत्रयं त्वात्मनो,
ज्ञानं दर्शनमस्खलद्गति तथा चारित्रमेतत्त्रिकम् ।
एकैकं न च तत्समर्थमभितो मुक्तौ न चैवावृतम्,
सम्यक् तत्त्रितयं सुनिर्वृतिकृते वाञ्छन्ति तद्योगिनः ॥ १८ ॥

तत्राशेषविशेषगोचरचर ज्ञानं मतं केवल,
सामान्यं त्वखिलं प्रकाशयति यत् तत्केवलं दर्शनम् ।
एकस्मिन्समये तयोस्तु भवनं श्रीमल्लवादी जगौ,
भिन्ने श्रीजिनभद्र आप्तप्रवरस्सैद्धान्तिकस्तत्क्षणे ॥ १९ ॥

नव्योक्तिप्रवितानतैकनिपुणः श्रीसिद्धसेनो जगौ,
भेदो नैव तयोस्त्वतो न च तदाऽऽवृत्योर्भिदा कर्मणोः ।
स्यात्सामान्यविशेषगोचरकृता भेदप्रथौपाधिकी,
तस्मात्केवलमेकमेव मितितो ज्ञानञ्च तद्दर्शनम् ॥ २० ॥

इत्येवं मिथ एव युक्तिबलतो राद्धान्तकान्त त्रिकं,
तत्त्वनीत्यवलम्बनेन प्रथितं नेद विरोधास्पदम् ।
नाज्ञानादुपढौकित न च निजोत्प्रेक्षैकसार यथा,
श्रीमद्वाचकपुङ्गवेन यशसा तद्भावितं तत्तथा ॥ २१ ॥

एकं भिन्नमथाप्यपर्यवसित सादीति यत्केवलं,
तत्सापेक्षमुदीरितं तु सकलं नो वै विरोधस्ततः ।
स्यात्सामान्यविशेषरूपमननं जीवे चिदेकात्मके,
माला चात्र निदर्शनं सुगमितं भिन्नैकनामोद्भवे ॥ २२ ॥

मिथ्यैकान्तनयौघ एव प्रथितमैकान्तताऽपाकृतौ,
सापेक्षोक्तिविराजितस्तुसमयः स्याद्वादनामाऽमलः ।
सम्यग्दर्शनमेष एव सुनयः भद्राऽत्र सज्ज्ञानजा,
येषां ते चरमैक्यानहृदया मुण्यकमालिङ्गिताः ॥ २३ ॥

नानेकान्तमतं निरासकतया सर्वत्र सम्पोषय,
येषु कोऽपि कृती विवेकचतुरो योग्यो मनेद्वादिषु ।
यस्मादिममनेकमेकमुदितं वैशेषिकापेक्षया,
बौद्धैर्शनमपीदृशं न प्रकृतिः साङ्ख्यैरिमता तादृशी ॥ २४ ॥

इत्याद्या विषयाः प्रसङ्गवशतथान्ये विचारात्मका,
युक्तिमावसमर्पिता ननु मया मोदाय विद्यावताम् ।
गङ्गाम्भोमिमिलिता भवन्ति सुषयो नापः कृगर्तोद्भवाः,
किं ? तद्वद्विषया इमेऽपि प्रथिताः स्याद्वादसङ्गोत्थुराः ॥ २५ ॥

प्राचीनोऽस्त्युपयोगिता श्रुतवचस्संवादचद्वादरा,
वृत्तिस्सन्मतितर्कगूढविषयैदम्पर्यमाधान्यया ।
मन्येवास्तु तथापि नूतनधिया नोपेक्षणीया बुधै-
र्यस्मात् मूलमपेपमेव सुमम संसर्गतोऽस्याः स्फुटम् ॥ २६ ॥

श्रीमन्तो वसुपाथिपाऽऽश्रिमहिता नार्थवयामां वराः,
न्यायव्याकरणादिशास्त्रनिपुणप्रोद्भासवद्योयमाः ।
हैमव्याकरणोक्तिसङ्गमनया हैमप्रभाख्यां कृतिं,
कृत्वा पाणिनिजां कृतिं बहुमतां कुर्वन्त ईषत्प्रमाम् ॥ २७ ॥

जैनन्यायविचारसारघटितां न्यायप्रभाख्यां कृतिं,
कृत्वा बौद्धविचारखण्डनपरे सत्साम्प्रतापेऽमले ।
न्यायैकान्तकथामनुद्युपमपारकर्मन्त आसोद्भवां,
जैनन्यायकथाप्रचारनिरताः चाचार्यवर्यादराः ॥ २८ ॥

नीतिभावसमर्पणैकमनसो भीस्वर्णभासोपमाः,
स्याद्वादोभवविशुद्धयो निजकृतिप्रोद्भूतसत्तोषयाः ।
*अन्याऽन्यातविभावकल्पनिकरश्रीसप्तभङ्गीगिरो ।
युक्तिमात्रसुगुम्फितैकलसितश्रीन्यायसि प्रममाः ॥ २९ ॥

---

* अन्येषामभावोऽपि कथितोऽपि विभावो विशेषेणाचरितः कल्पनिकरः चक्षसूरी
श्रेणिवादसप्तसप्तभङ्गीगिरो येषां ते तथा अर्थोल्लिखितसप्तभङ्गीमन्यमेवार इत्यर्थः ॥ २९ ॥

न्यायालोकविराजमानकृतयोऽर्हत्स्थापनापूजनाऽऽ-
च्चान्तस्वान्तसुभक्तिजातप्रतिमामार्तण्डसत्कीर्तयः ।
स्पृश्यास्पृश्यविवेकबोधफलकग्रन्थक्रियाकर्मठा,
वृत्त्या सम्मतितर्कवृत्तिगतया विद्वज्जनामोददाः ॥ ३० ॥

तीर्थोद्धारपरायणाः प्रतिदिनं व्याख्यानतो धर्मगान्,
श्रीसिद्धाचलदर्शनादिकृतये श्रीसङ्घयात्रोन्मुखान् ।
सत्क्षेत्रेषु विविच्य भव्यमनसः सद्द्रव्यदानोद्यतान्,
भव्यान् जैनमतप्रचारचतुरान् कुर्वन्त इष्टार्थिनः ॥ ३१ ॥

श्राद्धः कोऽपि जिनार्चनादिविधुरो माभूत्क्वचिद्भावुको,
धर्माराधनकृत्कदाऽपि समये चेत्याशयालिङ्गिताः ।
श्रीसेरीसकदम्बतीर्थमहुवातालध्वजादौ जिन-
चैत्यानि प्रतिमाश्च कारयितुमत्युत्काः प्रतिष्ठां जनैः ॥ ३२ ॥

सूरीणा प्रवराः श्रुतोक्तविधिना सम्यक्क्रियाऽऽराधकाः,
सम्यग्ज्ञानविराजिता हतरिपुव्राताश्च सद्दर्शनाः ।
मन्त्राराधनतत्पराः सुरगुरुप्रज्ञाभिमानापहा,
अस्माकं गुरवो जयन्ति भुवने श्रीनेमिसूरीश्वराः ॥ ३३ ॥

*यस्या नाऽऽस्यतुलाकथाऽपि शशिनाऽथाविष्कृतोपेक्ष्यते ?
स्यात्पादेऽप्यवरोपिता कमलशी-ताश्वादिता नो वरा ।
माता सुन्दरतादिकस्य न धनी बुद्ध्यादिभिस्सम्मतः,
सा वीरप्रतिमाऽवरा मधुपुरी-संस्थाऽस्तु भूत्यै सदा ॥ ३४ ॥

---

* यस्या वीरप्रतिमायाः शशिना चन्द्रेण सम, आस्यतुलाकथाऽपि मुखसादृश्यवर्णनाऽपि, नोपेक्ष्यते, काक्वा उपेक्ष्यते एव, यस्या पादेऽपि चरणेऽपि, अवरोपिता कल्पिता कमलशीर्वा श्वादिता कमलचन्द्रत्वादिका, नो नैव, वरा श्रेष्ठा स्यात्, सा कल्पनाऽपि वास्तविकसादृश्याऽभावादयुक्तैव । यस्या· प्रतिमायाः सुन्दरतादिकस्य सौन्दर्यादिगुणस्य माता एतादृशमस्यास्सौन्दर्यादिकमित्येव नियमनकर्ता, अपरिमितसौन्दर्यादिगुणस्य परिमितसौन्दर्यादिवर्णनमबोधविलसितमित्येतस्मात्कारणाद् बुद्ध्यादिभि बुद्ध्याद्यात्मकधनेन धनी धनवान् न सम्मतः, परीक्षकाणामिति शेष , चतुर्थचरणार्थस्तु व्यक्त एव, अत्र शशिनाथाऽऽख्याध्यापकनाम, पिता कमलशी, माता धनी, स्वनामसुन्दर इति ख्यापित भवति । इत्येवं चतुस्त्रिंशत्तमपद्यार्थो ज्ञेय. ।

उद्भूतया गुरुभक्तिसम्भाविततया वृत्तिर्मयोद्भासिता,
येयं सम्मतितर्कतत्त्वमननैकान्तप्रकाशात्मिका ।
साऽनेकान्तमतावगाहचतुरां बुद्धिं विधायोज्ज्वलां,
संसारे च शिवे समानमनसां मुक्तिं विधत्तात्सताम् ॥ १५ ॥

श्रीमद्दर्शनसूरिणा जिनमते भक्तां स्वकीयां दृढां,
व्यक्तुं वृत्तिरियं जिनागमगतानेकान्ततत्त्वार्थिना ।
दुष्प्राप्यो न परोपकारजननं चेन्मास्तु भक्तिर्दृढा,
स्वस्यैवास्तु निरन्तराभ्युदयतो जैनागमे कामिता ॥ १६ ॥

वर्षे बाणखखाक्षिभिः (२० ५) परिमिते संवत्सरे वैक्रमे ।
मार्गेऽर्के पक्षे च पालनपुरे विद्याधिपे सत्तिथौ ।
सम्यक् सम्मतितर्कशास्त्रविवृतिश्शास्त्रीयतत्त्वानुगा,
पूर्ति दर्शनसूरिणा वरगुरोर्नीता कृपातश्शिवा ॥ १७ ॥

दोषः सूक्तिभिरस्ति कुत्सितधियामज्ञास्तु नैवार्थिनः,
प्राज्ञ मन्यजना मनागपि न तत्स्पर्शं क्षमन्ते ततः ।
स्यादेतेन परोपकार इति मे चित्तेऽपि नोज्जृम्भते,
स्वात्मस्योपकृते कृतव्यसनिताऽभ्यासान् स्यपुष्ट ध्रुवम् ॥ १८ ॥

अनुपयोगतो जाता, स्खलना क्वचिदत्र ताम् ।
गुणैकदृष्टयस्सन्तः क्षमन्तामिति प्रार्थये ॥ १९ ॥

विश्वातिशायिश्रीवीरप्रभुशासनसमुन्नतिसमुन्नतमतिप्रकर्षाखण्डगौर
प्रभावशालि-सूरिसार्वभौम-शासनसम्राट्-सुगृहीतनामधेय-
श्रीतपोगच्छभट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टाल
ङ्काराऽऽयमान्यायवाचस्पतिशास्त्रविशारदबिरुद-तपोगच्छा
चार्य-श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत-सम्मतितर्कमहार्ण
वावतारिकाख्यलघुटीकासमीचीन

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरण समाप्तम् ॥

॥ सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकायाः शुद्धिपत्रकम् ॥

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१४	तमसा	तमसाम्
१२	२७	इत्यादि म	इत्यादिम
१४	२५	समुग्धा	संमुग्धा
१५	११	यितु	यितुं
२०	२०	सिद्ध	सिद्धं
२३	४	प्रामाण्यप्रा	प्रामाण्याऽप्रा
२५	१२	भास्वर	चाकचक्य
२५	१७	ज्ञानमपि	ज्ञानद्वयमपि
२७	१९	दोषबलाद्वा	दोषबलाद्वा
३३	९	मुष्टाद्य	मुष्ट्याद्य
३४	३०	दिनकरनिकर	दिनकरकरनिकर
४०	१५	इत्यादि सिद्धा	इत्यादिसिद्धा
४०	२८	त्मनः	त्ममनः
४१	२३	परशौ	परेशो
५५	१९	पत्या	पत्त्या
६०	२०	द्वाराति	द्वारविषयाति
६१	१०	व्यवह्रियते	अवह्रियते
६३	८	गुणिभूता	गुणीभूता
६४	४	योगः काल	योगकाल
६४	१८	नय शाखा	नयः शाखा
६५	४	सूत्र	सूत्र—
६५	९	दृष्टव्य	द्रष्टव्यः
६५	१०	विशेष्यस्य	विशेषस्य
६६	२४	र्थाम्भु	र्थमम्भु
६८	१२	मेतत्, तस्य	मेतत् तस्य
६९	२६	ष्योऽर्थः तदे	ष्योऽर्थः, तदे
७०	६	बोधानुपपत्ति	बोधानुत्पत्ति
७२	२९	वस्त्वगाहि	वस्त्ववगाहि

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७५	११	रिति स्वाद	रिति, स्वाद
७६	१३	इति ताम	इति नाम
७६	२०	तत्तद्मेया-	तत्तद्पेक्षा-
८०	२७	इति, ताम	इतिनाम
८१	१६	चोत्तरापे	चोत्तरोत्तरापे
८८	१०	पर्यायामापि	पर्याया अपि,
९२	७	दि च	दिच
९३	२	तृपा	रूपा
९३	१२	निरस्ता	निरस्ता,
९४	२१	द्रम्यमि	द्रम्यत्वमि
९६	११	बचनेन मेदा,	बचने न मेदा,
९६	२६	स्तिकनयास्तिकनयाम्भु	स्तिकनयाम्भु॰
१०३	२४	गुणा स	गुणाः स
१ ६	४	विज्ञाता	विज्ञाय
१०६	४	पाये त	पार्ये त
१ ७	१३	मिति " कर्म	मितिकर्म
१०७	१५	बहुयः	बहुपया
१०९	२७	यस्ते	यस्ते
११२	७	तद्ऽभावे	तदभावे
११३	१४	ज्ञानमा	ज्ञानाम
११३	१४	पयस	पयास
११३	१५	तस्था	तदमा
११३	१५	बाक्यप्रा	बाक्याप्रा
११४	५	मन्य	मन्योन्य
११८	१४	प्रथि-	प्रति-
१२०	२९	कारणे, द	कारणे द
१२१	१४	कम्प्यप्रार्थ बयाबारकं	कोऽप्यप्राप्ती बयाबारका
१२४	१९	रेव मूल-	रेव हि मूल-
१२५	२२	त्वात् म	त्वात्, म

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२८	६	नाप्युकारेण	नाप्युपकारेण
१२८	७	दिति तदेव	दिति । तदेव
१२८	८	नुलब्धि	नुपलब्धि
१२८	१८	भेदाऽ	भेदाऽ-
१२८	२१	दान	दान-
१२८	२६	उत्पादान	उपादान
१३०	२	नुलब्धि	नुपलब्धि
१३०	८	कोऽपि हि कु	कोऽपि कु
१३३	१३	यिकेर्वं	यिकर्वं
१३३	२१	वौद्धा धियं	बौद्धो धियं
१३३	२८	श्चित्सद्रव	श्चित्सद्रूप
१३४	२३	कारत्वात्	कारकत्वात्
१३९	३	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
१३९	४	पुद्रगलेः	पुद्गलैः
१३९	१५	इत्यस्या	इति, अस्या
१४१	३	तुल्लता	तुल्यता
१४२	३	श्चिदद्भेदा	श्चिद्भेदा
१४३	२८	दस्तित्व	दस्तित्व-
१४४	२९	दृष्टव्य	द्रष्टव्यः
१४७	१	पृथक् ल	पृथग्लक्षणल
१४७	१९	भवेद्विरोधः	भवद्विरोधः
१४७	३०	भूरः	भूतः
१४९	२२	पसार्य	प्रसार्य
१५०	२२	पञ्चत्ना	पञ्चचत्ना
१५१	६	द्विक्त्स	द्विवत्स
१५२	९	रसत्व	रसत्वं
१५२	२०	दकव्य	दकत्वव्य
१५४	८	ता वि	तावि
१५४	८	तनि	तविधिनि

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५४	१२	तस्येन	हस्तेन
१५९	१८	कर्मसङ्कु	कर्म सङ्कु
१५९	३०	स्कारेण-	स्कारेण
१६३	२४	नियमो-नियत'	नियमो इति व्यवहितोप- रस्यात्रापि सम्बन्धाभिमतः
१६३	२५	नियमो-इत्यस्यात्रा- प्यनुकर्षणात् नियतः	नियमो-नियत'
१६५	५	अन्यत्वर्य च	अवचर्म्य च
१६५	१४	व्यत्रास्ति	व्यत्र भवति
१६५	२२	रूपस्य	दृष्टस्य
१६६	९	अवचम्य	अवचर्म्य
१६७	१	द्विर्दुर्नयः	द्विर्दुर्नयः
१६८	२३	ज्ञानस्यापि	ज्ञानस्य
१७०	३	या । तृतीय	या, तृतीय
१७०	१६	व्यहात्मा	व्यहत्वा
१७१	९	वाच्यम्, ताव	वाच्यम्, न ताव
१७१	९	त्त्, एक	त्त्, तथा सति एक
१७१	२९	पठित	पठित-
१७२	४	जिज्ञासा	जिज्ञासा-
१७२	६	रत्वात्	रत्वाद्
१७३	१८	पर्यायें, वस्तु	पर्यायें वस्तु
१७४	२४	देश	देशे
१७६	२६	गत' । न तु	गतः, न तु
१७६	२९	एकोरस्येन	एकोऽस्त्येन
१७७	१	तृतीय मङ्गः	तृतीयमङ्गः
१७७	५	अर्पणम	अर्पणेन
१८३	२४	योगपत्	योगपद्यसद्भाव्
१८४	७	येन १	येन १ ।
१८४	११	तदूपेणास्यापा	तद्रूपेण सापा